श्रीश्रील सनातन गोस्वामीपाद विरचित

श्रीश्रीबृहद्भागवतामृतम्

द्वितीय-खण्डम्

गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

॥ श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ जयतः ॥

श्रीश्रील सनातन गोस्वामीपाद विरचित

श्रीश्रीबृहद्भागवतामृतम्

द्वितीय–खण्डम्

द्वितीय भाग

(श्रीगोलोक–माहात्म्यम्)

तत्कृत दिग्दर्शिनी टीका सहित

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं तदन्तर्गत भारतव्यापी श्रीगौड़ीय मठोंके
प्रतिष्ठाता, श्रीकृष्णचैतन्याम्नाय दशमाधस्तनवर
श्रीगौड़ीयाचार्यकेशरी नित्यलीलाप्रविष्ट
ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजके

अनुगृहीत

त्रिदण्डिस्वामी

श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज

द्वारा

अनुवादित एवं सम्पादित

(श्लोकानुवाद तथा दिग्दर्शिनी टीकाके भावानुवाद सहित)

प्रकाशक
श्रीमान् प्रेमानन्द दास ब्रह्मचारी (सेवारत्न)

प्रथम संस्करण — ५००० प्रतियाँ
श्रीगौरपूर्णिमा
श्रीचैतन्याब्द ५२०
३ मार्च २००७ ई.

प्राप्तिस्थान

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
मथुरा (उ॰प्र॰)
०५६५-२५०२३३४

श्रीगिरिधारी गौड़ीय मठ
दसविसा, राधाकुण्ड रोड
गोवर्धन (उ॰प्र॰)
०५६५-२८१५६६८

श्रीरमणबिहारी गौड़ीय मठ
बी-३, जनकपुरी, नई दिल्ली
०११-२५५३३५६८

श्रीरूप-सनातन गौड़ीय मठ
सेवाकुञ्ज, वृन्दावन (उ॰प्र॰)
०५६५-२४४३२७०

श्रीश्रीकेशवजी गौड़ीय मठ
कोलेरडाङ्गा लेन
नवद्वीप, नदीया (प॰बं॰)
०९३३३२२२७७५

खण्डेलवाल एण्ड संस
अठखम्बा बाजार, वृन्दावन
०५६५-२४४३१०१

समर्पण

परम करुणामय एवं अहैतुकी कृपालु
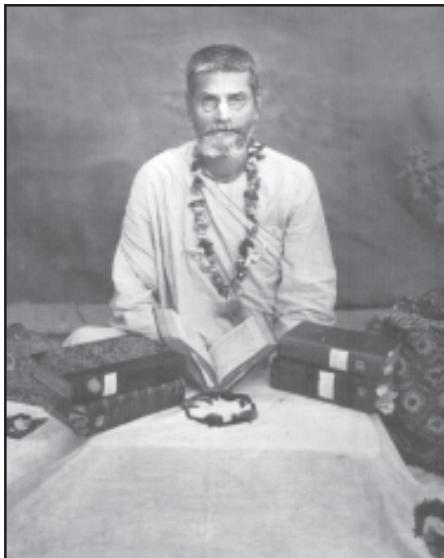
अस्मदीय श्रीगुरुपादपद्म

नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी

प्रेरणासे

यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है।

श्रीगुरुपादपद्मकी अपनी ही वस्तु उन्हींके

श्रीकरकमलोंमें समर्पित है।

विषय–सूची

प्रस्तावना

श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके प्रतिष्ठाता मदीय श्रीगुरुपादपद्म आचार्यकेशरी नित्यलीलाप्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजकी अहैतुकी अनुकम्पा और प्रेरणासे उन्हींकी प्रीतिके लिए शचीनन्दन श्रीगौरहरिके नित्यपरिकर, भक्तिसिद्धान्त-चक्रवर्त्ती, परहित-कातर श्रीलसनातन गोस्वामीकृत श्रीबृहद्भागवतामृत नामक ग्रन्थके द्वितीय खण्ड (द्वितीय भाग) को राष्ट्रभाषा हिन्दीमें टीका सहित प्रकाशित करते हुए अत्यन्त हर्षका अनुभव कर रहा हूँ।

इस ग्रन्थके टीका सहित अनुवादका अभाव राट्रभाषा हिन्दीमें बहुत समयसे था। इस प्रकार अब दोनों खण्डों सहित सम्पूर्ण श्रीबृहद्भागवतामृत ग्रन्थ पारमार्थिक पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत करके रूपानुग-सारस्वत धारामें निष्णात गुरुवर्गकी प्रतिविधान करनेका थोड़ा-सा प्रयास किया गया है।

प्रथम खण्डके प्रकाशनके उपरान्त न केवल गौड़ीय-सम्प्रदायके, अपितु व्रज स्थित अन्य-अन्य सम्प्रदायोंके वैष्णवोंने भी ग्रन्थकी बहुत प्रशंसाकी और साथ-ही-साथ मेरे प्रति अपनी विशेष कृतज्ञता ज्ञापन करते हुए अतिशीघ्र ही द्वितीय खण्ड प्रकाशित करनेका आग्रह भी किया। सम्पूर्ण विश्वमें श्रीमन् महाप्रभु द्वारा आचरित और प्रचारित विशुद्ध व्रजभक्तिके प्रचारमें अत्यन्त व्यस्त रहनेपर भी श्रीगुरुपादपद्मकी प्रेरणा और वैष्णवोंके उत्साहवशतः इसे यथासम्भव शीघ्र प्रकाशित करनेकी चेष्टाकी गयी है।

श्रीलसनातन गोस्वामीने इस द्वितीय खण्डके द्वितीय भागके अन्तमें श्रीमन् महाप्रभु द्वारा जगत्को दिये गये विशेष अवदान—अप्राकृत व्रजवासियोंके भावोंके अनुरूप रागमार्गीय भक्ति और उसमें भी 'उन्नत उज्जवलरसां स्वभक्ति श्रियम्' अर्थात् व्रजगोपियोंके विशेषकर श्रीमती राधिकाके अपूर्व भावों (प्रेम) का श्रीमद्भागवतके श्लोकोंके माध्यमसे

परम–अद्भुत चित्रण किया है। इन विशेष श्लोकोंको 'भक्ति–रसायन' के नामसे भी जाना जाता है। व्रजगोपियोंके भावोंके अनुगत होकर भजन करना ही श्रीमन् महाप्रभुके चरणाश्रित रूपानुग गुरुवर्गको अभिप्रेत है।

मूलग्रन्थ संस्कृत भाषा तथा बङ्गला लिपिमें है। श्रीमान् भक्तिवेदान्त तीर्थ महाराजने टीकाको देवनागरी लिपिमें प्रस्तुत किया है। श्रीमान् सुबलसखा ब्रह्मचारी, श्रीमान् सुन्दरगोपाल ब्रह्मचारी तथा श्रीमती वृन्दा दासीने कम्पोजिंग की है। श्रीमान् भक्तिवेदान्त माधव महाराज, श्रीमान् ओम प्रकाश व्रजवासी तथा विजयकृष्ण ब्रह्मचारीने प्रूफ संशोधन किया है। बेटी शान्ति दासीने अक्लान्त परिश्रम द्वारा ले–आउट आदि सेवा कार्य किये हैं। श्रीमान् कृष्णकारुण्य ब्रह्मचारीने प्रकाशन सम्बन्धीय सेवाओंमें योगदान दिया है। इन सबकी सेवाचेष्टा अत्यन्त सराहनीय और उल्लेखयोग्य है। श्रीश्रीगुरु–गौराङ्ग–गान्धर्विका–गिरिधारी इनपर प्रचुर कृपा–आशीर्वाद वर्षण करें—यही मेरी उनके श्रीचरणोंमें प्रार्थना है।

परदुःखकातर भगवत्कृपाकी साक्षात् मूर्त्ति परमाराध्य श्रीलगुरुदेव एवं श्रीराधाभावद्युति सुवलित करुणावरुणालय श्रीचैतन्यदेव हमपर प्रसन्न होकर हमें अपनी मनोभीष्ट सेवामें अधिकार प्रदान करें—उनके श्रीचरणकमलोंमें यही एकमात्र कातर प्रार्थना है।

प्रमादवशतः ग्रन्थमें भूल–त्रुटि रह जाना अस्वाभाविक नहीं है। ऐसा दृष्टिगोचर होनेपर पारमार्थिक पाठकगण निजगुणोंसे क्षमा करेंगे तथा साथ–ही–साथ हमें सूचित करेंगे, ताकि हम अपने अगले संस्करणमें उसका संशोधन कर सकें। मुझे पूर्ण विश्वास है कि भक्ति–पिपासु श्रद्धालु साधक इस ग्रन्थका पाठ और कीर्त्तनकर परमार्थके पथपर अग्रसर होंगे। अलमतिविस्तरेण।

श्रीजगन्नाथ दास बाबाजी
महाराजकी तिरोभाव तिथि
१८ फरवरी २००७ ई.
५२० चैतन्याब्द

श्रीगुरु–वैष्णव–कृपालेश–प्रार्थी
श्रीभक्तिवेदान्त नारायण

श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

श्रीश्रीबृहद्भागवतामृतम्

द्वितीय-खण्डम्

द्वितीय भाग

(श्रीगोलोक-माहात्म्यम्)

पञ्चमोऽध्यायः (प्रेम)

श्रीगोपकुमार उवाच—

अथ तत्र गतो विप्रैः कियद्भिर्माथुरैः सह।
यादवान् क्रीड़तोऽद्राक्षं सङ्घशः सकुमारकान्॥१॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमारने कहा—हे ब्राह्मण! इसके पश्चात् मैंने द्वारकापुरीमें पहुँचकर देखा कि कुछ माथुर-विप्रपुत्रोंके साथ यादवकुमार अपनी-अपनी मण्डली बनाकर खेल रहे थे॥१॥

दिग्दर्शिनी टीका

पञ्चमे द्वारकानाथे दृष्टे गोलोक–कीर्त्तये।
भौमगोकुल–तत्क्रीड़ा–तल्लोक–महिमोच्यते॥

तत्र द्वारावत्यां गतः सन् माथुरैर्विप्रैः सह वर्त्तमानान् क्रीड़तः अत्यन्त–परममहानन्द–परिपूर्णतया नैश्चिन्त्येन सदा विचित्रविहारं कुर्वतः सङ्घशः निजनिजवर्ग्यपार्थक्येन बहुलसमूहतया यादवानद्राक्षम्। सकुमारकान् कुमारवर्गसहितान्॥१॥

टीकाका भावानुवाद

इस पञ्चम अध्यायमें श्रीगोपकुमारके द्वारा श्रीद्वारकानाथका दर्शन तथा श्रीनारद द्वारा श्रीगोलोक–माहात्म्यका कीर्त्तन, भौमगोकुल, वहाँपर होनेवाली श्रीकृष्णकी क्रीड़ाका तथा वहाँके निवासियोंकी महिमाका प्रदर्शन हुआ है।

हे ब्राह्मण! मैंने द्वारावतीमें पहुँचकर देखा कि कुछ माथुर–विप्रपुत्रोंके साथ यादवकुमार अपने–अपने यूथमें विभक्त होकर अर्थात् अपनी–अपनी मण्डली बनाकर खेल रहे थे। वे अत्यन्त महानन्दसे परिपूर्ण होकर निश्चिन्त रूपसे निरन्तर विविध प्रकारका विहार कर रहे थे॥१॥

पुरा क्वापि न दृष्टा या सर्वतो भ्रमता मया।
मधुरिम्णां पराकाष्ठा सा तेष्वेव विराजते॥२॥

श्लोकानुवाद—उन यादवोंमें जिस प्रकारके माधुर्यकी चरम सीमा विराजित थी, वैसी माधुरी मैंने सर्वत्र भ्रमण करनेपर भी कहीं नहीं देखी थी॥२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ते कीदृशा इत्यपेक्षायामाह—पुरेति। या मधुरिम्णां माधुरीणां परा परमा अन्त्या वा काष्ठा सीमा क्वापि श्रीवैकुण्ठादावपि न दृष्टा, तेषु यादवादिष्वेव॥२॥

भावानुवाद—यदि कहो कि उन यादवकुमारोंका विविध प्रकारका विहार कैसा था? इसकी अपेक्षामें 'पुरा' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। पूर्वमें मैंने सर्वत्र भ्रमण किया था, किन्तु उन यादवोंमें जिस माधुरीकी चरम सीमा विराजित थी, वैसी माधुरी मैंने श्रीवैकुण्ठादि किसी भी स्थानपर नहीं देखी थी॥२॥

सर्वार्थो विस्मृतो हर्षान्मया तद्दर्शनोद्भवात्।
तैस्त्वाकृष्य परिष्वक्तः सर्वज्ञ-प्रवरैरहम् ॥३॥

श्लोकानुवाद—उनके दर्शनसे मुझमें ऐसा हर्ष उत्पन्न हुआ कि मैं प्रणामादि अपने समस्त कर्त्तव्योंको भूल गया। परन्तु उन सर्वज्ञश्रेष्ठ यादवकुमारोंने मुझे अपनी ओर खींचकर आलिङ्गन कर लिया॥३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेषां दर्शनादेवोद्भवो यस्य तस्माद्धर्षाद्धेतोर्मया सर्वोऽर्थस्तन्नमनादि-प्रयोजनं विस्मृतः। तैस्तु यथोचितमेव व्यवहृतमित्याह—तैरिति सार्धेन। सर्वज्ञेषु प्रवरैः श्रेष्ठतरैर्योऽयं यतो यदर्थं वा गतः। यद्वा, मयि कृत्यं तदादिकं सर्वमपि तत्त्वतो नितरां जानद्भिरित्यर्थः। अतएवाकृष्य बलाद्गृहीत्वा तैर्यादवादिभिरहं परिष्वक्तः आलिङ्गितः॥३॥

भावानुवाद—उनके दर्शनसे उदित हर्षके कारण मैं उन्हें प्रणाम करना आदिरूप अपने समस्त कर्त्तव्योंको भूल गया। परन्तु उन यादवकुमारोंने यथोचित व्यवहारका ही प्रदर्शन किया, अर्थात् मुझे बलपूर्वक खींचकर आलिङ्गन कर लिया। इसका कारण था कि वे सर्वज्ञोंमें श्रेष्ठ थे, अर्थात् मैं कौन हूँ, वहाँ किसलिए आया हूँ—वे मेरी क्रिया आदि सभी विषयोंसे अवगत थे॥३॥

गोवर्धनाद्रि-गोपाल-पुत्रबुद्ध्या प्रवेशितः।
अन्तःपुरम् करे धृत्वा स्नेहपूरार्द्रमानसैः ॥४॥

श्लोकानुवाद—मुझे गोवर्धनवासी गोपका पुत्र जानकर उनका हृदय अत्यधिक स्नेहसे द्रवित हो गया तथा उन्होंने मेरा हाथ पकड़कर मुझे अन्तःपुरमें प्रवेश करवाया॥४॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, अन्तःपुरम् प्रवेशितः। तत्र हेतुः—गोवर्धनाद्रेर्गोपालस्य तत्रत्य-गोपस्य पुत्रोऽयमिति बुद्धया निश्चयेन। अतः करे मम धृत्वा गृहीत्वा। अतएव स्नेहपूरेण आर्द्राणि मानसानि येषाम् तथाभूतैः सद्भिः, तल्लक्षणाभिव्यक्तेः॥४॥

भावानुवाद—तदुपरान्त उन यादवकुमारोंने मेरा हाथ पकड़कर मुझे अन्तःपुरमें प्रवेश करवाया। इसका कारण था कि उन्होंने मुझे निश्चित रूपमें गोवर्धनवासी गोपका पुत्र जान लिया। अतएव उनका हृदय मेरे प्रति स्नेहसे परिपूर्ण था, अर्थात् मेरे प्रति द्रवीभूत हो गया था॥४॥

पश्यामि दूरात् सदसो महीयसो, मध्ये मणिस्वर्णमये वरासने।
तूलीवरोपर्युपविश्य लीलया, विभ्राजमानो भगवान् स वर्त्तते॥५॥

श्लोकानुवाद—मैंने दूरसे देखा कि श्रीभगवान् एक विराट (सुधर्मा नामक) सभामें मणियोंसे जड़ित स्वर्णके श्रेष्ठ सिंहासनपर विद्यमान परम मनोहर बिछौनेके ऊपर लीलापूर्वक विराजमान हैं॥५॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च दूरात् पश्यामि, सामीप्ये वर्त्तमाना। किन्तदाह—सदस इत्यष्टभिः। स भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रः तूलीवरायाः परमोत्कृष्टतूलिकाया उपरि लीलया उपविष्य विराजमानो वर्त्तते। कुत्र? महीयसः महत्तरस्य सदसः सुधर्माख्यसभाया मध्ये यत् मणिस्वर्णमयं तत्तद्विकाररचितं वरासनं तस्मिन्॥५॥

भावानुवाद—तत्पश्चात् गोपकुमारने दूरसे जो देखा उसे 'सदस' इत्यादि आठ श्लोकोंमें वर्णन कर रहे हैं। (यहाँ सामीप्य अर्थमें वर्त्तमान कालका प्रयोग हुआ है।) वे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र परमोत्कृष्ट गद्दीपर लीलापूर्वक विराजित हैं। कहाँपर? महान सुधर्मा नामक सभामें मणि तथा स्वर्णसे जड़ित श्रेष्ठ सिंहासनके ऊपर॥५॥

वैकुण्ठनाथस्य विचित्रमाधुरीसारेण तेनास्त्यखिलेन सेवितः।
केनापि केनाप्यधिकाधिकेन सोऽमुष्मादपि श्रीभरसञ्चयेन च॥६॥

श्लोकानुवाद—श्रीवैकुण्ठनाथकी समग्र विचित्र माधुरीके सार द्वारा सेवित होनेपर भी वे श्रीद्वारकानाथ किसी-किसी माधुर्यकी विशेषतासे तथा अत्यधिक शोभासमूहके कारण श्रीवैकुण्ठनाथसे भी अधिक माधुरीसे सुशोभित हैं॥६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तमेव विशिनष्टि—वैकुण्ठेति द्वाभ्याम्। तेन अनिरूप्येण पूर्वोक्तेन वा, वैकुण्ठनाथस्य श्रीनारायणस्य विचित्राणां माधुरीणां सारेण अखिलेन निःशेषेण सेवितो नित्यमादरेणाश्रितोऽस्ति। श्रीमुखलोचनादीनामाकारादीनां भूषणादीनाञ्च, तत्तद्रव्यजातीयत्वादिना लीलादीनामपि उपवेशताम्बूलचर्वणादिरूपत्वेन किञ्चित् साम्यम्, तेन सह लभमानानामपि, तत्तद्गतेनैव केनचिन्माधुर्य-विशेषेणायं ततोऽपि परममनोहर इत्यर्थः। किञ्च, तस्मादत्यन्तभिन्नोऽपि बहुविधः शोभातिशयोऽस्मिन् विभातीत्याह—केनापीति। अमुष्मात् श्रीवैकुण्ठनाथादपि अधिकाधिकेन परमातिरिक्तेन, श्रीभरसञ्चयेन च शोभातिशय-समुदायेन स भगवान् श्रीद्वारकानाथः सेवितोऽस्ति॥६॥

भावानुवाद—उन श्रीद्वारकानाथमें किसी-किसी माधुर्यकी विशेषताको बतलानेके लिए 'वैकुण्ठनाथस्य' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। भगवान् श्रीद्वारकानाथ पूर्वोक्त वैकुण्ठनाथ श्रीनारायणके विचित्र माधुर्यके सम्पूर्ण सार द्वारा सुशोभित थे, अर्थात् सर्वदा आदर सहित सेवित हो रहे थे। यद्यपि श्रीमुख-नेत्रादिका आकार, भूषण तथा विभिन्न द्रव्योंसे बने हुए अलङ्कार, ताम्बूल चर्वण तथा उपवेशनादि (बैठनेका ढङ्ग) रूप लीलाके विषयमें श्रीद्वारकानाथकी वैकुण्ठपति श्रीनारायणके साथ कुछ समानता रहनेपर भी किसी-किसी माधुर्यकी विशेषता और अत्यधिक शोभाराशिके कारण भगवान् श्रीद्वारकानाथ श्रीवैकुण्ठनाथसे भी परम मनोहर हैं। अर्थात् अनेक विषयोंमें श्रीवैकुण्ठनाथसे अभिन्न होनेपर भी श्रीद्वारकानाथ अत्यधिक शोभाराशिके द्वारा सेवित हैं॥६॥

कैशोरशोभार्द्रितयौवनार्चितो, भक्तेष्वभिव्यञ्जितचारुदोर्युगः।
माधुर्य-भङ्गीह्रियमाणसेवकस्वान्तो महाश्चर्यविनोदसागरः॥७॥

श्लोकानुवाद—कैशोर-शोभासे युक्त यौवनने मानो अर्चकके समान भक्तिपूर्वक उनके श्रीअङ्गोंका आश्रय ग्रहण किया हो। अपने भक्तोंको सुख प्रदान करनेके लिए वे मनोहर द्विभुज रूपमें सर्वदा विराजमान हैं। उनके सौन्दर्य-लावण्यके माधुर्यकी भङ्गि समस्त सेवकोंके मनको हरण कर रही है। इस प्रकारसे वे अद्भुत लीला-आनन्दके सागरस्वरूप हैं॥७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवाह—कैशोरेति, कैशोरस्य शोभया आर्द्रितं मिश्रितं सरसीकृतं वा यद्यौवनं तेन अर्चितः उपासकेनेव भक्त्या नित्यमाश्रितः। किञ्च, भक्तेषु निजप्रियतमेषु अभिव्यञ्जितं सर्वभावेन प्रकटितं चारु मनोहरं दोर्युगं भुजद्वयं येन सः, अतोऽन्येषु चतुर्भुजत्वेनैव सदा प्रकाशमान इति भावः। नन्वेवं वयोरूपयोर्विशेषतः शोभातिशयो ज्ञातः। सौन्दर्य-लावण्यादिकमपि विशेषतो निर्दिश्यताम्; तत्राह—माधुर्येति, माधुर्याणि कान्तिलावण्यादीनि हसितालाप-भ्रूभङ्गकटाक्षादीनि च तेषां भङ्गीभिः परिपाटीभिर्ह्रियमाणम् आकृष्यमाणं सेवकानां स्वान्तं येन सः। अतस्तदीयप्रियजन-हृदयैकगम्यमेव तदिति विशेषेण वर्णितं न स्यादिति भावः। महाश्चर्यस्य वाङ्मनसवृत्त्यतीतस्य विनोदस्य सागरः गभीरस्थिराश्रयः, अतस्तद्विनोदोऽपि विशेषतो वर्णयितुमशक्य इत्यर्थः॥७॥

भावानुवाद—अब गोपकुमार श्रीद्वारकानाथके माधुर्यकी विशेषता तथा अत्यधिक शोभाराशिको 'कैशोर' इत्यादि श्लोक द्वारा बतला रहे हैं। कैशोर अवस्थाकी शोभा द्वारा मिश्रित अथवा शोभाके रससे युक्त उनका जो यौवन है, उसने मानों उपासककी भाँति भक्तिपूर्वक उनके श्रीअङ्गोंका आश्रय ग्रहण किया हो। अपने समस्त प्रियतम भक्तोंके लिए वे अपने द्विभुज मनोहर रूपमें सदा-सर्वदा प्रकटित हैं, परन्तु अन्योंके लिए वे चतुर्भुज रूपमें ही प्रकटित होते हैं। यदि कहो कि उनकी आयु, रूप, विशेषतः उनकी अत्यधिक शोभाका तो ज्ञान हुआ, किन्तु अब उनके सौन्दर्य-लावण्यादिकी विशेषताका निर्देश करें? इसीके लिए 'माधुर्य' इत्यादि पद कह रहे हैं। उनका माधुर्य—कान्ति अर्थात् लावण्यादि और हास्ययुक्त वार्त्तालाप, भ्रू-भङ्गिका विलास तथा कटाक्षादिकी मधुर भङ्गि समस्त सेवकोंके मनका हरण कर रही है। केवल उनके प्रियजनोंका हृदय ही ऐसी मधुर भङ्गिका अनुभव कर सकता है, अर्थात् मैं उनकी विशेषताओंका वर्णन नहीं कर सकता हूँ। वस्तुतः वे महाश्चर्य अर्थात् वचन और मनके अगोचर क्रीड़ानन्दके सागरस्वरूप—गम्भीर स्थिर आश्रय हैं। अतएव मैं उनके क्रीड़ानन्दकी विशेषताको वर्णन करनेमें अक्षम हूँ॥७॥

श्वेतातपत्रं विततं विराजते, तस्योपरिष्टात् वरचामर-द्वयम्।
पार्श्वद्वये विभ्रमदग्रतोऽस्य च, श्रीपादुके हाटकपीठमस्तके॥८॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्‌के मस्तकके ऊपर एक विशाल श्वेत छत्र शोभायमान है तथा उनके दोनों ओर श्वेत चामर ढुलाये जा रहे हैं। प्रभुके सामने एक स्वर्णकी चरण-चौकीपर उनकी दोनों श्रीपादुकाएँ रखी हुई हैं॥८॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं संक्षेपेण तस्य स्वरूपं वर्णयित्वा परिच्छदान् वर्णयति-श्वेतेति सार्धेन। विततं विस्तीर्णं शिक्षाविशेषेण विस्तारितं वा श्वेतमातपत्रं तस्य भगवत उपरिष्टात् श्रीमस्तकोपरि विराजते। वरं श्वेतकान्ति-बृहदाकारादिना श्रेष्ठं चामरद्वयञ्च विभ्रमत् वीजनेन विचित्रं भ्रमत् क्रीड़द्वा, तस्य पार्श्वद्वये विराजते। श्रीयुक्ते पादुके च अस्य भगवतोऽग्रतः पुरतः हाटकपीठस्य स्वर्णनिर्मितासनविशेषस्य मस्तके उपरि विराजते॥८॥

भावानुवाद—इस प्रकार संक्षेपमें श्रीद्वारकानाथका स्वरूप वर्णनकर अब 'श्वेत' इत्यादि श्लोक द्वारा उनके परिच्छदादि अर्थात् अलङ्कार और सेवाके उपकरणका वर्णन कर रहे हैं। श्रीभगवान्‌के मस्तकके ऊपर एक विशाल श्वेत छत्र विराजमान है जो विशेष कला द्वारा विस्तारित और संकुचित हो जाता है। उनके दोनों ओर सफेद वर्णके विशाल आकारवाले श्रेष्ठ चामर विचित्र भङ्गिसे ढुलाये जा रहे हैं। श्रीभगवान्‌के सामने स्वर्णके बने हुए विशेष आसनपर उनकी दो श्रीयुक्त पादुकाएँ विराजमान हैं॥८॥

श्रीराजराजेश्वरतानुरूपा, परिच्छदाली परितो विभाति।
निजानुरूपाः परिचारकाश्च, तथा महावैभवपङ्‌क्तयोऽपि॥९॥

श्लोकानुवाद—उनकी श्रीराज-राजेश्वरताके अनुरूप भूषणादि सेवाके उपकरणसमूह चारों ओर प्रकाशमान हो रहे हैं तथा उनके अनुरूप परिचारकगण भी चारों ओर अपनी-अपनी सेवामें संलग्न हैं। उनका महावैभव भी उनके चारों ओर विराजमान है॥९॥

दिग्दर्शिनी टीका—अन्येऽपि भूषणायुधादयो बहवो विचित्राः परिच्छदा वर्त्तन्त इत्याह—श्रीराजेति। परिच्छदानां तेषां रूपमात्रापेक्षयैव श्रीराजराजेश्वरतानुरूपत्वं, न तु तत्त्वविचारेण। श्रीद्वारकानाथस्य श्रीवैकुण्ठनाथादपि सच्चिदानन्दमयवैभवविशेषवत्त्वात्। यद्वा, श्रीराजराजेश्वरशब्देन योगरूढ्या श्रीद्वारकानाथ एवाभिधीयत इति दिक्। इदानीं परिवारान् वक्ष्यन्नादौ चामरवीजनादि-निकटसेवापरानाह—निजेति। परिचारकाः सेवकाः, परितश्चतुर्दिक्षु विभान्ति। कीदृशाः? निजानुरूपा अनुपमाः, तस्य भगवत एव योग्या इति वा; अतस्तेऽपि तादृग्रूपादिमन्त एवेत्यर्थः। तथेति समुच्चये, सादृश्ये वा। महतां वैभवानां रथाश्वनिधिपारिजातादीनां गीतनृत्यादीनाञ्च विभूतीनां पङ्‌क्तयोऽपि परितो विभान्ति॥९॥

भावानुवाद—अनेक प्रकारके आभूषण, आयुध और नाना प्रकारके विचित्र परिच्छदादि अर्थात् सेवाके उपकरण उनके चारों ओर शोभा पा रहे हैं—इसे बतलानेके लिए 'श्रीराज' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। वास्तवमें वह समस्त परिच्छद उनकी श्रीराज-राजेश्वरताके अनुरूप ही शोभायमान हैं, किन्तु तत्त्व-विचारसे नहीं, क्योंकि श्रीद्वारकानाथका सच्चिदानन्दमय वैभव श्रीवैकुण्ठनाथसे भी अधिक विशेषतासे युक्त है।

अथवा 'श्रीराज-राजेश्वर' शब्दकी योगरूढ़िवृत्ति अर्थात् विशेष अर्थके द्वारा श्रीद्वारकानाथ ही लक्षित हो रहे हैं।

अब भगवान् श्रीद्वारकानाथके परिवार अर्थात् परिकरोंका परिचय प्रदान करनेके लिए सर्वप्रथम उनके समीप अवस्थित सेवामें अनुरक्त अर्थात् चामर-ढुलाने आदिमें रत सेवकोंके विषयमें 'निजानुरूप' इत्यादि पदों द्वारा वर्णन कर रहे हैं। निजानुरूप अर्थात् उपमारहित, केवल भगवान्की सेवाके ही योग्य तथा श्रीभगवान्के रूप-गुणादिके समान सेवकगण चारों ओर अपनी-अपनी सेवाओंमें व्यस्त हैं। श्रीभगवान्का महान वैभव अर्थात् रथ, अश्व, सम्पत्ति, पारिजातादि वृक्ष और गीत-नृत्यादि महाविभूति भी उनके चारों ओर अपने-अपने यथायोग्य स्थानपर विराजमान हैं॥९॥

स्व-स्वासने श्रीवसुदेव-रामाक्रूरादयो दक्षिणतो निविष्टाः।
वामेऽस्य पार्श्वे गद-सात्यकी च, पुरो निधायाधिपमुग्रसेनम्॥१०॥
मन्त्री विकद्रुः कृतवर्मणा समं, तत्रैव वृष्णि-प्रवरैः परैरपि।
श्रीनारदो नर्म-सुगीत-वीणा-वाद्यैरमुं क्रीड़ति हासयन् सः॥११॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्के दाईं ओर महाराज श्रीवसुदेव, श्रीबलराम और अक्रूरादि विराजित हैं, तथा बाईं ओर राजा उग्रसेन और उनके पीछे गद और सात्यकि जैसे यादवगण विराजमान हैं। उग्रसेनकी बाईं ओर मन्त्री विकद्रु, कृतवर्मा तथा अन्य श्रेष्ठ यादव और राजा शोभा पा रहे हैं। श्रीनारदजी कौतुकपूर्वक नृत्य, गीत और कोमल वचनों सहित वीणा वादन करते हुए प्रभुको हास्यरसका आस्वादन करवा रहे हैं॥१०-११॥

दिग्दर्शिनी टीका—पार्षदानाह—स्वेति सपादद्वयेन। अस्य भगवतो दक्षिणतः दक्षिणे पार्श्वे श्रीवसुदेवादयः स्व-स्वासने पृथक् पृथक् निजनिजोचितासने निविष्टाः सन्ति, विभान्तीत्येव वा। एवमग्रेऽपि। आदिशब्दात् सान्दीपनि-गर्गादयः। वामपार्श्वे च उग्रसेनं पुरोऽग्रे विधाय गद-सात्यकी निविष्टौ। तस्य पुरोविधाने हेतुः—अधिपं राजानम्; तत्र वामपार्श्वे एव कृतवर्मणा सेनापतिना समं वृष्णिषु यादवेष्वेव प्रवरैः श्रेष्ठतमैर्भोजान्धकादिभिः, परैरन्यैर्नृपादिभिरपि समं विकद्रुर्निविष्टः। यतो मन्त्री सचिवश्रेष्ठः, आधिकारिभिः सह मन्त्रिणो राजान्तिक एवोपवेशयोग्यत्वात्। यो

वैकुण्ठादौ दृष्टः, स एव श्रीनारदश्च, अमुं भगवन्तं नर्मादिभिर्हासयन् क्रीड़ति। विचित्रानुकार-प्रत्येकयादवश्लाघनादिना विविध विनोदेन सकृदुत्थाय परितो भ्रमन्नस्तीत्यर्थः॥१०-११॥

भावानुवाद—अब 'स्व' इत्यादि दो श्लोकोंके द्वारा गोपकुमार श्रीभगवान्‌के पार्षदोंके सम्बन्धमें बतला रहे हैं। श्रीभगवान्‌के दक्षिण अर्थात् दाईं ओर महाराज श्रीवसुदेव, श्रीबलराम और श्रीअक्रूरादि अपने-अपने योग्य अलग-अलग आसनोंपर विराजमान हैं। इसे आगे भी कहा जायेगा। 'आदि' शब्दसे श्रीसान्दीपनी और श्रीगर्गादि मुनियोंको भी समझना होगा। श्रीभगवान्‌के बाईं ओर राजा उग्रसेन तथा उनके पीछे गद और सात्यकि विराजित हैं। उग्रसेनको आगे आसन देनेका कारण है कि वे राजा हैं। उग्रसेनकी बाई ओर सेनापति कृतवर्माके साथ वृष्णि और यादवोंके समान श्रेष्ठतम भोज और अन्धकादि तथा अन्य राजाओंके साथ मन्त्री विकद्रु भी विराजमान हैं। सचिवश्रेष्ठ अर्थात् प्रधानमन्त्री होनेके कारण विकद्रु अधिकारियोंके साथ राजाके निकट स्थित आसनपर विराजमान हैं—यही मन्त्रीके लिए योग्य स्थान है। जिनका श्रीवैकुण्ठादिमें सर्वत्र दर्शन किया था, वे श्रीनारद भी इस द्वारकामें प्रभुके निकट उपस्थित रहकर नाना प्रकारके कौतुकपूर्ण गीतों तथा कोमल वचनों सहित वीणावादनकर प्रभुको हँसा रहे हैं। अर्थात् विचित्र भावोंके अनुकरण द्वारा प्रत्येक यादवकी प्रशंसादिके छलसे विविध विनोद-कौतुक प्रदर्शन करते हुए बीच-बीचमें भ्रमणादि द्वारा प्रभुको हँसाकर उन्हें क्रीड़ा-सुख प्रदान कर रहे हैं॥१०-११॥

तिष्ठन् पुरः श्रीगरुड़ोऽस्ति तं स्तुवन्, पादाब्ज-सम्वाहनकृत्तथोद्धवः।
रहस्यवार्त्ताभिरसौ प्रियाभिः, सन्तोषयन्नस्ति निजेश्वरं तम्॥१२॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्‌के सम्मुख उपस्थित होकर श्रीगरुड़ उनकी स्तुति कर रहे हैं। श्रीउद्धव प्रभुके श्रीचरणकमलोंका सम्वाहन करते हुए उनकी प्रिय रहस्यपूर्ण वार्त्ताओंकी चर्चाकर अपने ईश्वरको प्रसन्न कर रहे हैं॥१२॥

दिग्दर्शिनी टीका—श्रीगरुड़स्तु तं भगवन्तं स्तुवन् पुरोऽग्रे तिष्ठन्नस्ति। अथ निकटवर्त्तिनां परिचारकानां मध्येऽन्तर्भूतमप्युद्धवं सेवाविशेषेण पृथङ्निर्दिशति—

पादाब्जेति। असौ भगवत्प्रियतमसेवकत्वेन प्रसिद्ध उद्धवः, प्रियाभिः गोकुलादिसम्बन्धेन भगवन्मनोऽनुकूलाभिः, अतो रहस्याभिर्वार्त्ताभिर्गोष्ठीभिः, तं भगवन्तं सन्तोषयन्नस्ति। ननु रहस्याश्चेत्तर्हि सभामध्ये प्रकाशयितुं न योग्याः, तत्राह—पादाब्जयोः सम्वाहनं करोतीति तथा सः, अतोऽत्यन्तसन्निहितत्वात्तेनोच्यमाना कथा भगवतैव श्रूयते, नान्यैरिति भावः। यद्वा, तत्तत्परिहारायैवासाविति पदं द्रष्टव्यम्। ततश्च असौ वाक्पतिशिष्यः परमाभिज्ञवरो मन्त्रिप्रवर इत्यर्थः। अतो विचित्रसङ्केतचातुर्यादिना क्रियमाणा सा वार्त्ता न केनाप्यन्येन बोद्धुं शक्यत इति भावः। नन्वेवं कथं सम्भवेत्तत्राह—निजेश्वरं परमविदग्धशिरोमणिम्; यद्वा, स्वाधीनं प्रभुमित्यर्थः॥१२॥

भावानुवाद—मैंने देखा कि श्रीगरुड़ श्रीभगवान्‌के सम्मुख उपस्थित होकर उनका स्तव कर रहे हैं। अब श्रीद्वारकानाथके निकट रहनेवाले सेवकोंमें श्रीमान् उद्धवकी सेवा-विशेषताको पृथक् रूपमें निर्देश करनेके लिए 'पादाब्ज' इत्यादि पद कह रहे हैं। श्रीमान् उद्धव श्रीभगवान्‌के प्रियतम सेवकके रूपमें प्रसिद्ध हैं। अतः भगवान्‌की प्रिय अर्थात् गोकुलसम्बन्धी तथा उनके मनके अनुकूल निगूढ़ रहस्यमयी वार्त्ताकी चर्चा करके प्रभुको सन्तुष्ट कर रहे हैं।

यदि आपत्ति हो कि गोकुलसम्बन्धी निगूढ़ रहस्यवार्त्ता इन यादवोंकी सभामें प्रकाशित करनेके योग्य नहीं है, अतः उसे कैसे प्रकाश कर रहे हैं? इसके लिए कहते हैं कि श्रीमान् उद्धव श्रीभगवान्‌का पाद-सम्वाहन करते समय उक्त निगूढ़ रहस्यको प्रकट कर रहे हैं। श्रीभगवान्‌का पाद-सम्वाहन करनेके लिए श्रीउद्धव प्रभुके अत्यन्त निकट स्थित है, इसलिए सभास्थित समस्त लोग उस रहस्यसे अवगत नहीं हो सके, केवल श्रीभगवान्‌ने ही उसे श्रवण किया। अथवा इस आशङ्काको दूर करनेके लिए 'असौ' पदका व्यवहार करके कह रहे हैं—श्रीमान् उद्धव बृहस्पतिके शिष्य, परम विद्वान् तथा श्रेष्ठ मन्त्री हैं। अतएव वे इस प्रकारसे विचित्र सङ्केत और चतुरतापूर्वक वचनोंको कह रहे हैं कि अन्य व्यक्ति उनके वाक्योंके सारको ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं है। यदि कहो कि ऐसा किस प्रकार सम्भव हुआ? इसके लिए कहते हैं कि भगवान् परम विदग्ध शिरोमणि हैं। अथवा वे स्वतन्त्र प्रभु हैं, उनकी इच्छाके बिना किसीमें भी समझनेका सामर्थ्य नहीं हो सकता है॥१२॥

निरीक्ष्य दीर्घात्म-दिदृक्षितास्पदं, दूरेऽपतं प्रेम-भरेण मोहितः।
स तूद्भटस्नेह-रसेन पूरितो, मन्नायनायोद्धवमादिदेश॥१३॥

श्लोकानुवाद—जिनके दर्शनकी मैं दीर्घकालसे इच्छा कर रहा था, उन दर्शनके विषय प्रभुको दूरसे देखते ही मैं अत्यधिक प्रेमके कारण मोहित (मूर्च्छित) होकर गिर पड़ा। उस समय उन प्रभुने अत्यधिक स्नेहरससे परिपूर्ण होकर मुझे अपने समीप ले आनेके लिए श्रीउद्धवको आदेश दिया॥१३॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं दीर्घस्य चिरकालीनस्यात्मदिदृक्षितस्य मद्दिदृक्षाया आस्पदं विषयं निरीक्षय स भगवांस्तु उद्भटेन प्रस्फुटेन स्नेहरसेन पूरितः सन्; मन्नायनाय मां स्वनिकटं नाययितुम्॥१३॥

भावानुवाद—जिनको देखनेकी मैं चिरकालसे इच्छा करता आ रहा था तथा हृदयमें तीव्र उत्कण्ठा पोषण कर रहा था, उस दर्शनके विषय अपने हृदयके ईश्वरको दूरसे देखते ही मैं अत्यधिक प्रेमके कारण मूर्च्छित हो गया। तब उन श्रीभगवान्ने भी अत्यन्त स्नेहरससे परिपूर्ण होकर मुझे अपने निकट लानेके लिए श्रीमान् उद्धवको आदेश दिया॥१३॥

मामुद्धवो गोपकुमारवेशमालक्ष्य हृष्टो द्रुतमागतोऽसौ।
उत्थाप्य यत्नादथ चेतयित्वा, पाण्योर्गृहीत्वानयदस्य पार्श्वम्॥१४॥

श्लोकानुवाद—श्रीउद्धव मेरे गोपवेशको देखकर अत्यधिक प्रसन्न हुए और तीव्रगतिसे मेरे निकट आए। फिर उन्होंने मुझे यत्नपूर्वक उठाकर सचेत किया और मेरे दोनों हाथोंको पकड़कर मुझे श्रीभगवान्के निकट ले गये॥१४॥

दिग्दर्शिनी टीका—असौ गोकुललोकप्रियः भगवत्पादसम्वाहनरतो वा उद्धवश्च। गोपकुमारस्यैव वेशो यस्य तं मामालक्ष्य लक्षणेन गोकुलभवं ज्ञात्वा हृष्टः सन् चेतयित्वा संज्ञां प्रापय अस्य भगवतः पार्श्वमनयत्॥१४॥

भावानुवाद—तब गोकुलके लोकप्रिय अथवा श्रीभगवान्के पाद-सम्वाहनमें रत श्रीमान् उद्धव तीव्र गतिसे मेरे पास आये और मुझे गोपकुमारके वेशमें देखकर तथा लक्षण द्वारा मेरा गोकुलमें जन्म हुआ

जानकर अत्यधिक प्रसन्न हुए। फिर उन्होंने मुझे सचेत किया और मेरे दोनों हाथोंको पकड़कर मुझे श्रीभगवान्‌के समीप ले गये॥१४॥

निजान्तिके मन्नयनार्थमात्मनैवोत्थातुकामेन पुरोऽर्पितस्य।
पादाम्बुजस्योपरि मच्छिरो बलात् स्व–पाणिनाकृष्य वतोद्धवोन्यधात्॥१५॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्‌ने जैसे ही मुझे अपने निकट लानेके लिए स्वयं उठकर अपना श्रीचरण आगे बढ़ाया, उसी क्षण श्रीमान् उद्धवने बलपूर्वक अपने हाथों द्वारा खींचकर मेरा मस्तक प्रभुके श्रीचरण-कमलोंपर रख दिया॥१५॥

दिग्दर्शिनी टीका—वत हर्षे। उद्धवो बलात् स्वपाणिना आकृष्य गृहीत्वा मच्छिरोऽस्यैव पादाम्बुजस्योपरि न्यधात् अप्रयामास। कीदृशस्य? आत्मना स्वयमेव भगवता निजान्तिके मम नयनार्थम् उत्थातुकामेन पुरोऽग्रेऽर्पितस्य निहितस्य। इत्यादिकञ्च पुराननुभूत-भगवत्कृपातिशयप्राप्तिलक्षणम् उन्नेयम्॥१५॥

भावानुवाद—अत्यन्त हर्षके साथ श्रीउद्धवने बलपूर्वक अपने हाथोंसे मेरा मस्तक खींचकर श्रीभगवान्‌के श्रीचरणकमलोंमें रख दिया। ऐसा किस प्रकार हुआ? श्रीभगवान्‌ने स्वयं ही मुझे अपने निकट लानेके लिए जैसे ही उठकर अपना श्रीचरण आगे बढ़ाया, उसी क्षण श्रीमान् उद्धवने मेरा मस्तक उनके चरणोंमें रख दिया। यही भगवान्‌की अत्यधिक कृपा-प्राप्तिका लक्षण है। वास्तवमें मैंने ऐसी कृपा अन्यत्र कहीं भी प्राप्त नहीं की थी॥१५॥

स प्राणनाथः स्व–कराम्बुजेन मे, स्पृशन् प्रतीकान् परिमार्जयन्निव।
वंशीं ममादाय कराद्विलोकयम्स्तूष्णीम् स्थितोऽश्रूणि सृजन्महार्त्तवत्॥१६॥

श्लोकानुवाद—तब उन प्राणनाथ श्रीकृष्णने अपने हस्तकमलोंके द्वारा मेरे अङ्गोंका इस प्रकार स्पर्श किया मानों उनका मार्जन कर रहे हों। फिर उन्होंने मेरे हाथसे वंसी ले ली और एकटक होकर उसे देखते-देखते मौन हो गये तथा अत्यन्त दुःखितकी भाँति नेत्रोंसे प्रेम-अश्रु बहाने लगे॥१६॥

दिग्दर्शिनी टीका—मे मम प्रतीकान् अङ्गानि परिमार्जयन्निव स्पृशन्निवेति, तत्र सभामध्ये वस्तुतो राजभावात् स्पर्शनप्रकारविशेषचातुर्याबोधनार्थं वा। मम कराद्वंशीमादाय

तामेव विलोकयन् सृजन् मुञ्चन्नित्यर्थः। महार्त्तवदिति तत्त्वतो महार्त एव सभायां यत्नतः सम्वरणाभिप्रायेण वतिप्रत्ययः॥१६॥

भावानुवाद—वे प्राणनाथ श्रीकृष्ण अपने हस्तकमलों द्वारा मेरे अङ्गोंका इस प्रकार स्पर्श कर रहे थे मानों उन्हें मार्जन कर रहे हों। उस सभामें विशेषतः राजकीय-भावमें प्रभु द्वारा मुझे इस प्रकारसे स्पर्श करना उनकी विशेष चतुरताको ही प्रदर्शित करता है। फिर उन भगवान्ने मेरे हाथसे वंसी ले ली और तृष्णापूर्ण नेत्रोंसे उसे देखते-देखते थोड़ी देरके लिए मौन हो गये तथा अत्यन्त दुःखितकी भाँति प्रेम-अश्रु बहाने लगे। वे सचमुच अत्यधिक दुःखी हुए थे, किन्तु सभामें वैसा भाव प्रकाश करना उचित नहीं था, इसलिए उन्होंने यत्नपूर्वक अपने शोकको सम्वरण कर लिया। ऐसी राजकीय सभामें यत्नपूर्वक शोक सम्वरण करनेके अभिप्रायसे ही 'महार्त्तवत्' अर्थात् दुःखितकी भाँति कहा गया है॥१६॥

क्षणात्तव क्षेममनामयोऽसि किं, न तत्र कच्चित् प्रभवेदमङ्गलम्।
एवं वदन्नेव दशां स कामपि, व्रजन् कृतो मन्त्रि-वरेण धैर्यवान्॥१७॥

श्लोकानुवाद—क्षणकालके उपरान्त उन्होंने मुझसे कहा—हे गोपकुमार! तुम कुशल तो हो? तुम्हारा किसी प्रकारका अमङ्गल तो नहीं हुआ? इस प्रकारसे कहते-कहते श्रीभगवान् एक अपूर्व भाव-दशाको प्राप्त हो गये। तब मन्त्रीवर श्रीउद्धवने किसी प्रकारसे उनको सान्त्वना प्रदान की॥१७॥

दिग्दर्शिनी टीका—क्षणात् स भगवान् कामपि मोहनलक्षणां बाष्पगद्गदादिलक्षित-परमार्त्तिलक्षणां वा दशां व्रजन् प्राप्नुवन् सन् मन्त्रिवरेणोद्धवेन धैर्यवान् कृतः स्वस्थतां नीत इत्यर्थः। तथा व्रजने हेतुः—तवेत्यादि; कच्चिदिति प्रश्ने। तत्र गोकुले अमङ्गलं किं न प्रभवेत्? एवम् इत्येतद्वदन्नेव, यद्यपि तत्कालीनभौमद्वारकावर्त्तित्वेनैवेदं सम्भवेन्न त्वधुना श्रीवैकुण्ठद्वारकावर्त्तितया, तथापि द्वारकयोरेतयोर्लोकद्वयवर्त्तिन्योरप्य-भेदाभिप्रायेण भगवतोऽपि सदा तादृशभावानुवृत्तेः सर्वमुपपद्यत एव। एतच्चाग्रे श्रीनारदोक्त्या व्यक्तं भावि॥१७॥

भावानुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—हे गोपकुमार! तुम कुशल तो हो? गोकुलमें किसी प्रकारका अमङ्गल तो नहीं हुआ है? उसी क्षण

अर्थात् ऐसा कहते–कहते श्रीभगवान् अश्रु–गद्‌गदादि भावसे परिपूर्ण किसी एक अपूर्व मोहनलक्षण दशा (मूर्च्छा) को प्राप्त हो गये। परन्तु मन्त्रीप्रवर श्रीउद्धवने उनको सान्त्वना प्रदानकर स्वस्थ किया। यद्यपि उस समय श्रीभगवान् वैकुण्ठ स्थित द्वारकामें थे तथा उनकी ऐसी दशा केवल भौमद्वारकामें ही उदित हो सकती थी, वैकुण्ठद्वारकामें नहीं, तथापि प्रकट और अप्रकट दोनों लोकोंके एक समान होनेके कारण, विशेषतः श्रीभगवान्‌में सर्वदा भौमलीलाके आवेशवशतः उन्हें अपने वैसे पूर्वभावका अनुसरण हुआ था। श्रीनारद इस विषयको आगे व्यक्त करेंगे॥१७॥

अग्रतो दर्शितास्तेन सङ्केतेन सभास्थिताः।
यादवा वसुदेवाद्या नृपा देवास्तथर्षयः॥१८॥

श्लोकानुवाद—मन्त्रीवर श्रीउद्धवने प्रभुको सतर्क करनेके लिए सङ्केतपूर्वक उनके सामने सभामें उपस्थित वसुदेवादि यादवों, उग्रसेनादि राजाओं और ऋषियोंको दिखलाया॥१८॥

दिग्दर्शिनी टीका—धैर्यकरणप्रकारमेवाह—अग्रत इति, पुरतो वर्त्तमाना सङ्केतेन भ्रूसंज्ञादिनैव तेन मन्त्रिवरेण दर्शिताः नृपाः श्रीयुधिष्ठिरादयः, देवाः शक्राद्याः, ऋषयो गर्गाद्याः, एते नृपादयश्च भगवत्पार्षदा एव भौमद्वारकायामिवात्रापि भगवतो लीलाकौतुक-सम्पत्तये श्रीवैकुण्ठमध्य एव तद्द्वारकानिकटे तत्र तत्रोचितास्पदे निवसन्तीति श्रीनारदोक्तसिद्धान्तानुसारेणोह्यम्। एवमग्रे श्रीगोलोकेऽपि॥१८॥

भावानुवाद—श्रीउद्धवने श्रीकृष्णको किस प्रकार धीरज बँधाया? इसे 'अग्रतो' इत्यादि श्लोक द्वारा बतला रहे हैं। उन मन्त्रीवर श्रीउद्धवने प्रभुको सतर्क करते हुए भ्रू–भङ्गिके सङ्केतादि द्वारा सभामें उनके सामने उपस्थित युधिष्ठिरादि राजाओं, इन्द्रादि देवताओं, गर्गादि ऋषियों और भगवान्‌के पार्षद अन्य राजाओंको दिखलाकर प्रभुके भावोंको बदल दिया। भौमद्वारकाके समान इस वैकुण्ठद्वारकामें भी भगवान्‌की लीला–कौतुकके लिए द्वारकाके निकट ही श्रीयुधिष्ठिर जैसे पार्षदगण अपने–अपने यथायोग्य स्थान (हस्तिनापुर आदि) में निवास करते हैं—इसे श्रीनारद द्वारा कथित होनेवाले सिद्धान्तानुसार ही समझना होगा। तथा आगे व्यक्त होनेवाले श्रीगोलोकके विषयमें भी इसी प्रकारसे जानना होगा॥१८॥

उन्मील्य पद्मनेत्रे तानालोक्याग्रे प्रयत्नतः।
सोऽवष्टभ्येषदात्मानं पुरान्तर्गन्तुमुद्यतः॥१९॥

श्लोकानुवाद—तदुपरान्त श्रीभगवान्‌ने यत्नपूर्वक अपने नेत्रकमल खोले और सभामें उपस्थित यादवों आदिको देखते ही अपने भावको गोपन कर लिया। फिर वे अन्तःपुरमें जानेके लिए तैयार हुए॥१९॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च स भगवान् तान् यादवादीन् अग्रे पुरत आलोक्य ईषत् मनाक् आत्मानं प्रयत्नादवष्टभ्य स्थिरीकृत्य उद्यतः मतिं चक्रे॥१९॥

भावानुवाद—तदुपरान्त उन श्रीभगवान्‌ने अपने कमलनयनोंको खोला और यादवादि राजाओंको अपने सामने उपस्थित देखकर यत्नपूर्वक अपने भावोंको गोपन कर लिया तथा अन्तःपुरमें जानेके लिए तैयार हुए॥१९॥

चिरादभीष्टं निज-जीवितेशं,
तथाभिलभ्य प्रमदाब्धिमग्नः।
किमाचराणि प्रवदानि वा कि-
मिति स्म जानामि न किञ्चनाहम्॥२०॥

श्लोकानुवाद—चिरकालके अभीष्ट अपने उन प्राणनाथ श्रीकृष्णको प्राप्तकर मैं आनन्द-सागरमें निमग्न हो गया। उस समय मैं यह नहीं समझ सका कि मैं कैसा आचरण करूँ और क्या कहूँ॥२०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तदानीं त्वया किं कृतमित्यपेक्षायामाह—चिरादिति। तथा तेनोक्तप्रकारेण। तथापि अभितः तादृशभावविशेषानुभवनादिना सर्वतोभावेन लब्ध्वा प्रमदाब्धौ आनन्दसमुद्रे मग्नः सन् किञ्चन न स्म जानामि ज्ञातवानस्मि॥२०॥

भावानुवाद—यदि कहो कि अपने प्रभुको ऐसी भावयुक्त दशामें दर्शनकर आपकी कैसी अवस्था हुई? इसकी अपेक्षामें गोपकुमार 'चिरादभीष्टं' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। चिरकालसे जिनके दर्शनके लिए मैं उत्कण्ठित था, अपने उन प्राणवल्लभको भावाविष्ट दशामें देखकर और उन विशेष भावोंके अनुभव आदिके द्वारा अर्थात् सम्पूर्ण रूपसे उन्हें प्राप्तकर मैं आनन्द-सागरमें निमग्न हो गया। वस्तुतः उस समय मैं क्या करूँ और क्या कहूँ—इस विषयमें कुछ भी समझ नहीं पाया॥२०॥

ततो बहिर्निःसरतो यदूत्तमान्, सम्मान्य ताम्बूल-विलेपनादिभिः।
विधृत्य मां दक्षिणपाणिनाञ्जलौ रामोद्धवाभ्यामविशत् पुरान्तरम्॥२१॥

श्लोकानुवाद—तब श्रीकृष्णने सभासे बाहर जानेवाले श्रेष्ठ यादवादि प्रत्येकको ताम्बूल और चन्दनादि द्वारा सम्मानित किया। तत्पश्चात् मेरे अञ्जलिबद्ध दोनों हाथोंको अपने दक्षिण हाथ द्वारा पकड़कर वे श्रीबलराम और श्रीउद्धवके साथ मुझे अन्तःपुरमें ले गये॥२१॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततो भगवत्पुरान्तर्गमनाद्धेतोर्निःसरतः सभाया बहिर्भवतः, मामञ्जलौ भक्त्या सम्हतयोर्हस्तयोरेव दक्षिणपाणिना विधृत्य गाढ़ं धृत्वा श्रीरामेण उद्धवेन च सह पुरस्य अन्तरं मध्यं प्राविशत्॥२१॥

भावानुवाद—फिर श्रीभगवान्ने अन्तःपुरमें प्रवेश करनेके लिए सभासे उठकर बाहर जाते समय श्रेष्ठ यादवोंको ताम्बूल और चन्दन द्वारा सम्मानित किया और अपने दायें हाथ द्वारा मेरे अञ्जलिबद्ध हाथोंको दृढ़तापूर्वक पकड़कर श्रीबलराम और श्रीउद्धव सहित उन्होंने अन्तःपुरमें प्रवेश किया॥२१॥

श्वश्रूं पुरस्कृत्य सरोहिणीकां, श्रीदेवकीं साष्टशतोत्तराणि।
प्रभुं सहस्राण्यथ षोड़शाग्रेऽभ्ययुः सभृत्याः प्रमुदा महिष्यः॥२२॥

श्लोकानुवाद—वहाँ श्रीकृष्णकी सोलह हजार एक-सौ आठ रानियाँ अपनी-अपनी दासियोंको साथ लेकर तथा अपनी सास श्रीदेवकीमाता और श्रीरोहिणीमाताको आगे करके हर्षपूर्वक उनके स्वागतके लिए उनके समीप उपस्थित हुईं॥२२॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथ पुरान्तःप्रवेशानन्तरमेव प्रमुदा परमहर्षेण साष्टशतोत्तराणि अष्टसहितशताधिकानि षोड़शसहस्राणि महिष्यः श्रीभगवत्पत्नयः, सभृत्याः निजनिजदासीभिः सहिताः, प्रभुं निजभर्तारम्, अग्रे अभ्ययुः अभिजग्मुः। किं कृत्वा? रोहिण्या सहितां श्वश्रूं स्वभर्तृमातरं श्रीदेवकीं पुरस्कृत्य अग्रतो विधाय॥२२॥

भावानुवाद—तदुपरान्त श्रीभगवान्के अन्तःपुरमें प्रवेश करनेपर परम आनन्दपूर्वक सोलह हजार एक-सौ आठ रानियाँ अपनी-अपनी दासियोंको साथ लेकर अपने पतिकी ओर अग्रसर हुईं। किस प्रकारसे? श्रीरोहिणमाता सहित अपनी सास श्रीदेवकीमाताको अपने आगे करके॥२२॥

रुक्मिणी सत्यभामा सा देवी जाम्बवती तथा।
कालिन्दी मित्रविन्दा च सत्या भद्रा च लक्षणा॥२३॥

श्लोकानुवाद—भगवान्‌की प्रियतमा श्रीरुक्मिणी, सत्यभामादेवी, जाम्बवती, कालिन्दी, मित्रविन्दा, सत्या, भद्रा और लक्षणा—ये आठ प्रधान रानियाँ हैं॥२३॥

दिग्दर्शिनी टीका—ता एव निर्दिशति—रुक्मिणीति सपादेन। सा भगवत्प्रियतमत्वेन प्रसिद्धा सत्यभामा देवी परमेश्वरी। अस्य पदस्य सर्वत्रैव सम्बन्धः॥२३॥

भावानुवाद—उन महिषियोंके नाम 'रुक्मिणी' इत्यादि श्लोक द्वारा निर्देश कर रहे हैं। 'सा' अर्थात् भगवान्‌की प्रियतमा होनेके कारण प्रसिद्ध श्रीसत्यभामा देवी अर्थात् परमेश्वरी॥२३॥

अन्याश्च रोहिणीमुख्यास्तस्यैवोचिततां गताः।
सर्वाः सर्वप्रकारेण तुल्यदासीगणार्चिताः॥२४॥

श्लोकानुवाद—तथा रोहिणी प्रमुख अन्यान्य समस्त प्रेयसियाँ भी श्रीकृष्णके अनुरूप गुणोंसे परिपूर्ण थीं और वे सभी समस्त प्रकारसे अपने-अपने अनुरूप दासियों द्वारा सेवित हो रही थीं॥२४॥

दिग्दर्शिनी टीका—भौमगृहादाहृतानां कन्यानां मध्ये प्रधाना या रोहिणीति संज्ञा। तदुक्तं श्रीशुकेन श्रीरुक्मिण्याद्यष्टमहिषीतनयकथनानन्तरम्—*"दीप्तिमांस्ताम्रतप्ताद्या रोहिण्यास्तनया हरेः"* श्रीमद्भा. १०/६१/१८) इति, ताश्च रुक्मिण्याद्याः। कीदृश्यः? इत्यपेक्षायामाह—तस्येति। सर्वास्ताः श्रीरुक्मिण्याद्याः सर्वेण प्रकारेण तस्य भगवत एव उचिततां योग्यतां प्राप्ताः, अतो यादृगसौ भगवान् सर्वतोऽधिकोत्कर्षपूर्णः ता अपि तादृश्य एव सर्वतोऽधिकोत्कर्षपरिपूर्णा इत्यर्थः। तुल्यैर्निजनिजानुरूपैर्दासीगणैरर्चिताः, ताम्बूलार्पणातपत्रधारणचामरान्दोलनादिना सेविताः॥२४॥

भावानुवाद—जिन कन्याओंको श्रीभगवान् भौमासुरके गृहसे लाये थे, उन समस्त कन्याओंमें जो प्रधान थी, उसका नाम भी रोहिणी था। श्रील शुकदेव गोस्वामीने श्रीमद्भागवत (१०/६१/१८) में श्रीरुक्मिणी आदि महिषियोंके पुत्रोंका परिचय प्रदान करनेके प्रसङ्गके अन्तमें कहा है—"रोहिणीके गर्भसे श्रीहरिके दीप्तिशाली, ताम्रतप्त आदि पुत्रोंने जन्म ग्रहण किया था।" यदि कहो कि वे रुक्मिणी आदि महिषियाँ कैसी थीं? इसकी अपेक्षामें 'तस्य' इत्यादि पद कह रहे हैं। वे रुक्मिणी

आदि समस्त महिषियाँ समस्त प्रकारसे भगवान्‌के ही योग्य थीं, अर्थात् उनके अनुरूप गुणोंसे परिपूर्ण थीं। वे भगवान् जिस प्रकार सर्वाधिक उत्कर्षसे पूर्ण थे, उनकी समस्त महिषियाँ भी उसी प्रकार सर्वाधिक उत्कर्षसे परिपूर्ण थीं। उन महिषियोंकी अपने-अपने अनुरूप दासियाँ थीं जो ताम्बूल-अर्पण, छत्र-धारण और चामर-ढुलाकर उनकी सेवा कर रही थीं॥२४॥

ताभ्याममूभिश्च सलज्जमावृतः, कुमार-वर्गैरपि शोभितोऽविशत्।
प्रासादमात्मीयमथासनोत्तमे, निह्नुत्य भावं निषसाद हृष्टवत्॥२५॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार अपनी माताओं, लज्जायुक्त महिषियों और अपने पुत्रों द्वारा परिशोभित होकर श्रीभगवान्‌ने अपने महलमें प्रवेश किया। फिर वे अपने भावको गोपनकर प्रसन्नतापूर्वक एक उत्तम आसनपर बैठ गये॥२५॥

दिग्दर्शिनी टीका—ताभ्यां श्रीदेवकीरोहिणीभ्यां सह अमूभिर्महिषीभिश्च सलज्जं यथा स्यात्तथा वृतः सन् कुमारवर्गैः श्रीप्रद्युम्नसाम्बादिभिरपि शोभितः सन् आत्मीयं निजं प्रासादं प्राविशत्। अथ अनन्तरं आसनोत्तमे निषसाद उपविष्टः। किं कृत्वा? भावं गोकुलस्मरणविशेषेण जातं निजमनोवृत्तिविशेषं शोकाकुलतारूपं निह्नुत्य सम्वृत्य, अतएव हृष्टवत्। एतच्च श्रीदेवक्यादीनां प्रीत्यर्थं कृतमपि तस्य गोपकुमारस्य हर्ष विशेषार्थमेव जातं, भगवतो हृष्टतया गोकुलवर्त्तितासादृश्यस्य सम्यक्सिद्धेः॥२५॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीदेवकी और श्रीरोहिणी माताओं, लज्जायुक्त महिषियों द्वारा चारों ओरसे घिरकर तथा श्रीप्रद्युम्न और साम्बादि कुमारोंके द्वारा परिशोभित होकर श्रीकृष्णचन्द्रने अपने महलमें प्रवेश किया। फिर वे गोकुलके स्मरणसे उदित शोक-व्याकुलतारूप अपनी विशेष मनोवृत्तिको गोपनकर बाहरसे प्रसन्नचित्त होकर एक उत्तम आसनपर बैठ गये। अतएव बाहरसे प्रसन्नताकी प्रतीति श्रीदेवकी आदिकी प्रीतिके लिए होनेपर भी गोपकुमारको उनके हर्षका विशेष भाव ज्ञात हो गया, क्योंकि वे जानते थे कि श्रीभगवान्‌की प्रसन्नता केवल गोकुल-सम्बन्धिनी ही है॥२५॥

तं श्रीयशोदाखिलगोपसुन्दरी–गोपार्भवर्गैरिव भूषितं त्वहम्।
पश्यन् समक्षं धृतवेणुमात्मनो, ध्येयं पुनर्हर्ष–भरेण मोहितः॥२६॥

श्लोकानुवाद—किन्तु उस समय मैंने देखा कि श्रीदेवकी श्रीयशोदाके समान हो गई हैं, समस्त महिषियाँ गोपसुन्दरियोंके तथा सभी कुमार गोपबालकोंकी भाँति हो गये हैं। स्वयं द्वारकानाथने भी मेरे हाथसे वेणुको लेकर मेरे ध्येय श्रीमदनगोपालरूपमें गोकुलके भावको ग्रहण कर लिया। मैं अपने उस ध्येयस्वरूपका दर्शनकर अत्यधिक आनन्दवशतः पुनः मूर्च्छित हो गया॥२६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततोऽहन्तु श्रीमद्‌यशोदादिभिरिव भूषितं समक्षं साक्षात्तमेव पश्यन् हर्षभरेण आनन्दातिशयाविर्भावेन पुनर्मोहितः मूर्च्छां प्रापितः। कुतः? आत्मनो मम ध्येयं हृदि चिन्त्यम्; अतस्तस्य साक्षादवलोकनेनानन्दविशेषो जायत इति भावः। ननु तव ध्येयः श्रीमदनगोपालदेवो वंशीविलसत्करः, श्रीद्वारकानाथश्चायं न तादृक्, इत्यत आह—धृतो मत्करादादाय स्वहस्तकमले न्यस्तो वेणुर्येन तम्; एवं श्रीदेवक्या यशोदासादृश्येन, श्रीमहिषीणाञ्च गोपीगणसादृश्येन, श्रीप्रद्युम्न–साम्बादीनामपि गोपकुमारवर्ग–सादृश्येन, सपरिवारस्यापि ध्येयस्य सादृश्यसिद्धिः। रोहिणी च श्रीबलराम–माता, तत्रात्रापि सैव तथा श्रीभगवदाकार–सौन्दर्यादिकञ्च नित्यमविकारि तदेव वर्त्तत इति दिक्। तच्च केवलं पूर्वतो विलक्षनं यज्ञोपवीतं श्रीभगवति वर्त्तते, तच्च तद्वत् परिहितेनोत्तरीयवस्त्रेणाच्छादित्वान्नैव किल दृश्यत इति ज्ञेयम्॥२६॥

भावानुवाद—उस समय श्रीद्वारकानाथको श्रीयशोदादि गोकुल–परिकरोंसे विभूषित अपने समक्ष साक्षात् रूपमें दर्शनकर अत्यधिक आनन्दके आविर्भावसे मैं पुनः मूर्च्छित हो गया। किसलिए? जिनकी चिरकालसे अपने हृदयमें चिन्ता करता हुआ आ रहा था, उनका साक्षात् दर्शनकर विशेष आनन्दकी अधिकतावशतः मूर्च्छित हो गया। यदि आपत्ति हो कि गोपकुमारके ध्येय श्रीमदनगोपालदेवके हाथोंमें तो वंशी शोभायमान रहती है, किन्तु ये श्रीद्वारकानाथ तो वैसे वंशीधारी नहीं हैं। इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि उन श्रीद्वारकानाथने मेरे हाथोंमें रहनेवाली वेणुको लेकर अपने हस्तकमलमें धारणकर गोकुलके भावको ग्रहण किया था। श्रीदेवकी श्रीयशोदाके समान हो गईं। सभी महिषियाँ गोपियोंके समान हो गईं तथा श्रीप्रद्युम्न और साम्बादि कुमार (पुत्र) गोपबालकोंके समान हो गये। इस प्रकार सपरिवार श्रीद्वारकानाथको

मैंने अपने ध्येयस्वरूप सपरिकर श्रीमदनगोपालदेवके समान देखा। श्रीबलरामकी माता श्रीरोहिणीदेवी पहलेकी भाँति ही थी तथा श्रीभगवान्‌का आकार और सौन्दर्यादि नित्य अविकारी होनेके कारण पहले जैसा ही था। तथा ध्येयस्वरूपसे विलक्षण जो यज्ञोपवीत श्रीभगवान्‌ने धारण किया हुआ था, उसे तत्काल ही उन्होंने अपने उत्तरीय वस्त्र द्वारा ढक लिया था, इसलिए वह दिखायी नहीं दिया—ऐसा जानना होगा॥२६॥

कृपाभर-व्यग्रमनाः ससम्भ्रमं, स्वयं समुत्थाय स नन्दनन्दनः।
कराम्बुज-स्पर्शबलेन मेऽकरोत्, प्रबोधमङ्गानि मुहुर्विमार्जयन्॥२७॥

श्लोकानुवाद—तब उन श्रीनन्दनन्दनने अत्यधिक कृपासे व्याकुल होकर स्वयं शीघ्रतापूर्वक मुझे उठाया और अपने करकमलोंसे बार-बार मेरे अङ्गोंको मार्जनकर मुझे सचेतन किया॥२७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च स भगवान् ससम्भ्रमं स्वयमेव समुत्थाय कराम्बुज-स्पर्शस्य बलेन शक्त्या मे मम प्रबोधं संज्ञामकरोत्। किं कुर्वन्? अङ्गानि मे मुहुर्विशेषतो मार्जयन्। कुतः? नन्दनन्दन-तद्व्रजजनानन्दक इत्यर्थः; अतएव कृपाभरेण कारुण्यातिशयेन व्यग्रं व्याकुलं मनो यस्य सः; अन्यथेच्छामात्रेणैव प्रबोधनसम्भवात्॥२७॥

भावानुवाद—तब उन श्रीभगवान्‌ने अर्थात् श्रीनन्दनन्दनका भाव-ग्रहणकारी श्रीद्वारकानाथने स्वयं ही शीघ्रतापूर्वक मुझे उठाया और अपने करकमलोंके स्पर्शके बलसे मेरी मूर्च्छा दूर की। किस प्रकार? मेरे अङ्गोंका बार-बार मार्जन करके। उन्होंने ऐसा किसलिए किया? वे श्रीनन्दनन्दन व्रजवासियोंके आनन्दको वर्द्धन करनेवाले हैं, अतः अत्यधिक करुणासे व्याकुल होकर उन्होंने स्वयं ही मेरे अङ्गोंका स्पर्श किया, अन्यथा अपनी इच्छामात्रसे ही मेरी मूर्च्छा दूर होना असम्भव था॥२७॥

वृत्ते भोजनकालेऽपि भोक्तुमिच्छामकुर्वता।
मातृणामाग्रहेणैव कृत्यं माध्याह्निकं कृतम्॥२८॥

श्लोकानुवाद—भोजनका समय होनेपर भी श्रीकृष्णने भोजन करनेकी इच्छा प्रकाशित नहीं की, किन्तु माताओंके आग्रहसे उन्होंने माध्याह्निक क्रियाएँ समाप्त कीं॥२८॥

दिग्दर्शिनी टीका—भोजनानिच्छा च गोकुलविरहतापानुवृत्तेरेवेत्यूह्यम्। मातृणामिति बहुवचनं श्रीवसुदेवस्य पत्नीनां बहुत्वात्। कृत्यम् अवश्यकर्त्तव्यं स्नानादि॥२८॥

भावानुवाद—गोकुलके विरहताप द्वारा विभोर होनेके कारण भोजनका समय उपस्थित होनेपर भी श्रीकृष्णने भोजन करनेकी इच्छा प्रकाशित नहीं की। केवल माताओंके अत्यधिक आग्रहवशतः अवश्य कर्त्तव्य अर्थात् स्नानादि क्रियाएँ समाप्त कीं। श्रीवसुदेव महाराजकी अनेक पत्नियाँ थीं, इसलिए 'मातृणाम्' शब्द द्वारा बहुवचनका प्रयोग हुआ है॥२८॥

देवकी-नन्दनेनाथ तेन किञ्चित् स्व-पाणिना।
भोजितोऽहं स्वयं पश्चाद्भुक्तं सन्तोषणाय मे॥२९॥

श्लोकानुवाद—फिर श्रीदेवकीनन्दनने मुझे अपने हाथोंसे भोजन कराया और बादमें मेरे सन्तोषके लिए उन्होंने स्वयं भी भोजन किया॥२९॥

दिग्दर्शिनी टीका—दैवकीनन्दनेनेति केवलं तस्या हर्षार्थमेव भोजने प्रवृत्तिरिति सूचयति। ननु तथापि कुमारवर्गादीनां भोजनार्थं तत्र प्रवर्त्तातां, स्वयन्तु कथमभुङ्क्त? तत्राह—मत्सन्तोषणायेति; यद्वा, तादृशलीलया यद्भुक्तं तन्मत्तोषणायैवेति परेण सम्बन्धः॥२९॥

भावानुवाद—श्रीदेवकीनन्दनने केवल अपनी माताओंकी प्रसन्नताके लिए ही भोजन किया—ऐसा सूचित होता है। तथापि यदि कहो कि अपने पुत्रोंको भोजन करानेके लिए ही उन्होंने भोजन किया, उनमें स्वयं भोजन करनेकी इच्छा ही कहाँ थी? इसके लिए कह रहे हैं कि मेरे सन्तोषके लिए उन्होंने स्वयं भोजन किया था। अथवा गोकुलके समान लीलापूर्वक भोजन करना ही मेरे और उनके लिए प्रिय था, इसलिए उन्होंने भोजन किया॥२९॥

कुमार-मण्डली-मध्ये निवेश्य निजमग्रजम्।
परिवेशयता स्वेन पूर्ववद्बाल्यलीलया॥३०॥

श्लोकानुवाद—उन्होंने कुमार-मण्डलीके बीच अपने बड़े भाई श्रीबलरामको बैठा दिया और वृन्दावनकी बाल्यलीलाके अनुरूप स्वयं ही भोजन परोसने लगे॥३०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्प्रकारमाह—कुमारेति। अग्रजं श्रीबलरामं, स्वेन आत्मनैव परिवेशयता अन्नादिपरिवेशनं कुर्वता बाल्यलीलया भुक्तमिति पूर्वेनैवान्वयः, पूर्ववदिति। यथा गोपकुमारमण्डलीमध्ये श्रीबलरामं विकचकमलमध्ये कर्णिकारमिव निवेश्य सखिगणहास्य-विस्तारकविचित्र-नर्मोक्त्यादिलीलया गोकुले वनमध्ये मध्याह्ने पूर्वं भुक्तं तथेति। यच्च *"विभ्रद्वेणुं जठरपटयोः"* इत्यादिना श्रीदशमस्कन्धे (श्रीमद्भा. १०/१३/११) स्वयमेवासौ *"मध्ये तिष्ठन्नभुङ्क्त"* इति यदुक्तं, तच्च श्रीबलरामरहितदिने तथैवेति ज्ञेयम्॥३०॥

भावानुवाद—वह भोजनलीला कैसी थी? इसे 'कुमार' इत्यादि श्लोक द्वारा वर्णन कर रहे हैं। बाल्यलीलाके अनुरूप स्वयं अन्नादिके वितरण द्वारा श्रीकृष्णने भोजन आरम्भ किया। कुमार-मण्डली अर्थात् गोपबालकोंकी मण्डली मानों एक विकसित कमलदल हो तथा उस कमलकी कर्णिकामें श्रीबलरामको बैठाकर, चारों ओर बैठे सखाओंके साथ हास्य-परिहास विस्तार करनेवाली विविध प्रकारकी वचनोक्ति आदि लीलासहित पूर्वमें गोकुलके वनोंमें जिस प्रकार मध्याह्न भोजन करते थे, उसी प्रकार उन्होंने भोजन करना आरम्भ किया। "श्रीकृष्णकी कमरपर बन्धे पटमें वेणु, बायीं तरफ शृङ्ग, बायें हाथमें वेत्र, अङ्गुलियोंमें भोजनयोग्य विविध फल तथा दक्षिण हाथमें दधिमिश्रित अन्नका कवल (कौर) था। वे उस गोपबालकोंकी कमलदलरूपी मण्डलीके बीचमें कर्णिकाके समान बैठकर परिहासपूर्ण वाक्योंसे अपने चारों ओर बैठे सखाओंको हँसाते हुए भोजन करने लगे।" श्रीमद्भागवत (१०/१३/११) में वर्णित गोकुलके किसी वनमें हुई उक्त दिनकी भोजनलीला श्रीबलरामजीकी अनुपस्थितिमें हुई थी, किन्तु द्वाराकामें जिस लीलाका अनुकरण किया गया था, वह भोजनलीला श्रीबलरामजीकी उपस्थितिमें किसी अन्य दिन घटित लीला जाननी होगी॥३०॥

महाप्रसादमुच्छिष्टं भुक्त्वा स्व-गृहमानयत्।
भगवद्भावविज्ञोऽसावुद्धवो मां बलादिव॥३१॥

श्लोकानुवाद—श्रीउद्धवने प्रभुका उच्छिष्टरूप महाप्रसाद भोजन किया और फिर श्रीकृष्णका अभिप्राय जानकर बलपूर्वक मुझे अपने घर ले गये॥३१॥

दिग्दर्शिनी टीका—असौ पूर्वोद्दिष्टः, उद्धवस्तु बलादिव मां स्वगृहमानयत्। कुतः? भगवतो भावस्य अभिप्रायस्य विज्ञः, अत्यन्तपारमैश्वर्य-विशेष-प्रकाश-मयेऽन्तःपुरेऽस्मिन् अस्यावस्थित्या यथेष्टं सुखं न न्यूनं सम्पत्स्यते। अन्यश्च कश्चिदप्यस्य भावमभिप्रेत्य तादृशं सुखं कर्त्तुं न क्षमः। अतस्तद्गोकुललोकैक-प्रियस्योद्धवस्यैव गृहमस्य निवासोचितमित्यादिकं भगवद्भावमभिजानन्नित्यर्थः। किं कृत्वा? महाप्रसादरूपमुच्छिष्टं भगवतो भोजनोच्छेषं भुक्त्वा। इवेति न केवलं बलात् किन्तु भगवदिच्छानुमत्यापीति सूचयति॥३१॥

भावानुवाद—जिन श्रीउद्धवके सम्बन्धमें पहले कथित हुआ है, वे श्रीउद्धव बलपूर्वक मुझे अपने घर ले गये। किसलिए? श्रीभगवान्का अभिप्राय था कि अत्यधिक परम ऐश्वर्यके द्वारा प्रकाशमान इस अन्तःपुरमें रहनेसे इस गोपकुमारको थोड़ा-सा भी यथेष्ट सुख अनुभव नहीं होगा तथा यहाँ किसीमें भी इसके भावको समझकर वैसा सुख प्रदान करनेकी क्षमता नहीं है। अतः गोकुलवासियोंके एकान्त प्रिय इन श्रीउद्धवके घरमें ही गोपकुमारका रहना उसके लिए परम सुखकर होगा। तत्पश्चात् श्रीउद्धव भगवान्का उच्छिष्ट महाप्रसाद भोजनकर बलपूर्वक मुझे अपने घर ले गये। यहाँ 'बलादिव' शब्दमें 'इव' कारके द्वारा इस क्रियाको केवल बलपूर्वक नहीं कहा जा सकता, अपितु इसके द्वारा भगवान्की इच्छा और अनुमतिके अनुरूप व्यवहार ही सूचित हुआ है॥३१॥

तदानीमेव यातोऽहं सम्यक् संज्ञां ततोऽखिलम्।
तत्रानुभूतं विमृशन् मुहुर्नृत्यन्नमंस्यदः॥३२॥

श्लोकानुवाद—श्रीउद्धवके घर पहुँचकर मैं सम्पूर्ण रूपसे चेतन हो गया। मैंने जो कुछ अनुभव किया था, उन समस्त विषयोंका विचारकर मैं बार-बार नृत्य करते हुए मन-ही-मन सोचने लगा—॥३२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तत्र कथं तव सम्मतिः सम्भवेत्, परमानन्दभरेण मोहितत्वात्? इत्याह—तदानीमिति। उद्धवगृहे गते एव संज्ञां बोधं सम्यक् सम्पूर्णतया प्राप्तः। ततः संज्ञाप्राप्त्यनन्तरमेव तत्र भगवदन्तिके द्वारकायां वा अनुभूतमखिलं निःशेषं विमृशन् विचारयन्, मुहुर्नृत्यन्, अदः वक्ष्यमाणं अमंसि मन्ये स्म॥३२॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि आप तो भगवान्‌के दर्शनसे उदित परमानन्द द्वारा मूर्च्छित थे, अतः श्रीउद्धवके घरमें जानेके लिए आप किस प्रकार सहमत हुए? इसकी अपेक्षामें 'तदानीम्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। श्रीउद्धवके घर जाकर मैं सम्पूर्णतः चेतन हो गया। तब द्वारकामें भगवान्‌के अन्तःपुरमें मैने जो कुछ अनुभव किया था, उन समस्त विषयोंका विचारकर बार-बार नृत्य करते हुए मैंने कहे जानेवाले विषयकी मनमें चिन्ता की॥३२॥

मनोरथानां परमं किलान्तमहो गतोऽद्यैव यदिष्टदेवम्।
प्राप्तोऽपरोक्षं व्रजनागरं तं हृद्ध्यायमानाखिलमाधुरीभिः॥३३॥

श्लोकानुवाद—अहो! बड़े आनन्दकी बात है! आज निश्चित रूपमें मेरे समस्त मनोरथ पूर्ण हुए हैं! आज मैंने अपने इष्टदेव श्रीव्रजनागरके साक्षात् दर्शत किये हैं। मैं अपने हृदयमें जिन रूप-माधुरियोंका ध्यान करता था, ये उन समस्त मधुरिमाओंसे परिपूर्ण हैं॥३३॥

दिग्दर्शिनी टीका—अहो विस्मये परमहर्षे वा। मनोरथानां परममन्तं सीमामद्यैव प्राप्तः। किल निश्चये; अधुनैव पूर्वपूर्वकृत-निजाशेषमनोरथ-परिपूर्णता जातेत्यर्थः। यद्यस्मात् तं निजचिरन्तनदिदृक्षाविषयं इष्टदेवं निजप्रियतमोपास्यं व्रजनागरं गोकुललम्पटम् अपरोक्षं साक्षात् प्राप्तः। तत्रापि हृदि निजचित्ते ध्यायमानाभिरखिलाभिर्माधुरीभिर्विशिष्टं यद्यत्तस्य विचित्रं माधुर्यमन्तश्चिन्त्यते, तत् सर्वमपि साक्षादनुभूतमित्यर्थः॥३३॥

भावानुवाद—'अहो' विस्मय अथवा परम हर्षके अर्थमें है। मैंने आज अपने मनोरथकी अन्तिम सीमाको प्राप्त किया है। 'किल' शब्द निश्चयके अर्थमें है। आज निश्चय ही मेरे पूर्व-पूर्वके अनन्त मनोरथ परिपूर्ण हुए हैं, क्योंकि मैं चिरकालसे जिनके दर्शनकी अभिलाषा कर रहा था, आज मैंने अपने प्रियतम उपास्य उन व्रजनागर गोकुल-लम्पटको

साक्षात् रूपसे प्राप्त किया है। तथा अपने हृदयमें ध्यान की गयी उनकी समस्त मधुरिमाओंको भी आज साक्षात् अनुभव किया है॥३३॥

प्रस्थायोद्धवसङ्गत्या स्व-प्रभुं तं विलोकयन्।
नाशकं हर्षवैवश्यात् किञ्चित् कर्त्तुं परं ततः॥३४॥

श्लोकानुवाद—जब-जब श्रीउद्धवके साथ जाकर मैं अपने प्रभुका दर्शन करता, तब-तब आनन्दसे इस प्रकार परिपूर्ण हो जाता कि उस समय उनके दर्शनके अलावा मैं अन्य कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं हो पाता॥३४॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं प्रथमदिनानुभूतं तत्रत्यपरमानन्दविशेषं संक्षेपेणोद्दिश्य दिनान्तरीणमप्याह—प्रस्थायेति। ततस्तद्विलोकनात् परमन्यत् किञ्चित् कर्त्तुं नाशकम्। अतस्तद्दर्शनातिरिक्ता काचित् सेवा न वृत्तेति च सूचितम्॥३४॥

भावानुवाद—इस प्रकार वहाँपर प्रथम दिनमें जिस विशेष परमानन्दका अनुभव हुआ था, उसका संक्षिप्त विवरण बतलाकर अब किसी अन्य दिनका अनुभव बतलानेके लिए 'प्रस्थाय' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। जब-जब मैं अपने प्रभुके दर्शन करता, तब-तब मैं आनन्दसे ऐसा विवश हो जाता कि उस समय केवल उनके दर्शनके अलावा अन्य कुछ भी करनेको समर्थ मुझमें नहीं रहता, अर्थात् उस समय मैं उनकी कोई भी सेवा नहीं कर पाता॥३४॥

विचित्रं तस्य कारुण्य-भरं सन्ततमाप्नुवन्।
वसंस्तत्र महानन्द-पूराननुभवामि यान्॥३५॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार मैंने वहाँपर श्रीकृष्णकी विविध प्रकारकी परिपूर्ण कृपाको निरन्तर प्राप्त किया तथा प्रवाह रूपमें महानन्दकी धाराका अनुभव किया॥३५॥

दिग्दर्शिनी टीका—हर्षवैवश्यादित्यनेन सूचितं किञ्चिदानन्दविशेषमेव दर्शयति—विचित्रमिति चतुर्भिः। तस्य श्रीद्वारकानाथस्य; आप्नुवन् लभमानः; तत्र द्वारकायाम्; महत आनन्दस्य पूरान् प्रवाहरूपेण परम्पराः॥३५॥

भावानुवाद—उस हर्ष-विवशता द्वारा सूचित किञ्चित् आनन्दकी विशेषताका प्रदर्शन करनेके लिए 'विचित्र' इत्यादि चार श्लोक कह

रहे हैं। मैंने उन श्रीद्वारकानाथकी विचित्र करुणाराशिको निरन्तर प्राप्त किया तथा उस द्वारकामें महानन्दकी प्रवाहरूप धाराका अनुभव किया॥३५॥

तेषां निरूपणं कर्त्तुं वाचा चित्तेन वा जनः।
ब्रह्मायुषापि कः शक्तो भगवद्भक्तिमानपि॥३६॥

श्लोकानुवाद—उस महानन्दकी धाराका वाक्यों और मनके द्वारा स्वयं वाक्‌देवी भी वर्णन नहीं कर सकती, फिर दूसरोंका तो कहना ही क्या? यहाँ तक कि भगवान्‌के भक्त भी ब्रह्माकी आयु तक वर्णन करके भी उसका पार नहीं पा सकते हैं॥३६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेषां महानन्दपूराणाम्। अस्तु तावद्दूरे परमज्ञाननिष्ठो ब्रह्मानुभववांश्च, भगवद्भक्तिमानपि को जनः शक्त इत्यपि-शब्दार्थः, तेषामवाङ्‌मनस-विषयत्वात्॥३६॥

भावानुवाद—उस महानन्दकी धाराका वाक्य और मन द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि परम ज्ञाननिष्ठ ब्रह्मानुभवियोंकी बात तो दूर रहे, वह आनन्द भगवान्‌के किसी भक्तके भी मनके अगोचर है॥३६॥

मोक्षे सुखं ननु महत्तममुच्यते य–
त्तत्कोटिकोटिगुणितं गदितं विकुण्ठे।
युक्त्या कयाचिदधिकं किल कोशलायां,
यद्द्वारकाभवमिदं तु कथं निरूप्यम्॥३७॥

श्लोकानुवाद—मुमुक्षुकजनोंने जिस मोक्षको अति उत्तम सुखके रूपमें निश्चित किया है, उस मोक्षसुखसे भी करोड़ों गुणा अधिक सुख वैकुण्ठमें वर्त्तमान है। उस वैकुण्ठसुखसे भी अधिक सुख अयोध्यामें है—ऐसा भगवान्‌के भक्तोंने निश्चय किया है। किन्तु द्वारकामें जो सुख है, उस सुखका स्वरूप या परिमाण कोई भी किसी प्रकारसे निरूपण करनेमें समर्थ नहीं है॥३७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवाह—मोक्ष इति द्वाभ्याम्। ननु वितर्के। मोक्षे यन्महत्तमं परमान्त्यकाष्ठाप्राप्तं सुखमुच्यते मुमुक्षुभिः, तस्मात् सुखत् कोटिकोटिगुणैरधिकं

विकुण्ठे वैकुण्ठलोके सुखं गदितं भगवद्भक्तैः। कोशलायामयोध्यायाञ्च कयाचित् परमगम्भीरया युक्त्या न्यायेन ततोऽप्यधिकं सुखं गदितम्। किलेति न्याये समुच्चये वा। यत्तु द्वारकाभवम् इदमनुभूयमानं सुखं तत् कथं केन युक्तिप्रकारेण निरूप्यम्? अयमर्थः—मोक्षेऽपि सुखस्य परा काष्ठा कश्चिन्मन्यते; ततो विचित्रयुक्तिभिस्तन्मतं निरस्य दुःखाभावमात्रमेव तत्र सुखं, श्रीवैकुण्ठ एव सुखस्य परा काष्ठेत्यस्माभिर्निरूपितम्; अतस्तस्मात् परं सुखमस्तीति न सङ्गच्छत एव, परमान्त्यकाष्ठाप्राप्तत्वात्, अन्यथाऽनवस्थादोषप्रसङ्गात्। तथाप्ययोध्यायां परमैकान्तिकतारूपसेवारसनिष्ठाविशेषेण सुखविशेषस्याप्युपपत्तेर्वैकुण्ठादप्याधिक्यमुक्तम्, द्वारकासुखन्तु कयाऽन्यया युक्त्या निरूपयितुं शक्यम्, न च भक्त्या तस्य स्तुतिमात्रता ज्ञेया, साक्षादनुभूयमानत्वादिति॥३७॥

भावानुवाद—उस महानन्दकी धाराके सुखका निरूपण करनेकी असमर्थताको बतलानेके लिए 'मोक्षे' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। यहाँ 'ननु' शब्द वितर्कके अर्थमें है। मुमुक्षुकजन जिस मोक्षसुखको महान और उत्तम सुखके रूपमें निरूपण करते हैं, उस मोक्षसुखसे भी करोड़ों गुणा अधिक सुख वैकुण्ठलोकमें वर्त्तमान है—भगवान्‌के भक्तोंने ऐसा ही निश्चय किया है। पुनः किसी परम गम्भीर युक्तिके बलसे उन्होंने ऐसा भी निर्णय किया है कि उस वैकुण्ठ सुखसे भी अधिक सुख अयोध्यामें वर्त्तमान है। अतएव इस द्वारकामें जिस सुखका अनुभव हो रहा है, उस सुखका परिमाण या स्वरूप अब किस युक्ति द्वारा निरूपित होगा?

तात्पर्य यह है कि कोई-कोई कहते हैं कि मोक्षमें ही सुखकी चरम सीमा है। पुनः किसी-किसीने उससे भी अधिक विचित्र युक्तियोंकी धारासे उक्त मतका खण्डनकर निरूपण किया है कि मोक्षमें केवल दुःखका अभावमात्र है, किन्तु वस्तुतः मोक्षमें कोई भी सुख नहीं है, वैकुण्ठलोकमें ही सुखकी चरम सीमा है। अतएव उस वैकुण्ठसुखसे भी अधिक सुख क्या हो सकता है? इसका कारण है कि हमने पहले ही निरूपण किया है कि श्रीवैकुण्ठका सुख ही चरम सीमाको प्राप्त सुख है। अतएव उससे श्रेष्ठ सुखका होना असङ्गत है।

यदि उससे भी अधिक सुखका निर्धारण किया जाता है, तो अनवस्था दोष अर्थात् विचारकी अस्थिरतारूपी तर्क-दोषका प्रसङ्ग उपस्थित होता है। तथापि श्रीअयोध्यामें परम ऐकान्तिकतारूप

सेवारस–निष्ठाकी विशेषताके कारण वहाँका विशेष सुख वैकुण्ठसुखसे भी अधिक कथित हुआ है। परन्तु इस द्वारकामें जो सुख वर्त्तमान है, उस सुखके स्वरूप या परिमाणको निश्चित करनेके लिए किसी भी युक्तिका आश्रय नहीं लिया जा सकता, क्योंकि वह सुख युक्तिके अतीत है। ऐसा विचार भक्तिकी स्तुतिमात्र ही नहीं है, अपितु साक्षात् अनुभव करने योग्य सिद्धान्त है॥३७॥

तत्रापि तच्चिरदिदृक्षितजीवितेश–
प्राप्त्या तदेकदयितस्य जनस्य यत् स्यात्।
वृत्त्या कयास्तु वचसो मनसोऽपि वात्तं
तद्वै विदुस्तदुचितात्मनि तद्विदस्ते॥३८॥

श्लोकानुवाद—चिरकालसे जिनके दर्शनकी इच्छा करता आ रहा था, उन प्राणनाथ श्रीनन्दकिशोरको साक्षात् रूपमें प्राप्तकर उनके एकान्तिक प्रियतम सेवकोंके हृदयमें जिस सुखका अनुभव होता है, उसे क्या कोई मन या वाणी द्वारा व्यक्त कर सकता है? जिन्होंने उस सुखका अनुभव किया है, केवल वे ही उसके उपयुक्त चित्तमें उसका आस्वादन करते हैं॥३८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्रैव केनापि हेतुविशेषेण कमपि विशेषमाह—तत्रापीति। तत्सुखेऽपि तस्य अनिर्वचनीय–विचित्रमहिम्नः चिरदिदृक्षितस्य जीवितेशस्य प्राणनाथस्य श्रीनन्दकिशोरस्य प्राप्त्या। स जीवितेश एवैको दयितः प्रियो न त्वन्यत् किञ्चिदपि यस्य तादृशस्य जनस्य सेवकस्य यत् यादृशं सुखं स्यात्, तद्वचसो मनसोऽपि वा कया वृत्त्या आत्तं गृहीतमस्तु? अपि तु न कयापि विषयीकृतं स्यादित्यर्थः। ननूक्तन्यायेनासम्भवान्नास्तीतीव प्रसज्येत, तत्राह—तदिति। वै प्रसिद्धौ। तस्य सुखस्य उचिते ग्रहणयोग्य आत्मनि मनसि तद्विदस्तदनुभविन एव, विदुरनुभवेयुरित्यर्थः। अतोऽन्येषां तदनुभवासम्भवान्नास्तीति ज्ञानं युक्तमेवेति भावः। यद्वा, अनेन वचोमनो–वृत्त्यगोचरस्यापि तत्सुखस्वरूपस्य उपासकानामुत्साहविवृद्धये युक्तिविशेषेण निरूपणं कृतमित्यूह्यम्। एतदुक्तं भवति—यथा सेवारसविशेषनिष्ठयायोध्यायां वैकुण्ठतोऽपि सुखाधिक्यं घटेत, तथा द्वारकायामपि सौहृदरसविशेषनिष्ठयायोध्यातोऽपि सुखविशेषः सिध्यत्येव; एवं श्रीगोलोकेऽपि प्रेमरसविशेषनिष्ठया द्वारकातोऽपि सुखविशेष ऊह्यः; तत्रैव च सुखस्य परमान्त्यकाष्ठाया निष्ठेत्यपि ज्ञेयम्। सर्वोत्कृष्टरसविशेषपरमान्त्य–काष्ठायाः सर्वोत्कृष्टसुखविशेषपरमान्त्यकाष्ठासिद्ध्युपपत्तेरिति दिक्। एतच्च प्रागुद्दिष्ट–मेवास्ति॥३८॥

भावानुवाद—तथापि किसी एक विशेष कारणके द्वारा उस अनिर्वचनीय सुखकी विशेषताको इङ्गित करनेके लिए 'तत्रापि' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। चिरकालसे जिनके दर्शनकी आशा कर रहा था, उन अनिर्वचनीय विचित्र महिमासे युक्त प्राणनाथ श्रीनन्दकिशोरको प्राप्तकर एकमात्र उनके प्रियतम सेवकोंको जैसा सुख अनुभव होता है, क्या उसे मन या वाक्यकी किसी भी वृत्ति द्वारा वर्णन किया जा सकता है? अपितु उनके एकान्त प्रियतम भक्तोंके अलावा अन्य किसीके लिए वैसे सुखका अनुभव करना सम्भव नहीं है।

यदि आपत्ति हो कि पूर्वोक्त न्यायानुसार द्वारकाके सुखकी श्रेष्ठताको कैसे स्थिर किया जा सकता है, क्योंकि पूर्व युक्तिके अनुसार विचारकी अस्थिरतारूपी तर्क-दोषका प्रवेश होनेके कारण इस द्वारकामें किसी प्रकारके श्रेष्ठ सुखके अस्तित्वके विषयमें स्वतः ही संशय उपस्थित हो सकता है? इसके समाधानमें 'तद्' इत्यादि पद द्वारा कह रहे हैं कि ऐसा प्रसिद्ध है कि वह सुख अपने उचित अर्थात् ग्रहण योग्य मनके द्वारा ही आस्वादन किया जाता है। अर्थात् जिन्होंने उस सुखका अनुभव किया है, वे ही उसके अनुरूप हृदयमें उसका आस्वादन कर सकते हैं। अन्योंमें उस सुखके अनुभवका सामर्थ्य नहीं होनेके कारण ही वे उस सुखके आस्वादनसे वञ्चित रहते हैं। इसलिए वे वस्तुके अस्तित्वके विषयमें जो संशय करते हैं, वह युक्तियुक्त ही है। अथवा वह सुख अन्योंके वाक्य और मनकी वृत्तिके अगोचर होनेपर भी समस्त उपासकोंके उत्साह-वर्द्धनके लिए विशेष युक्ति द्वारा निरूपण किया जा सकता है।

अतः इस विषयमें कुछ सिद्धान्त श्रवण करो—जिस प्रकार सेवारसमें विशेष निष्ठा द्वारा अयोध्यामें वैकुण्ठसे भी अधिक सुख संघटित होता है, उसी प्रकार सौहृदरसमें विशेष निष्ठा द्वारा द्वारकामें अयोध्यासे भी अधिक सुख प्राप्त होता है। इसी प्रकार श्रीगोलोकमें भी प्रेमरसमें विशेष निष्ठा द्वारा द्वारकासे भी अधिक सुखकी प्राप्ति होती है। अतएव उस श्रीगोलोकमें ही सुखकी परम अर्थात् अन्तिम सीमाकी निष्ठा है—ऐसा समझना होगा, क्योंकि सर्वोत्कृष्ट रसकी अन्तिम सीमामें ही सर्वोत्कृष्ट सुखकी अन्तिम सीमा प्राप्त होती है।

अतएव इस विचारके अनुसार श्रीगोलोकमें ही सुखकी चरम सीमा है, अर्थात् श्रीगोलोकको ही परिपक्व दशामें अधिष्ठित चरम सुखका सर्वश्रेष्ठ आश्रयस्वरूप जानना होगा। इसे पहले ही निर्धारित किया जा चुका है॥३८॥

एवं वसन्तं मां तत्र श्रीमद्यादवपुङ्गवाः।
विश्वबाह्यान्तरानन्द–दिदृक्षार्द्रहृदोऽब्रुवन् ॥३९॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकारसे वहाँ वास करते-करते किसी एक समयमें विश्ववासियोंके बाहरी और आन्तरिक आनन्दको देखकर द्रवित हृदयसे श्रेष्ठ यादवगण मुझे कहने लगे—॥३९॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं तादृशसुखानुभवप्रकारेण तत्र द्वारकायां वसन्तं मामब्रुवन्; यतः विश्वेषां सर्वेशां लोकानां, सर्वस्य वा बाह्यस्य विचित्र भोगभूषणविलासादिरूपस्य, आन्तरस्य च प्रेमसम्पत्त्यादिरूपस्य आनन्दस्य दिदृक्षायामार्द्रं सरसं हृद्येषां ते॥३९॥

भावानुवाद—इस प्रकार उस द्वारकामें वासकर वैसा सुख अनुभव करते हुए किसी एक दिन समस्त विश्ववासियोंके बाहरी और आन्तरिक आनन्द अर्थात् बाहरमें विचित्र भोग-भूषण-विलासादिरूप आनन्द और अन्तरमें प्रेम-सम्पत्तिरूप आनन्दको देखकर द्रवित हृदयसे श्रेष्ठ यादवगण मुझे कहने लगे—॥३९॥

श्रीयादवा ऊचुः—
वैकुण्ठतोऽप्युत्तमभूतिपूरिते, स्थाने त्वमेत्यात्र सखेऽस्मदन्वितः।
यद्वन्य-वेशेन सुदीनवद्वसेर्मन्यामहे साधु न तत् कथञ्चन॥४०॥

श्लोकानुवाद—श्रीयादवोंने कहा—हे सखे! वैकुण्ठसे भी उत्तम वैभवसे परिपूर्ण इस द्वारकापुरीमें हमारे साथ रहते हुए भी किसलिए तुम इस वन्यवेशमें दीनकी भाँति रह रहे हो? तुम्हारा यह दीनवेश हमें अच्छा नहीं लगता है॥४०॥

दिग्दर्शिनी टीका—हे सखे! उत्तमाभिरुत्कृष्टाभिर्विभूतिभिः पारमैश्वर्यसम्पत्तिभिः पूरिते अत्र अस्मिन् द्वारकाख्ये स्थाने विषये, त्वम् एत्य आगत्य अस्माभिः सह वर्त्तमानः सन् वन्यवेशेन वनवासिजनोचितच्छन्देन हेतुना सुदीनवत् परमदुःखित

इव यद्वसेः अत्र वससि, तद्वयं कथञ्चिदपि साधु भद्रं न मन्यामहे। वतिप्रत्ययश्च तद्वतस्तत्र कथञ्चिदपि दःखप्रसङ्गाभावात्। एवमग्रेऽपि इवेत्यादि॥४०॥

भावानुवाद—श्रीयादवोंने कहा—हे सखे! सर्वोत्कृष्ट अर्थात् परम ऐश्वर्यसम्पत्तिसे परिपूर्ण इस द्वारकापुरीमें हमारे साथ रहते हुए भी किसलिए तुम वनवासीवेशमें अत्यन्त दुःखितकी भाँति रह रहे हो? तुम्हारा इस प्रकारसे यहाँ रहना हमें अच्छा नहीं लगता है। 'सुदीनवत्' पदके 'वति' प्रत्ययके प्रयोगका तात्पर्य यह है कि इस द्वारकापुरीमें किसी प्रकारके भी दुःखका स्थान नहीं है, अर्थात् यहाँ किसीको भी किसी प्रकारका दुःख नहीं हो सकता है—इसीलिए 'दुःखित' न कहकर 'दुःखितकी भाँति' कहा गया है॥४०॥

चित्ते दुःखमिवास्माकमपि किञ्चिद्भवेदतः।
स्वतः सिद्धं तमस्माकमिव वेशादिकं तनु॥४१॥

श्लोकानुवाद—तुम्हारे इस वनवेशको देखनेसे हमारे चित्तमें कुछ दुःख जैसा अनुभव होता है, अतएव तुम हम द्वारकावासियोंके समान स्वतः सिद्ध वेश-भूषा धारण करो॥४१॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, अतोऽस्माद्वन्यवेशेन दीनवद्वासात् अस्माकमपि निरन्तरपरमानिर्वचनीयानन्द-विशेषवतामपि चित्ते किञ्चिद्दुःखमिव भवेत्, परेषां दीनसादृश्यस्याप्य- सहिष्णुत्वात्। अतोऽस्माकमिव अस्मद्वेशादिसदृशं वेशभोग-विलासादिकं तनु प्रकटयेत्यर्थः। ननु कुतो मया प्राप्तं, यत् तनुयामित्यत आह—स्वतःसिद्धमेतत्पदस्वभावेन स्वयमेव सम्पन्नमिति॥४१॥

भावानुवाद—तदुपरान्त कह रहे हैं कि हमारे निरन्तर परम अनिर्वचनीय आनन्दसे युक्त होनेपर भी तुम्हारे इस प्रकारके दीनकी भाँति वनवेशको देखकर हम अपने चित्तमें कुछ दुःख जैसा ही अनुभव करते हैं। अर्थात् गोपकुमारके दीन व्यक्तिके समान वेशका दर्शन करनेमें असहिष्णु होनेके कारण वे मानों दुःखीकी भाँति हो गये हों, किन्तु वास्तवमें वहाँ दुःखका कोई कारण नहीं है। अतएव तुम हमारे समान वेश और भोग-विलासादिके द्वारा युक्त होकर स्वच्छन्द विहार करो। यदि कहो कि ऐसी भोग सामग्री मुझे कहाँसे प्राप्त होगी? इसके उत्तरमें कहते हैं कि इस द्वारकापुरी पद (स्थान) के

स्वभावसे वह स्वतः ही उपलब्ध होती है। अर्थात् इच्छा करनेमात्रसे स्वतः ही वह समस्त भोग सामग्री उपस्थित हो जाती है॥४१॥

श्रीगोपकुमार उवाच—

तेषां तत्राग्रहेणापि स्व-चित्तस्याच्युतस्य च।
अलब्ध्वा स्वरसं तेषु नीचाकिञ्चनवत् स्थितः॥४२॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमारने कहा—हे ब्रह्मण्! उनके द्वारा ऐसा आग्रह किये जानेपर भी मेरे मनने उसका समर्थन नहीं किया। विशेषतः भगवान् श्रीअच्युतकी अनुमति प्राप्त न होनेके कारण ही मैं उनके बीचमें अकिञ्चनकी भाँति रह रहा था॥४२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेषां श्रीमद्यादवपुङ्गवानामाग्रहेणापि नीचस्तेभ्यो न्यूनकक्षां प्राप्त इव अकिञ्चनो दीन इव च; यद्वा, नीचश्चासावकिञ्चनश्च तद्वत्तेषु श्रीमद्-यादवपुङ्गवेषु मध्ये स्थितोऽवसमित्यर्थः। कुतः? स्वचित्तस्य मन्मनसः, अच्युतस्य च श्रीभगवतः, तत्र तादृशस्य वेशादिविस्तारणे, स्वरसमनुमतिमलब्ध्वा न प्राप्य॥४२॥

भावानुवाद—उन श्रीयादवों द्वारा सामूहिक रूपसे उनके समान वेशादि धारण करनेका अत्यधिक आग्रह किये जानेपर भी मैं उन श्रेष्ठ यादवोंके बीचमें न्यूनतम श्रेणीके समान तथा अकिञ्चनकी भाँति ही रहने लगा। किसलिए? मेरे मनने उनके आग्रहका समर्थन नहीं किया और विशेष रूपसे भगवान् श्रीअच्युतके द्वारा मुझे वैसे वेशादिको धारण करनेकी अनुमति या इङ्गित प्राप्त नहीं था॥४२॥

आसीनस्य सभामध्ये सेवितस्य महर्द्धिभिः।
पार्श्वे भगवतोऽथाहं गन्तुं लज्जे विभेमि च॥४३॥

श्लोकानुवाद—जिस समय श्रीकृष्ण सभामें विराजमान होकर अपनी महान ऋद्धियों द्वारा सेवित होते, उस समय उनके निकट जानेमें मुझे लज्जा और भय लगता॥४३॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं पूर्ववदुत्तमपदान्तरप्राप्तये तत्र वासे निर्वेदोत्पत्तिं वक्तुं तद्धेतून् श्लोकत्रयेणाक्षिपन्नादौ तादृशवेशाधनाविर्भावणेन स्वयमेवोत्थापितं निजमनोदुःखहेतुकमेकेनाह—आसीनस्येति। अथ अनन्तरम्, अतो नीचाकिञ्चनवत् स्थितेर्हेतोरिति वा। भगवतः श्रीद्वारकानाथस्य पार्श्वे निकटे गन्तुमहं लज्जे विभेमि च, तेन वेशादिना तत्र गमनायोग्यत्वात्; यद्वा, अयोग्यकर्मना तेन लज्जां लभे,

भयञ्च अत्यन्तपारमैश्वर्यविशेषवीक्षणात्, नृप-मुनि-देवगणादि-महासम्मर्दतो वा। तदेव दर्शयितुं भगवन्तं विशिनष्टि—महतीभिर्ऋद्धिभिः पारमैश्वर्यविभूतिभिः सेवितस्य। कुतः? सभामध्ये आसीनस्य सतः। अन्यदा तु तत्पार्श्वापगमनादिकं पूर्ववत् सम्पद्यत एवेति सूचितम्॥४३॥

भावानुवाद—अब गोपकुमार द्वारा पहलेकी भाँति उत्तम पद प्राप्तिके लिए द्वारकावासमें भी निर्वेद उत्पन्न होनेका कारण बतलानेके लिए तीन श्लोकोंकी अवतारणा हुई है। उनमेंसे प्रथम श्लोकमें श्रीयादवोंके समान वेश-भूषा न रहनेके कारण स्वयं ही उदित होनेवाले अपने मनके दुःखका कारण बतलानेके लिए गोपकुमार 'आसीनस्य' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। तदुपरान्त नीच अकिञ्चनकी भाँति रहनेके कारण मुझे भगवान् श्रीद्वारकानाथके निकट जानेमें लज्जा और भय लगता, क्योंकि मेरा दीनके समान वेश उनके निकट जानेके अयोग्य था। अथवा उस राजसभामें ऐसे दीनवेशमें जाना अयोग्य कर्म जानकर मुझे लज्जा लगती तथा प्रभुके अत्यधिक परम ऐश्वर्यकी विशेषताको देखकर या राजा, मुनि और देवताओंकी भीड़भाड़ देखकर मुझे भय लगता। जब भगवान् राजसभामें विराजित होते उस समय उन्हें महान ऋद्धि-सिद्धिरूप परम-ऐश्वर्यकी विभूतियों द्वारा सेवित होते देखकर भी मुझे भय लगता। परन्तु अन्य किसी भी समयमें गोपकुमार उनके निकट पहलेकी भाँति ही गमन करते—ऐसा सूचित होता है॥४३॥

चतुर्बाहुत्वमप्यस्य पश्येयं तत्र कर्हिचित्।
न च क्रीड़ाविशेषं तं व्रजभूमिकृतं सदा॥४४॥

श्लोकानुवाद—कभी-कभी उस द्वारकामें मैं श्रीकृष्णके चतुर्भुज स्वरूपका भी दर्शन करता, इसलिए व्रजभूमि-सम्बन्धी उनकी विशेष लीलाएँ मुझे सदा दृष्टिगोचर नहीं होती थीं॥४४॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्चास्य भगवतः कर्हिचित् श्रीरुक्मिण्याद्यनुनयने श्रीनारदार्जुनादिसङ्गमे वा तं प्रसिद्धं निजेष्टतमं वा क्रीड़ाविशेषञ्च गोचारणादिना श्रीवृन्दावनविहारादिकं सदा न पश्येयम् नानुभवामि। सदेति तत्र विरचितवृन्दावने कदाचित्तादृक्क्रीड़ानुभवं सूचयति॥४४॥

भावानुवाद—गोपकुमार कुछ और भी कह रहे हैं—किसी-किसी समयमें श्रीरुक्मिणी आदिके अनुरोधसे अथवा कभी श्रीनारद या अर्जुनादिके साथ मिलन होनेपर अपने प्रियतम उन प्रसिद्ध श्रीभगवान्को चतुर्भुजरूपमें दर्शन करता। इसलिए श्रीवृन्दावन-विहारसे सम्बन्धित गोचारण आदि रूप विशेष लीलाओंका मैं सब समय अनुभव नहीं कर पाता था। 'सदा' इस पदसे सूचित होता है कि किसी-किसी समयपर ही मुझे वहाँपर विरचित श्रीवृन्दावन जैसी लीलाका अनुभव होता था, किन्तु सर्वदा नहीं॥४४॥

कदाचिदेष तत्रैवे वर्त्तमानानदूरतः।
पाण्डवानीक्षितुं गच्छेदेकाकी प्रियबान्धवान्॥४५॥

श्लोकानुवाद—कभी-कभी श्रीकृष्ण अपने प्रिय बान्धव पाण्डवोंको देखनेके लिए थोड़ी दूरीपर स्थित उनकी पुरीमें अकेले ही चले जाते थे॥४५॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, एष भगवान् पाण्डवान् वीक्षितुमेकाकी कदाचिद्गच्छेत्। ननु पृथिव्यामिति चेन्न घटेत, तेषां तावत्कालं तत्र वासानुपपत्तेः। तत्र कुत्रेत्यपेक्षायामाह—तत्र श्रीवैकुण्ठ एव अदूरतः द्वारकासमीपे वर्त्तमानान्; यद्वा, तद्द्वारकायामेव अदूरत इति वैकुण्ठस्यानवच्छिन्नविस्ताराभिप्रायेण दूरे वर्त्तमानस्यापि पाण्डवगृहस्य नैकट्यात्। गमने हेतुः—प्रियबान्धवानिति। अतस्तदानीं तत्सन्दर्शनाभावादिति भावः॥४५॥

भावानुवाद—तदुपरान्त कह रहे हैं कि कभी-कभी वे श्रीभगवान् अपने प्रिय बान्धव पाण्डवोंको देखनेके लिए अकेले ही चले जाते थे। यदि आपत्ति हो कि पृथ्वीके अन्तर्गत हस्तिनापुरमें उनका जाना तो सम्भव नहीं था, क्योंकि उस समय पाण्डवगण वहाँ वास नहीं कर रहे थे। तब श्रीकृष्ण किस स्थानपर जाते थे? इसकी अपेक्षामें कहते हैं कि श्रीकृष्ण उस श्रीवैकुण्ठमें थोड़ी ही दूरीपर अर्थात् द्वारकाके समीप वर्त्तमान अथवा उस द्वारकासे थोड़ी दूरीपर स्थित हस्तिनापुरमें जाते थे। उस वैकुण्ठके असीम विस्तारके अभिप्रायसे बहुत दूर होनेपर भी पाण्डवोंकी पुरी समीप ही लगती थी। उनके वहाँ जानेका कारण था कि पाण्डव उनके प्रिय बान्धव थे। अतएव

जब प्रभु पाण्डवोंको देखनेके लिए जाते थे, तब मुझे उनका दर्शन प्राप्त नहीं होता था॥४५॥

इत्थं चिरन्तनाभीष्टासम्पूर्त्या मे व्यथेत हृत्।
तादृग्रूपगुणस्यास्य दृष्ट्यैवाथापि शाम्यति॥४६॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार मेरी दीर्घकालीन अभिलाषाके पूर्ण न होनेके कारण मेरा मन दुःखित होता, किन्तु प्रभुके वैसे रूपके दर्शन तथा उनके गुणोंके स्मरणसे मेरे मनकी पीड़ा शान्त हो जाती थी॥४६॥

दिग्दर्शिनी टीका—चिरन्तनस्याभीष्टस्य निजपरमवाञ्छितार्थस्यासम्पूर्त्या सम्यक्पूर्त्य-भावेन। अथापि एवं सत्यपि अस्य भगवतो दृष्ट्या दर्शनप्राप्त्यैव शाम्यति मनोव्यथोपरमति। यतः तदृक् उक्तप्रकारकमनिर्वचनीयं वा रूपं सौन्दर्यादिकं गुणश्च कारुण्यादिर्यस्य तस्य॥४६॥

भावानुवाद—इस प्रकार मेरे दीर्घकालीन अभीष्ट अर्थात् मेरी परम वाञ्छाके पूर्ण न होनेके कारण मेरा मन दुःखित होता था। तदुपरान्त सचमुच श्रीभगवान्के दर्शन प्राप्त करनेमात्रसे ही मेरे मनका दुःख शान्त हो जाता, क्योंकि उनके अनिर्वचनीय सौन्दर्यादि रूप और कारुण्यादि गुणोंका प्रभाव मुझे सब कुछ भुला देता था॥४६॥

तस्य वागमृतैस्तैस्तैः कृपाभिव्यञ्जनैरपि।
भवेत् सुखविशेषो यो जिह्वा स्पृशतु तं कथम्॥४७॥

श्लोकानुवाद—उनके अमृतमय कृपायुक्त वचनोंसे मुझे जो विशेष सुख प्राप्त होता था, मैं अपनी जिह्वासे किस प्रकार उसका वर्णन कर सकता हूँ?॥४७॥

दिग्दर्शिनी टीका—न केवलं हृद्व्यथाशान्तिरेव, परमानिर्वचनीयञ्च सुखञ्च सम्पद्यत इत्याह—तस्येति। तैस्तैः पूर्वोद्दिष्टप्रकारैरनिर्वाच्यैरिति वा॥४७॥

भावानुवाद—केवल मेरे हृदयका दुःख ही शान्त नहीं होता, बल्कि मुझमें परम अनिर्वचनीय सुखका भी सञ्चार होता। इसे बतलानेके लिए 'तस्य' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। 'तैस्तैः'—पूर्व-उद्दिष्ट प्रकारसे

अर्थात् उस अनिर्वचनीय कृपाको प्रकट करनेवाली वचनामृत धारासे प्राप्त विशेष सुख॥४७॥

एवमुद्धव–गेहे मे दिनानि कतिचिद्ययुः।
यदि स्यात् कोऽपि शोकस्तं सम्वृणोम्यवहित्थया॥४८॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकारसे मैंने श्रीउद्धवके घर रहकर कई दिन बिताये। यद्यपि किसी–किसी समय व्रजभूमिके स्मरणके कारण मुझमें शोक उदित होता, तथापि मैं यत्नपूर्वक उसे गोपन कर लेता था॥४८॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमुक्तप्रकारेण हृद्व्यथायां जातायामपि तच्छान्त्या सुखविशेषोदयेन चेत्यर्थः। कोऽपि निजभूमिस्मरणकृतो निजेष्टदेवविनोद–विशेषदर्शनाभावादिकृतो वा शोको यदि स्यात्, तदा तं शोकम् अवहित्थया आकारगुप्त्या संवृणोमि आच्छादयामि, परदुःखकातराणां तत्रत्यानां दुःखोत्पत्तेः, परमगोप्यनिजभाव–विशेषप्रकाशभयाच्च॥४८॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे हृदयमें दुःख उदित होनेपर भी प्रभुकी कृपासे उसकी शान्ति तथा सुखका आस्वादन करते–करते मैंने वहाँ कुछ दिन बिताये। यद्यपि कभी–कभी अपनी भूमि अर्थात् श्रीव्रजभूमिके स्मरणसे तथा अपने इष्टदेवकी विशेषलीलाके दर्शन न होनेके कारण मुझमें शोक उदित होता, तथापि मैं उस शोकके समस्त चिह्नोंको यत्नपूर्वक छिपा लेता था। इसका कारण था कि मेरे दुःखको देखकर परदुःख–दुःखी वहाँके यादवोंको भी दुःख हो सकता था तथा परम गोपनीय मेरा विशेष भाव प्रकाशित हो सकता था, इस भयसे भी मैं उसे सर्वदा छिपा लेता था॥४८॥

एकदा नारदं तत्रागतं वीक्ष्य प्रणम्य तम्।
हर्षेण विस्मयेनापि वेष्टितोऽवोचमीदृशम्॥४९॥

श्लोकानुवाद—एक बार उस द्वारकापुरीमें श्रीनारदजी उपस्थित हुए। मैंने उनका दर्शनकर उनको प्रणाम किया तथा हर्ष और विस्मयके साथ उनसे कहा—॥४९॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं निज-चिरन्तनाभीष्ट-सम्पूर्त्तिकारक-श्रीगोलोकप्राप्तये तदीयमाहात्म्यविशेषकीर्त्तनपूर्वकं तत्प्राप्त्युपायं वक्तुं तदुपयुक्तप्रसङ्गमुपन्यस्यति—एकदेत्यादिना। तत्रोद्धवगृहे; तं श्रीवैकुण्ठकृतोपदेशम्॥४९॥

भावानुवाद—अब 'एकदा' इत्यादि श्लोक द्वारा अपने दीर्घकालीन अभीष्टको सम्पूर्ण करनेवाले उस श्रीगोलोककी प्राप्ति तथा उसके माहात्म्यके कीर्त्तन सहित उसकी प्राप्तिके उपायका वर्णन करके उसके उपयुक्त प्रसङ्गका आरम्भ कर रहे हैं। एक बार श्रीनारद, जिन्होंने वैकुण्ठमें मुझे उपदेश दिया था, श्रीउद्धवके घरमें उपस्थित हुए॥४९॥

मुनीन्द्रवेश प्रभु-पार्षदोत्तम स्वर्गादिलोकेषु भवन्तमीदृशम्।
वैकुण्ठलोकेऽत्र च हन्त सर्वतः पश्याम्यहो कौतुकमावृणोति माम्॥५०॥

श्लोकानुवाद—हे श्रेष्ठ मुनि-वेशधारी! हे प्रभुके पार्षदोंमें उत्तम! स्वर्ग, वैकुण्ठ और अब इस द्वारकाधाममें सर्वत्र ही मैंने आपको वीणा-वादनादि करते हुए इसी रूपमें दर्शन किया है। भावनाके अतीत आपकी क्रियाएँ देखकर मुझे आश्चर्य हो रहा है तथा उन क्रियाओंके रहस्यको जाननेके लिए मैं उत्सुक हो रहा हूँ॥५०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्रादौ श्रीनारदस्यैव तस्य माहात्म्यविशेषाभिव्यञ्जनाय तन्मुखेनैव तत्तत्त्वं निरूपयितुं, किंवा *"दृश्यमानस्य कृष्णस्य पार्षदानां पदस्य च। एकत्वमप्यनेकत्वं सत्यत्वञ्च सुसङ्गतम्॥"* इत्यनेन वैकुण्ठे सामान्यतः संक्षेपेण नारदेनोक्तं पार्षदादीनां तत्त्वं श्रीनारदसन्दर्शनजात-हर्षभरेण पुनर्विशेषतो विस्तारेण श्रोतुं तत्प्रश्नं कुर्वन्निवाह—मुनीन्द्रेति, मुनीन्द्रस्य नैष्ठिकब्रह्मचारिण इव वेशा एव न तु भावो महिमा वा यस्य तस्य सम्बोधनम्। कुतः? प्रभोर्भगवतः पार्षदेषु उत्तम! श्रेष्ठ! हन्त हर्षे; ईदृशं यादृशोऽयं भवान् दृश्यते, तादृशमेवेत्यर्थः। रूपनिर्विकारतादिना वीणावादनादिकौतुकादिना च सर्वत्रैकरूपत्वात्तत्र द्वारकायाञ्चेति सर्वत्रैव पश्यामि। अहो आश्चर्य। अतो मां कौतुकं विस्मय आवृणोति व्याप्नोति, एकस्यैव सर्वत्रापि दृश्यमानत्वात्तत्राप्येकरूपत्वाच्चेति दिक्॥५०॥

भावानुवाद—सर्वप्रथम श्रीनारदके माहात्म्यको व्यक्त करनेके लिए उनके ही मुखसे उनके तत्त्वका निरूपण करानेके लिए अथवा "नाना रूपोंमें दृश्यमान श्रीकृष्ण, उनके पार्षदों और उनके पदों अर्थात् स्थानोंका एकत्वमें भी बहुत्व और सत्यत्व सुसङ्गत ही है।"—

श्रीबृहद्भागवतामृतम् (२/४/१६१–१६२) में उक्त वैकुण्ठमें श्रीनारदने जिस तत्त्वको संक्षेपमें वर्णन किया था, अब उसी पार्षदादिके तत्त्वको श्रीनारदके दर्शनसे उत्पन्न अत्यधिक हर्षवशतः, पुनः विशेष रूपसे श्रवण करनेके लिए 'मुनीन्द्रवेश' इत्यादि श्लोक द्वारा गोपकुमार उनसे प्रश्न कर रहे हैं। हे मुनीन्द्रवेश धारण करनेवाले! आपने नैष्ठिक ब्रह्मचारीके समान वेशमात्र ही धारण किया है, किन्तु आपका भाव वैसा नहीं है, क्योंकि आप प्रभुके पार्षदोंमें उत्तम (श्रेष्ठ) हैं। यहाँ 'हन्त' शब्द अत्यधिक हर्षके कारण कथित हुआ है। आपको अभी जिस रूपमें दर्शन कर रहा हूँ, मैंने सदा सर्वत्र आपका इसी रूपमें ही दर्शन किया है। अतः इस रूपकी निर्विकारता तथा आपके वीणा-वादनादि कौतुकका भी सर्वत्र एक जैसा होनेके कारण आपको स्वर्ग और वैकुण्ठादि लोकोंमें भी इसी प्रकार वीणा-वादनादि कौतुक द्वारा श्रीभगवान्‌को प्रसन्न करते हुए देखा है। कैसा आश्चर्य है! अब इस द्वारकापुरीमें भी आपको उसी रूपमें ही दर्शन कर रहा हूँ। अहो! भावनासे अतीत आपकी ऐसी क्रियाको देखकर इसके रहस्यसे अवगत होनेके लिए मुझमें अत्यधिक उत्सुकता और विस्मय उदित हो रहा है। आप एक होकर भी किस प्रकारसे सर्वत्र दिखायी देते हैं तथा किस प्रकार सदैव एक रूपमें ही स्थित रहते हैं?॥५०॥

श्रीनारद उवाच—

गोपबालक एवासि सत्यमद्यापि कौतुकी।
पूर्वमेव मयोद्दिष्टमेतदस्ति न किं त्वयि॥५१॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारदने कहा—हे गोपबालक! तुम सचमुचमें गोप-बालक ही हो, क्योंकि यहाँपर वास करनेपर भी तुम अपनी स्वाभाविक उत्सुकताको त्याग नहीं कर पाये हो। मैंने क्या पहले ही तुम्हें इस रहस्यको नहीं बताया है?॥५१॥

दिग्दर्शिनी टीका—अद्यापि वैकुण्ठ-द्वारकावासे वृत्तेऽपि कौतुकी लीलाविशेषवान् गोपबालक एव सत्यमसि। गोपबालकस्य सदा कौतुकशीलत्वात् सिद्धान्तश्रवणेन स्वानुभवेन च विज्ञातेऽप्यर्थे संशयरूप-कौतुकविशेषसम्भवात्। ननु न मम

विनोदविशेषेणेदं कौतुकं किन्त्वज्ञानादेवेति चेत्तत्राह—पूर्वमिति, पूर्वं श्रीवैकुण्ठ एतन्मादृशां तत्त्वं मया त्वयि किं नोद्दिष्टमस्ति? अपि तु संक्षेपेणोक्तमस्त्येव॥५१॥

भावानुवाद—श्रीनारदने कहा—आज तक वैकुण्ठ स्थित द्वारकामें वास करनेपर भी तुम कौतुकपूर्ण लीलाविशेष अर्थात् अपनी स्वाभाविक उत्सुकताका त्याग नहीं कर पाये हो? अतएव तुम सचमुचमें गोपबालक ही हो। तुममें गोपबालककी स्वाभाविक निरन्तर-कौतुकशीलता रहनेके कारण सिद्धान्त श्रवण करनेपर तथा स्वयं सब कुछ अनुभव करनेपर भी तुम संशयरूप विशेष उत्सुकताका त्याग नहीं कर पाये हो। यदि तुम कहो कि मैंने अज्ञानतावश ही आपसे यह प्रश्न किया है, विशेष विनोद अर्थात् कौतकवशतः नहीं। इसके उत्तरमें कहते हैं—हे गोपकुमार! इससे पहले श्रीवैकुण्ठमें क्या मैंने तुम्हें इस रहस्यको नहीं बताया था? अपितु संक्षेपमें इस रहस्यको व्यक्त किया था॥५१॥

यथा हि भगवानेकः श्रीकृष्णो बहुमूर्त्तिभिः।
बहुस्थानेषु वर्त्तेत तथा तत्सेवका वयम्॥५२॥

श्लोकानुवाद—जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण एक होते हुए भी भिन्न-भिन्न स्थानोंपर भिन्न-भिन्न मूर्त्तियोंमें विराजमान रहते हैं, उसी प्रकार उनके सेवक हम भी अनेक स्थानोंपर अनेक स्वरूपोंसे रहते हैं॥५२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवाह—यथेति त्रिभिः। तथा वयमपि प्रत्येकं बहुमूर्त्तिभिर्बहु-स्थानेषु वर्त्तामहे, यतस्तत्सेवकाः॥५२॥

भावानुवाद—उस रहस्यको 'यथा' इत्यादि तीन श्लोकों द्वारा व्यक्त कर रहे हैं। तथा उनके सेवक होनेके कारण हममेंसे प्रत्येक ही अनेक स्थानोंपर अनेक मूर्त्तियों (स्वरूपों) में रहते हैं॥५२॥

श्रीसुपर्णादयः सर्वे श्रीमद्धनूमदादयः।
उद्धवोऽपि तथैवायं तादृशा यादवादयः॥५३॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार श्रीगरुड़, श्रीहनुमान और श्रीउद्धवादि यादवगण सभी एकरूप होकर भी सेवाके लिए अनेक स्थानोंपर अनेक स्वरूपोंमें एक ही समयमें विराजित रहते हैं॥५३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तानेव निर्दिशति—श्रीसुपर्णेति। आदि-शब्देन शेषादयः; एते वैकुण्ठनाथस्य पार्षदाः। श्रीमन्तो हनूमदादयश्च श्रीरघुनाथस्य; आदि-शब्देन जाम्बवदादयः। अतः श्रीहनूमतो भूमौ किम्पुरुषवर्षे नित्यं स्थितिस्तथा श्रीरामचन्द्रकीर्त्तिकथन-स्थानादौ, अत्र श्रीवैकुण्ठायोध्यायामपि सङ्गच्छते। उद्धवादयश्च श्रीद्वारकानाथस्य, अयं साक्षाद्वर्त्तमानः सामान्यरूपेण दृश्यमान इति वा। तथा तादृश एव यादवादयश्च तादृशाः श्रीभगवत्सदृशा एव; आदि-शब्देन पाण्डवादयः। श्रीगोलोकवासिनोऽप्येते नैवोद्दिष्टाः स्फुटञ्च न निर्दिष्टाः, परमगोप्यत्वेनेदानीं तत्प्रसङ्गायोग्यत्वादिति दिक्॥५३॥

भावानुवाद—उक्त रहस्यको 'श्रीसुपर्णादयः' इत्यादि श्लोकमें दृष्टान्त द्वारा निर्देश कर रहे हैं। श्रीगरुड़ तथा शेषादि श्रीवैकुण्ठनाथके पार्षद हैं। श्रीहनुमान तथा जाम्बवान आदि श्रीरधुनाथके पार्षद हैं। अतएव श्रीहनुमान द्वारा पृथ्वीपर किम्पुरुषवर्षमें नित्य वास करनेपर भी जिस-जिस स्थानपर श्रीरामचन्द्रजीकी महिमाका गुणगान होता है, उन-उन स्थानोंके साथ-साथ इस वैकुण्ठ स्थित अयोध्यामें भी वे श्रीहनुमान नित्य वास करते हैं। श्रीउद्धवादि श्रीद्वारकानाथके पाषर्द हैं, ये श्रीउद्धव साक्षात् वर्त्तमान होनेके कारण सामान्य रूपसे दृश्यमान हैं, तथा उसी प्रकार यादव और पाण्डवादि उनके पाषर्द भी श्रीभगवान्‌की भाँति एक होकर भी अनेक स्थानोंपर अनेक स्वरूपोंमें एक ही समय विराजमान रहते हैं। किन्तु श्रीगोलोकवासियोंके सम्बन्धमें यहाँपर स्पष्ट रूपमें निर्देश न कर उपलक्षण द्वारा उल्लेख किया गया है, क्योंकि परम गोपनीय होनेके कारण वह प्रसङ्ग यहाँपर व्यक्त करना अनुचित है॥५३॥

सर्वेऽपि नित्यं किल तस्य पार्षदाः,
सेवापराः क्रीड़नकानुरूपाः।
प्रत्येकमेते बहुरूपवन्तोऽ-
प्यैक्यं भजामो भगवान् यथासौ॥५४॥

श्लोकानुवाद—हम सभी भगवान्‌के नित्य पार्षद हैं और सर्वदा उनकी सेवामें तत्पर रहते हैं। प्रभु जब जैसी क्रीड़ा करनेकी इच्छा करते हैं, हम भी प्रभुकी उस क्रीड़ाके अनुरूप स्वरूप धारण करते हैं। इसलिए भगवान्‌की भाँति हमारा भी एक स्वरूप होते हुए भी हम अनेक स्वरूप धारण करते हैं॥५४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य भगवतः पार्षदाः सर्वेऽप्येते वयं नित्यं प्रत्येकं बहुरूपवन्तोऽपि ऐक्यं भजामः, एकरूपा एवेत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः—असौ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रो यथेति। अत्र युक्तिस्तु प्रागुक्तैव। बहुलरूपत्वे हेतुः—सेवापराः सतत-तदीयभजनपरायणाः, अतएव क्रीड़नकानि क्रीड़ासाधनानि; यद्वा, क्रीड़नं क्रीड़ा तद्रूपं यत् कं सुखं तदनुरूपाः; अतस्तस्य बहुरूपत्वेनास्माकमपि बहुलरूपत्वमेव युक्तमिति भावः। एवमहमेक एव भगवत्सेवार्थं तत्र तत्रानेकरूपः सन् वर्त्ते। इत्यतो मा विस्मयं कार्षीरिति भावः॥५४॥

भावानुवाद—श्रीभगवान्‌के पार्षद होनेके कारण हम सभी नित्य बहुरूप धारण करनेपर भी एकरूप ही हैं तथा सर्वदा उनके भजनमें तत्पर रहते हैं। इसका दृष्टान्त है कि जिस प्रकार ये भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र एकरूप होकर भी क्रीड़ावशतः बहुरूप धारण करते हैं, उसी प्रकार हम भी एकरूप होनेपर भी उनकी क्रीड़ाके अनुरूप बहुरूप धारण करते हैं। इस विषयमें युक्ति पहले ही कथित हुई है। अनेक रूप धारण करनेका कारण यह है कि सर्वदा उनके भजनमें अनुरक्त होनेके कारण हम उनके खिलौने अर्थात् उनकी क्रीड़ाको सहायता करनेके योग्य हो जाते हैं। अथवा बहुरूपत्व अर्थात् अनेक रूप धारण किये बिना अनेक प्रकारकी क्रीड़ाएँ सम्भव नहीं होती हैं। अथवा जिस प्रकारसे भी लीलाधारी प्रभुको सुख होता है, उसीके अनुरूप ही हम स्वरूप धारण करते हैं। इसलिए प्रभु जिस प्रकार अनेक स्वरूपोंको प्रकट करते हैं, सेवक होनेके कारण हम भी उनके सुखके अनुरूप सेवा करनेके लिए अनेक प्रकारके स्वरूप धारण करते हैं। अतएव इस विषयमें तुम्हारा विस्मित होना उचित नहीं है॥५४॥

नानाविधास्तस्य परिच्छदा ये,
नामानि लीलाः प्रियभूमयश्च।

नित्यानि सत्यान्यखिलानि तद्व–
देकान्यनेकान्यपि तानि विद्धि ॥५५ ॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार श्रीकृष्णके विविध वेश-भूषण, नाम, लीला और प्रियभूमि (धाम) सभी नित्य और सत्य हैं। इनके नाना रूपोंमें प्रतीत होनेपर भी इन्हें एकरूपमें ही जानों॥५५॥

दिग्दर्शिनी टीका—प्रसङ्गादन्यान्यप्यतिदिशति—नानेति। परिच्छदाः कौस्तुभ-सुदर्शनादयः, लीला आचरितानि, प्रियभूमयः श्रीमथुराद्याः। भूमि-शब्देनात्र स्थानमात्रमभिधीयते; अतो वैकुण्ठादयश्च ग्राह्याः। तानि परिच्छदादीनि, अखिलान्यपि नित्यानि सत्यानि च। तथा अनेकान्यप्यनेकान्येव तद्वद्भगवन्तमिव विद्धि प्रतीहि, सर्वेशामेव तेषां सच्चिदानन्दरूपत्वात्॥५५॥

भावानुवाद—प्रसङ्गक्रममें श्रीभगवान्‌से सम्बन्धित अन्यान्य वस्तुओंको भी उपरोक्त विचारके अन्तर्गत प्रदर्शित करनेके लिए 'नाना' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। परिच्छद अर्थात् कौस्तुभ-मणि, सुदर्शन-चक्रादि; लीला अर्थात् प्रभुका आचरण; प्रियभूमि अर्थात् श्रीमथुरा इत्यादि। यहाँ प्रियभूमि कहनेसे भगवान्‌की प्रत्येक लीलास्थलीको, यहाँ तक कि श्रीवैकुण्ठादि धामको भी ग्रहण करना होगा। ये सभी श्रीभगवान्‌के समान नित्य और सत्य हैं। अतएव इन सभीको अनेक रूपोंमें देखनेपर भी एकरूप ही जानों, क्योंकि ये सभी श्रीभगवान्‌के समान सच्चिदानन्दमय हैं॥५५॥

आश्चर्यमेतत्त्वमपीदृगेव सन्, पूर्व-स्वभावं तनुषेऽत्र लीलया।
परं महाश्चर्यमिहापि लक्ष्यसेऽतृप्तार्त्तचेता इव सर्वदा मया॥५६॥

श्लोकानुवाद—हे गोपकुमार! तुमने भी मेरी भाँति सच्चिदानन्द विग्रह और वैकुण्ठवास प्राप्त किया है, तथापि अपने पूर्व स्वभावके अनुसार लीला-रसका विस्तार (कौतुक) कर रहे हो—इससे मुझे आश्चर्य हो रहा है। तथा उससे भी अधिक एक परम आश्चर्यका विषय यह है कि तुम इस द्वारकामें रहकर भी सर्वदा अतृप्त और दुःखीकी भाँति प्रतीत हो रहे हो॥५६॥

दिग्दर्शिनी टीका—त्वमपीदृक्-सच्चिदानन्द-विग्रहत्वादिना अस्माभिः सदृश एव सन् श्रीवैकुण्ठप्राप्तेः पूर्वस्वभावं कौतुकिगोपबालक-प्रकृतिमत्र वैकुण्ठद्वारकायामपि

लीलया विनोदेन यत्तनुषे विस्तारयसि, सर्वथा ज्ञायमानेऽप्यर्थे अज्ञानादिव कौतुकभरोक्तेः। एतदेवाश्चर्यं मम कौतुकमित्यर्थः। परमन्यच्च महदाश्चर्यम्, तदेवाह—अतृप्तमपरिपूर्णम् आर्त्तं दुःखितमुद्विग्नं वा चेतो यस्य स इव इह श्रीवैकुण्ठद्वारकायामपि सर्वदा मया त्वं लक्ष्यसे, तत्तद्बोधक-चिन्ताधोमुखता-शून्यदृष्ट्यादिलक्षणैर्ज्ञायसे॥५६॥

भावानुवाद—हे गोपकुमार! मेरे समान श्रीवैकुण्ठवास प्राप्त होनेके कारण तुम्हारा भी सच्चिदानन्द विग्रह है, तथापि तुम्हारा पूर्व स्वभाव किञ्चित्मात्र भी दूर नहीं हुआ है। इस वैकुण्ठ स्थित द्वारकामें भी गोपबालकके स्वभाव अनुसार लीला-कौतुकका विस्तार कर रहे हो। सभी प्रकारसे ज्ञात तत्त्वके सम्बन्धमें भी तुम अज्ञानीकी भाँति प्रश्न कर रहे हो? इसके द्वारा मुझे आश्चर्य हो रहा है। तथा उससे भी अधिक आश्चर्यका कारण यह है कि इस वैकुण्ठद्वारकामें रहकर भी तुम सर्वदा अतृप्त और दुःखितकी भाँति प्रतीत हो रहे हो। तुम्हारा चिन्तासे नीचे झुका हुआ मुख, शून्यदृष्टि इत्यादि लक्षण तुम्हारे उस भावको प्रकाशित कर रहे हैं॥५६॥

श्रीगोपकुमार उवाच—

मया सपादग्रहमेष नत्वा, सदैन्यमुक्तो भगवंस्त्वमेव।
जानासि तत् सर्वमितीदमाह, स्मित्वा निरीक्ष्याननमुद्धवस्य॥५७॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमारने कहा—तब मैंने श्रीनारदके दोनों चरणोंको पकड़कर प्रणाम किया और दैन्य सहित निवेदन किया—हे भगवन्! मैं क्या कहूँ, आप तो सभी कुछ जानते हैं। मेरी बातको सुनकर श्रीनारदने मुस्कराते हुए श्रीउद्धवके मुखकी ओर देखा और कहने लगे— ॥५७॥

दिग्दर्शिनी टीका—भगवन् हे श्रीनारद! तत् सर्वं मन्मनोऽतृप्त्यादिकं तत्कारणञ्चाशेषं त्वमेव जानासि। तत् किमहं वदामीत्येतन्मयोक्तः सन्। किं कृत्वा? सदैन्यं दीनतासहितं यथा स्यात्तथा, सपादग्रहं तदीयपादौ गृहीत्वेत्यर्थः। नत्वा नमस्कृत्य एष नारदः स्मित्वा परमदुर्लभार्थविषयकाग्रहभरालोचनेन कौतुकादीषद्धसित्वा इदं वक्ष्यमाणमाह—किं कृत्वा? उद्धवस्य तत्रैवोपविष्टस्य मुखं निरीक्ष्य साक्षित्वेनेवोच्यमानार्थस्य परमसत्यता-बोधनाय तदपेक्षया शीघ्रमस्मदभीष्टसिद्धये श्रीमदुद्धवसम्बोधनेनोक्तेः॥५७॥

भावानुवाद—हे भगवन् श्रीनारद! मैं क्या कहूँ, आप तो मेरे मनकी अतृप्ति और उसके कारण आदि सभी कुछ जानते हैं। गोपकुमारने ये वचन किस प्रकारसे कहे? श्रीनारदके दोनों चरणोंको पकड़कर अत्यन्त दीनतापूर्वक नमन करते हुए कहे। तब श्रीनारदजी परम दुर्लभ विषयमें गोपकुमारके अत्यधिक आग्रहपर विचारकर कौतुकवशतः मुस्कराकर कहने लगे। किस प्रकारसे कहा? वहाँ उपस्थित श्रीउद्धवके मुखकी ओर दृष्टिपात कर कहने लगे। अपने द्वारा कहे जानेवाले वचनोंकी परम सत्यताका बोध करानेके लिए ही श्रीनारदने श्रीउद्धवकी ओर दृष्टिपात किया, अर्थात् उन्हें साक्षीके रूपमें रखा, क्योंकि इन वचनोंको सत्य माननेसे गोपकुमारको शीघ्र ही उसके अभीष्टकी प्राप्ति होगी॥५७॥

श्रीनारद उवाच—

उद्धवायमहो गोप–पुत्रो गोवर्धनोद्भवः।
मादृशां त्वादृशानाञ्च मृग्यन् वस्तु सुदुर्लभम्॥५८॥

इतस्ततो भ्रमन् व्यग्रः कदाचिदपि कुत्रचित्।
नातिक्रामति चित्तान्तर्लग्नं तं शोकमार्त्तिदम्॥५९॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारदने कहा—हे उद्धवजी! कैसे आश्चर्यकी बात है! इस गोपपुत्रने गोवर्धनमें जन्म लिया है तथा यह मेरे लिए और यहाँ तक कि तुम्हारे लिए भी सुदुर्लभ किसी एक वस्तुकी कामना कर रहा है। उस वस्तुकी खोजमें व्याकुल होकर सर्वत्र भ्रमण करनेपर भी यह कहींपर भी अपने चित्तको पीड़ा देनेवाले शोक और दुःखको दूर नहीं कर पा रहा है॥५८–५९॥

दिग्दर्शिनी टीका—अहो विस्मये खेदे वा। भो उद्धव! अयं त्वद्गृहाश्रितो गोपपुत्रः व्यग्रो व्याकुलः सन् इतस्ततः प्रपञ्चेषु प्रपञ्चातीतेषु च सर्वत्र भ्रमन्नपि तमनिर्वाच्यं चित्तस्यान्तर्लग्नम्, आर्त्तिदं पीड़ाकरं, शोकं कदाचिदपि कुत्रचिदपि नातिक्रामति परिहर्त्तुं न शक्नोतीति द्वाभ्यामन्वयः। कुतः? मादृशां भक्तानां त्वादृशाञ्च सुहृदां सुदुर्लभं परमाप्राप्यं वस्तु अर्थन् मृग्यन् अन्विष्यन्। तत्र हेतुः—गोवर्धनोद्भवे इति॥५८–५९॥

भावानुवाद—'अहो' विस्मय या खेदके अर्थमें है। हे उद्धव! तुम्हारे घरमें आश्रित इस गोपबालकने व्याकुल होकर इधर-उधर अर्थात् प्रपञ्च और प्रपञ्चके अतीत सर्वत्र भ्रमण किया है, किन्तु तथापि कहींपर भी जाकर किसी भी प्रकारसे चित्तको पीड़ा देनेवाले उस अनिर्वचनीय शोकको दूर करनेमें समर्थ नहीं हो पा रहा है। इसका कारण है कि यह मेरे जैसे भक्तों और आप जैसे सुहृदोंके लिए भी सुदुर्लभ वस्तुको प्राप्त करनेकी चेष्टा कर रहा है। यदि आपत्ति हो कि इस गोपकुमारमें उस सुदुर्लभ वस्तुको प्राप्त करनेकी प्रवृत्ति कहाँसे उत्पन्न हुई? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—गोवर्धनमें जन्म लेनेके कारण॥५८-५९॥

तदेनं वत तत्रत्य-लोकानुग्रहकातरः।
भवानपि न पार्श्वस्थं प्रतिबोधयति क्षणम्॥६०॥

श्लोकानुवाद—हे उद्धवजी! बड़े दुःखकी बात है कि व्रजवासियोंका हित करनेमें व्याकुल रहनेवाले आपने अपने पासमें रह रहे इस गोपबालकको क्षणकालके लिए भी सान्त्वना नहीं दी॥६०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्तस्माद्वत खेदे। एनं गोपपुत्रं तत्रत्येषु श्रीमाथुरव्रजभवेषु लोकेषु अनुग्रहेण कातरो व्यग्रः॥६०॥

भावानुवाद—'तत्' अर्थात् इसलिए; 'वत' शब्दका प्रयोग खेदके अर्थमें हुआ है। 'एनं'—इस गोपबालकको; 'तत्रत्य-लोकानुग्रहकातरः'—श्रीमाथुर-व्रजवासियोंका हित करनेमें व्याकुल रहनेवाले॥६०॥

पदं दूरतरं तद्वै तत्सुखानुभवस्तथा।
तत्साधनमपि प्रार्थ्यमस्माकमपि दुर्घटम्॥६१॥

श्लोकानुवाद—यह गोपबालक जिस गोलाक पदको चाहता है, वह पद, उसका सुख-अनुभव तथा उसकी प्राप्तिका साधन अति दुर्लभ हैं। हम भी उस पदके लिए केवल प्रार्थना ही करते हैं, किन्तु वह हमारे लिए भी दुःसाध्य है॥६१॥

दिग्दर्शिनी टीका—किन्तदाह—पदमिति। तत् श्रीगोलोकाख्यं स्थानं दूरतरं, श्रीवैकुण्ठादपि दुर्लभत्वेन परमोच्चत्वात्; अतएव दुर्घटं दुःसाध्यमित्यर्थः। तथेति समुच्चये। तस्य पदस्य यत् सुखं तल्लोकनाथश्रीनन्दनन्दन-सन्दर्शन-सहविहारादिरूपं तस्यानुभवश्च प्राप्तिदुर्घटः, तस्य सुखस्य पदस्य वा साधनमपि दुर्घटम्; यतोऽस्माकं नित्यपार्षदतादिमतामपि प्रार्थ्यम्। यद्वा, दुर्घटमित्यस्यप्यत्रैव सम्बन्धः। ततश्च दूरतरमिति, परमदुर्लभमित्यर्थः ॥६१॥

भावानुवाद—सर्वत्र भ्रमण करनेपर भी गोपकुमारके चित्तकी पीड़ाके दूर न होनेके कारणको 'पदं' इत्यादि श्लोक द्वारा बतला रहे हैं। वह श्रीगोलोक नामक स्थान परमश्रेष्ठ होनेके कारण इस श्रीवैकुण्ठसे भी दुर्लभ है, अतएव दुःसाध्य है। उस श्रीगोलोक नामक पदमें जो सुख है, अर्थात् गोलोकनाथ श्रीनन्दनन्दनके सन्दर्शन और उनके साथ विहार इत्यादि रूप-माधुरीका जो अनुभव है, वह भी सुदुर्घट है तथा उस पदके सुख-अनुभवका साधन भी दुःसाध्य है। यहाँ तक कि हम जैसे नित्य पार्षदोंके लिए भी वह पद प्रार्थनीय है, अतएव अन्य लोगोंके लिए वह पद परम दुर्लभ होगा, इस विषयमें अधिक क्या कहा जाये? ॥६१॥

श्रीमदुद्धव उवाच—

व्रजभूमावयं जातस्तस्यां गोपत्वमाचरत्।
गोपालोपासनानिष्ठो विशिष्टोऽस्मन्महाशयः ॥६२॥

श्लोकानुवाद—श्रीउद्धवने कहा—इसका जन्म व्रजभूमिमें हुआ है तथा इसका आचरण गोपों जैसा है। विशेषतः गोपाल-उपासनामें निष्ठ होनेके कारण यह महाशय हमसे भी श्रेष्ठ है॥६२॥

दिग्दर्शिनी टीका—अपि-शब्देन सूचितं तेभ्योऽन्यस्य न्यूनत्वमसहमान उद्धवस्तदीया-भीष्टसिद्धये नारदहर्षार्थमेवाह—व्रजेति। अयं गोपपुत्रः अस्मत् अस्मत्तः सकाशाद्विशिष्ट उत्कृष्टः। तत्र हेतवः—तस्यां व्रजभूमौ जातः, गोपत्वं गोपालनादिकञ्च तस्यामाचरत् अकरोत्। किञ्च, श्रीमदनगोपालदैवत्य-दशाक्षरमन्त्रवरजपादिना तदुपासनायां निष्ठा तस्य सः, तत्रापि महाशयः, तदेकापेक्षया तत्र तत्राप्यतृप्तेः॥६२॥

भावानुवाद—पूर्वश्लोकमें 'अपि' शब्द द्वारा सूचित 'अन्योंके लिए परम दुर्लभ'—इस न्यूनता प्रकाशक वाक्यको सहन न कर श्रीउद्धव

गोपकुमारकी अभीष्ट सिद्धिके लिए तथा श्रीनारदके आनन्दवर्द्धनके लिए 'व्रज' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। यह गोपकुमार हमसे भी श्रेष्ठ है, क्योंकि इसने व्रजभूमिमें जन्म ग्रहण किया है तथा वहाँ गोपजातिके स्वाभाविक आचरण गो-पालनादिमें रत था। तदुपरान्त कह रहे हैं कि श्रीमदनगोपालदेवके दशाक्षर मन्त्र-श्रेष्ठकी जपरूप उपासनामें इसकी निष्ठा भी है, तथापि यह महाशय एकमात्र उनके साक्षात् दर्शनकी आशसे सर्वत्र भ्रमण करनेपर भी सर्वदा अतृप्त ही है॥६२॥

सोत्साहमाह तं हर्षात्तच्छ्रुत्वाश्लिष्य नारदः।
यथायं लभतेऽभीष्टं तथोपादिश सत्वरम्॥६३॥

श्लोकानुवाद—श्रीउद्धवकी इन बातोंको सुनकर श्रीनारदने हर्ष सहित उनका आलिङ्गन किया तथा उत्साहपूर्वक कहा—हे उद्धव! यह गोपकुमार जिस उपायसे शीघ्र ही अपनी अभीष्ट वस्तुको प्राप्त करे, आप इसे उस प्रकारका उपदेश दें॥६३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदुद्धव-वाक्यं श्रुत्वा हर्षात्तमुद्धवं नारद आह। कीदृशम्? सोत्साहं गोपपुत्राभीष्टसिद्धये परमौत्सुक्ययुक्तम्; क्रियाविशेषणं वा, उक्तिपरिपाट्योत्साह-लक्षणात्। एवमेतदर्थमेव प्राक् तथोक्तमित्यूह्यम्। किन्तदाह—यथेति। अयं गोपपुत्रः॥६३॥

भावानुवाद—श्रीउद्धवके इन वचनोंको सुनकर श्रीनारदने हर्षपूर्वक उद्धवसे कहा। किस प्रकार? उत्साहपूर्वक अर्थात् गोपकुमारकी अभीष्ट-सिद्धिके विषयमें परम उत्सुक होकर। अथवा ('सोत्साह' के क्रियाविशेषण होनेसे) उत्साह-लक्षणयुक्त वचन परिपाटि सहित कहा—हे उद्धव! आप इस गोपकुमारको शीघ्र इसकी अभीष्ट-सिद्धि प्राप्त करनेका उपदेश करें॥६३॥

अब्रवीदुद्धवो जात्या क्षत्रियोऽहं महामुने।
उपदेशप्रदाने तन्नाधिकारी त्वयि स्थिते॥६४॥

श्लोकानुवाद—श्रीउद्धवने कहा—हे महामुने! मैं जातिसे क्षत्रिय हूँ। अतः आपकी उपस्थितिमें मुझे इसे उपदेश देनेका अधिकार नहीं है॥६४॥

दिग्दर्शिनी टीका—जात्या जन्मना स्वभावेनैव वा; तत्तस्मात् नन्वन्यस्य *"क्षत्रियस्याप्रतिग्रहः"* इत्येकादशस्कन्धे श्रीभगवदुक्त्या प्रतिग्रहमात्रवर्जनादुपदेशेऽधिकारोऽस्ति। तत्राह—त्वयि भक्तिमार्गादिगुरौ स्थिते साक्षाद्वर्त्तमाने सति॥६४॥

भावानुवाद—श्रीउद्धवने कहा—जाति अर्थात् जन्म या स्वभावसे मैं क्षत्रिय हूँ, अतएव मुझे इस विषयमें उपदेश देनेका अधिकार नहीं है। यदि आपत्ति हो कि 'क्षत्रियस्याप्रतिग्रहः' एकादश-स्कन्धमें भगवान्‌की इस उक्तिके अनुसार क्षत्रिय यदि उपहार, दानादि ग्रहण नहीं करता, तब उसे उपदेश देनेका अधिकार प्राप्त होता है, अतएव आप उपदेश दे सकते हैं। इसके लिए श्रीउद्धव कहते हैं—भक्तिमार्गके गुरु आपके साक्षात् उपस्थित रहनेपर मुझे उपदेश देनेका अधिकार नहीं है॥६४॥

नारदो नितरामुच्चैर्विहस्यावददुद्धवम्।
न वैकुण्ठेऽप्यपेतास्मिन् क्षत्रियत्वमतिस्तव॥६५॥

श्लोकानुवाद—तब श्रीनारदने बहुत जोरसे हँसकर श्रीउद्धवसे कहा—इस वैकुण्ठमें आकर भी आपका क्षत्रिय होनेका अभिमान दूर नहीं हुआ है?॥६५॥

दिग्दर्शिनी टीका—मर्त्यलोके भारतवर्षान्तरेव जात्यादिविचारः; वैकुण्ठे तु सच्चिदानन्द-विग्रहत्वात् स न सम्भवेदेव। तथापीत्यपि-शब्दार्थः। क्षत्रियोऽहमिति ज्ञानं तव नापेता नापयाता॥६५॥

भावानुवाद—मर्त्यलोकके भारतवर्षमें ही जाति आदिका विचार है, किन्तु इस वैकुण्ठलोकमें सब कुछ सच्चिदानन्दविग्रह होनेके कारण जाति विचार सम्भव नहीं है। तथापि आपका क्षत्रिय होनेका अभिमान दूर नहीं हुआ है?॥६५॥

उद्धवः सस्मितं प्राह किं ब्रूयां सा न मादृशाम्।
अपेतेति किलास्माकं प्रभोरप्यपयाति न॥६६॥

श्लोकानुवाद—श्रीउद्धवने मुस्कराते हुए कहा—मेरे जैसोंका तो कहना ही क्या है, यहाँपर हमारे प्रभुका भी क्षत्रियत्व अभिमान दूर नहीं हुआ है॥६६॥

दिग्दर्शिनी टीका—सा क्षत्रियत्वमतिर्मादृशां नापेता नापगतेति किं ब्रूयाम्? किलेति विस्मये निश्चये वा; अस्माकं प्रभोः श्रीकृष्णदेवस्यापि सा नापयाति॥६६॥

भावानुवाद—मेरे जैसों कि क्षत्रियत्व बुद्धिके दूर होनेके विषयमें क्या कहूँ, यहाँपर मेरे प्रभु इन श्रीकृष्णचन्द्रदेवकी भी क्षत्रियत्व-बुद्धि दूर नहीं हुई है। 'किल' शब्द विस्मय या निश्चयके अर्थमें है॥६६॥

यथा तत्र तथात्रापि सद्धर्मपरिपालनम्।
गार्हस्थ्यारिजयज्येष्ठ-विप्रसम्माननादिकम्॥६७॥

श्लोकानुवाद—जिस प्रकार ये भौमद्वारकामें सद्धर्मका भलीभाँति पालन, गृहस्थका आचरण, शत्रुओंको विजय करना, बड़ों और ब्राह्मणोंका सम्मान करना इत्यादि करते थे, उसी प्रकार यहाँ भी करते हैं॥६७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तल्लक्षणमेवाह—यथेति। तत्र भौमद्वारकायां, सतां धर्म आचारः तस्य परिपालनम्; तदेव प्रपञ्चयति—गार्हस्थ्यं गृहस्थानुरूप-व्यवहारः, अरिजयः युद्धकौतुकादिना शत्रुनिर्जयः, ज्येष्ठानां श्रीबलरामादीनां, गुरूणां विप्राणाञ्च समाधानं तदादिकं वर्त्तत इति शेषः। नापयातीत्यनेनैवान्वयो वा। आदि-शब्देन दशमस्कन्धोक्तं ब्राह्मयमुहूर्त्तोत्थानादिरूपाह्निकादि॥६७॥

भावानुवाद—श्रीउद्धव अपने प्रभु श्रीकृष्णदेवके क्षत्रियत्व अभिमानके दूर न होनेके लक्षणोंको 'यथा' इत्यादि श्लोक द्वारा बतला रहे हैं। भौमद्वारकाके समान इस वैकुण्ठद्वारकामें भी ये सद्धर्मका भलीभाँति पालन, गृहस्थके अनुरूप व्यवहार, युद्ध-कौतुकादि द्वारा शत्रुओंपर विजय, अपनेसे बड़ों श्रीबलरामादि तथा गुरु और ब्राह्मणोंका सम्मान करते हैं। 'आदि' शब्दके द्वारा दशम-स्कन्धमें कथित ब्राह्ममुहूर्त्तमें उठकर आह्निक इत्यादि क्रियाओंको समझना होगा॥६७॥

तदुक्त्या नारदो हर्ष-भराक्रान्तमना हसन्।
उत्प्लुत्योत्प्लुत्य चाक्रोशन्निदमाह सुविस्मितः॥६८॥

श्लोकानुवाद—श्रीउद्धवके इन वचनोंको सुनकर श्रीनारद आनन्दसे परिपूर्ण होकर हँसते हुए बार-बार उछलने लगे और फिर आश्चर्य सहित उच्च स्वरसे कहने लगे—॥६८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तया उद्धवोक्त्या हेतुना। हर्षभरेण आक्रान्तं मनो यस्य सः। अतएव हसन् सन् उत्प्लुत्योत्प्लुत्य मुहुः कूर्दित्वा, आक्रोशंश्च उच्चैः शब्दं कुर्वन्, सुविस्मितः परमाश्चर्यानुसन्धानेन परमविस्मितः सन्, इदं वक्ष्यमाणमाह॥६८॥

भावानुवाद—श्रीउद्धवके वचनोंको सुनकर श्रीनारदका मन अत्यधिक आनन्दसे विभोर हो गया और वे हँसते-हँसते बार-बार उछलने लगे तथा परम आश्चर्य सहित उच्च स्वरसे इस प्रकार कहने लगे—॥६८॥

श्रीनारद उवाचः—

अहो भगवतो लीला-माधुर्यमहिमाद्भुतः।
तदेकनिष्ठागाम्भीर्यं सेवकानाञ्च तादृशम्॥६९॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारदने कहा—अहो! श्रीभगवान्‌की लीला-माधुरीकी महिमा जिस प्रकार अद्भुत है, उनके समस्त सेवकोंकी उनके प्रति एकनिष्ठताकी गम्भीरता भी उसी प्रकार ही अद्भुत है॥६९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवाह—अहो इत्यष्टभिः। लीलाया माधुर्यस्य महिमाद्भुतः आश्चर्यरूपः, सेवकानाञ्च तस्मिन्नेवैकस्मिन्निष्ठाया गाम्भीर्यं तादृशं अद्भुतमेव भगवदनुरूपमेवेति वा, सदा तत्तल्लीलैकानुसारित्वात्॥६९॥

भावानुवाद—श्रीनारदने जो कुछ कहा उसे 'अहो' इत्यादि आठ श्लोकों द्वारा वर्णन किया जा रहा है। श्रीभगवान्‌की लीला-माधुरीकी महिमा जैसी अद्भुत है, उनके सेवकोंकी उनके प्रति एकनिष्ठताकी गम्भीरता भी वैसी ही आश्चर्यजनक है। अर्थात् भगवान्‌के सेवकोंकी समस्त क्रियाएँ ही भगवान्‌की लीलाके अनुरूप होती हैं॥६९॥

अहो अलं कौतुकमेतदीक्ष्यते, यथैष विक्रीड़ति मर्त्यलोकगः।
तथैव वैकुण्ठपदोपरि स्थितो, निजप्रियाणां परितोषहेतवे॥७०॥

श्लोकानुवाद—अहो! कैसा आश्चर्य है कि ये प्रभु मर्त्यलोकमें जिस प्रकारकी क्रीड़ाएँ करते हैं, वैकुण्ठपदके ऊपरी भागमें स्थित इस द्वारकापुरीमें रहकर भी अपने प्रिय भक्तोंके सन्तोष लिए वैसी ही क्रीड़ाएँ कर रहे हैं॥७०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव विवृणोति—अहो इति द्वाभ्याम्। एष भगवान् मर्त्यलोकं गतः सन् यथा क्रीड़ति, वैकुण्ठपदोपरि तद्द्वारकायां स्थितो वर्त्तमानोऽपि

तथैव क्रीड़ति। निजप्रियाणां परमैकान्तिनाम्, अन्यथा तदेकनिष्ठातिशयप्राप्तानां मनःपरितर्पक–सुखानुदयात्॥७०॥

भावानुवाद—श्रीनारद द्वारा श्रीभगवान्‌की लीला–माधुरीकी महिमाका वर्णन 'अहो' इत्यादि दो श्लोकों द्वारा किया जा रहा है। ये भगवान् मर्त्यलोकमें जाकर जैसी लीलाएँ करते हैं, वैकुण्ठपदके ऊपर स्थित इस द्वारकामें रहकर भी वैसी ही लीलाएँ करते हैं। इसका कारण है कि भगवान्‌के प्रिय परम ऐकान्तिक सेवकोंकी वैसी लीलाओंमें एकनिष्ठता है तथा उस निष्ठाकी गम्भीरतावशतः भक्तोंके भक्तिरसमें विभावित श्रीभगवान्‌की परम स्वतन्त्रता सर्वदा भक्तोंके भावके अधीन रहती है। अन्यथा उनके अत्यधिक एकनिष्ठ सेवकोंके मनको तृप्त करनेवाला सुख नहीं होता॥७०॥

यल्लीलानुभवेनायं भ्रमः स्यान्मादृशामपि।
वैकुण्ठद्वारकायां किं मर्त्ये वर्त्तामहेऽथवा॥७१॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्‌की इन लीलाओंको अनुभवकर मुझ जैसोंको भी भ्रम हो जाता है कि हम अब वैकुण्ठस्थित द्वारकामें हैं अथवा भौमद्वारकामें॥७१॥

दिग्दर्शिनी टीका—यस्य भगवतः, यस्या लीलाया वा अनुभवेन; मादृशां सर्वज्ञप्रवराणामपि। कः? वैकुण्ठलोके या द्वारका, तस्यां किं वर्त्तामहे? अथवा मर्त्यलोके या द्वारका, तस्यां किं वर्त्तामह इत्येवम् एव॥७१॥

भावानुवाद—श्रीभगवान्‌की इन लीलाओंको अनुभवकर मेरे जैसे सर्वज्ञ शिरोमणियोंके चित्तमें भी भ्रम उत्पन्न हो जाता है कि क्या मैं वैकुण्ठस्थित द्वारकामें हूँ अथवा मर्त्यलोक स्थित द्वारकामें हूँ?॥७१॥

युक्तं तदेका प्रभु–पादपद्मयोः, सप्रेमभक्तिर्भवतामपेक्षिता।
भक्तप्रियस्यास्य च भक्तकामित–, प्रपूरणं केवलमिष्टमुत्तमम्॥७२॥

वैकुण्ठवासोचितमीहितं न वो, नो मर्त्यलोकस्थितियोग्यमप्यतः।
ऐश्वर्ययोग्यं न हि लोकबन्धुता, युक्तञ्च तस्यापि भवेदपेक्षितम्॥७३॥

श्लोकानुवाद—हे उद्धव! आपके समान समस्त सेवक अपने प्रभु श्रीकृष्णके चरणकमलोंके प्रति प्रेमभक्तिकी ही आकांक्षा करते हैं तथा

भक्तप्रिय श्रीभगवान्‌की आकांक्षा भी केवल अपने भक्तोंके ऐसे अभीष्टको परिपूर्ण करना ही होता है। आपके जैसे सेवक न तो वैकुण्ठवासके उचित व्यवहारकी चेष्टा करते हैं और न ही मर्त्यलोकके योग्य व्यवहार की, उसी प्रकार श्रीभगवान् भी आप जैसे भक्तोंके साथ न तो अपने ऐश्वर्यके अनुरूप व्यवहार करते हैं और न ही लौकिक-बन्धुके समान। अतएव भक्तोंका तथा श्रीभगवान्‌का व्यवहार एक-दूसरेके अर्थात् प्रेमभक्तिके अनुरूप होना ही उचित है॥७२-७३॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तर्हि मर्त्यलोके परमसाधननिचयेन साध्यमानस्य श्रीवैकुण्ठलोकस्य को विशेषः सिध्येत्तत्राह—युक्तमिति द्वाभ्याम्। तत्-सेवकानां प्रभोश्च तथा व्यवहरणं युक्तमेव, न तु मर्त्यवैकुण्ठलोकयोर्विशेषाभावापत्त्यानुचितमित्यर्थः, निजनिजाभीष्ट-संसिद्धेः। तदेवाह—प्रभुपादपद्मयोः सप्रेमका भक्तिरेवैका भवतां तत्सेवकानामपेक्षिता, न त्वन्यत् किञ्चिदपि; अस्य च भगवतः भक्तानां कामितस्य अभीष्टार्थस्य कामस्य वा प्रकर्षेण पूरणमेव केवलमुपदिष्टं परमापेक्षितं न चान्यत्। यतः भक्ता एव प्रिया यस्य तस्य, अतोऽस्माद्धेतोः, वो युष्माकं वैकुण्ठे वासस्य उचितं योग्यं सच्चिदानन्दविग्रहाद्यनुरूपम् ईहितं व्यवहारः, नापेक्षितं नादृतं भवेत्। मर्त्यलोके स्थितेर्वासस्य योग्यमपि गृहस्थपाञ्चभौतिक-देहिवदीहितं नापेक्षितं नादृतं भवेत्। तस्य भगवतोऽपि ऐश्वर्यस्य आत्मारामता-पूर्णकामतादिरूपस्य परमविभूति-विस्तारणरूपस्य वा योग्यमीहितं न ह्यपेक्षितं भवेत्। लोकबन्धुताया लौकिकपतिपुत्ररूपाया उपयुक्तञ्च ईहितं नापेक्षितं भवेत्। अयं भावः—तेषां, परमैकान्तितया तत्तल्लीलाद्यनुभवेनैव मनस्तृप्त्या सुखं स्यात्, भगवतश्च तदेकमेव प्रियतमम्, अतस्तदनुरूपव्यवहार एव तेषां तस्य चोचितः स्यात्। स च मर्त्यलोके वा वैकुण्ठलोकेऽथवा सिध्यतु, नास्ति विशेष इति॥७२-७३॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि वैकुण्ठलोक स्थित द्वारका और मर्त्यलोक स्थित द्वारकामें भेद न रहनेपर मर्त्यलोकमें रहकर परम साधन द्वारा साधित इस श्रीवैकुण्ठलोककी क्या विशेषता है? इस आशङ्काके समाधानके लिए 'युक्त' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। यद्यपि प्रभुके सेवकों और प्रभुके बीच परस्पर व्यवहार युक्त ही होता है तथा वह व्यवहार मर्त्यलोक या वैकुण्ठलोककी विशेषताके अभाववशतः अनुचित नहीं होता, तथापि भक्त अपने-अपने अभीष्ट भावकी संसिद्धके लिए मर्त्यलोक या वैकुण्ठलोकके अनुरूप व्यवहार

स्वीकार करते हैं तथा भगवान् भी अपने भक्तोंके भावके अनुरूप ही व्यवहार करते हैं। अतएव—हे उद्धव! आप जैसे सेवक अपने प्रभु श्रीकृष्णके चरणकमलोंके प्रति सप्रेमभक्तिकी ही आकांक्षा करते हैं, अन्य कुछ नहीं। उसी प्रकार सर्वदा अपने भक्तोंके अभीष्ट अर्थात् कामनाओंको परिपूर्ण करना ही श्रीभगवान्का परम उद्देश्य होता है, अन्य कुछ भी नहीं, क्योंकि भक्त ही उनके प्रिय हैं। आपसे वैकुण्ठवासके उचित सच्चिदानन्दविग्रहादिके अनुरूप व्यवहारकी आशा नहीं की जाती और न ही मर्त्यलोकके योग्य गृहस्थ-पाञ्चभौतिक देहीकी भाँति व्यवहार की आशा की जाती है। तथा उन श्रीभगवान्से भी ऐश्वर्यपूर्ण आत्मारामता-पूर्णकामतादि रूप परम विभूति विस्तारक व्यवहारकी आशा नहीं की जाती है तथा न ही लौकिक पति-पुत्रादि प्रियतारूप लोक-बन्धुके अनुरूप व्यवहारकी आशा की जाती है। तात्पर्य यह है कि समस्त भक्तोंमें परम ऐकान्तिकताके कारण अपनी-अपनी अभीष्ट लीला आदिके अनुभव द्वारा मनके तृप्त होनेसे सुख उत्पन्न होता है तथा श्रीभगवान्को भी अपने प्रियतम भक्तोंके मनोऽभीष्ट परिपूर्ण करनेसे सुख होता है। अतएव भक्तों और श्रीभगवान्के बीच परस्पर अनुरूप व्यवहार ही उचित होता है। वैसा व्यवहार वैकुण्ठमें हो अथवा मर्त्यलोकमें हो, इसमें कोई विशेषता नहीं रहती है॥७२-७३॥

सप्रेमभक्तेः परमानुकूलं, दैन्यं महापुष्टिकरं सदा वः।
तस्यापि तत्प्रेमविभावनेऽलं भोगाकुल-ग्राम्यविहार-जातम्॥७४॥

श्लोकानुवाद—आपका दैन्य कि "मैं क्षत्रिय होनेके कारण उपदेश देनेका अधिकारी नहीं हूँ" प्रेमभक्तिके परम अनुकूल है और सर्वदा उसका महा-पुष्टिकारक है। उसी प्रकार श्रीकृष्णका भी भोगोंमें आसक्त ग्रामीण लोगों जैसा विहार भक्तोंके प्रेमको बढ़ानेवाला है॥७४॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं सामान्येनोक्त्वाधुना प्रेमभक्तिपरिपोषकत्वेन वैकुण्ठे सच्चिदानन्दविग्रहानुरूप-व्यवहारादपि मर्त्यलोके पाञ्चभौतिकदेहिवद्व्यवहार एव। तथा भगवतोऽपि भक्तेष्टपरिपूर्त्तिसम्पादकत्वेन लौकिकबन्धुव्यवहार एव पारमैश्वर्यप्रकटना-दप्युत्कर्षं लभत इति। विशेषमाह—सप्रेमेति। वो युष्माकं प्रेमभक्ति-विशेषनिष्ठातिशयवतां

दैन्यं दीनवद्व्यवहारः सप्रेमकाया भक्तेः परममनुकूलं प्रवृत्तौ साहायकरं, महापुष्टिकरञ्च परमवृद्धिसम्पादकम्, तस्य भगवतोऽपि भोगाकुल-ग्राम्यजनवद्विहारजातं लीलापटली, तस्मिन् भगवति तस्य अनिर्वचनीयस्य वा प्रेम्णो विभावने प्रकाशने अलं समर्थम्। यद्वा, अतिशयेन परमानुकूलं महापुष्टिकरञ्चेति पूर्वेणैव सम्बन्धः॥७४॥

भावानुवाद—इस प्रकार सामान्य रूपसे दोनों धामों (भौम और वैकुण्ठ) के सम्बन्धमें बतलाया गया है। भक्तोंकी प्रेमभक्तिको परिपुष्ट करनेके लिए वैकुण्ठमें श्रीभगवान् द्वारा सच्चिदानन्दविग्रहके अनुरूप व्यवहारादिसे भी मर्त्यलोकमें पाञ्चभौतिक देहीकी भाँति व्यवहारकी श्रेष्ठता है। तथा भक्तोंके अभीष्टको परिपूर्ण करनेके लिए भगवान् द्वारा परम ऐश्वर्यको प्रकट करनेसे भी उनके लौकिक-बन्धुवत व्यवहारकी श्रेष्ठता है। इस सम्बन्धमें विशेष सिद्धान्तको वर्णन करनेके लिए ही 'सप्रेम' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। प्रेमभक्तिमें विशेष निष्ठा-आधिक्यसे युक्त तुम्हारा ऐसा दैन्य अर्थात् दीनकी भाँति व्यवहार प्रेमभक्तिके परम अनुकूल है और उसका महा-पुष्टिकारक है अर्थात् उसकी परम वृद्धि करनेवाला है। उसी प्रकार श्रीभगवान्के द्वारा भी भोगोंमें आसक्त ग्रामवासीकी भाँति विहार आदि लीलाएँ उनके (भगवान्के) प्रति अनिर्वचनीय प्रेमको प्रकट करानेमें विशेष समर्थ हैं, अर्थात् उनके प्रति प्रेमको प्रकट करानेमें परम अनुकूल और महापुष्टिकारक हैं॥७४॥

प्रेमोद्रेकपरीपाक-महिमा केन वर्ण्यताम्।
यः कुर्यात् परमेशं तं सद्बन्धुमिव लौकिकम्॥७५॥

श्लोकानुवाद—प्रेम वर्द्धित होनेपर जब अपनी परिपक्व अवस्थाको प्राप्त करता है, तब उसकी महिमाका कौन वर्णन कर सकता है? उस प्रेमकी महिमा साक्षात् परमेश्वरको भी लौकिक सद्बन्धु जैसा बना देती है॥७५॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वेतन्मायया वञ्चनापि घटेत? नेत्याह—प्रेमेति। प्रेम्ण उद्रेक औत्कण्ठ्यम्, तस्य परिपाकः निष्ठाविशेषः, तस्य महिमा माहात्म्यं, केन वर्ण्यताम्? अपि तु न केनचिदपि वर्णयितुं शक्यत इत्यर्थः। तत्र हेतुः—तं भगवन्तं परमेश्वरमपि लौकिकं लोकव्यवहारानुगतं, सद्बन्धुं परमबान्धवमिव यः

प्रेमोद्रेक-परीपाकमहिमा कुर्यात्। अतो भगवतो भक्तानाञ्च मिथः प्रेमोद्रेक-परीपाकादेव भगवतो निजैश्वर्यादिपरित्यागेनापि केवलं भक्ताभीष्टपरिपूरणाय लौकिक-बन्धुवद्व्यवहारः, न तु मायया वञ्चनाय, तादृश-भक्तेषु तदसम्भवादिति भावः॥७५॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि श्रीभगवान् अपनी मायाके द्वारा वञ्चना करनेके लिए ऐसा लौकिक सद्बन्धु जैसा व्यवहार प्रकट करते हैं—इसके खण्डनमें 'प्रेम' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। प्रेम जब वर्द्धित होकर अपनी परिपक्व अवस्थाको प्राप्त करता है, तब उसकी महिमाका कौन वर्णन कर सकता है? अपितु कोई भी वर्णन करनेमें समर्थ नहीं है। इसका कारण यह है कि उस परिपक्व अवस्थाकी महिमा उन परमेश्वरको भी लौकिक सद्बन्धु अर्थात् परमबान्धवकी भाँति लोक-व्यवहारके अधीन कर देती है। अतएव भगवान् और उनके भक्तोंमें परस्पर प्रेम-उत्कण्ठाके परिपक्व होते ही भगवान् अपने ऐश्वर्यादिका परित्यागकर केवल भक्तोंके अभीष्टको परिपूर्ण करनेके लिए लौकिक बन्धुके समान व्यवहार करते हैं। वे भक्तोंकी वञ्चना करनेके लिए ऐसा व्यवहार नहीं करते हैं, क्योंकि ऐसे भक्तोंके प्रति अपनी चातुरी प्रकाश करना भगवान्के लिए सम्भव ही नहीं है॥७५॥

अहो लौकिकसद्बन्धुभावञ्च स्तौमि येन हि।
गौरवादेर्विलोपेन कृष्णे सत्प्रेम तन्यते॥७६॥

श्लोकानुवाद—अहो! मैं उस लौकिक सद्बन्धु भावकी स्तुति करता हूँ जो श्रीकृष्णके प्रति ईश्वरत्वके गौरवको सम्पूर्ण रूपसे लुप्तकर उनमें श्रेष्ठ प्रेमका विस्तार करता है॥७६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु परमैश्वर्यविशेषप्रकटनादेव तदीयमाहात्म्यविशेषज्ञानेन प्रेमोद्रेको जायते, न च पुत्रादिदृष्ट्या लौकिकबन्धुभावेन। विशेषतः परमेश्वरे तथा दृष्टिस्तु दोष एव; यथोक्तं श्रीवसुदेवेन भगवत्स्तुतौ दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा. १०/८५/१९)—*"तत्ते गतोऽस्म्यरणमद्य पदारविन्दमापन्नसंसृतिभयापहमार्त्तबन्धो। एतावतालमलमिन्द्रियलालसेन मर्त्यात्मदृक् त्वयि परे यदपत्यबुद्धिः॥"* इति। अस्यार्थः—तत् तस्मात्, अरणं शरणम्। ननु त्वमतिसुखी वृथा किं निर्विद्यसे? तत्राह—एतावतेति। इन्द्रियलालसेन इन्द्रियार्थतृष्णया। यद् येन इन्द्रियलालसेन, मर्त्ये शरीरे आत्मदृक् आत्मबुद्धिरहं, त्वयि च परे परमेश्वरे अपत्यबुद्धिरस्मि, तेन अलमलं पर्याप्तमिति। तथा विष्णुपुराणेऽपि—*"सापह्नवं मम मनो यदेतत्त्वयि जायते। देवक्याश्चात्मजप्रीत्या*

तदत्यन्तविड़म्बनम्॥" इति। अस्यार्थः—यदेतत् मम देवक्याश्च मनः त्वयि आत्मज इति प्रीत्या सापह्नवं भ्रान्तियुक्तं जायते तदुपहास्यतैवेति। तत्राह—लौकिके लोकानुसारिणि सद्बन्धौ परमबान्धवे इव भावं कृष्णे चित्तवृत्तिं व्यवहारं वा; येन भावेन श्रीकृष्णे सत् उत्कृष्टं प्रेम तन्यते विस्तार्यते। कथम्? गौरवादेर्विलोपेन निरसनेन। आदिशब्दाद् भयाविश्वासादि। गौरवादेः प्रेमहानिकरत्वात्। एतच्च प्रागुद्दिष्टमस्ति, अग्रेऽपि व्यक्तं भावि। अतः परमापेक्षितस्य भगवति प्रेमातिशयस्य यथा वृद्धिः स्यात्तथाचरणमेवोचितं गुणश्चेति भावः। श्रीवसुदेवस्तु श्रीनन्द-यशोदयोरिव सभार्यस्यात्मनो भगवति प्रीतिविशेषमनालोचयन् केवलं तस्मिन् पुत्रबुद्धिमात्रं कदाचिदेवालोकयन्ननुतापेनैव तथावदिति दिक्। तदपि तस्य विनयातिशयेन भक्तिभर-स्वभावजमनोऽतृप्त्या वेति मन्तव्यम्। सर्वथा भगवदनुग्रहभरेण परिपूर्णत्वादिति तत्त्वम्॥७६॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि परम ऐश्वर्यके प्रकटन द्वारा श्रीभगवान्के माहात्म्यकी विशेषताका ज्ञान होनेसे ही प्रेममयी-उत्कण्ठा उत्पन्न होती है, लौकिक बन्धुभावमें उनके प्रति पुत्रादिकी बुद्धिसे नहीं। विशेषतः परमेश्वरके प्रति वैसी पुत्रबुद्धि करनेसे दोष ही उत्पन्न होता है, क्योंकि श्रीमद्भागवत (१०/८५/१९) में भगवान्की स्तुति करते हुए श्रीवसुदेवने कहा है—"हे आर्त्तबन्धो! आज मैंने संकटग्रस्त-जनोंके संसार-भयको दूर करनेवाले श्रीचरणकमलोंमें शरण ग्रहण की है। अभी तक मैंने इन्द्रियभोगकी लालसा द्वारा इस मरणशील शरीरमें जो आत्मबुद्धि की है और आपके परमेश्वर होनेपर भी आपके प्रति जो पुत्रबुद्धि की है, वह अकिञ्चित्कर अर्थात् निरर्थक है।" इसका अर्थ है—अतएव हे आर्त्तबन्धो! मैंने आपकी शरण ग्रहण की है। यदि कहो कि आप तो अत्यधिक सुखी हैं, किसलिए वृथा दुःखित हो रहे हो? इसके लिए कहते हैं—इतने समय तक मैंने इन्द्रिय-लालसाके कारण अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा भोग्य विषयोंकी तृष्णाके कारण इस मरणशील शरीरमें जो वृथा ही आत्मबुद्धि की है तथा आप परमेश्वरके प्रति जो पुत्रबुद्धि की है, वह यहीं समाप्त हो। तथा श्रीविष्णुपुराणमें भी श्रीवसुदेवने श्रीभगवान्से कहा है—"हे भगवन्! जब मैं और देवकी आपके प्रति पुत्रबुद्धिसे प्रीति करते हैं, तब हमारा मन भ्रमित हो जाता है। आपका हमारे पुत्ररूपमें होना केवल विड़म्बनामात्र है अर्थात् उपहासके योग्य ही है।"

उक्त आपत्तिके समाधानमें कह रहे हैं—श्रीकृष्णमें लौकिक परम बान्धवकी भाँति जो भाव अर्पित होता है, अर्थात् उनके प्रति जो चित्तवृत्ति या व्यवहार होता है, मैं उसी भावकी ही स्तुति करता हूँ। इसका कारण है कि उस भावके द्वारा गौरव, भय और अविश्वासादि पूर्णतः लुप्त हो जाते हैं तथा श्रीकृष्णके प्रति श्रेष्ठ-प्रेम अपना विस्तार करता है। गौरवादि प्रेमके हानिकारक हैं—इसे पहले भी कहा जा चुका है तथा आगे भी कहा जायेगा। अतएव श्रीभगवान्‌के प्रति जो परम प्रार्थनीय अत्यधिक प्रेम है, वह जिस प्रकारसे भी वर्द्धित हो, उसी प्रकार आचरण करना ही कर्त्तव्य है। तथा श्रीवसुदेव द्वारा उक्त श्लोकका तात्पर्य यह है कि उन्होंने श्रीनन्द-यशोदाकी भाँति अपनी पत्नी सहित श्रीभगवान्‌के प्रति प्रीतिको लक्ष्य न कर केवल पुत्रबुद्धिसे कदाचित् मनकी अतृप्तिवशतः वैसा कहा है। अतएव उनमें अत्यधिक भक्तिकी परिपूर्णताके स्वभावसे उत्पन्न प्रचुर दैन्य-विनय ही प्रकट हुआ है, क्योंकि वे सब प्रकारसे श्रीभगवान्‌के अत्यधिक अनुग्रहसे परिपूर्ण हैं॥७६॥

श्रीगोपकुमार उवाच—

एवं वदन् प्रेम-भराभियन्त्रितो,
विकार-जातं विविधं भजन्मुनिः।
तूष्णीमभूदार्त्तमथाह मां पुनः,
सापेक्षमालक्ष्य निजोपदेशने॥७७॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमारने कहा—हे ब्रह्मण्! इस प्रकारसे प्रेम-रहस्यका वर्णन करते-करते श्रीनारद प्रेमातुर होकर विविध सात्त्विक विकारोंसे युक्त हो गये। अतः वे थोड़ी देरके लिए तो मौन हो गये, किन्तु मुझे दुःखित और उपदेश सुननेमें उत्सुक देखकर पुनः कहने लगे॥७७॥

दिग्दर्शिनी टीका—प्रेमभरेण अभितो यन्त्रितः वशीकृतः सन् विकारजातं कम्प-स्वेद-पुलकाश्रुपातादि भजन् सेवमानः, अत्यन्तं तदधीनः सन्नित्यर्थः। अथ क्षणानन्तरं मामार्त्तमालक्ष्य पुनराह—निजं नारदकर्त्तृकं यदुपदेशनं उपदेशस्तस्मिन् सापेक्षम् अपेक्षावन्तम्॥७७॥

भावानुवाद—श्रीनारद अत्यधिक प्रेमके वशीभूत होकर सात्त्विक विकारसे उत्पन्न कम्प, स्वेद, पुलक और अश्रुपातादिसे सेवित होने लगे अर्थात् उनके अधीन हो गये। तत्पश्चात् थोड़ी देरके लिए मौन हो गये, किन्तु मुझे दुःखित देखकर और उनके उपदेश श्रवण करनेमें उत्सुक देखकर पुनः कहने लगे॥७७॥

श्रीनारद उवाच—
गोपालदेव-प्रिय गोपनन्दन श्रीमानितो दूरतरो विराजते।
गोलोकनामोपरि सर्वसीमगो, वैकुण्ठतो देशविशेष-शेखरः ॥७८॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारदने कहा—हे गोपालदेवके प्रिय! हे गोपनन्दन! इस द्वारकापुरीसे भी बहुत दूर श्रीगोलोक नामका कोई एक धाम सब लोकोंके ऊपर विराजित है। वह गोलोक, वैकुण्ठका विशेष देश अर्थात् अयोध्यादि समस्त धामोंका चूड़ामणिस्वरूप होनेके कारण सबकी अन्तिम सीमा है॥७८॥

दिग्दर्शिनी टीका—गोपालदेव एव प्रियो यस्य तस्य सम्बोधनम्। यद्वा, हे गोपालदेवस्य प्रिय! यतो हे गोपनन्दन! श्रीगोवर्धनाद्रिगोपकुमार! इतो द्वारकातो दूरतरः, श्रीमान् सर्वशोभासम्पत्त्यतिशययुक्तः। गोलोकनामा वैकुण्ठतः वैकुण्ठलोके वर्त्तमानानां देशविशेषाणामयोध्यादीनां शेखरश्चूड़ामणिर्विराजते; वैकुण्ठत इत्यस्य उपरीत्यनेन वा सम्बन्धः। कुतः? उपरि वर्त्तमानायाः सीम्नः सीमगः परमान्त्यं प्राप्तः, सर्वोत्कृष्टतरत्वेन परमोर्ध्वतान्त्यकाष्ठाविशेषनिष्ठाप्राप्तेरन्यस्य कस्यचिदपि तदुपरितनस्य प्रदेशस्याभावात्। तथा च ब्रह्मसंहितायां तत्रैव—*"गोलोकनाम्नि निजधाम्नि तले च तस्य, देवी-महेश-हरिधामसु तेषु तेषु। ते ते प्रभावनिचया विहिताश्च येन, गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥"* इति। अस्यार्थः—तस्य गोलोकस्य तलेऽधः, देवी दुर्गा प्रकृतिर्वा अष्टमावरणाधिष्ठात्री, हरिसद्म श्रीवैकुण्ठलोक इति॥७८॥

भावानुवाद—'हे गोपालदेवप्रिय' अर्थात् गोपालदेव ही जिनके प्रिय हैं अथवा जो गोपालदेवके प्रिय हैं, उनके लिए यह सम्बोधन है। अतएव 'हे गोपनन्दन' अर्थात् श्रीगोवर्धन-पर्वतवासी गोपके पुत्र! इस द्वारकापुरीसे बहुत दूर स्थित समस्त प्रकारकी अत्यधिक शोभा और सम्पत्तिसे युक्त गोलोक नामक धाम विराजमान है। वह गोलोक वैकुण्ठलोकमें वर्त्तमान विशेष-देश अर्थात् अयोध्या आदि समस्त धामोंका चूड़ामणिस्वरूप होकर वैकुण्ठमें सबसे ऊपर स्थित है। वह

धाम केवल चरम सीमा प्राप्त विशेष-निष्ठा द्वारा ही प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं। सर्वश्रेष्ठ होनेके कारण वह समस्त धामोंकी चरम सीमा है अर्थात् उसके ऊपर कोई भी प्रदेश विराजित नहीं है। श्रीब्रह्मसंहिता (५/४३) में भी ऐसा ही वर्णन है—"जिनका गोलोक नामक अपना धाम है तथा उसके सबसे नीचे देवीधाम है। देवीका अर्थ है दुर्गा या प्रकृति जो अष्टावरणोंकी अधिष्ठात्री हैं। उस देवीधामके ऊपर क्रमशः महेशधाम तथा हरिधाम अर्थात् वैकुण्ठ शोभायमान हैं। उन समस्त धामों तथा अपने धामका प्रभावसमूह जिनके द्वारा निश्चित हुआ है, उन्हीं आदिपुरुष गोविन्दका मैं भजन करता हूँ।" अतएव श्रीगोलोक धाम सबसे ऊपर विराजमान है॥७८॥

स माथुरश्रीव्रजभूमिरूपस्तत्रैव देवी मथुरापूरी च।
वृन्दावनादिव्रजभूमिमात्मसारं विना स्थातुमपारयन्ती॥७९॥

श्लोकानुवाद—वह गोलोक ही माथुर-व्रजभूमिस्वरूप है तथा वहीं देवी मथुरापुरी विराजित हैं। वह मथुरापुरी आत्म-सारस्वरूप श्रीवृन्दावनादि व्रजभूमिके बिना रह नहीं सकती हैं॥७९॥

दिग्दर्शिनी टीका—स श्रीगोलोक एव माथुरीया श्रीयुक्ता व्रजभूमिस्तद्रूपः; अतएवायोध्यादिवच्छ्रीमथुरा तद्व्यतिरिक्ता तत्रान्या नास्तीति सूचितम्। ननु श्रीमथुराया व्रजभूमिस्तत्रास्त्येव, तत्रत्या पुरी तु कुत्रत्या इत्यपेक्षायामाह—देवी द्योतमाना मधुरा मनोहरा तत्संज्ञका वा पुरी च, तत्र श्रीगोलोक एव वर्त्तते। कुतः? वृन्दावनादिं व्रजभूमिं विना स्थातुमपारयन्ती न शक्नुवती। तत् कुतः? आत्मनः मथुरायाः सारं मर्मतरांशम्॥७९॥

भावानुवाद—वह श्रीगोलोक ही मथुरामण्डलके अन्तर्गत श्रीयुक्त व्रजभूमिस्वरूप है। जिस प्रकार अयोध्यादि धाम वैकुण्ठमें स्थित होनेके कारण उससे भिन्न नहीं हैं, उसी प्रकार श्रीमथुरामण्डल भी गोलोकसे भिन्न अन्य नहीं है—यही सूचित हो रहा है। यदि आपत्ति हो कि श्रीमथुराके अन्तर्गत व्रजभूमि है, किन्तु गोलोकमें ऐसी पुरी कहाँ है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि देवी अर्थात् प्रकाशमान मधुर अथवा मनोहर मथुरा नामक पुरी गोलोकमें ही विराजित है। इसका कारण है कि गोलोक कभी भी व्रजभूमिके बिना नहीं रह सकता है तथा

मथुरापुरी वृन्दावनादि व्रजभूमिके बिना नहीं रह सकती है, क्योंकि वृन्दावनादि व्रजभूमि उस मथुरापुरीका सारस्वरूप अर्थात् मर्मस्थान है॥७९॥

सा गोप्रधान–देशत्वात् सर्वा श्रीमथुरोच्यते।
गोलोक इति गूढ़ोऽपि विख्यातः स हि सर्वतः॥८०॥

श्लोकानुवाद—वह मथुरा गो–प्रधान लोक है, इसलिए उसे गोलोक कहते हैं। यद्यपि वह श्रीकृष्णकी रहस्यमयी लीलास्थली होनेके कारण अतिगूढ़ है, तथापि वह सर्वत्र गोलोकके नामसे विख्यात है॥८०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तर्हि अयोध्यादिवत् स देशः श्रीमथुरेत्येवाभिधातुं युज्यते, तत् कथं गोलोक इत्युच्यते? तत्राह—सेति, सा सर्वापि नगर–ग्राम–वनादिसहिता श्रीमथुरा गो–प्रधानदेशत्वाद्गो–लोक इत्युच्यते। किञ्च, ऊर्ध्वलोके तस्या गोलोक इति प्रसिद्धेश्चेत्याह—स गोलोकः गूढ़ोऽपि भगवतो रहस्यक्रीड़ाद्यास्पदत्वाद्रहस्योपि सर्वत्र विख्यातः स्वनाम्नैव प्रसिद्धः। यद्वा, विख्यात्यभावेन प्राप्तायाः परममाहात्म्य–विशेषाभावशङ्काया निरासार्थमाह—स हि गूढ़ोऽपि सर्वतो विख्यात इति। हरिवंशे इन्द्रस्तुत्यादौ श्रूयमाणत्वाच्च॥८०॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि अयोध्या आदिकी भाँति श्रीमथुरा भी विशेष प्रदेश होनेके कारण वह श्रीमथुरा नामसे कथित होनेके योग्य है, तथापि किसलिए गोलोक नामसे जाना जाता है? इसके उत्तरमें 'सा' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। नगर–ग्राम–वनादि सहित सर्वत्र ही गो–प्रधान देश होनेके कारण श्रीमथुरा गोलोक नामसे कथित होता है। तदुपरान्त कह रहे हैं कि ऊर्ध्व लोक अर्थात् सर्वश्रेष्ठ लोक होनेके कारण वह गोलोकके नामसे प्रसिद्ध है। वह गोलोक श्रीभगवान्‌की रहस्यमयी क्रीड़ाओंका आधार होनेके कारण गूढ़ होनेपर भी सर्वत्र विख्यात है, अर्थात् अपने गोलोक नामसे ही प्रसिद्ध है। अथवा यदि आपत्ति हो कि क्या विख्यात न होनेके कारण गूढ़ है। अतएव उस लोकके परम माहात्म्यके अभावकी आशङ्काका खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि वह स्थान गूढ़ होनेपर भी सर्वत्र विख्यात है। जैसे हरिवंशमें इन्द्रस्तुति आदिमें इस श्रीगोलोकका माहात्म्य सुना जाता है॥८०॥

स च तद्व्रजलोकानां श्रीमत्प्रेमानुवर्त्तिना।
कृष्णे शुद्धतरेणैव भावेनैकेन लभ्यते॥८१॥

श्लोकानुवाद—जो उन सुप्रसिद्ध व्रजवासियोंके श्रीमत् प्रेमके अनुसरणकारी होकर श्रीकृष्णका अति शुद्ध भावसे भजन करते हैं, केवल वे ही उस गोलोकको प्राप्त कर सकते हैं॥८१॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं तत्प्राप्त्युपायमाह—स चेति। स च गोलोकः शुद्धतरेण केनचिदपि दोषास्पृष्टेनेत्यर्थः। ज्ञानादिगन्धरहितेनेति वा। एकेन कृष्णे श्रीनन्दनन्दने विषये भावेन प्रेम्णैव लभ्यते। कीदृशेन? तेषां सुप्रसिद्धानां व्रजलोकानां श्रीनन्द-यशोदादीनां प्रायस्तादृशप्रेम्णि प्राधान्यात्। श्रीराधादीनां वा यः श्रीमान् प्रेमा तदनुवर्त्तिना तत्सदृशेनेत्यर्थः॥८१॥

भावानुवाद—अब 'स' इत्यादि श्लोक द्वारा उस गोलोककी प्राप्तिका उपाय बतला रहे हैं। उस गोलोकको प्राप्त करनेके लिए एकमात्र व्रजवासियोंके अत्यधिक शुद्ध भावका अनुगमन करना होगा, क्योंकि उनके भावोंमें किसी प्रकारके दोषका स्पर्श नहीं है, अर्थात् वह भाव ज्ञानादिकी गन्धसे रहित अत्यधिक शुद्ध हैं। वह लोक केवल श्रीनन्दनन्दन-विषयक भाव अर्थात् प्रेमके द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। किस प्रकारसे? उन सुप्रसिद्ध व्रजवासियों अर्थात् श्रीनन्द-यशोदादि अथवा श्रीराधिकादिका श्रीनन्दनन्दन विषयक जो श्रीयुक्त प्रेम है, उसी प्रेमका अनुगमनकर भजन करनेसे ही श्रीगोलोक प्राप्त किया जा सकता है॥८१॥

तादृग्भगवति प्रेमा पारमैश्वर्यदृष्टितः।
सदा सम्पद्यते नैव भयगौरवसम्भवात्॥८२॥

श्लोकानुवाद—जिस भक्तिमें श्रीकृष्णके प्रति सर्वदा परमेश्वरकी दृष्टि (भावना) रहती है, उसके द्वारा कभी भी वैसा प्रेम प्राप्त नहीं किया जा सकता है, क्योंकि परमेश्वरके ऐश्वर्यका अनुभव होनेपर भय और गौरवादिका सञ्चार होता है॥८२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु स तादृक् कथं सिध्येदित्यत्राह—तादृगिति द्वाभ्याम्। भगवति श्रीकृष्णे तादृक् तत्सदृशः प्रेमा च पारमैश्वर्यस्य दृष्टितः अनुभवेन ज्ञानेन

वा सदा नैव सम्पद्यते। सदेत्यस्य द्वितीयपादेन सम्बन्धः, चतुर्थपादेन वा। कुतः? भयगौरव-सम्भवात् परमेश्वरतादृष्ट्या भगवति शङ्का गुरुभावश्च घटेतैव। ततश्च सम्यक् प्रेमविशेषसिद्धिर्न स्यादित्यर्थः॥८२॥

भावानुवाद—यदि कहो कि वैसा प्रेम किस प्रकार प्राप्त होता है? इसके उत्तरमें 'तादृग्' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। भगवान् श्रीकृष्णके प्रति परमेश्वर दृष्टि (भावना) करनेसे अथवा उनका परम ऐश्वर्य अनुभव करनेसे वैसा प्रेम कदापि प्राप्त नहीं हो सकता है। किसलिए? श्रीकृष्णको परमेश्वरके रूपमें देखनेसे भय और गौरवका सञ्चार होनेके कारण शङ्का और सम्भ्रम उदित होता है, जिसके फलस्वरूप वैसा प्रेम सम्यक् रूपमें सिद्ध नहीं होता है॥८२॥

केवलं लौकिकप्राणसुहृद्बुद्ध्या स सिध्यति।
लोकालोकोत्तरो योऽसावतिलोकोत्तरोऽपि यः॥८३॥

श्लोकानुवाद—वह प्रेम श्रीनन्दनन्दनके प्रति केवल लौकिक प्राणबन्धु भाव रखनेसे ही सिद्ध होता है। परन्तु वह प्रेम लौकिक व्यवहारके समान होनेपर भी न तो पृथ्वीपर, न अष्ट आवरणोंमें और न ही श्रीवैकुण्ठादि लोकोंमें वर्त्तमान है॥८३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तर्हि कथं सम्पद्येत? तत्राह—केवलमिति। लौकिको लोकव्यवहारानुसारी यः प्राणसुहृत् जीवनबन्धुः, तस्मिन्निव बुद्ध्या ज्ञानेन। यद्वा, स एवायमिति भगवति निश्चयेन स प्रेमा सिध्यति। ननु तर्हि लौकिकप्रियबन्धुबुद्ध्या जायमानं प्रेमापि प्रायिकलोकोचितो लौकिक-प्रेमानुसार्येव सम्पद्येत, न तु लोकातीतो भगवद्योग्य इति चेन्नेत्याह—लोकेति। लोकाश्चतुर्दशभुवनानि, अलोका लोकबाह्या आवरणादयः, तेभ्य उत्तरः तत्रत्येषु वर्त्तमानात्, प्रेम्णः सकाशात् श्रेष्ठ इत्यर्थः। यद्वा, तेभ्यो भिन्नः, तत्रत्येषु यो न विद्यत इत्यर्थः। किञ्च, अतिलोकः लोकत्वेऽप्यतिक्रान्ताः लोकाः प्रापञ्चिकास्तदतीताश्च सर्वेऽपि प्रदेशास्तत्रत्या जना वा येन सोऽतिलोको वैकुण्ठतोऽप्युत्तरो यः प्रेमा तादृक्प्रकारेण भगवति क्रियमाणः सन् विषयमहिम्ना तत्प्रकार-माधुरीमहिम्ना च स्वत एवाशेषलोकातीततां प्राप्नोतीति भावः॥८३॥

भावानुवाद—तब वह प्रेम किस प्रकारसे प्राप्त होता है? इसके उत्तरमें 'केवलं' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। केवल लोक व्यवहारके अनुसार श्रीनन्दनन्दनको प्राणसुहृत् अर्थात् जीवनबन्धुके रूपमें माननेसे

ही वह प्रेम प्राप्त होता है। अथवा वे प्राणबन्धु ये नन्दनन्दन ही हैं, ऐसे दृढ़ भावसे वह प्रेम सिद्ध होता है। यदि आपत्ति हो कि ऐसा होनेपर लौकिक प्रियबन्धुकी बुद्धि द्वारा जो प्रेम उत्पन्न होता है, वह प्रेम भी लौकिक-प्रेमके रूपमें ही परिणत होगा, अतः वह लोकातीत रूपमें भगवान्‌के योग्य कैसे होगा? इसके समाधानके लिए 'लोक' इत्यादि पद कह रहे हैं। वह प्रेम पृथ्वी आदि चौदह भुवनस्वरूप समस्त लोकोंमें और लोकसे अतीत अष्ट आवरणस्वरूप अलोकमें वर्त्तमान प्रेमसे भी श्रेष्ठ प्रेम है। अथवा इस प्रेमकी जाति भिन्न है, अर्थात् उन-उन स्थानोंमें वैसा प्रेम विद्यमान नहीं है। तदुपरान्त कहते हैं, यहाँ तक कि प्रपञ्चरूप लोक और उसके परे अष्ट आवरणरूप अलोकको अतिक्रमकर जो वैकुण्ठ है, उस वैकुण्ठमें भी वह प्रेम वर्त्तमान नहीं है। इसका कारण है कि वह श्रेष्ठ प्रेम व्रजवासियोंके भावानुसार विषय वस्तु श्रीभगवान्‌के प्रकाश महिमा तथा उनकी माधुरीकी महिमासे सम्पन्न होनेके कारण स्वतः ही समस्त लोकोंको अतिक्रम करके वर्त्तमान है॥८३॥

लोकानुगापि सान्योन्यं प्रियतातीतलौकिका।
मधुरात्यद्भुतैश्वर्यलौकिकत्वविमिश्रिता ॥८४॥

श्लोकानुवाद—वह प्रेम अर्थात् श्रीकृष्ण और व्रजवासियोंके बीच जो परस्पर प्रियता है, वह लौकिक प्रेम जैसी प्रतीत होनेपर भी लोक स्वभावको अतिक्रम करके रहती है। अतः वह प्रेम अलौकिक तथा अति अद्भुत परम मधुर ऐश्वर्यसे युक्त होनेपर भी लौकिक भावसे विशेष रूपमें मिश्रित है॥८४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र हेतुमाह—लोकेति। सा अन्योन्यं प्रियता, तल्लोकनाथस्य तत्रत्यानाञ्च लोकानां मिथः सौहृदं लोकानुगा लोकानुसारिण्यपि अतीतम् अतिक्रान्तं लौकिकं लोकस्वाभाविकं यया सा, लोके तादृशबन्धुत्वावृत्तेः। तथा हि यथा मातुः श्रीयशोदायाः स्मरणमात्रेणैवाकालेऽपि स्तन्यधारास्रावादिकम्, यथा च पितुः श्रीनन्दस्याश्रुधारा-भिषेचनादिकम्, यथा च गोपवर्गाणां कलत्रादिकमपि सर्वं तत्सुखार्थमेव, नान्यन्निजसुखापेक्षणं किञ्चित्। यथा जरतीनां कासाञ्चिदपि श्रीयशोदाभावापत्तिः, कासामपि च तत्प्रियार्थं निजवधुकन्यकादीनामपि वेशादिपरता, यथा च वयस्यानां गोपकुमाराणां सततत्तदीय-

सन्दर्शनैकावलम्बनानां, कदाचित्तदीयगुल्माद्यन्तरिततासहनेऽप्यसामर्थ्यादिकम्, यथा च भगवतीनां श्रीगोपिकानां तदन्यकिञ्चिदप्यनपेक्षमाणानां विच्छेदेऽभिसरणे संयोगेऽपि निरन्तरं विविधदशाभाक्त्वमिति दिक्। अतएव मधुरा अत्यद्भुता च। यतः ऐश्वर्येण लौकिकत्वेन च विशेषतो मिश्रिता, यद्वा, मधुरात्यद्भुताभ्याम् ऐश्वर्यलौकिकत्वाभ्यां विमिश्रिता। तत्र भक्तजनानां तत्रत्यानामैश्वर्यं नाम भगवतस्तत्तल्लीलायाः सर्वथानुसरणे परमवैदग्ध्यादिप्रकाशनं, लौकिकत्वञ्च सहजभोजन-पानादिप्रीतिव्यवहारजातं स्पष्टमेव। तथा भगवतश्च पूतनास्तन्यपानादिरूपायां बाल्यलीलायामपि, तयैव महाराक्षस्या अपि तस्या अलक्षितं, प्राणशोषणसामर्थ्यादिना तथैवोह्यम्। एतच्चाशेषमग्रे व्यक्तं भावि। अतएव श्रीशुकेनाप्युक्तम् (श्रीमद्भा. १०/१५/१९)—*"एवं निगूढ़ात्मगतिः स्वमायया, गोपात्मजत्वं चरितैर्विड़म्बयन्। रेमे रमालालितपादपल्लवो, ग्राम्यैः समं ग्राम्यवदीशचेष्टितः॥"* इति। अस्यार्थः—गोपात्मजत्वं निजगोपकुमारलीलामित्यर्थः। चरितैः स्वचेष्टितैःविड़म्बयन्, हेतौ शतृङ्, विड़म्बयितुं ड़लयोरेकत्वात् विलम्बयितुमाश्रयितुम्, मायया निजशक्तिविशेषेण निगूढ़ा सम्वृता बहिर्न प्रकटितेत्यर्थः; आत्मगतिर्निजैश्वर्यं येन तथाभूतः सन् रेमे चिक्रीड़। ऐश्वर्याप्रकाशनेन गोपात्मजसदृशलीलया लौकिकत्वम्, ऐश्वर्यञ्च तस्यां तस्यामेव लीलायामन्तर्मधुरिमविशेषपरमकाष्ठाप्रदर्शनादूह्यम्। अतएव कैश्चिद्ग्राम्यैः समं यथा कश्चिद् ग्राम्यो रमते, तथैव महालक्ष्मी-लालितपादपल्लवोऽपि रेमे। एवं ग्राम्यदृष्टान्तेन लौकिकत्वं, रमालालितपादपल्लवत्वेन च स्वभावादैश्वर्यमपि सिद्धम्। तथा ईशचेष्टित एव ग्राम्यवद्रेमे इत्यप्यूह्यम्, ग्राम्यवत् क्रीड़ामपि पूर्वोक्तप्रकारेण ऐश्वर्यस्याप्यन्तर्वृत्तेरिति दिक्॥८४॥

भावानुवाद—वह प्रेम लौकिक व्यवहारके समान प्रतीत होनेपर भी लोक-अलोक यहाँ तक कि वैकुण्ठको भी अतिक्रम करके विराजमान रहता है। इसका कारण बतलानेके लिए 'लोक' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। वह आपसकी प्रियता अर्थात् श्रीगोलोकनाथ और गोलोकवासियोंमें परस्पर जो प्रियता है, वह लोक व्यवहारके अनुसार होनेपर भी लोक स्वभावको अतिक्रम कर रहती है, क्योंकि लौकिक जगत्में वैसा बन्धुत्व सम्भव नहीं हो सकता है। व्रजवासियोंके लौकिक बन्धुत्व भावके असाधारण लक्षणोंको बतलाते हुए कह रहे हैं कि पुत्रका स्मरणमात्र होनेसे असमयमें ही श्रीयशोदा माताके स्तनसे दूधकी धारा बहने लगती है तथा पिता नन्दबाबाके भी दोनों नेत्रोंसे इतना अश्रुवर्षण होने लगता है कि उसके द्वारा उनके समस्त अङ्ग भीग जाते हैं। गोपोंकी पत्नियाँ आदि सभी कुछ श्रीकृष्णके सुखके लिए ही व्यवहृत होती है, उनके अपने-अपने सुखके लिए नहीं। यहाँ तक

कि कोई-कोई वृद्धा गोपी श्रीकृष्णप्रेममें विभोर होकर श्रीयशोदाके भावको अङ्गीकार करती हैं तथा कोई-कोई वृद्धा गोपी श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिए अपनी-अपनी वधू और कन्याकी वेश-रचना कर देती है। एक समान आयुवाले गोपकुमारोंका चित्त सदैव ही श्रीकृष्णके प्रति इस प्रकारसे अनुरक्त रहता है कि कभी गुल्मादि द्वारा श्रीकृष्णके दर्शनमें उपस्थित व्यवधानको भी वे सहन नहीं कर सकते हैं। श्रीकृष्णप्रेयसी भगवती गोपिकाओंके विषयमें तो कहना ही क्या? वे श्रीकृष्णके अलावा अन्य किसी भी वस्तुकी आकांक्षा नहीं करती हैं। वे विच्छेदकालमें, अभिसारके समय तथा संयोगमें भी निरन्तर विविध दशाओंको प्राप्तकर श्रीकृष्णका भजन करती हैं। अतएव उनकी मधुरा रति अति अद्भुत है, क्योंकि उस रतिमें परस्पर प्रियताके कारण, ऐश्वर्य और लौकिकत्व—यह दोनों धर्म विशेष रूपमें मिश्रित हैं। अथवा मधुर-अद्भुत प्रत्येक लीलामें ही निगूढ़ रूपमें ऐश्वर्य मिश्रित होनेके कारण वह ऐश्वर्य लौकिकतासे आवृत रहता है। वहाँ स्थित भक्तोंके लिए सर्वदा लीलाके अनुकूल आचरणमें परम वैदग्ध्यादिका प्रकाशन ही श्रीकृष्णका ऐश्वर्य है, तथा परस्पर सहज भोजन और पानादि प्रीति युक्त व्यवहारमें ही लौकिकता सुस्पष्ट है। इसका दृष्टान्त है—जिस प्रकार श्रीभगवान्‌ने पूतनाके स्तनपानादि द्वारा बाल्यलीलाका आचरण करते हुए ही अलक्षित भावसे महाराक्षसीके प्राण-शोषण करनेका सामर्थ्य प्रकट किया था। ये समस्त लीलाएँ आगे व्यक्त होंगी।

अतएव श्रीशुकदेवने श्रीमद्भागवत (१०/१५/१९) में कहा है—"भगवान्‌ने इस प्रकार अपनी योगमायासे अपने ऐश्वर्यमय स्वरूपको छिपा रखा था। वे ऐसी लीलाएँ करते, जो ठीक गोपबालोंकी-सी ही मालूम पड़तीं। स्वयं भगवती लक्ष्मी जिनके चरणकमलोंकी सेवामें संलग्न रहती हैं, वही भगवान् इन ग्रामीण बालकोंके साथ बड़े प्रेमसे ग्रामिणोंकी भाँति क्रीड़ा करते थे। परीक्षित्! ऐसा होनेपर भी कभी-कभी उनकी ऐश्वर्यमयी लीलाएँ भी प्रकट हो जाया करतीं।" तात्पर्य यह है कि 'गोपात्मजत्वं' अर्थात् श्रीभगवान्‌ने अपनी गोपकुमार लीलाके अनुरूप चरित्र या चेष्टाके लिए अपनी माया अर्थात् अपनी

विशेष शक्ति द्वारा (श्रीनन्द–यशोदाके महावात्सल्य भावके अधीन होकर) अपने ऐश्वर्यको गोपनकर उस गोपबालक रूपमें विविध क्रीड़ाएँ की। ऐश्वर्यको गोपनकर गोपपुत्रके समान लीला द्वारा लौकिकता तथा उस लौकिक लीलाके बीचमें चरम सीमा प्राप्त मधुरलीलाका प्रदर्शन ही ऐश्वर्य है। अतएव जिस प्रकार वे ग्रामवासी गोपबालककी भाँति क्रीड़ा करते हैं, उसी प्रकार महालक्ष्मी द्वारा उनके चरणकमलोंके लालन रूपमें भी क्रीड़ा प्रदर्शित करते हैं। ऐसे ग्रामवासी गोपबालकके समान लीलासे ही लौकिकता तथा महालक्ष्मीके द्वारा उनके श्रीचरणकमलोंका लालन (सम्वाहन) होनेके कारण स्वभावतः उनका ऐश्वर्य भी सिद्ध होता है। 'ईशचेष्टित' अर्थात् ग्रामवासियोंकी भाँति क्रीड़ा ही भगवान्‌की चेष्टा है। इस ग्रामवासीकी भाँति क्रीड़ामें भी पूर्वोक्त प्रकारसे भगवान्‌का ऐश्वर्य निहित रहता है॥८४॥

व्यवहारोऽस्य तेषाञ्च सोऽन्योन्यं प्रेमवर्धनः।
वैकुण्ठे परमैश्वर्यपदे न किल सम्भवेत्॥८५॥

श्लोकानुवाद—इसलिए उन व्रजवासियों और व्रजेन्द्रनन्दनका परस्पर व्यवहार एक दूसरेके प्रेमको बढ़ाता है। किन्तु यह वैकुण्ठ परम ऐश्वर्यके प्रकाशका स्थान है, अतः यहाँपर वैसा लौकिक भाव सम्भव नहीं है॥८५॥

दिग्दर्शिनी टीका—इतो दूरतर इति यदुक्तं, तत्र हेतुमाह—व्यवहार इति द्वाभ्याम्। स लौकिकबन्धुसदृशो व्यवहारः, अन्योन्यं भगवतो भक्तानाञ्च परस्परं प्रेम वर्धयतीति तथा सः। वैकुण्ठे न सम्भवेत्, न युक्तः स्यात्, न सिध्यतीति वा। किल वितर्के निश्चये वा। कुतः? परमस्य ऐश्वर्यस्य पदे तत्प्राकट्यातिशय-विषये॥८५॥

भावानुवाद—"वह गोलोक इस द्वारकासे बहुत दूर है।"—इस उक्तिका कारण बतलानेके लिए 'व्यवहार' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। उक्त कथनका तात्पर्य यह है कि उन गोलोकनाथके वैसे लौकिक बन्धुके समान व्यवहारसे एक दूसरेके प्रति अर्थात् भगवान् और वहाँ स्थित भक्तोंके बीच परस्पर प्रेम वर्द्धित होता है। किन्तु इस वैकुण्ठमें

वैसा व्यवहार सम्भव नहीं है, वैसा व्यवहार करना उचित नहीं है, अथवा वैसा भाव सिद्ध नहीं हो सकता है। यहाँ 'किल' शब्द निश्चय या वितर्कके अर्थमें है। किसलिए वैसा भाव सिद्ध नहीं हो सकता है? इसका कारण है कि वैकुण्ठमें परम-ऐश्वर्य अत्यधिक रूपमें प्रकाशित रहता है, अतः वहाँ वैसा भाव संघटित हो ही नहीं सकता है॥८५॥

तादृशी साप्ययोध्येयं द्वारकापि ततोऽधिका।
अतः स लोकः कृष्णेन दूरतः परिकल्पितः॥८६॥

श्लोकानुवाद—तुमने इस वैकुण्ठमें जिस अयोध्यापुरीको देखा है, वह भी वैकुण्ठके समान ऐश्वर्यमय स्थान है और यह द्वारका उस अयोध्यासे भी अधिक ऐश्वर्यमय स्थान है। इसलिए श्रीकृष्णने उस श्रीगोलोकधामकी यहाँसे दूर तथा पृथक् रूपमें परिकल्पना (रचना) की है॥८६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तर्हि वैकुण्ठस्यैव गूढ़प्रदेशरूपायां तस्यामयोध्यायामस्यां द्वारकायां वा सम्भवेत्तत्राह—तादृशीति। सा त्वया अनुभूता अयोध्यापि तादृशी वैकुण्ठसदृशी एव। इयं द्वारकापि ततो वैकुण्ठादयोध्यातो वाऽधिका श्रेष्ठा, अत्यन्तपारमैश्वर्यविशेषमयत्वात्। अतोऽस्मात्तत्र तत्र तदसम्भवाद्धेतोः स श्रीगोलोकेति विख्यातो लोकः परिकल्पितः व्यवस्थापितः॥८६॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि तब इस वैकुण्ठके बीच गूढ़ प्रदेशके रूपमें जो अयोध्या या द्वारका धाम विद्यमान है, वहाँपर तो ऐसा लौकिक व्यवहार सम्भव हो सकता है? इसकी अपेक्षामें 'तादृशी' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। इस वैकुण्ठमें तुमने जिस अयोध्याका अनुभव (दर्शन) किया है, वह अयोध्या भी वैकुण्ठके समान ऐश्वर्यमय स्थान ही है तथा उस अयोध्यासे श्रेष्ठ जो यह द्वारका है, यह भी अत्यधिक रूपमें परम ऐश्वर्यसे परिपूर्ण है। अतएव इन समस्त स्थानोंपर वैसा लौकिक बन्धुके समान व्यवहार असम्भव है, इसीलिए श्रीकृष्ण द्वारा वह श्रीगोलोक यहाँसे दूर व्यवस्थित हुआ है॥८६॥

सुखक्रीड़ाविशेषोऽसौ तत्रत्यानाञ्च तस्य च।
माधुर्यान्त्यावधिं प्राप्तः सिध्येत्तत्रोचितास्पदे॥८७॥

श्लोकानुवाद—वैसे लौकिक बन्धुके समान प्रेमका आधार वह गोलोकधाम ही है। वहाँ श्रीकृष्ण और उनके समस्त परिकरों द्वारा परम माधुर्यकी अन्तिम सीमातक पूर्ण रूपसे सुखमय विहार प्रकटित होता है॥८७॥

दिग्दर्शिनी टीका—यतः असौ परमानिर्वचनीयः, त्वयानुभवितुमिष्यमाणो वा। तत्रत्यानां श्रीगोलोकवासिनां, तस्य च श्रीकृष्णस्य सुखक्रीड़ाविशेषस्तत्र गोलोक एव सिध्येत्। कुतः? उचितेतद्योग्ये आस्पदे स्थाने। किञ्च, माधुर्यस्यान्त्यावधिं परां सीमां प्राप्तः। चकारावुभयेषामपि तत्क्रीड़ायां प्राधान्याभिप्रायेण॥८७॥

भावानुवाद—अतएव वैसी परम अनिर्वचनीय क्रीड़ाके अनुभवका स्थान वह श्रीगोलोकधाम है। उस श्रीगोलोकमें ही गोलोकवासियों तथा श्रीकृष्णका विशेष सुखमय विहार प्रकटित होता है, क्योंकि गोलोक ही वैसी सुखक्रीड़ाके लिए उचित अर्थात् योग्य आधार है। तदुपरान्त कह रहे हैं कि उस विशेष सुखक्रीड़ाका आधार होनेके कारण वहाँपर माधुर्य अपनी अन्तिम सीमाको प्राप्त होता है। इस प्रकार भक्त और भगवान् दोनोंकी ही सुखमयक्रीड़ाकी प्रधानताके अभिप्रायसे 'च' कारका प्रयोग हुआ है॥८७॥

अहो किल तदेवाहं मन्ये भगवतो हरेः।
सुगोप्यभगवत्तायाः सर्वसार–प्रकाशनम्॥८८॥

श्लोकानुवाद—अहो! अधिक क्या कहूँ! मैंने यही निश्चित किया है कि भगवान् श्रीहरिने अपनी परम गोपनीय भगवत्ताका समस्त सार उस गोलोकमें ही प्रकटित किया है॥८८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तत्र पारमैश्वर्यप्रकाशनेन न लौकिकसाम्यापत्त्या तदीयतत्रत्यरूप–गुणाचरितादेस्तत्पदस्य च माहात्म्यविशेषः कथं सिध्येत्तत्राह—अहो इति विस्मये, किलेति निश्चये। तत् श्रीगोलोके प्रकाश्यमानं रूपगुणविनोदादिकमेव। यद्वा, तदिति तस्मिन् गोलोक एवेत्यर्थः। भगवतः सुगोप्यायाः परमरहस्यायाः भगवत्तायाः, परमैश्वर्यस्य सर्वेषामपि साराणां श्रेष्ठानां प्रकाशनमहं मन्ये। अन्यथा तस्य लोकस्य सर्वोपरितनत्वानुपपत्तेरपि; अतएव हरेरित्युक्तम्, तेन तेनैव रूपगुणादिना जगतां मनोहरणात्, एतच्चाग्रे सप्रपञ्चं व्यक्तं भावि। अतो भगवतोऽन्यत्राप्रकाश्यमानस्य निजरूपगुणविनोदादि–महिमविशेषस्य सदा तत्रैवात्यन्तप्रकटनात्तल्लोकस्यापि सर्वाधिकतरो महिमविशेषो भगवद्रूपादेरिव सिद्ध एवेति भावः॥८८॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि उस गोलोकमें परम ऐश्वर्यके प्रकाशित होनेसे वहाँका व्यवहार लौकिक व्यवहारके समान सम्भव नहीं होगा, अतएव तब वहाँ श्रीगोलोकनाथका रूप-गुण-चरित्रादि तथा उस गोलोकका विशेष माहात्म्य किस प्रकारसे निश्चित होगा? इस शङ्काके समाधानके लिए ही 'अहो' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। 'अहो' विस्मयके अर्थमें है तथा 'किल' शब्द निश्चयके अर्थमें है। मैं निश्चयपूर्वक कह रहा हूँ कि उस गोलोकमें ही श्रीहरिके रूप-गुण-विनोदादि अपनी अन्तिम सीमा तक प्रकाशमान हैं, अथवा उस गोलोकमें ही श्रीभगवान्ने अपनी परम रहस्यपूर्ण भगवत्ताको अर्थात् परम ऐश्वर्यके सर्वश्रेष्ठ सारको प्रकाशित किया है। अन्यथा उस गोलोककी सर्वोच्च स्थिति असङ्गत होती। अतएव 'हरेः' इस शब्दका अर्थ है कि भगवान् अपने उन-उन (लौकिक बन्धुवत) रूप-गुणादि द्वारा जगत्-वासियोंके मनका हरण करते हैं—यह आगे भी विस्तारपूर्वक व्यक्त होगा। अतः अन्य किसी भी स्थानपर प्रकाश न होनेवाली श्रीहरिकी वैसी (लौकिक बन्धुवत) रूप-गुण-लावण्य-विनोदादिकी विशेष महिमाके सदैव श्रीगोलोकमें ही अत्यधिक रूपमें प्रकट रहनेके कारण श्रीभगवान्के रूपादिकी भाँति उस लोककी भी विशेष महिमा सर्वाधिक रूपमें निश्चित होती है॥८८॥

वैकुण्ठोपरिवृत्तस्य जगदेकशिरोमणेः।
महिमा सम्भवेदेव गोलोकस्याधिकाधिकः॥८९॥

श्लोकानुवाद—यह गोलोक वैकुण्ठके भी ऊपर स्थित होनेके कारण समस्त जगतका शिरोमणिस्वरूप है, इसलिए गोलोककी महिमा अधिकसे भी अधिक ही होगी।॥८९॥

दिग्दर्शिनी टीका—अहो स तावद्दूरेऽस्तु, भौममथुरागोकुलस्यापि महिमा सर्वोत्कृष्टतर इत्याह—वैकुण्ठेति द्वाभ्याम्। अधिकादप्यधिकः अत्यन्तप्रचुर इत्यर्थः। गोलोकस्य महिमा सम्भवेत् उपपद्येतैव। कुतः? जगदेकशिरोमणेः। तत् कुतः? वैकुण्ठस्याप्युपरि वर्त्तमानस्य ततोऽपि परमोत्कर्षविशेषवत्त्वात्॥८९॥

भावानुवाद—अहो! वैकुण्ठके ऊपर स्थित उस गोलोककी महिमाका वर्णन तो दूर रहे, भौमजगत् स्थित मथुरा-गोकुलकी महिमा भी

सर्वश्रेष्ठ है—इस विचारको बतलानेके लिए 'वैकुण्ठ' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। उस गोलोककी महिमा अधिकसे भी अधिक अर्थात् अत्यन्त प्रचुर है। इस प्रकार गोलोककी महिमा समस्त जगत्‌के एकमात्र शिरोमणि रूपमें निर्णीत होती है। वह कैसे? वैकुण्ठके ऊपर स्थित धामोंमें भी परमश्रेष्ठ होनेकी विशेषताके कारण॥८९॥

मर्त्यलोकान्तरस्थस्य मथुरा–गोकुलस्य च।
माहात्म्यं सर्वतः श्रेष्ठमाश्चर्यं केन वर्ण्यताम्॥९०॥

श्लोकानुवाद—मर्त्यलोकमें प्रकटित मथुरामण्डलके अन्तर्गत स्थित व्रजभूमि–गोकुल अपने माहात्म्यके बलसे वैकुण्ठादि लोकोंसे भी श्रेष्ठ है। अतएव उस गोकुलके श्रेष्ठतम अद्भुत माहात्म्यका वर्णन करनेमें कौन समर्थ हो सकता है?॥९०॥

दिग्दर्शिनी टीका—मर्त्यलोकान्तर्वर्त्तिनोऽपि मथुरासम्बन्धि–गोकुलस्य व्रजभूमेर्माहात्म्यं केन वर्ण्यताम्? अपि तु केनचिदपि वर्णयितुं न शक्यत इत्यर्थः। कुतः? सर्वतः वैकुण्ठादिभ्योऽपि श्रेष्ठम्, अतएवाश्चर्यं जगद्विस्मयकारकम्॥९०॥

भावानुवाद—मर्त्यलोकमें प्रकटित मथुरामण्डलके अन्तर्गत स्थित गोकुल–व्रजभूमिका भी माहात्म्य कौन वर्णन कर सकता है? अपितु कोई भी किसी भी प्रकारसे वर्णन करनेमें समर्थ नहीं है। किसलिए? अपने माहात्म्यके बलसे भौमगोकुल वैकुण्ठादि धामोंसे भी श्रेष्ठके होनेके कारण उसकी महिमा आश्चर्यपूर्ण अर्थात् जगत् विस्मयकारी है॥९०॥

शृणु कण्डूयते जिह्वा ममेयं चपला सखे।
रत्नमुद्घाटयाम्यद्य हृन्मञ्जुषार्पितं चिरात्॥९१॥

श्लोकानुवाद—हे सखे! श्रवण करो, इस समय मेरी चञ्चल जिह्वामें खुजली मच रही है, अर्थात् यह कुछ वर्णन करनेके लिए लालायित हो रही है। अतएव आज मैं अपनी हृदयरूपी पेटीमें बहुत समयसे रखे रत्नोंको प्रकाशित करनेके लिए बाध्य हो गया हूँ॥९१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथापि वर्णयिष्यामि इत्याह—शृण्विति। मयोच्यमानमिदं तन्माहात्म्यमेवाकर्णय। कुतः? हे सखे! ममेयं जिह्वा कण्डूयते; यतश्चपला,

निजानुचितकर्मप्रवृत्तौ धार्ष्टर्यानुसन्धानात्। वस्तुतस्तु तन्माहात्म्य-संकीर्त्तनेऽतिलम्पटेत्यर्थः। अतः हृत् चित्तमेव मञ्जुषा रत्नधारणपात्रविशेषः, तस्यामर्पितं निहितं रत्नं चिरादुद्घाटयामि। अयमर्थः—महामणिरूपमथुरागोकुलमाहात्म्यमेतन्मया संगोप्य मनस्यन्तरेव धृतमस्ति, न कदाचिदपि कस्मिंश्चित् प्रकाशितमास्ते। तदद्यैव निजजिह्वाधैर्याभावात्त्वयीदं प्रकाश्यत इति॥९१॥

भावानुवाद—तथापि मेरे द्वारा कहे जानेवाले उस गोकुल माहात्म्यको तुम सावधानी और धैर्यपूर्वक श्रवण करो—इसके लिए 'शृणु' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। यदि कहो कि आप उसे किसलिए वर्णन कर रहे हैं? हे सखे! मेरी चञ्चल जिह्वामें खुजली हो रही है। यह चञ्चल जिह्वा अपने लिए अनुचित कर्ममें प्रवृत्त होनेकी धृष्टता करनेके कारण थोड़ी-सी भी लज्जित नहीं हो रही है। किन्तु वास्तवमें श्रीनारदकी जिह्वा गोकुल-माहात्म्यका कीर्त्तन करनेके लिए अत्यन्त लालायित हो रही है—यही अर्थ है। अतएव मैं अपने हृदयरूपी रत्न-पेटीमें बहुत समयसे रखे महामूल्यवान रत्नोंको प्रकाश कर रहा हूँ। तात्पर्य यह है कि महामणिरूप मथुरा-गोकुलके माहात्म्यको मैं बहुत समय तक पूर्णतः गोपनकर अपने हृदयमें धारण करता आ रहा हूँ तथा कभी भी किसीके निकट प्रकाशित नहीं किया। किन्तु अभी मेरी जिह्वाके अधीर हो जानेके कारण इसे तुम्हारे निकट कहनेके लिए बाध्य हो रहा हूँ॥९१॥

तत्तन्महाप्रेमविहारकामः, कस्मिन्नपि द्वापरकालशेषे।
गोलोक-नाथो भगवान् स कृष्णः, कृत्स्नांशपूर्णोऽवतरत्यमुष्मिन्॥९२॥

श्लोकानुवाद—वे गोलोकनाथ भगवान् श्रीकृष्ण विविध प्रकारके महाप्रेमसे पूर्ण विहारके इच्छुक होकर किसी एक द्वापरके अन्तमें अपने समस्त अंश-अवतारादिको अपनेमें संयुक्तकर भौम मथुरामण्डलके अन्तर्गत गोकुलमें स्वयं ही अवतीर्ण होते हैं॥९२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव तत्तदित्यादिना प्रसन्नं प्रभुं तमित्यन्तेन प्रपञ्चयन्नादौ तन्माहात्म्यविशेषसम्पत्त्य एव तदीश्वरस्य सर्वतोऽधिकोत्कर्षविशेषमाह—तत्तदिति दशभिः। स सुप्रसिद्धो भगवान् गोलोकनाथः श्रीकृष्णस्तत्संज्ञकः कृत्स्नैः सर्वैरप्यंशैर्विभूतिभिः भगवच्छब्दार्थैर्वा निजैश्वर्यादिभिः प्रकटसर्वांशयुक्तः सन् स्वरूपकथनमात्रं वेदं, अमुष्मिन् मथुरामण्डले मथुरा-गोकुले वावतरति। कुतः? तेषु तेषु अनिर्वचनीयेषु

महाप्रेमविहारेषु कामो यस्य सः। कदा? द्वापरस्य तत्संज्ञकयुगस्य यः सन्ध्या–सन्ध्यांशाभ्यां सह चतुःशतोत्तरदिव्यवर्षसहस्रद्वयपरिमितः कालस्तस्य शेषेऽन्ते, कस्मिन्नपीत्यनेन सर्वस्मिन्नेव द्वापरशेषे, किन्तु कस्मिंश्चिद्ब्राह्मयकल्पे सप्तममन्वन्तरीयाष्टाविंश–चतुर्युगवर्त्तिद्वापरयुगस्यावसान इति बोध्यते, तथैव शास्त्रप्रसिद्धेः॥९२॥

भावानुवाद—उस माथुर–गोकुलके माहात्म्यका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके लिए वर्तमान 'तत्तन्महा' इत्यादि श्लोकसे लेकर "प्रसन्नं प्रभुं तम्" (श्लोक संख्या १७२) तक श्लोकसमूह कथित हुए हैं। इनमेंसे प्रथम दस श्लोकोंमें उस भौमगोकुलके विशेष माहात्म्य और उन गोकुलनायकका सर्वाधिक उत्कर्ष वर्णित हुआ है। वे सुप्रसिद्ध भगवान् गोलोकनाथ श्रीकृष्ण अपनी समस्त विभूतियोंके साथ अर्थात् 'भगवत्' शब्द द्वारा प्रतिपादित समस्त ऐश्वर्यादिको प्रकटकर, अपने समस्त अंशोंसे परिपूर्ण होकर मथुरामण्डलके अन्तर्गत मथुरा–गोकुलमें अवतीर्ण होते हैं। किसलिए? अपने अनिर्वचनीय महाप्रेमसे पूर्ण विहार की अभिलाषाके कारण। किस समय अवतीर्ण होते हैं? द्वापरयुगके अन्तमें, अर्थात् २,४०० दिव्य वर्षोंकी सीमासे युक्त द्वापरयुगके अन्तकालमें अवतीर्ण होते हैं। (एक दिव्यवर्ष मनुष्यके ३६० वर्षोंके समान है। अतः मनुष्य गणनाके २,४००×३६० = ८,६४,००० वर्षोंके अन्तमें अवतीर्ण होते हैं।) कौन–से द्वापरयुगके अन्तमें? वे किसी भी द्वापरयुगके अन्तमें अवतीर्ण हो सकते हैं, किन्तु ब्रह्माके किसी–किसी कल्पमें सप्तम मन्वन्तरके अट्ठाइसवें चतुर्युगके द्वापर युगकी सन्ध्यामें अवतीर्ण होते हैं—ऐसा शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है। तब वे उस द्वापर युगकी सन्ध्यामें प्रकटित होनेवाले अपने अंश–अवतार अर्थात् युगावतारको अपनेमें संयुक्तकर मथुरा–गोकुलमें अवतीर्ण होते हैं॥९२॥

नानात्वमाप्तैरिव वर्त्तमानैः, सर्वैः स्वरूपैः सममद्वयः सन्।
वैकुण्ठलोकादिकमाशु हित्वा, नित्यांश्च तत्रत्यपरिच्छदादीन्॥९३॥

स्व–पारमैश्वर्यमपि प्रसक्तं, दूरादुपेक्ष्य श्रियमप्यनन्याम्।
अस्मादृशोऽनन्यगतींश्च भृत्यान्, सर्वाननादृत्य स याति तत्र॥९४॥

श्लोकानुवाद—उस समय विभिन्न स्वरूपोंमें वर्त्तमान अपने विष्णु आदि अवतारोंको अपने स्वरूपमें मिलाकर तथा वैकुण्ठ लोकादिके नित्य वेश-भूषण, गृहादि अपने स्वाभाविक ऐश्वर्यका परित्यागकर, यहाँ तक कि अनन्य रूपमें उनके आश्रित महालक्ष्मीकी उपेक्षाकर तथा मेरे जैसे एकान्तिक भक्त और सेवकोंका भी अनादरकर वे उस भौम मथुरा-गोकुलमें अवतीर्ण होते हैं॥९३-९४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्रावतरणप्रकारमेव विस्तरेणाह—नानात्वमिति द्वाभ्याम्। सर्वैः स्वस्य कृष्णस्य रूपैः श्रीविष्णादिभिरवतारैः समम् अद्वयः सन्, तानि तानि निजरूपाणि सर्वाण्येव स्वस्मिन्नेकीकृत्येत्यर्थः। स कृष्णस्तत्र मर्त्यमाथुर-गोकुले याति अवतरतीति द्वयोरन्वयः। कीदृशैः? नानात्वमनेकत्वं प्राप्तैरिव तत्र तत्र वर्त्तमानैः। इवेति नानात्वेऽप्येकत्वाभिप्रायेण। किं कृत्वा याति? तदाह—वैकुण्ठेत्यादिना। आद्य आदिशब्दः स्वर्गलोकमारभ्य वैकुण्ठद्वारकापर्यन्तं गृह्णाति। तत्रत्यान् वैकुण्ठादिवर्त्तिनः, परिच्छदान् भूषणायुधादीन् गृहासनादीन् वा। द्वितीयादिशब्देन परिचारकाः, प्रसक्तं नीत्वानुषङ्गि स्वस्य पारमैश्वर्यमपि दूरादुपेक्ष्य विहाय। आत्मारामत्वादीनां तादृशमहाविभूती-नाञ्चानपेक्ष्यत्वात्। श्रियं महालक्ष्मीमपि अनादृत्य सङ्गेऽनयनात्। कीदृशीम्? अनन्याम्—न विद्यतेऽन्यो यस्यास्तां तदेकपरामपीत्यर्थः; तथा अस्मादृशान् भृत्यान् नित्यपार्षदांश्च सर्वाननादृत्य। कीदृशान्? न विद्यतेऽन्या गतिराश्रयो येषां तादृशानपि॥९३-९४॥

भावानुवाद—श्रीनारद उन गोलोकनाथ श्रीकृष्णके अवतरणकी रीति 'नाना' इत्यादि दो श्लोकों द्वारा बतला रहे हैं। नाना रूपोंमें वर्त्तमान श्रीविष्णु आदि अपने समस्त स्वरूपोंके साथ अद्वय अर्थात् उन्हें अपने स्वरूपमें मिलाकर वे श्रीकृष्ण भौम माथुर-गोकुलमें अवतीर्ण होते हैं। किस प्रकार अवतीर्ण होते हैं? मानो नाना प्रकारके रूपोंको एक साथ मिलाकर एकत्वको प्राप्त किया हो। क्या करते हुए अवतीर्ण होते हैं? इसकी अपेक्षामें 'वैकुण्ठ' इत्यादि पद कह रहे हैं। प्रथम 'आदि' शब्दका अर्थ है कि स्वर्गलोकसे आरम्भकर वैकुण्ठस्थित द्वारका तक धामों, तथा उन-उन स्थानोंके अनुरूप अपने भूषण, आयुध, गृह, आसनादिको परित्याग कर देते हैं। द्वितीय 'आदि' शब्दका अर्थ है कि अपने सेवकों तथा अपनेसे नित्य सम्बन्धित परम ऐश्वर्य अर्थात् आत्मारामतादि महाविभूतियोंकी भी उपेक्षा कर देते हैं। यहाँ तक कि

अनन्य शरणागत महालक्ष्मीका भी अनादर कर देते हैं, अर्थात् उन्हें अपने साथ नहीं लेते हैं तथा मेरे जैसे समस्त सेवकों और नित्य पार्षदोंको, जो उनके अलावा अन्य गति या आश्रयको नहीं जानते हैं, अनादरकर भौम माथुर-गोकुलमें अवतीर्ण होते हैं॥९३-९४॥

अन्यैः सहान्यत्र न लभ्यते यल्लब्धुं सुखं श्रीमथुरा-व्रजे तत्।
तत्रत्यलोकैरुचितस्वभावैः, साकं यथेच्छं नितरां विहृत्य॥९५॥

श्लोकानुवाद—अन्य-अन्य धामोंमें दूसरे-दूसरे परिकरोंके साथ क्रीड़ाकर श्रीकृष्ण उस व्रजजातीय सुखको प्राप्त नहीं करते हैं, इसलिए वे उस क्रीड़ाके उपयोगी स्वभाववाले व्रजवासियोंके साथ अपनी स्वच्छन्द इच्छासे विहारकर उस व्रजजातीय सुखको प्राप्त करनेके लिए श्रीमाथुर-गोकुलमें अवतीर्ण होते हैं॥९५॥

दिग्दर्शिनी टीका— *'तत्तन्महाप्रेमविहारकामः'* इत्यनेनोक्तमप्यवतरणप्रयोजनं विस्तार्याह—अन्यैरिति। अन्यत्र मथुरा-गोकुलात् इतरस्मिन् स्थाने, अन्यैस्तत्रत्येभ्यो भिन्नैर्लोकैः सह यत् सुखं न लभ्यते, तत् सुखं श्रीमथुरा-व्रजभूमौ लब्धुम्। श्रीमथुरा-व्रज इत्यस्य पदस्य परेण वा सम्बन्धः। तत्प्रकारमाह—यथेच्छं निजेच्छानुसारेण, तत्रापि नितरां सम्यक्तया विहृत्य क्रीड़ित्वा। कैः सह? तत्रत्यैः श्रीमथुराव्रजवासिभिर्लोकैः साकम्। कुतः? उचितः तादृशसुखसम्पादकनिजेष्टक्रीड़ाविशेषयोग्यः स्वभावो येषां तैः॥९५॥

भावानुवाद—श्लोक संख्या ९२ में कथित उक्ति "किसी एक अनिर्वचनीय महाप्रेमसे पूर्ण विहारकी अभिलाषा ही उनके अवतरणका उद्देश्य है"—इसीको विस्तारसे बतलानेके लिए 'अन्यैः' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। माथुर-गोकुलके अलावा अन्य स्थानोंपर अन्य-अन्य परिकरोंके साथ क्रीड़ाकर श्रीकृष्णको जो सुख प्राप्त नहीं होता है, वह सुख उन्हें श्रीमथुरा-व्रजभूमिमें प्राप्त होता है। किस प्रकारसे? उस माथुर-गोकुलमें सम्पूर्णतः अपनी स्वच्छन्द इच्छानुसार विहार करके। किनके साथ? वहाँ स्थित श्रीमाथुर-व्रजवासियोंके साथ। किसलिए? वे व्रजवासी व्रजजातीय सुखको आस्वादन करानेके लिए समस्त प्रकारसे श्रीभगवान्‌की विशेष क्रीड़ाके योग्य स्वभावसे युक्त हैं। अतएव उन व्रजवासियोंके साथ इच्छानुरूप विहारकर उस सुखका आस्वादन करनेके लिए ही श्रीकृष्ण श्रीमाथुर-गोकुलमें अवतीर्ण होते हैं॥९५॥

तदातनानां दृढभक्तिभाग्यविशेषभाजां जगतां हि साक्षात्।
दृश्यो भवेन्नूनमनन्यकालप्रादुष्कृतेनात्मकृपा–भरेण॥९६॥

श्लोकानुवाद—जिस कृपाको वे अन्य किसी कालमें प्रकटित नहीं करते, भौमगोकुलमें अवतीर्ण होकर वैसी अत्यधिक कृपाको प्रकटित करते हैं। अपनी कृपा–आधिक्यवशतः जगत्–वासियोंको साक्षात् रूपमें दृष्टिगोचर होकर श्रीगोलोकनाथ उस समयमें दृढ़ भक्तिसे युक्त समस्त भाग्यवानजनोंको कृतार्थ करते हैं॥९६॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं कदाचिच्छ्रीगोलोकादपि भौममाथुरगोकुलस्य माहात्म्यविशेषो दर्शितः। अहो तत्कालीनानां जनानां सर्वेषामपि भाग्यमहिमेत्याशयेनाह—तदेति। न अन्यस्मिन् प्रादुष्कृतो यस्तेन आत्मनो भगवतः कृपाभरेणैव तत्कालवर्त्तिनां जगतां प्रपञ्चान्तर्बहिर्वर्त्तिनां सर्वेषामपि साक्षाद्दृश्यो भवेत्। नूनमिति वितर्के निश्चये वा। कुतः? दृढ़भक्तौ, प्रेमभक्तौ, तद्रूपो व यो भाग्यविशेषस्तद्भाजां तेन संयुक्तानामित्यर्थः॥९६॥

भावानुवाद—इस प्रकार किसी–किसी रूपमें श्रीगोलोकसे भी भौम माथुर–गोकुलका विशेष माहात्म्य प्रदर्शित हुआ है। अहो! उस समयके समस्त लोगोंके भाग्यकी महिमाका क्या वर्णन करूँ? इसी अभिप्रायसे 'तदा' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। जैसी कृपाको श्रीभगवान्ने किसी कालमें भी प्रकाशित नहीं किया, अपनी वैसी अत्यधिक कृपाके प्रकाश द्वारा प्रपञ्चके अन्तर्गत जगत्–वासियोंके साक्षात् दृष्टिगोचर होकर उन श्रीगोलोकनाथने दृढ़ भक्ति अर्थात् प्रेमभक्तिके पात्र किन्हीं विशेष भाग्यवान् लोगोंको कृतार्थ किया था॥९६॥

अतो वैकुण्ठनाथस्य वैकुण्ठेऽपि कदाचन।
दर्शनं नैव लभ्येत भवताप्यन्वभावि तत्॥९७॥

श्लोकानुवाद—हे गोपकुमार! इस प्रकार श्रीभगवान्के मर्त्यलोकमें अवतार लेनेके कारण वैकुण्ठमें भी किसी–किसी समयमें श्रीवैकुण्ठनाथके दर्शन नहीं होते हैं—ऐसा तुमने भी अनुभव किया है॥९७॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतो मर्त्यलोकेऽवतरणाद्धेतोः न लभ्येत। वैकुण्ठवर्त्तिभिः तद्वैकुण्ठेऽपि कदाचिच्छ्रीवैकुण्ठनाथस्यादर्शनं भवतापि अन्वभावि अनुभूतमस्ति। कदाचिदीशोऽपि निभृतं प्रयातीत्याद्युक्तेः॥९७॥

भावानुवाद—अतएव मर्त्यलोकमें अवतार लेनेके कारण इस वैकुण्ठमें किसी-किसी समय वैकुण्ठनाथके दर्शन प्राप्त नहीं होते हैं—ऐसा तुमने भी अनुभव किया है। "कभी-कभी वे भगवान् अकेले ही निगूढ़ स्थानपर गमन करते हैं।"—पूर्व कथित [श्रीबृहद्भागतवतामृतम् (२/४/११५)] अपनी इस उक्तिका स्मरण करो॥९७॥

अतएवर्षयस्तत्तल्लोक-वृत्तान्ततत्पराः ।
वैकुण्ठनायकं केचित् सहस्रशिरसं परे॥९८॥

नारायणं नरसखं केऽपि विष्णुञ्च केचन।
क्षीरोदशायिनं त्वन्ये केशवं मथुरापुरे॥९९॥

अवतीर्णं वदन्त्यार्याः स्व-स्व-मत्यनुसारतः।
निर्णीतेश्वरमाहात्म्य-माधुर्याद्यवलोचनात्॥१००॥

श्लोकानुवाद—अतएव श्रीकृष्ण जब भूमण्डलपर श्रीमथुरापुरीमें अवतार लेते हैं, तब उनमें समस्त स्वरूपोंकी ईश्वरता तथा माधुरी आदिकी महिमाओंको देखकर ऋषिलोग अपने-अपने भाव और मतके अनुसार उनका निरूपण करते हैं। इसलिए कोई उन्हें वैकुण्ठनाथ, कोई सहस्रशीर्षा पुरुष, कोई नरसखा नारायण, कोई विष्णु, कोई क्षीरोदकशायी, अन्य कोई श्रीकेशव भगवान् कहते हैं, तथा इस प्रकार सब अपने-अपने इष्टदेवको ही मथुरामें अवतीर्ण हुआ मानते हैं॥९८-१००॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतः सर्वैः स्वरूपैः सममवतरणाद्धेतोः, ऋषयो मन्त्रास्तत्प्रवर्तका वा मुनयः केचिद्वैकुण्ठनायकं मथुरापुरे अवतीर्णं वदन्तीति द्वाभ्यामन्वयः। *"कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्"* (श्रीमद्भा. १/३/२८) इत्याद्युक्तेः। परे च *"सहस्रशिरसं ब्रह्मलोकाधिष्ठातारम्"*, *"सहस्रशीर्ष्णश्चरणोपधानम्"* इत्याद्युक्तेः। केऽपि च नरसखं नारायणं चतुर्थस्कन्धे (श्रीमद्भा. ४/१/५७) धर्मस्य मूर्त्यां पुत्रकथनप्रसङ्गे—*"ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ। भारव्ययाय च भुवः कृष्णौ यदुकुरूद्वहौ॥"* इत्याद्युक्तेः। अन्ये च क्षीरोदशायिनं केशवं *"सितकृष्णकेशः"* इति द्वितीयस्कन्धे (श्रीमद्भा. २/७/२६) ब्रह्मोक्त्या सुन्दरकेश-वत्वेन तस्यैव केशवसंज्ञकत्वात्। विष्णुपुराणादौ *"उज्जहारात्मनः केशौ सितकृष्णौ महामुने"* इत्याद्युक्तेः। पृथक् तथा वदने हेतुः—तेषां तेषां वैकुण्ठादीनां लोकानां वृत्तान्ते तत्पराः तदनुसन्धानैकचित्ताः। अतो

ये यल्लोकवृत्तान्तपरास्ते तल्लोकनाथं तत्रावर्त्तमानं विज्ञाय तथा वदन्तीति भावः। तत्रापि हेतुः—निर्णीतं निश्चितम् ईश्वरस्य तत्र तत्र वर्त्तमानस्य भगवतो माहात्म्यस्य माधुर्यादि, आदिशब्देन विचित्रत्व-दुर्वितर्क्यत्वादि। यद्वा, माहात्म्यं माधुर्यादिकञ्च, आदिशब्दात् सौन्दर्यलीलादि, तस्यावलोचनात् विचारणात्। अयमर्थः—यैर्यादृशं यत्र भगवतो माहात्म्यादिकमवधारितमस्ति, तादृशस्यैवास्मिन् विचारेणानुभवात्तत्रत्यं तमेवावतीर्णं वदन्तीति। एवं पार्थक्येन वर्त्तमानमपि तेषां सर्वेषां श्रीभगवद्रूपाणां माहात्म्यादिक-मखिलमेकस्मिन् श्रीकृष्ण एव विराजत इति सिद्धेरस्यैव सर्वोत्कृष्टतापि परमा सिद्धेति दिक्। ननु सर्वज्ञानां तेषां कथमेवं सम्भवेत्तत्राह—स्वस्य स्वस्य मतेरनुसारतः। येषां यादृग्भगवज्ज्ञानं तेषां तदनुरूपमेव वचनमप्युपपद्यत इत्यर्थः। ननु तथापि शास्त्रविद्भिस्तैर्विचारेण सर्वं ज्ञातुं शक्यते, तत्राह—आर्याः सरलबुद्धयः, अतः सूक्ष्मं तद्विचारं कर्त्तुं न शक्नुवन्तीत्यर्थः। यद्वा, तत्तत्त्वं जानन्तोऽपि सरलबुद्धित्वात्तत्तद्विशेषानपेक्षया तेषां भगवद्रूपाणामेकस्यापि कस्यचिदवतरणोक्त्या सर्वेषामेवावतरणोक्तिः सिध्यतीत्यभिप्रायेण तथा वदन्तीति भावः॥९८-१००॥

भावानुवाद—अतएव श्रीकृष्ण अपने समस्त अवतारोंसे संयुक्त होकर ही अर्थात् समस्त अवतारोंको अपने स्वरूपमें मिलाकर ही उस भौम मथुरा-गोकुलमें सम्पूर्ण रूपमें अवतरण करते हैं। इसलिए मन्त्र-द्रष्टा ऋषि और मन्त्र-प्रवर्त्तक मुनियोंमें कोई-कोई कहते हैं कि श्रीवैकुण्ठनाथ ही मथुरापुरीमें अवतीर्ण हुए हैं। जैसा कि श्रीमद्भागवत (१/३/२८) में कथित है—"कृष्ण स्वयं भगवान् हैं।" कोई कहते हैं कि जो "ब्रह्मलोकके अधिष्ठाता सहस्रशीर्षा पुरुष हैं" तथा "(ये विदुर) जिन सहस्रशीर्षा पुरुषकी श्रीचरणपादुका हैं" वे ही मथुरामें अवतीर्ण हुए हैं। कोई कहते हैं—नरसखा-नारायण अवतीर्ण हुए हैं, जैसा कि श्रीमद्भागवत (४/१/५७) में धर्मकी पत्नी मूर्त्तिदेवीके पुत्रोंके प्रसङ्गमें विदुरके प्रति मैत्रेयकी उक्ति है—"भगवान् श्रीहरिके अंशभूत वे नर-नारायण ही इस समय पृथ्वीका भार उतारनेके लिए यदुकुलभूषण श्रीकृष्ण और कुरुकुलतिलक अर्जुनके रूपमें अवतीर्ण हुए हैं।" अन्य कोई कहते हैं कि जो क्षीरोदकशायीके सुन्दर केशसे अवतरित हुए हैं, वे श्रीकेशव हैं, अथवा सुन्दर केशबन्धनके कारण वे केशव नामसे जाने जाते हैं। जैसा कि श्रीमद्भागवत (२/७/२६) में ब्रह्माजीकी उक्ति है—"भगवान् क्षीरोदकशायी अपने सफेद और काले केशसे बलराम और श्रीकृष्णके रूपमें अवतार ग्रहण करेंगे।" श्रीविष्णुपुराण आदिमें

भी कहा गया है—"देवताओं द्वारा पृथ्वीका भार हरण करनेके लिए प्रार्थना करनेपर क्षीरोदकशायी श्रीविष्णुने अपने सफेद और काले केशोंको निकालकर दिखाया।" इसका अर्थ है कि भूभार-हरण तो अति तुच्छ कार्य है, यह तो मेरे केश ही कर सकते हैं। अथवा मेरे सिरके भूषणस्वरूप मेरे अंशी स्वयं भगवान् ही यह कार्य करेंगे, अर्थात् स्वयं भगवान् श्रीबलराम और श्रीकृष्ण आविर्भूत होंगे, उनके वर्णको सूचित करनेके लिए सित-कृष्ण केशोंको दिखाया।

यदि कहो कि मुनियोंमें इस प्रकारके मतभेदका क्या कारण है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि जो मुनि वैकुण्ठादि जिन-जिन लोकोंके वृत्तान्तमें अनुरक्त हैं, अर्थात् उन-उन लोकोंके लोकनाथकी खोजमें तत्पर हैं, उन्होंने वहाँ-वहाँपर अपने उपास्य देवका दर्शन न पाकर अपनी-अपनी मतिके अनुसार ही ऐसा सिद्धान्त किया है। तथापि निश्चित् रूपमें कारण-निर्णयके प्रसङ्गमें सभीने ही अपने-अपने उपास्य भगवान्को मथुरामें अवतीर्ण हुआ बतलाया हैं। अतएव उन्होंने निश्चित किया है कि उन-उन लोकोंमें वर्त्तमान भगवान्में ही ईश्वरके लिए उपयुक्त माहात्म्य, माधुर्य, विचित्रता और दुर्वितर्कत्वादि गुण परिस्फुट हुए हैं। 'आदि' शब्दका अर्थ है कि लीलादिका सौन्दर्य दर्शनकर अपनी-अपनी मतिके अनुसार विचारकर उन मुनियोंने सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। इसका अर्थ है कि जिसने जिस धाममें जिस प्रकारसे भगवान्के माहात्म्यको ग्रहण किया है, इन नन्दनन्दनमें भी उन समस्त माहात्म्योंको विचारपूर्वक उत्तम रूपमें अनुभवकर अपने उपास्य धामके उस प्रभुको ही अवतीर्ण हुआ बतलाया है। अतएव पृथक-पृथक रूपमें वर्त्तमान रहनेपर भी भगवान्के समस्त स्वरूपों तथा उनकी समग्र भगवत्ताका अखिल माहात्म्य एकमात्र श्रीकृष्णस्वरूपमें ही विराजित है, इसलिए श्रीकृष्ण अवतारकी ही सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित होती है—ऐसा जानना होगा।

यदि आपत्ति हो कि वे मुनि सर्वज्ञ और शास्त्रके ज्ञाता होनेके कारण समस्त प्रकारके विचारोंमें निपुण थे, तथापि किसलिए श्रीकृष्णकी सर्वश्रेष्ठताको जान नहीं सके? इसके उत्तरमें कहते हैं कि जिसका भगवान्के सम्बन्धमें जैसा तत्त्वज्ञान है, उसके लिए उसी

अनुरूप सिद्धान्त स्थापन करना ही स्वाभाविक है। यदि कहो कि तथापि शास्त्रके ज्ञाता होनेके कारण वे विचारके द्वारा समस्त रहस्यको जान सकते थे? इसके उत्तरमें कहते हैं कि वे आर्य अर्थात् सरल बुद्धियुक्त हैं, अतः भगवान्‌के विषयमें सूक्ष्म विचार करनेमें असमर्थ हैं। अथवा इन समस्त तत्त्वोंसे अवगत होनेपर भी सरल बुद्धिसे युक्त होनेके कारण उस तत्त्वकी विशेष अपेक्षा न करके भगवान्‌के सभी स्वरूपोंमेंसे किसी एक स्वरूपके अवतरणको अङ्गीकार करनेसे ही सभीके अवतरणकी बात सिद्ध हो सकती है—इस अभिप्रायसे ही ऐसा कहा है। अथवा अधिकारी भेदसे अर्थात् देश, काल और पात्रको लक्ष्यकर, सर्वत्र रहस्य प्रकाश करना अनुचित है—इस नीतिको अपनाया है॥९८–१००॥

किन्तु स्वयं स एव श्रीगोलोकेशो निजं पदम्।
भूर्लोकस्थमपि क्रीड़ाविशेषैर्भूषयेत् सदा॥१०१॥

श्लोकानुवाद—किन्तु ऐसा निश्चित रूपमें जानो कि वे गोलोकनाथ श्रीकृष्ण स्वयं ही भूलोकपर स्थित अपने धाम मथुरा-व्रजभूमिको विशेष प्रकारकी लीलाओं द्वारा सदा विभूषित करते हैं॥१०१॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं परेषां मतमुक्त्वा स्वमतमेव द्रढ़यति—किन्त्विति। स तत्तत्क्रीड़ालम्पटः स्वयमेव भूर्लोके वर्त्तमानमपि निजपदं श्रीमथुराव्रजभूमिरूपं स्थानं सदा क्रीड़ाविशेषैः अन्यत्राविस्तार्यमाणैर्महाविलासैर्भूषयेत् अलङ्करोति॥१०१॥

भावानुवाद—इस प्रकार दूसरोंके मतका उल्लेखकर अब श्रीनारद अपने मतको दृढ़तापूर्वक स्थापित करनेके लिए 'किन्तु' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। किन्तु निश्चित रूपसे जानो कि वैसी क्रीड़ाओंके लम्पट (लोभी) गोलोकनाथ श्रीकृष्ण स्वयं ही भूलोकपर वर्त्तमान अपने पद (स्थान) श्रीमथुरा-व्रजभूमिको विशेष-विशेष क्रीड़ाओं द्वारा सर्वदा अलंकृत करते हैं। अर्थात् जिन विशेष लीलाओंका कहींपर भी प्रकाश नहीं है, वैसी लीलाओंके महाविलास द्वारा इस व्रजभूमिको विभूषित करते हैं॥१०१॥

नात्र कोऽप्यस्ति भिन्नो यत्तत्रत्यजन-वल्लभः।
उद्धवस्त्वञ्च तत्रत्यस्तद्रोप्यं किञ्चिदुच्यते॥१०२॥

श्लोकानुवाद—यहाँपर व्रजभावका विरोधी कोई भी नहीं है, ये श्रीमान् उद्धव तो व्रजवासियोंको अपने हृदयका वल्लभ समझते हैं और तुमने भी व्रजभूमिमें जन्म ग्रहण किया है, अतः तुम दोनोंके समक्ष गोलोककी कुछ गोपनीय महिमाका वर्णन कर रहा हूँ॥१०२॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं श्रीगोलोकनाथमाहात्म्यमभिव्यज्य *"अहो किल तदेवाहम्मन्यै-र्भगवतो हरेः। सुगोप्यभगवत्तायाः सर्वसारप्रकाशनम्॥"* इत्यनेन तत्रैव पारमैश्वर्यविशेष-विस्तारणं यदुद्दिष्टं तदेव विस्तारेण तात्पर्याद्वक्तुमारभते—नात्रेति। अत्रोद्धवगृहे कोऽपि भिन्नः वक्ष्यमाणार्थ-श्रवणयोग्यात् भगवत्प्रेमभक्तिविशेषवतो वा जनादन्यो जनो यद्यस्मान्नास्ति, अतो गोप्यमपि तत् मन्मनोमञ्जुषार्पितरत्नरूपं किञ्चिदुच्यते। ननु अयमुद्धवोऽहं च स्वः; तत्राह—तत्रत्यो माथुरव्रजभूवर्त्येव जनो वल्लभो यस्य स उद्धवोऽस्ति, त्वन्तु तत्रत्यः तद्व्रजभूमिभव एव॥१०२॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे श्रीनारदने श्रीगोलोकनाथका माहात्म्य वर्णन किया है। श्रीनारद द्वारा (श्लोक-८८ इत्यादिमें) कथित हुआ है—"अहो! अधिक क्या कहूँ! मैंने यही निश्चित किया है कि भगवान् श्रीहरिने उस गोलोकमें ही अपनी परम गोपनीय भगवत्ताका समस्त सार प्रकटित किया है।" अब इस पूर्व-वर्णित विचारके तात्पर्य अर्थात् गोलोकनाथके परम-ऐश्वर्यको 'नात्र' इत्यादि श्लोक द्वारा विस्तार पूर्वक कहना आरम्भ कर रहे हैं। इसका कारण है कि इन श्रीउद्धवके घरमें श्रीउद्धव और तुम ही वर्त्तमान हो, अन्य कोई भिन्न (भाववाला) व्यक्ति अर्थात् भगवान्की विशेष प्रेमभक्तिके विषयमें कहे जानेवाले विचारको तथा विशेष रूपमें नन्दनन्दनके निगूढ़ लीलारहस्यको श्रवण करनेका कोई अयोग्य पात्र नहीं है। अतएव जिन रत्नोंको मैं चिरकालसे हृदयरूपी पेटिकामें गुप्त रखकर रक्षा करता हुआ आ रहा हूँ, नन्दनन्दनके उन समस्त लीलारूपी रत्नोंको आज प्रकाशित करूँगा। यदि कहो कि मैं और श्रीउद्धव भी तो श्रवणके अयोग्य हैं, अतः हमारे समक्ष उसे किस प्रकार व्यक्त करेंगे? इसके उत्तरमें कहते हैं—ये श्रीमान् उद्धव तो व्रजवासियोंको अपने हृदयका वल्लभ मानते हैं और तुमने तो स्वयं ही व्रजभूमिमें जन्म ग्रहण किया है, अतः तुम दोनोंके समक्ष व्यक्त करनेमें कोई हानि नहीं है॥१०२॥

काष्ठाममुत्रैव परां प्रभोर्गता, स्फुटा विभूतिर्विविधा कृपालुता।
सुरूपताशेषमहत्त्वमाधुरी, विलासलक्ष्मीरपि भक्तवश्यता॥१०३॥

श्लोकानुवाद—उस माथुर-व्रजभूमिमें ही प्रभुकी विविध प्रकारकी विभूति, कृपालुता, सुन्दरता, अनन्त प्रकारकी महिमाओंकी माधुरी तथा यहाँ तक कि भक्त-वश्यता और विलास-लक्ष्मी अपनी-अपनी चरम सीमामें प्रकट हुई हैं॥१०३॥

दिग्दर्शिनी टीका—किन्तदाह—प्रभोरिति। अमुत्र श्रीमथुरा-व्रजभूमावेव, प्रभोर्भगवतः, स्फुटा प्रकटा, विभूतिरैश्वर्यम्। कीदृशीम्? परां परमां काष्ठां निष्ठां गता प्राप्ता। अस्य विविधेत्यस्य च तथा स्फुटेत्यस्यापि सर्वत्रैवानुषङ्ग। तथा प्रभोरिति अमुत्रैवेति च सर्वत्र एवानुवर्तनीयम्। अग्रेऽपि शब्दबलात् कृपालुता दयाशीलता, सुशोभनं रूपं श्रीमूर्त्तिः सौन्दर्यं वा यस्य तस्य भावः सुरूपता, परमसुन्दरतेत्यर्थः। अशेषाणां सर्वेषाम् अशेषा वा सम्पूर्णा महत्त्वानां महिम्नां माधुरी, विलासस्य विनोदस्य लक्ष्मीः शोभा भक्तवश्यतापि॥१०३॥

भावानुवाद—परन्तु उस श्रीमाथुर-व्रजभूमिमें ही प्रभु श्रीकृष्णकी विविध प्रकारकी विभूतियाँ, कृपालुता अर्थात् दयाशीलता, सुरूपता अर्थात् परमसुन्दररूप या श्रीमूर्त्तिका सौन्दर्य, विलास-लक्ष्मी अर्थात् विनोद-शोभा तथा भक्त-वश्यतारूपी अनन्त महिमाओंकी माधुरी अपनी-अपनी चरम सीमाको प्राप्त होकर प्रकटित होती हैं॥१०३॥

व्रजः स नन्दस्य गुणैः स्वकीयैर्विलासभूरास महाविभूतेः।
यस्याः कटाक्षेण जगद्विभूतिर्वैकुण्ठनाथस्य गृहेश्वरी या॥१०४॥

श्लोकानुवाद—वह श्रीनन्दव्रज अपनी महाविभूतिके प्रभावसे ही श्रीवैकुण्ठनाथकी गृहणी उन महालक्ष्मीकी विहार भूमि हुआ है, जिनके कटाक्षसे जगत्‌में सभीको ऐश्वर्य प्राप्त होता है॥१०४॥

दिग्दर्शिनी टीका—ताः सर्वा एव प्रपञ्चयन्नादौ विभूतिमाह—व्रज इति सार्धेन। स नन्दस्य व्रजः स्वकीयैर्व्रज-सम्बन्धिभिरेव गुणैः सौशील्यादिभिर्महाविभूतेर्महालक्ष्म्या विलासभूः क्रीड़ास्थानम् आस अभूत्; तदुक्तं श्रीव्यासनन्दनेनापि दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा. १०/५/१८)—*"तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वसमृद्धिमान्। हरेर्निवासात्मगुणै रमाक्रीड़मभून्नृप॥"* इति। यस्या महामहाविभूतेः कटाक्षेण अपाङ्गदृष्ट्यैव जगतां ब्रह्म-रुद्रादीनां विभूतिरैश्वर्यम्, एवं ब्रह्मरुद्रादिलोकेभ्योऽपि अधिकतरा विभूतिर्दर्शिता।

वैकुण्ठादप्याह—या महाविभूतिर्वैकुण्ठनाथस्य गृहेश्वरी, अतो गृहकृत्यावेक्षणादिना कदाचित्तत्र विलाससङ्कोचोऽपि भवेत्, अत्र च सदा विलास एवेत्येवं परमविभूतिसम्पत्तिर्दर्शिता॥१०४॥

भावानुवाद—इस प्रकार विस्तारसे गोकुलकी महिमाका वर्णन करनेमें प्रवृत्त होकर श्रीनारद सर्वप्रथम उस व्रजकी विभूतिका वर्णन 'व्रजः' इत्यादि श्लोक द्वारा कर रहे हैं। उस नन्दव्रजके सुशीलता आदि गुणोंके प्रभावसे अर्थात् निरन्तर परमानन्दमय भक्तिकी रसपूर्ण धारारूप महाविभूतिके प्रभावसे वह महालक्ष्मीका भी विलासक्षेत्र अर्थात् क्रीड़ाभूमि बन गया है। इसीलिए श्रीशुकदेवने भी श्रीमद्भागवत (१०/५/१८) में वर्णन किया है—"उस समय नन्दव्रज समस्त प्रकारकी समृद्धिसे परिपूर्ण हो गया तथा श्रीहरिके वहाँपर निवास करनेके कारण विशेषगुणोंसे विभूषित होकर महालक्ष्मीकी विहार भूमि बन गया।" कौन-सी महालक्ष्मी? जिन महालक्ष्मीके कटाक्षपात द्वारा सम्पूर्ण जगत् यहाँ तक कि ब्रह्मा-रुद्रादिको भी विभूति या ऐश्वर्य प्राप्त होता है। इसके द्वारा व्रजमें ब्रह्मा-रुद्रादि लोकोंसे भी अधिक ऐश्वर्यका होना प्रदर्शित होता है। ये महालक्ष्मी वैकुण्ठनाथकी गृहणी हैं, अतः वैकुण्ठमें गृह-कार्योंकी देखभाल आदिके कारण कदाचित् विलासके लिए उन्हें संकोच (लज्जा) भी हो सकता है। किन्तु व्रजमें उन महालक्ष्मीका सर्वदा ही विचित्र विलास रहता है, कभी भी संकोचका कोई कारण नहीं होता है। अतएव व्रजमें वैकुण्ठसे भी महान ऐश्वर्य सम्पत्ति प्रदर्शित हुई है॥१०४॥

यस्यैकवृक्षोऽपि निजेन केनाचिद्द्रव्येण कामांस्तनुतेऽर्थिनोऽखिलान्।
तथापि तत्तन्न सदा प्रकाशयेदैश्वर्यमीशः स्वविहारविघ्नतः॥१०५॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि इस व्रजभूमिमें स्थित प्रत्येक वृक्षमें या उसके फल, फूल, पत्ते आदि सभी द्रव्योंमें ही याचककी समस्त प्रकारकी कामनाओंको पूर्ण करनेका सामर्थ्य है, तथापि वे सब अपने प्रभुके विहारमें विघ्नका विचारकर अपने ऐश्वर्यको सर्वदा प्रकाशित नहीं करते हैं॥१०५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवोपलक्षयति—यस्येति। यस्य व्रजस्य, एकः कश्चिद्वृक्षोऽपि, केनचित् पत्र-पुष्पादीनां मध्ये एकेनैव द्रव्येण, अर्थिणो याचकस्य, अखिलान्

कामान् विभूतिरूपपुरुषार्थ-विशेषान् कामितार्थान् वा वितनुते। तदुक्तं श्रीभगवतैव (श्रीमद्भा. १०/२२/३४) तत्र—*"पत्र-पुष्प-फल-च्छाया-मूल-वल्कल-दारुभिः। गन्ध-निर्यास-भस्मास्थि-तोक्मैः कामान् वितन्वते॥"* इति। ननु कथं तर्हि तादृशविभूतिगोपनम्? यद्वा, तर्हि पूर्वोद्दिष्टप्रकारा सा लौकिकलीला तत्रापि कथं घटेत? तत्राह—तथापीति। स्वस्य ईशस्य विहारेषु विघ्नाद्धेतोः विघ्नं पर्यालोच्येति वा, तत्तन्महावैभवप्रकटरूपम् ऐश्वर्यं सदा न प्रकाशयेत्, कदाचित् केनापि हेतुविशेषणैव तत्र प्रकाशयेत्। सदा तु लौकिकबन्धुतया तत्तन्मधुरविनोदमेव विस्तारयतीत्यर्थः॥१०५॥

भावानुवाद—व्रजभूमिके ऐश्वर्यका वर्णन करनेके उपलक्षणमें ही श्रीनारद 'यस्य' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। व्रजभूमिके किसी भी एक वृक्ष या उसके फल, फूल, पत्ते आदिमेंसे किसी एक द्रव्यके द्वारा भी याचककी समस्त कामनाएँ परिपूर्ण होती है, अर्थात् विभूतिरूप विशेष पुरुषार्थ प्राप्त होता है। इसीलिए श्रीभगवान्ने श्रीमद्भागवत (१०/२२/३४) में कहा है—"ये पत्र, पुष्प, फूल, छाया, मूल, छाल, गन्ध, निर्यास (सार), भस्म, लकड़ी तथा पल्लवादिके अंकुर निरन्तर याचकोंकी कामनाओंको पूर्ण करते रहते हैं, इसलिए प्राणीजन इनसे कभी भी विमुख नहीं होते हैं।"

यदि आपत्ति हो कि तो फिर किसलिए ये सब अपनी वैसी विभूतिको गोपन रखते हैं? अथवा ऐसा ऐश्वर्य प्रकट रहनेपर पूर्व कथित रीतिके अनुसार श्रीकृष्णकी लौकिक लीला वहाँपर किस प्रकारसे घटित होती है? इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि अपने प्रभुके विहारमें विघ्न उपस्थित होनेका विचार करके ही श्रीयोगमाया वैसे महावैभवरूप ऐश्वर्यको सर्वदा प्रकाशित नहीं करती हैं, किन्तु कभी किसी विशेष कारणसे ही प्रकट करती हैं। परन्तु सर्वदा लौकिक व्यवहारके अनुरूप ही वैसे-वैसे मधुर लीलानन्दका विस्तार करती हैं—यही भाव है॥१०५॥

सद्वेष-मात्रेण हि बालघातिनीं,
तां राक्षसीं मातृ-गतिं निनाय सः।
तद्बान्धवान् मुक्तिमघासुरादिकान्,
साधुद्रुहस्तादृशलीलयानयत् ॥१०६॥

श्लोकानुवाद—उस व्रजभूमिमें श्रीनन्दनन्दनने ऐसी कृपालुता (दयालुता) प्रकटकी है कि सद्वेश (भक्तवेश) देखनेमात्रसे ही बालघातिनी पूतना नामक राक्षसीको भी अपनी माताकी गति प्रदान कर दी। यहाँ तक कि उसके बान्धव, साधुओंके द्रोही अघासुर आदिको भी खेल-खेलमें ही मुक्ति प्रदान कर दी॥१०६॥

दिग्दर्शिनी टीका—कृपालुतामाह—सद्वेषेति, सतां भक्तानामिव यो वेषः, किम्वा सद्वेषः परमोत्कृष्टवेशः, श्रीयशोदावेशसादृश्यात्, तन्मात्रेणैव। तां परमदुष्टां पूतनां स भगवान् मातुर्यशोदाया इव गतिं निनाय प्रापितवान्। यथोक्तमुद्धवेन तृतीयस्कन्धे (श्रीमद्भा. ३/२/२३)—*"अहो बकी यं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्य-साध्वी। लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं, कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥"* इति। किञ्च, राक्षस्या बान्धवान् अघासुरादिकान्, आदिशब्दात् बककंसादयः। तादृश्या परम-महामधुरया लीलया गोपबालकक्रीड़या मुक्तिम् अनयत् प्रापयामास। कीदृशान्? साधुभ्यो वैष्णवेभ्यो द्रुह्यन्तीति तथा तानपि। तदुक्तं श्रीब्रह्मणापि भगवत्स्तुतौ (श्रीमद्भा. १०/१४/३५)—*"सद्वेशादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता"* इति॥१०६॥

भावानुवाद—अब 'सद्वेष' इत्यादि श्लोक द्वारा व्रजभूमिमें प्रकट श्रीनन्दनन्दनकी कृपालुताका वर्णन कर रहे हैं। सद्वेश अर्थात् भक्तका वेश अथवा अत्यन्तश्रेष्ठ वेश—जो वेश श्रीयशोदा आदिके समान है। श्रीव्रजेन्द्रनन्दनने उस सद्वेशको देखतेमात्र ही परम दुष्ट बालघातिनी पूतनाको भी माता श्रीयशोदा जैसी धात्रीके समान गति प्रदान की थी। जैसा कि श्रीउद्धवने श्रीमद्भागवत (३/२/२३) में कहा है—"अहो! भगवान् श्रीव्रजेन्द्रनन्दनकी दयालुताके विषयमें क्या कहूँ? दुष्ट पूतनाने उनके प्राणोंका नाश करनेकी अभिलाषासे अपने स्तनोंमें विष लगाकर उन्हें पान कराया था, इस दुष्ट क्रियाके द्वारा भी उसे धात्रीके समान गति प्राप्त हुई। श्रीकृष्णने केवल उसका सद्वेश अर्थात् भक्तवेश देखकर ही उसे सद्गति प्रदान की थी। अतएव उन व्रजेन्द्रनन्दनको छोड़कर अन्य किस दयालुकी शरण ली जा सकती है?"

तदुपरान्त कह रहे है कि उस राक्षसीके बान्धव अघासुर, बकासुर और कंसादि साधुओं और वैष्णवोंके द्रोही थे। ऐसे असुरोंको भी उन्होंने गोपबालककी भाँति परम मधुर क्रीड़ा करते-करते ही मुक्तिपद प्रदान किया था। भगवान्‌की स्तुति करते हुए श्रीब्रह्माने श्रीमद्भागवत

(१०/१४/३५) में कहा है—"हे देव! आपके भक्तोंके (सद्वेशके) अनुकरणमात्रसे ही पूतना, बकासुर और अघासुर जैसे राक्षसोंने अपने बान्धवोंके साथ आपको प्राप्त किया है॥"१०६॥

गोदामवीथीभिरुदूखलाङ्घ्रौ, स्वस्योदरे बन्धनमाददेऽसौ।
प्रोत्साहनेन व्रजयोषितां तन्नृत्यादिकं ताञ्च निदेशवर्त्तिताम्॥१०७॥

श्लोकानुवाद—अधिक क्या कहूँ, उन भगवान्ने अपने उदरको गायोंको बाँधनेवाली रस्सियों द्वारा ऊखलसे बँधवा लिया। तथा व्रजगोपियों द्वारा प्रलोभन देनेपर वे उनकी करतालीके अनुसार नृत्यका विस्तारकर उनके आज्ञापालक हुए॥१०७॥

दिग्दर्शिनी टीका—सुरूपतादीनामग्रे विस्तरशो वर्णनीयत्वेन तथा कृपालुतासाम्येन प्रसङ्गसङ्गत्या निर्देशक्रममुल्लङ्घ्यादौ भक्तवश्यतामाह—गोदामेति, गोदाम्नां वीथीभिः कृत्वा, *"एवं स्वगेहदामानि यशोदा सन्दधत्यपि।"* (श्रीमद्भा. १०/९/१७) इत्युक्तेः। असौ भगवान् बन्धनम् आददे स्वीचक्रे। कुत्र? स्वस्य उदरे, तथा उदूखलाङ्घ्रौ च, एकतो निजजठरे अन्यतस्तेनैव स्वयं नवनीत-चौर्यार्थमारोहणायानीतस्योदूखलस्याधोभाग इत्यर्थः। तदुक्तं श्रीबादरायणिनापि (श्रीमद्भा. १०/९/१८-१९)—*"स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्रस्तकबरस्रजः। दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयासीत् स्वबन्धने॥ एवं सन्दर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भक्तवश्यता। स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे॥"* इति। किञ्च, व्रजयोषितां तत्कृतेन प्रोत्साहनेन तत् परमाद्भुतं नृत्यादिकमाददे, ताञ्च परमाद्भुतां निदेशवर्त्तितां तासामेवाज्ञाकारितामाददे। तच्च तेनैवोक्तं—*"गोपीभिः स्तोभितो नृत्यन् भगवान् बालवत् क्वचित्। उद्गायति क्वचिन्मुग्धस्तद्वशो दारुयन्त्रवत्॥ विभर्त्ति क्वचिदाज्ञप्तः पीठकोन्मानपादुकम्। बाहुक्षेपञ्च कुरुते स्वानाञ्च प्रीतिमुद्वहन्॥ दर्शयंस्तद्विदां लोक आत्मनो भक्तवश्यताम्।"* (श्रीमद्भा. १०/११/७-९) इति। एषामर्थः—स्तोभितः करतालादिना प्रोत्साहितः, दारुयन्त्रवत् तासां गोपीनां वशः अधीनः, अतो मुग्धः मौग्धाविष्कारकः सन्नित्यर्थः। इदमानयेत्याज्ञप्त आनेतुमसमर्थ इव विभर्त्ति। केवलं स्वानां गोपगोपीनां प्रीतिं विस्तारयन्, भगवन्तं तद्ब्रह्म वा विदन्तीति तद्विदो ज्ञानपरास्तेषां तान् प्रति लोकमध्ये आत्मनो भगवतो भृत्यानामेव वश्यतां दर्शयन्, *"ज्ञानादिनाहं न सुलभः किन्तु केवलं भक्त्यैव"* इति साक्षाद्बोधयन्निति॥१०७॥

भावानुवाद—पूर्व-कथित ("काष्ठाममूत्रैव"—श्लोक १०३ में उक्त) क्रमके अनुसार अब श्रीनन्दनन्दकी सुरूपताका वर्णन होना चाहिए, किन्तु उस सुरूपताके आगामी श्लोकमें विस्तारसे वर्णन होनेके कारण

अभी क्रमका लंघनकर प्रसङ्ग सङ्गतिके अनुसार श्रीकृष्णकी भक्त-वश्यताका वर्णन कर रहे हैं। श्रीमद्भागवत (१०/९/१७) में ऐसा कथित है कि उन भगवान्ने अपने उदरको गायोंको बाँधनेवाली रस्सियोंके द्वारा ऊखलसे बँधवा लिया था। किसी एक समयमें मैया यशोदा अपने अपराधी बालकको रस्सी द्वारा ऊखलसे बाँध रही थी, किन्तु वह रस्सी दो अगुँली छोटी पड़ गई, इसलिए उन्होंने उस रस्सीके साथ एक अन्य रस्सी जोड़ दी, वह भी उसी परिमाणमें कम पड़ गई। इस प्रकार मैया यशोदाने बार-बार रस्सियाँ जोड़ीं, किन्तु हर बार वे दो अगुँली कम पड़ जाती। इस प्रकार अपने तथा अन्यान्य गोपियोंके घरोंमें जितनी भी रस्सियाँ थीं, सभीको जोड़नेपर भी जब मैया यशोदा श्रीकृष्णको बाँध नहीं सकीं, तब वे लज्जित हो गयीं तथा दूसरी गोपियोंको भी अत्यन्त आश्चर्य हुआ। तब उन भगवान्ने कृपापूर्वक स्वयं ही अपनेको बँधवा लिया। जिस ऊखलपर चढ़कर उन्होंने माक्खन चुराया था, तथा जिसपर बैठकर स्वयं माक्खन खाते-खाते उन्होंने बन्दरोंको भी उस माक्खनको खिलाया था, वही ऊखल उनके बँधनेमें सहायक हुई थी। इसीलिए श्रीबादरायणि (श्रीशुकदेव गोस्वामी) ने श्रीमद्भागवत (१०/९/१८-१९) में कहा है—"कृष्णको बाँधनेके प्रयासके कारण मैया यशोदाका शरीर पसीनेसे लथपथ हो गया तथा उनकी वेणीसे पुष्पकी माला गिर पड़ी, तब श्रीकृष्णने अपनी माँका परिश्रम देखकर कृपावशतः स्वयं ही बन्धन स्वीकार कर लिया। यद्यपि श्रीकृष्ण स्वेच्छामय हैं तथा ईश्वरसे आरम्भकर सभी उनके अधीन हैं, तथापि वे भक्तोंके वशीभूत होते हैं—इस लीलाके द्वारा उन्होंने ऐसा ही दिखलाया है।"

तथा गोपियोंके प्रोत्साहनसे मुग्ध होकर उन्हीं भगवान्ने कभी अद्भुत नृत्यादिका विस्तार किया तथा कभी उनके आज्ञाकारी बन गये। इसीलिए श्रीबादरायणिने श्रीमद्भागवत (१०/११/७-९) में कहा है—"सर्वशक्तिमान भगवान् कभी-कभी गोपियोंके फुसलानेसे नृत्य करते और कभी उनके करताली बजानेसे प्रोत्साहित होकर साधारण बालकके समान मुग्ध होकर गान करने लगते। इस प्रकार वे उनके हाथकी कठपुतलीके समान सर्वथा उनके अधीन हो गये। कभी-कभी

गोपियों श्रीकृष्णको पीढ़ा, तौलनेके बटखरे, पादुका आदि वस्तुएँ लानेका आदेश करतीं। उस समय श्रीकृष्ण उन वस्तुओंको धारणकर खड़े रहते तथा इस प्रकारका भाव प्रकाश करते मानो वे उन समस्त वस्तुओंको लानेमें असमर्थ हों। पुनः अपने प्रेमी भक्तों अर्थात् गोप-गोपियोंकी प्रीतिका विस्तार करनेके लिए पहलवानोंकी भाँति अपनी दोनों भुजाओंको ऊपर उठाकर अपना पराक्रम प्रदर्शन करते। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण जगत्में ऐश्वर्यज्ञानपरायण भक्तोंके समक्ष अपने प्रेमी भक्तोंकी अधीनताका भाव प्रकाशकर अपने बालकके समान व्यवहार द्वारा व्रजवासियोंको हर्षित करते तथा स्थापित करते हैं कि ज्ञानादि द्वारा उन्हें प्राप्त नहीं किया जा सकता है, एकमात्र भक्तिके प्रभावसे ही वे वशीभूत होते हैं॥"१०७॥

रूपस्य तस्य महिमानमलं न कोऽपि
वक्तुं तथापि कथयामि यथात्म-शक्ति।
तस्यापि विस्मयकरं यदुदीक्ष्य भावं
तं गो-द्विज-द्रुम-लता-तरवोऽप्यगच्छन्॥१०८॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि श्रीकृष्णकी रूप-माधुरीकी महिमाको कोई भी सम्पूर्ण रूपसे वर्णन करनेमें समर्थ नहीं है, तथापि मैं यथाशक्ति कुछ वर्णन कर रहा हूँ। श्रीकृष्णका रूप स्वयं उन्हें भी विस्मित करनेवाला है। उस रूपके दर्शनकर गाय, मृग, पक्षी, वृक्ष और लताएँ सभी प्रेमके सात्त्विक भावोंसे परिपूर्ण हो जाते हैं॥१०८॥

दिग्दर्शिनी टीका—पुनः क्रममनुसृत्य सुरूपतामाह—रूपस्येति चतुर्भिः। तस्य अनिर्वचनीयस्य भगवतो वा रूपस्य श्रीमूर्त्तेः सौन्दर्यस्य वा महिमानं वक्तुं कोऽपि कश्चिज्जनश्चतुर्मुखोऽपि वा न अलं समर्थः। यतस्तस्य भगवतोऽपि विस्मयकरं, अपूर्वाविर्भूतेः। तदुक्तमुद्धवेन तृतीयस्कन्धे (श्रीमद्भा. ३/२/१२)—*"यन्मर्त्यलीलौपयिकं स्वयोगमायाबलं दर्शयता गृहीतम्। विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्धेः, परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्॥"* इति। यत् रूपम् उदीक्ष्य निरीक्ष्य, तं परमदुर्लभं भावं प्रेमरूपम्; यद्वा, तं प्रसिद्धं सात्त्विकं भावं पुलकाश्रुस्रावादिप्रेमलक्षणम् अगच्छन् प्रापुः। यथोक्तं श्रीभगवतीभिः (श्रीमद्भा. १०/२९/४०)—*"त्रैलोक्यसौभगमिदञ्च निरीक्ष्य रूपं, यद्गो-द्विज-द्रुम-मृगाः पुलकान्यबिभ्रन्"* इति॥१०८॥

भावानुवाद—पुनः क्रमके अनुसार श्रीव्रजेन्द्रनन्दनकी सुरूपता अर्थात् परम सुन्दर रूपका वर्णन 'रूपस्य' इत्यादि चार श्लोकोंमें कर रहे हैं। उस अनिर्वचनीय भगवान्‌के रूप अर्थात् श्रीमूर्त्तिके सौन्दर्यकी महिमाको कोई भी, यहाँ तक कि चतुर्मुख ब्रह्मा भी व्यक्त करनेमें समर्थ नहीं हैं। अधिक क्या, स्वयं भगवान् भी अपने रूपको देखकर विस्मित हो जाते हैं, क्योंकि उनका सौन्दर्य प्रतिक्षण अपूर्व रूपमें आविर्भूत होता है। इसीलिए श्रीमद्भागवत (३/२/१२) में श्रीउद्धवने कहा है—"भगवान् श्रीकृष्णने प्रपञ्च जगत्‌में अपनी योगमायाके बलसे अपनी श्रीमूर्त्ति प्रकटित की है। वह मूर्त्ति मर्त्यलीलाके उपयोगी है तथा इतनी मनोरम है कि उसके द्वारा स्वयं श्रीकृष्ण भी मोहित हो जाते हैं। वह मूर्त्ति अत्यधिक सौभाग्यकी चरम सीमा है तथा समस्त भूषणोंकी भी भूषणस्वरूप है अर्थात् लौकिक दृश्योंमें परम अलौकिक है।" वस्तुतः श्रीभगवान्‌की उस श्रीमूर्त्ति अर्थात् रूपको देखनेपर कोई भी अपने नेत्रोंको उससे हटा नहीं सकता है। वह रूप चल-अचल सभीके चित्तको आकर्षण करनेवाला है, इसीलिए उस रूपको देखकर सभीमें परम दुर्लभ प्रेम अथवा प्रेमके लक्षण पुलक, अश्रु आदि प्रसिद्ध सात्विक भाव उदित होते हैं। व्रजगोपियोंने भी श्रीमद्भागवत (१०/२९/४०) में कहा है—"तीनों लोकोंको मोहन करनेवाले श्रीकृष्णके इस रूपका दर्शनकर गाय, पक्षी, वृक्ष और मृग भी पुलकादि भावोंसे परिपूर्ण हो जाते हैं॥"१०८॥

यत्तात तासामपि धैर्यमोषकं, या वै कुल-स्त्री-कुलपूजिताङ्घ्रयः।
रूपेण शीलेन गुणेन कर्मणा, श्रैष्ठ्यं गता हन्त महाश्रियोऽपि याः॥१०९॥

श्लोकानुवाद—हे तात! श्रीकृष्णका रूप उन गोपियोंके धैर्यका भी हरण कर लेता है जिनकी चरणवन्दना प्रसिद्ध कुलकी स्त्रियाँ भी करती हैं तथा जो गोपियाँ अपने रूप, गुण, शील और कर्मों द्वारा महालक्ष्मीसे भी श्रेष्ठ हैं॥१०९॥

दिग्दर्शिनी टीका—हे तातेति, परमाश्चर्यश्रावणाय सादरसम्बोधनम्। यद्रूपं तासां श्रीगोपिकानामपि धैर्यस्य मोषकमपहारकम्। ननु स्त्रीणां स्वभावतश्चाञ्चल्येन तत् सम्भवेदेव? तत्राह—या इति। वै प्रसिद्धौ असाधारणे वा। कुलस्त्रीगणैः पूजिता

अङ्घ्रयो यासां ताः; अतः परमकुलस्त्रीस्वभावत्वेन तासां न कदाचिदपि चापल्यं घटत इत्यर्थः। किञ्च, या महालक्ष्म्या निखिलस्त्रीगण-श्रेष्ठाया अपि सकाशात् श्रैष्ठ्यं प्राप्ताः। केन? रूपेण सौन्दर्येण, शीलं स्वभावो धैर्यलज्जादिरूपस्तेन, गुणेन विचार-व्यवसायवैदग्ध्यादिना, कर्मणा च निजप्रियाराधनादिना। हन्त विस्मये हर्षे वा; या इति सामान्यतो निर्देशो भक्त्यतिशयात्। यद्वा, अग्रे महिमविशेषप्रसङ्गशेषे, वक्ष्यमाणत्वेनेदानीं स्फुटतया विशेषनिर्देशायोग्यत्वात्। अतस्तादृशीनामपि धैर्यमोषणाद्रूपस्य महिमभरः सिद्धः॥१०९॥

भावानुवाद—'हे तात'—श्रीनारद द्वारा गोपकुमारको परमाश्चर्यका विषय श्रवण करानेके लिए ही इस प्रकार सादर सम्बोधन किया गया है। श्रीभगवान्‌के उस रूपने व्रजगोपियोंका धैर्य भी हरण कर लिया था, अर्थात् उन्हें अधीर कर दिया था। यदि कहो कि स्त्रियाँ तो स्वभावतः ही चञ्चल होती हैं, अतएव उन गोपियोंके चित्तका अपहरण होना सम्भव हो सकता है। इसके खण्डनमें 'या' इत्यादि पद द्वारा कह रहे हैं कि जगत्‌के समस्त प्रसिद्ध कुलोंकी स्त्रियाँ भी उन गोपियोंकी पूजा अर्थात् चरणवन्दना करती हैं। अतः परम श्रेष्ठ कुलस्त्री-स्वभावके कारण उन गोपियोंमें कभी भी चित्त-चञ्चलता सम्भव नहीं हो सकती है। अथवा कोई भी पुरुष उनके चित्तको आकर्षण करनेमें सक्षम नहीं हैं।

तदुपरान्त कहते हैं—वे गोपियों समस्त स्त्रियोंमें श्रेष्ठ महालक्ष्मीसे भी श्रेष्ठ हैं। किसलिए? अपने रूप अर्थात् सौन्दर्य, शील अर्थात् धैर्य-लज्जादि स्वभाव, गुण अर्थात् विचार-व्यवहारमें वैदग्ध्यता आदि तथा कर्म अर्थात् अपने प्रियतमकी आराधना आदिमें महालक्ष्मीसे भी श्रेष्ठ हैं। इस प्रकारसे यहाँ सामान्य रूपमें ही गोपियोंकी परम भक्तिका निर्देश किया गया है। अथवा आगे अर्थात् विशेष महिमासे युक्त प्रसङ्गके अन्तमें कहे जानेवाले इस विषयको यहाँ सुस्पष्ट रूपसे निर्देश करना उचित नहीं है। अतएव वैसी धैर्यशील व्रजसुन्दरियोंके धैर्यको भी हरण करनेवाले उस रूपकी प्रचुर महिमा स्वतः सिद्ध है॥१०९॥

यद्दर्शने पक्ष्मकृतं शपन्ति
विधिं सहस्राक्षमपि स्तुवन्ति।

वाञ्छन्ति दृक्त्वं सकलेन्द्रियाणां
कां कां दशां वा न भजन्ति लोकाः ॥११०॥

श्लोकानुवाद—वे व्रजगोपियाँ श्रीव्रजेन्द्रनन्दनके रूपका दर्शन करते समय पलक बनानेवाले विधाताको शाप देती हैं और हजार नेत्रोंवाले इन्द्रकी स्तुति करती हैं। वे कामना करती हैं कि उनकी समस्त इन्द्रियाँ ही नेत्र बन जायें। अतः मैं अधिक क्या कहूँ, उस रूपका दर्शन करके व्रजनिवासी किस-किस दशाको प्राप्त नहीं होते हैं? ॥११०॥

दिग्दर्शिनी टीका—किं वक्तव्यं श्रीगोपालदेवैकप्रियाणां तासां तद्रूपेण धैर्यहानिरिति। इतरजनानामपि कश्चिद्भावविशेषो जायत इत्याह—यदिति, यस्य रूपस्य दर्शने विषये निमित्ते वा विधिं विधातारं शपन्ति। कुतः? पक्ष्माणि करोतीति तथा तम्, पक्ष्मभिश्चक्षुरावरणेन तद्दर्शनविघ्नापादनात्। विविधापराधादिना स्तुत्ययोग्यमपि। यद्वा, गौतमशापेन विरूपतां प्राप्तमपि सहस्राक्षत्वालोचनेन स्तुवन्तीत्यपि-शब्दार्थः, बहुलैरक्षिभि-स्तद्दर्शनाधिक्यसिद्धेः। किञ्च, सकलानामेवेन्द्रियाणां दृक्त्वं नयनबाहुल्येच्छया। किंवा, तदितरेन्द्रियाणामन्यवृत्त्या दर्शनान्तरायशङ्कया नयनत्वमेव वाञ्छन्ति। अहो वत! किमपरं बहु वक्तव्यमित्याह—कां कामिति॥११०॥

भावानुवाद—यदि श्रीगोपालदेवकी एकमात्र प्रिय वे गोपियाँ उस रूपका दर्शनकर अपने धैर्यको खो बैठती हैं, तब उस रूपके दर्शनसे अन्य लोगोंमें भी कोई विशेष भाव उदित होते होंगे—इसे बतलानेके लिए 'यदिति' श्लोक कह रहे हैं। गोपियाँ श्रीकृष्णके रूपके दर्शनमें बाधा देनेवाली पलकोंको बनानेवाले विधाताको शाप देती हैं। किसलिए? पलकें झपकते समय नेत्रोंको ढक देती हैं और श्रीकृष्णके रूपको देखनेमें विघ्न होता है। अतएव वे अनेक अपराध करनेवाले इन्द्रको भी 'सहस्राक्ष' (हजार नेत्रोंवाला) कहकर स्तुति करती हैं, तथा कामना करती हैं कि इन्द्रके समान हजार नेत्र प्राप्तकर वे भगवान्की रूप-माधुरीका दर्शन कर सकें। अथवा गौतम ऋषिके शापसे विरूपताको प्राप्त हुए सहस्राक्ष इन्द्र स्तुतिके योग्य नहीं है, तथापि गोपियोंकी स्तुतिका उद्देश्य यही है कि बहुत-से नेत्रोंके द्वारा श्रीकृष्णके रूपका दर्शन अधिक रूपमें होगा, इसलिए वे बहुत नेत्रोंकी इच्छा करती हैं। वे गोपियाँ खेद प्रकट करती हैं कि उनकी अन्यान्य समस्त

इन्द्रियाँ भी नेत्रोंमें क्यों नहीं रूपान्तरित हो जाती हैं? अथवा उनकी अन्य इन्द्रियोंकी वृत्तियों द्वारा दर्शनमें बाधाकी आशङ्कासे वे उन समस्त इन्द्रियोंको भी नेत्र रूपमें परिणित करनेकी कामना करती है। अहो! मैं अधिक क्या कहूँ, यदि गोपियोंकी ऐसी दशा होती है, तो फिर दूसरोंकी कैसी अवस्था होती होगी?॥११०॥

किं वर्ण्यतां व्रजभुवो महिमा स तस्या,
यत्रैव तत् स भगवान् वितनोति रूपम्।
यत्तादृशप्रकृतिनाप्यमुना समेता-,
नान्यत्रिका दधति भावमिमेऽपि तद्वत्॥१११॥

श्लोकानुवाद—भगवान् श्रीकृष्ण जिस व्रजभूमिमें अपने परम सुन्दर रूपको प्रकट करते हैं, उस व्रजभूमिकी असाधारण महिमाका क्या वर्णन करूँ? यदि वैसे सौन्दर्यको श्रीकृष्ण कहीं अन्यत्र प्रकट भी करें, तो भी अन्य-अन्य धामों यहाँ तक कि इस द्वारकाके परिकर भी व्रजभावके अनुरूप उस सौन्दर्यको ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं होंगे॥१११॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं सुरूपता-प्रसङ्गमुपसंहरन्नाह—किमिति। सः असाधारणमहिमा किं वर्ण्यताम्? अपि वर्णयितुं न शक्य इत्यर्थः। यत्र यस्यां व्रजभूव्येव स भगवान् श्रीकृष्णः तत् परमाद्भुतं रूपं निजसौन्दर्यं तनोति विस्तरेण प्रकटयतीत्यर्थः। यद्यस्मात्तादृशी व्रजसदृशी। यद्वा, अवस्थाविकारादिराहित्यान्नित्यमेकरूपा प्रकृतिः स्वभावो यस्य तेन, सदा सहजैकावस्थावतेत्यर्थः। अमुना भगवता सह समेता अपि आन्यत्रिकाः तद्व्रजभू-व्यतिरिक्तस्थानीयाः इमे वैकुण्ठद्वारकावासिनोऽपि तद्वद्व्रजभू-वासिनामिव भावं न दधति न वहन्तीत्यर्थः। कस्मिंश्चित् स्थानविशेष एव कालादिविशेष इव भगवतो निजमाहात्म्यविशेष-प्रकटनात्। अतो व्रजभूमिमहिमविशेषश्च सिद्धः। एवं *"आनन्दक-स्वभावोऽपि भक्तिमाहात्म्यदर्शनात्। भक्तान् हर्षयितुं कुर्याद्दुर्घटञ्च स ईश्वरः॥"* इति जनलोके पिप्पलायनेन यदुक्तं, तेन सहाप्येकवाक्यता सिद्धा। केनापि हेतुना कुत्रचित् प्रकटनात् कुत्रचिच्च नित्यसिद्धस्यापि स्वभावस्य निजशक्तिविशेषेणाच्छादनादिति दिक्॥१११॥

भावानुवाद—इस प्रकार 'सुरूपता' प्रसङ्गका उपसंहार करनेके लिए श्रीनारद 'किं' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। जिस व्रजभूमिमें भगवान् श्रीकृष्ण अपने परमाद्भुत रूप अर्थात् सौन्दर्यको प्रकट करते हैं, मैं उस व्रजभूमिकी असाधारण महिमाका क्या वर्णन करूँ? अपितु वर्णन

करनेमें समर्थ नहीं हूँ। अपने परमसुन्दर रूप अथवा देहकी विभिन्न अवस्थारूप विकारादिसे रहित नित्य स्वभाव अर्थात् सदा सहज रूपमें एक अवस्थाको प्रकट करनेवाले अपने सौन्दर्यसे सुशोभित होकर भगवान् अपने व्रजपरिकरोंके साथ यद्यपि किसी अन्य स्थानपर जायें भी, तथापि उन स्थानोंके अर्थात् वैकुण्ठ या द्वारकादिके वासी उन व्रजवासियोंके भावोंको धारण करनेमें सक्षम नहीं होंगे। तात्पर्य यह है कि विशेष कालकी भाँति विशेष स्थानपर ही श्रीभगवान्का विशेष माहात्म्य प्रकट होता है। अतएव इसके द्वारा व्रजभूमिकी विशेष महिमा निश्चित होती है। जैसा कि श्रीबृहद्भागवतामृतम् (२/२/१००) में उक्त है—"भक्तिका माहात्म्य प्रदर्शन करनेके लिए और भक्तोंको आनन्द प्रदान करनेके लिए अघटन-संघटनकारी वे भगवान् कभी-कभी अग्निके द्वारा अपनी दाहिका शक्तिको रोकनेके (न्याय अनुसार) समस्त जगत्को आनन्द देनेवाले अपने स्वभावको ढक लेते हैं।" जनलोकमें पिप्पलायन ऋषि द्वारा कथित इस प्रमाणके साथ उक्त विचारकी एकता स्थापित होती है। अतएव श्रीभगवान्का माहात्म्य किसी विशेष कारणसे किसी विशेष स्थानपर प्रकट होता है तथा किसी स्थानपर प्रकट नहीं होता है, अर्थात् उनका नित्यसिद्ध स्वभाव भी उनकी शक्तिके बलसे आच्छादित हो जाता है॥१११॥

वयश्च तच्छैशवशोभयाश्रितं, सदा तथा यौवनलीलयादृतम्।
मनोज्ञकैशोरदशावलम्बितं, प्रतिक्षणं नूतन-नूतनं गुणैः॥११२॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णकी आयु शैशव-शोभा (बचपनकी शोभा) के सौन्दर्यसे युक्त है तथा उनके विविध वैदग्ध्यादि समस्त गुण सर्वदा ही यौवनलीला द्वारा आदृत (सम्मानित) रहते हैं। अतएव मनोहर कैशोर अवस्थाके अवलम्बनसे उनके समस्त गुण प्रतिक्षण नये-नये रूपमें प्रतीत होते हैं॥११२॥

दिग्दर्शिनी टीका—प्रागनुद्दिष्टामपि सौन्दर्यहेतुत्वेन प्रसङ्गाद्वयोलक्ष्मीमाह—वयश्चेति। तत् श्रीकृष्णसम्बन्धि परमाश्चर्यमिति वा, सदा शैशवशोभया परमसौकुमार्यचापल्य-श्मश्र्वनुद्गमादिरूपया बाल्यलक्ष्म्या आश्रितम्, तथा सदा यौवनलीलया

विविधवैदग्ध्यादिरूपया तदुद्भेदकभङ्ग्या वा आदृतञ्च; अतएव मनोज्ञया जगच्चित्तहारिण्या कैशोरदशया पञ्चदशवर्षवर्त्यवस्थया अवलम्बितम्; अतएव गुणैः कान्त्यादिभिः प्रतिक्षणं नूतनादपि नूतनम्, कदाचिदपि परिणामाप्राप्तेः, द्रष्टॄणामतृप्तिकरत्वाच्च, तथाविधाश्चर्यकरत्वादपीति दिक्। यद्यपि व्रजे भगवतः कौमारं पौगण्डं कैशोरमपि वृत्तम्, तथापि तत्र तत्रापि कैशोर-लीलाप्रकाशनात्। तथा केशिवधानन्तरं तेन स्वयं तत्र गतेन कैशोरस्यैव दर्शनान्निज-मनोहरतरत्वाच्च कैशोरमेव वर्णितमिति दिक्॥११२॥

भावानुवाद—पहले निर्देश न करनेपर भी अब श्रीनन्दनन्दनके सौन्दर्यका वर्णन करते हुए प्रसङ्गवशतः उनकी आयुकी शोभाको बतलानेके लिए 'वयश्च' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। श्रीकृष्णकी आयु परम आश्चर्यसे युक्त है। वह आयु सदा ही परम सौकुमार्य, चपलता, दाढ़ी-मूँछका उदित न होना आदि बाल्य शोभाके द्वारा आश्रित होनेपर भी सदा विविध वैदग्ध्यादि रूपको प्रकट करनेवाली यौवनलीला द्वारा सम्मानित रहती है तथा मनोहर अर्थात् जगत्-वासियोंके चित्तको हरण करनेवाली कैशोर दशा अर्थात् पन्द्रह वर्ष तक की अवस्था द्वारा अलंकृत रहती है। अतएव उनके गुण और उनकी कान्ति आदि प्रतिक्षण नयेसे भी नये रूपमें प्रतीत होती है तथा उस नित्य-नूतनताका कभी भी अन्त नहीं होनेके कारण दर्शकगण उस आयुके सौन्दर्यका दर्शनकर तृप्त नहीं हो पाते हैं—उनका रूप ऐसा आश्चर्यजनक है। यद्यपि व्रजमें भगवान् कौमार, पौगण्ड और कैशोर—इन तीनों आयुके अनुरूप ही क्रीड़ा करते हैं, तथापि कौमार और पौगण्ड अवस्थामें भी वे कैशोरलीलाको ही प्रकाशित करते हैं। तथा केशी दैत्यका वध करनेके उपरान्त श्रीकृष्ण स्वयं किसी दूसरे स्थानपर चले गये थे, जहाँ श्रीनारदने उनकी उस कैशोर-अवस्थाके दर्शन किये थे। अतएव श्रीनारद अपने मनका हरण करनेवाली उस कैशोर दशाका ही वर्णन कर रहे हैं॥११२॥

यद्यन्न पूर्वं कृतमस्ति केनचित्,
स्वयञ्च तेनापि कथञ्चन क्वचित्।
तत्तत् कृतं सुन्दरबाल्यचेष्टया,
तत्र व्रजे यच्च पुरास दुष्करम्॥११३॥

श्लोकानुवाद—अपने पिछले किसी भी अवतारमें श्रीकृष्णने जिन लीलाओंको कभी प्रकाशित नहीं किया तथा स्वयं भी उन्होंने किसी स्थानपर वे लीलाएँ प्रकट नहीं कीं, अपनी सुन्दर बाल्यचेष्टा द्वारा उन्होंने उन समस्त दुष्कर कर्मोंको व्रजमें अनायास ही किया था॥११३॥

दिग्दर्शिनी टीका—अधुना *"मधुरेण समापयेत्"* इति न्यायेनाग्रेऽशेषमहत्त्वमाधुरी-विवक्षया क्रममतिक्रम्य विलासलक्ष्मीं प्रपञ्चयितुम् आदौ तन्माहात्म्यमाह—यद्यदिति। केनचित् श्रीब्रह्मरुद्रादिनापि, श्रीनरसिंह-श्रीरघुनाथादिनापि इति वा। तेन भगवतापि स्वयं यद्यत् कर्म क्वचिद्वैकुण्ठादावपि कथञ्च केनचिन्मायिकत्वादि-प्रकारेण न कृतमस्ति, यच्च महादैत्यहननादिकं निजभक्ति-विस्तारणादिकं वा पुरा तस्यापि दुष्करम् आस बभूव, तत्तत् सर्वं सुन्दरबाल्यचेष्टयैव तत्र व्रजे तेन कृतम्॥११३॥

भावानुवाद—अब "मधुरेण समापयेत्" न्यायके अनुसार पहले श्रीभगवान्‌की अनन्त प्रकारकी महिमा-माधुरीको कहनेकी अभिलाषासे क्रम-भङ्गकर उनकी विलास-शोभाका विस्तारसे वर्णन करते हुए सर्वप्रथम उनकी बाल्यचेष्टाकी विशेषताका माहात्म्य 'यद्' इत्यादि श्लोक द्वारा कर रहे हैं। श्रीब्रह्मा-रुद्रादि अथवा श्रीनृसिंह-श्रीरघुनाथादिने जिन कर्मों (लीलाओं) को पूर्वमें प्रकाशित नहीं किया तथा यहाँ तक कि भगवान्‌ने स्वयं भी श्रीवैकुण्ठादि किसी भी स्थानपर कभी भी वैसे मायिक-लीला-कौतुकादिका विस्तार नहीं किया, उन महा-दैत्यवधादि रूप दुष्कर कर्मोंको उन्होंने अपनी सुन्दर बाल्यचेष्टाओं द्वारा अनायास ही उस व्रजमें सम्पूर्ण किया तथा साथ-ही-साथ अपनी भक्तिका भी विस्तार किया था॥११३॥

तत्तद्विनोदामृतसागरान्तरं, विभेत्यलं मे रसनावगाहितुम्।
सदैव तत्तन्मधुरप्रियापि यत्, कर्मण्यशक्येन जनः प्रवर्त्तते॥११४॥

श्लोकानुवाद—मेरी रसना (जिह्वा) निरन्तर श्रीकृष्ण-लीलारूप मधुररसका पान करना चाहती है, किन्तु श्रीकृष्ण-लीलानन्दरूपी अमृतके सागरमें निमग्न होनेसे भयभीत हो रही है, क्योंकि जिस कार्यको करनेका समर्थ न हो, उसमें अयोग्य व्यक्ति कभी भी प्रवृत नहीं होते हैं॥११४॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतस्तदहं वर्णयितुमयोग्याऽपि केवलं तद्रसलोभेनैव वर्णयितुं प्रवर्त्त इत्याह—तत्तदिति। स स विनोद एवामृतसागरस्तस्यान्तरं मध्यमवगाहितुं मे मम रसना अलमत्यर्थं विभेति, अयोग्यत्वेन लज्जातो लोकतो वा। तत्तद्विनोदरूपं मधुरद्रव्यं प्रियं यस्याः सापि। एष वास्तवार्थः श्रौतश्च। परममधुर-रसप्रियाया अमृतसागरावगाहनं युक्तमेव; तथापि विभेतीति रूपकेण लज्जाकरणमुद्दिष्टम्। यद्यस्मात्॥११४॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णकी उन समस्त लीलाओंका वर्णन करनेके अयोग्य होनेपर भी केवल उस लीलारसको आस्वादन करनेके लोभसे ही मैं उन लीलाओंका वर्णन करनेमें प्रवृत हो रहा हूँ—इसे बतलानेके लिए श्रीनारद 'तत्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। यद्यपि मेरी रसनाके लिए मधुररस प्रिय है, तथापि अपनी अयोग्यतावशतः अथवा लोक-लज्जाके कारण वह उस लीलानन्दरूप अमृतके सागरमें निमग्न होनेमें भयभीत हो रही है, क्योंकि अपने लिए अयोग्य कर्ममें व्यक्ति कभी भी प्रवृत्त नहीं होता—यही यथाश्रुत अर्थ है। किन्तु वास्तव अर्थ यह है कि जिसको परम मधुररस प्रिय है, उस रसनाका अमृतके सागरमें अवगाहन करना ही युक्तियुक्त (उचित) है, तथापि भयभीत होना इत्यादि रूपकोंके द्वारा लज्जाका होना उद्दिष्ट हुआ है॥११४॥

पीतं सकृत् कर्ण-पुटेन तत्त-
ल्लीलामृतं कस्य हरेन्न चेतः।
प्रवर्तितुं वाञ्छति तत्र तस्मा-
ल्लज्जां न रक्षेत् किल लोलता हि॥११५॥

श्लोकानुवाद—तथापि जिस किसी भी क्रमसे कानों द्वारा एकबारमात्र उस लीलामृतका पान करनेसे किसके चित्तका हरण नहीं होता है? अतएव मेरी रसनामें लीलामृतका पान करनेकी वासनासे उदित चञ्चलता ही मुझे उस लज्जाका परित्याग कराकर मुझे उन लीलाओंके वर्णनमें प्रवृत करा रही है॥११५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र लीलामृते तत्तद्विनोदामृतसागरान्तरवगाहने वा तद्वर्णन इत्यर्थः। प्रवर्तितुं वाञ्छति मे रसनैव॥११५॥

भावानुवाद—उन-उन लीलामृतमें अर्थात् उस लीलानन्दरूप अमृतके सागरमें अवगाहन करने अथवा उसका वर्णन करनेकी वासनासे उदित चञ्चलता ही लज्जाको दूरकर मुझे उसके वर्णनमें प्रवृत्त करा रही है॥११५॥

त्रैमासिको यः शकटं वभञ्ज,
स्थूलं शयानो मृदुना पदेन।
स्तन्याय रोदित्युत यः प्रसूं द्वि-
वारौ मुखे दर्शयति स्म विश्वम्॥११६॥

श्लोकानुवाद—भगवान् श्रीकृष्णने तीन मासके शिशुकी अवस्थामें शय्यापर लेटे-लेटे ही अपने कोमल श्रीचरण द्वारा एक बड़े भारी शकटको तोड़ दिया था। उन्होंने इस प्रकारकी ऐश्वर्यपूर्ण लीला प्रकट करते हुए भी स्तनपानके लिए बार-बार रोदन किया था तथा माताके स्तनपानके समय अपने मुखमें ही माताको दो बार समस्त विश्वके दर्शन कराये थे॥११६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव श्रीदशमस्कन्धोक्तक्रमानुसारेणाह—त्रैमासिक इत्यादि सार्धैकविंशत्या। अत्र चापेक्षिते विशेषः श्रीदशमस्कन्धादेव ज्ञेयः। तत्र चाद्या पूतनामोचनलीला कृपालुतायामेवोद्दिष्टा; इदानीं शकटभञ्जनमारभ्योच्यते। यो भगवान् स्थूलं बृहत्तरं, बलिष्ठैर्बहुभिर्गोपैः पश्चात् स्थापितत्वात्। तदुक्तं श्रीव्यासनन्दनेन (श्रीमद्भा. १०/७/१२)—*"पूर्ववत् स्थापितं गोपैर्बलिभिः सपरिच्छदम्।"* इति। उत अपि। तस्यायमर्थः—यस्तादृशं शकटं मृदुपदोच्चालनेनैव वभञ्ज, तस्य परमैश्वर्यवतः कथं मातृस्तन्य-पानाय रोदनं सम्भवेत्? तथापि रोदिति। यद्वा, अहो गृहसर्वस्वरूपं शकटं भनक्ति, अथ च स्तन्याय रोदितीति दिक्। किञ्च, यो भगवान् द्वौ वारौ स्तन्यपाने मृद्भक्षणे च मुखमध्ये विश्वं जगत् प्रसूं श्रीयशोदामदर्शयत्, एतादृशस्य स्तन्याय रोदनं परममद्भुतं मधुररसावहञ्चेति भावः। यद्यपि तृणावर्त्त-वधानन्तरमेव विश्वरूप-प्रदर्शनं, पुनश्च मृद्भक्षणानन्तरं, तथापि स्तन्यार्थरोदनस्य परमाद्भुतत्व-प्रदर्शनायात्रैवैकदा प्रसङ्गाद्द्वयमेवोक्तम्। एवं परमैश्वर्येऽपि परमलौकिकत्वेन तत्तल्लीलायाः परममाधुरीशोभामाहात्म्यं सर्वत्रोह्यम्॥११६॥

भावानुवाद—उस श्रीकृष्णलीलाकी शोभाका वर्णन दशम-स्कन्धके क्रमानुसार 'त्रैमासिको' इत्यादि साढ़े इक्कीस श्लोकोंमें कर रहे हैं। (विशेष विवरणके लिए श्रीदशम-स्कन्ध द्रष्टव्य है।) पहले ही

पूतनामोचनकी लीला द्वारा उनकी कृपालुताका वर्णन किया जा चुका है। अब शकटभञ्जनकी लीलाका वर्णन कर रहे हैं। उन भगवान्ने तीन मासके शिशुकी अवस्थामें शय्यापर लेटे-लेटे ही अपने कोमल श्रीचरणों द्वारा एक बहुत बड़े शकटको तोड़ दिया था तथा उस बहुत बड़े शकटको बादमें बलवान गोपोंने पहलेकी भाँति यथास्थानपर स्थापित किया था। इसीलिए श्रीव्यासनन्दनने श्रीमद्भागवत (१०/७/१२) में वर्णन किया है—"बलशाली गोपोंने अपने उपकरणोंकी सहायतासे उस शकटको पहलेकी भाँति यथास्थानपर स्थापित किया था।" तात्पर्य यह है कि जिन्होंने अपने कोमल चरणोंके चालनसे ही एक विराट शकटको तोड़कर परम ऐश्वर्यको प्रकट किया था, उनके लिए फिर माताके स्तनपानके लिए रोना किस प्रकार सम्भव है? तथापि वे स्तनपानके लिए रोते हैं। अथवा अहो! कैसे आश्चर्यकी बात है कि एक पूरे घरके समान शकटको तोड़ दिया और फिर स्तनपानके लिए रो रहे हैं। तदुपरान्त कह रहे हैं कि उन भगवान्ने दो बार अर्थात् एक बार स्तनपान करते समय तथा दूसरी बार मिट्टी खानेके बाद अपनी माता श्रीयशोदाको अपने मुखमें विश्वका दर्शन कराया था। वास्तवमें श्रीकृष्ण द्वारा इस प्रकार स्तनपानके लिए रोदन परमाद्भुत मधुररसको उत्पन्न करनेवाला है। यद्यपि तृणावर्त्तके वधके उपरान्त ही उन्होंने अपनी माताको विश्वरूप दिखलाया था तथा पुनः मिट्टी खानेके उपरान्त भी दिखलाया था, तथापि स्तनपानके लिए रोनेकी परम अद्भुत महिमा दिखलानेके लिए प्रसङ्गक्रममें दोनों वृत्तान्त (शकटभञ्जन और विश्वरूप दर्शन) एक साथ ही कहे गये हैं। इस प्रकार जहाँ परम ऐश्वर्यकी चरम सीमा प्रकटित हुई है, वहींपर परम लौकिकताकी चरम सीमाका भी समावेश है। एक ही समयमें एक ही आधारमें सर्वज्ञता और मुग्धता दोनों ही विराजमान है। इस प्रकारसे सर्वत्र ही उनकी लीला-माधुरीकी परम शोभाके माहात्म्यको जानो॥११६॥

या सा तृणावर्त्त-वधेन लीला,
तस्याथ या रिङ्गणभङ्गिकाभिः।

त्वां पातु गोपीगण–तोषणाय,
कृता च या गोरस–मोषणेन॥११७॥

श्लोकानुवाद—तृणावर्त–वधकी लीला, घुटनेपर चलने तथा गोपियोंको सुख प्रदान करनेके लिए मक्खन चुराकर उन्होंने जिस अत्यधिक मधुर लीलाको प्रकट किया था, हे गोपकुमार! वे समस्त लीलाएँ तुम्हारी रक्षा करें॥११७॥

दिग्दर्शिनी टीका—या सेति परमसुप्रसिद्धा परमाद्भुता परममहामधुरा वेत्यर्थः। एवमग्रेऽप्यूह्यम्। तस्य भगवतः तृणावर्त्तस्य वधेन कृत्वा हेतुना वा या लीला सा त्वां पातु सर्वतो भयेभ्यस्तच्छ्रवणज–प्रेममोहाद्वा रक्षतु। एवं यथायथमग्रेऽप्युन्नेयम्। इदानीं क्रमप्राप्तमपि श्रीगर्गकृतनामकरणादिकं तत्र भगवतो मधुरलीलाविशेषाभावान्नोक्तम्। एवमन्यदप्यग्रे वितर्क्यम्, तदनन्तरकृतां परमाद्भुतरिङ्गणलीलामाह—अथेति। रिङ्गणे भङ्गिकाभिः परिपाटीभिः रिङ्गणपरम्पराभिर्वा या लीला, या च लीला गोपीगणतोषणाय गोरसस्य दध्यादेर्मोषणेन चौर्येण कृता॥११७॥

भावानुवाद—'या' इत्यादि श्लोक द्वारा श्रीनारद श्रीकृष्णकी परम सुप्रसिद्ध, परम अद्भुत तथा परम मधुर लीलाओंका वर्णन कर रहे हैं। तथा इसी प्रकार आगे भी ऐसी लीलाओंका वर्णन होगा। भगवान् द्वारा तृणावर्त्तका वध करनेके लिए जिस लीलाको प्रकट किया गया, वही लीला तुम्हारी समस्त प्रकारके भयसे तथा उन लीलाओंके श्रवणसे उत्पन्न होनेवाले प्रेम अर्थात् मोहसे रक्षा करें। इस विचारको आगे भी यथायथ स्थानपर ग्रहण करना होगा। अब क्रमानुसार श्रीगर्गमुनि द्वारा की गयी भगवान्के नाम–करणादि लीलाओंमें भगवान्की मधुरलीला विशेषका प्रकटन नहीं होनेके कारण उनका वर्णन नहीं किया गया है तथा आगे भी ऐसा ही जानना होगा। इसके बाद प्रभुकी परम अद्भुत रिङ्गन अर्थात् घुटनोंपर चलनेकी लीलाका वर्णन कर रहे हैं। उस रिङ्गन–भङ्गिमा अर्थात् घुटनोंपर चलनेकी परिपाटी द्वारा श्रीकृष्णने जिस परम मधुरलीलाको प्रकट किया था तथा गोपियोंको सुख प्रदान करनेके लिए गोरस अर्थात दहीं और मक्खनको चुराकर जिस अत्यन्त मधुरलीलाको प्रकट किया था, हे गोपकुमार! वे समस्त लीलाएँ तुम्हारी रक्षा करें॥११७॥

गोपी–गणाक्रोशनतो जनन्याः,
साक्षाद्भयालोकन–चातुरी सा।
मां पातु मृद्भक्षण–कौतुकं तत्,
क्रीड़ा च मातुर्दधि–मन्थने सा॥११८॥

श्लोकानुवाद—गोपियोंके उलाहने और क्रोधसे भयभीत होकर श्रीयशोदाके सामने जिस चातुरीसे उन्होंने इधर–उधर दृष्टिपात किया था, वह भयसे व्याकुल होनेकी चातुरी, मिट्टी खानेके लिए उत्सुकता तथा दधि–मन्थनके समय माताके हाथमें स्थित दण्डको पकड़ लेना आदि लीलाएँ मेरी रक्षा करें॥११८॥

दिग्दर्शिनी टीका—भयेन यदालोकनम् इतस्ततः प्रेक्षणम्, यद्वा, मातुर्गोपीनां वा मुखावलोकनं तस्मिन् या चातुरी मृद्भक्षणकौतुकानन्तरं विश्वरूप–दर्शनलीला पूर्वमेवोद्दिष्टा। श्रीनन्दयशोदा–भाग्याख्याने च श्रीभगवतो लीलाविशेषो नास्ति। तदधुना परमोदार–श्रीदामोदरचरितं सप्रसङ्गमाह—सपादद्वयेन। पूर्वञ्च भक्तवश्यतामात्र–प्रदर्शनाय संक्षेपेणैव उक्तमिति भेदः। मातुः श्रीयशोदाया दधिमन्थने विषये मन्थनदण्ड–धारणादिरूपा क्रीड़ा च मां पातु॥११८॥

भावानुवाद—गोपियोंके उलाहने और क्रोधसे भयभीत होकर श्रीकृष्ण द्वारा इधर–उधर दृष्टिपात करना अथवा श्रीयशोदा मैया या गोपियोंके मुखकी ओर देखनेकी चातुरी मिट्टी खानेकी कौतुक लीलाके पश्चात् तथा विश्वरूप–दर्शनकी लीलासे पहले ही कथित हुई है। श्रीनन्द–यशोदाके भाग्यका वर्णन करनेके प्रसङ्गमें भी श्रीभगवान्‌की विशेष लीला नहीं है, इसलिए यहाँ उसका उल्लेख नहीं किया गया है। अब प्रसङ्गक्रमसे परम उदार श्रीदामोदर चरित्रका वर्णन कर रहे हैं। यद्यपि पहले यह लीला श्रीकृष्णकी 'भक्त–वश्यता' के प्रदर्शनके लिए संक्षेपमें कथित हुई है, तथापि यहाँपर विस्तार सहित कह रहे हैं। अतएव दधि–मन्थनके समय श्रीकृष्ण द्वारा श्रीयशोदा माताके हाथमें स्थित दधि–मन्थनके दण्डको पकड़नेकी लीला मेरी रक्षा करें॥११८॥

तद्रोदनं तद्दधि–भाण्ड–भञ्जनं,
तच्छिक्यपात्रान्नवनीत–मोषणम् ।

तन्मातृभीतिद्रवणं भयाकुला-,
लोकेक्षणत्वञ्च महाद्भुतं प्रभोः॥११९॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णका रोदन, दधि-भाण्डको फोड़ना, छींकेपर रखे पात्रसे मक्खन चुराना, माताके भयसे व्याकुल होकर चञ्चल नेत्रोंसे इधर-उधर देखते हुए भागना—उनकी ये समस्त महाद्भुत लीलाएँ मेरी रक्षा करें॥११९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्कालीनमेव कौतुकविशेषमाह—तद्रोदनमिति। तच्छब्दैः प्रसिद्धत्वेन तत्तद्विशेषः स्मार्यते। द्रवणं वेगेनापसरणम्, भयेन आकुलश्चञ्चलः आलोकः प्रेक्षणं ययोस्ते ईक्षणे श्रीनेत्रे यस्य तस्य भावः तत्त्वञ्च तत्॥११९॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णकी उस दामोदर लीला-कालका विशेष कौतुक 'तद्रोदनं' इत्यादि श्लोक द्वारा वर्णन कर रहे हैं। 'तत्' शब्द उन लीलाओंकी प्रसिद्धिके कारण उनकी प्रसिद्ध माधुरीको स्मरण करानेके लिए प्रयोग हुआ है। अर्थात् उनका रोदन, दधि-भाण्डको फोड़ना, छींकेपर रखे पात्रसे मक्खन चुराना, माताके भयसे भागना तथा भयसे व्याकुल होकर चञ्चल नेत्रोंसे इधर-उधर दृष्टिपात करना—ये समस्त लीलामाधुरियाँ मेरी रक्षा करें॥११९॥

आकर्षणं यत्तदुलूखलस्य, बद्धस्य पाशैर्जठरे जनन्या।
चेतो हरेन्मेऽर्जुनभञ्जनं तत्तस्यां दशायाञ्च वर-प्रदानम्॥१२०॥

श्लोकानुवाद—माता श्रीयशोदाके द्वारा रस्सीसे उनका उदर बाँधना, कृष्ण द्वारा ऊखलको खींचनेके बहाने यमलार्जुन वृक्षोंका भञ्जन तथा उसी बन्धन अवस्थामें ही नलकुबेर और मणिग्रीवको वरदान देना—ये सब लीलाएँ मेरे मनको हरण कर रही हैं॥१२०॥

दिग्दर्शिनी टीका—अर्जुनयोर्वृक्षयोर्भञ्जनम्; तस्यां गोपाशैरुलूखले दृढ़बन्धन-रूपायामवस्थायामेव *"सञ्जातो मयि भावो वामीप्सितः परमोऽभवः"* (श्रीमद्भा. १०/१०/४२) इत्येवं नलकूवर-मणिग्रीवौ प्रति वरस्य प्रकर्षेण दानं तत् चेतो मे हरेत्॥१२०॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे यमलार्जुन-वृक्षभञ्जन लीलाकी माधुरी है। जब उन गोकुलेश्वरको उनकी माताने गाय-बाँधनेकी रस्सी द्वारा

ऊखलसे बाँध दिया, तब उन्होंने ऊखलको यमलार्जुन वृक्षोंके बीचसे खींचा जिसके फलस्वरूप वे दोनों वृक्ष टूट गये। तब श्रीकृष्णने उसी दृढ़बन्धनकी अवस्थामें ही नलकुबेर और मणिग्रीवको वरदान दिया। श्रीमद्भागवत (१०/१०/४२) में वर्णन है—"हे नलकुबेर! तुम दोनों अपने घर जाओ। मेरे प्रति तुम दोनोंका परम भाव उत्पन्न हुआ है अर्थात् तुम मेरी भक्तिके भाजन (पात्र) हुए हो, अतएव अब तुम्हें संसारका कोई भय नहीं है।" प्रभुके द्वारा उसी दृढ़बन्धन अवस्थामें ही नलकुबेर-मणिग्रीवके प्रति वरदान देनेकी लीला मेरे चित्तका हरण कर रही हैं॥१२०॥

वृन्दावने तर्णक-चारणेन,
क्रीड़न्नहन् वत्स-बकौ तथा यः।
मां वेणुवाद्यादि-गुरुः स वन्य-
वेशोऽवताज्जन्तुरुतानुकारी ॥१२१॥

श्लोकानुवाद—जिन्होंने श्रीवृन्दावनमें बछड़ोंको चराते हुए खेल-खेलमें ही वत्सासुर और बकासुरका वध किया, जो वेणुवादनके मूलगुरु हैं तथा जो वन्यवेशमें विभूषित होकर पशु-पक्षियोंके स्वरका अनुकरण करते हैं, वे श्रीकृष्णचन्द्र मेरी रक्षा करें॥१२१॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं बृहद्वनलीलामुक्त्वा श्रीवृन्दावनलीलामाह—वृन्देत्यादिना विश्वमोहिनीति यावत्। तर्णकानां वत्सानाञ्चारणेन कृत्वा हेतुना वा क्रीड़न् सन्। तथानिर्वचनीयमधुरप्रकारेण यो वत्स-बकौ तद्रूपधरौ दैत्यौ अहन् हतवान्। वेणुवाद्ये आदिगुरुः, तदानीं तत्र तेनैव तस्य प्रवर्त्तनात्; वन्यो बर्हगुञ्जादिर्वेशो भूषणं यस्य सः॥१२१॥

भावानुवाद—इस प्रकार बृहद्वन (गोकुल) की लीलाका वर्णनकर अब श्रीनारद समस्त विश्वको मोहित करनेवाली श्रीवृन्दावनकी लीलाका वर्णन 'वृन्दा' इत्यादि श्लोक द्वारा कर रहे हैं। उन प्रभुने श्रीवृन्दावनमें बछड़ोंको चराते हुए अनिर्वचनीय मधुर रूपमें वत्स और बकका रूप धारण किये हुए दैत्योंका वध किया। जो वेणुवादनके मूलगुरु हैं, अर्थात् उस समय श्रीवृन्दावनमें ही उन्होंने वेणुवादनका प्रवर्त्तन किया तथा जो मोरके पंख और गुञ्जामालादि रूप वनके

भूषणोंसे विभूषित होकर पशु-पक्षियोंके स्वरका अनुकरण करते हैं, वे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र मेरी रक्षा करें॥१२१॥

प्रातः सवत्सः सखिभिः प्रविष्टो,
वृन्दावनं यानकरोद्विहारान्।
तत्तत्परामर्शमहाहि-वक्त्र-,
प्रवेशनादीन् सरसान् भजे तान्॥१२२॥

श्लोकानुवाद—प्रातःकालमें बछड़ों और सखाओंके साथ वृन्दावनमें जाकर उन्होंने विविध लीलाएँ करते हुए विचारपूर्वक महासर्प अघासुरके मुखमें प्रवेश किया था—मैं इस प्रकारकी सरस लीलाओंका भजन करता हूँ॥१२२॥

दिग्दर्शिनी टीका—अघासुरमोचनलीलां सप्रसङ्गमाह—प्रातरिति। सखिभिः सह प्रातर्वृन्दावनं प्रविष्टः सन् स स परामर्शः *"कृत्यं किमत्रास्य खलस्य जीवनं, न वा अमीषाञ्च सतां विहिंसनम्"* (श्रीमद्भा. १०/१२/२८) इत्येव विचारमहाहेर्महाकाय-सर्परूपधारिणोऽघासुरस्य वक्त्रे प्रवेशनं प्रवेशश्च तदादीन् यान् विहारान् अकरोत्। आदिशब्देन वनप्रवेशप्राक्कृतां वन्यवेश-भूषण-शिक्यचौर्यादिबाल्यलीलामारभ्याघासुरस्य तेजःप्रवेशन-मुक्तिदान-पर्यन्तलीला गृह्यते। तान् विहारान् भजे भक्त्या प्रपन्नोऽस्मि। कुतः? सरसान् चित्ताकर्षकानित्यर्थः। सर्वै रसैरन्वितानिति वा॥१२२॥

भावानुवाद—अब प्रसङ्गके क्रमसे अघासुर-मोचन लीलाका वर्णन करनेके लिए 'प्रातः' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। श्रीकृष्णने सखाओंके साथ प्रातःकालमें श्रीवृन्दावनमें जाकर विविध क्रीड़ाएँ करते-करते विचारपूर्वक अघासुरके मुखमें प्रवेश किया था। श्रीमद्भागवत (१०/१२/२८) में कथित है—"वे सोचने लगे कि अब मुझे क्या करना चाहिये? ऐसा कौन-सा उपाय है, जिससे यह खल असुर भी मारा जाये और इन साधु-स्वभाव सखाओंके प्राण भी बच जायें—ये दोनों काम कैसे हो सकते हैं?" ऐसी चिन्ता करते हुए अन्तमें विचार स्थिरकर सबके दुःखोंका हरण करनेवाले श्रीहरिने उस विशालकाय सर्पका रूप धारण करनेवाले अघासुरके मुखमें प्रवेश किया तथा वहाँ विहार किया। 'आदि' शब्दसे वनमें प्रवेश करनेसे पूर्वके कृत्य, अर्थात् वन्य वेश-भूषण धारण, छींकेपर रखे पात्रसे मक्खनकी चोरी आदि

बाल्यलीलाओंसे आरम्भकर अघासुरका उनके तेजमें प्रवेश और उसको मुक्तिदान करने तक समस्त लीलाएँ ग्रहणीय हैं। कृष्णके ऐसे विहारका मैं भजन करता हूँ, अर्थात् उस विहारके प्रति भक्तिपूर्वक शरणागत होता हूँ, क्योंकि उनके विहार सरस अर्थात् चित्तको आकर्षित करनेवाले हैं अथवा समस्त रसोंसे परिपूर्ण हैं॥१२२॥

सरस्तटे शाद्‌बलजेमने या,
लीला समाकर्षति सा मनो मे।
तथा प्रभोस्तर्णक-मार्गणे या,
दध्योदनग्रासविलासिपाणेः ॥१२३॥

श्लोकानुवाद—श्रीयमुनाके तटपर भोजनके समय श्रीब्रह्मा द्वारा समस्त बछड़ोंका हरण किये जानेपर सखाओंको आश्वासन देकर उन्होंने अपने कमल जैसे हाथमें दही-भातका ग्रास लेकर बछड़ोंको ढूढ़नेकी जो लीला प्रकटित की थी—वह लीला मेरे मनको आकर्षित कर रही है॥१२३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तर्णकानां ब्रह्मणा मञ्जुमहिमविशेषं द्रष्टुं माययापहृतानां वत्सानां मार्गणे भुञ्जानान्निजसखिगणानाश्वास्य स्वयमेवान्वेषणे प्रभोर्या लीला। कीदृशस्य? दध्योदनस्य दधिमिश्रित-भक्तस्य ग्रासेन कवलेन विलासौ क्रीड़ावान् शोभायुक्तो वा पाणिर्वामकरो यस्य तस्य। *"वामे पाणौ मसृणकवलम्"* (श्रीमद्भा. १०/१३/११) इति। तथा *"विचिन्वन् भगवान् कृष्णः सपाणिकवलो ययौ"* (श्रीमद्भा. १०/१३/१४) इत्युक्तेः। अतोऽत्यन्तचित्तचमत्कारजननात् कथं तत्तद्वर्णने शक्तिः स्यादिति भावः॥१२३॥

भावानुवाद—श्रीयमुनाके तटपर पुलिन भोजनके समय ब्रह्माने प्रभुकी विशेष मनोहर महिमाका दर्शन करनेके लिए मायापूर्वक समस्त बछड़ोंका अपहरण कर लिया था। श्रीकृष्णने भोजनमें रत अपने सखाओंको आश्वासन देकर स्वयं उन बछड़ोंको ढूँढ़नेकी जिस लीलाको प्रकट किया था, वह लीला मेरे मनको आकर्षित कर रही है। वह लीला कैसी थी? भोजनके समय श्रीकृष्णका बाँया हाथ दधिसे मिश्रित भातसे सुशोभित था, जैसा कि श्रीशुकदेव गोस्वामीने श्रीमद्भागवत (१०/१३/११, १४) में वर्णन किया है—"बायें हाथमें

अत्यन्त मधुर घृतमिश्रित दही–भातका ग्रास था" तथा "अपने सखाओंको उद्विग्न देखकर श्रीकृष्णने कहा कि तुम सब भोजन करना मत छोड़ो, मैं तुम्हारे सभी बछड़ोंको ला दूँगा—ऐसा कहकर वे बाँये हाथमें दही–भातका ग्रास लेकर ही साथियोंके बछड़ोंको ढूँढ़ने चल दिये।" इस प्रकार चित्तमें अत्यधिक चमत्कार उत्पन्न करनेवाली उस लीलाका वर्णन करनेमें कौन समर्थ होगा?॥१२३॥

ब्रह्मापि यां वीक्ष्य विलास–माधुरीं,
मुमोह तां वर्णयितुं नु कोऽर्हति।
क्व सात्मवत्सार्भकरूपधारिता,
क्व मुग्धवत्तत् सखि–वत्स–मार्गणम्॥१२४॥

श्लोकानुवाद—श्रीब्रह्मा भी जिस लीला–माधुरीका दर्शनकर विमुग्ध हो गये थे, उस विलास–माधुरीका वर्णन करनेमें कौन सक्षम होगा? कहाँ तो श्रीकृष्णके द्वारा बछड़ों और सखाओंका रूप धारण करना और कहाँ मुग्धकी भाँति सखाओं और बछड़ोंको ढूँढ़ना?॥१२४॥

दिग्दर्शिनी टीका—वर्णनानर्हत्वे हेतुमाह—आत्मना स्वयमेव वत्सानामर्भकानां वत्सपानाञ्च रूपधारिता सा क्व? मुग्धवत् सखीनां वत्सानां च मार्गणं, तत् क्व? तादृशपरमैश्वर्य–प्रकटनेऽपि तादृशमौग्ध्याद्विरोधेन क्व–द्वयम्॥१२४॥

भावानुवाद—श्रीनारद उस विलास–माधुरीका वर्णन करनेमें अपनी अक्षमताका प्रदर्शन 'ब्रह्मा' इत्यादि श्लोक द्वारा कर रहे हैं। ब्रह्मा भी जिस विलास–माधुरीका दर्शनकर मोहित हो गये थे, उस विलास–माधुरीके वर्णनमें कौन सक्षम हो सकता है? कहाँ तो श्रीकृष्णके द्वारा बछड़ों और सखाओंका रूप धारण करना और कहाँ मुग्धकी भाँति बछड़ों और सखाओंका ढूँढ़ना? वैसा परम ऐश्वर्य प्रकट करनेपर भी उनकी मुग्धकी भाँति विपरीत लीला, अर्थात् कहाँ उनके ऐसे दो विपरीत स्वभावोंका प्रकटन!॥१२४॥

तत्तद्विलासास्पदगोकुलस्य स,
ब्रह्मैव माहात्म्यविशेषवित्तमः।

अस्तौत् तथा यो भगवन्तमादरा–
न्मूर्त्तो महाप्रेमरसो व्रजस्य यः ॥१२५॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णके वैसे विविध विलासोंके आधार स्वरूप उस गोकुलका विशेष माहात्म्य मैं अधिक क्या कहूँ? श्रीब्रह्मा ही इस विषयको जानते हैं, इसलिए उन्होंने व्रजकी तथा महाप्रेमकी रसमूर्त्ति श्रीकृष्णकी आदर सहित स्तुति की है॥१२५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेषां तेषां विलासानां भगवद्विहाराणामास्पदस्य गोकुलस्य व्रजभूमेर्माहात्म्यविशेषविदां मध्ये परमश्रेष्ठः स ब्रह्मैव नान्यः। तत्र हेतुः—यो ब्रह्मा तथा—*"तद्भूरि भाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां, यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।"* (श्रीमद्भा. १०/१४/३४) इत्येवं प्रकारेणादराद्भगवन्तमस्तौत्। यो भगवान् व्रजस्य मूर्त्तो महान् प्रेमरसस्तम्। अनेन—*"तन्मातरो वेणुरवत्वरोत्थिताः"* (श्रीमद्भा. १०/१३/२२) इत्यादीनां श्रीव्यासनन्दनोक्तानां तथा—*"अहोऽतिधन्या व्रजगोरमण्यः"* (श्रीमद्भा. १०/१४/३१) इत्यादीनाञ्च श्रीब्रह्मस्तुतीनामर्थोऽनुसूचितः॥१२५॥

भावानुवाद—भगवान्‌की उन लीलाओंके आधारस्वरूप गोकुल अर्थात् व्रजभूमिके माहात्म्यको जाननेवालोंमें श्रीब्रह्मा ही सर्वश्रेष्ठ हैं। श्रीब्रह्माने श्रीमद्भागवत (१०/१४/३४) में कहा है—"गोकुलमें जिनका जन्म हुआ है, वही परम भाग्यवान् हैं, क्योंकि गोकुलमें जन्म होनेसे किसी-न-किसी गोकुलवासीके चरणोंकी रज द्वारा अभिषिक्त हुआ जा सकता है।"—इस प्रकारके वाक्योंसे श्रीब्रह्माने उन भगवान्‌का आदरपूर्वक स्तव किया है, जो व्रजमें महाप्रेमकी रसमूर्त्तिका स्वरूप हैं। श्रील शुकदेव गोस्वामीने श्रीमद्भागवत (१०/१३/२२) में कहा है—(गोधूलिके समय श्रीभगवान्‌ने स्वयं ही उन समस्त गोपबालकोंके रूपमें व्रजमें प्रवेश किया) "गोपबालकोंकी माताएँ भी वेणुकी ध्वनिको सुनकर शीघ्रतापूर्वक उठीं तथा परब्रह्मरूपी श्रीकृष्णको ही अपना-अपना पुत्र समझकर अपनी दोनों भुजाओंसे आलिङ्गनकर अपनी गोदमें बिठा लिया। फिर पुत्र-स्नेहसे परिपूर्ण हृदयसे उनको अपना स्तन-दुग्धरूप अमृतका पान कराया।" इस प्रकार वात्सल्य भावसे युक्त वे सभी गोपियाँ श्रीकृष्णकी माता श्रीयशोदाके समान भाग्यशाली हो गयीं। पुनः श्रीमद्भागवत (१०/१४/३१) में श्रीब्रह्माकी स्तुतिमें भी यही अर्थ सूचित

हुआ है—"व्रजकी वात्सल्यवती समस्त गायें और गोपियाँ अति धन्य हैं। हे विभो! आपने बछड़ों और पुत्रोंके रूपमें आनन्दपूर्वक उनका स्तनामृत पान किया है॥"१२५॥

गोपालनेनाग्रज–माननेन, वृन्दावनश्रीस्तवनेन चासौ।
तेनालिगानाभिनयादिनापि, प्रभुर्व्यधाद्यां भजतां सुलीलाम्॥१२६॥

श्लोकानुवाद—गो–पालन लीलामें श्रीकृष्णने अपने अग्रज श्रीबलरामका सम्मान किया था, वृन्दावनकी शोभाकी स्तुति की थी तथा भ्रमरोंके गुञ्जनका अनुकरण किया था—हे गोपकुमार तुम उन समस्त सुन्दर लीला–माधुरियोंका भजन करो॥१२६॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं कौमारलीलामुक्त्वा पौगण्डलीलामाह—गोपालनेनेत्यादिना। असौ प्रभुः श्रीकृष्णदेवो गोपालनेन यां सुलीलां सुन्दरक्रीड़ां व्यधात् चकार, तां भज श्रद्धया सेवस्व। तेनेत्यस्य सर्वत्रैव सम्बन्धः। अलीनां भृङ्गानां गानस्याभिनयोऽनुकरणं, तदादिनापि। आदिशब्देन तत्प्रसङ्गे श्रीव्यासनन्दनोक्तं शुकजल्पनाद्यनुकरणं, गम्भीरवाचा दूरगपश्वाह्वानं, पल्लवतल्पशयनादि च गृह्यते। तत्र प्रथमं तालफलपातनादिरूपा लीला॥१२६॥

भावानुवाद—इस प्रकार कौमारलीलाका वर्णनकर अब श्रीनारद श्रीकृष्णकी पौगण्डलीलाका वर्णन 'गोपालनेन' इत्यादि श्लोक द्वारा कर रहे हैं। उन प्रभु श्रीकृष्णदेवने गोपालन द्वारा जिस सुन्दर लीलाको प्रकाशित किया था, तुम उस लीलाका श्रद्धा सहित भजन करो। उन लीलाओंमें 'अलीनां' अर्थात् भ्रमरोंके गानका अनुकरण करना तथा इस प्रसङ्गमें श्रीव्यासनन्दन द्वारा कथित शुक–जल्पनादिका अनुकरण, गम्भीर स्वर द्वारा दूरमें स्थित गायोंका आह्वान तथा पल्लव द्वारा रचित शय्यापर शयनादि लीलाओंको भी ग्रहण करना होगा। उन लीलाओंमें सर्वप्रथम श्रीकृष्ण द्वारा तालफलको तोड़नेकी मधुर लीलाका वर्णन किया जा रहा है॥१२६॥

तालीवने याविरभूच्च लीला,
या धेनुकज्ञाति–विमर्दने च।
सायं व्रज–स्त्रीगणसङ्गमेऽपि,
स्तोतुं न शक्नोम्यभिवादये ताम्॥१२७॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णने तालवनमें जिस लीलाका प्रकाश किया था, अर्थात् धेनुकासुर और उसके बन्धु-बान्धवोंका जो दमन किया था तथा सायंकालमें व्रजमें आकर व्रजगोपियोंके साथ जिस मधुर मिलन लीलाको प्रकाश किया था—मैं उन समस्त लीलाओंकी स्तुति करनेमें असमर्थ हूँ, अतः मैं उन्हें केवल भक्तिपूर्ण नमस्कार ही कर रहा हूँ॥१२७॥

दिग्दर्शिनी टीका—सायं सन्ध्यायां व्रजवर्त्तिस्त्रीगणेन सङ्गमे मिलनेऽपि या लीला आविरभूत्। तदुक्तं श्रीबादरायणिना (श्रीमद्भा. १०/१५/४२-४३)—*"तं गोरजश्छुरितकुन्तल-बद्धबर्हवन्यप्रसूनरुचिरेक्षणचारुहासम्। वेणुं क्वणन्तमनुगैरुपगीतकीर्त्तिं, गोप्यो दिदृक्षित-दृशोऽभ्यगमन् समेताः॥ पीत्वा मुकुन्दमुखसारघमक्षिभृङ्गैस्तापं जहुर्विरहजं व्रजयोषितोऽह्नि। तत् सत्कृतिं समधिगम्य विवेश गोष्ठं, सव्रीड़हासविनयं यदपाङ्गमोक्षम्॥"* इति एतयोरर्थः—गोरजोभिश्छुरितेषु सम्पृक्तेषु कुन्तलेषु बद्धं बर्हं वन्यानि प्रसूनानि च यस्य येन वा, रुचिरमीक्षणं यस्य, चारुहासं यस्य, तञ्च तञ्च तञ्च। दिदृक्षिता दर्शनोत्कण्ठायुक्ता दृशो यासां ताः; मुकुन्दस्य मुखपद्मगतं सारघं मधु; अह्नि यो विरहस्तस्माज्जातं तापम्, स च तासां तां वा सत्कृतिम् अग्रेऽभिसरणादिरूपां पूजां प्राप्य गोष्ठं विवेश। कथम्? सव्रीड़ेन हासेन कृत्वा तद्युक्तो वा विनयो यथा स्यात्तथा। ननु तर्हि व्रीड़ाविनयाभ्यामाद्यरसः कथं बोध्यते? तत्राह—यद्यथा अपाङ्गमोक्षं कटाक्षदर्शनमनतिक्रम्येत्यर्थः। एवं तासां तस्य चान्योऽन्यं दृढ़भावलक्षणमुक्तमिति। तां स्तोतुं स्तोत्ररूपेणापि वर्णयितुं न शक्नोमि, अनिर्वाच्यत्वात् प्रेममोहभयाद्वा। अतः केवलं तां लीलामभिवादये वाचा नमामि॥१२७॥

भावानुवाद—सायंकालमें श्रीकृष्ण और व्रजगोपियोंके मिलन द्वारा जिस लीलाका प्रकाश हुआ था, उसका श्रीशुकदेव गोस्वामीने श्रीमद्भागवत (१०/१५/४२-४३) में वर्णन किया है—"गायोंके खुरसे उठी हुई धूलके स्पर्शसे श्रीकृष्णके केश, जिनपर मयूरपंख और वनके पुष्पादि बँधे हुए थे, धूसरित हो गये थे। वे इधर-उधर मनोहर दृष्टिपात कर रहे थे तथा मन्द-हास्य सहित वंशीवादन कर रहे थे जिससे अमृतसिन्धु निसृत हो रहा था। गोपबालक उनकी ललित कीर्त्तिका गान करते हुए उनके पीछे-पीछे आ रहे थे। उनके दर्शनकी उत्कण्ठासे युक्त व्रजगोपियाँ अनुरागपूर्ण नेत्ररूपी भ्रमरों द्वारा मुकुन्दके विकसित मुखकमलकी सुधाका पानकर सम्पूर्ण दिनके विरह तापको दूर कर रही थीं। तथा श्रीकृष्णने भी उन गोपियोंकी लज्जासे परिपूर्ण

मन्दहास्यकी सुधा और विनयपूर्ण कटाक्ष दृष्टिसे युक्त आगे बढ़कर अपने समीपगमनरूपी उनकी पूजा या सत्कारको ग्रहणकर गोष्ठमें प्रवेश किया।"

यदि आपत्ति हो कि इस लज्जा और विनयादि द्वारा आद्य अर्थात् शृङ्गाररसका बोध किस प्रकार होता है? इसके उत्तरमें कहते हैं—"अपाङ्गमोक्षम्" अर्थात् उन गोपियोंका कटाक्ष दर्शन (तिरछी चितवन) श्रीकृष्णको अतिक्रम करके कहीं और नहीं गया—इत्यादि द्वारा ही आद्यरस सूचित होता है। इसके अलावा भी आद्यरसके अन्यान्य दृढ़भाव लक्षण कहे गये हैं। मैं इन समस्त लीलाओंकी स्तुति भी नहीं कर पा रहा हूँ, अर्थात् प्रेमरूपी मूर्च्छाके भयसे इसे स्तोत्ररूपमें वर्णन करनेमें भी असमर्थ हूँ। अतः उस अनिर्वचनीय लीलाको केवल वचन द्वारा नमस्कार कर रहा हूँ॥१२७॥

यो वै विहारोऽजनि कालियस्य,
ह्रदे यशोदा–तनयस्य तस्य।
तं स्मर्त्तुमीशो न भवामि शोक–
प्रहर्षवेगात् कथमालपानि॥१२८॥

श्लोकानुवाद—कालियह्रदमें उन श्रीयशोदानन्दनने जो लीला की थी, उसमें शोक और हर्ष दोनोंका सञ्चार होनेके कारण मैं उसे स्मरण करनेमें भी असमर्थ हो रहा हूँ, तो फिर उसका वर्णन किस प्रकार करूँ?॥१२८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तं विहारं स्मर्त्तुमपि ईशः समर्थो न भवामि। कुतः? शोक– हर्षयोः कालिय–दुष्टतादिस्मरणेन शोकः, तद्दमनार्थ–नृत्यादिस्मरणेन प्रहर्षश्च, तयोर्वेगात् परमोद्रेकाद्धेतोः। अतः कथमालपानि? सम्भावनायां पञ्चमी॥१२८॥

भावानुवाद—कालियह्रदमें प्रभुने जो लीला की थी, मैं उसे स्मरण करनेमें भी समर्थ नहीं हो रहा हूँ। किसलिए? कालियकी दुष्टताके स्मरणसे हृदयमें शोकका सञ्चार होता है तथा कालियको दमन करनेके लिए प्रभु द्वारा उसके फणोंपर किये गये नृत्यादिके स्मरणसे हर्षका भी सञ्चार होता है। अतएव युगपत् हर्ष और शोकके

अत्यधिक वेगसे सञ्चारित होनेके कारण मैं किस प्रकार उस लीलाका वर्णन करूँ?॥१२८॥

क्व दुष्टचेष्टस्य खलस्य तस्य,
दण्डस्तदा क्रोध–भरेण कार्यः।
क्व चोन्नते तत्फणवर्गरङ्गे,
नृत्योत्सवो हर्ष–भरेण तादृक्॥१२९॥

श्लोकानुवाद—कहाँ तो श्रीकृष्णने उस दुष्टचेष्टा करनेवाले कालियनागको क्रोधपूर्वक दण्ड देना था और कहाँ उन्होंने उसके ऊँचे फणोंरूपी रङ्गमञ्चपर आनन्दसे परिपूर्ण होकर नृत्य उत्सव कर डाला!॥१२९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवाह—क्वेति द्वाभ्याम्। तदा तस्मिन् काले क्रोधभरेण कार्यस्तस्य कालियस्य दण्डः क्व? दण्डे हेतुः—दुष्टा निजभोगेन श्रीमूर्त्त्याच्छादनादि-रूपा चेष्टा यस्य तस्य। किञ्च खलस्य दुष्टचित्तस्य, क्व च उन्नते उन्नमिते उत्तुङ्गे वा। तस्य कालियस्य फणवर्ग एव रङ्गः नृत्यस्थली तस्मिन् हर्षभरेण तादृक् अनिर्वचनीयो नृत्योत्सवः॥१२९॥

भावानुवाद—उस कालीय-लीलाको 'क्व' इत्यादि दो श्लोकोंमें वर्णन कर रहे हैं। कहाँ तो उस समय श्रीकृष्णने दुष्टचेष्टा करनेवाले कालियनागको क्रोधपूर्वक दण्ड देना था। दण्डका कारण था कि उस दुष्टने अपने फणों द्वारा श्रीकृष्णको ढकने और डँसने आदिकी दुष्टता की थी। किन्तु कहाँ उन्होंने उस दुष्टचित्तवाले खल कालियके ऊँचे-ऊँचे फणोंरूपी रङ्गमञ्चपर हर्षपूर्वक अनिर्वचनीय नृत्य-उत्सवका विस्तार कर डाला॥१२९॥

क्व निग्रहस्तादृगनुग्रहः क्व वा,
शेषोऽपि यं वर्णयितुं न शक्नुयात्।
तन्नागपत्नी–निवहाय मे नमः,
स्तुत्यर्चने योऽकृत कालियाय च॥१३०॥

श्लोकानुवाद—कहाँ तो कालियको दण्ड देना और कहाँ उसपर वैसा अनुग्रह करना जिसकी महिमाको श्रीशेष भी वर्णन करनेमें समर्थ

नहीं हैं। जिस कालियकी पत्नियोंने भगवान्‌की पूजा और स्तवादि किया था, मैं उन समस्त नाग-पत्नियों और कालियको नमस्कार करता हूँ॥१३०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तादृक् निग्रहः श्रीपार्ष्णिप्रहारादिना शिरोगणभञ्जनादिरूपं दमनं क्व? क्व च तादृगनुग्रहः? तन्मस्तकसुन्दरनृत्यलीलया परमदुर्लभतर-श्रीचरणाब्जरजःपातनादिः। यमनुग्रहं शेषः सहस्रवदनोऽपि वर्णयितुं न शक्नुयात्; तद्विशेषविवरणञ्च तत्रैव नागपत्नीस्तुत्यादौ ज्ञेयम्; तस्मै नागपत्नीनिवहाय कालियाय च मे मम नमः, यो नागपत्नीनिवहः कालियश्च स्तुत्यर्चने भगवतः स्तुतिं पूजाञ्चाकरोत्॥१३०॥

भावानुवाद—कहाँ तो दण्डके रूपमें श्रीकृष्णने अपने श्रीचरणोंके प्रहारके द्वारा उसके मस्तकको चूर्ण-विचूर्णकर उसका दमन करना था और कहाँ वैसा अनुग्रह? अर्थात् उसके मस्तकपर सुन्दर नृत्यलीलाके द्वारा परम दुर्लभतर अपने श्रीचरणकमलोंकी रज प्रदान करना। ऐसे अनुग्रहको श्रीशेष अपने हजारों मुखोंसे भी वर्णन करनेमें सक्षम नहीं हैं। उस अनुग्रहका विशेष विवरण वहाँ स्थित नाग-पत्नियोंकी स्तुतिमें अभिव्यक्त हुआ है। मैं उन नाग-पत्नियोंके समुदायको और कालियको नमस्कार करता हूँ, जिन्होंने स्तुति और पूजाके द्वारा प्रभुको सन्तुष्ट किया था॥१३०॥

तीरे ह्रदस्यास्य दवानलेन या,
क्रीड़ाद्भुता मञ्जुवनेऽप्यतोऽधिका।
भाण्डीरसंक्रीड़नचातुरी च सा,
ज्येष्ठस्य कीर्त्त्यै रचिता तनोतु शम्॥१३१॥

श्लोकानुवाद—कालियह्रदके तटपर श्रीकृष्णने जो दावानल पान किया था, उससे भी अधिक आश्चर्यजनक लीला उन्होंने मुञ्जाटवी-दाहमें प्रकटित की थी तथा बड़े भाई श्रीबलदेवकी कीर्त्ति बढ़ानेके लिए भाण्डीरवनमें सखाओंके साथ खेलमें चातुरी की थी—ये समस्त लीलाएँ सबका मङ्गल करें॥१३१॥

दिग्दर्शिनी टीका—अस्य कालियसम्बन्धिनो ह्रदस्य तीरे। यद्वा, अस्य भगवतो या अद्भुता क्रीड़ा, मुञ्जवने मुञ्जाटव्यामपि; अतः कालियह्रदादधिका

निमीलितचक्षुषां गोपानां पशुवर्गसहितानां सद्य एव सहसा भाण्डीरप्रापणादिना विशिष्टा या क्रीड़ा सा शं मङ्गलं तनोतु। ज्येष्ठस्य श्रीबलरामस्य कीर्त्तिविस्तारणाय रचिता भाण्डीरे संक्रीड़नं गोपक्रीडापराजय-श्रीदामवहन-प्रलम्बघातनादिरूपा क्रीड़ा, तस्मिन् चातुरी च शं तनोतु॥१३१॥

भावानुवाद—उस कालियह्रदके तटपर रात्रिवासके समय श्रीकृष्णने दावानल पानरूप जिस अद्भुत लीलाको प्रकटित किया था, उससे भी अद्भुत लीला उन्होंने मुञ्जावनमें प्रकट की थी—श्रीकृष्णकी उस क्रीड़ामें सखाओंके द्वारा अपने-अपने नेत्रोंको मूँदना तथा गायों सहित तत्क्षणात् भाण्डीरवनमें पहुँचना आदि अद्भुत क्रीड़ा-चातुरी प्रकटित हुई थी, वह क्रीड़ा सबका मङ्गल करें। उस भाण्डीरवनमें बड़े भाई श्रीबलदेवजीकी कीर्त्तिका विस्तार करनेके लिए सखाओंके साथ उन्होंने खेलमें चातुरी रची थी। उस गोपक्रीड़ामें हारने और जीतनेके अनुसार श्रीदामको कन्धेपर वहन करना तथा प्रलम्भ नामक असुरका वध इत्यादि क्रीड़ा-चातुरी सबका मङ्गल करें॥१३१॥

मनोहरा प्रावृषि या हि लीला,
महीरुहाङ्काश्रयणादिका सा।
जीयाद्व्रजस्त्रीस्मर-तापदात्री-,
शरद्वन-श्री-भरवर्धिता च॥१३२॥

श्लोकानुवाद—वर्षाकालमें वृक्षके नीचे अथवा उसकी ओटमें आश्रय लेकर उन्होंने जिन मनोहर लीलाओंको किया था तथा शरद्-ऋतुमें श्रीवृन्दावनकी परिवर्धित शोभासे व्रजाङ्गनाओंको काम-ताप प्रदान करनेवाली जिन लीलाओंका विस्तार किया था—उन सब लीलाओंकी जय हो॥१३२॥

दिग्दर्शिनी टीका—महीरुहाणां वनस्पतीनाम्, अङ्कस्य क्रोड़स्य आश्रयणमुपवेशादिना अवलम्बनं, तदादिका या मनोहरा प्रावृषि वर्षाकाले कृता क्रीड़ा सा जीयात्। आदिशब्देन तत्कालीनं कन्दमूलादिभक्षणं, शिलोपरि सखिभिः सह दध्योदन-भोजनादि च। किञ्च, शरदः शरत्कालसम्बन्धिनः, शरदा वा हेतुना वनस्य श्रीभरः शोभातिशयः, तेन वर्धिता विस्तारिता या क्रीड़ा सा च जीयात्। कीदृशी? व्रजस्त्रीणां स्मरतापस्य दात्री, यथोक्तं श्रीव्यासनन्दनेन (श्रीमद्भा. १०/२०/४५)—*"जनास्तापं जहुर्गोप्यो न कृष्णहृतचेतसः"* इति॥१३२॥

भावानुवाद—वर्षाकालमें वृक्षके नीचे अथवा आश्रयमें उपस्थित होकर उस समय कन्द-मूल आदिका भक्षण, शिलाके ऊपर सखाओंके साथ दधि-भातका भोजन करनेके रूपमें (भोजनथालीमें) श्रीकृष्णने जिन मनोहर लीलाओंका विस्तार किया था, वे लीलाएँ जययुक्त हों। तदुपरान्त कह रहे हैं—शरत्-कालमें वनकी अत्यधिक शोभा द्वारा परिवर्द्धित अर्थात् विस्तारित जो लीलाएँ कीं थीं, वे जययुक्त हों। वे लीलाएँ कैसी थीं? व्रजसुन्दरियोंको काम-ताप देनेवाली थीं। जैसा कि श्रीशुकदेव गोस्वामीने श्रीमद्भागवत (१०/२०/४५) में वर्णन किया है—"शरद्-ऋतुमें पुष्पयुक्त उपवनोंसे प्रवाहित होनेवाली मलय समीर (वायु) के सेवनने सभीको तापसे मुक्त कर दिया, किन्तु व्रजगोपियोंका ताप और अधिक बढ़ गया, क्योंकि उनका चित्त उनके पास नहीं था, श्रीकृष्णने उसे चुरा लिया था॥"१३२॥

सा वन्यभूषा स च वेणुवाद्यमाधुर्यपूरोऽखिलचित्तहारी।
तद्गोप-योषिद्गण-मोहनञ्च, मया कदास्यानुभविष्यतेऽद्धा॥१३३॥

श्लोकानुवाद—श्रीनन्दनन्दनके उस सुन्दर वन्यवेश तथा वेणुवादनकी माधुरी द्वारा सम्पूर्ण जगत्के चित्तका हरण हो गया तथा व्रजगोपियाँ मोहित हो गयीं। हाय! मैं कब उन समस्त लीलाओंका साक्षात् अनुभव करूँगा?॥१३३॥

दिग्दर्शिनी टीका—अस्य भगवतः वन्यभूषा, सा च श्रीव्यासनन्दनेन उक्ता (श्रीमद्भा. १०/२१/५)—*"बर्हापीड़ं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं, विभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीञ्च मालाम्। रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दैर्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्त्तिः॥"* इति। वेणुवाद्यस्य माधुर्यं, तस्य पूरः रसधारा, स च—*"गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणुः"* (श्रीमद्भा. १०/२१/९) इत्यादिभिरष्टभिः श्लोकैः, तथा—*"गो-गोपकैरणुवनं नयतोरुदारवेणुस्वनैः"* (श्रीमद्भा. १०/२१/१९) इत्यनेन च श्रीभगवतीभिः सविशेषं वर्णितो ज्ञेयः। तत्प्रपञ्चश्चाग्रेऽशेषमहत्त्व-माधुरीवर्णने व्यक्तो भावी, तस्यात्यन्तमाधुर्यावहत्वेन तत्रैव वर्णनात्। गोपयोषितां गणस्य मोहणञ्च तत्, शरद्विहारे वेणुगीतात्। तच्च तत्प्रसङ्ग एव—*"तद्व्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयम्"* (श्रीमद्भा. १०/२१/३) इत्यादिना श्रीव्यासनन्दनेनाप्युक्तमस्ति। कदा मया साक्षादनुभविष्यते इति; तत्र निजलालसाभिव्यञ्जिता॥१३३॥

भावानुवाद—भगवान्‌की उस वन्यवेश-भूषाके सम्बन्धमें श्रीशुकदेव गोस्वामीने श्रीमद्भागवत (१०/२१/५) में वर्णन किया है—"उन नटवरने सखाओं द्वारा घिरकर परमानन्दसे नृत्य करते-करते तथा अधरसुधा द्वारा वेणुके छिद्रोंको परिपूर्ण करते हुए श्रीवृन्दावनमें प्रवेश किया। उनका मस्तक मयूरपुच्छसे बने हुए चूड़ेसे तथा दोनों कान कनेरके फूलोंसे सुशोभित थे। उन्होंने सोनेके समान पीतवर्णके वस्त्रको धारण किया हुआ था तथा उनके गलेमें वैजयन्ती माला सुशोभित थी।" वेणुवादनकी उस मधुर रसधाराके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवत (१०/२१/९) में इस प्रकार वर्णन हुआ है—"इस नीरस काष्ठके वेणुने कैसा अनिर्वचनीय पुण्य किया है! दामोदरकी अधरसुधा केवल गोपियोंके लिए ही है, किन्तु यह वेणु नाममात्रका रस छोड़कर अकेले ही सम्पूर्ण रसका उपभोग कर रही है। जिस मानसी-गङ्गाके जलसे यह वेणु पुष्ट हुई है, इसके अपूर्व सौभाग्यको देखकर वे समस्त नदियाँ भी वेणुके अवशेष श्रीकृष्णके अधरामृतका पानकर प्रेमके उदित होनेके कारण अपने जलमें विकसित कमल धारणकर रोमाञ्चित हो रही हैं। वस्तुतः अपने वंशमें भगवान्‌के सेवक रूपमें पुत्ररत्नके जन्म होनेपर कुलके लोग आनन्दसे अश्रुपात करते हैं। इस वंशीका ऐसा पुण्य देखकर वंशीके कुलके समस्त वृक्ष अपने देहमें पुष्पधारण करनेके छलसे सात्त्विक विकार प्रकट कर रहे हैं तथा मधुकी धाराके रूपमें अश्रुपात कर रहे हैं।" इत्यादि रूप आठ श्लोकों अर्थात् श्रीमद्भागवत (१०/२१/९-१६) में सभीके चित्तका हरण करनेवाली वेणुवादनकी महिमा वर्णित हुई है। तथा श्रीभगवती गोपियोंने विशेषरूपसे वेणुके माहात्म्यका कीर्त्तन श्रीमद्भागवत (१०/२१/१९) में इस प्रकार किया है—"जब श्रीकृष्ण वेणुके वादनसे गायोंको आह्वानकर एक वनसे दूसरे वनमें ले जाते हैं, तब उनकी मधुर वेणुध्वनिको सुनकर जङ्गम (चल) प्राणियोंमें स्पन्दनहीनता तथा वृक्ष आदि स्थावर (अचल) प्राणियोंमें पुलकादि उदित होता है।" यह विषय आगे श्रीकृष्णकी असीम महत्व-माधुरीके वर्णनके समय विस्तार सहित व्यक्त किया जायेगा। माधुर्यकी अत्यन्त प्रचुरताके कारण इस विषयका उसी

स्थानपर वर्णन करना ही उचित है। शरत्-कालीन विहारके समय वेणुकी ध्वनि द्वारा गोप-रमणियोंके चित्तका विमोहित होना भी उसी प्रसङ्गके अन्तर्गत श्रीशुकदेव गोस्वामीने श्रीमद्भागवत (१०/२१/३) में वर्णन किया है—"श्रीकृष्णके उस वेणुगीतको सुनकर गोपियोंके चित्तमें स्मरभाव (काम) का उदय हुआ।" हाय! मैं कब इन लीलाओंको साक्षात् अनुभव करूँगा? इसके द्वारा उस लीला-सेवनके विषयमें श्रीनारदकी अत्यधिक लालसा अभिव्यक्त हुई है॥१३३॥

क्वाहो स कन्याम्बर-मोषणोत्सवः,
सा नीप-मूर्धन्यधिरोहणत्वरा।
नर्माणि तान्यञ्जलिवन्दनार्थनं,
तत्स्वांसनीतांशुकदातृता च सा॥१३४॥

श्लोकानुवाद—अहो! कहाँ है उन व्रजकन्याओंका वस्त्र-हरण उत्सव? जब श्रीकृष्ण उनके वस्त्रोंको लेकर शीघ्रतापूर्वक कदम्ब वृक्षपर चढ़ गये थे, तब उन्होंने उन कन्याओंसे हाथ जोड़कर वन्दना करनेके लिए हास्य-परिहास किया था और अन्तमें अपने कन्धेपर रखे वस्त्रोंको उनको अर्पण किया था—मैं कब इन लीलाओंका साक्षात् अनुभव करूँगा?॥१३४॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, अहो इति प्रेमखेदे। गोपकन्यानामम्बरमोषणमेवोत्सवः क्व? कुत्र वर्त्तते? यद्वा, कदानुभविष्यत इत्यस्यैवात्राप्यनुषङ्गः। नर्माणि च—*"सत्यं ब्रवाणि नो नर्म यद्यूयं व्रतकर्षिताः"* इत्यादिना तत्रैव (श्रीमद्भा. १०/२२/१०) श्रीभगवतोक्तानि द्रष्टव्यानि। अञ्जलिना यद्वन्दनं तस्य अर्थनं याचनम्; *"बद्धाञ्जलिं मूर्ध्न्यपनुत्तयेऽहसः"* इति तत्रैव (श्रीमद्भा. १०/२२/१९) श्रीभगवदुक्तेः। स्वस्य भगवतः अंसं स्कन्धं नीतानां प्रापितानाम् अंशुकानां गोपकन्यावस्त्राणाम् दातृता च—*"स्कन्धे निधाय वासांसि"* (श्रीमद्भा. १०/२२/१८) इत्यादि-श्रीशुकोक्तेः॥१३४॥

भावानुवाद—अब श्रीनारद प्रेमवशतः खेद करते हुए कह रहे हैं—अहो! कहाँ है भगवान् द्वारा गोपकन्याओंका वह वस्त्र-हरण उत्सव? अथवा, हाय! कब मैं उन समस्त लीलाओंका अनुभव करूँगा? श्रीकृष्णका गोपकन्याओंके साथ जो हास-परिहास हुआ था, श्रीमद्भागवत (१०/२२/१०) में उसका वर्णन है—"मैं सत्य कह रहा

हूँ, परिहास नहीं कर रहा कि तुम सब व्रत अनुष्ठानसे अत्यन्त क्षीण हो गयी हो।" उसी प्रकार श्रीकृष्णने उन कन्याओंको हाथ जोड़कर वस्त्र याचनाका आदेश दिया था, यथा श्रीमद्भागवत (१०/२२/२१) में उक्त है—"दोनों हाथ जोड़कर मस्तकपर रखो तथा मस्तकको झुकाते हुए प्रणाम करो, तदनन्तर अपने-अपने वस्त्र ग्रहण करो।" तथा अपने कन्धोंपर रखे वस्त्रोंको गोपकन्याओंको अर्पण करनेवाली श्रीकृष्णकी लीला जिसका श्रीशुकदेव गोस्वामीने श्रीमद्भागवत (१०/२२/१८) में वर्णन किया है—"श्रीकृष्णने दयापूर्वक गोपकन्याओंको अपने कन्धेपर रखे हुए वस्त्रोंको अर्पण किया।"—मैं कब इन सब लीलाओंका अनुभव करूँगा? ॥१३४॥

तां यज्वविप्रौदन-याचनाञ्च तत्पत्नीगणाकर्षणमप्यमुष्य।
तान् भूषणावस्थितिवाक्प्रसादानीड़े तदन्नादनपाटवञ्च ॥१३५॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान् द्वारा सखाओंसे याज्ञिक (यज्ञ करनेवाले) ब्रह्मणोंके पास जाकर अन्नकी भिक्षा करवाना तथा उनकी स्त्रियोंके मनको आकर्षित करना, भूषण आदिसे सुसज्जित होकर सखाओंके कन्धेपर हाथ रखकर खड़े होना तथा याज्ञिक पत्नियोंके प्रति वचनरूपी कृपा करना, फिर उनके लाये हुए अन्नादि द्रव्योंको सखाओंके साथ उत्साहपूर्वक भोजन करना—मैं इन सभी लीलाओंका स्तव करता हूँ॥१३५॥

दिग्दर्शिनी टीका—यज्वनां यज्ञकारिणां विप्राणामोदनस्य याचनां गोपैः कारितं प्रार्थनम्; अमुष्य भगवतः; अस्य सर्वत्रैवान्वयः। पत्नीगणस्य तेषामेव विप्राणां भार्यावर्गस्य आकर्षणमपि तत्। भूषणं—"*श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्हधातु-प्रवालनटवेशमनुव्रतांसे। विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं, कर्णोत्पलालक-कपोलमुखाब्ज-हासम्॥*" (श्रीमद्भा. १०/२३/२२) इति श्रीशुकोक्तमेव ज्ञेयम्। अवस्थितिञ्च तत्र तेनैवोक्तं सखि-स्कन्धे श्रीवामहस्ताब्ज-विन्यासादिना अवस्थानम्। वाचञ्च—"*स्वागतं वो महाभागा आस्यतां करवाम किम्। यन्नो दिदृक्षया प्राप्ता उपपन्नमिदं हि वः॥*" (श्रीमद्भा. १०/२३/२५) इत्यादिनोक्ताम्। प्रसादञ्च ईड़े स्तौमि; स च—"*पतयो नाभ्यसूयेरन् पितृ-भातृ-सुतादयः। लोकाश्च वो मयोपेता देवा अप्यनुमन्यते॥*" (श्रीमद्भा. १०/२३/३१) इत्यादिना भगवद्वाक्येन तत्रैवोद्दिष्टस्तथा लोकातीत-निजभाव-विस्तारणरूपश्च ज्ञेयः। यथोक्तं श्रीशुकेन (श्रीमद्भा. १०/२३/३८)—"*दृष्ट्वा स्त्रीणां*

भगवति कृष्णे भक्तिमलौकिकीम्।" इति। तैरपि विप्रैश्च (श्रीमद्भा. १०/२३/४१)— *"अहो! पश्यत नारीणामपि कृष्णे जगद्गुरौ। दुरन्तभावं योऽविध्यन् मृत्युपाशान् गृहाभिधान्॥"* इति। अन्नस्य यज्ञपत्नीसमानीतस्य अदने भोजने पाटवञ्च परिपाटी, तत् ईड़े। तदुक्तं तेनैव (श्रीमद्भा. १०/२३/३५) *"भगवानपि गोविन्दस्तेनैवान्नेन गोपकान्। चतुर्विधेनाशयित्वा स्वयञ्च बुभुजे प्रभुः॥"* इति॥१३५॥

भावानुवाद—इन भगवान्‌ने यज्ञ करनेवाले ब्रह्मणोंके पास अपने सखाओंको भेजकर यज्ञके अन्नके लिए प्रार्थना करवायी थी तथा उन याज्ञिक पत्नियोंके चित्तको आकर्षणकर उन्हें भूषणसे सुसज्जित अपने जिस रूपका दर्शन कराया था, उसका वर्णन श्रीशुकदेव गोस्वामीने श्रीमद्भागवत (१०/२३/२२) में किया है—"श्रीकृष्णका श्याम-वर्ण है, वे पीत-वर्णके वस्त्र धारण किये हुए हैं, उनके गलेमें वनमाला है, चूड़ेमें मयूरपुच्छ (मोरपंख) है तथा प्रवालादि धातुओं द्वारा उनका वेश रचित होनेके कारण वे नटवरके समान शोभा पा रहे हैं। वे अपने सखाके कन्धेपर बाँया हाथ रखकर दाँये हाथसे एक लीलाकमलको घुमा रहे हैं। उनके कानोंमें उत्पल (कमल), अलकावलीसे सुशोभित गण्डस्थल और मुखकमलपर विश्वको मोहित कर देनेवाला मन्द हास्य विलास कर रहा है।" वे वनमें सखाके कन्धेपर बाँया हाथ रखकर अवस्थान करते हुए याज्ञिक पत्नियोंसे कहने लगे, यथा श्रीमद्भागवत (१०/२३/२५) में उक्त है—"हे महाभाग्यशालिनियों! तुम्हारा आगमन सुखपूर्वक तो हुआ है न? आओ, बैठो। कहो, हम तुम्हारा क्या स्वागत करें? तुम लोग हमारी दर्शनकी इच्छासे यहाँ आयी हो, यह तुम्हारे जैसे प्रेमपूर्ण हृदयवालोंके लिए उचित ही है।" इत्यादि रूपमें भगवान्‌की उक्तियाँ हैं। फिर उनके प्रति कृपा करते हुए भगवान्‌ने श्रीमद्भागवत (१०/२३/३१) में इस प्रकार कहा है—"पति, पिता, भाई और पुत्र आदि, यहाँ तक कि अन्य लोकोंमें भी कोई तुम्हारी किसी भी प्रकारसे निन्दा नहीं करेगा। मेरी आज्ञासे देवता भी तुम्हारे इस आचरणसे प्रसन्न होंगे।" इत्यादि भगवान्‌के इन वाक्यों द्वारा वहाँपर उद्दिष्ट (ब्राह्मण पत्नियोंके पति आदिमें) तथा लोकसे अतीत (देवताओं आदिमें) अपने भाव अर्थात् प्रेमभक्तिको विस्तार करनेवाली लीला विशेषको भी समझना होगा। श्रीशुकदेव गोस्वामीने श्रीमद्भागवत

(१०/२३/३८) में कहा है—"श्रीकृष्णके प्रति अपनी पत्नियोंकी अलौकिक भक्तिको देखकर तथा स्वयंको भक्तिहीन जानकर ब्राह्मणगण अनुताप करते हुए अपनी निन्दा करने लगे।" उन विप्रोंने भी श्रीमद्भागवत (१०/२३/४१) में कहा है—"अहो! जगद्गुरु श्रीकृष्णके प्रति इन स्त्रियोंकी इस भक्तिका दर्शन करो जिस भक्तिने इनके गृह-बन्धनरूप मृत्युपाशका छेदन किया है।" तथा याज्ञिक पत्नियों द्वारा लाये गये अन्नादि-व्यञ्जनोंको भगवान् द्वारा उत्साहपूर्वक ग्रहण करनेकी रीतिका वर्णन श्रीमद्भागवत (१०/२३/३५) में इस प्रकार है—"भगवान् श्रीगोविन्दने सखाओंको उस चार प्रकारके अन्नका भोजन करवाकर स्वयं भी भोजन किया।"—मैं इन समस्त लीलाओंका स्तव करता हूँ॥१३५॥

गोवर्धनाद्रे रुचिरार्चनां तथा, स्व-वामहस्तेन महाद्रिधारणम्।
तद्गोपसन्तोषणमिन्द्रसान्त्वनं, वन्देऽस्य गोविन्दतयाभिषेचनम्॥१३६॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वतका वह मनोहर पूजन, अपने बाँये हाथकी कनिष्ठ अङ्गुलीपर उस महापर्वतको धारण करना, व्रजवासियोंको सन्तुष्ट करना, इन्द्रके मदको चूर्ण करनेके पश्चात् उसे सान्त्वना प्रदान करना तथा सुरभि द्वारा 'गोविन्द' नामसे श्रीकृष्णका अभिषेक—मैं इन समस्त लीलाओंकी वन्दना करता हूँ॥१३६॥

दिग्दर्शिनी टीका—रुचिरां साक्षाद्वन्यादनादिना मनोहराम्; अर्चनां श्रीनन्दादिभिः कारितां पूजाम्। महतोऽद्रेः श्रीगोवर्धनस्यैव धारणम्। तदित्यस्य लिङ्ग-व्यत्ययेनापि सर्वत्रैव सम्बन्धः कार्यः। गोपानां सन्तोषणं प्रीतिविशेषजननं, तच्च—*"तं प्रेमवेगान्निभृता व्रजौकसो, यथा समीयुः परिरम्भणादिभिः"* (श्रीमद्भा. १०/२५/२९) इत्यनेन तेनैवोक्तम्। यद्वा, श्रीनन्दोक्त-गर्गवाक्यैः कृतम्, तच्च तेनैवोक्तम्—*"इति नन्दवचः श्रुत्वा गर्गगीतं व्रजौकसः। मुदिता नन्दमानर्चुः कृष्णञ्च गतविस्मयाः॥"* (श्रीमद्भा. १०/२६/२४) इति। अथवा, *"मत्सम्बन्धेन वो गोपा यदि लज्जा न जायते। श्लाघ्योऽहं वै ततः किं वो विचारेण प्रयोजनम्॥ यदि वोऽस्ति मयि प्रीतिः श्लाघ्योऽहं भवतां यदि। तदात्मबन्धुसदृशी बुद्धिर्वः क्रियतां मयि॥ नाहं देवो न गन्धर्वो न यक्षो न च दानवः। अहं वो बान्धवो जातो नातश्चिन्त्यमतोऽन्यथा॥"* इत्यनेन श्रीपराशरोक्तेन श्रीभगवद्वाक्येनैव कृतमिति द्रष्टव्यम्। अस्य भगवतः गोविन्दतया गोविन्दनामकरणादिनाऽभिषेचनञ्च वन्दे॥१३६॥

भावानुवाद—'रुचिर' अर्थात् स्वयं भगवान् द्वारा ही साक्षात् गोवर्धन मूर्त्ति धारण करनेके कारण उसकी मनोहर शोभा तथा 'अर्चनां' अर्थात् श्रीनन्दादि द्वारा किया गया उस गोवर्धन पर्वतका मनोहर अर्चन। श्रीभगवान् द्वारा अपने बाँये हाथकी कनिष्ठ अङ्गुलीपर उस महापर्वतको धारण करना तथा गोपोंको सन्तोष प्रदान करना अर्थात् उनमें अपने प्रति लौकिक सद्‌बन्धुवत प्रीतिविशेषको उत्पन्न करना, जैसा कि श्रीशुकदेव गोस्वामीने श्रीमद्भागवत (१०/२५/२९) में कहा है—"भगवान्‌ने जब सबके सामने उस महापर्वतको पहलेकी भाँति यथास्थानपर स्थापित किया, तब व्रजवासियोंने प्रेमपूर्वक उनके पास आकर जिसका जिस प्रकार आचरण करना उचित था, उसके अनुसार ही उन्होंने श्रीकृष्णको आलिङ्गनादि किया। गोपियोंने भी आनन्दसे परिपूर्ण होकर दही, चावल जैसे माङ्गलिक द्रव्यों द्वारा उनका पूजन किया।" अथवा श्रीनन्दके द्वारा कथित श्रीगर्गाचार्यके वचनोंको दोहराते हुए श्रीशुकदेवने श्रीमद्भागवत (१०/२६/२४) में कहा है—"व्रजवासियोंने श्रीनन्द महाराजके मुखसे गर्गमुनिके वचनोंको सुनकर विस्मयका परित्याग किया तथा आनन्दपूर्वक श्रीनन्द और श्रीकृष्णकी पूजा करने लगे।"

अथवा श्रीविष्णुपुराणमें श्रीपराशरमुनि द्वारा कथित श्रीभगवान्‌के वचन द्रष्टव्य हैं, यथा—"हे गोपगण! यदि मेरे साथ तुम्हारा जो सम्बन्ध है, वह सम्बन्ध तुम्हारे लिए लज्जाजनक न हो, तब तुम्हारे द्वारा मेरी प्रशंसा करने या अन्य-अन्य विचारोंकी क्या आवश्यकता है? अथवा यदि तुम मेरी प्रसन्नताके लिए मेरी प्रशंसा करते हो, तथापि मेरे साथ तुम्हारा जो सम्बन्ध है, उसके अलावा अन्य कुछ भी मत सोचना अर्थात् मेरे प्रति अपने बन्धु जैसी बुद्धि ही करना। मैं देव, दानव, यक्ष या गन्धर्वादि कुछ भी नहीं हूँ। मैं केवल तुम्हारा बान्धव हूँ और मेरे प्रति तुम्हारी जो प्रीति है, उसके अलावा दूसरे प्रकारकी चिन्ता मत करना।" तथा भगवान् द्वारा इन्द्रको सान्त्वना देना तथा सुरभि द्वारा 'गोविन्द' नामकरणपूर्वक भगवान्‌का अभिषेक करना—इन समस्त लीलाओंकी मैं वन्दना करता हूँ॥१३६॥

व्रजस्य वैकुण्ठ–पदानुदर्शनं,
लोकाच्च नन्दानयनं प्रचेतसः।
न वक्तुमर्हामि परान्तसीमगां,
वक्ष्ये कथं तां भगवत्त्व–माधुरीम्॥१३७॥

श्लोकानुवाद—व्रजवासियोंका वैकुण्ठ–दर्शन, श्रीनन्दमहाराजको वरुण–लोकसे लौटा लाना इत्यादि प्रकारकी असीम लीलाओंका वर्णन करनेमें मैं असमर्थ हूँ, तो फिर भगवत्ताकी माधुरीका वर्णन किस प्रकार करूँगा?॥१३७॥

दिग्दर्शिनी टीका—व्रजस्य व्रजवासिजनस्य, तं प्रति श्रीवैकुण्ठपदस्य वैकुण्ठाख्य–लोकस्य अनुदर्शनं ब्रह्महृदे भगवता कारितं दर्शनं, प्रचेतसो वरुणस्य लोकात् नन्दस्यानयनञ्चापि वक्तुं नार्हामि नेशे न योग्यो भवामीति वा। तां वेणुवादनवैदग्धी–विशेष–गोपीगणमोहन–रासक्रीड़ादिरूपां भगवत्त्वस्य पारमैश्वर्यस्य भगवन्महामहिम–विशेषस्येति यावत् माधुरीं कथं वक्ष्ये? कीदृशीम्? परान्तसीमगां परमान्त्यकाष्ठां प्राप्तां वैकुण्ठदर्शनाय नन्दानयनतोऽपि वेणुवाद्यवैदग्धीविशेषादीनां परममनोहरमाधुर्यापेक्षया कथमिति न्यायोक्तिः। सर्वासु व्रजलीलासु परमोत्कृष्टापि, तथा क्रमप्राप्तापि, रासक्रीड़ाग्रेऽशेष–महत्त्वमाधुरीवर्णनशेषे विवक्षया गोपीगणवर्णितवेणुवादनवैदग्धी–विशेषवदधुना नोक्तेति ज्ञेयम्॥१३७॥

भावानुवाद—श्रीभगवान् द्वारा व्रजवासियोंको ब्रह्महृदमें वैकुण्ठलोकका दर्शन कराना तथा वरुणलोकसे श्रीनन्दमहाराजको लौटा लाना—मैं इन लीलाओंका भी वर्णन करनेके योग्य नहीं हूँ, तो फिर भगवान्की वेणुवादनमें विशेष वैदग्धी, गोपियोंको मोहित करना, रासक्रीड़ादि रूप समस्त लीलाएँ जिनमें भगवान्के परम ऐश्वर्य अर्थात् उनकी विशेष महामहिमाकी समस्त माधुरी विद्यमान है—मैं किस प्रकार वर्णन करूँ? वह लीला–माधुरी कैसी है? वह चरम सीमाको प्राप्त लीला है, अतः व्रजवासियोंको वैकुण्ठदर्शन कराना तथा श्रीनन्दमहाराजको वरुणलोकसे लौटा लानेवाली लीलाओंसे भी उनके वेणुवादनकी विशेष वैदग्धीमें परम मनोहर माधुर्य प्रकट होनेके कारण मैं किस प्रकार उसका वर्णन करूँ? क्रमके अनुसार समस्त व्रजलीलाओंमेंसे सर्वश्रेष्ठ रासक्रीड़ाका वर्णन अभी यहाँपर न होकर आगे अर्थात् व्रजकी असीम महिमा–माधुरी वर्णनके अन्तमें होगा तथा गोपियों द्वारा वर्णित वेणुवादन वैदग्धी

विशेषकी भाँति ही रासक्रीड़ाका वर्णन यहाँ नहीं किया गया है—ऐसा जानना होगा॥१३७॥

वाच्यः किमेषां व्रजचेष्टितानां,
यः सर्वतः श्रैष्ठ्य–भरो विचारैः।
तदक्षराणां श्रवणे प्रवेशा–
दुदेति हि प्रेम–भरः प्रकृत्या॥१३८॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णकी उन व्रजलीलाओंका वर्णन कौन कर सकता है, जो विचारके बलसे समस्त अवतारोंकी लीलओंसे श्रेष्ठ है? यहाँ तक कि उन लीलाओंके अर्थविशेषको प्रकट करनेवाले अक्षरके भी शब्द रूपमें कानोंमें प्रवेश करनेपर स्वाभाविक प्रेम उदित होता है॥१३८॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं विलासलक्ष्मी–प्रसङ्गमुपसंहरन् उक्तानां तत्तल्लीलानां पूर्वोद्दिष्टमेव सर्वोत्कृष्ट–मधुरमाहात्म्यमभिव्यञ्जयति—वाच्य इति द्वाभ्याम्। एषामुद्दिष्टानां व्रजचेष्टितानां मथुराव्रजभूमिकृत–भगवद्विहाराणां सर्वतः नानावतारादिकृताशेषचेष्टितात् सकाशात् श्रैष्ठ्यभरः उत्कर्षातिशयः, विचारैस्तत्तत्तत्त्वालोचनैर्यः स्यात्, स किं वाच्यः? अपि तु वक्तुं न शक्य इत्यर्थः। हि यस्मात्तेषां व्रजचेष्टितानां यान्यक्षराणि तदभिधायकवर्णानि, तेषां श्रवणे कर्णे प्रवेशादपि प्रेमभर उदेति आविर्भवति। किं पुनस्तदर्थानुसन्धानेन, बहुलविचारतः स जायत इति वक्तव्यमित्यर्थः। नन्वेवं कथं सम्भवेत्तत्राह—प्रकृत्या स्वभावत इति। यथाग्नेरुष्णत्वं, तथा तत्तद्भगवल्लीलाप्रतिपादकानां पूतनामोचनादिशब्दानामपि सहजशक्तिवृत्तेरित्यर्थः॥१३८॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे श्रीकृष्णकी 'विलासलक्ष्मी' अर्थात् व्रजविहार–शोभाके प्रसङ्गका उपसंहार करते हुए पूर्व–कथित समस्त लीलाओंके सर्वोत्कृष्ट मधुर माहात्म्यको 'वाच्य' इत्यादि दो श्लोकोंमें प्रकाशित कर रहे हैं। इस प्रकार पूर्व कथित मथुरा–व्रजभूमिमें किया गया भगवान्‌का विहार अर्थात् उनकी क्रीड़ाएँ तत्त्व–विचारके द्वारा समस्त प्रकारसे अन्य अवतारों द्वारा की गयी अनन्त प्रकारकी लीलाओंसे अत्यधिक श्रेष्ठ है। अतः भगवान्‌की उन क्रीड़ाओंका मैं किस प्रकारसे वर्णन करूँ? अपितु किसी भी प्रकारसे वर्णन करनेमें समर्थ नहीं हूँ। व्रजमें की गयी उन लीलाओंके विशेष अर्थको प्रकट करनेवाले अक्षर भी शब्द रूपमें कानोंमें प्रवेश करनेमात्रसे ही जब

श्रोताके हृदयमें प्रेमका आविर्भाव करा देते हैं, तब अनुसन्धानपूर्वक अर्थ विचार करनेसे प्रेम उदित होगा, इस विषयमें अधिक क्या कहा जाये? यदि आपत्ति हो कि उन लीला प्रतिपादक अक्षरोंका श्रवणमात्र करनेसे ही प्रेमका आविर्भाव कैसे सम्भव होता है? इसके लिए कहते हैं—'प्रकृत्या' अर्थात् लीलाकी स्वाभाविक शक्तिकी ऐसी ही अचिन्त्य क्रिया है। जिस प्रकार अग्निके संयोगसे उष्णताका सञ्चार होता, उसी प्रकार भगवान्‌की उन-उन लीलाओंका प्रतिपादन करनेवाले 'पूतना मोचनादि' शब्दोंके किसी प्रकारसे भी कानोंमें प्रवेश करनेपर, अर्थात् उन लीलाओंके श्रवणमात्रसे ही श्रोताके हृदयमें प्रेमका सञ्चार होता है—यह लीलाकी ही स्वाभाविक शक्ति है॥१३८॥

कृष्णेहितानामखिलोत्तमं य-
स्तर्कैः प्रकर्षं तनुते स धन्यः।
तेषां दराकर्णनमात्रतो यः
स्यात् प्रेमपूर्णस्तमहं नमामि॥१३९॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णकी लीलाएँ अन्य समस्त अवतारोंकी लीलाओंसे श्रेष्ठ हैं—जो युक्ति-तर्क द्वारा इस विषयको स्थापित करते हैं, वे धन्य हैं। परन्तु जो श्रीकृष्ण-लीलाके किसी सामान्य अंशके श्रवणमात्रसे ही प्रेमसे परिपूर्ण हो जाते हैं, उन समस्त श्रेष्ठ पुरुषोंको मैं प्रणाम करता हूँ॥१३९॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं विचारपूर्वकार्थानुसन्धानेन परमप्रेमातिशयो जायत इत्युक्तम्। तत्र विचारादिना प्रेमाविर्भावादपि तदक्षरश्रवणमात्रेण प्रेमाविर्भावः परमश्लाघ्य इत्याशयेनाह—कृष्णेति, कृष्णस्य ईहितानां चरितानाम्, अखिलेभ्यः अशेषावतार-चरितादिभ्यः उत्तमम् अधिकं, प्रकर्षमुत्कर्षं तर्कैर्युक्तिभिर्यो जनो विस्तारयति विस्तरेण स्थापयति, स धन्यः परमभग्यवान् परमश्लाघ्य इति वा। किन्तु तेषां कृष्णेहितानां दराकर्णनं ईषच्छ्रवणं, तन्मात्रेण पूतनामोचनादिकथनेन, आद्यस्य पूतनादिशब्दस्यापि श्रवणेनैव यो जनः प्रेम्णा पूर्णः, तल्लक्षणसम्पत्तिभिर्व्याप्तः स्यात्तमहं नमामि; मादृशानामपि स परमपूज्य इत्यर्थः॥१३९॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे विचारपूर्वक लीलाके अर्थका अनुसन्धान करनेसे प्रचुर परिमाणमें परम प्रेमका आविर्भाव होता है। किन्तु

विचारादिके द्वारा उदित होनेवाले प्रेमसे भी लीलाके विशेष अर्थको प्रकट करनेवाले शब्दके श्रवणमात्रसे जो प्रेम उदित होता है, वह परम प्रशंसनीय है—इसी अभिप्रायसे 'कृष्ण' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। जो युक्ति-तर्कके द्वारा भगवान्‌के अनन्त अवतारोंके चरित्रसे भी श्रीकृष्णके चरित्रकी सर्वोत्कृष्टता अर्थात् चरम श्रेष्ठता स्थापित करते हैं, वे धन्य हैं अर्थात् परम भाग्यवान् या परम प्रशंसनीय हैं। किन्तु जो दूरसे ही श्रीकृष्णलीलाके किसी एक अंशको श्रवण करनेसे ही, अर्थात् पूतना मोचनादि लीला-प्रसङ्गमें प्रथमतः 'पूतना' शब्दको श्रवण करनेमात्रसे ही प्रेमसे परिपूर्ण होकर प्रेमके लक्षणस्वरूप सात्त्विक विकारोंसे परिव्याप्त हो जाते हैं—वैसे भाग्यवान् व्यक्ति मुझ जैसोंके लिए भी परम पूजनीय हैं, अतएव उन समस्त श्रेष्ठ पुरुषोंको मैं प्रणाम करता हूँ॥१३९॥

अहो किलाशेषविलक्षणस्य, तदेकयोग्यस्य सदा कराब्जे।
विक्रीड़तस्तत् प्रियवस्तुनोऽपि, स्प्रष्टुं महत्त्वं रसना किमीष्टे॥१४०॥

श्लोकानुवाद—अहो! जिस प्रकार श्रीकृष्ण समस्त अवतारोंसे विलक्षण हैं, उसी प्रकार उनकी प्रियवस्तु वंशी भी सदा उनके हस्तकमलोंमें ही विलासके योग्य होनेके कारण विलक्षण है। अतएव जब मेरी रसना उस वंशीका माहात्म्य स्पर्श करनेमें समर्थ नहीं हो पा रही है, तब उन भगवान् श्रीकृष्णकी महिमाको किस प्रकार वर्णन करेगी?॥१४०॥

दिग्दर्शिनी टीका—अधुना श्रीगोपयोषिन्मोहनानन्तरं परित्यक्तस्य ताभिर्वर्णितस्य। तथा तदग्रे (श्रीमद्भा. १०/३५/२)—*"वामबाहुकृतवामकपोलः"* इत्याद्येकादशभिर्युगलैस्ताभिरेव गीतस्य च वेणुवादनवैदग्धीविशेषस्य प्रसङ्गादेकत्रैव वर्णनेन। तथा रासक्रीड़ा-संक्षेपोक्त्या चाशेष-महत्त्वमाधुरीं सप्तदशभिः श्लोकैः प्रपञ्चयन्नादौ तत्तन्निदानस्य श्रीवेणोरेव माहात्म्यमाह—अहो इति दशभिः, अहो इति विस्मये; किलेति निश्चये। तस्य भगवतः प्रियं वस्तु दारुमयवेणुस्तस्यापि, किमुत भगवतः तद्वादनवैदग्धीविशेषस्य वा महत्त्वं महिमानं स्प्रष्टुम्? यद्वा, स्प्रष्टुमपीत्यन्वयः, किमुत सम्यग्वर्णयितुमित्यर्थः। किम् इष्टे प्रभवति? अपि तु न शक्नोत्येवेत्यर्थः। तत्र हेतवः—अशेषाणि रूपगुणादीनि विलक्षणान्यसाधारणानि यस्य; यद्वा, अशेषतो जगतः भगवदखिल-परिच्छदाद्वा विलक्षणस्य तस्य श्रीनन्दनन्दनस्यैवैकस्य योग्यं यत्तस्य; यद्वा, स एवैको योग्यो

यस्य; सदा तस्यैव कराब्जे क्रीड़तः तदधरामृतपानादिना रममाणस्य। एषां यथेष्टं हेतुहेतुमद्भावो द्रष्टव्यः॥१४०॥

भावानुवाद—अब श्रीव्रजगोपियोंको मोहितकर देनेवाले पूर्व-वर्णित श्रीकृष्णके वेणुवादन कौशलकी अवशिष्ट महिमाका वर्णन कर रहे हैं। यथा श्रीमद्भागवत (१०/३५/२) के युगलगीत प्रसङ्गमें वर्णन है—"श्रीकृष्ण अपनी बाँयी बाहुके मूलमें बाँये कपोलको स्थापनकर दोनों भ्रूओंको सञ्चालन करते-करते अपनी समस्त कोमल अङ्गुलियोंको सात छिद्रोंपर नृत्य कराते हुए अपने अधरोंपर अर्पित वंशीका वादनकर सबको मोहित करते हैं।"—इत्यादि ग्यारह श्लोकोंमें व्रजगोपियोंने एक साथ वेणुवादन-वैदग्धी विशेषका वर्णन किया है। तथा संक्षेपमें कथित रासलीलाकी अनन्त महिमा-माधुरीका वर्णन सत्रह श्लोकोंमें विस्तारसे करते हुए सर्वप्रथम उस रासलीलाके मूल कारणस्वरूप वेणुवादनका माहात्म्य 'अहो' इत्यादि दस श्लोकोंमें वर्णन कर रहे हैं।

'अहो!' विस्मयके अर्थमें है तथा 'किल' शब्द निश्चयके अर्थमें है। जब मेरी रसना (जिह्वा) भगवान्‌की प्रिय वस्तु उस लकड़ीकी वेणुका ही माहात्म्य स्पर्श नहीं कर पा रही है, तब उन भगवान्‌की महिमा और उनके वेणुवादन कौशलकी महिमाको कैसे वर्णन करेगी? अथवा जब मेरी रसना वंशीकी महिमाको स्पर्श करनेमें ही असमर्थ है, तब कैसे उसका सम्पूर्ण रूपसे वर्णन करेगी? तथा जब वह वंशीकी महिमाको ही वर्णन नहीं कर सकती, तब फिर अपने इष्ट श्रीकृष्णकी महिमा कैसे वर्णन करेगी? अपितु वर्णन करनेमें असमर्थ है। इसका कारण है कि उन प्रभुके अनन्त रूप-गुणादि सभी कुछ विलक्षण अर्थात् असाधारण हैं। अथवा समस्त जगत्‌में भगवान्‌के सभी प्रकारके सेवा उपकरणोंमें वेणुके विलक्षण होनेके कारण यह वेणु केवल उन श्रीनन्दनन्दनके ही योग्य है। अथवा केवल श्रीनन्दनन्दन ही वेणुके योग्य है, क्योंकि वह सर्वदा उनके हस्तकमलोंमें ही क्रीड़नशील है तथा अन्योंके लिए दुर्लभ उनके अधरामृतके पानमें रत है। इस प्रकारसे मेरी असमर्थताका यथेष्ट कारण अथवा सार कारण विचारणीय है॥१४०॥

अथापि तत्प्रसादस्य प्रभावेणैव किञ्चन।
यथाशक्ति तदाख्यामि भवत्ववहितो भवान्॥१४१॥

श्लोकानुवाद—तथापि उन भगवान्‌की कृपाके प्रभावसे ही मैं यथाशक्ति वंशीकी महिमाका कुछ वर्णन कर रहा हूँ, तुम सावधान होकर श्रवण करो॥१४१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य भगवतः प्रसादस्य यः प्रभावः शक्तिस्तेनैव तन्महत्त्व-माख्यामि कथयामि। तत्र च यथाशक्ति यावदाख्यातुं शक्यत इत्यर्थः, परमानिर्वचनीयस्य तस्य सम्यग् निर्वचने स्वभावतः शक्त्यसम्भवात्॥१४१॥

भावानुवाद—उन श्रीभगवान्‌की कृपाके प्रभावसे ही मैं यथाशक्ति अर्थात् जितना वर्णन करनेमें समर्थ हूँ, उतने रूपमें ही वंशीकी महिमाका कुछ वर्णन कर रहा हूँ। इस वंशीकी महिमाके परम अनिर्वचनीय होनेके कारण स्वभावतः ही इसे वचनोंके द्वारा सम्पूर्ण रूपसे वर्णन करना सम्भव नहीं है॥१४१॥

न श्रीमुखेनोपनिषन्मुखैः कृतं, यद्वेद-वाक्यैरपरैर्वचोऽमृतैः।
तत्तस्य बिम्बाधरयोगमात्रतः, सा दारवी मोहनवंशिकाऽकरोत्॥१४२॥

श्लोकानुवाद—जो कार्य श्रीकृष्ण अपने मुखकमलके अमृतमय वचनों द्वारा, उपनिषदों द्वारा, वेद-वाक्यों द्वारा और पुराणादि शास्त्रों द्वारा नहीं कर सके, कैसा आश्चर्य है! वह मोहनकारी बाँसकी वंशी उनके बिम्ब-अधरके संयोगसे उन समस्त कार्योंका समाधान कर देती है॥१४२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवाह—नेत्याद्यष्टभिः। तस्य भगवतः श्रीमुखेन कर्त्तृणा वेदरूपवाक्यैः कृत्वा। तथाऽपरैर्वेदव्यतिरिक्तैः पुराणाद्युक्तैः साक्षाद्वचोऽमृतैश्च कृत्वा यन्न कृतं तत् सा तत्प्रियतमत्वे प्रसिद्धा दारवी दारुमयी मोहनी वंशिकाऽकरोत्। कथम्? तस्य भगवतो बिम्बाधरेण योगः सङ्गमस्तन्मात्रेण। वंशिकेत्यल्पार्थे कप्रत्ययः। दारवीति च भावविशेषादीर्षयोक्तमित्यूह्यम्॥१४२॥

भावानुवाद—उस वंशीकी महिमाको 'न श्रीमुखे' इत्यादि आठ श्लोकोंमें वर्णन कर रहे हैं। श्रीभगवान् अपने श्रीमुखसे निःसृत वेदरूप-वाक्यों द्वारा तथा वेदके अलावा पुराणादिमें उक्त साक्षात्

वचनामृत द्वारा जिस कार्यको नहीं कर सके, कैसा आश्चर्य है! उस कार्यको उनकी प्रियतमके रूपमें प्रसिद्ध मोहनकारी बाँसकी वंशीने किया है। किस प्रकार? श्रीभगवान्के बिम्ब-अधरके संयोगमात्रसे ही। यहाँपर किसी विशेष भावके उदित होनेके कारण अल्पार्थमें 'क' प्रत्यय सहित 'वंशिका' शब्द तथा ईर्ष्यावशतः 'दारवी' (दारुमयी) अर्थात् लकड़ी की बनी हुई शब्दका प्रयोग किया गया है॥१४२॥

विमानयानाः सुर-सिद्ध-संघाः, समं वधूभिः प्रणयादमुह्यन्।
महेन्द्र-रुद्र-द्रुहिणादयस्तु, मुग्धा गता विस्मृततत्त्वतां ते॥१४३॥

श्लोकानुवाद—उस वंशीकी ध्वनिको सुनकर विमानोंपर बैठे देवता और सिद्धगण अपनी-अपनी पत्नियों सहित प्रेमसे मूर्च्छित हो जाते हैं। अधिक क्या कहूँ—इन्द्र, शिव और ब्रह्मा जैसे तत्त्वज्ञ देवगण भी मोहित होकर श्रीभगवान्के तत्त्वको भूल जाते हैं॥१४३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव प्रपञ्चयति—विमानेत्यादिना। तत्र प्रथमं त्वया कृतं देवगणानां प्रेम्णा मोहमाह—विमानैर्वायुवेगेनोह्यमानैर्दिव्यरथविशेषैर्यानं व्योममार्गेण गतिर्येषां, तेऽपि प्रणयाद्भगवति जातभावविशेषान्मोहं प्राप्ताः। प्रणयादित्यस्याग्रेऽपि सर्वत्रैवानुषङ्गो द्रष्टव्यः। तद्वर्णितं भगवतीभिः—*"कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवरूपशीलं, श्रुत्वा च तत्-क्वणित-वेणुविचित्रगीतम्। देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसारा, भ्रश्यत्प्रसूनकबरा मुमुहुर्विनीव्यः॥"* (श्रीमद्भा. १०/२१/१२) इति। गीतञ्च—*"वामबाहुकृतवामकपोलो, वल्गितभ्रुरधरार्पितवेणुम्। कोमलाङ्गुलिभिराश्रितमार्गं, गोप्य ईरयति यत्र मुकुन्दः॥ व्योमयानवनिताः सह सिद्धैर्विस्मृतास्तदुपधार्य सलज्जाः। काममार्गण-समर्पितचित्ताः, कश्मलं ययुरपस्मृतनीव्यः॥"* (श्रीमद्भा. १०/३५/२-३) इति। ते तत्त्वज्ञा अपि महेन्द्रादयो मुग्धाः सन्तः, विस्मृतः तत्त्वं निजस्वरूपादिकं (स्वभावादिकं) यैस्तद्भावं गताः प्राप्ताः। तच्च गीतं ताभिरेव (श्रीमद्भा. १०/३५/१५)—*"सवनशस्तदुपधार्य सुरेशाः, शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः। कवय आनतकन्धरचित्ताः, कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः॥"* इति। अस्यार्थः—तत् वेणुवाद्यं, सवनशः मन्द्रमध्यतारभेदेन प्रातरादि-कालभेदेन वा, उपधार्य निजनिजसमीप एवाकर्ण्य। यद्वा, प्रथमं सामान्यतो मनाक् श्रुत्वा पश्चाद्वेणुवाद्य-स्थाननिकट एवागत्य सम्यगाकर्ण्येति वा; शक्रादयः सुरेशाः, कवयश्च मुनीश्वराः। यतो गीतध्वनिरागतस्तत्र। यद्वा, वृन्दावनोपर्यागत्य भगवन्तं दृष्ट्वा, तस्मिन् आनता कन्धरा चित्तञ्च येषां ते। न निश्चितम् अस्माभिर्यज्ज्ञायते ब्रह्म तदेव तत्त्वम्। किंवा, इदं वेणुगीतमेव परमानन्दघनत्वान्न निर्णेतुं शक्तं तत्त्वं यैस्ते इति॥१४३॥

भावानुवाद—अब श्रीनारद वेणु द्वारा किये गये कार्योंका विस्तारपूर्वक वर्णन 'विमान' इत्यादि श्लोक द्वारा कर रहे हैं। उसमें सर्वप्रथम वेणुके विचित्र गीतके श्रवणसे देवताओंके कृष्णप्रेममें मोहित (मूर्च्छित) होनेका वर्णन कर रहे हैं। विमानमें अर्थात् वायुकी गतिसे चलनेवाले विशेष प्रकारके दिव्यरथमें बैठकर आकाशमार्गसे जो गमनागमन करते हैं, वे समस्त देवता भी भगवान्के प्रति विशेष प्रेमके उत्पन्न होनेके कारण मूर्च्छित हो जाते हैं। भगवती गोपियोंने इसका वर्णन किया है, यथा श्रीमद्भागवत (१०/२१/१२)—"श्रीकृष्णका दर्शनकर और उनकी वेणुके विचित्र गीतको श्रवणकर विमानमें आरूढ़ देव-पत्नियाँ अपने-अपने प्रियतमकी गोदमें अवस्थान करनेपर भी प्रेमरसके वेगसे अस्थिर हो जाती हैं, उस समय उनकी चोटीसे पुष्प स्खलित हो जाते हैं तथा उनका नीवी बन्धन शिथिल हो जाता है।" तथा श्रीमद्भागवत (१०/३५/२-३) में युगलगीतके प्रसङ्गमें भी कथित है—"मुकुन्द जब अपने बायें बाहुके मूलमें अपने बायें कपोलको सन्लग्नकर भ्रू-नर्तनकी चातुरीका विस्तार करते हुए वंशीके छिद्रोंमें कोमल अङ्गुलियोंका सञ्चालनकर अपने अधरोंमें अर्पित वंशीका वादन करते हैं, तब उस वंशीध्वनिको सुनकर सिद्धोंके निकट विराजमान उनकी पत्नियोंको सर्वप्रथम विस्मय उत्पन्न होता है और फिर कामके बाणसे आहत होनेके कारण वे लज्जित हो जाती हैं। तत्पश्चात् वे ऐसी मोहित होती हैं कि उनकी कमरसे नीवीके खिसक जानेपर भी वे नीवी बन्धन करना भूल जाती हैं।"

अधिक क्या, इन्द्र, शिव और ब्रह्मा जैसे तत्त्वज्ञगण भी मोहित होकर अपने तत्त्व अर्थात् अपने-अपने स्वरूप या स्वभावको भूल जाते हैं। इसका भी वर्णन श्रीमद्भागवत (१०/३५/१५) में युगलगीतके प्रसङ्गमें हुआ है—"श्रीकृष्ण जब अपने अधरपर वेणु रखकर वादन करते हैं, तब इन्द्र, शिव और ब्रह्मा जैसे देवता भी उस वेणुवादनके ह्रस्व (लघु), मध्यम और दीर्घ स्वर भेदके क्रमसे उस गीतके आलापको श्रवणकर तत्त्वज्ञ होनेपर भी मोहित हो जाते हैं। अर्थात् गीतध्वनिके आरोह और अवरोह आदि रागसे उनका चित्त द्रवीभूत हो जाता है, कन्धे झुक जाते हैं, किन्तु वे उस स्वरालापके भेदका

निरूपण नहीं कर पाते हैं।" तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञ होनेपर भी इन्द्रादि देवताओंने उस सर्वव्यापी वेणुध्वनिको ह्रस्व (लघु), मध्यम और दीर्घ क्रमरूप स्वरके भेदसे अथवा प्रातः, मध्याह्न और सायं आदि कालभेदसे अपने-अपने समीपमें ही श्रवण किया था। अथवा प्रथमतः सामान्य रूपमें श्रवण किया और फिर वेणुवादनके स्थानके निकट जाकर सम्यक् रूपसे श्रवण किया। जहाँसे वेणुध्वनि उदित हो रही थी, उस वृन्दावनके ऊपर आगमनकर उन्होंने भगवान्के दर्शन किये तथा सभीने अपने-अपने चित्त और गर्दनको झुका दिया। फिर वे देवता विचार करने लगे कि हम जिसको ब्रह्मके रूपमें जानते हैं, क्या ये वही तत्त्व हैं? अथवा यह वेणुगीत ही वह ब्रह्म है? हम कुछ भी निश्चित नहीं कर पा रहे हैं तथा यह वेणुगीत ही परमानन्दघनके रूपमें अनुभव हो रहा है॥१४३॥

समाधि-भङ्गोऽथ महामुनीनां, विकार-जातस्य च जन्म तेषु।
तत्कालचक्र-भ्रमणानुवर्त्ति-चन्द्रादिनित्याशुगतेर्निरोधः ॥१४४॥

श्लोकानुवाद—उस वेणुध्वनिको सुनकर महामुनियोंकी समाधि भङ्ग हो जाती है और उनके अङ्गोंपर प्रेमके विकार प्रकट होने लगते हैं, यहाँ तक कि कालचक्रमें निरन्तर भ्रमणशील चन्द्रादि ग्रहोंकी भी स्वाभाविक गति रूक जाती है।॥१४४॥

दिग्दर्शिनी टीका—अहो किं वाच्यः सेश्वराणां देवादीनामेषां विषयिणां मोहः, ब्रह्मनिष्ठानामप्यात्मारामाणां मोहो यातः। इत्याह—समाधीति। तेषु महामुनिषु विकारजातस्य स्वभावविशेषेण पुलकाश्रुपातादेर्जन्म प्रादुर्भावश्चाभूत्। अहो भवतु नाम स्वतन्त्राणां तेषां तथात्वं, सदा पराधीनानामपि स्वभावहानिर्जातेत्याह—तस्य सुप्रसिद्धस्य कालचक्रभ्रमणस्य अनुवर्त्तिनां तद्वेशेन सदैव भ्रमतामित्यर्थः। चन्द्रादीनां नित्या आशुश्च शीघ्रा या गतिस्तस्य निरोधो निवारणमभूत्; तदपि तत्रैव ताभिर्गीतमिति ज्ञेयम्। *"शक्रशर्व परमेष्ठि पुरोगाः"* इत्यत्र पुरोगशब्देन चन्द्रादीनामपि ग्रहणात्। यद्वा, *"शशाङ्कश्च सगणो विस्मितोऽभवत्"* (श्रीमद्भा. १०/३३/१८) इति रासक्रीड़ायां श्रीशुकोक्तेः॥१४४॥

भावानुवाद—अहो! उस वेणुध्वनिको सुनकर विषयोंमें अनुरक्त देवताओंमें मोह उत्पन्न होनेकी तो बात ही क्या, ब्रह्मनिष्ठ आत्मारामगण

भी मोहित हो गये थे—इसे बतलानेके लिए 'समाधि' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। वेणुध्वनि सुनकर महामुनियोंकी समाधि भङ्ग हो गयी और उनके शरीरमें विकारसे उत्पन्न होनेवाला विशेष स्वभाव उदित हुआ अर्थात् उनके अङ्ग पुलक-अश्रु आदि सात्त्विक विकारोंसे पूर्ण हो गये। अहो! उन स्वाधीन महामुनियोंके सम्बन्धमें क्या कहूँ, सदा पराधीन रहनेवालोंका भी स्वभाव परिवर्तन हो गया—कालचक्रमें भ्रमणशील अर्थात् कालचक्रके वशमें सदा ही भ्रमणशील सुप्रसिद्ध चन्द्रादि ग्रहोंकी भी नित्य और तीव्रगति उस वेणुगीतके प्रभावसे रुक गयी। 'शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः' श्लोकमें 'पुरोग' शब्दके अर्थमें चन्द्र आदिको भी ग्रहण करना होगा। अथवा श्रीमद्भागवत (१०/३३/१८) में श्रीशुकदेव गोस्वामीकी उक्ति है—"रासक्रीड़ाके दर्शनके प्रभावसे तारोंके साथ चन्द्रमा विस्मित हो गये तथा अपनी गति भूल गये अर्थात् स्थिर हो गये॥"१४४॥

गोपाश्च कृष्णेऽर्पितदेहदैहिकात्मनो निजाचारविचारचञ्चलाः।
लोक-द्वयार्थेष्वनपेक्षितादृता भार्यामपि स्वस्य नमन्ति तत्प्रियाम्॥१४५॥

श्लोकानुवाद—उन व्रजवासी गोपोंकी महिमाके विषयमें मैं क्या कहूँ? उन्होंने अपने आचार-विचारमें उदासीन होकर अपनी देह और देह-सम्बन्धी पुत्र-पत्नी आदि समस्त वस्तुओं यहाँ तक कि अपनी आत्मा तकको श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें समर्पित कर दिया था। उनमें इस लोक और परलोक सम्बन्धित किसी प्रकारकी भी आशा न होनेके कारण वे अपनी-अपनी पत्नियोंको भी श्रीकृष्णकी प्रिया समझकर प्रणाम करते थे॥१४५॥

दिग्दर्शिनी टीका—अहो तद्बान्धवा अपि तया मोहिता इत्याह—गोपाश्चेति। कृष्णेऽर्पितं देहं दैहिकञ्च देहसम्बन्धि-पुत्र-कलत्रादिकं सर्वम् आत्मा च यैस्ते। तथा च हरिवंशे श्रीनन्दं प्रति गोपानामेव वचनम्—"*अद्य प्रभृति गोपानां गवां गोष्ठस्य चानघ। आपत्सु शरणं कृष्णः प्रभुश्चायत लोचनः॥*" इति। अत्र च गोष्ठस्य प्रभुरित्यनेन गोपीनामपि प्रभुरिति सूचितम्। स्पष्टञ्च लज्जया नोक्तमित्यूह्यम्। अतः निजे आचारे व्यवहारे विचारे च चञ्चलाः अस्थिरचित्ता उदासीना इत्यर्थः। लोकद्वयस्य अर्थेषु साध्येषु तत्साधनेषु च अनपेक्षितया नैरपेक्ष्येणादृताः समाश्रिताः

संयुक्ता इत्यर्थः। अतः स्वस्य भार्यामपि नमन्ति वन्दन्ते सत्कुर्वन्तीति वा। कुतः? तस्य भगवतः प्रियाम्। भार्याशब्देन केवलं तासां भरणमेव पतिप्रयोजनं, नान्यत् किञ्चिदिति सूचितम्॥१४५॥

भावानुवाद—अहो! श्रीकृष्णके वेणुवादनकी ध्वनि सुनकर उनके बान्धव भी उसी प्रकार मोहित हो गये थे—इसे बतलानेके लिए श्रीनारद 'गोप' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। व्रजके समस्त गोपोंने अपनी-अपनी देह और देह-सम्बन्धित पुत्र-पत्नी आदि समस्त वस्तुओं, यहाँ तक कि अपनी आत्मा तकको भी श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें अर्पित कर दिया था। जैसा कि श्रीहरिवंशमें श्रीनन्दके प्रति गोपोंका ही वचन है—"हे अनघ! अबसे ये समस्त गोप, गाय तथा गोष्ठकी सम्पूर्ण सम्पत्ति इन विस्तृत नेत्रोंवाले प्रभु श्रीकृष्णके आश्रित है।" यहाँ "गोष्ठके प्रभु" कहनेसे "गोपियोंके भी प्रभु"—ऐसा ही सूचित होता है। लज्जावशतः इसका स्पष्ट रूपसे उल्लेख नहीं किया गया है। इसीलिए समस्त गोप अपने-अपने आचार, व्यवहार और विचारके विषयमें सर्वदा उदासीन रहते थे। लोकद्वय कहनेसे इस लोक तथा परलोकको समझना होगा। वे गोप दोनों लोकोंके ही साध्य और साधनके विषयमें निरपेक्ष अर्थात् आशासे रहित हो गये थे तथा इसलिए वे अपनी-अपनी पत्नियोंको श्रीकृष्णकी प्रियतमाके रूपमें प्रणाम और वन्दना करते थे। यहाँ 'भार्या' शब्द कहनेसे केवल भरण (पालन) के विषयमें ही पतिकी आवश्यकता स्वीकृत हुई है, अन्य किसी विषयमें नहीं—यही सूचित हुआ है॥१४५॥

तद्बालकाः सङ्गरता हि तस्य,
छाया इवामुं क्षणमप्यदृष्ट्वा।
दूरे गतं कौतुकतः कदाचि-
दार्त्ता रमन्ते त्वरया स्पृशन्तः॥१४६॥

श्लोकानुवाद—उन गोपोंके बालक तो सर्वदा श्रीकृष्णके साथ उनकी छायाकी भाँति ही रहते हैं। यदि किसी समय श्रीकृष्ण कौतुकवशतः वनकी शोभा देखनेके लिए क्षणकालके लिए भी उनसे दूर चले जाते हैं, तब उनको न देखनेसे वे अत्यन्त व्याकुल हो जाते

तथा नयनगोचर होनेपर शीघ्रतापूर्वक उनको स्पर्श करके ही सन्तुष्ट होते हैं॥१४६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्सहचराणामपि मोहनमाह—तदिति, तेषां गोपानां बालकाः तस्य भगवतश्छाया इव सङ्गे रताः, प्रीत्या सदा वर्त्तमानात्। अतएव अमुं भगवन्तं क्षणमपि अदृष्ट्वा आर्त्ताः सन्तः, त्वरया अहंपूर्विकया वेगेनामुमेव स्पृशन्तो रमन्ते क्रीड़न्ति सुखिनो भवन्तीति वा। अदर्शने हेतुः—कदाचित् कौतुकतः वृन्दावनशोभा-दर्शनादि-कौतुहलेन दूरं गतं सन्तम्। तदुक्तं श्रीव्यासनन्दनेनापि (श्रीमद्भा. १०/१२/६)—*"यदि दूरं गतः कृष्णो वनशोभेक्षणाय तम्। अहंपूर्वमहंपूर्वमिति संस्पृश्य रेमिरे॥"* इति॥१४६॥

भावानुवाद—उस वेणुध्वनिके प्रभावसे श्रीकृष्णके सहचरगण अर्थात् सखा भी मोहित हो जाते थे—इसे 'तद्' इत्यादि श्लोकमें बतला रहे हैं। उन गोपोंके बालक छायाकी भाँति सर्वदा श्रीकृष्णके साथ ही रहते हैं, अर्थात् प्रीतिवशतः सर्वदा उनके निकट ही वर्त्तमान रहते हैं। अतएव क्षणकालके लिए भी श्रीभगवान्‌को न देखनेसे वे विरहमें कातर हो जाते और फिर श्रीकृष्णके पुनः नयनगोचर होते ही वे "पहले मैं, पहले मैं" कहते हुए अतिवेगसे उनको स्पर्शकर क्रीड़ा-सुखका अनुभव करते हैं। श्रीकृष्णके अदर्शनका कारण है कि कभी-कभी वे कौतूहलवशतः श्रीवृन्दावनकी शोभाका दर्शन करनेके लिए कुछ दूर चले जाते हैं। श्रीशुकदेव गोस्वामीने भी श्रीमद्भागवत (१०/१२/६) में कहा है—"श्रीकृष्ण जब वृन्दावनकी शोभाका दर्शन करनेके लिए कुछ दूर चले जाते, तब सखागण 'मैं पहले जाऊँगा, मैं पहले जाऊँगा' ऐसा कहते हुए वेगपूर्वक उनको स्पर्शकर क्रीड़ासुखका अनुभव करते हैं॥"१४६॥

राधाद्यास्ताः परमभगवत्यस्तु पत्यात्मजादीन्
लोकान् धर्मान् ह्रियमपि परित्यज्य भावं तमाप्ताः।
येनाजस्रं मधुरकटुकैर्व्याकुलास्तद्विकारै-
र्मुग्धाः किञ्चित्तरु-गतिमिता नानुसन्धातुमीशाः॥१४७॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णकी मुरलीध्वनिको श्रवणकर परम भगवती श्रीराधिका आदि व्रजगोपियाँ अपने-अपने पति-पुत्रादिका मोह, लोकधर्म

तथा लज्जाको भी परित्यागकर उनसे मिलती हैं। वे इस प्रकारके विशेष भावको प्राप्त होती हैं जिसके प्रभावसे वे संयोग और वियोगके मधुर और कटुरूप व्याकुलतादि सात्त्विक विकारों द्वारा मुग्ध होकर जड़प्राय हो जाती हैं, इसलिए उनमें अन्य विषयोंका किञ्चित्मात्र भी अनुसन्धान (ज्ञान) नहीं रहता है॥१४७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्प्रियतमानामपि तया मोहनमाह—राधाद्या इति। परमभगवत्य इति महालक्ष्म्या अपि श्रीरुक्मिण्यादिभ्योऽपि च श्रैष्ठ्याभिप्रायेण। येन भावेन तरुगतिं स्थावरत्वादिकमिताः प्राप्ताः सत्यः किञ्चिदनुसन्धातुमपि न ईशाः न समर्थाः। तद्गीतं भगवतीभिरेव (श्रीमद्भा. १०/३५/१६-१७)—*"निजपदाब्जदलैर्ध्वजवज्र-नीरजाङ्कुशविचित्रललामैः। व्रजभुवः शमयन् खुरतोदं, वर्ष्मधुर्यगतिरीरितवेणुः॥ व्रजति तेन वयं सविलासवीक्षणार्पित मनोभववेगाः। कुजगतिं गमिता न विदामः, कश्मलेन कबरं वसनं वा॥"* इति। एवमग्रेऽपि तत्तत्प्रमाणवचनान्यनुसन्धेयानि। अनीशत्वे हेतुः—तस्माद्भावाद् ये विकारा मनःक्षोभादयस्तैरजस्रं व्याकुलाः, अतो मुग्धाः प्राप्तमोहाः। कीदृशैः? मधुरा अमृतसदृशाश्च ते कटुकाश्च, कालकूटसदृशाश्च, परमहर्षशोकप्रदत्वात्तैः। यद्यपि गोपगोपीप्रभृतीनां तत्रत्यानां तेषां स्वभावत एव भगवति प्रेमभरो नित्यं देदीप्यते, तेनैव किल सदा मोहो घटेत, तथापि श्रीभगवदसाधारणपरममधुर-माहात्म्यभररूपेण वंशीवाद्येनैव तस्यात्यन्तविस्तारणेन तस्या एव परममोहहेतुत्वादत्र तन्माहात्म्यप्रसङ्गे वर्ण्यत इति दिक्॥१४७॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णकी प्रियतमा गोपियाँ भी वेणुकी ध्वनिसे मोहित हो जाती हैं—इसे 'राधा' इत्यादि श्लोक द्वारा बतला रहे हैं। परम भगवती अर्थात् महालक्ष्मी और श्रीरुक्मिणी आदिसे भी श्रेष्ठ श्रीराधा आदि भगवान्‌की प्रेयसियोंको भी वह वंशी मोहित करती है। जिस भावके प्रभावसे वे पति-पुत्रादि सभी सम्बन्धोंको, सभी लोकधर्मोंको तथा यहाँ तक कि स्त्रीके भूषणस्वरूप—लज्जाको भी परित्यागकर श्रीकृष्णसे मिलती हैं, उसी भावके प्रभावसे ही वे जड़के समान होकर किसी वस्तुके भी अनुसन्धानमें समर्थ नहीं होती हैं। इस विषयको उन भगवती गोपियोंने स्वयं युगलगीतमें व्यक्त किया है, यथा श्रीमद्भागवत (१०/३५/१६-१७)—"श्रीकृष्ण जब ध्वज, वज्र, पद्म और अंकुशादि विचित्र रूपोंसे चिह्नित अपने श्रीचरणकमलों द्वारा गो-खुरके प्रहारसे उदित व्रजभूमिकी पीड़ाको शान्त करते-करते मत्त गजराजके गमनके समान भ्रमण करते हैं, उस समय उनके वेणुवादनका कौशल

और विलास भङ्गिमा सहित बंकिम कटाक्ष हमारे हृदयमें कामवेग उत्पन्न कर देता है, जिसके फलस्वरूप हम वृक्षके समान जड़प्राय होकर मोहवशतः वस्त्र और चोटीको बाँधना भी भूल जाती हैं।" इसी प्रकार आगे भी वेणुवादनके प्रभावसे व्रजगोपियोंके मोहित होनेके प्रमाणोंको उनके वचनोंमें अनुसन्धान करना होगा।

गोपियोंके मोहित होनेका कारण है कि वेणुगीतके श्रवणसे उनमें जो भावदशा उपस्थित होती है, उस भावके प्रभावसे उदित होनेवाले मनके क्षोभादि विकार उन्हें निरन्तर व्याकुलकर मुग्ध कर देते हैं। वे विकार कैसे होते हैं? मधुरसे भी मधुर अमृतके समान होकर भी कड़वाहटमें कालकूट विषके समान तीव्र होते हैं, अतएव एक ही साथ हर्ष और शोकको प्रदान करनेवाले होते हैं। यद्यपि उस व्रजभूमिके गोप-गोपी सभीमें स्वभावतः श्रीकृष्णके प्रति परमप्रेम नित्य ही प्रकाशमान रहता है, अर्थात् उनका श्रीकृष्ण विषयक प्रेम सदैव हर्ष-शोकप्रद विविध विचित्रताओंसे पूर्ण रहता है जिसके द्वारा ही उनमें सर्वदा मोह उत्पन्न होता है, तथापि श्रीकृष्णकी असाधारण परम मधुर महिमायुक्त वंशीवादनके द्वारा ही उस भावका अत्यधिक विस्तार होता है। इसलिए वंशी ही परम मोहका कारण है—इसे यहाँ वंशी-माहात्म्यके प्रसङ्गमें प्रकाश किया गया है॥१४७॥

आश्चर्यं वै शृणु पशुगणा बुद्धिहीनत्वमाप्ता
गावो वत्सा वृषवनमृगाः पक्षिणो वृक्षवासाः।
दूरे क्रीड़ारतजलखगाः स्थावरा ज्ञानशून्या
नद्यो मेघा अपि निजनिजं तत्यजुस्तं स्वभावम्॥१४८॥

श्लोकानुवाद—उस मुरलीध्वनिके और भी आश्चर्यपूर्ण प्रभावको श्रवण करो। उस मुरलीध्वनिको श्रवणकर गाय, बछड़े, बैल तथा वनमें भ्रमण करनेवाले हिरणादि बुद्धिहीन पशु, वृक्षोंपर वास करनेवाले पक्षी, दूरमें क्रीड़ा करनेवाले जल-पक्षी तथा ज्ञानरहित जड़ वृक्षादि, नदी, पर्वत यहाँ तक कि आकाशमें विचरण करनेवाले मेघ सभी अपने-अपने स्वभावका परित्याग कर देते हैं॥१४८॥

दिग्दर्शिनी टीका—अहो परमरसज्ञानामेषां तादृक्त्वं युज्यत एव। पश्वादिषु च तदतीवाद्भुतमित्याह—आश्चर्यमिति। पशुगणानेवाह—गावो वत्सा वृषा वनमृगाश्च हरिणादय इति, तत्सङ्गिमहिष्यजादयोऽप्यूह्याः; पशुत्वाद्‌बुद्धिहीनत्वं प्राप्ताः; अथवा, वेणुवाद्येन भावविशेषाविर्भावाद्‌बुद्धिहीनतामाप्ताः सन्त इति। एवं ज्ञानशून्या इति च। एषाञ्चोत्तरोत्तरं लौकिकदृष्ट्या बुद्ध्यादि-हीनत्वेन न्यूनतोह्या अपि-शब्दबलात्। ततश्चायमर्थः—गवादयो ग्राम्यपशवो भगवत्सङ्ग एव सदा तिष्ठन्ति; वने वर्त्तमाना अपि मृगाः; अहो! मृगाणां तद्गवादिसङ्गेऽपि स्थितिः स्यात्। वृक्षे वासो येषां ते पक्षिणोऽपि; अहो कदाचिद्‌वृक्षमूलाश्रयणादिना तेषामपि भगवत्सन्निकृष्टता स्यात्। दूरे वर्त्तमानास्तत्रापि क्रीड़ारताः जलपक्षिणश्च; अहो एषां ज्ञानविशेषो भगवन्निकटगमनशक्तिरप्यस्ति। स्थावरास्तरुगुल्मलतादयश्च; अहो अचेतनजलवाहिन्यो नद्योऽपि। अहो व्रजभूवर्त्तिनामेषां तथात्वं सम्भवतु नाम, गगनवर्त्तिनो धूलिधूमोद्भवा मेघा अपि तं नित्यं त्यक्तुमशक्या इत्यर्थः। निजं निजं स्वभावं प्रकृतिं तत्यजुरिति॥१४८॥

भावानुवाद—अहो! परम रसिकजनोंकी वैसी दशा अर्थात् मोहित होना तो युक्तियुक्त है, किन्तु पशु आदिका भी उसी प्रकार मोहित होना अति अद्भुत है—इसे बतलानेके लिए 'आश्चर्य' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। गाय, बछड़े, बैल तथा वनके हिरण और भैंसादि पशु होनेके कारण बुद्धिहीन हैं, अथवा वेणुध्वनिके द्वारा विशेष भावके उदित होनेके कारण बुद्धिहीन (ज्ञानशून्य) हो जाते हैं। ऐसे ज्ञानहीन पशुओंसे लेकर आकाशमें विचरण करनेवाले मेघ तकके लौकिक दृष्टिसे बुद्धिहीनता रूपी न्यूनता होनेपर भी वे सब वेणुध्वनिके प्रभावसे भावयुक्त होकर अपने-अपने स्वभावको त्याग देते हैं। अतएव न्यूनवस्तुके द्वारा भी भावकी अवस्था प्राप्तिके कारण वेणुध्वनिकी ही अत्यधिक महिमा सूचित होती है।

कैसा आश्चर्य है! घरमें पलनेवाले गाय, बछड़े और बैल आदि समस्त पशु अपना स्वभाव परित्याग कर देते हैं। यदि कहो कि ये तो भगवान्‌के साथ ही रहते हैं, अतः इनमें वैसी दशा उदित होना अर्थात् इनका मोहित होना सम्भव ही है। इसके लिए कहते हैं कि ऐसी आशङ्का मत करो, क्योंकि वनमें विचरण करनेवाले हिरणोंकी भी वैसी दशा हो जाती है। अहो! उन वनचारी हिरणोंमें गाय आदिके

सङ्गके प्रभावसे ही वैसी दशा प्राप्त होती है। ऐसी आशङ्का भी मत करो, क्योंकि वृक्षपर वास करनेवाले पक्षियोंको भी वैसी दशा प्राप्त हो जाती है। अहो! श्रीकृष्ण द्वारा कभी उस वृक्षका आश्रय लेनेसे उनके सङ्गके प्रभावसे वहाँ स्थित पक्षी भी उस दशाको प्राप्त कर लेते हैं। ऐसी आशङ्का करना भी उचित नहीं है, क्योंकि दूरमें स्थित क्रीड़ारत जलचर पक्षी भी वैसे भावको प्राप्त हो जाते हैं। अहो! इन समस्त पक्षियोंमें ज्ञान है तथा भगवान्के पास जानेका सामर्थ्य भी है, अतः उनके लिए उस भावको प्राप्त करनेमें कोई विशेषता नहीं है। इस प्रकारकी आशङ्का भी मत करना, क्योंकि जड़ वृक्ष–लता–गुल्मादि, अधिक क्या, अचेतन जल वहन करनेवाली नदियाँ भी वैसे भावसे युक्त हो जाती हैं। अहो! व्रजभूमिके अन्तर्गत होनेके कारण इनमें भी वैसा भाव उदित होना असम्भव नहीं है। ऐसी आशङ्का भी मत करना, क्योंकि आकाशमें स्थित, धूलि और धूँएसे उत्पन्न मेघ भी अपने स्वभावका परित्याग कर देतें हैं॥१४८॥

चराः स्थिरत्वं चरतां स्थिरा गताः,
सचेतना मोहमचेतना मतिम्।
निमज्जिताः प्रेमरसे महत्यहो
विकार–जाताक्रमिताः सदाऽभवन्॥१४९॥

श्लोकानुवाद—उस वेणुध्वनिको सुनकर समस्त चर प्राणी स्थिर हो जाते हैं तथा अचर प्राणी चलने लगते हैं, अर्थात् मोहवशतः चेतन अचेतन हो जाते हैं तथा अचेतन चेतन हो जाते हैं। अहो! वंशीके प्रभावसे वे भी महा–प्रेमरसमें निमग्न होकर महा–सात्त्विक विकारोंसे परिपूर्ण हो जाते हैं॥१४९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव स्पष्टयति—चरा इति, चराः जङ्गमाः प्राणिनः स्थिरत्वम् अचरप्राणिभावं प्राप्ता, मोहेन चलनशक्त्याद्यपगमात्। स्थिराश्च वृक्षादयश्चरतां गताः, पत्रोद्गमकम्पादिप्रादुर्भावात्। किञ्च, सचेतना मोहम् अचेतनत्वं गताः, निखिलज्ञानक्रियाशक्त्यपगमात्। अचेतनाश्च स्थाणुशिलाकाष्ठादयो मतिं सचेतनत्वं, क्रमेण पत्रादिसम्पत्तिं, मुहुरुत्प्लवन–रसतादिप्राप्तेः। कुतः? अहो आश्चर्ये, महति प्रेमरसे निमज्जिताः, वंशिकयैव अतो विकारजातैः स्वेद–कम्प–पुलकादिभिराक्रमिता सदा बभूवुः। तद्वर्णितं श्रीभगवतीभिश्च (श्रीमद्भा. १०/२१/१९)—*"गा गोपकैरनुवनं*

नयतोरुदारवेणुस्वनैः कलपदैस्तनुभृत्सु सख्यः। अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणां, निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम्॥" इति॥१४९॥

भावानुवाद—वंशीध्वनिके प्रभावसे समस्त प्राणी अपने-अपने स्वभावका किस प्रकार परित्याग करते हैं—इसे 'चराः' इत्यादि श्लोक द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं। जङ्गम अर्थात् चर प्राणी अचर प्राणियोंके भावको प्राप्त हो जाते हैं और मोहवशतः चलनेकी शक्तिसे रहित होकर स्थिर हो जाते हैं। इसी प्रकार स्थिर वृक्षादि भी चर-धर्मको प्राप्त हो जाते हैं, अर्थात् वंशीध्वनिके श्रवणसे समस्त वृक्षोंमें नये पत्ते उग आते हैं तथा वे काँपने लगते हैं। समस्त चेतन प्राणी मोहवशतः अचेतन धर्मको प्राप्त हो जाते हैं, अर्थात् ज्ञान और क्रियाशक्तिसे रहित होनेके कारण उनमें किसी भी कार्यको करनेका सामर्थ्य ही नहीं रहता। समस्त अचेतन अर्थात् अचल शिला-लकड़ी आदि सचेतन हो जाते हैं, अर्थात् पुनः-पुनः वंशीध्वनिका रसपान करनेके कारण शुष्क वृक्षकी शाखा-प्रशाखाओंमें भी क्रमशः नवीन पत्ते उग आते हैं और पुष्प विकसित हो जाते हैं तथा शिलाएँ भी द्रवीभूत होकर प्रवाहित होने लगती हैं। कैसे? कैसा आश्चर्य है! वंशीके प्रभावसे ये भी महा-प्रेमरसमें निमग्न होकर स्वेद-कम्प-पुलकादि विकारों द्वारा व्याप्त हो जाते हैं। इस विषयमें भगवती गोपियोंने ही वर्णन किया है, यथा श्रीमद्भागवत (१०/२१/१९)—"हे सखि! कैसे आश्चर्यका विषय है! दोहनके समयमें गायके पैरोंको बाँधनेवाली रस्सीको अपनी पगड़ीके रूपमें बाँधकर श्रीकृष्ण तथा गोपबालकोंके साथ गायोंको लेकर एक वनसे दूसरे वनमें भ्रमण कर रहे हैं। उनकी मधुरपदयुक्त अस्फुट मोहनमन्त्रके समान वेणुध्वनिको श्रवणकर चर प्राणी स्थिर हो गये और समस्त वृक्षोंमें पुलक उदित होने लगा। कोई ऐसा देहधारी है जो उनके अधीन न हो गया हो?"॥१४९॥

रासो हि तस्य भगवत्त्वविशेषगोप्यः, सर्वस्व-सारपरिपाकमयो व्यनक्ति।
उत्कृष्टतामधुरिमापरसीमनिष्ठां, लक्ष्म्या मनोरथ-शतैरपि यो दुरापः॥१५०॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्‌की भगवत्ताके गोपनीय सर्वस्व-सारकी परिपक्व अवस्थाका नाम ही रास है। वह रासलीला भगवान्‌के सर्वोत्तम

माधुर्यकी चरम सीमाकी निष्ठाको प्रकटित करती है। श्रीलक्ष्मीदेवी सैकड़ों मनोरथ करनेपर भी उस रासलीलामें प्रवेश प्राप्त नहीं कर सकी॥१५०॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं श्रीवेणुवाद्यमाहात्म्यमुक्त्वा श्रीरासक्रीड़ामाहात्म्यमाह—रासो हीति। तस्य भगवत उत्कृष्टताया माहात्म्यस्य यो मधुरिमा तस्य अपरा अन्त्या सीमा तस्या निष्ठां मर्यादां व्यनक्ति प्रकाशयति। कुतः? तस्यैव भगवत्त्वविशेषः अनिर्वचनीय-पारमैश्वर्यातिशयः, तस्य यो गोप्यः सर्वस्वसारस्तस्य परिपाको निष्ठा तन्मयः। अतएव यो रासः लक्ष्म्या अपि मनोरथशतैरपि दुरापः। यथा गीतमुद्धवेन (श्रीमद्भा. १०/४७/६०)—*"नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः, स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः। रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठलब्धाशिषां य उदगाद्व्रजसुन्दरीणाम्॥"* इति। अत्रापि रासोत्सवे भगवद्भुजदण्डगृहीतकण्ठत्वेन लक्ष्म्या अपि सकाशाच्छ्रीगोपिकानां भगवत्प्रसादविशेष-भाजनत्वेन परममाहात्म्यगाना-(गणा)द्रासस्यापि परममाहात्म्यं लक्ष्मीदुर्लभत्वञ्च सिद्धमेव॥१५०॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीवेणुवादनकी महिमाका वर्णनकर अब श्रीनारद श्रीरासलीलाके माहात्म्यका वर्णन 'रासो हि' इत्यादि श्लोक द्वारा कर रहे हैं। वह रासलीला श्रीभगवान्के सर्वश्रेष्ठ माहात्म्यके माधुर्यकी चरम सीमाकी निष्ठा अर्थात् मर्यादाको प्रकाशित करती है। कैसे? श्रीभगवान्की भगवत्ता अर्थात् अनिर्वचनीय प्रचुरतम परम ऐश्वर्यके गोपनीय सर्वस्व-सारकी परिपक्व अवस्थाकी निष्ठा अर्थात् तन्मयता ही रास है। अतएव उस रासलीलामें श्रीलक्ष्मीदेवी सैकड़ों मनोरथ करनेपर भी प्रवेश प्राप्त नहीं कर सकीं। यथा श्रीउद्धवने श्रीमद्भागवत (१०/४७/६०) में कहा है—"रासोत्सवमें भगवान्की भुजाओं द्वारा व्रजगोपियोंका कण्ठ ग्रहण किये जानेके कारण उन गोपियोंने जिस कृपाको प्राप्त किया था, अन्यान्य कमलकी गन्धसे युक्त रमणियोंकी तो बात दूर रहे, जो अत्यन्त अनुरक्त होकर श्रीहरिके वक्षःस्थलपर सर्वदा वास करती हैं, वे श्रीलक्ष्मीदेवी भी उस कृपाको प्राप्त नहीं कर सकीं।" अतएव रासोत्सवमें भगवान्के भुज-दण्ड द्वारा कण्ठ ग्रहण किये जानेके कारण वे व्रजसुन्दरियाँ श्रीलक्ष्मीसे भी अधिक रूपमें भगवान्की विशेष कृपाकी भाजन हुई हैं। अर्थात् जिस लक्ष्मीदेवीके कृपा-कटाक्षको प्राप्त करनेके लिए ब्रह्मादि देवता भी लालायित रहते हैं, वे लक्ष्मीदेवी श्रीभगवान्के

वक्षःस्थलपर वास करनेपर भी तथा उनकी एकान्त प्रिया होनेपर भी उस कृपाको प्राप्त नहीं कर सकीं। इस प्रकार श्रीउद्धव द्वारा गोपियोंके परम माहात्म्यका गान (कीर्त्तन), रासका परम माहात्म्य तथा श्रीलक्ष्मीदेवीके लिए रासकी दुर्लभता निर्णीत हुई है॥१५०॥

अहो! वैदग्धी सा मधुर-मधुरा श्रीभगवतः,
समाकर्षत्युच्चैर्जगति कृतिनः कस्य न मनः।
कुल-स्त्रीणां तासां वनभुवि तथाकर्षणमथो
तथा वाक्चातुर्यं सपदि रुदितं ताभिरपि यत्॥१५१॥

श्लोकानुवाद—अहो! श्रीभगवान्‌की वह वैदग्धी (चातुरी) मधुरसे भी सुमधुर है तथा जगत्‌में कौन ऐसा है जिसका मन उस चातुरीसे आकर्षित नहीं होता है? उस मुरलीध्वनिकी चातुरीसे पहले तो उन्होंने कुलवती गोपियोंको वनमें आकृष्ट कर लिया और फिर अपनी वाक्-चातुरीसे उनको दुःखितकर रुलाया॥१५१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तमेव प्रपञ्चयति—अहो इति षड्भिः। जगति मध्ये कस्य कृतिनोऽभिज्ञस्य मनः उच्चैरधिकं न समाकर्षति? अपि तु सर्वस्यापि समाकर्षत्येव। तामेवाह—कुलेति। तथा तेन प्रकारेण वनभूवि तासामाकर्षणम्। अथो इति आनन्तर्ये वाक्यार्थभेदे वा। अथ चेत्युक्तौ। सपदि तत्क्षण एव, तथा च तादृक वाक्चातुर्यम्। यद्यस्माद् वाक्चातुर्यात् ताभिः परमैश्वर्यवतीभिरपि रुदितं, तत्तद्विशेषश्च श्रीबादरायणिनोक्तायां रासपञ्चाध्यायां प्रसिद्ध एवात्र किं वर्णनीयः?॥१५१॥

भावानुवाद—उस रासलीलाके माहात्म्यका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेके लिए 'अहो' इत्यादि छह श्लोक कह रहे हैं। श्रीभगवान्‌की मधुरसे भी सुमधुर उस रासलीलाकी विदग्धतासे जगत्‌में किसका मन आकर्षित नहीं होता है? अपितु सभीका मन आकर्षित होता है। इसीको बतलानेके लिए 'कुलस्त्रीनां' इत्यादि पद कह रहे हैं, अर्थात् कुलवती (पतिव्रता) स्त्रियोंको भी श्रीकृष्णने वनमें आकर्षित किया था। 'अथो' शब्द 'आनन्तर्य' अथवा वाक्य भेदके अर्थमें है। अर्थात् तदुपरान्त उसी क्षण श्रीकृष्णने उन गोपियोंके साथ वाक्-चातुर्यका विस्तार किया था, जिससे दुःखित होकर उन परम ऐश्वर्यवती कुल-स्त्रियों (गोपियों) ने रोदन भी किया था। इस सबका विशेष

विवरण श्रीशुकदेव गोस्वामी द्वारा कथित रास-पञ्चाध्यायमें प्रसिद्ध है, अतः यहाँ अधिक क्या वर्णन करूँ?॥१५१॥

श्लाघेऽवहित्थाकृतितां हरेस्तां,
तत्काकु-जाताद्यदि सा स्थिता स्यात्।
व्यक्तात्मभावः क्षणतः स रेमे,
ता मोहयन् काम-कलावलीभिः॥१५२॥

श्लोकानुवाद—मैं श्रीहरिके द्वारा अपने भावको गोपन करनेकी प्रशंसा करता, यदि वे गोपियोंकी दैन्यपूर्ण प्रार्थनाओंको सुनकर भी धैर्य-धारण करके अपने भावको गोपन रखनेमें समर्थ रहते, किन्तु वे ऐसा नहीं कर सके। उन्होंने उसी क्षण अपने मनोभावको व्यक्त कर दिया और उन व्रजगोपियोंको काम-कलाओंके द्वारा मोहितकर उनके साथ विहार करने लगे॥१५२॥

दिग्दर्शिनी टीका—हरेस्तामवहित्थायामाकारगुप्त्यां कृतितां पाण्डित्यं तदा श्लाघे प्रशंसामि। यदि सा कृतिता तासां तस्माद्वा, अर्थात् गोपीनामेव काकुजातात् स्थिता स्यात् अस्थास्यत्, नातिष्ठदेवेत्यर्थः। तदेवाह—क्षणतः तत्क्षण एव व्यक्तः आत्मनो भागवतस्तदीयमनसो वा भावोऽभिप्रायो मनोरथविशेषो वा यस्य सः। कामकला कामविद्या सौरतवैदग्धीति यावत्, तस्या आवलीभिः श्रेणीभिः। तथा च तत्रैव (श्रीमद्भा. १०/२९/४६)—*"बाहुप्रसारपरिरम्भ-करालकोरू-नीवीस्तनालभननर्मन-खाग्रपातैः। क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणामुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार॥"* इति। अत्र च भगवद्भजनस्वभावाद्विलीनमपि काममुत्तम्भयन् उद्दीपयन्निति, लोके तस्यैव प्रेमविस्तारणैकलक्षणहेतुत्वात्। एवं लौकिकत्वेऽपि पारमैश्वर्यमेव प्रकटितमिति सिद्धम्। अतएवोक्तं तेनैव शेषे (श्रीमद्भा. १०/९०/४८)—*"सुस्मितश्रीमुखेन व्रजपुरवनितानां वर्द्धयन् कामदेवम्"* इति। व्याख्यातञ्च श्रीधरस्वामिपादैः—"कामश्चासौ दीव्यति विजिगीषते संसारमिति देवश्च तम्। भोगद्वारा मोक्षप्रदमित्यर्थः।" इति॥१५२॥

भावानुवाद—मैं श्रीहरिके उस अवहित्था अर्थात् अपने भावको गोपन करनेकी प्रशंसा करता, यदि गोपियोंकी दैन्यपूर्ण प्रार्थनाओंको सुनकर भी वे अपने भावोंको गोपन करनेमें समर्थ रहते, किन्तु वे ऐसा नहीं कर सके। इसे बतलानेके लिए कह रहे हैं—'क्षणतः' अर्थात् उसी क्षण उन्होंने अपने मनके अभिप्राय अर्थात् विशेष मनोरथको प्रकाशित कर दिया तथा समस्त प्रकारकी काम-कलाओं अर्थात्

सौरत-वैदग्धीकी श्रेणी द्वारा गोपियोंको मोहितकर उनके साथ विहार करने लगे। यथा, श्रीमद्भागवत (१०/२९/४६) में उक्त है—"श्रीकृष्णने अपनी भुजाओंको फैलाकर गोपियोंका गाढ़ आलिङ्गन किया। तदुपरान्त उनके हाथोंको धारण किया, उनकी वेणी, उरु, कटि, स्तनदेशका स्पर्श, क्रीड़ार्थ उनके अङ्गोंपर नखाघात किया तथा सुरत परिहासमय वचन, दृष्टिपात और मनोहर मन्द मुस्कान द्वारा स्वाभाविक लज्जावशतः सुप्त गोपियोंके कामभावको उद्दीप्तकर उनके साथ रमण किया।"

भगवान्‌के भजनके स्वाभाविक प्रभावसे कामके विलीन होनेपर भी श्रीकृष्णने गोपियोंके उस कामको उद्दीप्तकर उनके साथ क्रीड़ा की थी—यहाँ यही विशेष विचार है। इस लोकमें उस विशेष प्रेमका विस्तार करनेके लक्षण स्वरूपमें भगवान्‌ने ऐसी लौकिकी लीला प्रकट की थी। अतएव इस रासक्रीड़ामें लौकिकता रहनेपर भी उसमें परम ऐश्वर्य ही प्रकटित हुआ है—ऐसा सिद्ध होता है। जैसा कि अन्तमें अर्थात् श्रीमद्भागवत (१०/९०/४८) में श्रीशुकदेव गोस्वामीने वर्णन किया है—"जिन्होंने सुन्दर हास्यसे सुशोभित अपने श्रीमुखके द्वारा व्रजवनिताओं तथा पुरवनिताओंके कामको वर्द्धित किया था, उन कामदेवकी जय हो।" श्रीधरस्वामीपादने इस श्लोककी व्याख्यामें कहा है—कामदेव अर्थात् जो काम ही देव हैं—क्रीड़ाशील हैं अथवा जो अपने प्रेमका विस्तारकर कामपर विजय प्राप्तकर मोक्ष प्रदान करते हैं, अथवा जो काम होकर संसारको जय करनेकी इच्छा करते हैं, अर्थात् (अप्राकृत) भोग द्वारा जो मोक्ष प्रदान करते हैं, वे कामदेव हैं॥१५२॥

अन्तर्धानं तस्य तद्विप्रलम्भलीलादक्षस्यानिशं को न गायेत्।
यत्तास्तादृग्धैर्यगाम्भीर्यभाजोऽनैषीत्तां तामुक्तिमीहां दशाञ्च॥१५३॥

श्लोकानुवाद—विरहलीला-विदग्ध उन श्रीकृष्णकी राससे अन्तर्धान होनेकी लीलाकी कौन दिन-रात प्रशंसा नहीं करता? उस लीलाके प्रभावने परम धैर्यशाली और गम्भीर व्रजसुन्दरियोंको भी वृक्ष आदिसे वार्त्तालाप करनेकी किसी एक उन्माद दशाको प्राप्त करवा दिया था॥१५३॥

दिग्दर्शिनी टीका—विप्रलम्भो विच्छेदस्तद्रूपायां लीलायां दक्षस्य, सहसा तत्रैवान्तर्धानसामर्थ्यात्, असकृत् परित्यागाच्च। तत् अन्तर्धानम्; ताः कुलस्त्रीः; तां तामत्यन्तानिर्वचनीयामुक्तिम्—*"दृष्टो वः कच्चिदश्वत्थ"* (श्रीमद्भा. १०/३०/५) इत्यादिप्रकारवाचम्; ईहां भगवल्लीलानुकरणादिरूपां चेष्टाम्; दशाञ्च उन्मत्तादिरूपामवस्थाम् अनैषीत् प्रापयामास। कीदृशी? तादृक् निरुपमधैर्यं गाम्भीर्यञ्च भजन्ति सदाश्रयन्तीति तथा ता अपि॥१५३॥

भावानुवाद—विप्रलम्भ अर्थात् विच्छेदलीला करनेमें दक्ष उन भगवान्‌के राससे सहसा अन्तर्धान होनेके सामर्थ्य तथा बार-बार गोपियोंका परित्याग करनेकी लीलाकी कौन व्यक्ति दिन-रात प्रशंसा नहीं करता? उस अन्तर्धान लीलाके प्रभावने वैसे अनुपम धैर्य और गाम्भीर्यसे श्रीकृष्णका भजन करनेवाली कुलवती व्रजगोपियोंको भी उन्माद दशाको प्राप्त करवाकर वनस्पतियोंसे उन परम पुरुषके सम्बन्धमें पूछनेके लिए अनुप्रेरित किया था। जैसा कि श्रीमद्भागवत (१०/३०/५) में उन व्रजगोपियोंकी अनिर्वचनीय उक्ति है—"हे अश्वत्थ! हे पाकड़! श्रीकृष्ण अपने हास्य-विलासयुक्त प्रेम-कटाक्ष द्वारा हमारे चित्तको चुराकर कहीं चले गये हैं। क्या तुमने उन्हें देखा है?" इस प्रकार उन गोपियोंने भगवान्‌की लीलाका अनुकरणरूप चेष्टा की तथा उन्माद दशाको भी प्राप्त किया था॥१५३॥

विभेम्यस्माद्धन्त! दुर्बोधलीलात्,
क्व तत्तस्याः सारसौभाग्यदानम्।
क्व सद्योऽन्तर्धानतो रोदनाब्धा-
वनाथाया यातनैकाकिनी या॥१५४॥

श्लोकानुवाद—हाय! बड़े ही दुःखकी बात है कि मैं उन श्रीकृष्णसे भयभीत हो रहा हूँ, क्योंकि उनकी लीलाएँ दुर्बोध है। कहाँ तो श्रीकृष्ण द्वारा अपनी परमप्रिया श्रीमती राधिकाको सौभाग्यका सार प्रदान करना और फिर कहा उसी क्षण अन्तर्धान होकर उन्हें रोदनके सागरमें अनाथकी तरह अकेली छोड़कर दुःखित करना॥१५४॥

दिग्दर्शिनी टीका—हन्त विस्मये खेदे वा। अस्माद्भगवतो विभेम्यहम्। कुतः? दुर्बोधा दुःखेनापि बोद्धुमशक्या लीला चेष्टा यस्य तस्मात्। तदेवाह—तस्याः

श्रीराधायास्तां प्रति सारस्य श्रैष्ठ्यस्य सौभाग्यस्य दानं, सकलगोपीगण-परित्यागेन निभृतं निजसङ्गे स्वयं वहनादिना नयनात्। तत् क्व? क्व च सद्योऽन्तर्धानतो हेतोः, अनाथाया अनन्यनाथायास्तस्या रोदनाब्धौ महाक्रन्दने यातना, या च श्रीराधा एकाकिनी असहाया, अद्वितीया वा, दूरस्थसखीगणत्वात्॥१५४॥

भावानुवाद—यहाँ 'हन्त' (हाय!) विस्मय या खेदके अर्थमें है। मैं इन भगवान्से डर रहा हूँ, क्योंकि उनकी लीलाएँ दुर्बोध्य और दुःखपूर्ण हैं, अर्थात् मैं उनकी लीलाओंको समझनेमें असमर्थ हूँ। इसका कारण कि कहाँ तो श्रीकृष्णने श्रीमती राधिकाको सर्वश्रेष्ठ सौभाग्यका सार प्रदान किया था, अर्थात् समस्त गोपियोंको परित्यागकर उनके साथ निर्जनमें विहार करते हुए अपने कन्धेपर वहनकर उन्हें असीम सौभाग्य प्रदान किया था और फिर कहाँ उसी क्षण अन्तर्धान होकर उन्हें रोदन-सागरमें निमग्न किया था। उस समय श्रीराधिकाकी सखियाँ भी दूर थीं, अतः अकेली और असहाय अवस्थामें उन श्रीराधिकाने महाक्रन्दनरूप यातना सहन की थी॥१५४॥

तासामार्त्या　　गीतवद्रोदनाद्यः,
प्रादुर्भूयानन्द-पूरं　　व्यधत्त।
यः　प्रश्नानामुत्तरं　तद्ददौ　च,
स्वस्यर्णित्वस्थापकं सोऽवतु त्वाम्॥१५५॥

श्लोकानुवाद—तदुपरान्त गोपियोंके आर्त्त होकर अन्तरकी वेदनासे उदित गीतके समान रोदनके प्रभावसे श्रीकृष्णने आविर्भूत होकर उनको प्रचुर आनन्द प्रदान किया था। फिर उन गोपियोंके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए अपनेको उनका ऋणी स्वीकार किया था—वे भगवान् तुम्हारी रक्षा करें॥१५५॥

दिग्दर्शिनी टीका—आर्त्त्या हेतुना कृत्वा वा, यत् उच्चैः सुस्वरेण क्रन्दनाद्-भीतवद्रोदनं, तस्माद्धेतोर्यो भगवान् प्रादुर्भूय तासामानन्दपूरं व्यधत्त चकार। तथा प्रश्नानाम् (श्रीमद्भा. १०/३२/१६)—*"भजतोऽनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम्"* इत्यादिना गोपीभिः कृतानां तदद्भुतमुत्तरं यो ददौ च। कीदृशम्? स्वस्य भगवतः ऋणित्वस्य स्थापकं साधकम्। तथा च श्रीभगवद्वचनम् (श्रीमद्भा. १०/३२/२२)—*"न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां, स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः। या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः*

संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥" इति। अस्यार्थोऽन्ते विवृतो भावी। स भगवान् त्वामवतु रक्षतु॥१५५॥

भावानुवाद—अत्यधिक दुःखित होनेके कारण गोपियोंने सुस्वरमें उच्च क्रन्दन अर्थात् गीत-गानकी भाँति रोदन किया था, जिसके प्रभावसे श्रीकृष्णने आविर्भूत होकर उनको प्रचुर आनन्द प्रदानकर उनके समस्त प्रश्नोंका उत्तर किया था। गोपियोंके प्रश्न श्रीमद्भागवत (१०/३२/१६) में वर्णित हैं—"हे महाप्राज्ञ श्रीकृष्ण! एक प्रकारके लोग हैं जिनका भजन करनेपर वे भी प्रतिदानमें भजन करते हैं, अर्थात् उनकी सेवा करनेपर ही वे बदलेमें सेवा करते हैं। एक अन्य श्रेणीके लोग हैं जो इसके विपरीत आचरण करते हैं, अर्थात् अन्योंके द्वारा सेवा किये जानेकी आशा न करके भी वे सेवा करते हैं। तथा एक और श्रेणीके लोग हैं जो इन दोनों प्रकारमेंसे किसीकी भी सेवा नहीं करते हैं। हमें इन प्रश्नका यथार्थ रूपमें उत्तर दीजिये।" गोपियोंके इन प्रश्नोंका श्रीकृष्णने अति अद्भुत उत्तर प्रदान किया था। किस प्रकारसे? अपने उत्तरके द्वारा उन्होंने अपनेको गोपियोंका ऋणी होना स्वीकार किया था। जैसा कि श्रीमद्भागवत (१०/३२/२२) में कथित हुआ है—"हे अबलाओं! मेरे प्रति तुम्हारी जो आसक्ति है अर्थात् प्रेम है, वह समस्त प्रकारके दोषोंसे रहित परम निर्मल है। मैं तुम्हारे इस एकनिष्ठ भजनके प्रतिदानमें तुम्हारे प्रति कोई भी साधुकृत्य कभी भी नहीं कर सकता हूँ, क्योंकि मैं बहुनिष्ठ हूँ तथा तुम्हारा भजन एकनिष्ठ है। तुमने मेरे लिए दुश्छेद्य गृहश्रृंखला अर्थात् जिन गृह-आसक्तियोंको तोड़ना अतिकठिन है, उन्हें भी छेदनकर मेरा भजन किया है। अतएव तुम्हारे द्वारा किये गये साधुकृत्य ही तुम्हारे प्रतिदान हों, अर्थात् मैं अपनी ओरसे कोई भी प्रतिदानकर ऋणमुक्त नहीं हो सकता हूँ।" इसका अर्थ विस्तारसे आगे वर्णित होगा। इस प्रकारसे गोपियोंके प्रेमके प्रति अपनेको ऋणी बोध करनेवाले भगवान् तुम्हारी रक्षा करें॥१५५॥

सा मण्डलीबन्धन-चातुरी प्रभोः,
सा नृत्य-गीतादिकलासु दक्षता।

सापूर्वशोभाधिकता-परम्परा,
मुष्णाति चेतो मम विश्वमोहिनी ॥१५६ ॥

श्लोकानुवाद—रासमें श्रीकृष्णकी वह मण्डली-बन्धनकी चातुरी, वह नृत्य-गीतादि कलाकी दक्षता तथा वह अपूर्व सौन्दर्यके विकासमें माधुर्यपूर्ण विश्वमोहिनी लीलाकी धारा मेरे चित्तका हरण कर रही है॥१५६॥

दिग्दर्शिनी टीका—मण्डल्या मण्डलरूपतया बन्धने संयोजने चातुरी, नृत्यगीतादिरूपासु कलासु विद्या सुदक्षता च; आदि-शब्देन जलस्थलक्रीड़ादि। अपूर्वाया अद्भुताया अपूर्ववृत्ताया वा शोभाया अधिकता अतिशयः तस्याः परम्परा च, मम चेतो मुष्णाति हरति; यतो विश्वस्य जगतोऽपि मोहिनी। एतच्च सर्वेषामपि विशेषणं द्रष्टव्यम्॥१५६॥

भावानुवाद—रासलीलामें प्रभुकी मण्डली-बन्धनकी चातुरी, नृत्य-गीतरूप कला और जल-स्थल क्रीड़ाओंके प्रकाशकी सुदक्षता तथा उनकी उस अपूर्व-अद्भुत लीलाकी शोभा-धारा मेरे चित्तका हरण कर रही है, क्योंकि वह लीला समस्त विश्वको ही मोहित करनेवाली है॥१५६॥

कृष्णाङ्घ्रिपद्म-मकरन्द-निपानलुब्धो,
जानाति तद्रसलिहां परमं महत्त्वम्।
ब्रह्मैव गोकुलभुवामयमुद्धवोऽपि,
गोपीगणस्य यदिमौ लषतः स्म तत्तत्॥१५७ ॥

श्लोकानुवाद—जो श्रीकृष्णके चरणकमलोंके मकरन्दपानमें लुब्ध हैं, केवल वही श्रीकृष्णकी सेवा-रसके आस्वादनमें अनुरक्त गोपियोंकी परम महिमाको जान सकते हैं। इसलिए श्रीब्रह्माने तो उस गोकुलमें जन्म ग्रहण करनेमात्रकी और इन श्रीउद्धवने गोपियोंकी चरणरजको प्राप्त करनेके लिए अभिलाषा (प्रार्थना) की है॥१५७॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं श्रीमाथुरगोकुल-माहात्म्यवर्णनेनैव सिद्धमपि तत्रत्यानां लोकानां माहात्म्यभरं विस्तारेण साक्षादभिव्यञ्जयिष्यन्नादौ तत्तत्त्वानभिज्ञानां तत्र सन्देहमाशङ्क्य युक्त्या निराकुर्वन्नाह—कृष्णेति। कृष्णस्याङ्घ्रिपद्मयोर्मकरन्दो भक्ति-रसस्तस्य निपाने लुब्धो जन एव तं रसं श्रीकृष्णचरणारविन्दमकरन्दं लिहन्तीति तथा तेषां परमसर्वोत्कृष्टतरं महत्त्वं माहात्म्यं जानाति। अत्र दृष्टान्तयति—गोकुलभुवां

गोकुलजातानां जनानां परममहत्त्वं ब्रह्मैव जानाति। अपि च समुच्चये। अयं साक्षाद्वर्त्तमान उद्धव एव गोपीगणस्य परमं महत्त्वं जानाति। यद् यस्मात्, इमौ ब्रह्मोद्धवौ, तत्तदनिर्वाच्यं सुप्रसिद्धं वा किमपि लषतः स्म ऐच्छताम्। तत्र च श्रीभगवत्स्तुत्या तद्दास्ये तत्रापि व्रजवासिजन-सौभाग्यावकलनेन तादृशसौभाग्ये ब्रह्मणो लोभः, श्रीमदुद्धवस्य च श्रीगोपिकाप्रेमभरावलोकनेन तादृशप्रेम्ण्यजायतेत्यूह्यम्। तथा च ब्रह्मणा प्रार्थितम् (श्रीमद्भा. १०/१४/३४)—*"तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां, यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।"* इति। उद्धवेन च (श्रीमद्भा. १०/४७/६१)—*"आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां, वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।"* इति। न चात्र मन्तव्यमिदम्—गोकुलवासिनाम् मध्येऽपि यस्य कस्यापि अङ्घ्रिरजसा अभिषेको यस्मिन् तादृशजन्मप्रार्थनात् ब्रह्मैव परममहत्त्वज्ञः न तूद्धवः; गोकुलमुख्यतमानां श्रीगोपिकानामेव चरणरेणुभाग्गुल्मादिभावप्रार्थनादिति। यतः पारमेष्ठ्यपदाधिकृतो ब्रह्मा श्रीनन्दनन्दनस्य भागवतो दास्यमात्रप्राप्त्यैव कृतार्थः स्यात्। उद्धवस्तु स्वभावतोऽस्य दास एव, परमप्रियतालाभेनैव सन्तुष्टः स्यात्; स्वतः सिद्धादर्थादधिक एव सर्वेषामभिरुच्युत्पत्तेः। अतस्तयोस्तथा प्रार्थनं युक्तमेवेति दिक्॥१५७॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीमथुरा-गोकुलका माहात्म्य वर्णन करनेके द्वारा ही वहाँ स्थित समस्त लोगोंका माहात्म्य सिद्ध (स्थापित) हो जाता है, तथापि व्रजवासियोंके प्रचुर माहात्म्यको विस्तारसे साक्षात् प्रकाशित करनेके लिए श्रीनारद सर्वप्रथम उनके स्वरूपके तत्त्वज्ञानसे अनभिज्ञ व्यक्तियोंके सन्देहको दूर करनेके लिए 'कृष्ण' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। जो व्यक्ति श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी मकरन्दरूप भक्तिरसके पानमें लुब्ध हैं, केवल वे ही श्रीकृष्णके चरणकमलोंके रसास्वादनमें अनुरक्तजनोंकी परम सर्वश्रेष्ठतम महिमासे अवगत हो सकते हैं। इस विषयमें दृष्टान्त हैं—श्रीब्रह्मा और श्रीउद्धव। श्रीब्रह्मा गोकुलमें जन्म ग्रहण करनेवाले लोगोंकी परम महिमाको जानते हैं तथा साक्षात् वर्त्तमान ये श्रीमान् उद्धव भी गोपियोंकी परम महिमासे अवगत हैं। अतएव इन दोनोंने ही उस सुप्रसिद्ध अनिर्वचनीय वस्तु अर्थात् क्रमशः व्रजमें जन्म लेनेकी तथा व्रजगोपियोंकी चरणरज प्राप्त करनेकी अभिलाषा की है।

यद्यपि श्रीब्रह्माने श्रीभगवान्‌का स्तव करते हुए उनके दास्यकी प्रार्थना की थी, तथापि व्रजवासियोंके सौभाग्यका दर्शनकर उनमें वैसे सौभाग्यको प्राप्त करनेका लोभ हुआ था। इस विषयमें श्रीब्रह्माकी

प्रार्थना श्रीमद्भागवत (१०/१४/३४) में उक्त है—"हे प्रभो! आपने मुझे जो जगत्‌का श्रेष्ठ ऐश्वर्य प्रदान किया है, उस ऐश्वर्यको तथा प्राप्त करने योग्य मोक्षादिको भी जलाञ्जलि देकर यदि मैं इन व्रजवासियोंकी श्रीचरणरेणुसे अभिषिक्त हो सकूँ, तब मैं अपनेको अत्यधिक सौभाग्यशाली समझूँगा। अतएव ऐसी कृपा करें जिससे मैं इस वृन्दावनमें कोमल तृणादिके रूपमें भी जन्म ले सकूँ। प्रभो! गोकुलवासी धन्य हैं क्योंकि समस्त वेद आज तक आपके श्रीचरणोंकी धूलिको खोज रहे हैं, तथा आप स्वयं ही व्रजवासियोंके जीवन-सम्पद हैं।" तथा समस्त गोपियोंके प्रचुर प्रेमको देखकर श्रीउद्धवमें उस प्रेमको प्राप्त करनेकी इच्छा उदित हुई थी तथा उन्होंने भी प्रार्थना की है, यथा श्रीमद्भागवत (१०/४७/६१)—"जिन समस्त गोपियोंने आत्मीयजनों और आर्यधर्म—जिनका त्याग करना अति कठिन है—को भी परित्यागकर परम अनुरागपूर्वक श्रीगोविन्दका भजन किया था, क्या मैं कभी उनकी चरणधूलिको प्राप्त कर सकूँगा? किन्तु उनकी श्रीचरणधूलिके प्रति मेरी लालसा होनेपर भी वह अति दुर्लभ है। अतएव वृन्दावनमें जो समस्त गुल्म, लता और औषधियाँ इनकी चरणधूलिका सेवन कर रही हैं, क्या मैं उनमेंसे कोई एक हो सकूँगा?"

ऐसा मन्तव्य मत करना कि वृन्दावनवासियोंमेंसे जिस किसीकी भी (अर्थात् सभीकी) चरणरेणुसे अभिषिक्त होकर वैसे जन्मकी प्रार्थना करनेके कारण ब्रह्मा ही परम तत्त्वज्ञ हैं तथा उद्धव नहीं। वस्तुतः श्रीउद्धवने गोकुलमें मुख्यतम श्रीव्रजगोपियोंकी चरणधूलिको प्राप्त करनेवाले गुल्मादिके भाव (जन्म) की प्रार्थना की है। इसका कारण है कि परमेष्ठी पदाधिकारी श्रीब्रह्मा तो भगवान् श्रीनन्दनन्दनके मात्र दास्यभावको प्राप्त करनेसे ही कृतार्थ हो सकते हैं, किन्तु श्रीउद्धव तो स्वभावतः ही श्रीनन्दनन्दनके दास हैं, अतएव उस (स्थिति) से कुछ अधिक परमप्रियता प्राप्त करनेसे ही वे सन्तुष्ट हो सकते हैं। इसका कारण है कि प्राप्त हुए अर्थसे भी अधिकतर अर्थको संग्रह करनेमें ही सभीकी रुचि होती है। अतएव दोनोंने अपने-अपने भावानुसार उपयुक्त प्रार्थना ही की है॥१५७॥

येषां हि यद्वस्तुनि भाति लोभ-
स्ते तद्वतां भाग्य-बलं विदन्ति।
गोप्यो मुकुन्दाधर-पानलुब्धा,
गायन्ति सौभाग्य-भरं मुरल्याः॥१५८॥

श्लोकानुवाद—जिनका जिस वस्तुके प्रति लोभ होता है, वे ही उस वस्तुको प्राप्त करनेवालेके भाग्यकी महिमाको जान सकते हैं। इसलिए श्रीकृष्णकी अधर-सुधाके पानके प्रति लुब्ध होनेके कारण ही गोपियों मुरलीके प्रचुर सौभाग्यका गान करती हैं॥१५८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्रैव हेतुं सनिदर्शनमाह—येषां हीति। भाति प्रकाशते, तद्वतां तद्वस्तुसम्बन्धिनां भाग्यस्य बलं प्रभावं विदन्ति। तत्र निदर्शनं—गोप्य इति। तथा च ताभिरेव वर्णितम् (श्रीमद्भा. १०/२१/९)—*"गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणुः"* इत्यादि॥१५८॥

भावानुवाद—पूर्व श्लोकमें कथित विचारका कारण निर्देश करनेके लिए 'येषां' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। मूल श्लोकमें 'भाति' शब्दका अर्थ है—प्रकाशित होना। जिनका जिस वस्तुके प्रति लोभ प्रकाशित होता है, वे ही उस वस्तुसे सम्बन्धित अर्थात् उस वस्तुके आस्वादनकारीके भाग्यकी महिमाका वर्णन कर सकते हैं। इसका दृष्टान्त व्रजगोपियाँ हैं—वे मुकुन्दके अधर-अमृतको पान करनेके लिए लुब्ध थीं, इसीलिए उन्होंने श्रीकृष्णकी अधर-सुधा पानकारी मुरलीके प्रचुर सौभाग्यका गान किया है। यथा, श्रीमद्भागवत (१०/२१/९)—"इस मुरलीने कैसा अनिर्वचनीय पुण्य किया है!" इत्यादि॥१५८॥

तद्गोष्ठलोकेषु महाद्भुतास्यासक्तिः सदा प्रेम-भरेण तेषु।
यया गतं ज्येष्ठसुतं स्तुवन्तं, विधिं नमन्तं न दिदृक्षतेऽपि॥१५९॥

श्लोकानुवाद—उन व्रजवासियोंके प्रति श्रीकृष्णकी महाद्भुत प्रेमपूर्ण आसक्ति निरन्तर विद्यमान है, इसलिए अपने बड़े पुत्र श्रीब्रह्मा द्वारा बार-बार स्तुति और प्रणाम किये जानेपर भी श्रीकृष्णने उनकी ओर देखा तक भी नहीं॥१५९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव च प्रपञ्चयति—तद्गोष्ठेति नवभिः। तेषु सुप्रसिद्धेषु तस्य माथुरस्य गोष्ठस्य लोकेषु; प्रेमभरेण अस्य कृष्णस्य; सदा अद्भुता

आसक्तिरभिनिवेशः, यया आसक्त्या तत्रैव गतं ज्येष्ठपुत्रं सृष्ट्यादौ नाभिपद्मोद्भवत्वात्। विधिं ब्रह्माणमपि, तत्र च स्तुवन्तं नमन्तञ्चापि, तं न द्रष्टुमिच्छत्यपि। कुतः? सम्भाषणादिकं कुर्यादित्यर्थः। यच्च सुरभिसङ्गत्या गोवर्धनाद्रिं गतेन शक्रेण सह श्रीभगवतः सम्भाषणं वृत्तम्, तच्च परमभीतस्य तस्याधिकारभ्रंश-शङ्का-निवृत्तये; यद्वा, श्रीगोविन्दोपेन्द्रेति नामद्वयप्रकाशाभिषेकमहोत्सव-सम्पत्तये। किंवा गवामादियोनेः श्रीसुरभेः सङ्गत्या शरणमागतस्य तस्यापराधक्षमा प्रतीयत इति दिक्॥१५९॥

भावानुवाद—उपरोक्त कथित विषयको श्रीनारद विस्तारसे 'तद्गोष्ठ' इत्यादि नौ श्लोकोंमें वर्णन कर रहे हैं। उन सुप्रसिद्ध माथुर-गोष्ठवासियोंके प्रति श्रीकृष्णका जो प्रचुर प्रेमरूप अद्भुत अभिनिवेश—अर्थात् आसक्ति है, उस आसक्तिके कारण ही उन्होंने अपने बड़े पुत्र अर्थात् सृष्टिके समय नाभिकमलसे उत्पन्न श्रीब्रह्माके द्वारा बार-बार स्तुति और प्रणाम किये जानेपर भी उनकी ओर देखा तक नहीं। किसलिए? वे सखाओंके साथ बातचीतमें निमग्न थे। यदि कहो कि अन्ततः उनके साथ वार्त्तालाप तो कर ही सकते थे, क्योंकि सुरभिके साथ श्रीगोवर्धन पर्वतपर आये इन्द्रके साथ तो उन्होंने बातचीत की थी? इसके उत्तरमें कहते हैं कि वह वार्त्तालाप परम भयभीत इन्द्रसे उसके अधिकारसे भ्रष्ट होनेकी आशङ्काको दूर करनेके लिए ही हुई थी। अथवा 'श्रीगोविन्द' अर्थात् गो-गोप-गोपियों आदिका आनन्द वर्द्धन करनेवाले और 'श्रीउपेन्द्र' (अर्थात् उप+इन्द्र—इन्द्रसे ऊपर अर्थात् श्रेष्ठ)—इन दोनों नामोंको प्रकाश करनेवाले अभिषेक-महोत्सवको करनेके लिए, अथवा श्रीकृष्णकी प्रिय गोसमूहकी मूल जननी श्रीसुरभिको अपने साथ लेकर भगवान्के शरणागत हुए इन्द्र द्वारा भगवान्से अपने अपराधकी क्षमा प्रार्थना करनेपर श्रीकृष्णने उससे वार्त्तालाप की थी—ऐसा भी प्रतीत होता है॥१५९॥

तत्पादपद्मैकगतींश्च मादृशान्,
सम्भाषितुं नोत्सहतेऽपि स क्षणम्।
तैर्मोहितोऽसौ किल गोष्ठ-नागरो,
वन्यैर्विचित्रौषधिमन्त्रवित्तमैः ॥१६०॥

श्लोकानुवाद—उस वनके समस्त व्रजवासियोंने किसी एक विचित्र मन्त्र-औषधिके द्वारा उन गोष्ठ-नागर श्रीकृष्णको वशीभूत और मोहित

कर रखा है। इसलिए वे मेरे जैसे अनन्य भक्तों, जिनके लिए उनके चरणकमल ही एकमात्र गति हैं, सहित क्षणकालके लिए भी बातचीत करनेमें उत्साह नहीं दिखाते हैं॥१६०॥

दिग्दर्शिनी टीका—अहो किल तदानीं भवतु नाम तस्य महाधिकारिणि विधावुपेक्षा, मामप्यनन्याश्रयमुपेक्षत इत्याह—तदिति। अप्यर्थे चकारः। स कृष्णः क्षणमपि सम्भाषितुमपि नोत्सहतेऽपि, किमुतातिथ्यादिना चिरं सम्मानयितुं प्रवर्त्ततामित्यर्थः। तत्र हेतुमुद्दिशति—तैरिति। किल वितर्के। ननु वन्यानां तन्मोहने का शक्तिस्तत्राह—विचित्रेति। एतच्च भावविशेषेनैव केवलमीर्षयैवोक्तमित्यूह्यम्, औषधादिना भगवन्मोहनासम्भवात्। वस्तुनो भावभुजस्तस्य केवलं भावविशेषेणैव वशीकरणात्। गोष्ठनागर इति चेर्ष्योपहासेन। यद्वा, अनेन परमवैदग्धी-(कारुण्य-)भरः सूचितः; तथापि मोहित इति तस्मादपि तेषां वैदग्धीविशेषो ध्वनित इति दिक्॥१६०॥

भावानुवाद—अहो! उस समय श्रीकृष्ण व्रजमें उपस्थित महा-अधिकारी श्रीब्रह्माकी उपेक्षाकी बात तो दूर रहे, उनके श्रीचरणकमल ही जिनके एकमात्र आश्रय हैं, ऐसे अनन्यगति मेरे जैसे भक्तोंकी भी उपेक्षा कर देते हैं। इसे बतलानेके लिए श्रीनारद 'तत्पाद' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। वे गोष्ठ-नागर हम जैसे भक्तोंके साथ क्षणकालके लिए भी बातचीत करनेमें उत्साह नहीं दिखाते, तो फिर आतिथ्य-सत्कार आदिके द्वारा अधिक समय तक सम्मान करना उनके लिए कैसे सम्भव हो सकता है? 'तैः' इत्यादि पद द्वारा इसका कारण निर्देश करते हुए कह रहे हैं कि वे गोष्ठ-नागर व्रजवासियों द्वारा पूर्णत मोहित हो गये हैं।

यदि आपत्ति हो कि उस वनके व्रजवासियोंमें ऐसी कौन-सी शक्ति है जो भगवान्‌को भी मोहित कर सकती है? इसके उत्तरमें 'विचित्र' इत्यादि पद कह रहे हैं। यहाँ औषधि-मन्त्र कहनेका तात्पर्य व्रजवासियोंका भावविशेष ही है जो प्रेममय आलाप और विलासादिमें अभिव्यक्त होता है। केवल ईर्ष्यावशतः ही ऐसा कथित हुआ है, क्योंकि मन्त्र या औषधि द्वारा भगवान्‌को वशीभूत या मोहित करना असम्भव है। वास्तवमें भावको आस्वादन करनेके लोलुप (लोभी) उन भगवान्‌के लिए केवल भावविशेष ही वशीकरण मन्त्र या महा-औषधिस्वरूप है। यहाँ 'गोष्ठनागर' सम्बोधन ईर्ष्या प्रकाशक

उपहास सहित हुआ है। अथवा इसके द्वारा उनकी परम वैदग्धी (प्रचुर करुणा) सूचित हुई है, तथापि 'मोहित हुए' कहनेसे श्रीकृष्णसे भी उन व्रजवासियोंकी विशेष वैदग्धी ध्वनित होती है॥१६०॥

तेषां सदासक्तिरपि क्व वाच्या,
ये नन्दगोपस्य कुमारमेनम्।
प्रेम्णा विदन्तो बहु सेवमानाः,
सदा महात्त्यैव नयन्ति कालम्॥१६१॥

श्लोकानुवाद—उन व्रजवासियोंमें श्रीकृष्णके प्रति जो आसक्ति है, उसका क्या वर्णन करूँ? वे उन भगवान्‌को केवल 'नन्दनन्दन' रूपमें ही जानते हैं तथा प्रेमसहित विविध प्रकारसे उनकी सेवा करनेपर भी अतृप्तिवशतः सर्वदा अत्यन्त दुःखित होकर काल यापन करते हैं॥१६१॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं तेषु भगवतोऽनुरागभर उक्तः। तस्मिन्नपि तेषां तमाह—तेषामिति। तद्गोष्ठलोकानामपि तस्मिन् कृष्णे आसक्तिस्तदेकपरता क्व वाच्या, अपि तु क्वचिदपि वक्तुं न शक्येत्यर्थः। तत्र हेतुः—ये लोका एवं भगवन्तं प्रेम्णा हेतुना नन्दगोपस्य कुमारमित्येव, न तु परमेश्वरमिति विदन्तोऽवगच्छन्तः। अतएव प्रेम्णैव बहु यथा स्यात्तथा सेवमाना अपि सदा महत्या आर्त्त्यैव कालं नयन्ति गमयन्ति, तादृशप्रेमभरस्य तादृग्लक्षणकत्वात्। एतच्च प्रागुद्दिष्टमस्ति, अग्रेऽपि व्यक्तं भावि॥१६१॥

भावानुवाद—पूर्व श्लोकोंमें व्रजवासियोंके प्रति श्रीकृष्णके अनुरागका वर्णन हुआ है, किन्तु श्रीकृष्णके प्रति व्रजवासियोंके अनुरागको बतलानेके लिए 'तेषां' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। श्रीकृष्णके प्रति उन समस्त व्रजवासियोंकी आसक्ति अर्थात् ऐकान्तिकताका क्या वर्णन करूँ? अपितु मुझमें थोड़ा भी वर्णन करनेका सामर्थ्य नहीं है। इसका कारण है कि वे व्रजवासी प्रेमवशतः स्वयं भगवान्‌को भी परमेश्वर न जानकर केवल "नन्द गोपके पुत्र" रूपमें ही जानते हैं तथा प्रेमसे परिपूर्ण होकर बहुत प्रकारसे उनकी सेवा करनेपर भी अतृप्तिवशतः सर्वदा अत्यन्त दुःखित होकर काल यापन करते हैं। इस प्रकारके लक्षण केवल व्रजवासियोंकी प्रेम-प्रचुरतामें ही लक्षित होते हैं।

व्रजवासियोंके श्रीकृष्ण–विषयक प्रेमके सम्बन्धमें पहले भी कहा गया है और आगे भी कहा जायेगा॥१६१॥

कालातीता ज्ञानसम्पत्तिभाजामस्माकं ये पूज्यपादाः समन्तात्।
वैकुण्ठस्यानुत्तमानन्दपूरभाजामेषां यादवानामपीज्याः ॥१६२॥

श्लोकानुवाद—वे व्रजवासी कालसे अतीत हैं तथा मेरे जैसे ज्ञान–सम्पत्तिसे युक्त जनोंके भी सर्वथा पूजनीय हैं। यहाँ तक कि वे निरन्तर वैकुण्ठके उत्तम आनन्दको भोग करनेवाले वैकुण्ठवासियों और द्वारकावासी यादवोंके भी पूजनीय हैं॥१६२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु भगवन्महिमविशेषाज्ञानादप्येवं घटत एव, तत्राह—कालेति। ये लोकाः कालमतीता अतिक्रान्ताः; किञ्च, ज्ञानसम्पत्तिभाजां निखिलज्ञान–वैभववतामप्यस्माकं समन्तात् सर्वतोभावेन पूज्याः पूजार्हाः पादा येषां ते; किञ्च, वैकुण्ठस्य अनुत्तमं परमोत्कृष्टमानन्दपूरं भजन्ति अनुभवन्तीति तथा तेषामेषां द्वारकावासिनां यादवानामुद्धवादीनामपि इज्याः पूज्याः। अतः कालयापनमज्ञानं दुःखमपि तेषां किञ्चिन्न सम्भवेदेव, केवलं प्रेमभरकृतमेव तत्तदिति दिक्॥१६२॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि वे व्रजवासीगण श्रीभगवान्की महिमाके विशेष ज्ञानसे अवगत न होनेके कारण ही महा–आर्त्तिपूर्ण रूपमें काल यापन करते हैं। इसके समाधानमें 'काल' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। वे व्रजवासी कालके अतीत हैं, अर्थात् कालका अतिक्रमण कर चुके हैं। सम्पुर्ण ज्ञान–वैभवसे युक्त मुझ जैसोंके लिए भी समस्त प्रकारसे पूजाके योग्य हैं, अर्थात् उनके चरण मुझ जैसोंके द्वारा भी पूजनीय हैं तथा जो वैकुण्ठमें अति उत्तम आनन्दराशिका भोग करते हैं, उन वैकुण्ठवासियों तथा द्वारकावासियों अर्थात् उद्धवादि यादवोंके भी वे पूज्य हैं। अतएव उनका अज्ञानवशतः दुःखपूर्वक कालयापन किसी प्रकारसे भी सम्भव नहीं हो सकता है। केवल प्रेमकी परिपूर्णता द्वारा संघटित उनकी ऐसी आर्त्तिको प्रेमरूपी समुद्रकी विशेष लहरी ही जानो॥१६२॥

कृष्णेन न व्रजजनाः किल मोहितास्ते
तैः स व्यमोहि भगवानिति सत्यमेव।

गत्वा मयैव स हि विस्मृतदेवकार्यो-
ऽनुस्मारितः किमपि कृत्यमहो कथञ्चित्॥१६३॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णने विचित्र विलासादि द्वारा उन व्रजवासियोंको मोहित नहीं किया था, बल्कि वे स्वयं ही उन व्रजवासियोंके विचित्र भावोंसे मोहित हो गये थे—यही सत्य है। इसका कारण है कि मैंने ही व्रजमें जाकर स्तुतिके बहाने उन्हें देव-कार्यके विषयमें स्मरण करवाया था, वे तो उसे भूल ही चुके थे॥१६३॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु भगवतापि तेन विचित्रविलासादिभिस्ते मोहिता इति श्रूयते। तत्राह—कृष्णेनेति। तैर्व्रजजनैः, स भगवान्, व्यमोहि विशेषेण मोहितः, इत्येतदेव सत्यम्; हि यस्मात्, विस्मृतं देवकार्यं कंसघातनादिकं येन तथाभूतः स भगवान् मयैव गत्वा कथञ्चित् स्तुत्यादि-परिपाट्या, किमपि किञ्चित्, कृत्यमवश्य-कर्त्तव्यम् अनुस्मारितः। अहो विस्मये। तच्च दशमस्कन्धादौ (श्रीमद्भा. १०/३७/१३) केशिवधानन्तरम्—*"स त्वं भूधरभूतानां दैत्य-प्रमथ-रक्षसाम्। अवतीर्णो विनाशाय साधुनां रक्षणाय च॥"* इत्यनेन। तथा (श्रीमद्भा. १०/३७/१५)—*"चाणूरं मुष्टिकञ्चैव मल्लानन्यांश्च हस्तिनम्। कंसञ्च निहतं द्रक्ष्ये परश्वोऽहनि ते प्रभो॥"* इत्यादीना च स्पष्टमेवास्तीति विवरणीयम्॥१६३॥

भावानुवाद—यदि कहो कि ऐसा क्यों सुना जाता है कि श्रीकृष्णने उन व्रजवासियोंको अपने विचित्र विलासादि द्वारा मोहित किया था? इसके समाधानमें श्रीनारद 'कृष्णेन' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। श्रीकृष्णके द्वारा व्रजवासीगण मोहित नहीं हुए, बल्कि श्रीकृष्ण ही उन व्रजवासियोंके भावों द्वारा विशेष रूपसे मोहित हो गये थे—यही सत्य है। मैंने स्वयं व्रजमें जाकर ऐसा देखा है तथा स्तुति आदि द्वारा उन्हें भूले हुए कंस-वधादि अवश्य करणीय देव-कार्योंके विषयमें याद दिलवाया था। इस सम्बन्धमें दशम-स्कन्धमें केशी वधके उपरान्त वर्णन किया गया है, यथा श्रीमद्भागवत (१०/३७/१३)—"हे प्रभो! आप अपनी भक्तिके विरोधी दैत्य और राक्षसों आदिका संहारकर साधुजनोंकी रक्षा करनेके लिए ही इस भूतलपर यदुवंशमें अवत्तीर्ण हुए हैं।" तथा श्रीमद्भागवत (१०/३७/१५) में स्पष्ट रूपसे वर्णन हुआ है—"हे प्रभो! मैं शीघ्र ही देख पाऊँगा कि आपने चाणूर, मुष्टिक और अन्यान्य मल्लों, कुवलयापीड हाथी और कंसका संहार किया है॥"१६३॥

कथं कथमपि प्राज्ञेनाक्रूरेण बलादिव।
व्रजान्मधुपुरीं नीतो यदूनां हितमिच्छता॥१६४॥

श्लोकानुवाद—यादवोंके परम हितैषी बुद्धिमान अक्रूर व्रजमें आकर श्रीकृष्णको बलपूर्वक व्रजसे मथुरापुरी ले गये थे॥१६४॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तर्हि कथमसौ मधुपुरीं गतः? तत्राह—कथमिति चतुर्भिः। प्राज्ञेन परमचतुरेण, भगवद्धेतुक-श्रीवासुदेव-देवकी-परमार्त्त्यादिश्रवणात्। तथा च हरिवंशेऽक्रूरवचनम्—*"वृद्धौ तवाद्य पितरौ परभृत्यत्वमागतौ। भर्त्स्येते तत्कृते तेन कंसेनाशुभबुद्धिना॥"* इत्यादि। यदूनां श्रीवसुदेवादीनाम्॥१६४॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि जब श्रीकृष्ण व्रजवासियोंके प्रेमसे मोहित होकर उनके अधीन हो गये थे, तब वे कैसे मथुरा गये? इसके उत्तरमें 'कथं' इत्यादि चार श्लोक कह रहे हैं। परम चतुर अर्थात् बुद्धिमान अक्रूर ही उन्हें बलपूर्वक व्रजसे मथुरापुरी ले गये थे। अक्रूरने जब चतुरतापूर्वक कहा कि श्रीकृष्णके लिए ही श्रीवसुदेव और देवकीने अत्यधिक दुःख सहन किये हैं—ऐसा सुनकर दूसरोंके दुःखसे दुःखित होनेवाले श्रीकृष्ण अक्रूरके साथ मथुरा चले गये। हरिवंशमें अक्रूरके वचन हैं—"हे कृष्ण! तुम्हारे वृद्ध माता-पिता तुम्हारे लिए ही दुष्टबुद्धियुक्त कंस द्वारा सर्वदा अपमानित हो रहे हैं तथा वहाँपर दूसरेके अधीन रहनेवाले दासकी भाँति बहुत कष्टसे काल-यापन कर रहे हैं। केवल तुम्हें देखनेके लिए ही वे प्राण धारण किए हुए हैं।" इस प्रकार श्रीवसुदेवादि समस्त यादवोंके दुःखको दूर करनेके लिए ही श्रीकृष्ण मथुरामें गये थे॥१६४॥

स तान् व्रजजनान् हातुं शक्नुयान्न कदाचन।
अभीक्ष्णं याति तत्रैव वसति क्रीड़ति ध्रुवम्॥१६५॥

श्लोकानुवाद—तथापि श्रीकृष्ण उन व्रजवासियोंको कभी भी त्याग नहीं सकते हैं। वे बार-बार व्रजसे ही मथुरापुरीमें जाते हैं, किन्तु उस व्रजमें सदा ही स्थिर भावसे वास करते हैं और उन व्रजवासियोंके साथ क्रीड़ा करते हैं॥१६५॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तर्हि व्रजजनेषु उक्ता तस्यासक्तिः कथं सिध्येत्तत्राह—स इति। अभीक्ष्णमिति वारंवारं यदुकुलहितार्थं मधुपुरीमायाति पुनर्वारंवारं व्रज एव

यातीत्यर्थः। ननु तथाप्यन्तराविच्छेदः स्यात्तत्राह—तत्रैव वसतीति। न केवलं वसत्येव, क्रीड़ति च, ध्रुवमित्यत्राश्रद्धा न कार्येत्यर्थः॥१६५॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि इस प्रकार मथुरा गमन द्वारा उनकी व्रजवासियोंके प्रति आसक्ति किस प्रकार निर्णीत हो सकती है? इस आशङ्काके समाधानके लिए 'स' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। वे उन व्रजवासियोंको त्याग करनेमें कभी भी समर्थ नहीं हैं, क्योंकि यादवोंके हितके लिए बार-बार व्रजसे मथुरापुरीमें जाकर वे पुनः व्रजमें ही लौट आते हैं। यदि पुनः कहो कि तब तो बीच-बीचमें विच्छेद संघटित होता है? इसके उत्तरमें 'तत्रैव वसति' इत्यादि पद द्वारा कह रहे हैं कि श्रीकृष्ण उस व्रजमें ही स्थिर रूपसे वास करते हैं। केवल वास ही नहीं, सर्वदा क्रीड़ा भी करते हैं—यही ध्रुव सत्य है, इस विषयमें कभी अविश्वास मत करना॥१६५॥

परं परमकौतुकी विरहजातभावोर्मितो,
व्रजस्य विविधेहितं निज-मनोरमं वीक्षितुम्।
निकुञ्जकुहरे यथा भवति नाम सोऽन्तर्हित-,
स्तथा विविधलीलयापसरति छलात् कर्हिचित्॥१६६॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्ण परम कौतुकी हैं, इसीलिए व्रजवासियोंमें विरहके कारण भावोंकी जो तरङ्गे उठती हैं, उन तरङ्गोंमें व्रजवासियोंकी गूढ़तम मनोरम चेष्टाओंका निरीक्षण करनेके लिए श्रीकृष्ण जैसे वृन्दावनमें लीला करते हुए निकुञ्जके भीतर अन्तर्हितकी भाँति अपनेको छिपा लेते, उसी प्रकार विविध प्रकारकी लीला द्वारा छलसे प्रवासादिके बहाने भी वे कभी-कभी अन्तर्हित हो जाते हैं॥१६६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तर्हि कथं तत्रत्यानां तेषां विरहदुःखादिकं श्रूयते? सत्यम्, तच्च क्रीड़ाकौतुकादेवेत्याह—परमिति। व्रजस्य तत्रत्यजनानां विरहाज्जातस्य भावस्य प्रेमविशेषस्य ऊर्मितः परम्पराया हेतोः, परमुत्कृष्टं केवलं वा विविधम् ईहितं चेष्टितं वीक्षितुं विविधलीलया यश्छलः कोऽपि मिषस्तस्माद्धेतोः कर्हिचित् कदाचित् अपसरति व्रजजनदृष्टितः पलायते। कथमिव? यथा विविधलीलयैव निकुञ्जानां श्रीवृन्दावनादिलतागृहाणां कुहरेऽभ्यन्तरे स कृष्णोऽन्तर्हितो भवति। नाम प्रकाश्ये। तथैव तत्र हेतुः—परमकौतुकी, अतएव निजं तदीयं मनो रमयतीति तथा तत्॥१६६॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि जब श्रीकृष्ण स्थिर रूपमें ही व्रजमें वास करते हैं, तब फिर किसलिए व्रजवासियोंके विरह–दुःखके सम्बन्धमें सुना जाता है? यह सत्य है कि व्रजवासीगण श्रीकृष्णका विरह अनुभव करते हैं, किन्तु वह विरह–दुःख केवल श्रीकृष्णका क्रीड़ा–कौतुकमात्र है—इसे बतलानेके लिए 'परं' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। श्रीकृष्णके विरहसे उत्पन्न भाव अर्थात् विशेष प्रेमकी तरङ्गमालामें निमग्न होकर उन व्रजवासियोंकी जिस प्रकारकी परम अद्भुत चेष्टाएँ उदित होती है, उन्हें अपने लिए मनोरम जानकर उन परमोत्कृष्टतम विविध चेष्टाओंको देखनेके लिए ही श्रीकृष्ण नाना प्रकारकी लीलाके छलसे व्रजवासियोंकी दृष्टिसे दूर हो जाते हैं। जैसे श्रीवृन्दावनमें लताके निर्मित गृहों (कुञ्जों) के भीतर ही कभी–कभी अन्तर्हितकी भाँति आत्मगोपन कर लेते हैं या कभी–कभी एक कुञ्जसे दूसरे कुञ्जमें गमन करके अपनेको छिपा लेते हैं। अथवा कभी–कभी प्रवासके बहाने अन्तर्हित हो जाते हैं। श्रीकृष्णकी ऐसी लीलाओंका कारण है कि वे परम कौतुकी है, अतएव इस प्रकार वे अपने तथा निजजनोंके मनको आनन्दित करते हैं॥१६६॥

मन्येऽहमेवं परमप्रियेभ्यस्तेभ्यः प्रदेयस्य सुदुर्लभस्य।
द्रव्यस्य कस्यापि समर्पणार्हो वदान्यमौलेर्व्यवहार एषः॥१६७॥

श्लोकानुवाद—मेरा तो ऐसा मानना है कि श्रीकृष्ण वदान्य चूड़ामणि अर्थात् समस्त दानियोंमें सर्वश्रेष्ठ हैं। अतएव अपने परमप्रिय व्रजवासियोंको कोई एक सुदुर्लभ वस्तु प्रदान करनेके लिए ही वे इस प्रकारकी अन्तर्धान लीला किया करते हैं॥१६७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तथापि लवलेशमपि विरहं सोढुमसमर्थेषु तेषु तथा व्यवहरणमनुचितम्, तत्राह—मन्य इति। कैश्चित्तथा मन्यते, अहन्तु एवं मन्य इत्यर्थः। तदेवाह—तेभ्यः व्रजजनेभ्यः प्रकर्षेण देयस्य कस्यापि परमगोप्यस्य द्रव्यस्य परमप्रेमविशेषाख्यवस्तुनः समर्पणं पात्रसात्करणं, तद्योग्य एष एव उक्तप्रकारोऽन्तर्धानादि–रूपो व्यवहारश्चेष्टा, विरहेणैव परमप्रेमविशेषसम्पत्तेः। कुतः? दुर्लभस्य अन्यैरन्यथा वा लब्धुमशक्यस्य। तथा चोक्तमुद्धवेन गोपीः प्रति (श्रीमद्भा. १०/४७/२७)— *"सर्वात्मभावोऽधिकृतो भवतीनामधोक्षजे। विरहेण महाभागाः"* इति। अस्यार्थः—कर्त्तरि

षष्ठी, भवतीभिरधोक्षजे सर्वेन्द्रियवृत्त्यगोचरे श्रीकृष्णे सर्वात्मभावः परमैकान्तिभक्तिः, विरहेण हेतुना अधिकृतः अधिकारेण परमवश्यतया दार्ढ्येन प्राप्तः। अतो हे महाभागा इति, वदान्यमौलेरिति; यस्मै कियद्द्रव्यं यथा दातुमुपयुज्यते, तथा तस्मै तस्य दातृषु मध्ये श्रेष्ठतमस्येत्यर्थः। अतएव सम्भोगेऽपि तेषां विरह एव परिस्फुरतीति प्रथमोपाख्यानान्ते निरूपितमस्ति॥१६७॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि तथापि जो विरहका लवलेशमात्र भी सहन नहीं कर सकते हैं, उनके प्रति श्रीकृष्णका वैसा व्यवहार अनुचित है। इस आशङ्काके समाधानके लिए श्रीनारद 'मन्ये' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। अन्य लोग जैसा मानते हैं माने, किन्तु मेरा ऐसा मानना है कि वदान्य-चूड़ामणि श्रीकृष्ण अपने प्रियतम उन व्रजवासियोंको प्रकृष्टरूपमें दान की जानेवाली किसी एक परम गोपनीय वस्तु, अर्थात् परम प्रेमविशेष नामक वस्तुको समर्पण करनेके उद्देश्यसे उन्हें उस वस्तुका योग्य पात्र बनानेके लिए ही उक्त प्रकारसे अन्तर्धानरूप व्यवहार करते हैं, क्योंकि विरहमें ही वैसा विशेष परमप्रेम परिपुष्ट होता है। अतएव अन्योंके लिए जो वस्तु दुर्लभ है, उसे प्रदान करनेके लिए अथवा उस वस्तु विशेषके अनुभवका सामर्थ्य प्रदान करनेके लिए ही श्रीकृष्ण वैसा व्यवहार करते हैं। श्रीउद्धवने स्वयं अनुभवकर उन महाभावमयी गोपियोंसे कहा था, यथा श्रीमद्भागवत (१०/४७/२७)—"हे महाभागयवती गोपियों! आपने अधोक्षज श्रीकृष्णके प्रति एकान्तिक भक्ति प्राप्त की है तथा अभी इस विरह दशामें श्रीकृष्ण-प्रेमसुखके प्रदर्शन द्वारा आपने मेरे प्रति अनुग्रह ही प्रकाश किया है।" इसका अर्थ है—हे गोपियों आपने अधोक्षज अर्थात् समस्त इन्द्रियोंकी वृत्तिके अगोचर श्रीकृष्णके प्रति अपने सम्पूर्ण आत्म भावसे अर्थात् परम एकान्तिक भक्तिवशतः विशेष भाव प्राप्त कर लिया है। उस विरहरूप महाभावके विक्रमसे श्रीकृष्ण सर्वदा ही आपके वशीभूत या अधिकृत रहते हैं, अर्थात् आपने दृढ़तापूर्वक उन्हें प्राप्त किया है। अतः किसी समय भी उनसे आपका विच्छेद नहीं होता, अतएव आप महाभाग्यवान् हैं। तथा श्रीकृष्ण 'वदान्य-चूड़ामणि' हैं अर्थात् जिनके प्रति किसी वस्तुको प्रदान करना उपयुक्त है, उनके प्रति ही उस वस्तुको प्रदान करनेवालोंमें वे श्रेष्ठतम हैं। अतएव सम्भोगमें भी

गोपियोंको उनके विरहकी ही स्फूर्ति होती है, यह प्रथम उपाख्यान (श्रीभगवत्–कृपासार–निर्धारण) के अन्तमें निरूपित हुआ है॥१६७॥

यथा क्रीड़ति तद्भूमौ गोलोकेऽपि तथैव सः।
अधऊर्ध्वतया भेदोऽनयोः कल्प्येत केवलम्॥१६८॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्ण माथुर–व्रजभूमिमें जैसी लीलाएँ करते हैं, इस गोलोकमें भी वैसी ही लीलाएँ करते हैं। इसलिए लीलाके अनुसार वस्तुतः कोई भेद नहीं है, केवल उच्च और निम्न स्थितिवशतः गोलोक और गोकुलमें भेद कल्पित हुआ है॥१६८॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं प्रस्तुतस्य श्रीगोलोकमाहात्म्यस्यैव निरूपणायोपन्यस्तं भौमगोकुलमाहात्म्यप्रसङ्गमुपसंहरन् उक्तेनैव तद्गोकुलचरितेन श्रीगोलोकवर्ति–चरितमप्यति–दिशति—यथेति। तस्यां माथुरव्रजसम्बन्धिन्यां भूमौ, स भगवान्; अतएव अनयोर्भौममाथुर–गोकुलस्य गोलोकस्य चेत्येतयोर्द्वयोः केवलमधऊर्ध्वतया भूर्लोकवर्त्तित्वेन तस्याधस्तया वैकुण्ठोपरि वर्त्तमानत्वेन चास्योर्ध्वतया भेदः कल्प्येत, न च वस्तुतो विचारेण विशेषोऽस्तीत्यर्थः॥१६८॥

भावानुवाद—इस प्रकार प्रस्तुत विषय अर्थात् गोलोकका माहात्म्य निरूपण करनेके उपक्रममें जो भौम गोकुलके माहात्म्यका प्रसङ्ग उपस्थित किया गया था, उसके उपसंहारमें श्रीनारद उक्त गोकुलके चरित्र द्वारा ही गोलोकके चरित्रका वर्णन 'यथा' इत्यादि श्लोक द्वारा कर रहे हैं। इस मथुरा–व्रज–सम्बन्धी भूमिमें श्रीभगवान् जैसी लीलाएँ करते हैं, गोलोकमें भी वैसी ही लीलाएँ करते हैं। अतएव केवल अधः (नीचे) और ऊर्ध्व (ऊपर) के भेदसे ही माथुर–गोकुल और गोलोकका भेद कल्पित हुआ है। अर्थात् केवल भूलोकमें स्थित होनेके कारण ही गोकुलके लिए अधः कहा गया है और वैकुण्ठके ऊपर वर्त्तमान होनेके कारण गोलोकको ऊर्ध्व कहा गया है, किन्तु वस्तु विचारसे कोई भेद नहीं है॥१६८॥

किन्तु तद्व्रजभूमौ स न सर्वैर्दृश्यते सदा।
तैः श्रीनन्दादिभिः सार्धमश्रान्तं विलसन्नपि॥१६९॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि भौम व्रजभूमिमें श्रीकृष्ण श्रीनन्दादि परिकरोंके साथ निरन्तर लीलाएँ करते रहते हैं, तथापि वह लीलाएँ सर्वदा सबके नयनगोचर नहीं होती हैं॥१६९॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु कथं तर्हि तत्क्रीड़ादिकं तत्र किमपि नानुभूयते? तत्राह—किन्त्विति। तस्यां व्रजभूमौ स श्रीनन्दनन्दनस्तैरेव सुप्रसिद्धैः श्रीनन्दादिभिः सह क्रीड़न्नपि सर्वैर्जनैः सदा तत्र न दृश्यते, किन्तु कस्मिंश्चिद्द्वापरयुगान्ते सर्वैरपि दृश्यते; अन्यदा च कदाचित् केनचिदेव परमैकान्तिवरेणेत्यर्थः। गोलोके च सर्वदा सर्वैरेव तत्र गतैर्दृश्यत इति। किन्तु-शब्दोक्तविशेषो ज्ञेयः॥१६९॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि जब गोकुल और गोलोककी लीलाओंमें भेद नहीं है तब फिर उस भौमव्रजमें होनेवाली समस्त लीलाएँ सर्वदा नयनगोचर क्यों नहीं होती हैं? इसकी आशङ्कामें श्रीनारद 'किन्तु' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। यद्यपि उस व्रजभूमिमें श्रीनन्दनन्दन अपने सुप्रसिद्ध परिकरों अर्थात् श्रीनन्दादिके साथ सर्वदा लीला करते हैं, तथापि वे लीलाएँ सर्वदा सबके नयनगोचर नहीं होती हैं। किन्तु किसी द्वापरयुगके अन्तमें सभीको ही नयनगोचर होती हैं तथा अन्य समयमें भी कभी-कभी किसी परम एकान्तिक भक्त द्वारा वह लीलाएँ देखी जाती हैं। तथा गोलोकमें वे लीलाएँ सर्वदा ही वहाँ अवस्थित परिकरोंके नयनगोचर होती हैं। 'किन्तु' शब्दके द्वारा किसी विशेष समयमें ही भौमव्रजकी लीलओंके सबके दृष्टिगोचर होनेकी विशेषताको जानना होगा॥१६९॥

श्रीसुपर्णादयो यद्वद्वैकुण्ठे नित्यपार्षदाः।
गोलोके तु तथा तेऽपि नित्यप्रियतमा मताः॥१७०॥

श्लोकानुवाद—जिस प्रकार वैकुण्ठमें श्रीभगवान्‌के नित्य पार्षद श्रीगरुड़ आदि विराजमान हैं, उसी प्रकार गोलोकमें भी श्रीकृष्णके साथ उनके प्रियतम श्रीनन्दादि नित्य पार्षद सदा विराजमान रहते हैं॥१७०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु श्रीनन्दादयस्ते भौममाथुरगोकुलवासिन एव; तत् कथं गोलोकेऽमुत्र सदा वर्त्तन्ते? तत्राह—श्रीसुपर्णेति द्वाभ्याम्। ते श्रीनन्दादयोऽपि॥१७०॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि श्रीनन्दादि समस्त परिकर तो भूलोक स्थित माथुर-गोकुलवासी हैं, अतः वे किस प्रकारसे गोलोकमें सर्वदा लीला कर सकते हैं? इसकी आशङ्कासे ही 'श्रीसुपर्ण' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। वैकुण्ठमें जिस प्रकार श्रीगरुड़ आदि श्रीभगवान्‌के नित्य पार्षदोंके रूपमें रहते हैं, उसी प्रकार गोलोकमें भी श्रीकृष्णके प्रियतम श्रीनन्दादि उनके परिकर रूपमें सर्वदा विराजमान रहते हैं॥१७०॥

ते हि स्व-प्राणनाथेन समं भगवता सदा।
लोकयोरेकरूपेण विहरन्ति यदृच्छया॥१७१॥

श्लोकानुवाद—वे श्रीनन्दादि व्रजवासी गोकुल और गोलोक दोनों स्थानोंपर एक ही रूपमें अपने प्राणनाथके साथ सर्वदा स्वच्छन्द रूपमें विहार करते हैं॥१७१॥

दिग्दर्शिनी टीका—हि यस्मात्ते श्रीनन्दादयः, लोकयोर्भौमगोकुल-वैकुण्ठोर्ध्वगोलोक-रूपयोर्द्वयोः स्थानयोः एकरूपेण अभेदेन यदृच्छया स्वाच्छन्द्येन भगवता समं सदा विहरन्ति। कीदृशेन? स्वप्राणानां नाथेनेश्वरेणेति परमानन्दविशेषलाभस्तेषां दर्शितः॥१७१॥

भावानुवाद—अतएव वे श्रीनन्दादि समस्त परिकर भौमगोकुल और वैकुण्ठके ऊपर स्थित गोलोकमें एक ही रूपमें स्वच्छन्द विहार करते हैं। किस प्रकारसे? अपने प्राणनाथ श्रीकृष्णके साथ नित्य विद्यमान रहकर वे उन्हींकी ही भाँति परमानन्दका अनुभव करते हैं॥१७१॥

श्रीगोलोकं गन्तुमर्हन्त्युपायैर्यादृग्भिस्तं साधकास्तादृशैः स्युः।
द्रष्टुं शक्ता मर्त्यलोकेऽपि तस्मिंस्तादृक्क्रीड़ं सुप्रसन्नं प्रभुं तम्॥१७२॥

श्लोकानुवाद—जिस उपाय या साधनके द्वारा साधक श्रीगोलोकमें गमन कर सकते हैं, उसी साधनके द्वारा ही वे भूलोकमें प्रकटित माथुर-गोकुलमें अपनी लीलाओंमें रत प्रभु श्रीनन्दकिशोरकी परमकृपा तथा उन लीलाओंका दर्शन करनेमें समर्थ होते हैं॥१७२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तर्हि तत्रैव गत्वा मया यथेष्टं निजदेवोऽसौ यत्नादन्विष्य दृश्यताम्? तत्राह—श्रीगोलोकमिति। तमुक्तलक्षणं श्रीमन्तं गोलोकं

यादृग्भिरुपायैः साधनैः साधका गन्तुं प्राप्तुमर्हन्ति, योग्या भवन्ति, शक्नुवन्तीति वा। साधका इत्यनेन श्रीनन्दादयो व्यवच्छेदिताः, तेषां नित्यप्रियतमत्वेन तत्रैव सदा निवासात्। तादृशैरेवोपायैर्मर्त्यलोकवर्त्तिन्यपि तस्मिन् माथुरगोकुले तं प्रभुं श्रीनन्दकिशोरम्, तत्र च तादृक् उक्तप्रकारका क्रीड़ा यस्य तं तथाभूतम्, तत्रापि सुप्रसन्नं निजपरमप्रसाद-विशेषाभिमुखं द्रष्टुं शक्ताः स्युर्भवेयुः। अत्र च तादृशक्रीड़मित्यनेन यदि वा कदाचित् कोऽपि कथञ्चित्तत्र तं पश्यतु, तथापि तैस्तैः परिवारैः समं तत्तत्क्रीड़ारतं न पश्येदित्यभिप्रायः। तथा सुप्रसन्नमित्यनेन च कदाचिद्वा तादृशक्रीड़मपि पश्यतु, तथापि येन सदा तं तादृशं पश्येद्येन च तत्परिजनगणमध्ये प्रविश्य तेन सह यथेच्छं विहर्तुमर्हति, तं प्रसादविशेषं न लभेतेति भावः॥१७२॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि जब दोनों लोकोंमें एक ही रूपमें अपने प्राणनाथके साथ स्वच्छन्द विहार किया जाता है, तब फिर यत्नपूर्वक उस मर्त्यलोक स्थित गोकुलमें जाकर ही अपने इष्टदेवका साक्षात् दर्शन करना कर्त्तव्य है? इसके समाधानमें 'श्रीगोलोक' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। जिन उपायों अर्थात् साधनसमूह द्वारा समस्त साधक उक्त लक्षणोंसे युक्त श्रीगोलोकमें जानेके योग्य हो सकते हैं, वैसे उपायोंके द्वारा ही वे मर्त्यलोकके अन्तर्गत माथुर-गोकुलमें वैसी लीलाओंमें रत प्रभु श्रीनन्दकिशोरके सुप्रसन्न अर्थात् साधकके प्रति परम कृपा विशेष करनेवाले रूपके दर्शन करनेमें समर्थ होते हैं। यहाँ "समस्त साधक" कहनेसे नित्यसिद्ध श्रीनन्दादिके अलावा अन्य साधकोंको समझना होगा, क्योंकि श्रीनन्दादि श्रीकृष्णके नित्य प्रियतमके रूपमें सर्वदा ही वहाँ वास करते हैं।

यद्यपि उक्त उपाय द्वारा कभी किसीको प्रेमवशतः श्रीकृष्णके दर्शन प्राप्त हो सकते है, तथापि क्रीड़ारत प्रभुके दर्शन प्राप्त नहीं होते हैं। यदि उससे भी अधिक प्रेमवशतः लीलामें रत प्रभुके दर्शन हो सकते हैं, किन्तु प्रभुके परिवार सहित उनका दर्शन नहीं होता है। यद्यपि उससे भी अधिक प्रेमवशतः परिवार सहित क्रीड़ारत प्रभुके दर्शन प्राप्त होते हैं, किन्तु उनके सुप्रसन्न दर्शन अर्थात् परिजनोंमें प्रवेशकर उनके साथ स्वच्छन्द विहार करनेवाली उनकी विशेष कृपा प्राप्त नहीं की जा सकती है। श्रीकृष्णकी वैसी विशेष कृपा केवल उनके प्रियतम रसिक भक्तोंकी कृपाके बलसे ही प्राप्त होती हैं॥१७२॥

तात तादृश-गोपालदेव-पादसरोजयोः।
विनोदमाधुरीं तां तामुत्सुकोऽसीक्षितुं कथम्॥१७३॥

श्लोकानुवाद—हे तात! श्रीगोपालदेवके युगल चरणकमलोंकी वैसी लीलानन्द-माधुरीके दर्शनके लिए तुम कैसे इतने उत्सुक हो उठे हो?॥१७३॥

दिग्दर्शिनी टीका—हे तातेति—परमदुर्लभतरार्थविषयकोत्कण्ठाभरतश्चापल्यमत्या सोत्कण्ठ-(सोल्लुण्ठ)सम्बोधनम्। तां तामुक्तप्रकारां परमदुर्दशां वा॥१७३॥

भावानुवाद—परम दुर्लभतर वस्तुके प्रति गोपकुमारकी अत्यधिक उत्कण्ठाको लक्ष्यकर श्रीनारदजी भी चञ्चल हो गये, इसी उत्कण्ठावशतः उन्होंने सम्बोधन किया—"हे तात!" तुममें ऐसी उत्सुकता कैसे उत्पन्न हुई अथवा तुम्हारी ऐसी परम दुर्दशा कैसे हुई॥१७३॥

सत्यं जानीहि रे भ्रातस्तत्प्राप्तिरतिदुर्घटा।
तत्साधनञ्च नितरामेष मे निश्चयः परः॥१७४॥

श्लोकानुवाद—हे भ्रात! तुम इसे सत्य जानो कि गोलोककी प्राप्ति बहुत दुर्लभ है तथा उस गोलोकको प्राप्त करनेका साधन भी उसी प्रकार अत्यन्त कठिन है—मेरा तो ऐसा ही परम निश्चय है॥१७४॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु भवादृशानां महतामनुग्रहेण किं नाम न सिध्येत्? तत्राह—सत्यमिति। तस्य श्रीगोलोकस्य प्राप्तिः अतिदुर्घटा परमदुःसाध्या; तस्य श्रीगोलोकस्य तस्या वा तत्प्राप्तेः साधनञ्च उपायः नितरामत्यन्तं दुर्घटम्। मे मम एष परमो निश्चयः। अतो मादृशां कृपाशक्त्या तत्सिद्धिर्न स्यादिति तस्योत्कण्ठातिशय-वृद्धये परमदौर्लभ्यमभिप्रेतम्॥१७४॥

भावानुवाद—यदि गोपकुकमार श्रीनारदसे कहें कि उनके जैसे महाजनकी कृपासे क्या प्राप्त नहीं हो सकता है? इसके लिए ही श्रीनारद 'सत्य' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। यह सत्य जानो कि उस श्रीगोलोककी प्राप्ति बहुत दुर्लभ है, अर्थात् परम दुःसाध्य है तथा उस गोलोकको प्राप्त करनेका साधन भी अत्यन्त कठिन है—मेरा ऐसा ही दृढ़ निश्चय है। अतएव मुझ जैसोंकी कृपाशक्तिसे उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं होगी। श्रीनारदजीकी इस उक्तिका तात्पर्य है कि जितने

परिमाणमें उत्कण्ठामें वृद्धि होगी, उतने परिमाणमें कृपाशक्ति भी प्राप्त होगी। अतएव परम दुर्लभ विषयमें उत्कण्ठा वृद्धिके लिए ही ऐसा कहा गया हैं॥१७४॥

प्राणिनः प्रायशः शून्या हिताहितविवेचनैः।
नरा वा कतिचित्तेषु सन्त्वाचारविचारिणः॥१७५॥

श्लोकानुवाद—अधिकांश प्राणी अपने हित और अहितको नहीं जानते हैं, परन्तु उनमें मनुष्य ही अपने हित-अहितके विवेकसे युक्त हैं। उन मनुष्योंमें भी कोई-कोई ही सदाचार और विचारवान होते हैं॥१७५॥

दिग्दर्शिनी टीका—दुर्घटत्वमेव विवृत्य दर्शयति—प्राणिन इति पञ्चभिः। हिताहितयोर्विवेचनैः शून्या रहिताः पशुपक्षिकीटादयः, प्रायश इति तेषामेव बाहुल्यात्। तेषु प्राणिषु मध्ये नरा मनुष्या वा हिताहितविवेकवन्तो भवन्तु, तथापि तेषु सदाचारवन्तो विचारवन्तश्च कतिचिदेव भवन्ति सन्तु वा; तादृशा अपि कतिचिदित्यर्थः॥१७५॥

भावानुवाद—उस गोलोककी प्रप्तिकी दुर्लभताका कारण प्रदर्शन करनेके लिए श्रीनारद 'प्राणिनः' इत्यादि पाँच श्लोक कह रहे हैं। हित-अहितके विवेकसे रहित संसारमें पशु, पक्षी, कीटादि प्राणियोंकी ही संख्या अधिक है। उन असंख्य प्राणियोंमें मुनष्य ही हित-अहितके विवेकसे युक्त हैं, तथापि उन मनुष्योंमें भी कुछ मनुष्य ही सदाचारवान और विचारवान होते हैं॥१७५॥

दृश्यन्तेऽथापि बहवस्तेऽर्थकामपरायणाः।
स्वर्गसाधकधर्मेषु रतास्तु कतिचित् किल॥१७६॥

श्लोकानुवाद—तथापि देखा जाता है कि उन सदाचारमें रत मनुष्योंमें भी बहुत-से केवल अर्थ और काममें अनुरक्त होते हैं। उनमें कोई-कोई ही धर्मके लिए साधन करते हैं और वह धर्म भी प्रायः स्वर्गकी प्राप्तिके लिए होता है॥१७६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथापि ते आचारविचारिणो नराः, अर्थकामपरायणा धनैश्वर्यभोगरता बहवो दृश्यन्ते, न तु धर्मपरा इत्यर्थः। सन्तु वा केचिद्धर्मपरास्तथापि

यशोलिप्सादिनैव धर्ममाचरन्ति, न तु स्वर्गप्राप्त्यर्थम्, लोकेषु तत्तत्कीर्त्तनादिदर्शनात्। अतः कतिचिदल्प एव किल निश्चितं स्वर्गप्रापकधर्मेषु रता इत्यर्थः॥१७६॥

भावानुवाद—तथापि देखा जाता है कि उन आचारवान और विचारवान मनुष्योंमें भी अधिकांश लोग ही अर्थके लोभी और काममें अनुरक्त अर्थात् केवल धन-ऐश्वर्यके भोगमें रत रहते हैं, धर्मपरायण नहीं होते हैं। यद्यपि कोई-कोई धर्मपरायण होते भी हैं, किन्तु तथापि यशकी कामनासे ही धर्मका आचरण करते हैं, स्वर्ग प्राप्तिके उद्देश्यसे नहीं। अतएव बहुत कम लोग ही स्वर्गको प्राप्त करानेवाले धर्ममें रत होते हैं॥१७६॥

तेषां कतिपये स्युर्वा रता निष्कामकर्मसु।
तथाप्यरागिणस्तेषां केचिदेव मुमुक्षवः॥१७७॥

श्लोकानुवाद—उन धर्मरत मनुष्योंमेंसे भी कुछ लोग ही निष्काम कर्मका अनुष्ठान करते हैं और उनमेंसे भी कोई-कोई ही अरागी अर्थात् बाह्य रूपमें वैराग्यपरायण होते हैं तथा उक्त अरागियोंमेंसे भी कुछ ही अन्तर वैराग्यसे युक्त मुक्तिकामी होते हैं॥१७७॥

दिग्दर्शिनी टीका—मोक्षेच्छवश्च ततोऽल्प एवेत्याह—तेषामिति। धर्मरतानां कतिपये निष्कामकर्मसु रता वा स्युः, तथापि तेषां निष्कामकर्मरतानां मध्ये केचिदेव अरागिणः अन्तर्वैराग्यवन्तः, अतएव मुमुक्षवः स्युः। यद्यपि निष्कामकर्मरतत्वेनैवारागित्वं सिध्येत्तथापि साक्षात् कामत्यागेन परममहाफलं भवेदिति केषाञ्चिदन्तस्तत्र रागोऽपि सम्भवेदिति, ततो भेदेनारागिण इत्युक्तम्॥१७७॥

भावानुवाद—धर्मपरायण मनुष्योंमें भी मोक्ष चाहनेवाले मनुष्य अति अल्प होते हैं, इसे बतलानेके लिए 'तेषां' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। धर्ममें रत मनुष्योंमें भी कुछ लोग ही निष्काम कर्मका अनुष्ठान करते हैं, तथापि उन निष्काम कर्मरत मनुष्योंमें भी कोई-कोई अरागी अर्थात् अन्तर-वैराग्यसे युक्त होनेके कारण मोक्षकामी होते हैं। यद्यपि निष्काम कर्ममें रत रहनेसे ही अरागित्व स्वतः ही सिद्ध होता है, तथापि साक्षात् रूपमें समस्त कामनाओंके त्यागमें ही परम महाफल उत्पन्न होता है। किसी-किसी निष्काम-कर्ममें रत मनुष्यके अन्तरमें राग अर्थात् आसक्ति उत्पन्न होनेकी सम्भावना हो सकती है, इसीलिए

(श्लोकानुवादमें) पृथक् रूपसे 'अरागी' का भेद निर्देश किया गया है॥१७७॥

तेषां परमहंसा ये मुक्ताः स्युः केचिदेव ते।
केचिन्महाशयास्तेषु भगवद्भक्तितत्पराः॥१७८॥

श्लोकानुवाद—उन मुक्ति चाहनेवालोंमें भी कोई-कोई ही परमहंस होते हैं और उन परमहंसोंमें भी कोई ही जीवनमुक्त होते हैं। उन जीवनमुक्तजनोंमें भी कोई-कोई ही सिद्ध होते हैं और उन सिद्धोंमेंसे भी कोई-कोई महाशय ही भगवद्भक्तिमें अनुरक्त होते हैं॥१७८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेषाञ्च मध्ये केचिदेव हंसाख्या योगाभ्यासनिष्ठाः, तेषाञ्च केचिदेव परमहंसाः प्राप्तात्मतत्त्वाः, त एव केचिन्मुक्ताः स्युः; तेष्वपि च केचिज्जीवन्मुक्ततया वर्त्तमानाः प्रारब्धं भुञ्जाना दृश्यन्ते; केचिदेव सिध्यन्तीति ज्ञेयम्। तेषु च सिद्धमुक्तेषु मध्ये केचिदेव भगवतो भक्तौ तत्परा भवन्ति, तद्भक्तिं विना अन्यत् किमपि नेच्छन्तीत्यर्थः। यतो महाशयाः सूक्ष्मबुद्धयः गभीराभिप्राया वा, भगवदनुग्रहेण तुच्छीकृतमोक्षत्वात्। यद्वा, अतएव महाशयाः भक्तिरसैकलम्पटत्वादिति। तथा च श्रीपरीक्षितोक्तं षष्ठस्कन्धे (श्रीमद्भा. ६/१४/३-५)—*"रजोभिः समसंख्याताः पार्थिवैरिह जन्तवः। तेषां ये केचनेहन्ते श्रेयो वै मनुजादयः॥ प्रायो मुमुक्षवस्तेषां केचनैव द्विजोत्तम। मुमुक्षूणां सहस्रेषु कश्चिन्मुच्येत सिध्यति॥ मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः। सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥"* इति। अत्र च प्रशान्तात्मेति स्वरूपनिर्देशमात्रं, तस्यैव सर्वथा प्रकृष्टशान्तिमयस्वभावत्वात्॥१७८॥

भावानुवाद—उन मोक्षकामी जनोंमें कोई-कोई हंस अर्थात् योगाभ्यास निष्ठ हैं, कोई-कोई परमहंस अर्थात् आत्मतत्त्वका अनुभव प्राप्त किए हैं और उनमें भी कोई-कोई मुक्तके रूपमें परिगणित होते हैं। इन मुक्तजनोंमें भी कोई-कोई जीवनमुक्त अवस्थामें वर्त्तमान रहते हुए प्रारब्धकर्म भोगते हुए प्रतीत होते हैं और कोई सिद्धि प्राप्त करते हैं। तथा उन सिद्ध-मुक्तजनोंमें भी कोई-कोई ही भगवद्भक्तिमें अनुरक्त होते हैं, अर्थात् वे भक्तिके अलावा अन्य कुछ भी इच्छा नहीं करते हैं। इसका कारण है कि वे महाशय अर्थात् सूक्ष्म-बुद्धियुक्त या गम्भीर अभिप्राययुक्त हैं अथवा भगवान्‌की कृपाके बलसे मोक्षको तुच्छ मानते हैं। अथवा भक्तिरसके ऐकान्तिक लम्पट (लोभी) होनेके कारण महाशय हैं। श्रीपरीक्षित् महाराजने भी श्रीमद्भागवत (६/१४/३-५) में

कहा है—"संसारमें मिट्टीकी धूलीकणके समान असंख्य प्राणी हैं, किन्तु उनमेंसे कुछ प्राणी अर्थात् मनुष्यमात्र ही धर्मका आचरण करते हैं। धर्मपरायण मनुष्योंमें भी कुछ ही मनुष्य मुमुक्षु अर्थात् मोक्षकी इच्छा करनेवाले होते हैं। इस प्रकारके हजारों-हजारों मोक्षकामीजनोंमें कोई एक व्यक्ति ही जीवनमुक्त होते हैं अथवा मोक्षको प्राप्त करते हैं अर्थात् सिद्ध होते हैं। हे महामुने! ऐसे करोड़ों-करोड़ों जीवनमुक्त और सिद्धजनोंमें नारायणमें अनुरक्त प्रशान्तचित्त व्यक्ति अति दुर्लभ हैं।" अतएव 'प्रशान्त-आत्मा' द्वारा नारायणमें अनुरक्तजनोंके स्वरूपका निर्देशमात्र हुआ है, अर्थात् उनका सर्वदा सम्पूर्ण रूपसे शान्तिमय स्वभाव ही होता है॥१७८॥

श्रीमन्मदनगोपाल-पादपद्मैकसौहृदे ।
रतात्मानो हि नितरां दुर्लभास्तेष्वपि ध्रुवम्॥१७९॥

श्लोकानुवाद—तथा भगवान्‌की भक्तिमें अनुरक्त महात्माओंमें भी श्रीमदनगोपालदेवके चरणकमलोंके प्रति ऐकान्तिक प्रीतियुक्त भक्त अत्यन्त दुर्लभ हैं—ऐसा मेरा दृढ़ निश्चय है॥१७९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेषु भक्तितत्परेष्वपि, तदपि तत्र तेनैवोक्तम् (श्रीमद्भा. ६/१४/६)—*"वृत्रस्तु स कथं पापः सर्वलोकोपतापनः। इत्थं दृढ़मतिः कृष्ण आसीत् संग्राम उल्वणे॥"* इति। अस्यार्थः—तत्रापि कृष्णे कथं दृढ़मतिरासक्तचित्त आसीदिति॥१७९॥

भावानुवाद—भक्तिमें अनुरक्त उन महात्माओंमें भी श्रीमदनगोपालके चरणकमलोंमें ऐकान्तिक प्रीतियुक्त भक्त अत्यन्त दुर्लभ हैं। श्रीमद्भागवत (६/१४/६) में श्रीपरीक्षित् महाराजने श्रील शुकदेव गोस्वामीसे पूछा है—"पापाचारी और समस्त जगत्‌को पीड़ा देनेवाले उस वृत्रासुरका चित्त घोर संग्रामके समय भी किस प्रकारसे श्रीकृष्णके प्रति दृढ़ भक्तियोगमें आसक्त था?"॥१७९॥

एवं तत्तत्साधनानां रीतिरप्यवगम्यताम्।
तज्ज्ञापकानां शास्त्राणां वचनानाञ्च तादृशी॥१८०॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार साधकके तारतम्यके अनुसार उनके साधनकी रीतियाँ भी उत्तरोत्तर अल्प हैं तथा उसी तारतम्यके अनुसार उन साधनोंका निरूपण करनेवाले शास्त्रोंके वचन भी विरले हैं॥१८०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेषां तेषामर्थकामधर्ममोक्ष-भक्त्यादीनां यानि साधनानि तेषामपि; एवमुक्तप्रकारेण उत्तरोत्तरमल्पतयेत्यर्थः। रीतिः क्रमः प्रकारो वा, अवगम्यतां बुध्यताम्। अर्थकामयोः कायवाङ्मनसो विविधव्यापारजातादि-साधनेभ्यो धर्मसाधनानां शास्त्रविधिनियमेनाल्पत्वात् तेभ्योऽपि सदाचारदानतीर्थव्रतादिरूपेभ्योऽष्टाङ्गयोगादेर्मोक्षसाधनस्य दुर्लभत्वेनाल्पकत्वात्। ततोऽपि परमगोप्यत्वेन श्रवणादेर्भक्तिसाधनस्य स्वल्पकत्वादिति दिक्। अतएव तेषामुक्तानां साध्य-साधनानां यानि ज्ञापकानि शास्त्राणि वेदादीनि, तेषां यानि वचनानि उक्तयस्तेषाम्; यद्वा, शास्त्राणाञ्च ग्रन्थानां तथा तेष्वपि तज्ज्ञापकानि यानि वचनानि तेषाञ्च तादृशी साधनरीतिः सदृश्येव रीतिरवगम्यताम्। अर्थकामशास्त्रात् धर्मशास्त्रस्याल्पत्वात्, ततोऽपि गूढ़त्वेन मोक्षशास्त्रस्याल्पत्वात्, ततोऽपि परमगोप्यतया भक्तिशास्त्रस्य स्वल्पतरत्वात्, तत्रापि परमदुर्लभत्वेन श्रीनन्दनन्दनचरणारविन्द-प्रेमपर-शास्त्रस्यात्यन्ताल्पकत्वात्, तथा तत्र तत्रैव साक्षात्त-त्तत्परमवचनानामपि यथोत्तरमल्पकत्वादिति दिक्। एवं साधनानां तद्बोधकानां ग्रन्थानां तद्वचनानामपि स्वल्पत्वेन भक्तेः परमदुःसाधता तथा श्रीमदनगोपालदेवपादपद्म-विषयकप्रेमविशेषपरतायाश्च नितरां दर्शिता। इत्थं तदेकलभ्यस्य श्रीगोलोकस्य परमदुर्घटत्वमुपपादितम्॥१८०॥

भावानुवाद—अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष और भक्ति आदि साधनोंके साधक उत्तरोत्तर अर्थात् क्रमशः विरले हैं तथा उक्त प्रकारके साधनोंका निरूपण करनेवाले शास्त्र वचनोंकी भी उत्तरोत्तर (क्रमशः) विरलता जाननी होगी। अर्थ और कामके लिए तन, मन और वचनकी विविध क्रियाओंसे उत्पन्न साधनोंके साधकोंसे भी धर्म-साधन अर्थात् शास्त्रविधिरूप नियमादि पालनके साधक अल्प हैं तथा उनसे भी सदाचार, दान, तीर्थ और व्रतादि पालन करनेवाले साधकोंकी अल्पता जाननी होगी। इनसे भी क्रमशः अष्टाङ्गयोगादि तथा मोक्षके साधन दुर्लभ होनेके कारण उसके साधक अल्प हैं। परम गोपनीय होनेके कारण श्रवणादि भक्तिसाधनके साधक इनसे भी अति अल्प हैं। अतएव उन मुक्ति आदिके साध्यों और साधनोंका निरूपण

करनेवाले वेदादि समस्त शास्त्रोंकी उक्त रीतिके अनुसार क्रमशः अल्पता समझनी चाहिये। अथवा उन समस्त शास्त्रों या ग्रन्थोंमें उन साधनोंका निरूपण करनेवाले वाक्यों और उसी प्रकार साधन रीतिकी भी क्रमशः अल्पता जाननी चाहिये।

जिस प्रकार अर्थ और कामके साध्य और साधनका निरूपण करनेवाले शास्त्रोंसे धर्मका निरूपण करनेवाले शास्त्र अल्प हैं, उनसे भी गूढ़ होनेके कारण मोक्ष प्रतिपादक शास्त्र अल्पतर हैं और फिर उनसे भी परम गोपनीय होनेके कारण भक्तिशास्त्र अति अल्प हैं। भक्तिशास्त्रोंमें भी श्रीनन्दनन्दनके चरणकमलोंके प्रति प्रेम साधनका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्र परम दुर्लभ होनेके कारण अत्यन्त अल्प हैं। इस प्रकार उन समस्त साधनोंका प्रतिपादन करनेवाले साक्षात् वचनोंकी उत्तरोत्तर अल्पता जाननी होगी। इस प्रकार समस्त साधनोंके तथा उन-उन साधनोंके बोधक समस्त ग्रन्थोंके तथा साध्य-साधक प्रतिपादक परम वचनोंके अल्पत्वके कारण भक्तिकी परम दुःसाध्यता जाननी होगी। तथा उनमें भी फिर श्रीमदनगोपालदेवके चरणकमलोंसे सम्बन्धित विशेष प्रेममें तत्परता कैसी परम दुःसाध्य होगी, यह उक्त प्रकारकी विचार रीतिको देखकर ही अनुमान करो। इसके द्वारा श्रीगोलोकका परम दुर्घटत्व प्रतिपादित हुआ है॥१८०॥

तत्रापि यो विशेषोऽन्यः केषाञ्चित् कोऽपि वर्त्तते।
लोकानां किल तस्याहमाख्यानेनाधिकारवान्॥१८१॥

श्लोकानुवाद—तथापि श्रीमदनगोपालके चरणकमलोंके प्रति प्रेमसे युक्त भक्तोंमें भी किसी-किसी विषयमें कुछ-कुछ विशेषता है। मैं उस विशेष भावको वर्णन करनेका अधिकारी नहीं हूँ॥१८१॥

दिग्दर्शिनी टीका—श्रीनन्दनन्दनपादपद्मयोः प्रेमभक्तानामपि मध्ये श्रीगोपिका-सदृशभाववन्तस्तु परमदुर्लभतरा इत्याशयेनाह—तत्रापीति। श्रीमदनगोपालपादपद्मैकसौहृदेऽपि केषाञ्चिल्लोकानां जनानां सम्बन्धी यः कोऽप्यन्यो विशेषो भेदो वैशिष्ट्यं वास्ति, तस्य विशेषस्याख्यानेन कथनेन नाहमधिकारी भवामि। तस्य परममहारहस्यता परमान्त्यकाष्ठागतत्वात्। किलेति वितर्के निश्चये वा॥१८१॥

भावानुवाद—श्रीनन्दनन्दनके चरणकमलोंके प्रेमीभक्तोंमें भी श्रीगोपिकाओं जैसे भावसे युक्त जन परम दुर्लभ है—इसी अभिप्रायसे श्रीनारद 'तत्रापि' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। श्रीमदनगोपालके चरणकमलोंके प्रति एकान्तिक प्रेमयुक्त समस्त जनोंमें भी किस-किसकी कैसी-कैसी विशेषता है, मैं उस विशेषताको कहनेका अधिकारी नहीं हूँ, क्योंकि इसे निश्चित रूपमें जानो कि वह विशेषता परम गोपनीयताकी अन्तिम सीमाको प्राप्त है॥१८१॥

श्रीगोपकुमार उवाच—

इत्युक्त्वोद्धवमालिङ्ग्य सदैन्यं काकुचाटुभिः।
ययाचे नारदस्तस्य किञ्चित्त्वं कथयेति सः॥१८२॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमारने कहा—हे ब्राह्मण! इन समस्त बातोंको कहकर श्रीनारदने दैन्य सहित श्रीउद्धवका आलिङ्गन किया तथा गद्‌गद वचनोंसे उनकी प्रशंसा करते हुए उनसे कुछ कहनेका अनुरोध किया॥१८२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य विशेषस्य किञ्चित् कथयेति। स नारदः काकुभिश्चाटुभिश्च कृत्वा दैन्यसहितं यथा स्यात्तथा उद्धवमालिङ्ग्य ययाचे प्रार्थितवान्॥१८२॥

भावानुवाद—श्रीनारदने गद्‌गद वचनोंसे श्रीउद्धवकी प्रशंसाकी तथा दैन्यसहित श्रीउद्धवका आलिङ्गनकर उस विशेषताको किञ्चित् कहनेके लिए उनसे अनुरोध किया॥१८२॥

जगौ प्रेमातुरः शीर्ष्णोद्धवो नीचैर्मुहुर्नमन्।
वन्दे नन्दव्रज-स्त्रीणां पाद-रेणुमभीक्ष्णशः॥१८३॥

श्लोकानुवाद—तब श्रीउद्धव प्रेममें आतुर होकर तथा अपने मस्तकको बार-बार झुकाकर प्रणाम करते हुए कहने लगे—"मैं उस नन्दव्रजकी स्त्रियोंकी चरणधूलिकी बार-बार वन्दना करता हूँ॥"१८३॥

दिग्दर्शिनी टीका—उद्धवस्तु तदभिप्रायं विज्ञाय तद्विशेषवतां जनानां माहात्म्यभरस्य परमप्रेम्णा गानेनैव तन्निरूपणं चकारेत्याह—जगाविति पञ्चभिः। नीचैः भूमितलस्पर्शेनेत्यर्थः। किं जगौ? तदाह—वन्द इति॥१८३॥

भावानुवाद—श्रीनारदके अभिप्रायसे अवगत होकर श्रीउद्धव उस विशेष प्रेमसे युक्त समस्त जनोंके माहात्म्यको परम प्रेमपूर्वक गान करते हुए निरूपण करने लगे—इसे 'जगौ' इत्यादि पाँच श्लोकोंमें कह रहे हैं। 'नीचैः'—अर्थात् श्रीउद्धवने झुककर भूमितलका स्पर्शकर प्रणाम किया। तथा क्या गान किया? इसके लिए 'वन्द' इत्यादि पद कह रहे हैं, अर्थात् नन्दव्रजकी रमणियोंकी चरणधूलिके उद्देश्यसे बार-बार वन्दना करने लगे॥१८३॥

क्षणान्महार्त्तितो व्यग्रो गृहीत्वा यवसं रदैः।
नारदस्य पदौ धृत्वा हरिदासोऽवदत् पुनः॥१८४॥

श्लोकानुवाद—क्षणभरमें ही अत्यधिक आर्त्तिवशतः व्याकुल होकर उन हरिदास श्रीउद्धवने दातोंमें तृण धारणकर श्रीनारदके चरणकमलोंको पकड़कर पुनः कहना आरम्भ किया—॥१८४॥

दिग्दर्शिनी टीका—महत्याः प्रेमार्त्तेर्हेतोर्व्यग्रः सन् दन्तैस्तृणं गृहीत्वा; हरिदास उद्धवः; श्रीनारदचरणधारणञ्च निजप्रार्थनासिद्ध्यर्थमित्यवगम्यते॥१८४॥

भावानुवाद—महाप्रेमकी आर्त्तिसे व्याकुल होकर दातोंमें तृण धारणकर उन हरिदास श्रीउद्धवने श्रीनारदके चरणोंको पकड़ लिया तथा अपनी प्रार्थनाकी सिद्धिके लिए गान करने लगे—॥१८४॥

"आसामहो चरण-रेणुजुषामहं स्यां,
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथञ्च हित्वा,
भेजुर्मुकुन्द-पदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥"१८५॥

श्लोकानुवाद—"गोपियोंने दुस्त्यज्य (जिसका त्याग करना अति कठिन है) आत्मीयजनों और आर्यपथ (वेदमार्ग) का परित्यागकर श्रीमुकुन्दके उन चरणकमलोंका भजन किया है, जिन चरणकमलोंको श्रुतियाँ भी खोज रहीं हैं। अहो! वृन्दावनके समस्त गुल्म, लता और औषधियाँ उन गोपियोंकी चरणधूलिका सेवन कर रहे हैं। यदि मैं भी उनमेंसे कोई एक हो सकता, तो मुझे भी उन व्रजगोपियोंकी चरणधूलिको प्राप्त करनेका सौभाग्य मिलता॥"१८५॥

दिग्दर्शिनी टीका—*"आसाम्"* (श्रीमद्भा. १०/४७/६१) इत्यादिश्लोकस्य व्याख्याग्रे संक्षेपेण, नारदोक्तौ शेषे च विस्तारेण व्यक्तीभविष्यति॥१८५॥

भावानुवाद—श्रीमद्भागवत (१०/४७/६१) के 'आसामहो' इत्यादि श्लोककी व्याख्या प्रथमतः संक्षेपमें कथित हुई है तथा अन्तमें श्रीनारदकी उक्ति द्वारा विस्तारसे भी व्यक्त होगी॥१८५॥

अथ प्रेम-परीपाकविकारैर्विविधैर्वृतः।
सचमत्कारमुत्प्लुत्य सोऽगायत् पुनरुद्धवः॥१८६॥

श्लोकानुवाद—तदुपरान्त श्रीउद्धव प्रेमकी परिपक्व दशामें उत्पन्न विविध विकारों द्वारा व्याप्त हो गये तथा आश्चर्यपूर्वक उछलते हुए पुनः कहने लगे—॥१८६॥

दिग्दर्शिनी टीका—प्रेम्णः परीपाकः परमवृद्धिस्तस्माद्ये विकाराः कम्प-स्वेद-पुलकादयः तैर्वृतो व्याप्तः सन् उत्प्लुत्य उच्चैः कुर्दित्वा॥१८६॥

भावानुवाद—तदुपरान्त श्रीउद्धवने प्रेमकी परिपक्व अर्थात् परम वृद्धिको प्राप्त दशामें अश्रु-कम्प-पुलकादि विविध विकारोंसे व्याप्त होकर कूदते-कूदते पुनः एक और पद्यका गान किया॥१८६॥

"नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः,
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषां य उदगाद्व्रजसुन्दरीणाम्॥"१८७॥

श्लोकानुवाद—"श्रीकृष्णने रासोत्सवके समय व्रजाङ्गनाओंके गलेमें अपनी भुजाओंको डालकर उनके मनोरथ पूर्ण किये थे। इस प्रकार व्रजगोपियोंने जिस कृपाको प्राप्त किया, उस कृपाको जब श्रीभगवान्के वक्षःस्थलपर सदा निवास करनेवाली परम प्रेयसी श्रीलक्ष्मीजी तथा कमल जैसी सुगन्ध और कान्तिसे युक्त स्वर्गकी रमणियाँ भी प्राप्त नहीं कर सकी, तब अन्यान्य स्त्रियोंकी तो बात ही क्या करें?"॥१८७॥

दिग्दर्शिनी टीका—*"नायम्"* (श्रीमद्भा. १०/४७/६०) इत्यादिश्लोकस्यार्थो नारदोक्तौ प्रायो विवृतो भावी। प्रामाण्यनिर्धाराय श्रीभागवतवर्त्ति-श्लोकानामेव गानम्। एवमग्रेऽप्यूह्यम्॥१८७॥

भावानुवाद—श्रीमद्भागवत (१०/४७/६०) के 'नायम्' इत्यादि श्लोककी व्याख्या आगे श्रीनारदकी उक्ति द्वारा विस्तारसे व्यक्त होगी। प्रमाण निर्धारणके अभिप्रायसे ही श्रीउद्धव द्वारा श्रीमद्भागवतके श्लोक गान किए गये हैं तथा आगे भी ऐसा ही जानना होगा॥१८७॥

ततोऽतिविस्मयाविष्टो नारदो भगवान् पुनः।
निरीक्ष्यमाणो मामार्त्तं ससम्भ्रममिदं जगौ॥१८८॥

श्लोकानुवाद—श्रीउद्धवकी इन बातोंको सुनकर भगवान् श्रीनारद अत्यन्त विस्मित हो गये। तदुपरान्त मुझे दुःखित देखकर सम्भ्रमपूर्वक इस प्रकार कहने लगे—॥१८८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततस्तदनन्तरम्, यद्वा, तेभ्य उद्धवगानभावेहितेभ्यो हेतुभ्यः। अत्यन्तविस्मयेनाविष्टः सन्; आर्त्तं निजेष्टस्य दौर्लभ्यावगमात् दुःखितं व्यग्रं वा; इदं वक्ष्यमाणम्; तन्निरीक्षणञ्च तं लक्ष्मीकृत्य गानात्॥१८८॥

भावानुवाद—तदुपरान्त अर्थात् श्रीउद्धव द्वारा श्रीमद्भागवतके श्लोकोंका गान श्रवणकर तथा उनके भाव और चेष्टा आदिको देखकर भगवान् श्रीनारद अत्यन्त विस्मित हो गये। फिर आर्त्त अर्थात् अपने इष्टकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ जानकर दुःखित अन्तःकरणसे युक्त मेरी अवस्थाको लक्ष्यकर अर्थात् निरीक्षणकर सम्भ्रम सहित इस प्रकार कहने लगे—॥१८८॥

श्रीनारद उवाच—

श्रेयस्तमो निखिलभागवत-व्रजेषु,
यासां पदाम्बुज-रजो बहु वन्दमानः।
यासां पदाब्ज-युगलैकरजोऽभिमर्श-,
सौभाग्यभाक्तृणजनिमुत याचतेऽयम्॥१८९॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारदने कहा—हे गोपकुमार! श्रीमान् उद्धव समस्त भगवद्भक्तोंमें परमश्रेष्ठ होकर भी व्रजस्त्रियोंके चरणकमलोंकी धूलिकी बार-बार वन्दना करते हुए उन गोपियोंके युगल चरणकमलोंकी एकमात्र धूलिकणके स्पर्शका सौभाग्य प्राप्त करनेके लिए व्रजमें तृण होकर जन्म लेनेकी भी प्रार्थना करते हैं॥१८९॥

दिग्दर्शिनी टीका—अयमुद्धवोऽपि निखिलभागवतसमुदायेषु मध्ये श्रेयस्तमः परमश्रेष्ठोऽपि यासां परमभगवतीनां बहु यथा स्यात्तथा वारंवारमित्यर्थः। पादाम्बुजरजो वन्दमानः—*"वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः"* (श्रीमद्भा. १०/४७/६३) इत्युक्तेः। उत समुच्चये। यासाञ्च पादाब्जयुगलस्य एकं रजः तेनाभिमर्षः स्पर्शस्तस्मिन् तद्रूपं वा सौभाग्यं भजति प्राप्नोतीति तथा तस्य तृणस्य जनिं जन्म याचते—*"आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां, वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्"* (श्रीमद्भा. १०/४७/६१) इत्यक्ते। तासां माहात्म्यं वर्णनेऽहं को नु वराकः स्यामिति चतुर्थेनान्वयः॥१८९॥

भावानुवाद—इन श्रीउद्धवने भी समस्त भगवद्भक्तोंमें परम श्रेष्ठ होकर भी परम भगवती व्रजगोपियोंके चरणकमलोंकी धूलिकी बार-बार वन्दना की है, यथा श्रीमद्भागवत (१०/४७/६३) में कथित है—"मैं नन्दव्रजकी रमणियोंके चरणकमलोंकी धूलिकी वन्दना करता हूँ" इस प्रकार श्रीउद्धवने नन्दव्रजकी समस्त स्त्रियोंकी चरणकमलोंकी धूलिकी वन्दना करते-करते गोपियोंके युगल चरणकमलोंकी एकमात्र धूलिकणके स्पर्शके सौभाग्यसे युक्त तृण-जन्मकी प्रार्थना की है, यथा श्रीमद्भागवत (१०/४७/६१)—"अहो! वृन्दावनके समस्त गुल्म, लता और औषधियाँ उन गोपियोंकी चरणधूलिका सेवन कर रहे हैं। यदि मैं भी उनमेंसे कोई एक हो सकता, तो मुझे भी उन व्रजगोपियाँकी चरणधूलिको प्राप्त करनेका सौभग्य मिलता।" ऐसी गोपियोंकी महिमाका वर्णन करनेमें मेरे जैसा अभागा व्यक्ति कैसे समर्थ हो सकता है? यही चार श्लोकों (१८९-१९२) में वर्णित हुआ है॥१८९॥

सौभाग्यगन्धं लभते न यासां, सा रुक्मिणी या हि हरिप्रियेति।
ख्याताच्युताशास्त-कुलीनकन्या-धर्मैकनर्मोक्तिभिया मृतेव॥१९०॥

श्लोकानुवाद—जो 'हरिप्रिया' के रूपमें जगत्में विख्यात हैं, वे श्रीरुक्मिणीदेवी भी उन गोपियोंके सौभाग्यकी गन्धको भी प्राप्त नहीं कर सकीं। इस कुलीन कन्याने श्रीकृष्ण प्राप्तिकी आशासे लज्जादिरूप कुलधर्मका भी परित्याग कर दिया था तथा इनका प्रेम इतना प्रगाढ़ था कि श्रीकृष्णके हँसी-मजाकयुक्त एक वचनको सुनते ही ये मृत तुल्य हो गयी थीं॥१९०॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं *"वन्दे नन्द-"* इत्यादिश्लोकार्धस्य, तथा *"आसामहो"* इत्यादिश्लोकार्धस्य चार्थमनुसृत्येवागायत्। इदानीं *"नायम्"* इत्यादि श्लोकार्धार्थमिव गायति—सौभाग्येति द्वाभ्याम्। सा रुक्मिण्यपि यासां परमभगवतीनां सौभाग्यस्य गन्धमपि न लभते—*"नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः"* (श्रीमद्भा. १०/४७/६०) इत्युक्तेः। अत्र च श्रिय इति प्रयुक्तेन श्री-शब्देन रुक्मिण्येवाभिहिता। उद्धवस्य गोकुलयानसमये रुक्मिणीविवाहाभावादसम्बन्धस्याप्यस्यार्थस्याधुनात्र श्रीवैकुण्ठद्वारकायां तादृशगानेनैवोपपत्तेः। किंवा तदानीमेव ज्ञानदृष्ट्या भावि-रुक्मिणीविवाहापेक्षयैव तथोक्तमिति दिक्। एवं लक्ष्म्याः सकाशात् रुक्मिण्याः श्रैष्ठ्याल्लक्ष्म्या अप्यधिकाधिकं तासां माहात्म्यं दर्शितम्। या रुक्मिणी हरिप्रियेति ख्याता प्रसिद्धा, लक्ष्म्या सहाभेदाभिप्रायेण; यद्वा, अस्या एव स्वतस्तथात्वात्। तदेवाह—अच्युतस्य श्रीकृष्णस्य आशया अभीप्सया अस्तः व्यक्तः कुलीनकन्याया धर्मः पित्रादिदेयत्वलज्जादिरूपो यया सा, निजोद्वहनार्थं स्वयमेव पत्रिकां विलिख्य निभृतं पुरोहितपुत्रप्रस्थापनात्। किञ्च, एकस्या नर्मोक्तेः—*"अथात्मनोऽनुरूपां वै भजस्व क्षत्रियर्षभम्"* (श्रीमद्भा. १०/६०/१७) इत्येतद्भगवत्परिहासवचनात् या भीस्तया मृतेवाभूत्। *"तस्याः सुदुःखभयशोकविनष्टबुद्धेर्हस्ताच्छ्लथद्वलयतो व्यजनं पपात। देहश्च विक्लवधियः सहसैव मुह्यन्, रम्भेव वातविहता प्रविकीर्य केशान्॥"* (श्रीमद्भा. १०/६०/२४) इति श्रीशुकोक्तेः। अन्यश्च तत्तद्विशेषो दशमस्कन्ध-तत्तदध्यायतोऽनुसन्धेयः॥१९०॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीनारदने 'वन्दे नन्द' इत्यादि आधे श्लोक तथा 'आसामहो' इत्यादि आधे श्लोकके अर्थको पीछे-पीछे गान किया। अब 'नायम्' इत्यादि आधे श्लोकके अर्थको गान करनेके लिए 'सौभाग्य' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। वे श्रीरुक्मिणीदेवी भी उन परम भगवती गोपियोंके सौभाग्यकी गन्धको भी प्राप्त नहीं कर सकीं। श्रीमद्भागवत (१०/४७/६०) की "नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः" इत्यादि उक्ति ही इसका प्रमाण है। यहाँ 'श्रियो' पदके 'श्री' शब्द द्वारा श्रीरुक्मिणीदेवी ही कथित हुई हैं। यद्यपि श्रीउद्धवके गोकुलमें जानेके समय श्रीरुक्मिणीदेवीका विवाह नहीं हुआ था, तथापि अभी इस वैकुण्ठद्वारकामें श्रीउद्धवने श्रीरुक्मिणीको उद्देश्यकर ही 'श्री' शब्दका प्रयोग किया है तथा वैसा गान उचित ही है। अथवा गोकुल जाते समय ज्ञानदृष्टि द्वारा भविष्यमें होनेवाले रुक्मिणी-विवाहकी अपेक्षाके कारण ही वैसी उक्ति हुई है। इस प्रकार श्रीलक्ष्मीसे भी श्रीरुक्मिणीकी श्रेष्ठता स्थापित हुई है तथा श्रीरुक्मिणीकी महिमा लक्ष्मीसे भी अत्यधिक रूपमें प्रदर्शित हुई है। अथवा जो श्रीरुक्मिणीदेवी हरिप्रियाके

रूपमें प्रसिद्ध हैं, वे लक्ष्मीदेवीके साथ अभेददृष्टिसे अर्थात् स्वयं ही लक्ष्मीके रूपमें कथित हुई हैं।

उन श्रीरुक्मिणीदेवीने श्रीकृष्णकी प्राप्तिकी आशासे कुलीन कन्याके धर्मका परित्याग किया था, अर्थात् पिता द्वारा किये जानेवाले कन्यादानकी रीति तथा लज्जा आदिको त्यागकर अपने विवाहके लिए स्वयं ही पत्र लिखकर तथा गुप्त रूपसे उस पत्रको अपने पुरोहितके पुत्र द्वारा श्रीकृष्णके पास भेजकर उनके श्रीचरणोंमें आत्मसमर्पण किया था। तथा ये श्रीरुक्मिणीदेवी—श्रीमद्भागवत (१०/६०/१७) में कथित श्रीकृष्णकी इस परिहास पूर्ण उक्ति—"तुम अपने अनुरूप (उपयुक्त) किसी श्रेष्ठ क्षत्रियका भजन करो अर्थात् उससे विवाह कर लो।"—को श्रवणकर भयवशतः मृततुल्य हो गयी थीं। यथा श्रीमद्भागवत (१०/६०/२४) में श्रीशुकदेवकी उक्ति है—"तीव्र मनोवेदनासे श्रीरुक्मिणीका कण्ठ रुद्ध हो गया, वाणी रुक गयी, अत्यधिक दुःख, भय और शोकके कारण विचारशक्ति लुप्त हो गयी। उनकी कलाईके कङ्कन खिसक गये, हाथोंसे चामर गिर पड़ा, केश बन्धन खुल गये तथा केश इधर-उधर बिखर गये और फिर उनकी देहरूपी लता तीव्र वायु वेगसे हत केलेके वृक्षकी भाँति भूमिपर गिर पड़ी।" इसका विशेष विवरण दशम-स्कन्धमें दृष्टव्य है॥१९०॥

क्व स्वर्देव्य इव स्त्रीणां मध्ये श्रेष्ठतमा अपि।
कालिन्दीसत्यभामाद्याः क्व चान्या रोहिणीमुखाः॥१९१॥

श्लोकानुवाद—(जब ऐसी श्रीरुक्मिणीदेवी भी व्रजगोपियोंके सौभाग्यकी गन्ध भी प्राप्त न कर सकी, तो फिर) स्वर्गकी देवियोंके समान स्त्रियोंके समुदायमें श्रेष्ठतम उन कालिन्दी, सत्यभामादि प्रधान महिषियों और रोहिणी जैसी अन्यान्य महिषियोंके सम्बन्धमें क्या कहूँ?॥१९१॥

दिग्दर्शिनी टीका—स्त्रीणां मध्ये स्वर्देव्य इव दिव्यगुणरूपादिना श्रेष्ठतमा अपि कालिन्द्याद्याः सप्त महिष्यः क्व? कुतः? सौभाग्यगन्धं लभन्तामित्यर्थः। क्व च रोहिण्याद्या एकशतोत्तरषोड़शसहस्रपरिमिता अन्या महिष्यः—*"स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः"* (श्रीमद्भा. १०/४७/६०) इत्युक्तेः। अस्यार्थः—अङ्गे वक्षसि सततालिङ्गनादिना नितान्तरतेरेकान्तरतिमत्याः श्रियो रुक्मिण्या अपि अयं प्रसादो न स्यात्। किञ्च,

नलिनस्येव गन्धो रुक् च कान्तिर्यासां तासां स्वर्योषितां परमदिव्यरूपगुणादिना स्त्रीगणश्रेष्ठानामपि कालिन्द्यादीनाञ्च नास्ति। यद्वा, कुतः इत्यस्य अत्रापि सम्बन्धः कार्यः। रुक्मिण्यपेक्षया कालिन्द्यादीनां कनिष्ठत्वात् कैमुत्यन्यायोक्तिः। अन्याश्च तदितरा महिष्यः कुतो, दूरतो निरस्ता इति॥१९१॥

भावानुवाद—स्त्रियोंके समुदायमें भी स्वर्गकी देवियोंके समान दिव्य गुण-रूपादि द्वारा श्रेष्ठतम कालिन्दी आदि सात महिषियोंके विषयमें क्या कहूँ? किसलिए? जब श्रीरुक्मिणीदेवी तथा कालिन्दी आदि अन्य सात महिषियाँ भी व्रजदेवियोंको प्राप्त सौभाग्यकी गन्ध भी प्राप्त कर नहीं सकीं, तो फिर रोहिणी जैसी सौलह हजार एकसौ अन्यान्य महिषियोंके विषयमें कहना ही क्या है? यथा श्रीमद्भागवत (१०/४७/६०)—"तब कमलके समान अङ्गगन्ध और कान्तियुक्त स्वर्गकी रमणियाँ उस कृपाको प्राप्त नहीं कर सकी—इस विषयमें अधिक क्या कहें?" इसका अर्थ है—"जो अत्यन्त अनुरक्त होकर सदा श्रीहरिके वक्षःस्थलपर वास करती हैं, अर्थात् सदैव आलिङ्गनादि द्वारा ऐकान्तिक रूपमें रतिपरायण हैं, वे 'श्री' (श्रीरुक्मिणीदेवी) भी गोपियोंके समान कृपाको प्राप्त नहीं कर सकीं, अतः जिनकी अङ्गगन्ध और कान्ति कमलके समान है, उन स्वर्गकी देवियाँके समान परमदिव्य रूप-गुणादि द्वारा स्त्रियोंमें श्रेष्ठतम कालिन्दी जैसी महिषियाँ उस कृपाको प्राप्त नहीं कर सकेंगी—इस विषयमें अधिक क्या कहूँ? अथवा महिषीशिरोमणि श्रीरुक्मिणीसे श्रीकालिन्दी आदि महिषियोंके कनिष्ठ होनेके कारण 'कैमुत्य' न्यायानुसार वे गोपियोंके सौभाग्यकी गन्ध तक भी प्राप्त नहीं करेंगी। अतः अन्यान्य महिषियोंके विषयमें क्या कहें, अर्थात् दूरसे ही उनके विषयमें स्तब्ध होना होगा॥"१९१॥

अहं वराकः को नु स्यां तासां माहात्म्य-वर्णने।
तथापि चपला जिह्वा मम धैर्यं न रक्षति॥१९२॥

श्लोकानुवाद—मुझ जैसा तुच्छ व्यक्ति उन गोपियोंका माहात्म्य कैसे वर्णन कर सकता है? तथापि चञ्चल जिह्वाके कारण मैं अपने धैर्यकी रक्षा नहीं कर पा रहा हूँ॥१९२॥

दिग्दर्शिनी टीका—वराकः परमतुच्छोऽहं को नु स्यामपि तु न कोऽपि,

तद्वर्णनेऽयोग्योऽशक्तश्चेत्यर्थः। तथापि वर्णनीयानीत्यर्थादध्याहार्यम्। तत्र हेतुमाह—चपलेत्यादि॥१९२॥

भावानुवाद—उन व्रजदेवियोंका माहात्म्य वर्णन करना मुझ जैसे तुच्छ व्यक्तिके लिए सम्भव नहीं है, अर्थात् उसका वर्णन करनेके लिए मुझमें योग्यता या सामर्थ्य नहीं है। तथापि वर्णन करनेका कारण है कि मेरी चञ्चल जिह्वा मेरे वशीभूत नहीं है॥१९२॥

भो गोपपुत्र व्रजनाथ–मित्र हे, तत्प्रेमभक्त–प्रवरोऽयमुद्धवः।
तत्सारकारुण्यविशेष–भाग्यतस्तासां व्रजे प्रेम–भरं तमैक्षत॥१९३॥

तासां प्रसादातिशयस्य गोचरस्तत्सङ्गतो विस्मृतकृष्ण–सङ्गमः।
निर्धारमेतं व्यवहारमीदृशं, कुर्वन् वदेद्यत्तदतीव सम्भवेत्॥१९४॥

श्लोकानुवाद—हे गोपपुत्र! हे व्रजनाथके मित्र! ये श्रीउद्धव श्रीकृष्णके प्रेमपर भक्तोंमें परम श्रेष्ठ हैं। इन्होंने श्रीकृष्णकी करुणाके साररूप विशेष सौभाग्यको प्राप्तकर नन्दव्रजमें जाकर गोपियोंके प्रगाढ़ प्रेमका साक्षात् दर्शन किया है। गोपियोंकी विशेष कृपाको प्राप्तकर ये उस समय उनके सङ्गसे श्रीकृष्णके सङ्ग–सुखको भी भूल गये थे। इसलिए गोपियोंके विषयमें इन्होंने जो कुछ भी निर्धारण किया है, जैसा व्यवहार किया है, वह सब सत्य है, क्योंकि इन्होंने स्वयं अनुभव करके ही वह सब कहा है। अतएव इस विषयमें कुछ भी सन्देह नहीं हो सकता है॥१९३–१९४॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतः शृण्वित्याह—भो इति। हे व्रजनाथस्य श्रीगोपालदेवस्य मित्र! सखे! अयमुद्धवः, एतमुक्तगोपीपरमोत्कर्षविषयकं निर्धारं निश्चयं व्यवहारञ्च, एतं तद्वर्णनादिरूपं कुर्वन् ईदृशं यद् वदेत्, तदतीव सम्भवेत् उपपद्यत इति द्वाभ्यामन्वयः। तत्र हेतवः—तस्य व्रजनाथस्य प्रेमभक्तेषु प्रवरः परमः श्रेष्ठः, अतस्तस्य व्रजनाथस्य सारः श्रेष्ठः कारुण्यविशेषः असाधारण–कृपा, तं भजति पात्रतया आत्मसात् करोतीति तथा सः। यतस्तासां परमभगवतीनां तमनिर्वचनीयं प्रेमभरं व्रजे गोकुले ऐक्षत साक्षाद् दृष्टः। किञ्च, तासां परमभगवतीनां प्रसादातिशयस्य कृपाभर गोचरो विषयः, परमगोप्यतरनिजभावविशेषप्रकाशनात् तदुक्तमुद्धवेनैव। (श्रीमद्भा. १०/४७/२७)—"*सर्वात्मभावोऽधिकृतो भवतीनामधोक्षजे। विरहेण महाभागा महान्मेऽनुग्रहः कृतः॥*" इति। व्याख्यातञ्च स्वामिपादैः—"भगवत्प्रेमसुखप्रदर्शनेन ममैव महाननुग्रहः कृतः।" इति। अतस्तासां सङ्गतो

हेतोर्विस्मृतः कृष्णस्याबाल्यात् सेवितस्य निजेष्टतमः प्रभोः सङ्गमो येन सः, गोकुल एव चिरं निवासात्॥१९३–१९४॥

भावानुवाद—अतएव हे व्रजके नाथ श्रीगोपालदेवके मित्र! हे सखे! श्रवण करो। इन श्रीउद्धवने गोपियोंके परमोत्कर्षकी महिमाका निर्धारणकर उसका जैसा व्यवहार और वर्णन किया है, अर्थात् उनकी चरणधूलिकी वन्दना करते हुए उसको प्राप्त करनेकी प्रार्थना की है, वह अत्यन्त सुसङ्गत है। इसका कारण है कि श्रीउद्धव व्रजनाथ श्रीकृष्णके प्रेमी भक्तोंमें परमश्रेष्ठ हैं, अतएव उन्होंने व्रजनाथकी असाधारण-कृपाके साररूप पात्रताको प्राप्तकर उस व्रजमें जाकर परम भगवती गोपियोंकी अनिर्वचनीय प्रेम-प्रचुरताका साक्षात् दर्शन किया है तथा उन गोपियोंकी अत्यधिक कृपावशतः उस प्रेमको अनुभव भी किया है। इसलिए अपने परम गोपनीय भावोंको प्रकाश करनेमें संकोच न करते हुए इन श्रीउद्धवने ही कहा है, यथा श्रीमद्भागवत (१०/४७/२७)—"हे महाभाग्यवती गोपियों! आपने अधोक्षज श्रीकृष्णके प्रति परम भाव प्राप्त कर लिया है। आपके ऐसे विरह भावने मेरे प्रति महान कृपाका विस्तार किया है, इसीलिए भगवान्‌का प्रेम-सुख क्या है, इसे मैं साक्षात् अनुभव कर सका।" श्रील श्रीधर स्वामीपादने इस श्लोककी व्याख्यामें कहा है—"हे गोपियों भगवान्‌के प्रेम-सुखका प्रदर्शनकर तथा अनुभव कराकर आपने मेरे प्रति महान अनुग्रह किया है।" अधिक क्या कहूँ, ये श्रीउद्धव बाल्यकालसे ही श्रीकृष्णका सङ्ग-सुख भोग कर रहे हैं, तथापि व्रजदेवियोंके सङ्गके प्रभावसे श्रीकृष्णके सङ्ग-सुखको भी भूलकर इन्होंने बहुत अधिक समय तक गोकुलमें वास किया है॥१९३–१९४॥

श्वफल्कपुत्रो भगवत्पितृव्यः, स नीरसज्ञानविशुष्कचेताः।
वृद्धो दयार्द्रान्तरताविहीनः, कंसस्य दौत्येऽभिरतो व्रजे यन्॥१९५॥

सञ्चिन्तयन् कृष्ण-पदाम्बुजद्वयं, तस्य प्रकर्षातिशयं न्यवर्णयत्।
गोपीमहोत्कर्षभरानुवर्णनैस्तल्लोलितो धाष्ट्र्यमभावयन् हृदि॥१९६॥

श्लोकानुवाद—श्वफल्कके पुत्र वृद्ध अक्रूर श्रीकृष्णके चाचा होकर भी नीरसज्ञानके प्रभावसे शुष्क चित्त और दया-विहीन कठोर हृदयके

व्यक्ति थे। कंसके द्वारा भेजे गये दूतके रूपमें जब वे व्रजमें गये, तब मार्गमें श्रीकृष्णके चरणकमलोंका चिन्तन करने लगे और फिर उन चरणोंकी महिमाका वर्णन करते हुए उन्होंने अपनी धृष्टताका विचार न करके व्रजगोपियोंकी परम महिमा तथा उत्कर्षका निरन्तर वर्णन किया, जिसके फलस्वरूप उनका कठिन हृदय भी द्रवीभूत हो गया था॥१९५-१९६॥

दिग्दर्शिनी टीका—स क्रूरकर्मणा व्रजजनेषु कृतापराधः श्वफल्कपुत्रोऽक्रूरोऽपि व्रजे यन् गच्छन्; अतएव कृष्णस्य पादाम्बुजद्वयं तत्र द्रष्टव्यम्। पथि भावयन् तस्य पदाम्बुजद्वयस्य प्रकर्षातिशयं परमोत्कर्षं गोपीनां महोत्कर्षभरस्य परममाहात्म्यातिशयस्य अनु वारंवार वर्णनैरेव नितरामवर्णयदिति द्वाभ्यामन्वयः। तदयोग्यत्वे हेतवः—भगवतः पितृव्यः, किञ्च, नीरसेन भक्तिरसास्पृष्टेन ज्ञानेन विशुष्कं परमशुष्कतां प्राप्तं चेतो यस्य सः; वृद्धः वार्धक्येन बहिरपि रसिकतादिहीनतां प्राप्त इत्यर्थः। किञ्च, दयया आर्द्रं कोमलम् अन्तरं हृदयं येषां तेषां भावस्तत्तया विहीनः, व्रजजीवनस्य भगवतस्ततः समाकर्षणात्। तथापि तथावर्णने हेतुः—तेन प्रकर्षातिशयेन लोलितस्तरलीकृतः सन्, अतएव हृदि धाष्ट्र्यमगणयन्॥१९५-१९६॥

भावानुवाद—श्वफल्क-पुत्र अक्रूर व्रजवासियोंके प्रति किये गये अपराधके कारण क्रूरकर्मा अर्थात् क्रूर कर्म करनेवालेके रूपमें ही व्रजमें विख्यात हैं। व्रजमें जाते हुए मार्गमें उन्होंने श्रीकृष्णके चरणकमलोंके (चरणचिह्न) दर्शन किये तथा उन चरणकमलोंके परमोत्कर्षकी चिन्ता करते समय गोपियोंके परम-माहात्म्यका निरन्तर वर्णन करनेके कारण चञ्चलतावश वे अपनी धृष्टताको भी भूल गये थे। उनकी धृष्टतारूप अयोग्यताका कारण था कि वे श्रीकृष्णके चाचा होनेपर भी भक्तिरसशून्य नीरस ज्ञानके प्रभावसे शुष्कचित्तके थे तथा वृद्ध होनेके कारण बाहरसे भी रसिकता विहीन कठोर हृदयके व्यक्ति थे। जिस दयासे हृदय द्रवीभूत होता है, वैसी दयासे रहित कंस द्वारा भेजे गये दूतके रूपमें व्रजमें आकर उन्होंने व्रजके जीवन श्रीकृष्णको सम्पूर्णतः व्रजसे आकर्षणकर (दूर ले जाकर) व्रजको शुष्क अर्थात् जीवनशून्य बना दिया था। तथापि गोपियोंके परम उत्कर्षयुक्त प्रचुर माहात्म्यके वर्णन द्वारा ही श्रीकृष्णके परम उत्कर्षका वर्णन करनेके कारण ही अक्रूरका हृदय द्रवीभूत हुआ था। अतएव उनकी धृष्टता

नगण्य है, अर्थात् उपरोक्त विरुद्धभावके रहनेपर भी गोपियोंकी महिमा–वर्णनके प्रभावसे ही उनका हृदय द्रवीभूत हुआ था—इसे केवल उन परम भगवती गोपियोंकी करुणाका प्रभाव ही जानना होगा॥१९५–१९६॥

"यदर्चितं ब्रह्म–भवादिभिः सुरैः,
श्रिया च देव्या मुनिभिः ससात्वतैः।
गोचारणायानुचरैश्चरद्वने,
यद्गोपिकानां कुचकुङ्कुमाचितम्॥"१९७॥

श्लोकानुवाद—श्रीअक्रुरने कहा था—"श्रीकृष्णके जिन श्रीचरणकमलोंके परम ऐश्वर्ययुक्त होनेके कारण श्रीब्रह्मा और श्रीशिव आदि देवता, परम सौभाग्ययुक्त होनेके कारण श्रीलक्ष्मीदेवी, परम पुरुषार्थस्वरूप होनेके कारण भक्तों सहित मुनिगण तथा परम कृपाशील होनेके कारण गोचारणके लिए वन–वनमें विचरणके समय गोपबालक सेवा करते हैं, वही श्रीचरणकमल प्रेममात्रसे सुलभ होनेके कारण गोपियोंके कुचकुङ्कुमके अरुणरङ्गसे रञ्जित होते हैं॥"१९७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव दर्शयितुं तच्चिन्तितश्लोकमेवाह—यदिति (श्रीमद्भा. १०/३८/८)। अक्रूरेण विभाव्यमानमङ्घ्रिपद्मं पूर्वश्लोकात्तत्रत्यादनुवर्त्तत एव। तत्र ब्रह्मादिभिः सुरैरर्चितमिति अङ्घ्रिपद्मस्य परमदेवतात्वं परमेश्वरत्वञ्चोक्तम्। अहो तेषामपि परमपूज्यया सर्वसम्पत्प्रदायककटाक्षया लक्ष्म्या चार्च्यत इत्याह—श्रिया चेति। अनेन परमसौभाग्यातिशयवत्त्वमुक्तम्। एवं पूर्वपूर्वापेक्षया उत्तरोत्तरत्रोत्कर्ष ऊह्यः, अन्यथा आदौ ब्रह्मत्वेन स्तुतस्य पश्चान्नृपत्वेन स्तुतेर्लोके स्तुतिरीत्यनुपपत्तेः, प्रत्युत उपहासे पर्यवसानात्। तत्र गत्यन्तरकल्पने च कविवरासम्मतस्य यथोक्तक्रमनिर्वाह–भङ्गस्य प्राप्तेश्च। तस्यां श्रियामप्यनपेक्षका ये आत्मारामास्तैरप्यर्च्यत इत्याह—मुनिभिरिति। अनेन परमपुरुषार्थाधिक्यं मोक्षानपेक्षकत्वान्मुनिभ्योऽपि श्रेष्ठैर्भक्तिनिष्ठैरर्च्यत इत्याह—ससात्वतैरिति। अनेन तेभ्य आत्मप्रदत्वेन परमोदारत्वाम्। कर्मज्ञानाभ्यासवतां मुनीनां भगवच्चरणारविन्दार्चनेऽनभ्यासाद् विशेषाज्ञानादशक्तेश्च स्वतः प्रवेशासम्भवात् भक्तानां कृपासङ्गत्यैव तत् सिध्यतीति तत्साहित्यमुक्तम्। एवं मुनिभ्यः सात्वतानां श्रैष्ठ्यमेव नितरां सिद्धम्। अतः स्तुतिरीत्या क्रमश्च निर्व्यूढः; ततश्च श्रिया चेति, श्री–शब्देनात्र विभूत्यधिष्ठात्री श्रीमहालक्ष्म्यंशभूतैव लक्ष्मीरभिधीयते, न तु महालक्ष्मीः। भगवत्प्रियतमायास्तस्याः सात्वतानां परमपूज्यत्वेन तेभ्योऽपि श्रैष्ठ्यात्। अतएव

देव्येत्युक्तं, न तु भगवत्येति। एतच्च प्रागुद्दिष्टमस्त्येव। अनुचरैः सहचरैर्गोपकुमारैः सह चरदिति परमवात्सल्यं परमपूज्यत्वेन तेभ्यः कृपालुत्वञ्च। तत्र च श्रीवृन्दावनादौ, वने इति परमविनोदित्वम्, तत्रापि गोचारणायेति परमसुखित्वम्। यद्यप्यनुचरैरर्चितमिति कथञ्चित् सम्बन्धो घटेत, तथापि प्रियसखतया परमविश्वासादिना भजतां तेषाम् पादपद्मार्चने तादृक् तात्पर्याभावान्न तथा योजनम्, एवमुत्तरत्रापि गोपीनां परमप्रियतमानां कुचकुङ्कुमैराचितं व्याप्तमिति परमोत्तम-लालित्यं वैदग्ध्यं प्रसादसर्वस्वं प्रेमपरवशतादिकञ्च दर्शितम्। एवमुक्ताखिलोत्कर्षतोऽस्योत्कर्षस्य परमाधिक्यापेक्षयास्य विशेषणस्य स्तुतिरीत्यान्ते निर्देशः। तथा पुनर्यच्छब्द-प्रयोगश्च। एवं सुरेभ्यो ब्रह्मण उत्कर्षः, तस्मादपि भवस्य, अतएवास्य पश्चान्निर्देशः। तस्मादपि श्रियः, ततोऽपि मुनीनां, तेभ्योऽपि सात्वतानां, तेभ्योऽपि प्रियसखतया तेषामप्यनुसरणीयत्वाद्गोपकुमाराणाम्। अतएव तेनैव चिन्तितम्—*"नमस्य आभ्याञ्च सखीन् व्रजौकसः"* (श्रीमद्भा. १०/३८/१५) इति। तेभ्योऽप्यधिकप्रियतया गोपीनां परमोत्कर्षो ज्ञेयः। ततश्च तासां कुचकुङ्कुमाचितत्वेन श्रीभगवदवतारमुख्य- प्रयोजन-तदीयपरमोत्कर्षभरविस्तारणरूपतत्प्रियजनवश्यतात्मक-प्रसादविशेष-माधुरीप्रकटनस्य प्रदर्शनेन पादाम्बुजद्वयस्य परमोत्कर्षविशेषो वर्णित इति सिद्धम्। एवमग्रेऽप्यूह्यम्॥१९७॥

भावानुवाद—अब अक्रूर द्वारा चिन्ता किये गये—'यदर्चित' इत्यादि श्रीमद्भागवत (१०/३८/८) श्लोकका वर्णनकर उनके द्वारा विशेष रूपसे भावना किये गये श्रीकृष्णके युगल चरणकमलोंका परम-उत्कर्ष प्रदर्शित कर रहे हैं। "श्रीब्रह्मादि देवता भी श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी अर्चना करते हैं।"—इसके द्वारा श्रीकृष्णके चरणकमलोंके परमदेवता होनेका और परमेश्वर होनेका गुण कथित हुआ है। अहो! ब्रह्मादि देवताओंकी भी जो परमपूज्य हैं तथा जो अपने कटाक्षमात्रसे समस्त सम्पत्ति प्रदान करती हैं, वे श्रीलक्ष्मीदेवी भी श्रीकृष्णके उन चरणकमलोंकी अर्चना करती हैं—इस वाक्यके द्वारा उन श्रीचरणकमलोंके परम सौभाग्ययुक्त होनेका गुण कथित हुआ है। इस प्रकार उक्त श्लोकमें पहलेकी तुलनामें बादमें कथित जनका उत्कर्ष विज्ञापित हुआ है। अन्यथा प्रारम्भमें ब्रह्मादि देवताओंके भी पूज्य कहकर बादमें मनुष्योंके पूज्य कहनेसे यथार्थ पूजा-रीति स्थापित नहीं होती, बल्कि उपहास ही होता है। अतएव श्रेष्ठ कवियों द्वारा इसके अलावा अन्य उपाय कल्पना करनेकी सम्मति नहीं है, क्योंकि यथोक्त क्रमके भङ्ग होनेका दोष उपस्थित हो सकता है।

अतएव उन श्रीलक्ष्मीकी भी उपेक्षा करनेवाले समस्त आत्मारामगण भी श्रीकृष्णके चरणकमलोंका अर्चन करते हैं—इसे बतलानेके लिए मूल श्लोकमें 'मुनिभिः' पदका उल्लेख हुआ है। इसके द्वारा उन श्रीचरणकमलोंके द्वारा परमपुरुषार्थ प्रदान करनेका गुण कथित हुआ है। मोक्षकी कामनासे रहित होनेके कारण मुनियोंसे भी श्रेष्ठ भक्तिनिष्ठा प्राप्त भक्तगण भी उन श्रीचरणकमलोंका अर्चन करते हैं—इसे बतलानेके लिए 'ससात्वतैः' पदका उल्लेख हुआ है। इसके द्वारा भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंका अपने समस्त भक्तोंके प्रति आत्मप्रदत्व अर्थात् अपनेको प्रदान करने तथा परमोदारत्व अर्थात् परम उदार होनेका गुण कथित हुआ है।

मूल श्लोकमें 'मुनिभिः ससात्वतैः' पदमें स-सात्वत अर्थात् "समस्त भक्तोंके साथ मुनियोंका"—इस उल्लेखका तात्पर्य यह है कि कर्म-ज्ञानके अभ्यासमें तत्पर रहनेवाले मुनियोंको भगवान्‌के चरणकमलोंके अर्चनका अभ्यास न होनेके कारण तथा उस विषयमें विशेष अज्ञानतावशतः असमर्थताके कारण स्वतः ही अर्चनमें प्रवेश सम्भव नहीं होता। अतः भक्तोंकी कृपाके प्रभावसे ही उनका भगवत्-अर्चन सिद्ध होता है, इसीलिए मुनियोंका सात्वत सहित उल्लेख हुआ है। इस प्रकार आत्माराम मुनियोंसे भी सात्वत अर्थात् भक्तोंकी श्रेष्ठता स्वतः ही स्थापित हुई है तथा पूजाकी रीतिका क्रम भी रक्षित हुआ है। मूल श्लोकमें 'श्रिया' पदमें जो 'श्री' शब्दका उल्लेख है, यहाँ वह विभूतिकी अधिष्ठात्रीदेवी महालक्ष्मीकी अंशभूता लक्ष्मीके लिए हुआ है, महालक्ष्मीके लिए कथित नहीं। इसका कारण है कि भगवान्‌की प्रियतमा महालक्ष्मी सात्वतजनों अर्थात् समस्त भक्तोंकी पूज्य होनेके कारण समस्त भक्तोंसे श्रेष्ठ हैं। इसलिए मूल श्लोकमें उनके उद्देश्यसे 'देव्या' पदका उल्लेख हुआ है, भगवती पदका उल्लेख नहीं किया गया है। इस विचारको पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है।

"जो श्रीचरणकमल समस्त अनुचरों अर्थात् सहचर गोकुमारोंके साथ वनमें विचरण करते हैं"—इसके द्वारा उन चरणकमलोंका परम वात्सल्य और परम कृपालुता प्रदर्शित हुई है। 'वने' शब्दके प्रयोगके द्वारा श्रीवृन्दावन आदिमें परमलीलानन्दका तथा "गोचारणके लिए"

शब्दके द्वारा परम सुखका होना सूचित हुआ है। यद्यपि "अनुचरों द्वारा अर्चित"—ऐसी व्याख्यामें भी कुछ सम्बन्ध संघटित हो सकता है, तथापि प्रियसखाओंके द्वारा परम विश्वासके साथ भजन करनेके कारण उनके श्रीचरणकमलोंके अर्चनमें वैसे किसी तात्पर्यके अभावके कारण उस प्रकारकी योजना नहीं हुई। परन्तु उनके श्रीचरणकमल परम प्रियतमा समस्त गोपियोंके कुचकुङ्कुम द्वारा अर्चित होते हैं, इसके द्वारा उन श्रीचरणकमलोंकी परम श्रेष्ठ सौन्दर्य वैदग्धीरूप सर्वस्व कृपा तथा प्रियतमजनोंकी प्रेमपरवशता आदि प्रदर्शित हुई है। इस प्रकार पूर्वोक्त समस्त उत्कर्षसे भी श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंका माधुर्य-उत्कर्ष सर्वाधिक रूपमें प्रदर्शित हुआ है।

पुनः 'यद्' शब्दके प्रयोग द्वारा उन श्रीचरणोंकी माधुरीके आस्वादक देवताओंसे ब्रह्माका, ब्रह्मासे भव अर्थात् श्रीशिवका, शिवसे देवी लक्ष्मीका, उनसे भी समस्त मुनियोंका और उनसे भी समस्त भक्तोंका तथा उनसे भी प्रियसखा समस्त गोपकुमारोंका परमोत्कर्ष कथित हुआ है। इसलिए श्रीअक्रूर चिन्ता कर रहे हैं (श्रीमद्भा. १०/३८/१५)—"पहले श्रीराम-कृष्णको प्रणाम करूँगा, फिर दोनोंके साथ उनके वनचर सखाओंको प्रणाम करूँगा।" यहाँ सखाओंसे भी अधिक प्रियतमा गोपियोंका परमोत्कर्ष जानना होगा। अतएव गोपियोंके कुचकुङ्कुम द्वारा अर्चित श्रीचरणकमल कहनेसे श्रीभगवान्‌के अवतारका मुख्य प्रयोजन उन गोपियोंकी प्रचुर परम महिमा अर्थात् गोपीप्रेमके विस्तार रूप अपने प्रियजनोंके द्वारा वशीभूत होनेकी विशेष कृपा-माधुरीके प्रदर्शन द्वारा अपने युगल श्रीचरणकमलोंके परमोत्कर्षका विशेष वर्णन सिद्ध होता है॥१९७॥

"अप्यङ्घ्रि-मूले पतितस्य मे विभुः,
शिरस्यधास्यन्निज-हस्तपङ्कजम् ।
दत्ताभयं कालभुजङ्गरंहसा,
प्रोद्वेजितानां शरणैषिणां नृणाम्॥"१९८॥

श्लोकानुवाद—"मेरे द्वारा श्रीभगवान्‌के उन्हीं चरणकमलोंमें साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करनेपर क्या वे अपने हस्त-कमलको मेरे सिरपर

रखेंगे? कालरूप सर्पके वेगसे भयभीत जनोंके द्वारा भगवान्‌की शरण लिए जानेपर यही हस्तकमल उन्हें अभय प्रदान करते हैं॥"१९८॥

दिग्दर्शिनी टीका—पश्चान्मनोरथं कुर्वन् श्रीहस्तपद्मञ्च विभावयन् तस्याप्युत्कर्षभरं तथैवासौ यदवर्णयत्तदपि प्रसङ्गाद्वदन् तत् पद्यद्वयमेवाह—अपीति (श्रीमद्भा. १०/३८/१६)। अधास्यत् धास्यति। कालस्य रहंसा वेगेन प्रोद्वेजितानां मुमुक्षूणाम्। तथा भुजङ्गो मोक्षः, सर्वग्रासकाजगरतुल्यत्वात्, षिड्गतुल्यत्वाद्वा। यथा हि षिड्गो जनो वार्यमाणोऽपि धाष्ट्‌र्येन गृहं प्रविशेत्तथा जीवन्मुक्तैर्भागवतसङ्गत्या फल्गुतादि-ज्ञानेन त्यज्यमानस्यापि मोक्षस्यानुवृत्तेः। अतस्तस्य च रंहसा वेगभयेण प्रोद्वेजितानां तेषामतस्तत्र तत्र तदेव शरणमिच्छतां नृणां दत्तमभयं येन तत्॥१९८॥

भावानुवाद—फिर श्रीअक्रूरने इच्छावशतः श्रीभगवान्‌के हस्तकमलकी चिन्ता करते हुए उन श्रीहस्तकमलोंके प्रचुर उत्कर्षका जो वर्णन किया था, श्रीनारद प्रसङ्गक्रमसे उसका भी वर्णन दो पद्योंमें 'अपि' श्रीमद्भागवत (१०/३८/१६) श्लोक द्वारा कर रहे हैं। श्रीअक्रूरने भावना की थी कि मेरे द्वारा श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें पतित होनेपर क्या वे अपने श्रीहस्तकमलको मेरे सिरपर रखेंगे? ये हस्तकमल कालवेगसे प्रपीड़ित मोक्षकामीजनोंको सर्वग्रासक अजगरतुल्य मोक्षके कवलसे उद्धारकर अभय प्रदान करते हैं। यह मोक्ष लम्पटके समान है। जिस प्रकार धरमें प्रवेश वर्जित होनेपर भी लम्पट धृष्टतापूर्वक घरमें घुस जाता है, उसी प्रकार भगवद्भक्तोंके सङ्गके प्रभावसे समस्त जीवनमुक्तजनोंके द्वारा तुच्छ जानकर मोक्षका परित्याग करनेपर भी यह मोक्ष बलपूर्वक उनका अनुगमन करता है। अतएव ये श्रीहस्तकमल मुमुक्षुजनोंके संसार-भयको दूर करनेवाले हैं, सकामजनोंके उन्नतिकारक हैं तथा शरणागत भक्तोंके लिए परम सुखदायक हैं॥१९८॥

"समर्हणं यत्र निधाय कौशिक-
स्तथा बलिश्चाप जगत्रयेन्द्रताम्।
यद्वा विहारे व्रजयोषितां श्रमं,
स्पर्शेन सौगन्धिकगन्ध्यपानुदत्॥"१९९॥

श्लोकानुवाद—"जिन श्रीकरकमलोंमें पूजा-उपहार अर्पणकर इन्द्रने अश्वमेध यज्ञका फल प्राप्त किया था तथा बलिने तीनों जगतोंका

आधिपत्य प्राप्त किया था, उन्हीं सुगन्धित श्रीकरकमलोंने रासक्रीड़ाके समय व्रजसुन्दरियोंको स्पर्शकर विहारसे उत्पन्न उनके श्रमको दूर किया था॥"१९९॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं शरणागतानां भयनिवर्त्तकत्वमुक्त्वा वात्सल्येन सकाम-निष्काम-भक्तानामभ्युदयमात्मप्रदत्वञ्चाह—समर्हणमिति (श्रीमद्भा. १०/३८/१७)। यत्र यस्मिन् हस्तपङ्कजे समर्हणं पूजाद्रव्यादिकं किमपि निधाय समर्प्य, कौशिक इन्द्रः जगत्रयेन्द्रतामापेत्यन्वयः, तत् समर्पणं विना कर्मणां फलासिद्धेः। बलिश्च तथापेति सम्बन्धः। अतिविस्मयास्पदमनिर्वचनीयं किमपि द्वारपालतया स्ववशम्वर्त्तित्वादिक-मिति तथा शब्दार्थः। यद्वा, कौशिको विश्वामित्रः श्रीरघुनाथावतारे शास्त्रशिक्षामन्त्ररूपं स्वकीयाश्रमातिथ्योचितान्नादिरूपञ्च सम्यगर्हणं यत्र निधाय, तथा सुप्रसिद्धं तपोऽतिशय-तच्चरणारविन्दभजनादिरूपं माहात्म्यं प्राप। बलिश्च जगत्रयेन्द्रतां निजाञ्जलिजलोत्सर्गेण यत्र निधाय। चकारस्य समुच्चयार्थत्वात्तथा इत्यस्यात्रापि सम्बन्धः। अर्थश्च पूर्ववदेव। अथानुरक्तानां परमसुखकारित्व-प्रतिपादनेन पूर्ववत् प्रियजन-प्रेमपरवशतारूप-परमोत्कर्षभरं वर्णयति—यद्वेति। वा-शब्दो यच्छब्दवत् पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तर-वाक्यस्य अस्य परमोत्कर्षबोधकः। तत्र विहार इति विनोदित्वम्, व्रजयोषितामिति तादृशप्रियजनेषु योग्यप्रसादसम्पादित्वम्, श्रममिति वैदग्धीविशेषसूचित-परमसुखित्वम्, स्पर्शेनेति सुशीतलत्वम्, सौगन्धिकस्य गन्धवद्गन्धो यस्येति मनोहरत्वं परमानन्दकत्वञ्चोक्तम्। भगवतो रूपसौन्दर्यमाधुर्यादिकं तादृशप्रियजनैरेव सर्वथा नितरामनुभूयत इत्यत्रैव सौगन्धिकगन्धीति विशेषणं प्रयुक्तम्॥१९९॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीभगवान्‌के हस्तकमलों द्वारा शरणागत भक्तोंके भयकी निवृत्तिका वर्णनकर अब भगवान् द्वारा वात्सल्यपूर्वक सकाम और निष्काम भक्तोंकी चितवृत्तिको उन्नतकर आत्मप्रदत्त्व अर्थात् अपनेको प्रदान करनेका वर्णन करनेके लिए श्रीभागवतीय (१०/३८/१७) 'समर्हणं' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। उन हस्तकमलोंमें पूजा-उपकरण अर्पणकर इन्द्रने तीनों लोकोंका इन्द्रत्व प्राप्त किया था, क्योंकि भगवान्‌को समर्पण न करनेसे किसी भी कर्मका फल सिद्ध नहीं होता है। बलि महाराजने भी अपने हाथोंसे भगवान्‌को अञ्जलिपूर्ण जल अर्पणकर तीनों लोकोंका इन्द्रत्व प्राप्त किया था तथा उन बलि महाराजने एक और भी अति विस्मयपूर्ण, अनिर्वचनीय सम्पद अर्थात् भगवान्‌को अपने अधीन रहनेवाले द्वारपालके रूपमें प्राप्त किया था। अथवा कौशिक अर्थात् श्रीविश्वामित्रने श्रीरघुनाथ

अवतारमें शास्त्रशिक्षा और मन्त्र प्रदान तथा अपने आश्रममें अतिथि-उचित अन्नादि प्रदानरूप पूजन उनके श्रीहस्तकमलोंमें अर्पितकर सुप्रसिद्ध अत्यधिक तप-प्रभाव तथा उनके श्रीचरणकमलोंके भजनरूप माहात्म्यको प्राप्त किया था।

अब समस्त अनुरक्तजनोंको परम सुख प्रदान करनेके गुणका प्रतिपादन करते हुए पहलेकी भाँति अपने प्रियजनोंकी प्रेमपरवशतारूप भगवान्‌के प्रचुर परमोत्कर्षका वर्णन 'यद्वा' इत्यादि पदों द्वारा कर रहे हैं। मूल श्लोकमें उक्त 'वा' शब्द 'यद्' शब्दकी भाँति पहले कथित वाक्यकी तुलनामें बादमें कहे गये वाक्यके परमोत्कर्षका बोधक है। मूल श्लोकमें 'विहार' पद द्वारा श्रीकृष्णका लीलानन्द, 'व्रजयोषितां' पद द्वारा वैसे प्रियजनों अर्थात् व्रजगोपियोंके प्रति उचितकृपा वितरण करना, 'श्रमम्' पदसे वैदग्धी विशेष द्वारा सूचित परम सुख प्रदान करना, 'स्पर्शन' पद श्रीकृष्णकी सुशीतलता तथा 'सौगन्धि' पद द्वारा उनकी मनोहरता तथा परमानन्दको प्रदान करनेका गुण कथित हुआ है। श्रीभगवान्‌का रूप-सौन्दर्य-माधुर्यादि वैसे प्रियजनों द्वारा सर्वदा अनुभव होता है, इसीलिए 'सौगन्धिकगन्ध' विशेषण प्रयुक्त हुआ है॥१९९॥

पितामहोऽसौ कुरुपाण्डवानां, बृहद्व्रतो धर्मपरोऽपि भीष्मः।
व्रजाङ्गनोत्कर्षनिरूपणेन, तमन्तकाले भगवन्तमस्तौत्॥२००॥

श्लोकानुवाद—कौरवों और पाण्डवोंके पितामह श्रीभीष्मदेवने नैष्ठिक ब्रह्मचारी और धर्मपरायण होनेपर भी अपने अन्तिम समयमें व्रजाङ्गनाओंकी महिमाके निरूपण द्वारा ही भगवान् श्रीकृष्णका स्तव किया था॥२००॥

दिग्दर्शिनी टीका—अहो गोकुलयात्रादिपरमभाग्यवानक्रूरोऽसौ तथा वर्णयतु नाम, तत्र परमायोग्यो भीष्मोऽपि तथैवावर्णयदित्याह—पितामह इति। असौ युद्धस्थल्यां शरशय्याशायी, बृहद्व्रतः, नैष्ठिकब्रह्मचर्यनिष्ठः, धर्मः क्षत्रियस्वाभाविको युद्धादि-तत्परः, निजगुरुणा भगवदवतारेण श्रीपरशुरामेण सह योधनात्तथार्जुनसारथौ श्रीभगवत्यपि निष्ठुरबाणप्रक्षेपणात् ईदृशोऽपि श्रीव्रजाङ्गनानां श्रीगोपिकानाम् उत्कर्षनिरूपणेनैव तं भगवन्तं श्रीकृष्णमस्तौत् परमोत्कर्षं वर्णयामास। अन्तकाल इति तत्समये तथा वर्णनमेवोचितमिति भावः। तेनैव सर्वोत्कृष्टतरपरमपदसंसिद्धेः॥२००॥

भावानुवाद—अहो! परम भाग्यवान् होनेके कारण श्रीअक्रूरने गोकुल यात्राका सौभाग्य प्राप्त किया था, इसलिए गोपियोंकी महिमाके गान द्वारा ही उन्होंने श्रीकृष्णके उत्कर्षका वर्णन किया है। किन्तु, परम अयोग्य भीष्मने भी उसी प्रकार वर्णन किया है—इसीको बतलानेके लिए 'पितामहो' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। जो बृहद्व्रत अर्थात् नैष्ठिक ब्रह्मचर्य थे, धर्मपरायण अर्थात् क्षत्रिय-स्वभावके अनुसार युद्धादिमें तत्पर थे, यहाँ तक कि जिन्होंने अपने गुरु भगवान्के अवतार श्रीपरशुरामके साथ युद्ध किया था तथा कुरुक्षेत्र युद्धमें अर्जुनके सारथी भगवान् श्रीकृष्णके श्रीअङ्गोंमें भी निष्ठुर भावसे बाण निक्षेप किये थे, उन भीष्मने भी बाणोंकी शय्यापर लेटे रहकर ही श्रीव्रजाङ्गनाओंकी महिमाके निरूपण द्वारा ही भगवान् श्रीकृष्णका स्तव किया था, अर्थात् गोपियोंके सम्बन्धसे ही श्रीकृष्णके परमोत्कर्षका वर्णन किया है। अन्तकाल अर्थात् देहत्यागके समयमें इस प्रकारका वर्णन ही युक्तियुक्त है, क्योंकि वैसे वर्णन द्वारा ही सर्वोत्कृष्ट परमपदकी प्राप्ति होती है॥२००॥

"ललितगतिविलासवल्गुहास-प्राणयनिरीक्षणकल्पितोरुमानाः ।
कृतमनुकृतवत्य उन्मदान्धाः, प्रकृतिमगन् किल यस्य गोप-वध्वः॥"२०१॥

श्लोकानुवाद—"इन श्रीकृष्णने रासमें अपनी सुललित गति, लीला, रमणीय हास्य और प्रेमयुक्त निरीक्षण द्वारा गोपवधुओंका मान बढ़ाया था, अर्थात् उनकी महिमा गानकर उनकी पूजा की थी। (किन्तु जब श्रीकृष्ण अन्तर्धन हो गये) तब उन गोपियोंने उन्मादमें दृष्टिरहित (विवेकरहित) होकर श्रीकृष्णकी गोवर्धन-धारणादि अलौकिक लीलाओंका अनुकरण करते हुए उनकी प्रकृति (स्वभाव) को प्राप्त कर लिया॥"२०१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तद्दर्शयितुं तत्स्तुतिपद्यमेवाह—ललितेति (श्रीमद्भा. १/९/४०) भगवतैव निजललितगति रासविलासादिभिः कल्पितः उरुः सर्वतोऽधिको मानः पूजा यासां ताः। एवं भोगैश्वर्यमुक्तिभक्ति-वरदानपात्रेभ्यो महालक्ष्म्याश्चाप्यधिकोत्कर्षस्तासां सूचितः। अतस्तद्विरहेऽत्यन्तप्रेमाविर्भावेन य उन्मद उन्मादस्तेनान्धा इवान्धाः, ऐहिक-पारलौकिक-साधन-साध्यादिविषयकदृष्टिशून्या इत्यर्थः। अतएव तस्य कृतं

गोवर्धनोद्धारणादिकर्म अनुकृतवत्यः सत्यः यस्य प्रकृतिं स्वभावं जगत्पूज्यतादिकं सच्चिदानन्दरूपत्वादिकं जगन्निस्तारकत्वं वात्सल्यादिकञ्च सर्वं गोपवधुशरीर एव अगमन् प्रापुः। यद्वा, आकृति प्रतियोगिना प्रकृतिशब्देनान्तरात्मा कथ्यते, तां प्राप्ताः। कृष्णस्य ध्यानविषयीभूता इत्यर्थः। तदुक्तम्—*"वियोगिनीनामपि पद्धतिं वो, न योगिनो गन्तुमपि क्षमन्ते। यद्ध्येयरूपस्य परस्य पुंसो, यूयं गता ध्यानपदं दुरापम्॥"* इति। एवं ब्रह्मादीनामीश्वराणां, सनकादीनामात्मारामाणां, नारदादीनां भक्तानां, लक्ष्म्यादीनां प्रियतमानाञ्च महाराधननिचयैरपि परमसाध्येन सुदुर्लभेन भगवता श्रीकृष्णेनापूर्वाचरितैस्तैस्तैर्विचित्रविलासादिभिर्या वशीकर्त्तुं संपूज्यन्ते, याश्च तस्य तादृशप्रेमभरोन्मादिताः किमपि योग्यायोग्यमनालोचयन्त्यस्तन्मयत्वेन तल्लीलानुकार-पराः श्रीकृष्णचित्तमाक्रान्ताः, तासां सर्वतोऽधिकपरमोत्कर्षविशेषः स्वत एव सिद्धः। एतादृशीनामासां प्राप्यप्रकृतित्वेन श्रीभगवतोऽपि परमोत्कर्षभरः सुसिद्धः। अतः स एव श्रीगोपीनाथोऽन्तकाले मम साक्षादास्तु इति निजसौभाग्यातिशयानन्दनेन स्तवनमुचितमेवेति भावः॥२०१॥

भावानुवाद—भीष्म पितामहकी उक्तिका प्रदर्शन करनेके लिए श्रीनारद उनके स्तुति पद्य—'ललित' इत्यादि श्रीमद्भागवत (१/९/४०) श्लोकको प्रस्तुत कर रहे हैं। श्रीभगवान्ने ही अपनी सुन्दरगति तथा रास-विलासादि द्वारा व्रजसुन्दरियोंकी सबसे अधिक पूजाकी है। इसके द्वारा भोग, ऐश्वर्य, मुक्ति तथा भक्तिका वर प्राप्त करनेवाले समस्त पात्रों, यहाँ तक कि महालक्ष्मीसे भी व्रजसुन्दरियोंकी अत्यधिक महिमा सूचित हुई है। अतएव श्रीभगवान्के विरहमें प्रेम-उत्कण्ठाके प्राचुर्यवशतः अभिव्यक्त हुए महाभावके विक्रमसे वे व्रजगोपियाँ उन्मादवशतः अन्धकी भाँति हो गयीं थीं, अर्थात् लौकिक और पारलौकिक साध्य-साधनादिके विषयमें दृष्टिरहित (विवेकरहित) हो गयीं थीं। अतएव उस प्रकारसे श्रीकृष्णमें आविष्ट व्रजगोपियों द्वारा श्रीगोवर्धन-धारणादि भगवान्के कर्मोंका अनुकरण करना असम्भव नहीं है, क्योंकि उन्होंने श्रीकृष्णकी प्रकृति (स्वभाव) को प्राप्तकर जगत्-पूज्यता, सच्चिदानन्दरूपता, जगत्-निस्तारक तथा वात्सल्यादि गुण उस गोपवधु शरीरमें ही प्राप्त कर लिये थे। अथवा आकृति शब्दके विपरीत होनेके कारण 'प्रकृति' शब्दका अर्थ अन्तरात्मा समझना होगा, अतएव "श्रीकृष्णकी प्रकृतिको प्राप्त हुई" कहनेका अर्थ है कि वे व्रजगोपियाँ श्रीकृष्णके ध्यानका विषय हुईं थीं। "व्रजगोपियोंकी वियोगिनी अवस्थाकी

गति या पथका निर्धारण करनेमें किसी योगीकी भी क्षमता नहीं है, क्योंकि ब्रह्मादि योगेश्वरजनोंके लिए भी जिन परमपुरुष श्रीकृष्णका ध्यान दुर्लभ है, वे श्रीकृष्ण भी उन व्रजगोपियोंका ध्यान करते हैं।" इस प्रकार ब्रह्मादि ईश्वरों, सनकादि आत्मारामगणों, नारदादि भक्तों तथा लक्ष्मी आदि प्रियतमाओंकी महा–आराधनाओंके भी परम साध्य रूपमें भगवान् श्रीकृष्ण सुदुर्लभ हैं। उन श्रीकृष्णने ही अपूर्व अर्थात् रास–विलासादिरूप विचित्र आचरणों द्वारा गोपियोंको वशीभूत करनेके लिए सम्यक् रूपमें उनकी पूजा की थी तथा उन गोपियोंने भी वैसे परम प्रेमकी धारामें उन्मादित होकर योग्यता–अयोग्यताका कुछ भी विचार न कर श्रीकृष्णमें तन्मयताहेतु उनकी लीलाओंका अनुकरण किया था। इस प्रकार उन व्रजगोपियोंने श्रीकृष्णके चित्तपर भी आक्रमण किया था, अर्थात् श्रीकृष्णने व्रजसुन्द्रियोंकी अद्भुत प्रेम महिमाकी चिन्ता करते–करते उनके स्वभावको प्राप्त किया था। अतः उन व्रजसुन्दरियोंकी समस्त प्रकारसे सर्वाधिक परम महिमा स्वतः ही सिद्ध होती है। ऐसी व्रजगोपियोंकी प्रकृति अर्थात् स्वभावको प्राप्त करनेके कारण भगवान् श्रीकृष्णका भी अत्यधिक परमोत्कर्ष सुसिद्ध होता है। अतएव ये श्रीगोपीनाथ ही मेरे अन्तकालमें मेरे समक्ष साक्षात् वर्त्तमान रहें। इस प्रकारसे श्रीभीष्मदेवने आनन्दपूर्वक अपने अत्यधिक सौभाग्यका वर्णनकर अन्तकालमें जो स्तव किया था, वह उचित ही है॥२०१॥

तास्तथैवाहुरन्योन्यं　कौरवेन्द्रपुर–स्त्रियः।
पश्यन्त्यो भगवन्तं तं गच्छन्तं स्व–पुरं ततः॥२०२॥

श्लोकानुवाद—भीष्मकी तो बात ही क्या, ज्ञानहीन हस्तिनापुरकी स्त्रियोंने भी श्रीभगवान्‌को हस्तिनापुरसे द्वारका जाते समय देखकर परस्पर इस प्रकार कहा था—॥२०२॥

दिग्दर्शिनी टीका—अहो श्रीभगवन्महिमविशेषवित्तमस्य भीष्मस्य तथा स्तवनं सम्भवतु नाम, स्वभावतो ज्ञानविशेषहीना योषितोऽपि तथैवावर्णयन्नित्याह—ता इति सुप्रसिद्धाः, सर्वश्रुतिमनोहरसंजल्पकारित्वात्। तथा च प्रथमस्कन्धे (श्रीमद्भा. १/१०/२०)—"*अन्योऽन्यमासीत् संजल्प उत्तमश्लोकचेतसाम्। कौरवेन्द्रपुरस्त्रीणां*

सर्वश्रुतिमनोहरः॥" इति। व्याख्यातञ्च श्रीधरस्वामिपादैः—"सर्वासां श्रुतीनां मनोहरः; उपनिषदोऽपि मूर्तिमत्यः सत्यस्तं संजल्पमभ्यनन्दन्नित्यर्थः। कौरवेन्द्रस्य श्रीयुधिष्ठिरस्य पुरस्त्रियः, अतस्तत्सम्बन्धेन तासामपि तथोक्तिर्घटत एवेति भावः" इति। किञ्च, ततः कौरवेन्द्रपुरात् स्वपुरं द्वारकां गच्छन्तं तमद्भुतप्रभावं भगवन्तं श्रीकृष्णदेवं पश्यन्त्यः॥२०२॥

भावानुवाद—अहो! श्रीभगवान्‌की महिमाको विशेष रूपसे जाननेवाले भीष्म द्वारा उस प्रकारका स्तव करना सम्भव है, किन्तु स्वभावतः ज्ञानहीन स्त्रियोंने भी उसी प्रकारसे ही वर्णन किया है—इसे बतलानेके लिए श्रीनारद 'ता' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। हस्तिनापुरकी स्त्रियोंकी वह सुप्रसिद्ध सर्व-श्रुति-मनोहर जल्पना प्रथमस्कन्धमें वर्णित हुई है, यथा श्रीमद्भागवत (१/१०/२०)—"कौरवोंकी स्त्रियाँ श्रीकृष्णमें अनुरक्त होकर परस्पर श्रीकृष्णके विषयमें ऐसा कथोपकथन करने लगीं, जिसे सुननेसे ऐसा लगता मानों समस्त श्रुतियाँ मूर्त्तिमान होकर उनके वचनोंके श्रवणसे आनन्दित हो रही हैं।" श्रीधरस्वामीपादने इस श्लोककी व्याख्यामें कहा है—हस्तिनापुरकी स्त्रियोंका परस्पर कथोपकथन समस्त श्रुतियोंसे भी मनोहर था, अर्थात् उपनिषदोंने भी मूर्त्तिमान होकर उनके संजल्पका अभिनन्दन (श्रवण) किया था। इसका कारण था कि कौरव राजाओंकी पुरस्त्रियाँ श्रीयुधिष्ठिरके पुर अर्थात् हस्तिनापुरकी स्त्रियाँ थीं, अतः श्रीयुधिष्ठिरके सम्बन्धसे उनमें भी इस प्रकारके वचन कहनेका सामर्थ्य संघटित हो सकता है। तदुपरान्त श्रीकृष्णके कौरवेन्द्रपुर अर्थात् श्रीयुधिष्ठिरकी हस्तिनापुरीसे द्वारका जाते समय पुरनारियोंने उनके अद्भुत प्रभावका दर्शन किया था, अतएव उन्होंने परस्पर ऐसा वर्णन किया है॥२०२॥

"नूनं व्रत-स्नान-हुतादिनेश्वरः,
समर्चितो ह्यस्य गृहीतपाणिभिः।
पिबन्ति याः सख्यधरामृतं मुहु-,
र्व्रजस्त्रियः सम्मुमुहुर्यदाशयाः॥"२०३॥

श्लोकानुवाद—"हे सखि! श्रीकृष्णने जिनसे विवाह किया है, उन रुक्मिणी आदि रानियोंने पहले जन्ममें व्रत, तीर्थ, स्नान तथा यज्ञ

आदिसे निश्चय ही श्रीभगवान्‌की अर्चनाकी होगी, जिसके फलस्वरूप वे बार-बार उनका अधरामृत पान करती हैं। परन्तु उन व्रजरमणियोंके प्रेमका तो कहना ही क्या है, जो उस अधरामृतके स्मरणमात्रसे ही मूर्च्छित हो जाती हैं॥"२०३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव वक्तुमत्रत्यं तासां संजल्पश्लोकमेवाह—नूनमिति (श्रीमद्भा. १/१०/२८)। हे सखि! अस्य श्रीकृष्णस्य गृहीतपाणिभिः पत्नीभिरेव नूनमीश्वरोऽयमेव जन्मान्तरेषु समर्चितः। यस्मिन्नधरामृते आशयश्चित्तं यासां ताः। एवं तादृशीनां कुलनारीणां परमसाध्वीगणमूर्धन्यानामपि चित्तमोहनेनाधरामृतस्य परममनोहरत्वमुक्तम्। एवं श्रीकृष्णस्य परममहिमा सिद्धः। तथा श्रीरुक्मिणीप्रभृतिभ्योऽपि श्रीगोपीनां प्रेमातिशयवत्तया महानुत्कर्षः सम्पन्नः। यतस्तास्तत् पातुमपि शक्नुवन्ति। एताश्च स्मरणमात्रेणैव परमप्रेमभरमोहिता भवन्तीति दिक्। यद्यपि श्रीनन्दयशोदादि-सदृशभावेनापि श्रीगोलोको लभ्यते, तथापि प्रायो गोपीसदृशभावेनैव तत्र सर्वथा मनोरथसम्पूर्त्या फलविशेषः सम्पद्यत इति। गोपीनामुत्कर्षविशेषोऽत्र वर्णितः। ईदृशार्थोऽपि तृतीयस्कन्धद्वितीयाध्यायानुवर्त्ती (श्रीमद्भा. ३/२/१४)—*"यस्यानुरागप्लुतहासरास-लीलावलोक-प्रतिलब्ध-मानाः। व्रजस्त्रियो दृग्भिरनुप्रवृत्तधियोऽवतस्थुः किल कृत्यशेषाः॥"* इत्येष श्लोकोऽत्र न गीतः। परमभागवतेषु तत्प्रसङ्गस्य दुःसहत्वेन स्मरणायोग्य-त्वात्॥२०३॥

भावानुवाद—उन हस्तिनापुरकी स्त्रियोंके संजल्पका उल्लेख श्रीनारद 'नूनं' इत्यादि भागवतीय (१/१०/२८) श्लोक द्वारा कर रहे हैं। हे सखि! इन श्रीकृष्णकी विवाहिता रानियोंने निश्चय ही जन्म-जन्मान्तरोंमें अनेक प्रकारके व्रत, तीर्थ-स्नान और होमादि द्वारा इन ईश्वरकी भलीभाँति अर्चना की होगी जिसके फलस्वरूप ये बार-बार श्रीकृष्णके अधरामृतका पान करती हैं। केवल इतना ही नहीं, अपितु कुलनारियों अर्थात् परम-साध्वी स्त्रियोंमें सर्वश्रेष्ठ उन व्रजगोपियोंके चित्तको भी मोहन करनेके कारण श्रीकृष्णके उस अधरामृतके परम मनोहर होनेका गुण कथित हुआ है और इससे श्रीकृष्णकी भी परम महिमा सिद्ध हुई है। तथा श्रीरुक्मिणी जैसी महिषियोंसे भी गोपियोंके प्रेमकी अधिकताके कारण उनकी परम महिमा कथित हुई है। महिषियाँ उस अधरामृतको अनायास ही पान कर सकती हैं, किन्तु गोपियाँ उस अधरामृतके स्मरणमात्रसे ही प्रचुर प्रेमके आविर्भावके कारण मोहित हो जाती हैं।

यद्यपि श्रीनन्द-यशोदादिके समान भावके द्वारा भी श्रीगोलोक प्राप्त किया जाता है, तथापि अधिकांशतः गोपियोंके समान भावके द्वारा ही वहाँ समस्त प्रकारके मनोरथ-सम्पूर्ण करनेवाला विशेष फल प्राप्त होता है। इस प्रकार यहाँ गोपियोंका विशेष उत्कर्ष वर्णित हुआ है। इसका अर्थ श्रीमद्भागवत (३/२/१४) में वर्णित हुआ है—"एक बार उन व्रजगोपियोंने श्रीकृष्णके अनुरागपूर्ण हास्य-परिहास और लीला अवलोकन द्वारा मानिनी होकर उन्हें (श्रीकृष्णको) वहाँसे जानेको कहा। जब वे वहाँसे अन्य स्थानपर जाने लगे, उस समय गोपियोंके नयन और अन्तकरणने भी श्रीकृष्णके साथ ही प्रस्थान किया। तब अपने द्वारा आरम्भ किये गये कार्योंके समाप्त न होनेपर भी वे श्रीकृष्णके प्रति अनुरक्त चित्त होनेके कारण चेष्टा रहित हो गयीं। अर्थात् श्रीकृष्ण उनके प्रति जो मान करते हैं, उसीसे ही वे चित्रपुत्तलिका (छवि) की भाँति हो जाती हैं।" श्रीकृष्णके अप्रकट लीलामें प्रवेश करनेके बाद श्रीउद्धवने श्रीकृष्णके विरहमें अत्यन्त व्याकुल होकर श्रीविदुरको यह श्लोक कहा था, अतः यहाँपर वैसी लीलाका वर्णन करना अनुचित है। इसका कारण है कि परम भागवत-जनोंको उस असहनीय विरह-वेदनाका स्मरण करानेसे उनमें वैसी विरह-वेदना उदित हो सकती है॥२०३॥

श्रीगोपकुमार उवाच—

एवं वदन् स भगवान् परिरब्धवान् मां
प्रेमाब्धिकम्पपुलकाश्रुतरङ्गमग्नः ।
दृष्ट्वा रदैस्तदनुवर्णनलोलजिह्वां
नृत्यन् विचित्रमगमद्विविधामवस्थाम्॥२०४॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमारने कहा—हे ब्रह्मन्! इन सब बातोंको कहते-कहते भगवान् श्रीनारदने मेरा आलिङ्गन किया और अश्रु-कम्प-पुलकादि रूप प्रेमसागरकी तरङ्गोंसे परिव्याप्त हो गये। तत्पश्चात् उन्होंने गोपीप्रेमकी महिमा पूर्ण रूपसे वर्णन करनेमें चञ्चल हो रही अपनी जिह्वाको दाँतों द्वारा दबा लिया तथा नृत्य करते-करते विचित्र भाव-दशाको प्राप्त हो गये॥२०४॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं बहुशो वर्त्तमानं तासां श्रीगोपिकानां माहात्म्यं प्रेममोहशङ्कादिना न विस्तरेण वर्णयामासेत्याह—एवमिति। स भगवान् श्रीनारदः प्रेमाब्धेः कम्पादिरूपेषु तरङ्गेषु मग्नः, तस्य गोपीमहोत्कर्षभरस्यानुवर्णने लोलां स्वजिह्वां रदैर्दन्तैः दष्ट्वा विचित्रं यथा स्यात्तथा नृत्यन्, विविधान् विलुठन कूर्दनाक्रोशन रोदनोन्मादादिरूपां दशां प्राप्तः॥२०४॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे श्रीगोपियोंकी अनन्त महिमा वर्त्तमान रहनेपर भी प्रेममें मूर्च्छित हो जानेकी आशङ्कासे श्रीनारद द्वारा उसका विस्तारसे वर्णन नहीं हुआ है—इसे बतलानेके लिए श्रीगोपकुमार 'एव' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। इन सब बातोंको कहते-कहते भगवान् श्रीनारद प्रेमसमुद्रकी तरङ्गरूप अश्रु-कम्प-पुलकादि सात्त्विक विकारोंमें निमग्न हो गये। तदुपरान्त गोपीप्रेमकी परम महिमाका निरन्तर वर्णन करनेमें लोभी जिह्वाको दाँतोंतले दबाकर विचित्र प्रकारसे नृत्य करने लगे, अर्थात् विविध प्रकारसे कूदने, लोटने, चिल्लाने, रोदन और उन्मादादि रूप दशाको प्राप्त हो गये॥२०४॥

क्षणात् स्वास्थ्यमिवासाद्य दृष्ट्वा मां दीनमानसम्।
सान्त्वयन् श्लक्ष्णया वाचा मुनीन्द्रः पुनराह सः॥२०५॥

श्लोकानुवाद—क्षणकालके उपरान्त जब वे मुनिश्रेष्ठ स्वस्थ हुए तो मुझे दुःखित देखकर मधुर वचनोंसे सान्त्वना प्रदान करते हुए पुनः कहने लगे—॥२०५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदीयोन्मादादि-दर्शनान्निजेष्टसिद्धिविघ्नशङ्कया दीनं मानसं यस्य तं मां दृष्ट्वा श्लक्ष्णया मधुरया वाचा सान्त्वयन् आश्वासयन्; स मुनीन्द्रः श्रीनारदः॥२०५॥

भावानुवाद—उनकी ऐसी उन्माद आदि दशाको देखकर मैं अपनी इष्ट-सिद्धिके विषयमें विघ्नकी आशङ्कासे दुःखित हो गया। किन्तु क्षणकालके बाद ही वे मुनिश्रेष्ठ स्वस्थ हो गये और मुझे दुःखित देखकर मधुर वचनोंसे सान्त्वना देते हुए पुनः कहने लगे—॥२०५॥

श्रीनारद उवाच—

इदन्तु वृत्तं सर्वत्र गोपनीयं सदा स ताम्।
विशेषतो　　महैश्वर्यप्राकट्यभरभूमिषु॥२०६॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारदने कहा—हे गोपकुमार! मैने अब तक जो कुछ वर्णन किया है, सत्पुरुष इसे सदा सर्वत्र गोपनीय रखते हैं। विशेषतः जिन स्थानोंपर महान ऐश्वर्यका प्रकाश हो, वहाँ इस विषयको अति गुप्त रखना चाहिये॥२०६॥

दिग्दर्शिनी टीका—यन्मया ते कथितं तत् सर्वमस्थाने त्वया कदापि न प्रकाशनीयमित्यभिप्रायेणाह—इदन्त्विति। श्रीगोलोकोद्देशनमारभ्य श्रीगोपिकामाहात्म्यपर्यन्तं मया कथितं यत् महैश्वर्यभरस्य परमैश्वर्यातिशयस्य प्राकट्यं प्रकाशस्तस्य भूमिषु स्थानेषु विशेषतो गोपनीयम्॥२०६॥

भावानुवाद—मैंने अभी तक तुम्हें जो कुछ वर्णन किया है, उसे कभी भी किसी स्थानपर प्रकाशित मत करना—इसी अभिप्रायसे श्रीनारद 'इदन्तु' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। श्रीगोलोक उद्देशक माहात्म्यसे आरम्भकर श्रीगोपियोंकी महिमा तक मैंने जो कुछ भी वर्णन किया है उस समस्त विषयको वहाँ विशेष रूपसे गोपनीय रखना जिस स्थानपर श्रीभगवान्‌का अत्यधिक महा-ऐश्वर्य प्रकटित हो॥२०६॥

अतस्तदानीं वैकुण्ठे न मया ते प्रकाशितम्।
परं त्वद्भावमाधुर्यलोलितोऽत्रावदं कियत्॥२०७॥

श्लोकानुवाद—इसीलिए मैंने पहले वैकुण्ठमें इस रहस्यको व्यक्त नहीं किया, केवल तुम्हारी भाव-माधुरी द्वारा चञ्चल होकर यहाँ इस विषयका किञ्चित् वर्णन किया है॥२०७॥

दिग्दर्शिनी टीका—यदा त्वयि ते ते बहवः सिद्धान्ता निरूपिताः, तदानीं परं केवलं तव भावस्य शीलस्य भगवद्विषयकप्रेम्णो वा माधुर्येण लोलितः; अत्र द्वारकायामुद्धवगृहे॥२०७॥

भावानुवाद—यद्यपि मैंने इससे पूर्व तुम्हें बहुतसे सिद्धान्त बतलाए हैं, किन्तु इस रहस्यको व्यक्त नहीं किया है। अभी केवल तुम्हारी भावचेष्टा अर्थात् श्रीकृष्णके प्रति तुम्हारे प्रेम या माधुर्यसे चञ्चल होकर इस विषयका किञ्चित् वर्णन किया है। तथा इस द्वारकामें श्रीउद्धवका यह घर इस प्रकारके गोपनीय वर्णनके लिए उपयुक्त अर्थात् परम निर्जन स्थान भी है॥२०७॥

स्वस्योद्धवस्य तेऽप्येष कृत्वाहं शपथं ब्रुवे।
दुःसाध्यं तत्पदं ह्यत्र तत्साधनमपि ध्रुवम्॥२०८॥

श्लोकानुवाद—हे गोपकुमार! मैं अपनी, श्रीउद्धवकी और तुम्हारी शपथ लेकर कहता हूँ कि इस द्वारकपुरीमें रहकर गोलोककी प्राप्ति दुर्लभ है तथा यहाँ उसके लिए साधन करना भी दुःसाध्य है—इसे ध्रुव सत्य जानो॥२०८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तर्ह्यधुना तल्लोकप्राप्त्युपायमुपदिशेति चेत्तत्राह—स्वस्येति। अत्रेति मर्त्यलोकवर्त्ति-श्रीमथुराव्रजभूमावेव तत्सिद्धिः स्यादिति गूढ़ोऽभिप्रायः॥२०८॥

भावानुवाद—यदि गोपकुमार कहें कि अब मुझे उस गोलोकको प्राप्त करनेका उपाय उपदेश करें, इसीकी अपेक्षामें श्रीनारद 'स्वस्य' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। इस वैकुण्ठ स्थित द्वारकापुरीमें रहकर गोलोकको प्राप्त करना दुर्लभ होगा तथा यहाँ उसका साधन या उपाय करना भी उसी प्रकार दुःसाध्य होगा। अतएव मर्त्यलोकके अन्तर्गत श्रीमथुरा-व्रजभूमिमें गोलोक प्राप्तिके साधनकी सिद्धि सहज होती है। यही श्रीनारदका गूढ़ अभिप्राय है॥२०८॥

किन्तूपदेशं हितमेकमेतं, मत्तः श्रृणु श्रीपुरुषोत्तमाख्यम्।
क्षेत्रं तदत्रापि विभात्यदूरे, पूर्वं त्वया यद्भुवि दृष्टमस्ति॥२०९॥

श्लोकानुवाद—इस विषयमें मेरे एक हितकारी उपदेशको सुनो—इस द्वारका पुरीसे थोड़ी ही दूरीपर श्रीपुरुषोत्तमक्षेत्र विराजमान है, जिसका तुमने पहले पृथ्वीपर भी दर्शन किया था॥२०९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथापि तवार्त्तिभरात् किञ्चिदुपदिशामीत्याह-किन्त्विति। कोऽसौ? तमाह—श्रीपुरुषोत्तमेति। यत्त्वया पूर्वं भुवि पृथिव्यां दृष्टमस्ति, तत्पुरुषोत्तमाख्यं श्रीक्षेत्रम्। अत्र श्रीवैकुण्ठलोकेऽप्यदूरे विभाति। एवं मर्त्यलोकवर्त्ति-तत्क्षेत्रस्य श्रीवैकुण्ठवर्त्तिना तेनैव साम्यमुक्तम्॥२०९॥

भावानुवाद—हे गोपकुमार! तथापि तुम्हारे दुःखको देखकर कुछ हितकर उपदेश दे रहा हूँ—इसी लिए श्रीनारद 'किन्तु' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। इस वैकुण्ठलोकके निकट ही पुरुषोत्तम नामक श्रीक्षेत्र विराजित है, जिसके तुमने पहले पृथ्वीपर दर्शन किये थे। इस प्रकार

भूमण्डलपर स्थित श्रीक्षेत्रकी वैकुण्ठलोकमें स्थित श्रीक्षेत्रसे समानता कथित हुई है॥२०९॥

तस्मिन् सुभद्रा-बलराम-संयुत-,
स्तं वै विनोदं पुरुषोत्तमो भजेत्।
चक्रे स गोवर्धनवृन्दकाटवी-,
कलिन्दजा-तीरभुवि स्वयं हि यम्॥२१०॥

श्लोकानुवाद—वहाँ भगवान् श्रीजगन्नाथ, श्रीबलराम और श्रीसुभद्राके साथ विराजित होकर उसी रूपमें आनन्दपूर्ण लीलाओंको करते हैं जैसी लीलाएँ भूमण्डल स्थित श्रीक्षेत्रमें वर्त्तमान हैं। वे स्वयं उन समस्त लीलाओंको भी वहाँ प्रकट करते हैं, जो उन्होंने श्रीगोवर्द्धन, श्रीवृन्दावन और श्रीयमुनाके तटपर की थीं॥२१०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्मिन् क्षेत्रे भजेत् सदा प्रीत्याचरति। स पुरुषोत्तमोऽयं विनोदं गोवर्धनाद्रिव्रजभूमौ स्वयमेव चक्रे। स्वयमिति श्रीनन्दनन्दनेन सह तस्याभेदाभिप्रायेण। अतस्तत्तद्विनोदादिसंयुक्त-निजेष्टदेव-सन्दर्शनं तव तत्रैव सम्पत्स्यत इति भावः॥२१०॥

भावानुवाद—भगवान् श्रीजगन्नाथ, सुभद्रा और श्रीबलरामके साथ पृथ्वीलोक स्थित श्रीक्षेत्रमें निरन्तर जिस रूपमें प्रीतिपूर्वक आचरण करते हैं, यहाँ भी उसी रूपमें प्रीतिपूर्ण आचरण करते हैं। विशेषतः वे श्रीपुरुषोत्तम स्वयं माथुर-व्रजभूमिके गोवर्धनादि पर्वतपर जो-जो आनन्दपूर्ण क्रीड़ाएँ करते हैं, यहाँ भी वह समस्त लीलाएँ प्रकट करते हैं। मूल श्लोकमें 'स्वयं' शब्द भगवान् श्रीपुरुषोत्तमके श्रीनन्दनन्दनके साथ अभेदके अभिप्रायसे प्रयोग हुआ है। अतएव उस श्रीपुरुषोत्तम क्षेत्रमें तुम उन समस्त आनन्दमयी क्रीड़ाओंसे युक्त अपने इष्टदेवका सन्दर्शनादि प्राप्त करोगे—यही भाव है॥२१०॥

सर्वावतारैकनिधानरूपस्तत्तच्चरित्राणि च सन्तनोति।
यस्मै च रोचेत यदस्य रूपं, भक्ताय तस्मै खलु दर्शयेत्तत्॥२११॥

श्लोकानुवाद—उस पुरुषोत्तमक्षेत्रमें समस्त अवतारोंके एकमात्र आधारस्वरूप भगवान् श्रीपुरुषोत्तम समस्त अवतारोंकी लीलाओंको प्रकट करते हैं। जो भक्त उनके जिस स्वरूपके दर्शन करनेकी

अभिलाषा करते हैं, वे उस भक्तको उसी स्वरूपका ही दर्शन कराते हैं॥२११॥

दिग्दर्शिनी टीका—विशेषतस्तस्य सर्वावतार-रूपचरितान्यपि सर्वाणि तत्रैकत्रैव त्वया द्रष्टव्यानीत्याह—सर्वेति। सर्वेषामवताराणामेकमद्वितीयं मुख्यं वा निधानं तत्स्वरूपः, यथावसरं तत्तद्रूपप्रकटनात्। अतएव तस्य तस्यावतार-चरित्राणि च विस्तारयति। ननु मदनगोपालदेवेन हृतचित्ताय मे तं विना अन्यन्न किमपि रोचते। श्रीपुरुषोत्तमस्य च रूपं ततोऽन्यादृशम्। कुतो ममाभीष्टसिद्धिः स्यात्तत्राह—यस्मादिति। निजभक्तिविशेषेण स त्वया निजेष्टदेवरूप एव द्रष्टव्य इति भावः॥२११॥

भावानुवाद—विशेषतः भगवान्के समस्त अवतारोंके रूप और चरित्रादि सभी कुछ तुम उस स्थानपर एक साथ देख सकोगे—इसे कहनेके लिए श्रीनारद 'सर्व' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। वे श्रीपुरुषोत्तम भगवान् समस्त अवतारोंके एकमात्र मुख्य आधारस्वरूप होनेके कारण यथासमय समस्त अवतारोंके ही रूप प्रकट करते हैं। तथा उन-उन अवतारोंके चरित्रादिका भी विस्तार करते हैं।

यदि गोपकुमार आपत्ति करें कि श्रीमदनगोपालदेवने ही मेरे चित्तका हरण किया है, अतः उस मूर्त्तिके अलावा अन्यमूर्त्तिके दर्शनमें मेरा आग्रह नहीं है। विशेषतः श्रीपुरुषोत्तमका रूप भी मेरे इष्टके रूपसे भिन्न है, अतः मेरा अभीष्ट किस प्रकार सिद्ध होगा? इसके उत्तरमें श्रीनारद 'यस्मै' इत्यादि पद कह रहे हैं। जो भक्त उनके जिस रूपके दर्शन करनेकी अभिलाषा करते हैं, वे भी उस भक्तको उसी रूपका ही दर्शन कराते हैं। अतएव हे गोपकुमार! तुम अपनी विशेष भक्तिके द्वारा ही उनमें अपने इष्टदेवके रूपका दर्शन करोगे॥२११॥

श्रीकृष्णदेवस्य सदा प्रियं तत्, क्षेत्रं यथा श्रीमथुरा तथैव।
तत्पारमैश्वर्य-भरप्रकाश-लोकानुसारि-व्यवहाररम्यम्॥२१२॥

श्लोकानुवाद—वह पुरुषोत्तमक्षेत्र श्रीकृष्णदेवको मथुरापुरीके समान सदा प्रिय है, यद्यपि वहाँपर परम ऐश्वर्य प्रकाशित रहता है, तथापि लोक व्यवहारके अनुसार उसे श्रीमथुराकी भाँति ही रमणीय जानो॥२१२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तथापि तस्य परमप्रियतमायां तस्यां व्रजभूमावेव तथा द्रष्टुमिच्छामि तत्राह—श्रीकृष्णेति। तत् श्रीपुरुषोत्तमाख्यम्। कुतः? तस्य श्रीकृष्णदेवस्य

पारमैश्वर्यभरस्तस्य प्रकाशः प्राकट्यं तेन। तथा च शिवपुराणे—"*आस्तेऽनन्तोऽव्ययो विष्णुः पुराणपुरुषोत्तमः। मुक्तिं ददाति यो देवः सप्तधा भक्तवत्सलः॥ स्मरणाद् भक्षणाद्ध्यानात्तथा नामानुकीर्त्तनात्। क्षेत्रे वासादसुत्यागाद्दर्शनाच्च यथा तथा॥*" इति। लोकानुसारिव्यवहारेण च रम्यं मनोरमम्। तथा च स्कान्दे—"*यस्मादर्थाज्जगदिदं सम्भूतं सचराचरम्। सोऽर्थो दारुस्वरूपेण क्षेत्रे जीव इव स्थितः॥*" इति। अतो मथुरा-व्रजभूमौ यथा स्वाच्छन्द्येनासौ स्वीयैः सह विहरति तथात्रापीति त्वन्मनोरथ-सिद्धिर्नितरां भविष्यतीति भावः॥२१२॥

भावानुवाद—यदि गोपकुमारको आपत्ति हो कि तथापि श्रीकृष्णकी परम प्रियतम व्रजभूमिमें ही उन्हें अपने अभीष्ट रूपमें दर्शन करनेकी इच्छा करता हूँ—इसके समाधानमें श्रीनारद 'श्रीकृष्ण' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। श्रीकृष्णको श्रीमथुरा जिस प्रकार प्रिय है, वह श्रीपुरुषोत्तम नामक क्षेत्र भी उसी प्रकार प्रिय है। किसलिए? श्रीकृष्णदेवका परम ऐश्वर्य प्रकाशित रहनेपर भी लोक-व्यवहार (लौकिक सद्बन्धुवत व्यवहार) के कारण जिस प्रकार श्रीव्रजभूमि मनोरम है, वह क्षेत्र भी परम ऐश्वर्यके प्रकट रहनेपर भी लौकिक व्यवहारके कारण मनोरम है। यथा, श्रीशिवपुराणमें उक्त है—"उस क्षेत्रमें अनन्त, अव्यय, पुराण, पुरुषोत्तम श्रीविष्णु साक्षात् विराजित हैं तथा वे भक्तवत्सल भगवान् सात प्रकारमेंसे जिस किसी प्रकारसे भी भजन करनेपर मुक्ति प्रदान करते हैं। सात प्रकारके भजन हैं—स्मरण, महाप्रसाद भोजन (सेवन), ध्यान, नामकीर्त्तन, क्षेत्रमें वास, क्षेत्रमें देहत्याग और प्रभुका दर्शन।" स्कन्धपुराणमें भी उक्त है—"जिनके लिए चर और अचर जगत् प्रादुर्भूत हुआ है, वे परमपुरुष इस क्षेत्रमें दारुविग्रह (लकड़ीकी मूर्त्ति) के रूपमें लौकिक व्यवहारकी भाँति लीला कर रहे हैं।" हे गोपकुमार! मथुरा-व्रजभूमिमें श्रीकृष्ण जिस प्रकार अपने परिकरोंके साथ स्वच्छन्द विहार करते हैं, वहाँ भी उसी प्रकारसे निरन्तर विहार करते हैं, अतएव वहाँ तम्हारे मनोरथकी सिद्धि अवश्य होगी॥२१२॥

गतस्तत्र न सन्तृप्येस्तस्य दर्शनतोऽपि चेत्।
तदा तत्रानुतिष्ठेस्त्वं निजेष्टप्राप्तिसाधनम्॥२१३॥

श्लोकानुवाद—हे गोपकुमार! तुम उस पुरुषोत्तमक्षेत्रमें जाकर श्रीजगन्नाथके दर्शनका सुख प्राप्त करो और यदि उससे भी तुम्हें तृप्ति न हो, तो भी तुम उसी स्थानपर रहकर ही अपने इष्टदेवको प्राप्त करनेका साधन करो॥२१३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य पुरुषोत्तमस्य भगवतो दर्शनादपि चेद् यदि न तृप्येः मनःपूर्त्त्या सन्तोषं न त्वं लभेथाः, तदा निजेष्टस्य प्राप्तेः साधनमुपायं तत्र क्षेत्रे त्वं सम्पादयेः, माथुरव्रजभूमितुल्यत्वात्॥२१३॥

भावानुवाद—उस पुरुषोत्तमक्षेत्रमें जाकर भगवान् श्रीपुरुषोत्तमदेवके दर्शनसे भी यदि तुम्हारे मनमें तृप्ति या सन्तोष प्राप्त न हो, तो भी उस क्षेत्रमें वास करनेसे ही तुम्हारे द्वारा अपने इष्ट प्राप्तिका साधन (उपाय) साधित होगा, क्योंकि वह क्षेत्र माथुर-व्रजभूमिके समान है॥२१३॥

तच्च श्रीबल्लवी-प्राणनाथ-पादसरोजयोः।
प्रेमैव तद्व्रजप्रेमसजातीयं न चेतरत्॥२१४॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपीनाथके चरणकमलोंके प्रति व्रजवासी जैसा प्रेम प्रकाशित करते हैं, उस क्षेत्रमें रहकर व्रजवासियोंके उस प्रेमके आनुगत्यको ही अपना एकमात्र साधन जानना। अन्य किसी प्रकारके दूसरे साधनसे वैसा प्रेम प्राप्त नहीं होता है॥२१४॥

दिग्दर्शिनी टीका—साधनमेवोपदिशति—तच्चेत्यादिना तदुपैत्यथापीत्यन्तेन। तत् साधनञ्च प्रेमैव। तस्याश्रयश्च केवलं श्रीगोपीनाथ-चरणारविन्द-द्वयमेवेत्याह—श्रीबल्लवी इति। कीदृशम्? तस्य सुप्रसिद्धस्य श्रीबल्लवी-प्राणनाथस्य वा व्रजः श्रीमथुरागोकुलं तस्य तत्रत्यानामित्यर्थः। प्रेम्णः सजातीयं सदृशं न च इतरत् अन्यादृशम्॥२१४॥

भावानुवाद—अब श्रीनारद उस साधनका उपदेश 'तच्च' इत्यादि श्लोक (२१४) से आरम्भकर 'तदुपैत्यथापि' श्लोक (२३४) तकमें कर रहे हैं। प्रेमको ही साधनके रूपमें जानो। उस प्रेमका आश्रय केवल श्रीगोपीनाथके युगलचरणकमल हैं—इसे बतलानेके लिए 'श्रीबल्लवी' इत्यादि पद कह रहे हैं। वह प्रेम किस प्रकारका है? सुप्रसिद्ध अर्थात् श्रीगोपीनाथके प्रति श्रीमथुरा-गोकुलवासीजन जैसा प्रेम प्रकाशित करते

हैं, वैसा व्रज–सजातीय प्रेम ही तम्हारा साधन है, अन्य किसी प्रकारका प्रेम नहीं॥२१४॥

निदानन्तु परं प्रेम्णः श्रीकृष्णकरुणा–भरः।
कस्याप्युदेत्यकस्माद्वा कस्यचित् साधनक्रमात्॥२१५॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णकी प्रचुर कृपा ही उस प्रेमको प्राप्त करनेका मुख्य कारण है। किसी–किसी स्थानपर तो वह कृपा अकस्मात् होती है और कोई–कोई उस कृपाको साधन द्वारा क्रमसे प्राप्त करते है॥२१५॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तस्यैव साधनमुपदिशेति चेत्तत्राह—निदानन्त्विति द्वाभ्याम्। प्रेम्णो निदानं मुख्यकारणं केवलं श्रीकृष्णस्य कृपातिशय एव, तच्च कस्यचिज्जनस्य अकस्मात् साधनं विनैव सहसा उदेत् आविर्भवेद्वा, कस्यचिच्च साधनानां क्रमात् पारम्पर्याद्वा उदेत्। एवं प्रकारद्वयेऽपि श्रीकृष्णकरुणाभर एव निदानमित्यर्थः॥२१५॥

भावानुवाद—यदि गोपकुमार कहें कि तो फिर उस प्रेमके साधनका उपदेश करें, इसकी अपेक्षामें श्रीनारद 'निदान' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। उस प्रेमका मुख्य कारण श्रीकृष्णकी अत्यधिक कृपा ही है। यद्यपि किसीके लिए अकस्मात् अर्थात् किसी साधनके बिना भी वह प्रेम सहसा उदित हो जाता है और किसीके लिए साधनके क्रमसे ही उदित होता है, तथापि इन दोनों प्रकारसे उस प्रेमके उदय होनेपर भी दोनों अवस्थाओंमें श्रीकृष्णकी प्रचुर करुणाको ही मुख्य कारणके रूपमें जानो॥२१५॥

यथोदारान्मिलत्यन्नं पक्वं वा पाकसाधनम्।
साधकस्योच्यते शास्त्रगत्यायं साधनक्रमः॥२१६॥

श्लोकानुवाद—जिस प्रकार एक उदार दाता किसी व्यक्तिको तो बना हुआ भोजन दान करता है और दूसरे किसीको चावल, दाल इत्यादि कच्चा सामान ही देता है। साधकके लिए शास्त्रके अनुसार साधनक्रम इसी रूपमें निर्धारित हुआ है॥२१६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु यदि श्रीकृष्णकरुणाभरेणैव सिध्येत्तदा कथं तत्सिद्धौ भेदः स्यादित्याशङ्क्य दृष्टान्तेनोपपादयति—यथेति। उदाराद् वदान्यजनात् अन्नं भक्तादिकं सिद्धं वा कस्यचिन्मिलति उपतिष्ठति, कस्यचिद्वा तस्यान्नस्य साधनं तण्डुलपात्रेन्धनादिकं मिलति। तत्र च यस्मै यथा दातुमुपयुज्यते तस्मै च तथा दीयते तथात्रापीत्यर्थः। तत्र तु साधकस्य श्रीकृष्णकृपाभर-प्राप्य-साधनस्य, अयं निर्दिश्यमानसाधनक्रमः शास्त्रानुसारेण मयोच्यते॥२१६॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि जब दोनों क्षेत्रोंमें श्रीकृष्णकी करुणाकी ही अपेक्षा होती है, तब कृपा-सिद्ध और साधन-सिद्ध रूप भेद किसलिए दृष्ट होता है? इस आशङ्काका निराकरण श्रीनारद 'यथो' इत्यादि श्लोकमें दृष्टान्त द्वारा कर रहे हैं। जिस प्रकार किसी उदार व्यक्तिसे कोई भूखा व्यक्ति बना-बनाया भोजन प्राप्त करता है और दूसरा कोई भूखा व्यक्ति कच्चा चावल, दाल, भोजन बनानेके बर्तन और ईंधनके लिए लकड़ी आदि प्राप्तकर स्वयं भोजन तैयार करता है। जो जैसे दानके उपयुक्त है, दाता द्वारा उसको वैसा ही द्रव्यादि वितरण किया जाता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी पात्रपर विचारकर उसकी पात्रताके अनुसार ही साधन प्रदान करते हैं। अतएव समस्त साधक श्रीकृष्णकी कृपासे ही साधन प्राप्त करते हैं। अब मैं शास्त्रानुसार साधनका क्रम कहूँगा॥२१६॥

तत्तु लौकिकसद्बन्धुबुद्ध्या प्रेमभयादिजम्।
विघ्नं निरस्य तद्गोपगोपीदास्येप्सयार्जयेत्॥२१७॥

श्लोकानुवाद—व्रजगोप-गोपियोंके दास्यकी इच्छा करते हुए श्रीकृष्णको लौकिक सद्बन्धुकी तरह मानकर, अर्थात् अपने लोभके अनुसार उन्हें पति या पुत्रादि जाननेसे उत्पन्न होनेवाले भयरूप विघ्नको दूरकर, उनके चरणकमलोंका आश्रय लेकर उस प्रेमको अर्जन करना होगा॥२१७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तमेव वक्तुं प्रथमं साधनप्रकारमाह—तत्त्विति, तत्प्रेम तु तेषां गोपानां गोपीनाञ्च दास्यस्य ईप्सया प्राप्तुमिच्छया अर्जयेत् साधयेत्। एवं दुर्लभतरद्रव्येप्सया परमं सकामत्वं तद्द्रव्यतत्त्वविचारेण च परममहानिष्कामतायामेव पर्यवसानं, निष्कामत्वञ्च परमूह्यम्, भगवद्भक्तिमहोदधौ सर्वविरोधप्रवाहजातलोपापत्तेः;

एतच्च प्रागुद्दिष्टमेवास्ति। किञ्च, तत्पादसरोजयोर्विषययोर्लौकिकी लोकानुसारिणी पतिपुत्रादिरूपा या सती उत्तमा सौहार्दपरा बुद्धिः, सति वा उत्तमे बन्धौ या बुद्धिर्मतिस्तया। यद्वा, लौकिको यः सद्बन्धुस्तस्मिन्निव स एवायमिति वा बुद्ध्या कृत्वा, भयादेर्जायत इति तथा तं विघ्नं निरस्य निर्जित्य। आदि-शब्दात् गौरवाविश्वासलज्जादि, अन्यथा पारमैश्वर्यादिदृष्ट्या भयगौरवाद्युत्पत्त्या प्रेमहान्यापत्तेः, तच्च प्रागुक्तमेव। अतएव पद्मपुराणे भक्तेर्लक्षणमुक्तमिदम्—*"अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसंयुता (सङ्गता)। भक्तिरित्युच्यते भीष्म-प्रह्लादोद्धव-नारदैः॥"* इति॥२१७॥

भावानुवाद—उस प्रेमके सम्बन्धमें बतलानेके लिए श्रीनारद सर्वप्रथम उसकी साधन-रीतिको 'तत्तु' इत्यादि श्लोक द्वारा कह रहे हैं। व्रजगोप-गोपियोंके दास्यको प्राप्त करनेकी इच्छा करके उस प्रेमको प्राप्त करनेका साधन करना होगा। इस प्रकारके दुर्लभतर द्रव्यके प्रति प्रबल लालसाके बिना उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतः उस प्रेमकी प्रबल लालसाके परम-सकामताके रूपमें प्रतीत होनेपर भी उस द्रव्य अर्थात् प्रेमतत्त्वके विचारमें वह लालसा परम निष्कामतामें ही पर्यवसित होती है। अतएव भगवद्भक्ति रूप महासागरमें समस्त प्रकारके प्रवाहोंसे उत्पन्न विरोध विलीन हो जाते हैं। इस विषयमें सिद्धान्त पहले ही निरूपित हुआ है।

तदुपरान्त कह रहे हैं कि उन श्रीनन्दनन्दनके चरणकमलोंसे सम्बन्धित जो लौकिक अर्थात् पति-पुत्रादि रूप बुद्धि है, वही सर्वोत्तम सौहार्द्रमें अनुरक्त बुद्धि है। अथवा लौकिक सम्बन्धसे उदित सद्बन्धु ज्ञान द्वारा अर्थात् पति-पुत्रादि ज्ञान द्वारा भय, गौरव, अविश्वास और लज्जादिसे उत्पन्न विघ्नोंको दूरकर उस प्रेमको प्राप्त करो। अन्यथा परम ऐश्वर्यकी दृष्टिसे भय-गौरवादिके उत्पन्न होनेके कारण प्रेमकी हानि होगी—यह भी पहले कथित हुआ है। अतएव पद्मपुराणमें इस भक्तिका लक्षण इस प्रकारसे उक्त हुआ है—"श्रीकृष्ण केवल मेरे हैं—ऐसी भावनारूपी ममता और उस ममता द्वारा निरन्तर अनुकूल कृष्ण-अनुशीलन ही प्रेम या भक्तिका स्वरूप लक्षण है। इस प्रेमके विषयके अलावा अन्य वस्तुओंके प्रति ममताशून्य होना ही तटस्थ लक्षण है। इसीको श्रीभीष्म, श्रीप्रह्लाद, श्रीउद्धव और श्रीनारदादिने भक्तिकी संज्ञा दी है॥"२१७॥

तद्धि　तत्तद्व्रजक्रीड़ा–ध्यानगानप्रधानया।
भक्त्या सम्पद्यते प्रेष्ठ–नामसंकीर्त्तनोज्ज्वलम्॥२१८॥

श्लोकानुवाद—जिस भक्तिमें व्रजलीलाका ध्यान और गान प्रधान रूपमें विद्यमान है और जो अपने प्रिय नामसंकीर्त्तन द्वारा उज्ज्वलीकृत अर्थात् विभूषित है, उसी भक्तिसे व्रजजातीय प्रेमका उदय होता है॥२१८॥

दिग्दर्शिनी टीका—अधुना साधनमाह—तद्धीति। तासां तासां व्रजक्रीड़ानां भगवद्गोकुललीलानां ध्यानं चिन्तनं गानं संकीर्त्तनं ते प्रधाने मुख्ये यस्यास्तया भक्त्या नवप्रकारया प्रेम सम्पद्यते सुसिध्यति। तत्रैव विशेषमेकमाह—प्रेष्ठस्य निजेष्टतमदेवस्य, प्रेष्ठानां वा निजप्रियतमानां भगवन्नाम्नां संकीर्त्तनेन उज्ज्वलं प्रकाशमानं शुद्धं वा। गानेत्युक्त्वा नामसंकीर्त्तने प्राप्तेऽपि निजप्रियतम–नामसंकीर्त्तनस्य प्रेमान्तरङ्गतरसाधनत्वेन पुनर्विशेषेण निर्देशः। किंवा, तत्सम्पत्तिलक्षणज्ञानाय॥२१८॥

भावानुवाद—अब श्रीनारद व्रज–जातीय प्रेमके साधनको 'तद्धि' इत्यादि श्लोक द्वारा बतला रहे हैं। जिस भक्तिमें श्रीनन्दनन्दनकी व्रजक्रीड़ा अर्थात् गोकुललीलाका ध्यान अर्थात् मानसिक चिन्तन तथा गान अर्थात् संकीर्त्तनकी प्रधानता होती है, वैसी नवधा भक्ति द्वारा प्रेम सिद्ध होता है। उसमें भी विशेष रूपसे प्रेष्ठ अर्थात् अपने इष्टदेवके अपनेको प्रियतम लगनेवाले नामोंके संकीर्त्तन द्वारा वह प्रेम उज्ज्वल रूपसे प्रकाशमान अथवा शुद्ध रूपमें उदित होता है। यद्यपि 'गान' कहनेसे नामसंकीर्त्तनका भी बोध हो जाता है, तथापि अपने प्रियतमका नामसंकीर्त्तन प्रेमका अन्तरङ्गतम साधन होनेके कारण नामसंकीर्तनका पुनः विशेष रूपसे उल्लेख किया गया है। अथवा प्रियतमका नामसंकीर्त्तन ही प्रेम–सम्पत्तिका लक्षण होनेके कारण उसे पृथक् रूपमें उल्लेख किया गया है॥२१८॥

तदेकरसलोकस्य सङ्गेऽभिव्यक्ततां स्वतः।
प्रयास्यदपि तद्वस्तु गोपनीयं प्रयत्नतः॥२१९॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि अपने रसके अनुकूल महाभागवतका सङ्ग होनेसे वह प्रेम स्वयं ही प्रकाशित हो पड़ता है, तथापि उसे यत्नपूर्वक गोपन करना होगा॥२१९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्यैव द्रुतसिद्धावुपायमाह—तदेकेति द्वाभ्याम्। तस्मिन् वस्तुन्येवैकस्मिन् रसः प्रीतिविशेषो यस्य लोकस्य तस्य सङ्गे तत् प्रेमाख्यं वस्तु स्वतः परमभागवतोत्तमसङ्गस्वभावादभिव्यक्ततां प्रकाशं प्रयास्यत् प्रकर्षेण गमिष्यदपि प्रयत्नतो गोपनीयम्। तदुक्तं—*"गोपयेन्मातृजारवत्"* इति। न चात्र मन्तव्यम्—भक्तवरेषु निजप्रतिष्ठार्थं तथा स्यादिति। यतः प्रियतमस्य कस्यापि वियोगे सति तच्छोकदुःखं कालेनाच्छन्नमपि तदिष्टजनदर्शनतः पुनः प्रादुर्भवद्वर्धत इति लोकेषु दृश्यते। अतएववोक्तं स्वत इति। प्रयास्यदिति भविष्यन्निर्देशेनाभिव्यक्तिदशायाः प्रागेव सम्वरणीयमित्युद्दिष्टम्, अभिव्यक्तिं प्राप्तस्य स्वतस्तस्य सम्वरणाशक्तेः॥२१९॥

भावानुवाद—प्रेमके साधनके सम्बन्धमें विशेष विचार कहकर अब श्रीनारद प्रेम-सम्पत्तिके साधनमें शीघ्र सिद्धिका उपाय 'तदेक' इत्यादि दो श्लोकोंमें कह रहे हैं। 'तदेकरसलोक' अर्थात् उस वस्तुमें ही जिनकी विशेष प्रीति है, ऐसे प्रेमी व्यक्तिका सङ्ग होनेसे वह प्रेम नामक वस्तु स्वतः ही प्रकाशित हो जाती है। अर्थात् यद्यपि परम भागवतोत्तमके सङ्गके प्रभावसे वह प्रेम स्वभावतः ही प्रकाशित हो पड़ता है, तथापि ऐसे प्रेमके प्रकाशित होनेपर भी उसे प्रयत्न सहित 'मातृजारवत्' अर्थात् माताके उपपतिकी भाँति गोपन करना होगा।

यद्यपि वह प्रेम महाभागवतके सङ्गसे स्वतः ही प्रकाशित हो पड़ता है, तथापि ऐसा मन्तव्य नहीं करना चाहिये कि भक्तवरने अपनी प्रतिष्ठाके लिए ही उसे प्रकट किया है। जिस प्रकार साधारण जगत्में भी देखा जाता है कि किसी प्रियतमका वियोग होनेपर उसका शोक-दुःख कुछ कालके बीत जानेपर ढका रहता है, किन्तु उस प्रियतम व्यक्तिके किसी प्रियजनको देखनेमात्रसे ही पुनः वह शोक उदित होकर वर्द्धित होता है। अतएव प्रेमकी गति भी ऐसी ही जाननी चाहिए अर्थात् प्रेम भी इसी प्रकारसे स्वतः उदित होता है। मूल श्लोकके 'प्रयास्यद्' पद द्वारा भविष्यत निर्देश सूचित होता है कि प्रेमकी अभिव्यक्तिके पूर्व ही उसे छिपानेकी चेष्टा करनी चाहिये, क्योंकि प्रेम स्वतन्त्र वस्तु है तथा अभिव्यक्त होनेके बाद उसे छिपाया नहीं जा सकता है॥२१९॥

तद्वै तस्य प्रियक्रीड़ावनभूमौ सदा रहः।
निवसंस्तनुयादेवं सम्पद्येताचिराद्ध्रुवम्॥२२०॥

श्लोकानुवाद—इसीलिए श्रीकृष्णकी प्रिय क्रीड़ाभूमि व्रजमें ही सदा निर्जनमें वास करते हुए प्रेमका साधन करना होगा, तभी निश्चित रूपमें अतिशीघ्र ही वह प्रेम प्राप्त होगा॥२२०॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतस्तस्य श्रीकृष्णस्य प्रियकीड़ाया वनभूमौ, तत्रापि रह एकान्ते सदा निवसन् तत् प्रेम तनुयात् साधनानुष्ठानद्वारा विस्तारयेत्; यद्वा, तत्साधनं तनुयात् विस्तारेणानुतिष्ठेत्। एवमुक्तप्रकारेणाचिरात् ध्रुवं निश्चितं सम्पद्यते तद्वस्तु॥२२०॥

भावानुवाद—अतएव श्रीकृष्णकी प्रिय क्रीड़ाभूमि अर्थात् व्रजवनमें वास करनेपर भी एकान्त (निर्जन) में सदा वासकर उस प्रेमकी प्राप्तिका साधन अर्थात् अपने प्रियतमका नामसंकीर्त्तन करना होगा। इसके फलस्वरूप वह प्रेम विस्तारित होगा तथा निश्चित रूपमें अतिशीघ्र ही उस प्रेमकी प्राप्ति होगी॥२२०॥

तत्कर्मज्ञानयोगादिसाधनाद्दूरतः स्थितम्।
सर्वत्र नैरपेक्ष्येण भूषितं दैन्यमूलकम्॥२२१॥

श्लोकानुवाद—वह प्रेम कर्म, ज्ञान और योगादि साधनोंसे बहुत दूर रहता है, क्योंकि वह अन्य किसी साधनकी अपेक्षा नहीं रखता है। एकमात्र दैन्य ही उस प्रेमका मूल है॥२२१॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु स्वधर्माचरणादिकं तत्र कर्त्तव्यं न वेत्यत्राह—तदिति। कर्मादिरूपाद् दूरतस्तत् प्रेम स्थितम्। तत्र कर्म स्वधर्माचरणादि, ज्ञानम् आत्मानात्म-विवेकादि, योगोऽष्टाङ्गः समाधिर्वा; आदिशब्देन जपवैराग्यादि। यद्यप्यत्र साधनशब्देन कर्मादीनामपि प्रेम्णः साधनत्वमभिप्रेतं, तथापि भक्त्यारम्भ एव तत्तदुपयोगः। तत्तत्फलरूपायां भक्तौ तु सम्पन्नायां, तत्रापि तत्फले प्रेम्णि प्रादुर्भूते च सति तत्तद् दूरत एव तिष्ठेदिति भावः। यद्वा, कर्मादिना तदलभ्यमित्यर्थः। अतस्तत्तदनादरेण केवलं श्रवणादिभक्तिनिष्ठेनैव भवितव्यमिति भावः। एतच्च प्रागेव द्वितीयाध्यायान्ते भक्तिमाहात्म्यप्रसङ्गे विशेषतो निरूपितमस्ति। उक्तञ्च महद्भिः—*"कायेन दूरे व्रजिनं त्यजन्ती, जपन्तमन्तःकरणे हसन्ती। समाधियोगे च बहिर्भवन्ती, संदृश्यते कापि मुकुन्दभक्तिः॥"* इति। अतएव सर्वत्र देहदैहिकादौ ऐहिकपारलौकिक-साध्य-साधनादौ च नैरपेक्ष्येण औदासीन्येन भूषितम् शोभितम्; कुत्राप्यपेक्षायां सत्यां तस्मिन् शोभा न स्यादिति भावः। किञ्च, दैन्यं मूलं परमावलम्बनं यस्य तत्, बहुव्रीहौ कः॥२२१॥

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि उस प्रेमरूप सम्पत्तिको प्राप्त करनेके लिए स्वधर्म-आचरणादि कर्त्तव्य-कर्मकी आवश्यक्त है या नहीं? इसकी अपेक्षामें श्रीनारद 'तत्' इत्यादि श्लोक द्वारा कह रहे हैं कि वह प्रेम कर्मादि साधनोंसे बहुत दूर रहता है। यहाँ 'कर्म' कहनेका अर्थ है स्वधर्म-आचरणादि; 'ज्ञान' अर्थात् आत्म-अनात्मका विवेक; योग अर्थात् अष्टाङ्गयोग या समाधि तथा 'आदि' शब्द द्वारा जप-वैराग्यादिको समझना होगा। यद्यपि यहाँ 'साधन' शब्द कहनेसे कर्मादिके अनुष्ठानमें भी प्रेमका साधन स्वीकृत हुआ है, तथापि भक्तिके आरम्भमें ही उनका उपयोग है। किन्तु समस्त साधनोंकी फलरूप भक्तिके उदय होनेपर भक्तिके फल प्रेमको उदित करनेके लिए इन समस्त साधनोंका उपयोग नहीं होता है। अथवा कर्मादि द्वारा कभी भी भक्तिकी प्राप्ति नहीं होती है, अतएव उक्त समस्त साधनोंको स्वरूपतः त्यागकर और उन समस्त विषयोंमें आसक्तिरहित होकर केवल श्रवण-कीर्त्तनादिरूप भक्तिनिष्ठा द्वारा ही वह प्रेम प्राप्त होता है। यह विषय पहले अर्थात् द्वितीय अध्यायके अन्तमें भक्ति-माहात्म्यके प्रसङ्गमें विशेष रूपसे निरूपण किया गया है। इसीलिए महत्-जनोंने कहा है—"कर्मका आचरण देखनेसे भक्तिमहादेवी उस स्थानको त्यागकर दूर चली जाती हैं, अधिक क्या, जिन अनुष्ठानोंमें भगवान्के मन्त्र-जपादि करनेका उद्देश्य लाभ-पूजा-प्रतिष्ठा है, उनपर भक्तिदेवी हँसती हैं तथा समाधि योगसे भी बाहर रहती हैं। इस प्रकारसे श्रीकृष्णभक्तिकी अनिर्वचनीयता देखी जाती है।"

अतएव सर्वत्र देह और देह सम्बन्धित विषयोंके आवेश तथा लौकिक और पारलौकिक साध्य-साधनादिके विषयमें निरपेक्ष होकर भक्तिका साधन करो, तभी विशुद्ध भक्ति हृदयमें शोभित (विराजित) होगी। किसी भी अन्य प्रकारके साध्य-साधनकी अपेक्षा रहनेसे उस भक्तिकी शोभा नहीं होती। तथा दैन्य उस भक्तिका मूल अर्थात् परम-अवलम्बन है। अतः सर्वत्र उदासीनतासे भूषित वह दैन्यमूलक भक्ति कर्म-आचरणादि साधनोंसे दूर रहती हैं॥२२१॥

येनासाधारणाशक्ताधमबुद्धिः सदात्मनि।
सर्वोत्कर्षान्वितेऽपि स्याद्बुधैस्तद्दैन्यमिष्यते॥२२२॥

श्लोकानुवाद—पण्डितगण उसे ही दैन्य कहते हैं, जिस भावके चित्तमें उदित होनेसे सर्वश्रेष्ठ गुणोंसे युक्त व्यक्ति भी अपनेको अत्यन्त असमर्थ तथा अधम मानता है॥२२२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु दैन्य-शब्देन दारिद्र्यं वा, परिग्रहत्यागेनाकिञ्चनत्वं वा, निरभिमानत्वादिकं वा। तत्राह—येनेति। असाधारणो जगद्विलक्षणः अशक्तः किञ्चिदपि कर्त्तुमसमर्थः। अधमश्चापकृष्ट इति बुद्धिरात्मनि येन सदा स्यात्। ननु तर्हि आलस्यादिना सत्कर्मत्यागेनासत्कर्मप्रवृत्त्यापि तथा घटेत, तत्राह—सर्वेण उत्कर्षेण सद्गुणादिना अन्वितेऽपि यथायथं विधिनिषेधपालनादिनाप्यहङ्काराभावात् संसारभयाद्यालोचनेन रोदनादिकारण-परमवैयग्र्यं दैन्यमिति भावः॥२२२॥

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि 'दैन्य' शब्द द्वारा दरिद्रता, दान-त्यागरूप अकिञ्चनता अथवा निरभिमानता—इनमेंसे किसको ग्रहण करना होगा? इसकी अपेक्षामें श्रीनारद 'येन' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। जिस चित्तवृत्तिके द्वारा अपने प्रति असाधारण अर्थात् जगत्-विलक्षण सामर्थ्य-हीनता अर्थात् "मैं कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं हूँ" तथा "मैं अधम हूँ"—ऐसी बुद्धि होती है, उसे ही दैन्य कहते हैं। यदि आपत्ति हो कि तब तो आलस्यादिके कारण सत्कर्म त्यागसे असत्कर्ममें प्रवृत्ति हो सकती है? इसके समाधानके लिए कहते हैं कि समस्त सर्वश्रेष्ठ सद्गुणोंसे युक्त होकर भी तथा यथायथ रूपमें शास्त्रके विधि-निषेधको पालन करनेपर भी अहङ्काररहित होना तथा संसार-भयकी आलोचनाकर परम व्याकुलताके साथ रोदन करनेकी वृत्ति या भावको ही पण्डितगण दैन्य कहते हैं॥२२२॥

यया वाचेहया दैन्यं मत्या च स्थैर्यमेति तत्।
तां यत्नेन भजेद्विद्वांस्तद्विरुद्धानि वर्जयेत्॥२२३॥

श्लोकानुवाद—अतएव बुद्धिमान साधकका कर्त्तव्य है कि जिस वचन, चेष्टा तथा मति द्वारा उक्त दैन्य स्थिर रहता है, साधक यत्नपूर्वक वैसा आचरण करें तथा उसके विपरीत आचरणका त्याग करें॥२२३॥

दिग्दर्शिनी टीका—प्रेम्णो दैन्यमूलकत्वादवश्यं यत्नतो दैन्यं रक्षणीयमित्याह—ययेति। ईहया कायव्यापारेणेत्यर्थः, मत्या मनोव्यापारेणेत्यर्थः। तत्तूक्तप्रकारकं दैन्यं स्थिरं

स्यात्। तां वाचमीहां मतिञ्च भजेत् श्रद्धया श्रयेत्। तस्य दैन्यस्य तत्स्थैर्यस्य वा विरुद्धानि वागादीनि यत्नतो वर्जयेत्॥२२३॥

भावानुवाद—प्रेम दैन्यपर आधारित है, अतएव अवश्य ही यत्नसहित दैन्यकी रक्षा करनी चाहिये—इसे बतलानेके लिए श्रीनारद 'यया' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। 'ईहया' अर्थात् जिस प्रकारकी दैहिक चेष्टा द्वारा तथा 'मत्या' अर्थात् जिस प्रकारकी मानसिक चेष्टा द्वारा उक्त दैन्य स्थिर रह सकता है, विद्वान व्यक्ति वैसे वचन और मतिका श्रद्धा सहित भजन अर्थात् अनुशीलन करेंगे तथा उस दैन्यकी स्थिरताके विरुद्ध अर्थात् दैन्य विघातक वचन आदिका यत्न सहित परित्याग करेंगे॥२२३॥

दैन्यन्तु परमं प्रेम्णः परीपाकेण जन्यते।
तासां गोकुलनारीणामिव कृष्ण–वियोगतः॥२२४॥

श्लोकानुवाद—वास्तविक दैन्य प्रेमकी परिपक्व अवस्थामें ही प्रकाशित होता है। वैसा परम दैन्य श्रीकृष्णके विरहमें गोकुलकी स्त्रियोंमें ही प्रकट हुआ था॥२२४॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं पुरुषप्रयत्नसाध्यं लौकिकं दैन्यमुक्त्वा श्रीभगवत्प्रसादजं लोकातीतमप्याह—दैन्यमिति। परममुत्तमन्तु दैन्यं प्रेम्णः भगवद्विषयक–भावविशेषस्य परीपाकेन परमनिष्ठयैव जन्यते प्रादुर्भाव्यते, अन्यथा सामान्येन भगवतः श्रीकृष्णस्य विरहः प्रायः सर्वेष्वेव वर्त्तते, तथापि दैन्यं तादृशं नैवोत्पद्यते, तच्च प्रेमाभावादेव। अतएव तेषां दुःखहानिः सुखावाप्तिश्च कदाचिदपि न स्यादिति दिक्। तु–शब्देनास्यापेक्षयापि पूर्वोक्तदैन्यस्य न्यूनत्वं सूचितम्। तच्च कुतः स्यात्, कीदृशं वेत्यत आह—तासामिति। कृष्णस्य वियोगतः मथुरागमनादिविरहतो हेतोः श्रीराधादीनां यादृशमित्यर्थः। दृष्टान्तेनानेन श्रीकृष्णस्यानुग्रहविशेषतः प्रायस्तन्माधुर्यानुभवादिनैव प्रेमविशेषोदयात्तद्विरहे दैन्यविशेषो जायत इति ध्वनितम्। तत्र च प्रेमतारतम्येन दैन्यस्यापि तादृक्त्वमूह्यम्॥२२४॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे पुरुष अर्थात् अपने प्रयत्न द्वारा साधित लौकिक दैन्यकी बात कहकर अब श्रीनारद श्रीभगवान्‌की कृपासे उत्पन्न इस लोकसे अतीत दैन्यकी बात 'दैन्य' इत्यादि श्लोकमें कह रहे हैं। प्रेम अर्थात् भगवान्‌से सम्बन्धित भावविशेषके परिपक्व होनेपर

ही परम-उत्तम दैन्य परमनिष्ठाके रूपमें उदित होता है। यद्यपि सामान्य रूपमें भगवान् श्रीकृष्णका विरह प्रायः समस्त भक्तोंमें ही कम या अधिक मात्रामें वर्त्तमान रहता है, तथापि व्रजगोपियों जैसे प्रेमके अभावमें परम-उत्तम दैन्य कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकता है। अतएव उन गोपियोंके (विरहरूपी) दुःखका नाश तथा सुखकी प्राप्ति कभी भी नहीं होती है। मूल श्लोकके 'तु' शब्दके द्वारा गोपियोंके दैन्यकी तुलनामें पूर्वोक्त अपने पुरुषार्थ द्वारा साधित दैन्यकी न्यूनता सूचित होती है। यदि कहो कि वह परम-उत्तम दैन्य किस प्रकारका है? इसके उत्तरमें 'तासां' इत्यादि पदों द्वारा कह रहे हैं—श्रीकृष्णके मथुरा जानेके समय श्रीराधा आदि व्रजसुन्दरियोंमें श्रीकृष्णके विरहसे जैसा दैन्य उत्पन्न हुआ था वही परम-उत्तम दैन्य है। इस दृष्टान्त द्वारा समझा जाता है कि श्रीकृष्णके विशेष अनुग्रहसे प्राप्त उनके प्रचुर माधुर्यके अनुभव द्वारा ही विशेष प्रेम उदित होता है तथा उस प्रेमके अनुसार उनके विरहमें विशेष दैन्यका भी उदय होता है। अतः प्रेमके तारतम्यके कारण दैन्यमें भी तारतम्य होता है॥२२४॥

परिपाकेण दैन्यस्य प्रेमाजस्रं वितन्यते।
परस्परं तयोरित्थं कार्यकारणतेक्ष्यते॥२२५॥

श्लोकानुवाद—दैन्यकी परिपक्व अवस्थामें ही प्रेम निरन्तर विस्तारित होता है। इसलिए दैन्य और प्रेममें परस्पर कार्य-कारणका सम्बन्ध देखा जाता है॥२२५॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वेवं प्रेमनिष्ठायाः फलं दैन्यमिति पर्यवस्यति, तच्चायुक्तम्, सर्वत्र प्रेम्ण एव फलत्वेन प्रतिपादनात्। सत्यं, तत्तु प्रेम्णो नातीव भिन्नं, किन्तु आन्तरलक्षणरूपमुख्यतरमङ्गमेवेत्याह—परीति। प्रेमा भगवति भावविशेषः, वितन्यते विशेषेण प्रादुर्भाव्यते। इत्थमुक्तप्रकारेण, तयोः दैन्यप्रेम्णोः, परस्परं कार्यकारणता पोष्यपोषकता ईक्ष्यते अनुभूयते। एवमेवेदञ्च न मन्तव्यम्। श्रीगोपीनाथपादपद्मविषयक-प्रेम्णः फलं श्रीगोलोकप्राप्तिः, तस्याश्च श्रीगोपीनाथस्य सन्दर्शनं, तस्य च तत्प्रसाद-विशेषः, तस्य च सहविहारादिकमित्येवमादिप्रकारेण भक्तिसिद्धान्ते परमपुरुषार्थस्य अनैकान्त्यादनवस्थादोष-प्रसङ्गः स्यादिति। यतस्तत्तत् सर्वं तत्प्रेम्ण एव विलासवैभवं, न तु ततः पृथक्। वैकुण्ठेऽप्येवमेव; इत्थमेव मोक्षसुखाद्भक्तिसुखस्य बहुवैचित्र्या परमाधिक्यं सम्पद्येत; इदन्तु प्रागुक्तमेवास्ति॥२२५॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि इस प्रकारकी प्रेमनिष्ठाका फल दैन्यमें पर्यवसित होना तो अनुचित है, क्योंकि सर्वत्र प्रेमको ही फलरूपमें प्रतिपादित किया गया है। इसके समाधानमें कह रहे हैं कि सचमुच प्रेम और दैन्यमें अत्यधिक भेद नहीं है, परन्तु यह दैन्य प्रेमके अन्तर-लक्षणके रूपमें मुख्य अङ्ग है—इसे बतलानेके लिए 'परिपाक' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। दैन्यकी परिपक्व अवस्थामें ही प्रेम निरन्तर विस्तार करता है। इस प्रकारसे दैन्य और प्रेममें परस्पर कार्य-कारण अर्थात् पोष्य-पोषकका सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है।

यहाँपर कोई ऐसा मन्तव्य न करें कि श्रीगोपीनाथके चरणकमलोंके प्रति प्रेमका फल है—श्रीगोलोककी प्राप्ति और उसका फल है—श्रीगोलोकनाथके दर्शन और उसका फल है—उनकी विशेष कृपाकी प्राप्ति तथा उस विशेष कृपा प्राप्तिका फल है—उनके साथ विहारादि करना। इस प्रकार परम-पुरुषार्थमें अनेकताकी कल्पना करनेसे भक्तिसिद्धान्तमें अनवस्था-दोष (किसी निर्णयपर न पहुँचनेके तर्करूप दोष) का प्रसङ्ग उपस्थित हो सकता है, क्योंकि श्रीगोलोककी प्राप्ति तथा अन्य अवस्थाएँ प्रेमका ही वैभवस्वरूप है, प्रेमसे पृथक् नहीं है। वैकुण्ठके सम्बन्धमें भी इसी प्रकारका सिद्धान्त जानना चाहिये। इस प्रकार मोक्ष-सुखसे भी भक्ति-सुखमें बहुत वैचित्री होनेके कारण भक्ति-सुख परम-अधिक रूपमें प्राप्त होता है। यह पहले ही निरूपित हुआ है॥२२५॥

भ्रातः प्रेम्णः स्वरूपं यत्तद्धि जानन्ति तद्विदः।
यस्य चित्तार्द्रता-जातं बाह्यं कम्पादिलक्षणम्॥२२६॥

श्लोकानुवाद—हे भ्रातः! प्रेमका स्वरूप केवल प्रेमीजन ही जानते हैं। चित्तकी आर्द्रतासे उत्पन्न जो कम्पादि लक्षण बाहरमें प्रकटित होते हैं, उन्हीं लक्षणों द्वारा प्रेमका परिचयमात्र मिलता है॥२२६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु दैन्यजनितत्वेन प्रेम्णोऽपि परमदैन्यात्मकं स्वरूपम्, किंवा, सर्वसाध्यनिचयोत्कृष्टतयाशेषदुःखध्वंसपूर्वकपरमानन्दविशेषात्मकमिति विविच्य कथयेति चेत्तत्राह—भ्रातरिति। तत् प्रेम विदन्ति अनुभवन्तीति, तथा त एव जानन्ति; अतः स्वरूपलक्षणं तस्य वक्तुं न शक्यते, केवलं तटस्थलक्षणेनैव

तदुद्दिश्यत इति भावः। तदेवाह—सार्धैश्चतुर्भिः। यस्य बाह्यं लक्षणं चित्तार्द्रतया जातं कम्पादि, आदिशब्देन स्वेद-पुलकाश्रुपातादि, चित्तार्द्रत्वमपि बाह्यलक्षणगणान्तर्भूतमेव मनोग्राह्यत्वात्; तथापि साक्षाद्बहिरभिव्यक्त्यभावेनान्तरत्वेऽपि पर्यवस्यतीति ज्ञेयम्॥२२६॥

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि दैन्यसे उदित (विस्तारित) होनेके कारण प्रेमका भी स्वरूप क्या परम दैन्यात्मक है अथवा समस्त साध्योंसे भी उत्कृष्ट होनेके कारण अनन्त प्रकारके दुःखोंको ध्वंस करनेवाला परमानन्द विशेष स्वरूप है? इस विषयकी विवेचनाकर इसका समाधान श्रीनारद 'भ्रात' इत्यादि श्लोक द्वारा कर रहे हैं। जिन्होंने प्रेमका अनुभव किया है, केवल वे ही प्रेमका स्वरूप जानते हैं। तथापि प्रेमके स्वरूप-लक्षणको व्यक्त नहीं किया जा सकता है, केवल तटस्थ-लक्षणों द्वारा उसका परिचयमात्र मिलता है। इसे 'यस्य' इत्यादि पदसे आरम्भकर साढ़े चार श्लोकोंमें कह रहे हैं। चित्तके द्रवीभूत होनेके कारण देहमें कम्प-स्वेद-पुलक-अश्रुपात आदिका होना प्रेमके तटस्थ या बाह्य लक्षण हैं। यद्यपि बाह्य लक्षणोंके प्रकट होनेके कारण चित्तकी आर्द्रता (द्रवीभूत होने) को मनके द्वारा जाना जा सकता है, तथापि साक्षात् बाहरमें अभिव्यक्त न होनेके कारण वह अन्तर लक्षणमें ही पर्यवसित होती है—ऐसा जानना होगा॥२२६॥

दवानलार्चिर्यमुनामृतं भवे-,
त्तथा तदप्यग्निशिखेव यद्वताम्।
विषञ्च पीयूषमहो सुधा विषं,
मृतिः सुखं जीवनमार्त्तिवैभवम्॥२२७॥

श्लोकानुवाद—उन प्रेमीजनोंके लिए यमुनाका सुशीतल जल दावानलकी अग्निके समान तथा दावानलकी ज्वाला यमुनाके अमृतमय जलके समान प्रतीत होती है। विष अमृतके समान और अमृत विषके समान तथा मृत्यु सुखके समान और जीवन-धारण करना अत्यन्त दुखपूर्ण प्रतीत होता है॥२२७॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, यत् प्रेमवतां दवानलार्चिरपि यमुनामृतमिव भवेदित्येवं सर्वत्रैव शब्दार्थो द्रष्टव्यः। यद्वा, तस्य तस्यात्यन्त-तदात्मकतया यथाश्रुतमेव व्याख्या। एवं सुखकारणमपि दुःखकारणत्वेनोक्त्वा तद्वैपरीत्येनाह—तत् यमुनामृतमपि,

अग्निशिखादवानलार्चिर्भवतीत्यर्थः, परमप्रेमाविर्भावेन तत्तद्विवेकाशक्तेः। किंवा तादृशस्य प्रेम्णो विरहदुःखस्फोरकस्वभावास्मरणादेः परमहितत्वेन तदनुकूलस्य द्रव्यस्येष्टत्वात्तद्विपरीतस्य चानिष्टत्वात्तथा तथा तत्तत् स्फुरतीति दिक्। एवमग्रेऽप्यूह्यम्। जीवनञ्च परमदुःखमय-मित्यर्थः॥२२७॥

भावानुवाद—तदुपरान्त कह रहे हैं कि उन समस्त प्रेमवानजनोंके लिए दावानलकी तीव्र ज्वालामय शिखा भी यमुनाके अमृतमय जलके समान प्रतीत होती है। ऐसे प्रेमीजनोंके लिए सर्वत्र ही शब्दोंके अर्थ इस प्रकारसे विचारणीय है। इस प्रकारसे सुखका कारण भी दुःखके कारणमें कथित होकर उसका विपरीत बोध होता है—जैसे यमुनाका अमृतमय जल भी अग्निकी शिखाके तुल्य हो जाता है तथा दुःखमय वस्तु भी सुखमय रूपमें प्रतीत होती है—जैसे अग्निकी शिखा भी यमुनाके अमृतमय जलके तुल्य हो जाती है। वस्तुतः परम प्रेमके आविर्भावके कारण ही गोपियोंकी विवेक शक्ति लुप्त हो जाती है। अथवा वैसे प्रेममें विरह-दुःखकी स्फूर्तिके स्वभावसे सर्वदा ही प्रियतमकी स्मृति रहनेके कारण परम हितकर या प्रियतमके अनुकूल द्रव्य भी इष्टके विपरीत अर्थात् अनिष्ट रूपमें प्रतीत होते हैं। इसलिए वे जितना ही प्रियतमके विस्मरणके उपायोंको ढूँढ़नेंमें व्यस्त होते हैं, उतने अधिक रूपमें वे उपाय प्रियतमकी स्मृति उद्दीप्त कराते हैं। तथापि विस्मरणके अनुकूल वस्तुओंमें इष्टकी और विस्मरणके प्रतिकूल वस्तुओंमें अनिष्टबुद्धि होती है, अर्थात् मृत्यु सुखपूर्ण प्रतीत होती है तथा जीवन धारण करना परम दुखमय लगता है—यही प्रेमकी विचित्र गति है। यह आगे भी व्यक्त होगा॥२२७॥

यतो विवेक्तुं न हि शक्यतेऽद्धा,
भेदः स सम्भोग-वियोगयोर्यः।
तथेदमानन्दभरात्मकं वा-,
थवा महाशोकमयं हि वस्तु॥२२८॥

श्लोकानुवाद—उस प्रेमके सम्भोग और विप्रलम्भरूप भेदका स्पष्ट रूपमें कोई भी विवेचन नहीं कर सकता है और न ही यह निश्चय

किया जा सकता है कि वह प्रेमनामक वस्तु 'आनन्दसे परिपूर्ण' है अथवा 'महाशोकमय' है॥२२८॥

दिग्दर्शिनी टीका—सम्भोग-वियोगयोर्यो भेदः, अयं सम्भोगो वियोगश्चायमित्येवं यो विशेषो वर्त्तते, स यतः प्रेम्णो हेतोः अद्धा साक्षात् विवेक्तुं भेदेन ग्रहीतुं न हि शक्यते। एतच्च व्यक्तमेव दशमस्कन्धशेषे जलक्रीड़ानन्तरं श्रीभगवता सह सङ्गमेऽपि वर्त्तमाने श्रीमहिषीणां तथा तथा विरहदुःखोक्तिवर्णनात्। तथेति समुच्चये। इदं प्रेमाख्यं वस्तु आनन्दभरात्मकं महाशोकमयं वेति चाद्धा विवेक्तुं न शक्यते; बुद्ध्यादिलोपेन तद्विशेषग्रहणाशक्तेः; किंवा पूर्वोद्दिष्ट-भक्तिस्वभावेन तत्तद्रूपेणैव बहुधा स्फुरणात्, किंवा परमान्त्यसीमाप्राप्तस्य वस्तुनस्तस्य तत्स्वभावकत्वात्। यथा घनहिमचयस्याग्नेरिव स्पर्शानुभवः स्यादिति दिक्। यद्यपि तादृशप्रेमविशेषसम्भोगे परममहानन्दघनमूर्त्तिना श्रीभगवता सह क्रीड़ाविशेषेण तदनुरूपसुखविशेषानुभवोऽपि तत्प्रियतमानां जायत एव। यथा भक्तानां मुक्तिसुखं तथाप्युक्तरीत्या परमप्रेमविशेषस्वभावेनैव सम्भोगेऽपि विरहस्यैव परिस्फूर्त्त्या तथैव पर्यवस्यति, परममहाफलविशेषरूपस्य तस्य तथैव सम्यगाविर्भावसिद्धेः। तथैव हि तत्सुखस्य परममहत्ताविशेष-सम्पत्तिलक्षणत्वाच्चेति प्राङ्निरूपितमस्त्येव; अग्रेऽपि विशेषतो व्यक्तं भावि॥२२८॥

भावानुवाद—उस प्रेमका स्वभाव ही ऐसा है कि सम्भोग और वियोगके भेदसे अर्थात् "इस प्रकारसे सम्भोग" है तथा "इस प्रकारसे वियोग" है—इस प्रकारकी जो विशेषता या भेद विद्यमान रहता है, उसे साक्षात् विवेचना द्वारा समझा नहीं जा सकता है। इस विषयमें दशम-स्कन्धके अन्तमें जलक्रीड़ाके उपरान्त भगवान्के साथ महिषियोंका मिलन होनेपर भी विरह दुःखका वर्णन हुआ है। अतएव यह प्रेम नामक वस्तु "आनन्दसे परिपूर्ण है" अथवा "महाशोकमय है"—इसका विशेष रूपमें निश्चय नहीं किया जा सकता है, क्योंकि प्रेमके उदित होनेके समय बुद्धिवृत्तिके विलुप्त रहनेके कारण वह किसी विशेषताको ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं होती है। अथवा पूर्वकथित भक्तिके स्वभाववशतः बहुत-बहुत वैचित्रीके स्फुरित होनेके कारण किसी विशेषताको ग्रहण नहीं किया जा सकता है। अथवा परम अन्तिम सीमा प्राप्त वस्तुका स्वभाव ही ऐसा होता है कि उसकी किसी विशेषताको ग्रहण नहीं किया जा सकता है। प्रेमका स्वभाव ही ऐसा है कि ठोस हिमका स्पर्श भी अग्निके समान ऊष्ण अनुभव होता है।

यद्यपि वैसे प्रेममें सम्भोगके समय परमानन्द घनमूर्त्ति श्रीभगवान्के साथ क्रीड़ाके कारण प्रियतमको सुख-अनुभव होनेके कारण उनकी प्रियतमाको भी उसी अनुरूप विशेषसुख अनुभव होता है, इसका दृष्टान्त है—जिस प्रकार भक्तोंको भक्तिसुखके अनुषङ्गिक रूपमें न चाहनेपर भी मुक्तिसुख (स्वसुख) प्राप्त होता है। तथापि उक्त रीतिके अनुसार परमप्रेमके स्वभावके कारण सम्भोग कालमें भी विरहकी परिस्फूर्ति होती है और वह सम्भोग विरहमें ही पर्यवसित होता है। अतएव विशेष महाफलके रूपमें विरहमें ही प्रेमका परिपूर्ण आविर्भाव सिद्ध होता है। अतः ऐसे विरहमें ही प्रियतमके सुखकी परम महिमायुक्त प्रेम सम्पत्तिका लक्षण उत्पन्न होता है। यह विचार पहले भी निरूपित हुआ है तथा आगे भी व्यक्त होगा॥२२८॥

भवन्ति सम्पत्त्युदयेन यस्य,
सदा महोन्मत्तविचेष्टितानि।
न यद्विना सञ्जनयेत् सुखं सा,
नवप्रकारापि मुकुन्द-भक्तिः ॥२२९॥

श्लोकानुवाद—प्रेम-सम्पत्तिके उदित होनेसे प्रेमीकी समस्त चेष्टाएँ सर्वदा ही महा-उन्मत्तकी भाँति हो जाती हैं। ऐसे प्रेमके बिना श्रीमुकुन्दकी नवधाभक्ति भी उसी प्रकारसे सुख प्रदान नहीं कर सकती है— ॥२२९॥

दिग्दर्शिनी टीका—यस्य प्रेम्ण सम्पत्तेः सिद्धेर्वैभवस्य वा उदयेन प्रकाशेन हेतुना महोन्मत्तस्य परमोन्मादगृहीतस्येव विचेष्टितानि भवन्ति। तानि चैकादशस्कन्धादौ (श्रीमद्भा. ११/२/४०) "हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति" इत्यादिनोक्तानि सन्ति। यत् प्रेम विना सा परमफलरूपापि नवप्रकारका मुकुन्दस्य भक्तिः सुखं न सम्यक् जनयेत्॥२२९॥

भावानुवाद—प्रेम-सम्पत्तिके सिद्ध होनेपर अर्थात् प्रेमके वैभव उदित होनेपर प्रेमीकी समस्त चेष्टाएँ सर्वदा ही महा-उन्मत्तकी भाँति हो जाती हैं—इसे श्रीमद्भागवत (११/२/४०) में वर्णन किया गया है—"जिनमें प्रेमका उदय हो गया है, ऐसे महानुभावगण कभी उन्मत्तकी भाँति हँसते हैं, कभी रोते हैं, कभी चीत्कार करते हैं, कभी

गान करते हैं और कभी नृत्य करते हैं।" ऐसे प्रेमके बिना परमफलरूपा श्रीमुकुन्दकी नवधाभक्ति भी सर्म्पूण सुख प्रदान नहीं कर सकती है॥२२९॥

यथा हि शाको लवणं विनैव,
क्षुधां विना भोग्य–चयो यथा च।
विनार्थबोधादिव शास्त्र–पाठः,
फलं विनारामगणो यथैव॥२३०॥

श्लोकानुवाद—जिस प्रकार नमकके बिना शाक, भूखके बिना भोजन सामग्री, अर्थको जाने बिना शास्त्र–पाठ तथा फलके बिना बगीचा सुखकर नहीं होते हैं॥२३०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र दृष्टान्तान् दर्शयति—यथेति। शाक इति सर्वव्यञ्जनानामुप-लक्षणम्। अर्थावगमव्यतिरेकेण शास्त्राणां सुखपाठो यथेत्यर्थः। आरामा उपवनानि, तेषां समूहोऽपि फलं विना यथा सुखं न जनयेदिति पूर्वेणैव सर्वेषामन्वयः॥२३०॥

भावानुवाद—"प्रेमके बिना नवधाभक्ति भी सुख प्रदान नहीं करती है।"—इस विषयमें दृष्टान्त प्रस्तुत करनेके लिए श्रीनारद 'यथा' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। यहाँ 'शाक' शब्दके उपलक्षणमें समस्त प्रकारके व्यञ्जनोंको समझना होगा। जिस प्रकार नमकके बिना व्यञ्जन, अर्थको समझे बिना शास्त्र–पाठ, भूखके बिना भोजन–सामग्री तथा फल–फूलके बिना बगीचे व्यर्थ होते हैं, उसी प्रकार प्रेमके बिना नौ प्रकारकी भक्ति भी सुखजनक नहीं होती है। अर्थात् नवधाभक्तिरूपी लताका उद्यान शोभायमान होनेपर भी जब तक उसमें भाव–पुष्प विकसित नहीं होता है तथा प्रेम–फल उत्पन्न नहीं होता, तब तक वह उद्यान परम सुखकर नहीं होता है॥२३०॥

सामान्यतः किञ्चिदिदं मयोक्तं,
वक्तुं विशेषेण न शक्यते तत्।
प्रेमा तु कृष्णे व्रज–योषितां य–,
स्तत्तत्त्वमाख्यातुमलं कथं स्याम्॥२३१॥

श्लोकानुवाद—मैंने यहाँ सामान्य रीतिसे साधारण भक्तोंके प्रेमके सम्बन्धमें कुछ कहा है, क्योंकि इस प्रेमको विशेष रूपमें निरूपित नहीं किया जा सकता है। अतः तब फिर श्रीनन्दनन्दनके प्रति व्रजरमणियोंके विशेष प्रेमको मैं कैसे वर्णन कर सकता हूँ?॥२३१॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदन्तु श्रीभगवतः कस्मिंश्चिदवतारे श्रीवैकुण्ठनाथेऽपि वा। भक्तानां साधारण्येन जायमानस्य प्रेम्णो लक्षणमुक्तम्। श्रीनन्दनन्दने श्रीराधिकादीना-मसाधारणोऽसौ प्रेमा तु कथमपि न निर्देष्टुं शक्यत इत्याह—सामान्यत इति। तत् प्रेम तल्लक्षणं वा; तस्य प्रेम्णस्तत्त्वं स्वरूपं कथमाख्यातुं निरूपयितुमलं समर्थः स्याम्? अपि तु कथमपि न भवामीत्यर्थः॥२३१॥

भावानुवाद—मैंने यहाँ जिस प्रेमके सम्बन्धमें कहा है, उस प्रेमका विषय श्रीभगवान्‌के किसी अवतार अथवा श्रीवैकुण्ठनाथको ही जानो। अर्थात् साधारण भक्तोंको आश्रयकर जो प्रेम रहता है, मैंने उसी प्रेमके लक्षणोंका वर्णन किया है। किन्तु श्रीनन्दनन्दनके प्रति श्रीराधिका आदि व्रजरमणियोंका जो असाधारण प्रेम है, मैं उस प्रेमका किसी प्रकारसे भी निर्देश (वर्णन) करनेमें सक्षम नहीं हूँ—इसे बतलानेके लिए श्रीनारद 'सामान्यतः' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। उस व्रजजातीय प्रेमके स्वरूप-लक्षण या उस प्रेमका तत्त्व मैं किस प्रकारसे निरूपण कर सकता हूँ? अपितु किसी प्रकारसे भी निरूपण करनेमें समर्थ नहीं हूँ॥२३१॥

कृष्णे गते मधुपुरीं वत बल्लवीनां,
भावोऽभवत् सपदि यो लयवह्नितीव्रः।
प्रेमास्य हेतुरुत तत्त्वमिदं हि तस्य,
मा तद्विशेषमपरं वत बोद्धुमिच्छ॥२३२॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णके मथुरापुरी जानेपर व्रजगोपियोंमें प्रलयकालीन-अग्निसे भी तीव्र जो भाव उदित हुआ था, उस भावका एकमात्र कारण प्रेम है और यही उस प्रेमका तत्त्व है। इसके अलावा प्रेमके किसी अन्य तत्त्वको जाननेकी इच्छा मत करना॥२३२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथाप्युद्देशेनान्तर तटस्थलक्षणद्वारा पूर्ववत् किञ्चित् आख्यामीत्याह—कृष्ण इति। सपदि गमनकाले, लयवह्निः प्रलयकालानलस्तस्मादपि

तीव्रः परमदुःसह इत्यर्थः। अस्य भावस्य हेतुः प्रेमैव। उत अपि, तस्य प्रेम्णः तत्त्वं स्वरूपमपि। इदमेव तत्त्वविशेषणतया नपुंसकत्वम्, अयं भाव एवेत्यर्थः। तस्य प्रेम्णो विशेषं तत्त्वविवरणम्, अपरमुक्तादन्यं बोद्धुं ज्ञातुं मा इच्छ नाभिलष, अपरं तद्विशेषनिरूपणेन तव ममापि दशाविशेषशङ्कापत्तेः॥२३२॥

भावानुवाद—तथापि श्रीनारद व्रजसुन्दरियोंके भावोंको उद्देश्यकर तटस्थ-लक्षण द्वारा पहलेकी भाँति उनके प्रेमका किञ्चित् वर्णन 'कृष्णे' इत्यादि श्लोकमें कर रहे हैं। श्रीकृष्णके मथुरापुरी चले जानेपर व्रजगोपियोंमें प्रलयकालीन-अग्निसे भी तीव्र परम दुःसह जो भाव उदित हुआ था, उस भावका एकमात्र कारण प्रेम ही है तथा उसी भावको उस प्रेमका तत्त्व या स्वरूप समझना। इसके अलावा उस विशेष प्रेमके अन्य किसी तत्त्वका विवरण जाननेकी इच्छा मत करना। इसका कारण है कि उस प्रेमतत्त्वके विशेष निरूपणसे मेरी और तुम्हारी दशाविशेष उपस्थित होनेकी आशङ्का है। अर्थात् उस प्रेमको मनमें चिन्ता करनेसे निश्चय ही मैं मूर्च्छित हो जाऊँगा और फलस्वरूप तुम भी मूर्च्छित हो जाओगे, अतः तब फिर कौन श्रवण करेगा? इसलिए मैं उस प्रेम तत्त्वका वर्णन नहीं करूँगा॥२३२॥

सा राधिका भगवती क्वचिदीक्ष्यते चेत्,
प्रेमा तदानुभवमृच्छति मूर्त्तिमान् सः।
शक्येत चेद्वदितुमेष तया तदैव,
श्रूयेत तत्त्वमिह चेद्भवति स्व-शक्तिः॥२३३॥

श्लोकानुवाद—यदि तुम्हें वैसी प्रेमवती परमभगवती श्रीराधिकाका कभी दर्शन हो, तभी तुम मूर्त्तिमान प्रेमका साक्षात् अनुभव कर पाओगे। श्रीराधिका प्रेमकी मूर्त्ति हैं और वे ही उस प्रेमके विषयमें कुछ कह सकती हैं। यद्यपि कोई अपनी शक्तिसे उस प्रेमतत्त्वको सुनना भी चाहे, तथापि वह उस परमानन्दमय और परमशोकमय प्रेमके विषयको सुन नहीं सकता, क्योंकि उसका वर्णन श्रोता और वक्ता दोनोंको ही मोहग्रस्त (मूर्च्छित) कर देता है॥२३३॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं तत्-प्रेमा निरूपित एव न स्यात्, कथञ्चिद् यत्नेन निरूपितश्चाधुना तव हृदि सम्यक् प्रतीतोऽपि नैव स्यात्; किन्तु तादृशप्रेमवतो

लोकस्य दर्शनादेव स साक्षादनुभूतोऽपि स्यात् इत्याह—स्वेति द्वयेन। सा श्रीभगवत्प्रियतमत्वेन गोपीगणमध्ये सुप्रसिद्धा परमप्रेमभरवती। समयोक्तलक्षणः प्रेमा मूर्त्तिमान् साक्षाद्भूत एवानुभवं प्राप्नोति, प्रत्यक्षमनुभूयत एवेत्यर्थः। तया च भगवत्या एष प्रेमा गदितुं तत्त्वतो निरूपयितुं चेद्यदि शक्येत, तदा तस्य तत्त्वं परमानन्दात्मकं परमशोक–दुःखात्मकमित्यादि श्रूयेत। इह तत्तत्त्वश्रवणे स्वस्यात्मनः शक्तिश्चेद्यदि भवेदेवं तयापि वक्तुं न शक्यते, निरन्तर–परमप्रेमभराविर्भावेन सदा महोन्मादादिमयत्वात्। अन्येनापि श्रोतुं न शक्यते, प्रेममोहप्राप्तेरित्यर्थः। अतः केवलं तस्या भगवत्या दर्शने वृत्ते सत्येव सदा तस्यां प्रादुर्भवतां महाप्रेमलक्षणानां साक्षाद्दर्शनात् स प्रेमा तत्त्वतो विज्ञातः स्यादिति भावः॥२३३॥

भावानुवाद—इस प्रकार मूर्च्छारूप विशेष दशाके उपस्थित होनेके कारण उस प्रेमका निरूपण हो ही नहीं सकता है। यद्यपि अति यत्नपूर्वक किसी प्रकारसे किञ्चित् वर्णन किया भी जाये, तथापि अभी तुम्हारे हृदयमें उस प्रेमकी सम्यक् प्रतीति नहीं हो सकती है। किन्तु यदि वैसे प्रेमसे युक्त व्यक्तिका साक्षात् दर्शन हो, तभी वह प्रेमतत्त्व साक्षात् अनुभव हो सकता है—इसे बतलानेके लिए श्रीनारद 'सा राधिका' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। भगवान्‌की प्रियतमा प्रेमवती गोपियोंमें सुप्रसिद्ध परम प्रेममयमूर्त्ति श्रीराधिका यदि दृष्टिगोचर हों, तभी उस मूर्त्तिमान प्रेमका साक्षात् अनुभव हो सकता है।

ऐसा सुना जाता है कि वह प्रेमतत्त्व परमानन्दमय और परमशोक–दुःखमय है। यद्यपि भगवती श्रीराधिका उस प्रेमतत्त्वका निरूपण करनेमें सक्षम हों भी और किसीमें उसे श्रवण करनेका सामर्थ्य भी हो, तथापि उसे व्यक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि निरन्तर परमप्रेमकी प्रचुरताके आविर्भावके कारण श्रीराधिकामें सदा महा–उन्माद दशा उपस्थित रहती है। तथा श्रोता भी वैसी प्रेम–मूर्च्छाकी दशाको प्राप्त होनेके कारण उस प्रेमके तत्त्वको श्रवण करनेमें असमर्थ रहता है। अतएव केवल उन भगवतीके दर्शन होनेसे ही उनमें आविर्भूत होनेवाले महाप्रेमके लक्षण साक्षात् दृष्टिगोचर होते हैं तथा इसीसे ही उस प्रेमके तत्त्वतः जाना जा सकता है॥२३३॥

चेत् कृष्णचन्द्रस्य महावतार–,
स्तादृग्निजप्रेमवितानकारी ।

स्याद्वा कदाचिद्यदि राधिकायाः,
प्रेमानुभूतिं तदुपैत्यथापि॥२३४॥

श्लोकानुवाद—यदि अपने इस प्रकारके प्रेमको वितरण करनेवाला श्रीकृष्णचन्द्रका अथवा श्रीराधिकाका कोई महान अवतार प्रकट हो, तभी उनके दर्शनसे उस प्रेमको अनुभव किया जा सकता है॥२३४॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु सदा सर्वैर्जनैः सा किल न दृश्यते, तर्हि मादृशैरधुना कथं ज्ञेयः? यद्वा, सैवैका जगति तादृश-प्रेमवती, अन्योऽपि वा कश्चित् कदाचित् स्यात्, अन्यथा अन्यस्य तत्र नैराश्यापत्तेः। तत्राह—चेदिति। तादृशश्रीराधाप्रेमसदृशस्य उक्तसदृशस्य वा निजस्व-कृष्णचन्द्र-विषयकस्य प्रेम्णो वितानो विस्तारस्तत्कारी। वाशब्दः पक्षान्तरे, पूर्वतोऽप्युत्तरपक्षस्य वैशिष्ट्यापेक्षया यदि वा राधिकाया महानवतारः स्यात्, तथापि तदुक्तलक्षणं प्रेम, अनुभूतिम् अनुभवम्, उपैति प्राप्नोति। इत्थं श्रीराधिका-प्राणनाथ-पादसरोजयोः येन प्रेमानुभूत्याशा दत्ता तं नारदं भजे॥२३४॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि सभी साधक तो सर्वदा उनके दर्शनको प्राप्त करनेमें सक्षम नहीं हो सकते हैं, अतएव मुझ जैसा व्यक्ति अभी किस प्रकारसे उस प्रेमतत्त्वको जान सकेगा? अथवा जगत्‌में क्या एकमात्र वे श्रीराधिका ही वैसे प्रेमसे युक्त हैं? अन्य कोई भी तो कदाचित् हो सकता है, अन्यथा तब क्या सभी लोग निराश नहीं होंगे? इसके समाधानके लिए श्रीनारद 'चेत्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। श्रीराधिकाके प्रेमके समान श्रीकृष्णविषयक प्रेमको अर्थात् अपने प्रति प्रेमको विस्तार करनेवाला श्रीकृष्णचन्द्रका यदि कोई महान अवतार हो, अथवा 'वा' अर्थात् श्रीराधिकाका कोई महान अवतार हो तभी उक्त लक्षणसे युक्त प्रेमका अनुभव किया जा सकता है। पक्षान्तरमें मूल श्लोकके 'वा' शब्द द्वारा पूर्वपक्ष (श्रीकृष्ण अवतार) से उत्तरपक्ष (श्रीराधिकाके अवतार) का वैशिष्ट्य अपेक्षित हुआ है। इस प्रकार जिन्होंने श्रीराधिका-प्राणनाथके श्रीचरणकमलोंकी साक्षात् प्रेम-अनुभूतिकी आशाका संवाद दिया है, उन देवर्षि श्रीनारदका मैं भजन करता हूँ॥२३४॥

तद्गच्छ शीघ्रं तत् क्षेत्रं माथुरं व्रजभू-भव।
निजार्थसिद्धये त्वं हि न मादृक् तद्दयालयः॥२३५॥

श्लोकानुवाद—हे गोपकुमार! अपने मनोरथकी सिद्धिके लिए तुम शीघ्र ही उस पुरुषोत्तमक्षेत्रमें जाओ। तुम श्रीगोलोकनाथके जैसे कृपापात्र हो, मैं वैसा नहीं हूँ, क्योंकि तुमने माथुर-व्रजभूमिमें जन्म ग्रहण किया है॥२३५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत् तस्मात्, तत् श्रीपुरुषोत्तमाख्यं क्षेत्रं निजार्थस्य सिद्धये शीघ्रं व्रज। ननु सा हि परमदुर्घटेति त्वयैवोक्तम्; तत्रह—हि यस्मात्, त्वं न मादृक् न मया सदृशोऽसि, किन्तु तस्य श्रीगोलोकनाथस्य दयाया आलयः पात्रम्। तत्र हेतुः—हे माथुरव्रजभूभवेति॥२३५॥

भावानुवाद—हे गोपकुमार! अतएव तुम शीघ्र ही उस श्रीपुरुषोत्तम नामक क्षेत्रमें अपने अभीष्टकी सिद्धिके लिए गमन करो। यदि तुम्हें आपत्ति हो कि मैंने (श्रीनारदने) ही तो कहा है कि वह प्रेम परम दुर्घट है? इसके उत्तरमें कहते हैं—तुम मेरे जैसे नहीं हो, अपितु श्रीगोलोकनाथके दया-पात्र हो, क्योंकि तुमने उस माथुर-व्रजभूमिमें जन्म ग्रहण किया है॥२३५॥

श्रीमदुद्धव उवाच—

क्षेत्रं यथा तत् पुरुषोत्तमं प्रभोः, प्रियं तथैतत् पुरमप्यदो यथा।
परेशतालौकिकतोचितेहितैर्विभूषितं तस्य तथेदमप्यृतम्॥२३६॥

श्लोकानुवाद—श्रीमान् उद्धवने कहा—हे श्रीनारद! आप उस पुरुषोत्तमक्षेत्रकी इस द्वारकासे भी अधिक प्रशंसा कर रहे हैं, परन्तु वह क्षेत्र प्रभुको जिस प्रकार प्रिय है, यह द्वारकापुरी भी उसी प्रकार प्रिय है। वह पुरुषोत्तमक्षेत्र जिस प्रकारके परम-ऐश्वर्य और लौकिक व्यवहारसे विभूषित है, यह द्वारकापुरी भी उसी प्रकारके परम-ऐश्वर्य और लौकिक-लीलासे विभूषित है॥२३६॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं श्रीनारदोक्त्या प्राप्तं श्रीपुरुषोत्तमक्षेत्रात् श्रीद्वारकाया न्यूनत्वमसहमानः श्रीद्वारकानाथैकभक्तः श्रीमदुद्धवस्तत्क्षेत्रकृत्यं द्वारकायामपि सिध्येदित्याह—क्षेत्रमिति सार्धद्वयेन। एतत् श्रीद्वारकाख्यं पुरं, अदः क्षेत्रं, यथा प्रभोः परेशतायाः पारमैश्वर्यस्य लौकिकतायाश्च लोकानुसारिताया उचितैर्योग्यैरीहितैर्व्यवहारैर्विभूषितं, तथा इदं पुरमपि। एतच्च सत्यमेव साक्षात्तत्तदनुभवात्॥२३६॥

भावानुवाद—श्रीनारदके इन वचनों द्वारा श्रीपुरुषोत्तमक्षेत्रसे श्रीद्वारकाकी न्यूनता सहन न कर पानेके कारण श्रीद्वारकानाथके भक्त श्रीउद्धव—'क्षेत्रं' इत्यादि ढाई श्लोकोंमें कह रहे हैं कि उस क्षेत्रमें जो फल प्राप्त होता है, इस द्वारकामें भी वही फल प्राप्त होता है। वह पुरुषोत्तमक्षेत्र प्रभुको जिस प्रकार प्रिय है, यह द्वारकापुरी भी उसी प्रकार प्रिय है तथा वह पुरुषोत्तमक्षेत्र प्रभुके परम-ऐश्वर्य और लौकिकतासे जिस प्रकार विभूषित है, यह द्वारकापुरी भी वैसे परम-ऐश्वर्य और लौकिक-लीलासे विभूषित है। यह सत्य है, क्योंकि मैंने साक्षात् इसका अनुभव किया है॥२३६॥

श्रीदैवकीनन्दन एष नः प्रभु-,
स्तद्रूपधारी पुरुषोत्तमे स्वयम्।
स्थैर्यं भजन् क्रीड़ति तन्निवासिनां,
तत्प्रेमपूर्वार्द्रहृदां सदा मुदे॥२३७॥

श्लोकानुवाद—हमारे प्रभु स्वयं श्रीदेवकीनन्दन ही उस पुरुषोत्तमक्षेत्रमें श्रीजगन्नाथकी मूर्त्ति धारणकर अचल भावसे विराजमान हैं तथा प्रेमसे द्रवीभूत हृदयवाले क्षेत्रवासी समस्त भक्तोंको आनन्द देनेके लिए वहाँपर सदा क्रीड़ा करते हैं॥२३७॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, एष श्रीदेवकीनन्दनो नोऽस्माकं यदूनां प्रभुरेव स्वयं तद्रूपं दारुब्रह्ममय-श्रीजगन्नाथमूर्त्तिस्तद्धारी सन् पुरुषोत्तमे क्षेत्रे क्रीड़ति। किमर्थं कथं वा? तत्क्षेत्रनिवासिनां जनानां निरन्तरं हर्षार्थं स्थैर्यं भजन् स्थिरतया वर्त्तमानः सन्नित्यर्थः। तत् कुतः? तस्मिन् रूपे प्रेम-पूरेणार्द्रं हृद्येषां तेषाम्॥२३७॥

भावानुवाद—श्रीउद्धव कुछ और भी कह रहे हैं—हम यादवोंके प्रभु ये श्रीदेवकीनन्दन स्वयं ही उन दारुब्रह्ममय श्रीजगन्नाथकी मूर्त्तिको धारणकर पुरुषोत्तमक्षेत्रमें क्रीड़ा कर रहे हैं। किसलिए अथवा किस प्रकार वैसी क्रीड़ाएँ कर रहे हैं? उस क्षेत्रवासी समस्त लोगोंके निरन्तर हर्षवर्द्धनके लिए स्थिरतापूर्वक वहाँ वर्त्तमान हैं। उस क्षेत्रके वासी कैसे हैं? उस क्षेत्रके वासी भक्तगण भी उसी प्रकारसे प्रेमसे परिपूर्ण द्रवीभूत हृदयसे उनकी सेवा करते हैं॥२३७॥

यत्तत्र संसिद्ध्यति वस्त्विहापि,
सम्पद्यते तत् किल नास्ति भेदः।
किन्त्वस्य तत्र व्रजभूचरित्र–,
दृष्टि–श्रुतिभ्यां भविता स शोकः॥२३८॥

श्लोकानुवाद—जिस वस्तुकी प्राप्ति उस क्षेत्रमें हो सकती है, वह यहाँ भी प्राप्त हो सकती है। अतएव उस पुरुषोत्तमक्षेत्र और इस द्वारकापुरी दोनोंमें कोई भेद नहीं है। परन्तु उस क्षेत्रमें जाकर इस गोपकुमारको व्रजभूमिका चरित्र दर्शन और श्रवणकर विशेष दुःख ही होगा॥२३८॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतो यद्वस्तु, तद्द्रव्यं, तत्क्षेत्रे संसिध्यति। इह अस्मिन् पुरेऽपि तत् संसिध्यति। एवमनयोर्भेदः किल निश्चितं नास्ति। अतस्तत्क्षेत्रे अस्य प्रस्थापनेन न किमप्यधिकं फलं दृश्यत इति भावः। विशेषतश्चास्याभीष्टसिद्धिर्नितरां तत्र नावकल्पत इत्याह—किन्त्विति सार्धद्वयेन। तत्र क्षेत्रे व्रजभूमिचरित्रस्य भगवत्कृत–गोकुललीलाया दृष्ट्या अनुकरणादिद्वारावलोकनेन, श्रुत्या च गीतादिद्वारा श्रवणेन, अस्य गोपकुमारस्य, सः निजेष्टाप्राप्तिजः शोको भविष्यति॥२३८॥

भावानुवाद—अतएव उस पुरुषोत्तमक्षेत्रमें जो वस्तु पूर्ण रूपसे प्राप्त हो सकती है, इस द्वारकापुरीमें भी वह भलीभाँति प्राप्त हो सकती है। इस प्रकारसे निश्चित रूपमें पुरुषोत्तमक्षेत्र और द्वारका दोनोंमें कोई भेद नहीं है। अतएव उस क्षेत्रमें जानेसे इस गोपकुमारको कोई अधिक फल प्राप्त होगा, ऐसा प्रतीत नहीं होता। विशेषतः वहाँपर इसकी अभीष्ट सिद्धि नहीं होगी, अतः इसका वहाँपर जाना उचित नहीं है—इसे बतलानेके लिए श्रीउद्धव 'किन्तु' इत्यादि ढाई श्लोक कह रहे हैं। अपितु उस क्षेत्रमें व्रजभूमिका चरित्र अर्थात् श्रीभगवान् द्वारा गोकुलमें की गयी लीलाओंका अनुकरणादि देखकर तथा व्रज–सम्बन्धी गीतादिको श्रवणकर इस गोपकुमारको अपने इष्टकी प्राप्ति न होनेके कारण शोक ही होगा॥२३८॥

तस्मिन् जगन्नाथ–मुखाब्जदर्शना–,
न्महाप्रसादावलि–लाभतः सदा।
यात्रोत्सवौघानुभवादपि स्फुर–,
त्युल्लास एवात्मनि नैव दीनता॥२३९॥

श्लोकानुवाद—उस क्षेत्रमें श्रीजगन्नाथदेवके मुखकमलका दर्शन करनेसे, सदा महाप्रसादको प्राप्त करनेसे तथा यात्रा-उत्सवादिका अनुभव करनेसे इस गोपकुमारके हृदयमें अधिक उल्लास तो होगा, किन्तु दीनताका सञ्चार नहीं होगा॥२३९॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमस्य चित्तोद्वेगेन तत्र सुखविशेषो न किल सम्पत्स्यत इत्युक्तम्। इष्टसाधनञ्च न सेत्स्यतीत्याह—तस्मिन्निति सार्धेन। तस्मिन् क्षेत्रे, सदा आत्मनि मनसि, उल्लासः हृष्टता स्फुरति। दीनता तु नैव स्फुरति, तत्र हेतुत्रयं—जगन्नाथेति। महाप्रसादोऽन्नादिः, तस्य आवलेः श्रेण्या लाभात्। यात्रा गुण्डिचा विजयादिः, सैव उत्सवः तस्य अघः परम्परा तस्यानुभवादपि॥२३९॥

भावानुवाद—उस क्षेत्रमें जानेसे इस गोपकुमारके चित्तमें उद्वेग होनेके कारण सुख विशेष अर्थात् व्रज-जातीय सुख उत्पन्न नहीं होगा तथा इष्ट प्राप्ति भी नहीं होगी—इसे 'तस्मिन्' इत्यादि आधे श्लोकमें कह रहे हैं। उस क्षेत्रमें सर्वदा हृदयमें उल्लास ही सञ्चारित होगा, किन्तु दीनताका सञ्चार नहीं होगा। इसके तीन कारण हैं—श्रीजगन्नाथदेवके मुखकमलका दर्शन, सर्वदा विचित्र-विचित्र अन्नादिरूप महाप्रसादकी प्राप्ति तथा गुण्डिचा गमनादि यात्राके उपलक्षमें महोत्सवोंकी धाराका अनुभव होना॥२३९॥

तां विनोदेति न प्रेम गोलोकप्रापकं हि यत्।
न च तल्लोकलाभेन विनास्य स्वास्थ्यमुद्भवेत्॥२४०॥

श्लोकानुवाद—उस दीनताके बिना गोलोकको प्राप्त करानेवाला प्रेम उदित ही नहीं होगा तथा गोलोककी प्राप्तिके बिना इसको शान्ति भी नहीं मिलेगी॥२४०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततः किमित्यत आह—तामिति। हि निश्चये, गोलोकस्य प्रापकं यत् प्रेम, तत् दीनतां विना न उदेति नाविर्भवति, तस्य गोलोकाख्यस्य लोकस्य लाभेन विना च अस्य स्वास्थ्यं सुखं नोत्पद्यते॥२४०॥

भावानुवाद—दीनताके सञ्चारित न होनेसे क्या होगा? इस प्रश्नकी अपेक्षामें श्रीउद्धव—'तां' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। गोलोकको प्राप्त करानेवाला जो प्रेम है, वह दीनताके बिना उदित ही नहीं होगा। तथा उस गोलोककी प्राप्तिके बिना इस गोपकुमारको सुख नहीं मिलेगा॥२४०॥

पुनस्ततोऽसौ परदुःखकातरः,
प्रहेष्यति श्रीपुरुषोत्तमस्त्विमम्।
स्व-गोकुले श्रीमथुराविभूषणे,
तदेष तत्रैव कथं न चाल्यते॥२४१॥

श्लोकानुवाद—परदुःख-दुःखी वे भगवान् श्रीपुरुषोत्तम बाध्य होकर पुनः इसे श्रीमथुराके विभूषणस्वरूप अपने व्रज-गोकुलमें ही भेजेंगे। अतएव हे श्रीनारद! आप इसे गोकुलमें ही क्यों नहीं भेजते हैं?॥२४१॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतस्तत्रास्य चिरं निवासोऽपि न भवितेत्याह—पुनरिति। असौ श्रीपुरुषोत्तमः क्षेत्रनाथः, इमं गोपकुमारं, ततः क्षेत्रात् श्रीमथुराया विभूषणरूपे स्वगोकुले स्वकीयव्रजभूमौ प्रहेष्यति। तत्र हेतुः—परेति। अन्यस्य कस्यचिद्दुःखेनैव विवशः स्यादस्य च निजप्रियतमस्य दुःखं कथं सहतामित्यर्थः। पुनरिति यथापूर्वं तत्र प्रहितवानस्तीति प्रामाण्यं द्योतयति। तत्तस्मादेष गोपकुमारः तत्र श्रीमथुरागोकुल एव कथं न चाल्यते न प्रस्थाप्यते?॥२४१॥

भावानुवाद—अतएव उस श्रीपुरुषोत्तमक्षेत्रमें भी इस गोपकुमारका चिरकालके लिए वास नहीं होगा—इसे बतलानेके लिए 'पुनः' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। उस क्षेत्रके नाथ श्रीपुरुषोत्तम पुनः इस गोपकुमारको उस क्षेत्रसे श्रीमथुराके विभूषणस्वरूप अपने गोकुल अर्थात् अपनी व्रजभूमिमें भेज देंगे। इसका कारण है कि वे परदुःख-दुःखी हैं, अर्थात् वे किसी भी साधारण व्यक्तिके दुःखसे ही विवश हो जाते हैं, तो फिर अपने प्रियतमजन (भक्त) का दुःख किस प्रकारसे सहन करेंगे? 'पुनः' कहनेका अर्थ है—पहलेकी भाँति गोपकुमारको उस गोकुलमें ही भेजेंगे, अतः यह प्रमाण रूपमें कथित हुआ है। अतएव आप इस गोपकुमारको उस श्रीमथुरा-गोकुलमें ही क्यों नहीं भेज रहे हैं?॥२४१॥

तत्रैवोत्पद्यते दैन्यं तत्प्रेमापि सदा सताम्।
तत्तच्छून्यमिवारण्यसरिद्गिर्यादि पश्यताम्॥२४२॥

श्लोकानुवाद—श्रीनन्दनन्दनकी उस लीला-मण्डित भूमिमें वन, नदी और पर्वतोंको शून्यमयकी भाँति देखकर साधुजनोंमें स्वतः ही दैन्य और प्रेम सर्वदा उदित होता है॥२४२॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्चात्स्याभीष्टसिद्धिश्च तत्रैवायत्नेन सम्पत्स्यत इत्याह—तत्रेति द्वाभ्याम्। तत् उक्तलक्षणं दैन्यं प्रेमापि, तत्र श्रीमथुरागोकुल एव सतां साधूनां सदा तत्र वर्त्तमानानां वा उत्पद्यते। कुतः? तत्तन्निरन्तर-तादृश-तादृश-श्रीनन्दनन्दन-क्रीड़ामण्डितं, अरण्यं श्रीवृन्दावनादि, सरितः श्रीयमुनाद्याः गिरीन् श्रीगोवर्धनादीन्; आदिशब्दात् सरोवर-द्रोण्यादि, तेषां द्वन्द्वैक्यम्; शून्यमिव पश्यताम्। इवेति वस्तुतः सर्वदा तत्रेतर जनालक्ष्यमाण-श्रीभगवत्क्रीड़ानुवृत्तेः॥२४२॥

भावानुवाद—उस व्रजभूमिमें अनायास ही इसकी अभीष्ट सिद्धि होगी—इसे श्रीउद्धव 'तत्र' इत्यादि दो श्लोकोंमें कह रहे हैं। उक्त दैन्य और प्रेमरूपी लक्षण उस श्रीमथुरा-गोकुलमें स्वतः ही उत्पन्न होते हैं, इसलिए साधुजन वहाँ सर्वदा वास करते हैं। किस प्रकारसे वहाँ दैन्य और प्रेम उत्पन्न होते हैं? वहाँ श्रीनन्दनन्दनकी लीलासे मण्डित श्रीवृन्दावनादि वन, श्रीयमुनादि नदी, श्रीगोवर्धनादि पर्वत तथा श्रीराधा-कुण्डादि सरोवर तथा जलाशय हैं। इन सब स्थानोंको शून्यकी भाँति देखकर अर्थात् सपरिकर श्रीराधा-कृष्णरहित देखकर साधुओंमें दैन्य और प्रेम सर्वदा उपस्थित होता है। मूल श्लोकमें 'इव' पदका अर्थ है कि वस्तुतः वहाँ श्रीभगवान् साधारण लोगोंके अगोचर होकर सर्वदा लीला करते हैं॥२४२॥

सदा हाहा-रवाक्रान्त-वदनानां तथा हृदि।
महासन्तापदग्धानां स्व-प्रियं परिमृग्यताम्॥२४३॥

श्लोकानुवाद—वहाँपर समस्त साधु हा-हा-ध्वनिसे ग्रस्त मुखसे तथा महा-सन्तापसे दग्ध हृदयसे सदा व्याकुल होकर अपने इष्टदेवका अनुसन्धान (खोज) करते हैं॥२४३॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतः हाहेति रवेण आक्रान्तानि वदनानि, येषां तेषां हृदि च सदा सन्तापेन दग्धानाम्। यतः स्वप्रियं श्रीनन्दनन्दनं, तत्तापनिवर्त्तक-तदीयदर्शनामृतं वा सदा परिमृग्यतां तत्रान्विष्यताम्। एवं तत्र बहुलदैन्य-सामग्रीसत्तया प्रेम्णोऽचिरात् सिद्धेः। श्रीगोलोकप्राप्तिराशु भावितेति मर्त्यलोकवर्त्तिश्रीमाथुरव्रजभूमावेवायं प्रस्थाप्यतामिति भावः॥२४३॥

भावानुवाद—अतएव वहाँपर समस्त साधु सर्वदा हा-हा-ध्वनिसे ग्रस्त मुख तथा सर्वदा अपने इष्टके विरहरूपी महा-सन्तापसे दग्ध

हृदयसे अपने प्रियतम श्रीनन्दनन्दनकी खोज करते रहते हैं। अर्थात् उस हृदयके तापको दूर करनेवाली उनके दर्शनरूपी अमृतकी पिपासासे व्याकुल होकर सर्वदा उनको ढूँढ़ते रहते हैं। इस प्रकारसे वहाँपर दैन्यकी प्रचुर साम्रगी वर्त्तमान रहनेके कारण अतिशीघ्र ही प्रेम प्राप्त होता है। उस प्रेमके बलसे श्रीगोलोककी प्राप्ति होगी, अतएव गोपकुमारको मर्त्यलोकके अन्तर्गत श्रीमाथुर-व्रजभूमिमें भेजना ही कर्त्तव्य है॥२४३॥

श्रीगोपकुमार उवाच—

मन्त्रिप्रवर-वाक्यं तत् स्व-हृद्यं न्यायबृंहितम्।
निशम्य नितरां प्रीतो भगवान्नारदोऽब्रवीत्॥२४४॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमार बोले—हे ब्राह्मण! भगवान् श्रीनारद मन्त्री-प्रवर श्रीउद्धवके न्यायसङ्गत तथा अपने हृदयके अनुरूप वचनोंको श्रवणकर अत्यन्त प्रीतिपूर्वक उनसे कहने लगे—॥२४४॥

दिग्दर्शिनी टीका—स्वस्य नारदस्य हृद्यं प्रियम्। यद्वा, हृदि वर्त्तमानमेव केवलमुद्धववाक्यश्रवणापेक्षया पूर्वं तथा नोक्तमित्यर्थः। यतो न्यायेन युक्त्या बृंहितम् पुष्टम्॥२४४॥

भावानुवाद—भगवान् श्रीनारदने मन्त्रीप्रवर श्रीउद्धवके ऐसे युक्तियुक्त तथा हृदय-रोचक वचनोंको श्रवण किया। अथवा पहलेसे ही यह विचार उनके हृदयमें विद्यमान था, केवल श्रीउद्धवके वचनोंको सुननेकी आशासे उन्हें व्यक्त नहीं किया, क्योंकि इसके द्वारा उनके अपने हृदयका विचार ही परिपुष्ट होगा। श्रीउद्धवके विचारको श्रवणकर श्रीनारद प्रीतिपूर्वक कहने लगे—॥२४४॥

श्रीनारद उवाच—

सत्यमुद्धव तद्भूमिलोकेषु प्रीतिमानसि।
यदस्याशिवष्टसिद्ध्यर्थमात्थ मन्त्रमिमं हितम्॥२४५॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारदने कहा—हे श्रीउद्धव! आप वास्तवमें व्रज-वासियोंके प्रति विशेष प्रीति रखते हैं, इसीलिए आपने इस गोपकुमारकी शीघ्र अभीष्ट सिद्धिके विषयमें ऐसी हितकर सलाह दी है॥२४५॥

दिग्दर्शिनी टीका—हे उद्धव! तस्या माथुरव्रजभूमेर्लोकेषु प्रीतिमान् त्वमसीति सत्यमेव, यद्यस्मादस्य गोपकुमारस्य आशु अचिरेण इष्टसिद्धिनिमित्तं हितं पथ्यम् इममुक्तप्रकारं मन्त्रं युक्तिमात्थ कथयसि। आश्वित्यनेन भौमश्रीपुरुषोत्तमेऽपि अत्रापि च सिध्येत्, किन्तु विलम्बेनैवेति च सूचितम्॥२४५॥

भावानुवाद—हे श्रीउद्धव! आप माथुर-व्रजभूमि और व्रजवासियोंके प्रति सचमुच प्रीति करनेवाले हो, इसीलिए इस गोपकुमारकी शीघ्र इष्टसिद्धिके लिए आपने हितकर पथस्वरूप उक्त प्रकारसे न्याययुक्त उपदेश प्रदान किया है। 'आशु' अर्थात् 'शीघ्र' पद द्वारा सूचित होता है कि भौम-पुरुषोत्तमक्षेत्र और इस द्वारकामें यद्यपि गोपकुमारकी इष्ट सिद्धि हो सकती है, किन्तु उसमें विलम्ब होगा॥२४५॥

तस्या व्रजभुवो वेत्ति भवानेव महिष्ठताम्।
निजेष्टदैवतं कृष्णं त्यक्त्वा यत्रावसच्चिरम्॥२४६॥

श्लोकानुवाद—उस व्रजभूमिकी महा-महिमाको आप मुझसे भी अधिक रूपमें जानते हैं, क्योंकि अपने इष्टदेव श्रीकृष्णको छोड़कर भी आपने बहुत समय तक वहाँ वास किया था॥२४६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तर्हि त्वं कथम् स्वयमेव तथा नावादीस्तत्राह—तस्या इति। महिष्ठतां परममाहात्म्यम्। तत्र हेतुः—निजेति। यत्र व्रजभुवि, भवानिवाहं तत्रत्यमहिमविशेषं न वेद्मीति भावः॥२४६॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि तब फिर आपने (श्रीनारदने) इस बातको पहले ही क्यों नहीं कहा? इसके लिए 'तस्या' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। हे उद्धव! आप व्रजभूमिके परम-माहात्म्यको मेरी तुलनामें अधिक जानते हैं, क्योंकि आपने अपने इष्टदेव श्रीकृष्णका सङ्गसुख त्यागकर उस व्रजमें बहुत समय तक वास किया है। अतएव आप ही उस व्रजभूमिकी विशेष महिमासे अवगत हैं॥२४६॥

श्रीगोपकुमार उवाच—

परितः पुनरालोक्य लक्षणानि शुभानि सः।
हृष्टो मामाह सर्वज्ञो नारदो वैष्णवप्रियः॥२४७॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमारने कहा—सर्वज्ञ और वैष्णवप्रिय श्रीनारदने चारों ओर शुभ लक्षणोंको देख हर्षपूर्वक पुनः मुझसे कहा—॥२४७॥

दिग्दर्शिनी टीका—लक्षणानि यात्रासिद्धिसूचकानि पक्षिरुतादीनि, शुभानि अनुकूलान्यालोक्य हृष्टः सन् पुनराह। तत्र हेतुः—वैष्णवा एव प्रिया यस्य सः, सर्वं तत्तल्लक्षणादिकं जानातीति तथा सः॥२४७॥

भावानुवाद—यहाँ 'लक्षणानि' शब्दका अर्थ है—यात्रा-सिद्धिके सूचक विशेष-विशेष पक्षियोंके कलरव (कूजन) इत्यादि। उन समस्त शुभ अर्थात् अनुकूल लक्षणोंको देखकर श्रीनारद हर्ष सहित मुझसे पुनः कुछ कहने लगे, क्योंकि श्रीनारद वैष्णवप्रिय और सर्वज्ञ अर्थात् उन-उन लक्षणोंके अर्थको जाननेवाले थे॥२४७॥

श्रीनारद उवाच—

व्रजवीर-प्रिय श्रीमन् स्वार्थं विद्ध्याशु साधितम्।
एतच्चास्ति महाभाग पुरैवानुमितं मया॥२४८॥

श्लोकानुवाद—श्रीनारदने कहा—हे व्रजवीरके प्रिय! हे श्रीमान् गोपकुमार! शीघ्र ही तुम्हारी अभीष्ट सिद्धि होगी। हे महाभाग्यवान्! इसका मैंने पहलेसे ही अनुमान कर लिया था॥२४८॥

दिग्दर्शिनी टीका—हे व्रजवीरस्य श्रीनन्दकिशोरस्य प्रिय! श्रीमन्! हे शोभातिशययुक्त! एतच्च सिद्धिलक्षणं स्वस्य तव अर्थं प्रयोजनमाशु अचिरेण साधितमेवेति विद्धि। एतत्त्वदीयाश्वर्थसाधनं मया पुरैवानुमितमस्ति, तत्र हेतुः—हे महाभागेति॥२४८॥

भावानुवाद—हे व्रजवीर अर्थात् श्रीनन्दकिशोरके प्रिय! हे श्रीमान् अर्थात् अत्यधिक शोभासे युक्त! इन समस्त सिद्धि-लक्षणोंको देखकर बोध होता है कि शीघ्र ही तुम्हारा प्रयोजन पूर्ण होगा। हे महाभाग्यवान्! तुम्हारी अभीष्ट सिद्धिका मैंने पहलेसे ही अनुमान कर लिया था॥२४८॥

श्रीवैकुण्ठेऽतुल-सुखभर-प्रान्तसीमास्पदेऽस्या-
योध्यापुर्यां तदधिकतरे द्वारकाख्ये पुरेऽस्मिन्।

आयातस्यापि तव वलते दुर्घटं चित्तदुःखं
स्वर्गादौ च प्रभुवर–पदाब्जेक्षणेनाप्यबोधः ॥२४९॥

श्लोकानुवाद—अतुलनीय सुखोंकी अन्तिम सीमाका आधार श्रीवैकुण्ठ है और उसकी तुलनामें भी अधिकतर सुखमय स्थान श्रीअयोध्या है, वहाँसे भी अधिकतर सुखमय स्थान इस श्रीद्वारकामें पहुँचकर भी जब तुम्हारे चित्तमें दुःखका अनुभव हो रहा है, तब फिर स्वर्गादिमें भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंका दर्शनकर किस प्रकारसे तुम्हारे चित्तसे दुःख दूर होता? ॥२४९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवाह—श्रीवैकुण्ठ इति द्वाभ्याम्। अतुलस्य निरूपमस्य सुखभरस्य प्रान्तसीमायाः परमान्त्यकाष्ठाया आस्पदे श्रीवैकुण्ठे आगतस्यापि तथा अस्य श्रीवैकुण्ठस्यायोध्यापुर्याञ्चायातस्यापि। उत्तरत्र 'तर'–प्रत्यय—प्रयोगाद्वैकुण्ठाधिकाया–मयोध्यापूर्यामिति ज्ञेयम्। यद्वा, तदधिकतर इत्यस्यैव लिङ्गव्यत्ययेनात्रापि सम्बन्धः कार्यः। तथा तस्मात् श्रीवैकुण्ठात् तस्या अयोध्यापूर्या वाऽधिकतरेऽस्मिन् द्वारकाख्ये पुरे चायातस्यापि तव चित्ते दुःखं दुर्घटमपि परममहासुखविशेषात्मक–स्थानप्राप्त्याऽघटमानमपि यद्‌वलते प्रभवति। तथा स्वर्गादौ च प्रभुवरस्य तत्तल्लोकाधिष्ठातुर्भगवतः पदाब्जयोरीक्षणेनापि अबोधो महर्लोकाद्यज्ञानं दुर्घटोऽपि यो वलते। आदि–शब्दान्महर्लोकादि॥२४९॥

भावानुवाद—श्रीनारद अपने अनुमानको 'श्रीवैकुण्ठ' इत्यादि दो श्लोकोंमें कह रहे हैं। अतुलनीय सुखोंकी अन्तिम सीमाके आधार इस श्रीवैकुण्ठमें पहुँचकर और इस वैकुण्ठके अन्तर्गत अधिकतर सुखके आधार श्रीअयोध्यामें तथा उससे भी अधिकतर सुखोंके आधार इस श्रीद्वारकामें आकर भी तुम्हारे चित्तमें दुःखका अनुभव हो रहा है। यहाँ एकके बाद एक 'तर' प्रत्ययके प्रयोगका उद्देश्य यह है कि वैकुण्ठसे भी अधिक सुखमय स्थान अयोध्या है और वहाँसे भी अधिक सुखमय यह द्वारकापुरी है। अतएव परम महान सुख विशेषसे पूर्ण स्थानको प्राप्त करनेपर भी जो घटित नहीं होना चाहिये, तुममें घटित उस दुःखपूर्ण बुद्धिका कारण सुनो। स्वर्गादिमें भी प्रभुवर अर्थात् उन–उन लोकोंके अधिष्ठाता श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंका दर्शन करनेपर सभीका अज्ञान दूर होता है, किन्तु तुममें अज्ञान

उपस्थित हुआ था। तथा उसी प्रकार महर्लोक आदिमें भी वह अघटित होनेवाला अज्ञान उपस्थित हुआ था। अतएव इस दुःखको उस अज्ञानके कारण ही जानों॥२४९॥

तच्चामुञ्च स्व-दयितवरस्वामि-पादारविन्द-,
द्वन्द्वे दृश्ये प्रणयपटली-वर्धनायैव मन्ये।
अस्मिँल्लोके कथमितरथा सम्भवेद्दुःखहेतु-
स्तस्मिंस्तस्मिन्नपि मतिपदे तत्र तत्राज्ञता वा॥२५०॥

श्लोकानुवाद—तुम्हारे प्रिय प्रभुके युगल श्रीचरणकमलोंके प्रति प्रेमराशिका वर्द्धन करनेके लिए ही वह दुःख सञ्चारित होता है, अन्यथा इस वैकुण्ठलोकमें दुःखका कारण अथवा स्थान ही कहाँ है? तथा ज्ञानके आधार स्वर्ग और महर्लोकादिमें अच्युतके दर्शन करनेपर भी जो अज्ञान उपस्थित हुआ था, वह भी किस प्रकार सम्भव है?॥२५०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तच्च दुःखम् अमुञ्च अबोधं प्रणयपटल्याः प्रेमसमूहस्य वर्धनायैवेत्यहं मन्ये। कस्मिन्? दृश्ये परमसुन्दरे अग्रे द्रष्टव्ये वा, स्वदयितवरस्य निजेष्टतमस्य स्वामिनः श्रीमदनगोपालदेवस्य पादपद्मद्वये। अत्रान्यथानुपपत्तिकन्यायं दर्शयति—अस्मिन्निति। इतरथा प्रणयपटलीवर्धमानप्रकारव्यतिरेकेण कथं दुःखस्य हेतुर्वैकुण्ठलोके सम्भवेत् घटेत? किञ्च, तस्मिन् तस्मिन् स्वर्गादौ लोकेऽपि तत्र तत्र गमनात् भगवत्सन्दर्शनाच्च मतेर्बुद्धेर्ज्ञानस्य वा पदे विषये तत्र तत्र महर्लोकादौ अज्ञता अज्ञानं वा कथमितरथा सम्भवेत्?॥२५०॥

भावानुवाद—मेरा ऐसा मानना है कि यह दुःख अपने प्रिय प्रभुके प्रति केवल प्रेमराशिका वर्द्धन करनेके लिए ही सञ्चारित होता है। अर्थात् दर्शनीय परमसुन्दर अथवा भविष्यमें दीखनेवाले अपने प्रियवरप्रभु श्रीमदनगोपालदेवके श्रीयुगल चरणकमलोंके प्रति प्रेमराशि वर्द्धित करनेके उपाय स्वरूप ही दुःख और अज्ञानता सञ्चारित होती है। अन्यथा परमसुखके आधार इस वैकुण्ठमें दुःख या अज्ञानता किस प्रकार संघटित हो सकती है? कुछ और भी कह रहे हैं—उन स्वर्गादि लोकों विशेषतः महर्लोकादिमें जाकर और वहाँ घनीभूत ज्ञान-आनन्द श्रीभगवान्के स्वरूपका दर्शनकर दुःख और अज्ञानता कैसे सम्भव है?

अथवा जब परमसुखमय स्थान वैकुण्ठमें आकर भी तुम्हारा मन शान्त नहीं हो रहा है, अपितु उत्तरोत्तर तुम्हारा दुःख ही वर्द्धित हो रहा है, तब तुम स्वर्ग-महर्लोकादिमें किस प्रकार तृप्त रह पाते?॥२५०॥

यया हृत्क्षोभराहित्यान्महाकौतुकतोऽपि ते।
वृत्तं भावविशेषेण तत्तल्लोकेऽच्युतेक्षणम्॥२५१॥

श्लोकानुवाद—परन्तु उन-उन लोकोंमें (प्रथमतः) तुम्हारे हृदयमें क्षोभ उत्पन्न न होनेके कारण ही महाकौतुकयुक्त भावविशेष सहित तुम्हें अच्युतका दर्शन हुआ था॥२५१॥

दिग्दर्शिनी टीका—दुःखेन प्रणयपटली वर्धताम् नाम; परमहेययाऽज्ञतया किम्? तत्राह—ययेति। अज्ञतया हेतुना, तस्मिन् तस्मिन् महरादौ लोके अच्युतस्य भगवत ईक्षणं सन्दर्शनं, भावविशेषेण परमप्रेम्णा, जगद्विलक्षण-मनोऽभिनिवेशेन वा ते तव वृत्तं भूतम्। कुतः? हृत्-क्षोभस्य चित्तविक्षेपस्य राहित्यात् अभावात्। किञ्च, महाकौतुकादपि। अयमर्थः—विविधज्ञानेन मनश्चाञ्चल्यात्तथाऽत्यन्तौत्सुक्याभावाच्च। भावविशेषानुत्पत्त्या भगवद्दर्शनेऽपि तादृशसुखं नोदेति। अतस्तत्तदभावेन तत्र सुखविशेषो जात इति॥२५१॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि स्वर्गादि लोकोंमें दुःख प्रेमराशिको वर्द्धित करनेके लिए उपस्थित हुआ—यह ठीक है, किन्तु वहाँ अत्यन्त हेय अज्ञानताका प्रवेश क्यों हुआ? इसकी अपेक्षामें श्रीनारद 'यया' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। अज्ञानताके कारण ही उन-उन लोकोंमें हृदयके क्षोभित अथवा चित्तके विक्षिप्त न होनेके कारण तथा महा-कौतुकतावशतः परम प्रेम सहित अथवा जगत्-विलक्षण मनके अभिनिवेश सहित भगवान् अच्युतका सन्दर्शन हुआ। इसका अर्थ है—विविध प्रकारके ज्ञान द्वारा ही मन चञ्चल (विक्षिप्त) रहता है तथा चित्तमें उत्सुकताका सञ्चार नहीं होता है। उत्सुकताके अभावके कारण विशेष भाव भी उदित नहीं होता है और उस भावविशेषके बिना सच्चिदानन्दमय भगवान्के दर्शनमें भी सुख प्राप्त नहीं होता है। अतएव उत्सुकताकी प्रधानतासे युक्त अज्ञानरूप भावविशेष द्वारा ही भगवान्के दर्शनमें सुख उत्पन्न होता है॥२५१॥

तद्गच्छतु भवान् शीघ्रं स्व–दीर्घाभीष्ट–सिद्धये।
माथुरीं व्रजभूमिं तां धरा–श्री–कीर्त्तिवर्धिनीम् ॥२५२॥

श्लोकानुवाद—इसलिए हे गोपकुमार! तुम अपनी दीर्घकालीन अभीष्ट सिद्धिके लिए शीघ्र ही मथुरामण्डलके अन्तर्गत व्रजभूमिमें जाओ। वह व्रजभूमि पृथ्वीकी शोभा और कीर्त्तिको बढ़ानेवाली है॥२५२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत् तस्मात्, स्वस्य तव दीर्घस्य चिरन्तनस्य अभीष्टस्य श्रीमदनगोपालदेव–तादृशसन्दर्शनस्य सिद्धये, तां सर्वाभीष्टसिद्धिकारिणीम्। यतः धरायाः पृथिव्याः श्रीः शोभा कीर्त्तिश्च तयोर्विस्तारिणीम्। तथा च दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा. १०/२१/१०)—*"वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिं, यद्देवकीसुतपदाम्बुज–लब्धलक्ष्मि"* इति॥२५२॥

भावानुवाद—अतएव हे गोपकुमार! अपनी चिरकालीन अभीष्ट सिद्धिके लिए अर्थात् श्रीमदनगोपालदेवके वैसे सुखपूर्ण दर्शनके लिए शीघ्र ही उस माथुर–व्रजभूमिमें जाओ। वह व्रजभूमि सभीके समस्त अभीष्टोंको पूर्ण करनेवाली है, अतः पृथ्वीकी शोभा और कीर्त्तिको बढ़ानेवाली है। यथा श्रीमद्भागवत (१०/२१/१०) में कथित है—"सखि! सुखमय श्रीवृन्दावन पृथ्वीकी कीर्त्तिका विस्तार कर रहा है। ऐसा होना तो स्वाभाविक ही है, क्योंकि यह श्रीवृन्दावन श्रीकृष्णके युगल चरणकमलोंके संस्पर्शसे उत्पन्न समस्त प्रकारकी शोभाको अपने अङ्गोंमें धारण किये हुए है॥"२५२॥

तत्रैव साधनं सत्यं साधु सम्पद्यतेऽचिरात्।
वैकुण्ठोपरि विभ्राजच्छ्रीमद्गोलोकयापकम् ॥२५३॥

श्लोकानुवाद—वास्तवमें उस व्रजभूमिमें ही तुम्हारा साधन सुष्ठु रूपमें अर्थात् निर्विघ्नतापूर्वक सम्पन्न होगा और फलस्वरूप अतिशीघ्र ही तुम्हें इस वैकुण्ठके ऊपर विराजमान श्रीगोलोकमें पहुँचा देगा॥२५३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र माथुरव्रजभूमावेव, साधु यथा स्यात्तथाचिरात् सम्पद्यत इति सत्यमेव। कीदृशम्? वैकुण्ठलोकोपरि विभ्राजतः श्रीमतो गोलोकस्य यापकं प्रापकम्॥२५३॥

भावानुवाद—सचमुच उस माथुर–व्रजभूमिमें ही तुम्हारा साधन सुचारु रूपसे अर्थात् निर्विघ्नतापूर्वक और अतिशीघ्र पूर्ण होगा। किस

रूपमें पूर्ण होगा? तुम्हें इस वैकुण्ठलोकके ऊपर विराजमान श्रीगोलोक धामकी प्राप्ति करा देगा॥२५३॥

श्रीगोपकुमार उवाच—

तस्य वाक्सुधया प्रीतस्तत्राहं गन्तुमुत्सुकः।
अन्तर्भगवदाज्ञार्थी संलक्ष्योक्तो महात्मना॥२५४॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमारने कहा—हे ब्राह्मण! श्रीनारदके वचनरूपी अमृतका पानकर मैं आनन्दित होकर व्रजभूमिमें जानेके लिए उत्सुक हो गया। किन्तु, मैं वहाँ जानेके लिए श्रीद्वारकानाथकी आज्ञा लेना चाहता था। तब मेरे इस मनोभावको जानकर महात्मा श्रीउद्धव कहने लगे— ॥२५४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य श्रीनारदस्य वागेव सुधा, परमाप्यायनत्वात् तया। तत्र व्रजभूमौ उत्सुकः सोत्कण्ठः उद्यतो वा सन् अन्तः मनसि भगवतः श्रीद्वारकानाथस्य आज्ञार्थो गमनादेशमिच्छन्नहं, महात्मना उद्धवेन संलक्ष्य आकारादिना सम्यग् लक्षयित्वा, उक्तः॥२५४॥

भावानुवाद—श्रीनारदके वचनामृतका पानकर मैं परम आनन्दित होकर उस व्रजभूमिमें जानेके लिए उत्सुक हो उठा। मैंने मन-ही-मन निश्चित किया कि मैं भगवान् श्रीद्वारकानाथकी आज्ञा लेकर ही वहाँ जाऊँगा, तब महात्मा श्रीउद्धव मेरे मनकी बातको जानकर कहने लगे— ॥२५४॥

श्रीमदुद्धव उवाच—

तदैव यादवेन्द्राज्ञापेक्ष्या स्याद्यदि गम्यते।
कुत्रापि भवतान्यत्र सा भूर्ह्यस्य महाप्रिया॥२५५॥

श्लोकानुवाद—श्रीउद्धवने कहा—हे गोपकुमार! श्रीकृष्णके निजधामसे यदि कहीं दूसरे स्थानपर जाना हो तभी श्रीयादवेन्द्रकी आज्ञा लेनेकी आवश्यकता होती है। किन्तु व्रजभूमि तो उनका परमप्रिय स्थान है, अतः वहाँ जानेके लिए उनकी आज्ञा लेनेकी कोई आवश्यकता नहीं है॥२५५॥

दिग्दर्शिनी टीका—यदि उन्यत्र तदीयप्रियस्थानादन्यस्मिन् स्थाने गम्यते। हि यस्मात् सा श्रीमाथुरव्रजसम्बन्धिनी भूमिः, अस्य यादवेन्द्रस्य परमप्रिया। महच्छब्द-प्रयोगेण द्वारकातोऽप्यधिकप्रियेति सूचितम्॥२५५॥

भावानुवाद—यदि किसी अन्य स्थान अर्थात् श्रीकृष्णके प्रिय स्थानको छोड़कर किसी दूसरे स्थानपर जाना हो तभी श्रीयादवेन्द्रकी आज्ञा लेनी होती है। वह श्रीमाथुर-व्रजभूमि तो उनकी परमप्रिय है, अतः वहाँ जानेके लिए उनकी आज्ञाकी कोई आवश्यकता नहीं है। मूल श्लोकमें 'महाप्रिया' पदमें 'महत्' शब्दके प्रयोग द्वारा सूचित होता है कि व्रजभूमि उन्हें द्वारकासे भी अधिक प्रिय है॥२५५॥

न साक्षात् सेवया तस्य या प्रीतिरिह जायते।
तद्व्रजस्थानवासेन सा हि सम्पद्यते दृढ़ा॥२५६॥

श्लोकानुवाद—इस द्वारकापुरीमें रहकर श्रीकृष्णकी साक्षात् सेवा करनेसे भी वैसी प्रेमभक्ति उत्पन्न नहीं होती, जैसी दृढ़ प्रेमभक्ति उस व्रजभूमिमें केवल वास करनेसे ही उत्पन्न होती है॥२५६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव स्पष्टयति—नेति द्वाभ्याम्। या यादृशी, इह द्वारकायाम्; तस्मिन् व्रजस्थाने वासेन सा प्रीतिः, सा च दृढ़ा॥२५६॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णको व्रजभूमि अधिक प्रिय है, इसका कारण श्रीउद्धव 'न' इत्यादि दो श्लोकोंमें बतला रहे हैं। इस द्वारकामें रहकर श्रीकृष्णकी साक्षात् सेवा करनेपर भी उनके प्रति वैसी प्रेमभक्ति उत्पन्न नहीं होती, जैसी दृढ़ प्रेमभक्ति उस व्रजभूमिमें मात्र वास करनेसे ही उत्पन्न हो जाती है॥२५६॥

अतएवोषितं तस्यां व्रजभूमौ चिरं मया।
तत्रत्यतत्प्रिय-प्राणिवर्गस्याश्वासनच्छलात् ॥२५७॥

श्लोकानुवाद—इसीलिए मैंने श्रीकृष्णके विरह द्वारा पीड़ित व्रज-वासियोंको आश्वासन देनेके बहाने उस व्रजभूमिमें बहुत समय तक वास किया था। वास्तवमें उन्हें आश्वासन देनेका मुझमें कोई सामर्थ्य ही नहीं था॥२५७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु गोपगोपीनां सान्त्वनार्थमेव चिरं तत्रावात्सीत्; तत्राह—तत्रत्यानां व्रजभूमिवासिनां तस्ययादवेन्द्रस्य प्रियाणां प्राणिनां प्राणमात्रावशेषवताम्। यद्वा, पशुपक्ष्यादीनामपि सर्वेषां जीवानां वर्गस्य आश्वासनमेव छलं तस्माद्धेतोः। वस्तुतो मत्तस्तेषामाश्वासनासम्भवात्॥२५७॥

भावानुवाद—यहाँ श्रीउद्धव अपने दृष्टान्त द्वारा व्रजभूमिमें वासमात्रसे उस प्रेमकी प्राप्तिके विषयमें बतला रहे हैं। यदि कहो कि गोप-गोपियोंको सान्त्वना देनेके लिए आपने बहुत समयके लिए व्रजमें वास किया था। इसकी अपेक्षामें श्रीउद्धव 'अतएव' इत्यादि श्लोक द्वारा कह रहे हैं कि उस व्रजभूमिमें श्रीयादवेन्द्रके प्राणप्रिय परिकर व्रजके पशु-पक्षी आदि जो समस्त प्राणी श्रीकृष्णको प्राप्त करनेकी आशामात्रसे प्राण धारण किये हुए थे, उन सबको सान्त्वना देनेके बहाने ही मैंने व्रजभूमिमें बहुत समय तक वास किया था। वास्तवमें उनको सान्त्वना देना असम्भव था, अर्थात् उन्हें सान्त्वना देनेका मुझमें कुछ भी सामर्थ्य नहीं था॥२५७॥

मन्ये मदीश्वरोऽवेत्य काममेतं तवोत्कटम्।
तां नेष्यत्येष भूमिं त्वां स्वयं स्वस्य प्रियां प्रियम्॥२५८॥

श्लोकानुवाद—मैं तो यह भी मानता हूँ कि तुम्हारी गोलोक जानेकी तीव्र उत्कण्ठाको देखकर मेरे प्रभु स्वयं ही तुम्हें अपनी प्रिय व्रजभूमिमें ले जायेंगे, क्योंकि तुम उनके अत्यन्त प्रिय हो॥२५८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तर्हि गमनाज्ञा न हि प्रार्थणीया, किन्तु केवलं तद्दर्शनमङ्गलं विधाय प्रस्थानं करवाणीति चेत् स एव स्वयं त्वत्सङ्गत्या तत्रैव यास्यतीत्याह—मन्य इति। तव उत्कटमुद्रिक्तमेतं तद्व्रजभू-गमनविषयकं श्रीगोलोक-प्राप्तिविषयकं वा कामं मनोरथमवेत्य ज्ञात्वा, तां श्रीवृन्दावनाद्यात्मकां भूमिं स्वयमेव एषः अचिरादेव त्वां नेष्यति प्रापयिष्यति। तत्र हेतुः—स्वस्येति। सा भूमिः तस्य प्रिया, त्वञ्च तस्य प्रियः, अतोऽचिरात् स्वयमेव नेष्यतीत्यर्थः॥२५८॥

भावानुवाद—यदि कहो कि मैं उनके प्रिय स्थानमें जानेके लिए उनकी आज्ञाकी प्रार्थना नहीं करता, किन्तु जाते समय केवल उनके दर्शन द्वारा मङ्गल विधानकर ही प्रस्थान करूँगा। इसकी अपेक्षामें श्रीउद्धव 'मन्य' इत्यादि श्लोक द्वारा कह रहे हैं—हे गोपकुमार! मेरे

प्रभु श्रीयादवेन्द्र तुम्हारे द्वारा व्रजभूमिमें जानेके विषयमें या श्रीगोलोकको प्राप्त करने सम्बन्धी तुम्हारे अत्यन्त तीव्र मनोरथको जानकर स्वयं ही तुम्हें अपनी श्रीवृन्दावन भूमिमें ले जायेंगे। इसका कारण है कि वह व्रजभूमि जिस प्रकार उनकी प्रिय है, तुम भी उसी प्रकारसे उनके प्रिय हो, अतएव अतिशीघ्र स्वयं ही तुम्हें वहाँ ले जायेंगे॥२५८॥

श्रीगोपकुमार उवाच—

तद्वागमृतपानेन परमानन्दपूरितः।
गतो मोहमिवामुत्र क्षणं दृष्टी न्यमीलयम्॥२५९॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमारने कहा—श्रीउद्धवके अमृत तुल्य वचनोंका पानकर मैं परमानन्दसे पूर्ण होकर मानो मूर्च्छित-सा हो गया, इसलिए कुछ क्षणके लिए मेरे नेत्र बन्द हो गये॥२५९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदुक्तञ्च मयानुभूतमेवेत्याह—तदिति द्वाभ्याम्। तस्य उद्धवस्य वच एवामृतं तस्य पानेन यः परमानन्दस्तेन पूरितः मोहमिव प्राप्तः सन्। इवेति केवलबहिर्दृष्ट्यभावसाम्यं, न तु ज्ञानराहित्यं द्योतयति। अमुत्र वैकुण्ठद्वारकायां दृष्टी स्वनेत्रे, न्यमीलयन् मुद्रितवानस्मि॥२५९॥

भावानुवाद—मैंने उसी क्षण श्रीउद्धवकी उक्तिका सार अनुभवकर लिया, इसे बतलानेके लिए श्रीगोपकुमार 'तद्' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। मैं श्रीउद्धवके वचनामृतको पानकर परमानन्दसे पूर्ण होकर मानो मूर्च्छित-सा हो गया। मूल श्लोकके 'इव' कारक द्वारा सूचित होता है कि वह मोह-मूर्च्छा केवल बाह्य दृष्टिका अभावमात्र था, ज्ञानका अभाव नहीं। 'अमुत्र'—उस वैकुण्ठ स्थित द्वारकामें इस प्रकार आनन्दकी प्रचुरताके कारण क्षणकालके लिए मैंने अपने दोनों नेत्रोंको बन्द कर लिया था॥२५९॥

केनचिन्नीयमानोऽस्मि कुत्रापीति वितर्कयन्।
दृशावुन्मील्य पश्यामि कुञ्जेऽस्मिन्नस्मि सङ्गतः॥२६०॥

इति श्रीबृहद्भागवतामृते गोलोकमाहात्म्य-निरूपणखण्डे
प्रेमनामा पञ्चमोऽध्यायः।

श्लोकानुवाद—उस समय मैंने अनुभव किया कि जैसे कोई मुझे कहीं ले जा रहा हो। फिर जब मैंने अपने नेत्र खोले तब मैंने अपनेको इस कुञ्जमें पाया॥२६०॥

श्रीबृहद्भागवतामृतके द्वितीयखण्डके पञ्चम अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

दिग्दर्शिनी टीका—कुत्रापि स्थाने केनचिन्नीयमानोऽस्मीति वितर्कयन् तर्ह्येवानुमानेन जानन् सन् दृशौ उन्मील्य उद्घाट्य पश्यामि। किम्? यत्राहमुपविष्टोऽस्मि अस्मिन्नेव कुञ्जे सङ्गतो मिलितोऽस्मीति। केनचिदिति श्रीभगवति दृष्टे तत्परित्यागेनान्यत्र गमनस्य स्थितेर्वात्यन्तसम्भवात् साक्षात्तद्दर्शनं न वृत्तमिति द्योतयति। अतएवोद्धवेनापि भगवद्दर्शनार्थं साक्षाद्गमनं निषिद्धमिति ज्ञेयम्; तच्च तस्यैवाचिरादभीष्टसिद्धये॥२६०॥

इति श्रीभागवतामृतटीकायां दिग्दर्शिन्यां द्वितीयखण्डे पञ्चमोऽध्यायः।

भावानुवाद—उस समय मैंने अनुमान किया कि जैसे कोई मुझे कहीं ले जा रहा हो। ऐसी विवेचना कर मैंने नेत्रोंको खोलकर अपनेको इसी कुञ्जमें पहुँचा हुआ देखा जहाँपर मैं अभी बैठा हूँ। तब मुझे श्रीउद्धवके वचनोंका स्मरण हुआ। उन्होंने कहा था—"श्रीद्वारकानाथ ही तुम्हें ले जायेंगे।" मूल श्लोकके 'केनचित्' शब्द द्वारा सूचित होता है कि श्रीभगवान्का साक्षात् दर्शन होनेपर उन्हें परित्यागकर किसी दूसरे स्थानपर जाना असम्भव है, इसीलिए बोध होता है कि व्रज-आगमनके समय गोपकुमारको श्रीभगवान्का साक्षात् दर्शन नहीं हुआ। अथवा श्रीउद्धवने भी उनको भगवान्के साक्षात् दर्शनके लिए निषेध किया था, क्योंकि श्रीभगवान्के साक्षात् दर्शन होनेपर गोपकुमारका व्रजगमन नहीं होगा और व्रजमें गमन किये बिना उनकी अभीष्ट सिद्धि भी नहीं होगी॥२६०॥

श्रीबृहद्भागवतामृतके द्वितीयखण्डके पञ्चम अध्यायकी
दिग्दर्शिनी टीकाका भावानुवाद समाप्त।

षष्ठोऽध्यायः (अभीष्टलाभः)

श्रीगोपकुमार उवाच—

तां नारदीयामनुसृत्य शिक्षां, श्रीकृष्ण–नामानि निज–प्रियाणि।
संकीर्त्तयन् सुस्वरमत्र लीलास्तस्य प्रगायन्ननुचिन्तयंश्च ॥१॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमारने कहा—हे ब्राह्मण! श्रीनारदजीकी शिक्षाके अनुसार मैं अपने प्रिय श्रीकृष्णके नामोंका सुन्दर स्वरसे संकीर्त्तन तथा उनकी लीलाओंका गान और चिन्तन करते–करते इस वृन्दावनमें वास करने लगा॥१॥

दिग्दर्शिनी टीका

षष्ठे गोलोकगमनं तत्र श्रीकृष्णदर्शनम्।
कृपाविशेषस्तस्याथ लीला तल्लोकवर्त्तिनी॥

इदानीं श्रीनारदोपदिष्टस्य गोलोकप्रापकसाधनपरस्य सम्पत्तिं साङ्गमाह—तामिति पञ्चभिः। तां पूर्वोक्तां नारदकृतां शिक्षामुपदेशमनुसृत्य तदनुसारेणेत्यर्थः। तत्प्रकार–मेवाह—श्रीकृष्णेत्यादिना। अत्र श्रीवृन्दावने, तस्य श्रीकृष्णस्य लीलाः॥१॥

भावानुवाद—इस छठे अध्यायमें श्रीगोपकुमारका गोलोक गमन, वहाँ श्रीकृष्णका दर्शन और उनकी विशेष कृपाकी प्राप्ति तथा उस लोककी लीलाओंका वर्णन होगा।

अब श्रीनारदजी द्वारा दिये गये उपदेशके अनुसार गोलोकको प्राप्त करानेवाली साधनरूप श्रेष्ठ सम्पत्तिको उसके अङ्गों सहित वर्णन करनेके लिए गोपकुमार 'तां' इत्यादि पाँच श्लोक कह रहे हैं। श्रीनारदजी द्वारा दी गयी शिक्षाका अनुसरण करके मैं अपने प्रिय श्रीकृष्णके नामोंका संकीर्त्तन और उनकी लीलाओंका चिन्तन करते–करते इस श्रीवृन्दावनमें वास करने लगा॥१॥

तदीयलीलास्थल-जातमेतद्विलोकयन् भाव-दशे गतो ये।
तयोः स्व-चित्ते करणेन लज्जे, कथं परस्मिन् कथयान्यहं ते॥२॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णकी लीला-स्थलियोंको देखकर मुझमें जो भाव-दशा उदित हुई, उस दशाको स्मरण करनेमें भी मैं लज्जित हो रहा हूँ, तब फिर दूसरेके निकट उसे कैसे वर्णन करूँ?॥२॥

दिग्दर्शिनी टीका—एतत् प्रत्यक्षमेव वर्त्तमानं, भावश्चान्तःकरणवृत्तिविशेषः, दशा चोन्मत्तादिवदवस्था, ते ये यादृशौ प्राप्तोऽहम्। तयोर्भाव-दशयोः, स्वचित्ते करणेनानुसन्धानेनापि लज्जे। अतः कथं ते भावदशे? परस्मिन् अन्यं प्रति कथयानि; पञ्चमी सम्भावनायाम्॥२॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीकृष्णकी लीला-स्थलियोंका प्रत्यक्ष दर्शन करके मुझमें जिस भाव अर्थात् अन्तःकरणकी विशेष वृत्ति और दशा अर्थात् उन्माद जैसी अवस्था उदित हुई, वैसी भाव-दशाको अपने चित्तमें स्मरण करनेमें भी मैं लज्जाका बोध करता हूँ। अतएव किस प्रकार दूसरोंको उस भाव-दशाका पुनः वर्णन करूँ?॥२॥

सदा महात्त्या करुणस्वरै रुदन्नयामि रात्रीर्दिवसांश्च कातरः।
न वेद्मि यद्यत् सुचिरादनुष्ठितं, सुखाय वा तत्तदुतार्त्तिसिन्धवे॥३॥

श्लोकानुवाद—उस समय मैं सदैव अत्यधिक दुःखवशतः करुण स्वरसे रोदन करते हुए व्याकुल होकर रात-दिन बिताने लगा। मैं यह नहीं जान सका कि मैंने दीर्घकालसे जो सब अनुष्ठान किये, वह सुखकी प्राप्तिके लिए थे अथवा उनका फल दुःखरूपी सागरमें डूबना था॥३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथापि स्नेहेन ते किञ्चित् कथयामीत्याह—सदेति, कातरो विवशः सन्, नयामि गमयामि। सुचिराद्बाल्ये निजगृहत्यागमारभ्य, यद्यत् साधनमनुष्ठितं कृतम्, तत्तत् सुखाय वा, उत किंवा, दुःखसागरायानुष्ठितमिति न वेद्मि। सामीप्ये वर्त्तमाना; वेदनक्रियाया बहुकालानुवृत्तेः, कथनेन अधुना मनस्यनुवृत्तेर्वा, एवमुत्तरत्रापि॥३॥

भावानुवाद—तथापि ब्राह्मणके प्रति स्नेहवशतः गोपकुमार अपनी उस भाव-दशाका किञ्चित वर्णन 'सदा' इत्यादि श्लोक द्वारा कर रहे हैं। मैं सदैव अत्यधिक आर्त्तिसे विवश होकर रोते हुए रात-दिन किस

प्रकार व्यतीत करता था, यह मैं स्वयं भी नहीं जानता। चिरकाल अर्थात् बाल्यकालमें अपना घर त्याग करनेसे आरम्भ करके अब तक मैंने जो साधन-अनुष्ठान किये, मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि वे सब अनुष्ठान सुखके लिए हुए थे या फिर दुःखके सागरमें डूबनेके लिए? इस वाक्यमें यद्यपि वेदनकी क्रिया बहुतकाल पूर्व हुई थी, तथापि यह वाक्य या कथन मनकी वर्त्तमान वृत्तिको अनुसरण करके कहा गया है। अर्थात् अपने द्वारा अनुभव की गयी अवस्थाका वर्णन करते समय उसकी स्मृति उदित होनेके कारण भूतकालमें हुई वेदनाके सामीप्य हेतु वर्त्तमान कालका प्रयोग हुआ है॥३॥

कथञ्चिदप्याकलयामि नैतत्,
किमेष दावाग्निशिखान्तरेऽहम्।
वसामि किंवा परमामृताच्छ-
सुशीतलश्रीयमुना-जलान्तः ॥४॥

श्लोकानुवाद—मैं किसी भी प्रकारसे यह स्थिर नहीं कर पाया कि मैं दावाग्निकी शिखाके बीच वास कर रहा हूँ, अथवा परम अमृत तुल्य निर्मल सुशीतल श्रीयमुनाके जलमें वास कर रहा हूँ?॥४॥

दिग्दर्शिनी टीका—एतच्च कथञ्चिदपि नाकलयामि, न बोद्धुं शक्नोमि। किं दावाग्निशिखामध्येऽहमेष वसामि वर्त्ते? किंवा, परममधुरस्य परमनिर्मलस्य सुखशीतलस्य श्रीमतो यमुनाजलस्य अन्तर्मध्ये?॥४॥

भावानुवाद—मैं किसी भी प्रकारसे यह भी नहीं जान पाया कि मैं दावाग्निकी शिखामें वास कर रहा हूँ, अथवा परम मधुर परम निर्मल सुखपूर्ण शीतल श्रीयमुनाके जलमें॥४॥

कदाचिदेवं किल निश्चिनोम्यहं,
शठस्य हस्ते पतितोऽस्मि कस्यचित्।
सदा न्यमज्जं बहुदुःखसागरे,
सुखस्य गन्धोऽपि न मां स्पृशेत् क्वचित्॥५॥

श्लोकानुवाद—किसी-किसी समय मैं इस प्रकार निश्चय करता कि मैं किसी धूर्तके हाथ पड़ गया हूँ, क्योंकि मैं सर्वदा महादुःखके

सागरमें डूबा जा रहा हूँ, जहाँ कभी सुखकी गन्ध भी मुझे स्पर्श नहीं करती॥५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र आद्य एव पक्षो मुहुर्मे प्रत्यभादिति सहेतुकमाह—कदाचिदिति। कस्यचित् परमश्रेष्ठतमस्य शठस्य हस्ते, क्वचित् कदाचिदपि॥५॥

भावानुवाद—उसमें भी प्रथमपक्ष अर्थात् मैं दावाग्निकी शिखाके बीचमें वास कर रहा हूँ, यही मुझे पुनः-पुनः अनुभव होता। इसका कारण 'कदाचित्' इत्यादि श्लोकमें बतला रहे हैं। कभी-कभी मैं निश्चय करता कि मैं किसी बहुत बड़े धूर्तके हाथमें पड़ गया हूँ॥५॥

इत्थं वसन्निकुञ्जेऽस्मिन् वृन्दावनविभूषणे।
एकदा रोदनाम्भोधौ निमग्नो मोहमव्रजम्॥६॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकारसे श्रीवृन्दावनके भूषणस्वरूप इस निकुञ्जमें वास करते-करते एकबार मैं रोदन-समुद्रमें डूबकर मूर्च्छित हो गया॥६॥

दिग्दर्शिनी टीका—इत्थमुक्तप्रकारेण दिनानि कतिचिदस्मिन्नेव कुञ्जे निवसन्॥६॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे कुछ दिनों तक मैं इस कुञ्जमें ही वास करने लगा॥६॥

दयालुचूड़ामणिनाऽमुनैव, स्वयं समागत्य कराम्बुजेन।
वंशीरतेनामृतशीतलेन, मद्गात्रतो मार्जयता रजांसि॥७॥
नीतोऽस्मि सञ्चाल्य मुहुः सलीलं, संज्ञां महाधूर्त्त-वरेण यत्नात्।
नासाप्रविष्टैरपुरानुभूतैरापूर्य सौरभ्यभरैः स्वकीयैः॥८॥

श्लोकानुवाद—उस समय वे दयालुचूड़ामणि स्वयं मेरे निकट आये और वंशीयुक्त अमृत-सुशीतल-हस्तकमलसे मेरे अङ्गोंमें लगी धूलिको झाड़ने लगे। फिर उन श्रेष्ठ महाधूर्तने मुझे सचेत करानेके लिए क्रीड़ा करनेकी भाँति यत्नपूर्वक मेरे शरीरको पुनः-पुनः हिलाया। जैसे ही उनके अङ्गोंकी सौरभ जिसका मैंने पहले कभी भी अनुभव नहीं किया था, मेरी नासिकामें पहुँची मैं सचेत हो गया॥७-८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च अमुना श्रीमदनगोपालदेवेन, स्वयमेव समागत्य आविर्भूय, सलीलं मुहुः सञ्चाल्याहं संज्ञां बोधं यत्नान्नीतोऽस्मीति द्वाभ्यामन्वयः। किं कुर्वता? अमृतादपि शीतलेन। यद्वा, अमृतं परममधुरञ्च तत् शीतलञ्चेति तथा, तेन वंशीरतेन वेणुसंयुक्तेन दक्षिणेन कराम्बुजेन मद्गात्रेभ्यो रजांसि मार्जयता अपसारयता; तत्र तत्र हेतुः—दयालुचूड़ामणिनेति। ननु तादृशप्रेममोहे बहिर्ज्ञानाभावादाशु व्युत्थानं कथं वृत्तम्? तत्राह—नासेति, नासाद्वारा मदन्तःप्रविष्टैः पूर्वं मया कुत्राप्यननुभूतैः स्वकीयैर्निजैरसाधारणैः सौरभ्यभरैरापूर्य। ननु नासाप्रवेशोऽपि कथं सम्भवेत्तत्राह—महाधूर्त्तवरेणेति। तत्-प्रकारं सम्यग् वेत्तीत्यर्थः। महाभिज्ञवरेणेति वक्तव्ये प्रेमविशेषपरिपाकेण तथोक्तिः। यद्वा, अग्रे परित्यागेन गात्ररजः सम्मार्जनादेः परमशाठ्ये एव पर्यवसानादिति दिक्॥७-८॥

भावानुवाद—तदुपरान्त उसी मूर्च्छित अवस्थामें ही मैंने अनुभव किया कि श्रीमदनगोपालदेव स्वयं मेरे निकट आये हैं तथा क्रीड़ापूर्वक पुनः-पुनः मेरे अङ्गोंको बार-बार हिलाते हुए मुझे सचेत करनेका प्रयत्न कर रहे हैं। किस प्रकारसे? अमृतसे भी सुशीतल अथवा अमृत अर्थात् परममधुर और परमशीतल दायें हस्तकमल द्वारा, जिसमें वेणु धारण किए हुए थे, वे मेरे शरीरसे धूलि झाड़ने लगे। उनके द्वारा ऐसा करनेका कारण था कि वे दयालुचूड़ामणि हैं। यदि आपत्ति हो कि वैसे प्रेमकी मोह (मूर्च्छा) अवस्थामें बाहरी ज्ञानके अभावके कारण ऐसी बाह्य स्फूर्ति किस प्रकार सम्भव हुई? इसके समाधानमें ही कह रहे हैं कि वे प्रभु अपने श्रीअङ्गके अपूर्व सौरभको मेरी नासिकाके पथसे अन्तःकरणमें प्रवेश करवाने लगे। यहाँपर 'अपूर्व' कहनेका तात्पर्य यह है कि वैसा असाधारण सौरभ मैंने पहले कभी अनुभव नहीं किया था। यदि पुनः आपत्ति हो कि प्रभुके अङ्ग-सौरभका नासिकामें प्रवेश ही किस प्रकार सम्भव हुआ? इसके लिए ही गोपकुमार कह रहे हैं कि वे महाधूर्तोंमें श्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे उस कौशलके प्रयोगको भलीभाँति जानते हैं। अर्थात् वे उस कौशलका प्रयोग करनेमें महा-अभिज्ञ हैं। यहाँपर 'महा-अभिज्ञ' श्लेष वाक्य है। प्रेमकी परिपक्व अवस्था हेतु ही गोपकुमार द्वारा ऐसा (महाधूर्त) उक्त हुआ है।

अथवा उस दयालुचूड़ामणि तथा महाधूर्तने स्वयं उपस्थित होकर जिस अमृतसे भी सुमधुर सुशीतल हस्तकमल द्वारा मेरे शरीरमें लगी

धूलिका मार्जन किया, वह उनकी परम शठतामें ही पर्यवसित हो रहा है। इसका कारण है कि दयालुचूड़ामणि जैसा आचरण करके अगले ही क्षणमें मुझे परित्याग करना अर्थात् अचानक अन्तर्धान होना प्राण संहाररूप उनकी परम शठतामें ही पर्यवसित हो रहा है—यही उक्त विचारका दिग्दर्शन है॥७–८॥

तदीयवक्त्राब्जमथावलोक्य, ससम्भ्रमं सत्वरमुत्थितोऽहम्।
अमुं विधर्तुं वरपीतवस्त्रे, समुद्यतो हर्षभराचितात्मा॥९॥

श्लोकानुवाद—उनके मुखकमलका दर्शन करके मैं सम्भ्रमवशतः शीघ्र ही उठ खड़ा हुआ और अत्यन्त आनन्दित होकर उनके मनोहर पीताम्बरको पकड़नेकी चेष्टा करने लगा॥९॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथ संज्ञावाप्त्यनन्तरम्, अमुं महाधूर्त्तवरं, वरे कौशेयपीतवस्त्रे धर्त्तुमहं समुद्यतः सम्यगुद्युक्तः। कुतः? हर्षभरेणाचितो व्याप्त आत्मा अन्तःकरणं यस्य सः॥९॥

भावानुवाद—सचेत होनेके उपरान्त उन महाधूर्तवरके मुखकमलका दर्शन करके मैं उनके सुन्दर पीताम्बरको पकड़नेकी चेष्टा करने लगा। किसलिए? अन्तःकरण अर्थात् चित्तमें व्याप्त प्रचुर आनन्दवशतः॥९॥

स नागरेन्द्रोऽपससार पृष्ठतो, निनादयंस्तां मुरलीं स्व–लीलया।
अभूच्च कुञ्जान्तरितः सपद्यसौ, मया न लब्धो वत धावताप्यलम्॥१०॥

श्लोकानुवाद—तब वे नागरचूड़ामणि अपनी लीलावशतः वंशी बजाते–बजाते पीछेकी ओर हटने लगे तथा शीघ्र ही किसी कुञ्जमें जाकर छिप गये। मैं उनके पीछे धावित होकर भी उन्हें पकड़ नहीं पाया॥१०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च पृष्ठतः मदभिमुखतया पश्चाद्गत्या सोऽपससार। तत् कुतः? नागरेषु विदग्धवरेषु इन्द्रः परमश्रेष्ठः। अतएव स्वया असाधारण्या लीलया तां परममोहिनीं मुरलीं निनादयन्नपससार। किञ्च, सपदि तत्क्षण एव कुञ्जेन अन्तरितो व्यवहितश्चाभूत्। वत खेदे, अलमत्यर्थं, धावतापि मया असौ नागरेन्द्रो न लब्धः, धर्त्तुं न शक्त इत्यर्थः॥१०॥

भावानुवाद—तब वे नागरचूड़ामणि मेरी ओर देखते हुए पीछेकी ओर हटने लगे। किसलिए? वे नागरचूड़ामणि हैं, अर्थात् विदग्धजनोंमें परम श्रेष्ठ होनेके कारण अपनी असाधारण लीलावशतः वे परम मोहिनी मुरलीका वादन करते-करते पीछे हटने लगे। तथा फिर वे तत्क्षणात किसी कुञ्जमें छिप गये। 'वत' शब्द खेदके अर्थमें व्यवहार किया गया है। हाय! मैं उनके पीछे धावित होकर भी उन नागरचूड़ामणिको पकड़ नहीं सका॥१०॥

अन्तर्हितं तं त्वविलोक्य मूर्च्छां,
प्राप्तोऽपतं श्रीयमुना-प्रवाहे।
एतस्य वेगेन समुह्यमानो,
लब्ध्वेव संज्ञां व्यकिरं स्व-दृष्टी॥११॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार उन्हें अन्तर्धान होते देखकर अचेतन होनेके कारण मैं श्रीयमुनाके प्रवाहमें जा गिरा। तत्पश्चात् जल-प्रवाहके वेगसे चेतनता प्राप्तकर मैंने अपने नेत्रोंको खोला॥११॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततोऽन्तर्हितं सन्तं तु तं न दृष्ट्वा; एतस्य प्रवाहस्य; इवेति वस्तुतोऽन्तर्बोधानपगमात्, तदानीमपि सम्यक् प्रेममोहानपगमाद्वा; अग्रे चित्तं समाधायेत्युक्तेः। स्वस्य मम दृष्टि नेत्रे व्यकिरं प्रसारितवानस्मि॥११॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीमदनगोपालदेवके सहसा अन्तर्धान होनेसे मैं उन्हें देख नहीं पाया, अतः मोहवशतः इस यमुनाके प्रवाहमें जा गिरा। 'इव' कारके द्वारा सूचित हो रहा है कि वास्तवमें उस समय मेरा अन्तर्बोध अर्थात् मेरी अचेतन अवस्था दूर नहीं हुई थी, अथवा उस समय तक भी मेरी प्रेम-मूर्च्छा सम्पूर्ण रूपसे दूर नहीं हुई थी—आगे चित्तके समाधान इत्यादि उक्ति द्वारा यह स्पष्ट होगा। बादमें यमुनाकी तरङ्गोंके हिल्लोलसे इधर-उधर हिलनेके कारण चेतना प्राप्त करके मैंने अपने दोनों नेत्रोंको खोला॥११॥

पश्याम्यतिक्रान्तमनोजवेन, यानेन केनापि महोर्धगेन।
केनापि मार्गेण महाद्भुतेन, देशान्तरे कुत्रचिदागतोऽस्मि॥१२॥

श्लोकानुवाद—तब मैंने देखा कि मनसे भी अधिक वेगवाले तथा अति उच्च स्थानमें गमन करने योग्य विमान द्वारा मैं किसी एक अत्यन्त अद्भुत मार्गसे होकर अन्य लोकमें जा पहुँचा हूँ॥१२॥

दिग्दर्शिनी टीका—केनापि परमदुर्वितर्केण, यानेन विमानेन, गत्या वा। केनापि मार्गेण वर्त्मना कस्मिंश्चिद्देशान्तरे भिन्नस्थाने आगतोऽस्मीति। कीदृशेन यानेन? अतिक्रान्तो मनसोऽपि जवो येन तेन। किञ्च, महोर्ध्वं परमोपरिष्टाद्गच्छतीति तथा तेन। कीदृशेन मार्गेण? महाद्भुतेन, पूर्वपूर्वानुभूतात् परमविलक्षणेनेत्यर्थः। महोर्ध्वगेनेत्यस्यात्रापि महाद्भुतेनेत्यस्य च पूर्वत्रापि सम्बन्धो द्रष्टव्यः॥१२॥

भावानुवाद—तब मैंने देखा कि मैं किसी परम अलौकिक विमान द्वारा किसी मार्गसे अन्य किसी लोकमें जा पहुँचा हूँ। वह विमान कैसा था? मनके वेगको भी अतिक्रम करनेवाला और महाऊर्द्धवगामी अर्थात् अति उच्च स्थानमें भी जाने योग्य था। वह मार्ग कैसा है? अत्यन्त अद्भुत अर्थात् पहले अनुभव किये हुए मार्गोंसे सम्पूर्ण विलक्षण था॥१२॥

चित्तं समाधाय मृशामि याव-,
द्वैकुण्ठलोकं तमितोऽस्मि तावत्।
तं विस्मितो वीक्ष्य वहन् प्रहर्षं,
पश्यन्नयोध्यादिकमत्यगां तत्॥१३॥

श्लोकानुवाद—जब चित्तको स्थिर करके मैं विचार करने लगा, तो मैंने अपनेको वैकुण्ठलोकमें उपस्थित हुआ देखा। तब विस्मित होकर अत्यन्त हर्षसहित उस वैकुण्ठलोकका दर्शन करते-करते ही मैं अयोध्या आदि पुरियोंको भी लाँघ गया॥१३॥

दिग्दर्शिनी टीका—मृशामि विचारयामि, तं पूर्वानुभूतं श्रीनारायणाधिष्ठितं वैकुण्ठलोकं, तावत् इतः प्राप्तोऽस्मि। गमित इति पाठे यानेनैव प्रापितः। तं वैकुण्ठलोकं वीक्ष्य प्रकृष्टहर्षं वहन् अनवश्छेदेन लभमानः सन्, तद्वैकुण्ठवर्ति अयोध्यादिकं पश्यन्नेवात्यगाम् अतिक्रान्तोऽहम्; आदि-शब्देन श्रीद्वारकादि॥१३॥

भावानुवाद—मैंने जब चित्तको स्थिर करके विचार किया, तब देखा कि मैं स्वयं द्वारा पहले अनुभव किये हुए श्रीनारायण अधिष्ठित वैकुण्ठलोकमें उपस्थित हुआ हूँ। 'गमित' पाठ होनेसे वाहन द्वारा

पहुँचना समझना होगा। उस वैकुण्ठलोकको प्रचुर हर्षके प्रवाहमें देखते-देखते ही मैं उस वैकुण्ठके अन्तर्गत अयोध्या, श्रीद्वारका आदि सभी पुरियोंको लाँघ गया॥१३॥

श्रीगोलोकं तं चिराशावलम्बं,
प्राप्तो भान्तं सर्वलोकोपरिष्टात्।
आस्ते श्रीमन्माथुरे मण्डलेऽस्मिन्,
यादृक् सर्वं तत्र वै तादृगेव॥१४॥

श्लोकानुवाद—अन्तमें मैं सब लोकोंके ऊपर विराजमान उस श्रीगोलोकमें जा पहुँचा, जहाँ जानेके लिए मैं चिरकालसे अभिलाषा कर रहा था। इस भौम जगत् स्थित श्रीमथुरामण्डलमें जिस प्रकारके स्थान हैं, वहाँपर भी मैंने उसी प्रकारके स्थानोंको ही देखा॥१४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तं निजेष्टदेवस्य निरन्तरतादृशक्रीड़ाविषयम्, अतएव चिरकालीनाया आशाया अवलम्बमाश्रयं, सर्वेषां लोकानां भुवनानामुपरिष्टाद्भान्तं विराजमानम्। ननु कीदृशोऽसौ लोकः? इत्यत्राह—अस्मिन् मर्त्यलोकवर्त्तिनि श्रीमति माथुरे मण्डले मण्डलाकारदेशे यादृक् सर्वं सचेतनाचेतनप्रपञ्चजातं वर्त्तते, तत्र श्रीगोलोकेऽपि तादृगेव। अतएव तन्मथुरामण्डलसदृश एव स इत्यर्थः। एतच्च तत्र पारमैश्वर्यादि-दृष्ट्यभावेन परमप्रेमविशेष सम्पत्ति-कारणं ज्ञेयम्॥१४॥

भावानुवाद—मेरे इष्टदेव श्रीमदनगोपालकी निरन्तर वैसी अपूर्व लीलाओंके विषय, अतएव मेरी चिरकालकी आशाके आश्रय—समस्त लोकोंसे ऊपर विराजमान मैं उस श्रीगोलोकमें जा पहुँचा। यदि कहो कि वह गोलोक कैसा है? इसके लिए ही कह रहे हैं कि इस भौम माथुरमण्डलमें जो सब कुछ वर्त्तमान हैं, उस श्रीगोलोकमें भी प्रपञ्चजात सचेतन और अचेतन समस्त वस्तुएँ यथायथ विद्यमान हैं। अतएव वह श्रीगोलोक इस भौम मथुरामण्डल जैसा ही है और परम ऐश्वर्यके न दीखनेके कारण वह स्थान परम प्रेमरूप विशेष सम्पत्तिका कारण बना है—ऐसा समझना चाहिये॥१४॥

तस्मिन् श्रीमथुरारूपे गत्वा मधुपुरीमहम्।
अत्रत्यामिव तां दृष्ट्वा विस्मयं हर्षमप्यगाम्॥१५॥

श्लोकानुवाद—जब मैं श्रीमथुरामण्डल स्वरूप उस गोलोक-मधुपुरीमें गया, तब उस मधुपुरीको भौम मथुरापुरी जैसा देखकर मैं बड़ा विस्मित तथा आनन्दित हुआ॥१५॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतः श्रीमथुरामण्डलस्वरूपे तस्मिन् श्रीगोलोके या मधुपुरी तां गत्वा प्राप्य, अत्रत्याम् एतन्मथुरावर्त्तिनीमिव तां मधुपुरीं दृष्ट्वा विस्मयं वैकुण्ठोपर्यपि मर्त्यलोकरीतिदृष्ट्या हर्षञ्च, निजमनोरथ-परिपूर्त्तिसम्भावनया प्राप्तोऽहम्॥१५॥

भावानुवाद—अतएव श्रीमथुरामण्डल स्वरूप उस श्रीगोलोकमें जो मधुपुरी है, वहाँ जाकर मैंने उस मधुपुरीको इस भौम मथुरामण्डलकी भाँति ही देखा। अतएव वैकुण्ठके ऊपर अवस्थित उस गोलोकमें भी मर्त्यलोककी रीति देखकर मैं विस्मित हो गया तथा अपना मनोरथ पूर्ण होनेकी सम्भावनाके कारण आनन्दित भी हुआ॥१५॥

तस्यामश्रृणवं चेदं निगृह्य पितरं स्वयम्।
देवकीं वसुदेवञ्च कंसो राज्यं करोति सः॥१६॥

श्लोकानुवाद—मैंने वहाँ जाकर यह सुना कि कंस अपने पिता उग्रसेन तथा देवकी-वसुदेवको कारागारमें डालकर स्वयं राज्य कर रहा है॥१६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्यां मधुपुर्यां पितरमुग्रसेनं, स परमदुष्टत्वेन प्रसिद्धः, शास्त्रादिद्वारा श्रृतवृत्तान्तो वा कंसः, स्वयमेव राज्यं राजत्वं करोति। मर्त्यलोके पूर्वमेव घातितानामपि कंसादीनां दुष्टानां सम्प्रति तत्र श्रीगोलोके वृत्तेः कारणमग्रतो व्यक्तं भावि॥१६॥

भावानुवाद—उस मधुपुरीमें जाकर मैंने श्रवण किया कि कंस अपने पिता उग्रसेनको बन्दी बनाकर स्वयं राज्यपर शासन कर रहा है। वह कंस अत्यधिक दुष्ट है—यह शास्त्र प्रसिद्ध है तथा उसका वृत्तान्त मैंने पहले शास्त्रों द्वारा श्रवण किया था। किन्तु मर्त्यलोकमें दुष्ट कंस आदि घातक विद्यमान रहनेपर भी अब इस श्रीगोलोकमें उनके विद्यमान रहनेका कारण आगे व्यक्त होगा॥१६॥

तस्य प्रियसुरामित्रपरिवारस्य शङ्कया।
नोत्सहन्ते यथाकामं विहर्त्तुं यादवाः सुखम्॥१७॥

श्लोकानुवाद—वहाँ यादवगण उस कंसके प्रिय असुर मित्रों तथा उनके परिवारके भयसे अपनी इच्छानुसार सुखपूर्वक विहार भी नहीं कर सकते है॥१७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य च कंसस्य शङ्कया भयेन यादवास्तन्मधुपुर्यां वर्त्तमानास्तज्जातयः, यथेच्छं सुखं विहर्त्तुं नोत्सहन्ते न शक्नुवन्ति, तत्रोत्साहमपि न कुर्वन्तीति वा। कुतः? प्रिया सुरामित्रा दैत्या एव परिवारा यस्य तस्य॥१७॥

भावानुवाद—कंसके भयसे यादवगण उस मधुपुरीमें अपनी इच्छानुसार सुखपूर्वक विहार करनेमें समर्थ नहीं हो पा रहे हैं, अथवा वहाँपर वास करनेमें भी उत्साह प्रदर्शित नहीं कर रहे हैं। किसलिए? सभी असुर जिसके प्रिय हैं, वह दुष्ट कंस सदैव अपने उन दैत्य परिवारके साथ वहाँपर राज्य कर रहा है॥१७॥

तस्माद्बहुविधां बाधामपि विन्दन्ति तेऽनिशम्।
कुत्राप्यपसृताः केचित् सन्ति केऽपि तमाश्रिताः॥१८॥

श्लोकानुवाद—उनमेंसे कोई-कोई तो दिन-रात कंससे नाना प्रकारकी बाधाएँ प्राप्त करके दूसरे देशोंको भाग गये हैं और कोई-कोई उसके आश्रित होकर वहींपर वास कर रहे हैं॥१८॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, तस्मात् कंसात्, ते यादवाः, कुत्रापि केषुचिद्देशान्तरेषु केचिदुद्धवादयोऽपसृताः, भयेन पलाय गताः। केऽप्यक्रूरादयस्तं कंसमाश्रिताः सन्तः तत्रैव सन्ति। तथा च दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा. १०/२/१-४)—*"प्रलम्ब-बक-चाणूर-तृणावर्त-महाशनैः। मुष्टिकारिष्ट-द्विविद-पूतना-केशि-धेनुकैः॥ अन्यैश्चासुरभूपालै-र्बाणभौमादिभिर्वृतः। यदूनां कदनं चक्रे बली मागधसंश्रयः॥ ते पीड़िता निविविशुः कुरु-पाञ्चाल-केकयान्। शाल्वान् विदर्भान्निषधान् विदेहान् कोशलानपि॥ एके तमनुरुन्धाना ज्ञातयः पर्युपासते।"* इति। एतच्च सर्वं यथापूर्वं भौमव्रजभूमाविव भगवतो गोलोके सुखक्रीड़ायाः सामग्रीकारणं दर्शितम्; अन्यथा परमैकान्तिनां मनःपूर्त्यनुत्पत्तेः॥१८॥

भावानुवाद—तदुपरान्त कह रहे हैं कि वे यादवगण दिन-रात कंस द्वारा पीड़ित हो रहे हैं। उनमेंसे कोई-कोई जैसे उद्धव आदि भयके कारण दूसरे देशोंमें भाग गये हैं तथा श्रीअक्रूर आदि जैसे कोई-कोई कंसका आश्रय ग्रहण करके वहींपर वास कर रहे हैं। यथा श्रीमद्भागवत (१०/२/१-४) में उक्त है—"अपने बलके गर्ववशतः वह

कंस मगधवासी जरासन्धको आश्रय करके प्रलम्ब, बक, चाणूर, तृणावर्त, अघ, मुष्टिक, अरिष्ट, द्विविद, पूतना, केशी और धेनुक तथा बाण, भौम इत्यादि अन्यान्य असुर राजाओंके साथ मिलकर यादवोंको उत्पीड़ित करने लगा। उस असहनीय अत्याचारसे अत्यन्त दुःखी होकर कोई यादव कुरुदेशमें, कोई पाञ्चालप्रदेशमें, कोई केकय, शाल्व, विदर्भ, निषध, विदेह और कौशल आदि देशोंमें भाग गये। तथा यादवोंके अनेक भाई-बन्धु बाध्य होकर उस कंसकी सेवा करने लगे।" भगवान्‌की लीला सम्पादन हेतु पहलेकी भाँति, अर्थात् भौम व्रजभूमिकी भाँति गोलोकमें भी ऐसी सुखक्रीड़ाकी समस्त सामग्री यथायथ वर्त्तमान है। अन्यथा परम ऐकान्तिक भक्तोंकी अभिलाषा पूर्ण नहीं होगी॥१८॥

ततोऽहमपि भीतः सन् कृतविश्रान्तिमज्जनः।
निःसृत्य त्वरयागच्छं श्रीमद्वृन्दावनं ततः॥१९॥

श्लोकानुवाद—अतएव मैं भी भयवशतः वहाँ नहीं रुका। विश्राम-घाटपर स्नान करके अतिशीघ्र ही श्रीवृन्दावन चला गया॥१९॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततः कंसात्, कृतं विश्रान्तितीर्थे मज्जनं स्नानं येन सः। ततो मधुपुरीतस्त्वरया निःसृत्य, भीतः सन्निति तल्लोकप्राप्त्या निजाभीष्टसिद्धि-परीपाककारणत्वेन तदनुरूपतत्रत्यस्वभावापत्तेरिति दिक्॥१९॥

भावानुवाद—तत्पश्चात् मैं भी कंसके भयसे विश्राम-तीर्थपर स्नान करके शीघ्र ही उस मधुपुरीसे निकलकर वृन्दावनमें उपस्थित हुआ। मेरे भयभीत होनेका कारण यह था कि अपनी अभीष्ट सिद्धिकी परिपक्व अवस्थामें उस लोकको प्राप्त करनेके कारण उसके अनुरूप अर्थात् वहाँके परिकरोंके अनुरूप ही स्वभाव बन जाता है—यही उक्त विचारका दिग्दर्शन है॥१९॥

तस्मिन्नगम्येऽखिलदेवतानां,
लोकेश्वराणामपि पार्षदानाम्।
एतस्य भू-भारतवर्षकीया-
र्यावर्तदेशस्य निरूप्य रीतिम्॥२०॥

दिव्यां दिनेशोद्गमनादिनैतां,
भौमीं नृभाषाचरितादिनापि।
महाचमत्कारभरेण रुद्धो,
न्यमज्जमानन्दरसाम्बुराशौ ॥२१॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि उस गोलोकमें कोई भी देवता, लोकपाल यहाँ तक कि वैकुण्ठ पार्षद भी नहीं जा सकते, तथापि मैंने वहाँकी समस्त रीति इस भू-भारतवर्षके आर्यावर्त देश जैसी देखी। दिव्य अन्तरिक्षमें सूर्य-उदयादिकी गतिका निरूपण, नर-भाषा, मनुष्यों जैसी आकृति और आचरण आदि भौमलोक जैसा देखकर मैं अत्यन्त आश्चर्यचकित होकर आनन्द सागरमें डूब गया॥२०-२१॥

दिग्दर्शिनी टीका—संक्षेपेणोक्तं श्रीगोलोकस्य भौममाथुरमण्डलसादृश्यमग्रे वक्ष्य-माणप्रातःसायंकालाद्युपपत्तये किञ्चिद् विस्तार्य दर्शयति—तस्मिन्निति द्वाभ्याम्। अखिलानां देवतानाम् सूर्य-चन्द्रादीनां, तथा लोकेश्वराणां शक्र-ब्रह्मादीनां, पार्षदानामपि श्रीगरुड़ादीनामगम्ये गन्तुमशक्येऽपि तस्मिन् श्रीगोलोके, एतस्य साक्षादनुभूयमानस्य, भुवः पृथिव्याः भारतवर्षसम्बन्धिनः आर्यावर्तसंज्ञदेशस्य रीतिं व्यवस्थां निरूप्य समालोक्य महता चमत्कारभरेण कौतुकातिशयेन रुद्धः सन्, आनन्द एव रसो द्रवविशेषः, चित्तस्यार्द्रीकरणात्, तस्य अम्बुराशौ सागरे। यद्वा, आनन्दरूपभावविशेषसमुद्रे न्यमज्जमिति द्वाभ्यामन्वयः। दिनेशस्य सूर्यस्य उद्गमनमुदयस्तदादिना दिव्यामन्तरीक्षवर्त्तिनीं, नृणां भाषाचरितादिना, भौमीं भूमिवर्त्तिनीमपि॥२०-२१॥

भावानुवाद—श्रीगोलोक और भौम मथुरामण्डलकी सादृश्यताका संक्षेपमें वर्णन करके, अब गोपकुमार आगे कहे जानेवाले अर्थात् गोलोकमें घटित होनेवाले प्रातःकाल और सायंकालके आधारको कुछ विस्तृत रूपसे प्रदर्शित करनेके लिए 'तस्मिन्' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। सूर्य-चन्द्र आदि समस्त देवता तथा इन्द्र, ब्रह्मा आदि लोकपाल और श्रीगरुड़ आदि पार्षद भी जिस श्रीगोलोकमें जानेमें समर्थ नहीं हैं, उस गोलोकमें साक्षात् अनुभव की गयी इस पृथ्वीके मध्यवर्ती भारतवर्षसे सम्बन्धित आर्यवर्त नामक देश जैसी रीति, सूर्यके उदय और अस्त द्वारा दिव्य अन्तरीक्षमें उसकी गतिका निर्णय तथा नर-भाषा और आचरण आदि देखकर मैं अत्यधिक चमत्कृत होकर चित्तको द्रवीभूत करनेवाले आनन्दरसरूप विशेष द्रव्यके

सागरमें डूब गया अथवा आनन्दरूपी भाव विशेषके समुद्रमें डूब गया॥२०–२१॥

क्षणादपश्यं भ्रमतो गोपानिव वने नरान्।
पुष्पाणि चिन्वतीर्वृद्धा गोपीवेशवतीस्तथा॥२२॥

श्लोकानुवाद—क्षणकालके बाद मैंने देखा कि गोपों जैसे मनुष्य वनोंमें घूम रहे हैं तथा गोपी वेशधारी वृद्धाएँ पुष्प चयन कर रही हैं॥२२॥

दिग्दर्शिनी टीका—वने भ्रमतः गोपसदृशान् नरान् पुरुषान्; इवेति वस्तुतस्तत्र लौकिकगोपत्वासम्भवात्। गोपीसदृशवेशयुक्ता वृद्धनारीश्चापश्यम्। कीदृशीः? पुष्पाणि विचिन्वतीः, भगवद्विरहेणान्यासां पुष्पावचयनासक्तेः, बाह्यवनगमनायोग्यत्वाद्वा। एवं जरतीनामपि भगवद्भक्तिविशेषो दर्शितः॥२२॥

भावानुवाद—मैंने वहाँ देखा कि गोपों जैसे मनुष्य वनोंमें भ्रमण कर रहे हैं। मूल श्लोकमें 'इव' कारका अर्थ है कि वास्तवमें उस श्रीगोलोकमें लौकिक गोपत्व असम्भव है, इसलिए 'गोपों जैसे' कहा गया है। मैंने वहाँ गोपियों जैसी वेशधारी वृद्धा स्त्रियाँको पुष्पचयन करते देखा, किन्तु अन्य सब लोग भगवान्‌के विरहमें व्याकुल होनेके कारण पुष्प चयन करनेसे विरक्त थे। अथवा बाहर वनमें जानेके अयोग्य होनेके कारण पुष्प चयन नहीं कर रहे थे। इसके द्वारा वृद्धाओंकी भी भगवद्भक्ति प्रदर्शित हुई है॥२२॥

ते च सर्वे जनाः पूर्वदृष्टसर्वविलक्षणाः।
केनापि हृतहृद्वित्तास्तद्भावव्याकुला इव॥२३॥

श्लोकानुवाद—परन्तु वहाँपर रहनेवाले सब लोग अन्यान्य लोकोंमें रहनेवाले लोगोंसे, जिन्हें मैंने इससे पहले देखा था, सभी विषयोंमें विलक्षण थे। उन्हें देखनेसे ऐसा लगता मानो किसीने उनके चित्तको चुरा लिया हो, शायद इसीलिए वे व्याकुल हो रहे थे॥२३॥

दिग्दर्शिनी टीका—ते च तत्रत्याः कीदृशाः? इत्यपेक्षायामाह—ते चेति। पूर्वदृष्टेभ्यः सर्वेभ्यो विलक्षणाः। अयमर्थः—तेषु वर्त्तमानं रूपगुणमहिमादिकं कुत्राप्यन्यत्र केष्वपि नास्ति, अतः केन दृष्टान्तादिना कथयित्वा तद्बोधयितुं शक्यमिति। एवं

सामान्येन सर्वतोऽधिकबहुविधोत्कृष्टताधिक्यमुद्दिश्य विशेषेनाप्याह—केनापीति। हृतं चोरितं हृत् चित्तमेव वित्तं येषां ते इव, सदा प्रेमभरेणोन्मनस्त्वात्। अतस्तस्य हृद्वित्तापहारकस्य भावेन चेष्टया तद्विषयकप्रेम्णा वा व्याकुला इव। इवेति तत्कालं तत्तत्त्वनिर्धाराशक्तेः॥२३॥

भावानुवाद—यदि कहो कि वहाँके लोग कैसे हैं? इसकी अपेक्षामें गोपकुमार 'ते च' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। वे लोग मेरे द्वारा अब तक देखे गये समस्त लोगोंसे सभी विषयोंमें विलक्षण थे। उनके जैसा रूप, गुण और महिमा आदि अन्य कहींपर भी किसीमें भी दिखायी नहीं देता, अतएव किसी दृष्टान्त आदि द्वारा उनके विषयमें समझाया नहीं जा सकता। इस प्रकार सामान्य रूपसे उनके रूप-गुण-महिमा आदिकी सर्वाधिक तथा विविध प्रकारकी प्रचुर उत्कृष्टताको निर्देशकर अब उनकी विशेष उत्कर्षताका वर्णन 'केनापि' इत्यादि पदों द्वारा कर रहे हैं। उन्हें देखनेसे लगता मानो किसीने उनके चित्तरूपी धनका अपहरण कर लिया हो, इसलिए वे सदा व्याकुल हैं। अर्थात् उस हृदयकी वृत्तिका अपहरण करनेवालेके भाव और चेष्टासे विभावित होकर अथवा उनके प्रेममें उन्मत्त जैसे बनकर वन-वनमें भ्रमण कर रहे हैं। 'इव' कारका अर्थ यह है कि उस समय मैं उस तत्त्वको निर्धारित करनेमें असमर्थ था॥२३॥

तेषां दर्शनमात्रेण तादृशं भावमाप्नुवन्।
यत्नाद्धैर्यमिवासृत्यापृच्छं तानिदमादरात्॥२४॥

श्लोकानुवाद—उनके दर्शन मात्रसे ही मुझे भी उनके जैसा भाव प्राप्त हो गया। मैंने बहुत यत्नसे धैर्य धारण करके आदरपूर्वक उनसे पूछा— ॥२४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तादृशं तेषां भावसदृशं व्याकुलत्वादिकम्। इवेति समग्रधैर्यानाश्रयणं द्योतयति। अन्यथा सर्वं तत्त्वतो जानतोऽपि तस्य तादृशप्रश्नाद्यनुपपत्तेः॥२४॥

भावानुवाद—'तादृशं' अर्थात् उनके भावोंके समान व्याकुलता आदिको प्राप्त करना। 'इव' कार द्वारा सम्पूर्ण धैर्यका आश्रय नहीं करना सूचित हो रहा है, अन्यथा सब तत्त्व जाननेपर भी उनसे ऐसे प्रश्न करना सम्भव नहीं होता॥२४॥

परमहंस–मनोरथदुर्लभैः, परमहर्षभरैः परिषेविताः।
प्रणयभक्तजनैः कमलापतेः, परमयाच्य–तदीयदयालयाः ॥२५॥

परमदीनमिमं शरणागतं, करुणया वत पश्यत पश्यत।
कथयतास्य नृपो विषयस्य को, गृहममुष्य कुतोऽस्य च वर्त्म किम्॥२६॥

श्लोकानुवाद—हे परमहंसोंके मनोरथसे भी दुर्लभ (अचिन्तनीय) परम आनन्द–राशि द्वारा परिसेवित! हे भगवान्‌की दयाके आलय (पात्र)! लक्ष्मीपति श्रीवैकुण्ठनाथके प्रिय भक्त भी आपके जैसी दयाको प्राप्त करनेके लिए अत्यधिक प्रार्थना करते हैं। मैं अत्यन्त दीन हूँ तथा आपकी शरणमें आया हूँ, कृपा करके मेरे प्रति दृष्टिपात कीजिये। आप मुझे यह बतायें कि इस देशका राजा कौन है? उनका राजभवन कहाँ है और किस मार्ग द्वारा वहाँ जाया जा सकता है?॥२५–२६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र च तेषां व्याकुलत्वादिकं कथमपि न सम्भवतीत्यभि-प्रायेणादौ द्रष्टुं सम्बोधयति—परमेति। हे परमहर्षभरैः परितः सेविताः; कीदृशैः? परमहंसानां ब्रह्मनिष्ठानां मनोरथेनापि दुर्लभैरलभ्यैः; अनेन मुक्तेभ्योऽपि तेषां माहात्म्यं दर्शितम्। भक्तेभ्योऽप्याह—हे कमलापतेः श्रीवैकुण्ठनाथस्य प्रणयभक्तजनैः परमयाच्याया अत्यन्त-प्रार्थनीयाया एव, न तु प्राप्ताया तदीयदयाया आलया विषयाः॥२५॥

इमं जनं माम्; अत्यन्तवैयग्र्येण वीप्सा वत खेदे; अस्य विषयस्य देशस्य नृपो राजा कः कतमः, अमूष्य नृपस्य गृहं कुतः कस्मिन् स्थाने, अस्य गृहस्य वर्त्म किं कतमच्चेति कथयत॥२६॥

भावानुवाद—उन श्रीगोलोकवासियोंमें व्याकुलता आदि भाव किसी भी प्रकारसे सम्भव नहीं है, इसी अभिप्रायसे श्रीगोपकुमारने सर्वप्रथम उन्हें जैसा देखा, उसी रूपमें सम्बोधन करके पूछ रहे हैं—हे परम आनन्दकी प्रचुरता द्वारा सेवित! वह परमानन्द कैसा है? उस प्रचुर परमानन्दका चिन्तन करना समस्त परमहंसों अर्थात् ब्रह्मनिष्ठजनोंके मनोरथ द्वारा भी दुर्लभ है। इसके द्वारा श्रीगोलोकवासियोंका मुक्त पुरुषोंसे भी अधिक माहात्म्य प्रदर्शित हुआ है। भक्त भी उस परमानन्दके लिए प्रार्थना करते हैं अर्थात् श्रीवैकुण्ठनाथ कमलापतिके प्रिय भक्तों द्वारा वह परमानन्द परम वाञ्छनीय अर्थात् केवल प्रार्थनीय

ही है, परन्तु प्राप्त करने योग्य नहीं है। अतएव आपलोग ही भगवान्‌की दयाके परम पात्र हैं।

परमदीन मुझ शरणागतके प्रति करुणापूर्वक दृष्टिपात कीजिये। गोपकुमार द्वारा अत्यन्त व्याकुलता हेतु 'पश्यत' 'पश्यत' दो बार कहा गया है। आप बताइये कि इस देशका राजा कौन है? उस राजाका राजभवन कहाँ है और वहाँ जानेका मार्ग कौन-सा है?॥२५-२६॥

भो भोः सकाकु पृच्छन्तं धन्याः कृपयतात्र माम्।
नूनं प्रत्युत्तरं किञ्चित् सङ्केतेनापि सुव्रताः॥२७॥

श्लोकानुवाद—हे! हे! परम धन्यागण! मैं विनयपूर्वक पूछ रहा हूँ, कृपा करके बतलाइये। हे सुव्रता! किसी सङ्केत द्वारा ही मेरे प्रश्नोंका उत्तर प्रदान करें॥२७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथाप्यसम्भाषमाणांस्तानाह—भो भो इति। वीप्सा च बाधिर्याशङ्कयात्युच्चैः शब्दार्थम्। तच्चैषां न सम्भवत्येवेति मत्वा पुनः स्तुत्या सम्बोधयति—हे धन्या महाभाग्यवन्तः! अत्र युष्मत्समीप एव स्थितमिमं माम्। हे सुव्रताः परमनियमरताः। अयमर्थः—यदि वा गृहीतमौनव्रता भवथ, तर्हि हस्तसंज्ञादिना किञ्चिदुत्तरं दत्तेति॥२७॥

भावानुवाद—श्रीगोपकुमारके द्वारा इस प्रकार सम्बोधन किये जानेपर भी उन गोपी-वेशधारी वृद्ध स्त्रियोंने कोई उत्तर नहीं दिया, अतएव गोपकुमार उन्हें पुनः सम्बोधन करते हुए 'भो भोः' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। उनके बहरे होनेकी आशङ्का हेतु दो बार उच्च स्वरसे कहा— "हे हे!" अगले ही क्षण उनके बहरे होनेको असम्भव समझकर फिरसे स्तुतिपूर्वक सम्बोधन करने लगे—हे परम धन्या महाभाग्यवतियो! अपने निकट आए मुझ शरणागतके प्रति कृपा करके उत्तर प्रदान कीजिये। हे सुव्रता अर्थात् महान नियममें रत! यद्यपि आपने मौन-व्रत धारण किया है, तथापि हाथके सङ्केत द्वारा ही मेरे प्रश्नोंका किञ्चित् उत्तर प्रदान करें॥२७॥

अहो वत महार्त्तस्य शृणुतापि वचांसि मे।
नूनं तस्यैव धूर्त्तस्य यूयं भावेन मोहिताः॥२८॥

श्लोकानुवाद—अहो! बड़े खेदकी बात है कि जब मेरे अत्यन्त दुःखपूर्ण वचनोंको सुनकर भी आप उत्तर नहीं दे रही हैं, तो इससे प्रतीत होता है कि आप सब भी निश्चय ही उस धूर्त (श्रीकृष्ण) के भावसे मोहित हो गयी हैं॥२८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथापि दृष्टिमप्यकुर्वतः प्रत्याह—अहो वतेति अत्यन्तखेदे, नूनमिति वितर्के। तस्य सुप्रसिद्धस्य; यद्वा, वृन्दावने तत्र येनाहं वञ्चितस्तस्य। एव-कारेणासाधारणतां द्योतयति, अन्येन तादृशमोहनस्यासम्भवात्॥२८॥

भावानुवाद—श्रीगोपकुमार द्वारा पुनः-पुनः सम्बोधन करनेपर भी जब उन गोपियोंने उसकी ओर दृष्टिपात भी नहीं किया, तब गोपकुमार अत्यन्त खेदपूर्वक कहने लगे—अहो! मैं समझ गया, लगता है कि आप भी उस सुप्रसिद्ध धूर्तके भावसे मोहित हो गयीं हैं। अथवा इस श्रीवृन्दावनमें मैं जिसके द्वारा वञ्चित हुआ हूँ, आप भी उसीके द्वारा ही वञ्चित हुई हैं। यहाँ 'एव' कार—'साधारणतः' को सूचित कर रहा है, अर्थात् साधारणतः सभी उनके द्वारा मोहित हो रहे हैं, अन्य किसीके द्वारा इस प्रकारसे मोहित होना असम्भव है॥२८॥

इत्थं मुहुः सकातर्यं सम्पृच्छंस्तानितस्ततः।
दृश्यमानान् पुरो भूत्वा व्रजस्थानान्यवाप्नुवम्॥२९॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार मैंने जहाँ-जहाँ जिन-जिन लोगोंको देखा, उनसे दीनतापूर्वक बार-बार यही पूछा। तब इधर-उधर भ्रमण करते-करते आगे चलनेपर मैं व्रजमें जा पहुँचा॥२९॥

दिग्दर्शिनी टीका—इतस्ततः स्थाने स्थाने दृश्यमानान् सतस्तान् तत्रत्यजनान् कातर्येण दैन्यविशेषेण सहितं यथा स्यात्तथा मुहुः सम्यक् पृच्छन् सन्, पुरगमनक्रमेणाग्रे भूत्वा, व्रजः गवामावासस्तस्य स्थानानि प्राप्तोऽहम्॥२९॥

भावानुवाद—इधर-उधर भ्रमण करते हुए मैंने जिसे भी देखा, उनसे दीनता सहित बार-बार इसी प्रकार पूछा, किन्तु किसीने भी कोई उत्तर नहीं दिया। इस प्रकार क्रमशः आगे चलते रहनेपर मैं व्रजमें अर्थात् गायोंके विश्राम स्थानपर जा पहुँचा॥२९॥

परितश्चालयंश्चक्षुः पुरीमेकां विदूरतः।
अद्राक्षं माधुरीसार-परीपाकेण सेविताम्॥३०॥

श्लोकानुवाद—इधर-उधर चारों ओर देखते-देखते मैंने थोड़ी दूरीपर एक पुरीको देखा, जो सब प्रकारकी मधुरिमाओंके सारसे सेवित थी॥३०॥

दिग्दर्शिनी टीका—माधुरीणां सारः परमोत्कृष्टांशः, तस्य परीपाकेन अत्यन्तनिष्ठया सेविताम् सदाश्रिताम्। अनेन श्रीवैकुण्ठादिपुरीतोऽप्युत्कर्षभरो दर्शितः॥३०॥

भावानुवाद—इस प्रकार इधर-उधर देखते हुए थोड़ी दूरीपर ही मैंने एक आश्चर्यजनक पुरीको देखा, जो मधुरिमाओंके सार अर्थात् उसके परम उत्कृष्ट अंशकी परिपक्व अवस्था अर्थात् चरम निष्ठा द्वारा सर्वदा सेवित हो रही थी। इसके द्वारा श्रीवैकुण्ठ आदि पुरियोंसे भी श्रीगोलोककी अधिक उत्कर्षता प्रदर्शित हुई है॥३०॥

तत्पार्श्वे चाभितोऽश्रौषं गोपीनां गीतमद्भुतम्।
दध्नां मथनघोषाढ्यं कान्तं भूषण-सिञ्जितैः॥३१॥

श्लोकानुवाद—मैंने उस पुरीके चारों ओर गोपियोंके अद्भुत गीतोंको श्रवण किया जो दधिमन्थनके घर्घर शब्द और उनके भूषणोंकी मनोहर ध्वनिसे रञ्जित थे॥३१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्याः पूर्याः पार्श्वे निकटे, अभितः सर्वदिक्षु, अद्भुतं पूर्वं कुत्राप्यननुभूतं, भूषणानां वलयादीनां सिञ्जितैः शब्दैः कान्तं मनोहरम्॥३१॥

भावानुवाद—मैंने उस पुरीके समीप चारों ओर अपूर्व अर्थात् पहले कहीं भी अनुभव नहीं किये हुए गोपियोंके दधिमन्थनके समय उनके कङ्गन आदिकी मनोहर ध्वनिसे रञ्जित अद्भुत गीतोंको श्रवण किया॥३१॥

प्रहर्षाकुलमात्मानं विष्टभ्य पुरतो व्रजन्।
प्राप्नुवं कृष्ण कृष्णेति सवैयग्र्यं निरन्तरम्॥३२॥
कीर्त्तयन्तं रुदन्तञ्च निविष्टं वृद्धमेकलम्।
तस्मात् प्रयत्नचातुर्यैरश्रौषं गद्गदाक्षरात्॥३३॥

श्लोकानुवाद—उस ध्वनिको सुनकर मैं आनन्दसे अधीर हो गया। फिर यत्नपूर्वक धैर्य धारण करके आगे जानेपर मैंने एक वृद्धाको

देखा। वह व्याकुल होकर निरन्तर "कृष्ण कृष्ण" का कीर्त्तन करते हुए प्रेमसे रो रही थीं। मेरे प्रयत्नपूर्वक हाथ जोड़कर उनसे पूछनेपर वे गद्गद स्वरमें बोलीं—॥३२-३३॥

दिग्दर्शिनी टीका—विष्टभ्य स्थिरीकृत्य, निविष्टमुपविष्टमेकं वृद्धं प्राप्नवमित्यन्वयः। कीदृशम्? वैयग्र्येण परमाकुलतया सहितं यथा स्यात्तथा, निरन्तरमनवच्छेदेन 'कृष्ण कृष्ण' इत्यक्षरं कीर्त्तयन्तम्, अतो रुदन्तम्। तस्माद् वृद्धात्; रोदनेनैव गद्गदानि अक्षराणि वाग्वर्णा यस्य तस्मात्॥३२-३३॥

भावानुवाद—उस दधिमन्थनकी ध्वनिके साथ गोपियोंके गीतको श्रवण करके मैं आनन्दसे अधीर हो गया, किन्तु यत्नपूर्वक उस आनन्दके वेगको सम्वरण करके आगे जानेपर मैंने एक वृद्धाको बैठे हुए देखा। वह वृद्धा अत्यधिक व्याकुल होकर निरन्तर "कृष्ण कृष्ण" का कीर्त्तन करते हुए रो रही थीं। मैंने उस वृद्धाके वैसे रोनेके साथ-साथ गद्गद अक्षरयुक्त कृष्णनामको सुना तथा मेरे द्वारा प्रयत्न सहित चतुरतापूर्वक उनसे पूछनेपर वह वृद्धा गद्गद स्वरमें बोलीं—॥३२-३३॥

गोपराजस्य नन्दस्य तच्छ्रीकृष्ण-पितुः पुरम्।
तच्छब्द-श्रुतिमात्रेण व्यमुह्यं हर्ष-वेगतः॥३४॥

श्लोकानुवाद—"यह श्रीकृष्णके पिता गोपराज नन्दकी पुरी है"—यह शब्द श्रवण करनेमात्रसे ही मैं आनन्दके वेगसे मूर्च्छित हो गया॥३४॥

दिग्दर्शिनी टीका—किन्तदाह—गोपेति। तत् पुरं श्रीकृष्णपितुर्नन्दस्येति। गोपराजस्येति स एव तद्देशस्य राजेति ध्वनितम्। तस्य शब्दस्य श्रवणमात्रेणैव॥३४॥

भावानुवाद—उस वृद्धाने कहा कि यह पुरी श्रीकृष्णके पिता गोपराज श्रीनन्दकी है। 'गोपराज' इस वचनके द्वारा श्रीनन्द ही उस देशके राजा हैं—ऐसा ध्वनित हो रहा है। अतएव इस शब्दके श्रवणमात्रसे मैं आनन्दके वेगवशतः मूर्च्छित हो गया॥३४॥

क्षणात्तेनैव वृद्धेन चेतितोऽहं दयालुना।
धावन्नग्रेऽभिसृत्यास्या न्यषीदं गोपुरे पुरः॥३५॥

श्लोकानुवाद—क्षणकालमें उन दयालु वृद्धाने मुझे सचेत किया। तब मैं दौड़ता हुआ आगे बढ़ा और श्रीनन्दराजकी पुरीके द्वारपर जा पहुँचा॥३५॥

दिग्दर्शिनी टीका—चेतितः संज्ञां प्रापितः सन् अस्या गोपराजसम्बन्धिन्याः पुरः पुर्याः, गोपुरे बहिर्द्वारे, न्यषीदमुपविष्टोऽहम्॥३५॥

भावानुवाद—क्षणकाल उपरान्त उन दयालु वृद्धा द्वारा चेतनता प्राप्त करके मैं गोपराजसे सम्बन्धित उस पुरीकी ओर दौड़ा तथा उस पुरीके बाहरी द्वारमें जाकर बैठ गया॥३५॥

अदृष्टमश्रुतं चान्यैरसम्भाव्यं व्यलोकयम्।
बहुप्रकारमाश्चर्यं लक्षशस्तत्र कोटिशः॥३६॥

श्लोकानुवाद—वहाँ मैंने पहले कभी नहीं देखे हुए और न ही कभी सुने हुए लाखों करोड़ों आश्चर्योंको देखा, जो अनुभवीजनोंको छोड़कर अन्योंके लिए अगोचर है॥३६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र पुर्यां श्रीगोलोके वा अदृष्टञ्चाश्रुतञ्चाश्चर्यञ्च व्यलोकयं साक्षादन्वभवम्। ननु कीदृशं तदिति विशिष्य कथयेति चेत्तत्राह—अन्यैस्तदनुभवि-व्यतिरिक्तैर्जनैरसम्भाव्यम्, परमदुर्वितर्क्यत्वात्। अतो विशेषेण वक्तुं न युज्यत इति भावः॥३६॥

भावानुवाद—उस श्रीगोलोक स्थित पुरीमें मैंने पहले कहीं नहीं देखे हुए और न ही कभी सुने हुए आश्चर्योंको साक्षात् अनुभव किया। यदि कहो कि वह आश्चर्य कैसे थे? यदि उन आश्चर्योंके सम्बन्धमें कुछ कहा भी जाय तो अनुभवीजनोंको छोड़कर दूसरोंके लिए उसे धारण करना भी असम्भव है, क्योंकि वे अत्यन्त दुर्वितर्क है। अतएव उन्हें विशेष रूपसे बतलाया नहीं जा सकता है॥३६॥

निश्चेतुं नाशकं किन्ते परमानन्दनिर्वृताः।
किंवा दुःखभरग्रस्ता जनाः सर्वे द्विजोत्तम॥३७॥

श्लोकानुवाद—हे ब्राह्मण! मैं यह निश्चय नहीं कर सका कि उस पुरके वासी परमानन्दसे पूर्ण थे अथवा अत्यधिक दुःखसे ग्रस्त थे॥३७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथापि तत्स्नेहभरेण तत् किञ्चिद् विवृत्य कथयामीत्याह—निश्चेतुमिति चतुर्भिः। ते तत्रत्याः सर्वे जनाः॥३७॥

भावानुवाद—हे ब्राह्मण! तथापि तुम्हारे प्रति स्नेह हेतु उनके विषयमें कुछ बतला रहा हूँ—इसे 'निश्चेतुं' इत्यादि चार श्लोकोंमें कह रहे हैं। 'ते' अर्थात् वहाँके सभी वासी॥३७॥

गोपिकानाञ्च यद्गीतं श्रूयते रोदनान्वितम्।
तत्तोषस्य शुचो वान्त्यकाष्ठयेति न बुद्ध्यते॥३८॥

श्लोकानुवाद—गोपिकाओंके रोदनसे मिश्रित गीतको सुनकर मैं अपनी बुद्धि द्वारा यह निश्चय नहीं कर सका कि वे गीत अत्यन्त आनन्दसे पूर्ण थे या शोककी चरम सीमासे युक्त थे?॥३८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तद्गीतम्, तोषस्य आनन्दस्य अन्त्यकाष्ठया परमसीमया भवेत्; किंवा शुचः शोकस्यान्त्यकाष्ठया इति न बुध्यते न निश्चेतुं शक्यते, परमप्रेमविशेष-परीपाकस्वभावजत्वात्॥३८॥

भावानुवाद—गोपिकाओंके रोदनसे मिश्रित गीत सुनकर मैं अपनी बुद्धि द्वारा यह निश्चय नहीं कर पाया कि वे गीत सन्तोष अर्थात् आनन्दकी अन्तिम सीमासे पूर्ण थे या फिर शोककी चरम सीमामें स्थित थे। वास्तवमें प्रेमकी परिपक्व अवस्थाका ऐसा ही विशेष स्वभाव होनेके कारण उसके विषयमें कुछ भी निश्चित नहीं किया जा सकता है॥३८॥

पदं तत् पश्यता मर्त्यलोकेऽस्मीत्येव मन्यते।
यदा तु पूर्वपूर्वानुसन्धानं क्रियते बहु॥३९॥

श्लोकानुवाद—उस श्रीगोलोकको देखकर मेरे मनमें विचार आता कि मैं मर्त्यलोकमें ही वास कर रहा हूँ, किन्तु जब पूर्व बातोंका अनुसन्धान करता—॥३९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत् श्रीगोलोकाख्यं पदं स्थानं पश्यता सता, मर्त्यलोक एवाहं वर्त्त इति मन्यते मया, मर्त्यलोकीयश्रीमथुरामण्डलेन सहाभेदात्। पूर्वपूर्वस्य ऊर्ध्वगत्या प्रथमं वैकुण्ठलोकमागतः, ततश्चायोध्यादिकमतिक्रम्यात्रागतोऽस्मीत्यादेः पूर्वपूर्वानुभूतस्य अनुसन्धानं विचारणं, बहु बहुलं, क्रियाविशेषणं वा॥३९॥

भावानुवाद—उस श्रीगोलोक नामक पद (स्थान) का दर्शन करके मेरे मनमें आता कि मैं मर्त्यलोकमें ही रह रहा हूँ, क्योंकि श्रीगोलोक भौम श्रीमथुरामण्डलसे अभिन्न है। जब मैं पहले अनुभव किये गये लोकोंका अनुसन्धान करता, अर्थात् उर्ध्वगमनके क्रमसे मैंने सर्वप्रथम वैकुण्ठलोकको लांघा फिर अयोध्या आदि लोकोंको लांघकर इस स्थानपर आया हूँ— ॥३९॥

तदाखिलानां लोकानामलोकानामुपर्यपि।
तथा लोकातिलोकानां वर्त्तेयेत्यवगम्यते ॥४०॥

श्लोकानुवाद—तभी अनुभव करता कि मैं लोकालोक और लोकातीत श्रीवैकुण्ठ आदिके भी ऊपर अवस्थित श्रीगोलोकमें हूँ॥४०॥

दिग्दर्शिनी टीका—लोकानां चतुर्दशभुवनानाम्, अलोकानां तद्बाह्यानामावरणादीनाम्, लोकाश्च ते तत्तत्सादृश्यात्, अतिलोकाश्च लोकातीताः, तत्त्वविचारात्तेषां वैकुण्ठादीनामुपर्यपि वर्त्तेय वर्त्तमानोऽस्मीति अवगम्यते बुध्यते मया॥४०॥

भावानुवाद—जब मैं अपने द्वारा पहले अनुभव किये गये लोकोंके विषयमें तत्त्व द्वारा विचार करता, उस समय स्थिर करता कि मैं सभी लोकों अर्थात् चौदह भुवन, अलोक अर्थात् चौदह भुवनके बाहर अष्ट आवरण आदि तथा लोकातीत अर्थात् श्रीवैकुण्ठ आदिसे ऊपर वर्त्तमान श्रीगोलोकमें अवस्थान कर रहा हूँ॥४०॥

अथ तत्रागतामेकां वृद्धां नत्वातिकाकुभिः।
अपृच्छं विहरत्यद्य क्वासौ श्रीनन्दनन्दनः॥४१॥

श्लोकानुवाद—तदुपरान्त वहाँ उपस्थित एक वृद्धाको प्रणाम करके मैंने उनसे अत्यन्त विनयपूर्वक पूछा कि श्रीनन्दनन्दन इस समय कहाँ विहार कर रहे हैं?॥४१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र गोपुरे, असौ युष्मन्मनोहरः क्व कस्मिन् स्थाने विहरतीत्यपृच्छम्॥४१॥

भावानुवाद—मैंने उस पुरद्वारपर उपस्थित किसी एक वृद्धासे पूछा कि आपके मनको हरण करनेवाले वे श्रीनन्दनन्दन इस समय किस स्थानपर विहार कर रहे हैं?॥४१॥

श्रीवृद्धोवाच—

प्रातर्विहर्त्तुं गहनं प्रविष्टो,
गोभिर्वयस्यैश्च महाग्रजेन।
प्राणप्रदाता व्रजवासिनां नः,
सायं समायास्यति सोऽधुनैव॥४२॥

श्लोकानुवाद—श्रीवृद्धाने कहा—श्रीकृष्ण प्रातःकालसे श्रीबलराम तथा अपने सखाओं सहित गायोंको लेकर विहारके लिए वनमें गये हुए हैं। वे ही मेरे जैसे व्रजवासियोंके प्राण-दाता हैं तथा वे अभी सायंकालको वनसे लौटेंगे॥४२॥

दिग्दर्शिनी टीका—अग्रजेन श्रीबलरामेण सह स श्रीनन्दनन्दनः सायं सन्ध्यायां तत्राप्यधुनैव; तत्कालप्राप्तेः। सम्यक् कुशलेन, प्रत्येकं सर्वेषामपि सन्तोषकारितया वा आयास्यति; यतो नोऽस्माकं व्रजवासिनां प्राणदाता, अन्यथा अस्माकं मरणदुःखापत्तेः॥४२॥

भावानुवाद—अपने बड़े भाई श्रीबलराम सहित वह श्रीनन्दनन्दन अभी सन्ध्याके समय यहाँ लौट आयेंगे। अर्थात् कुशलतापूर्वक समस्त व्रजवासियोंको सन्तुष्ट करते हुए अभी यहाँ आगमन करेंगे। इसका कारण है कि वे ही मेरे जैसे व्रजवासियोंके प्राण-दाता हैं। उनके यहाँ आगमन नहीं करनेसे हमको मरने जैसा दुःख प्राप्त होगा॥४२॥

तिष्ठन्ति यस्मिन् व्रजवासिनो जना,
न्यस्तेक्षणा वर्त्मनि यामुनेऽखिलाः।
एते नगा यस्य तदीक्षणोन्मुखाः,
सन्त्युच्छदैरेष्यति नन्वनेन सः॥४३॥

श्लोकानुवाद—श्रीयमुनाके जिस पथकी ओर समस्त व्रजवासी टकटकी लगाये हुए हैं, और तो क्या जिस ओर ये सभी वृक्ष भी अपने-अपने पत्तोंको मोड़कर उनके आगमनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं, श्रीकृष्ण निश्चय ही उसी पथसे आयेंगे॥४३॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं तदागमनवार्त्ताजातोल्लासेन वर्त्मापि कथयति—तिष्ठन्तीति। यामुने यमुनातीरसम्बन्धिनि यस्मिन् वर्त्मनि न्यस्तानि ईक्षणानि नेत्राणि यैस्तथाभूताः सन्तः, अखिला एते व्रजवर्त्तिनो जनास्तिष्ठन्ति। यस्य च वर्त्मनः

सम्बन्धिनः एतेऽभिमुखे वर्त्तमानाः नगाः वृक्षाः उच्छदैरुन्नमितैश्छदैः पत्रैर्लक्षणैः, तस्य श्रीनन्दनन्दनस्य ईक्षणे अवलोकने उन्मुखाः सन्ति। ननु वितर्के निश्चये वा। अनेन वर्त्मना सः श्रीनन्दनन्दनः एष्यति आयास्यति॥४३॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीकृष्णके आगमनकी वार्त्तासे उत्पन्न उल्लाससे उनके आनेके पथका वर्णन करनेके लिए वह वृद्धा 'तिष्ठन्ति' इत्यादि श्लोक कह रही हैं। श्रीयमुनातट-सम्बन्धी जिस पथकी ओर सभी व्रजवासी टकटकी लगाये हुए हैं तथा 'अखिला' अर्थात् सभी व्रजवासी जहाँपर खड़े हैं और तो क्या वहाँके सभी वृक्ष भी अपने-अपने पत्तोंको जिस पथकी ओर मोड़कर उनके आगमनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं, अतएव निश्चय ही श्रीनन्दनन्दन अभी उसी पथसे आयेंगे। इस प्रकार सभी श्रीनन्दनन्दनको देखनेके लिए उत्सुक हो रहे हैं॥४३॥

श्रीगोपकुमार उवाच—

परमामृत-धाराभिरभिषिक्त इवाभवम्।
तया तं दर्शितं मार्गमेकदृष्ट्या व्यलोकयन्॥४४॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपकुमारने कहा—हे ब्राह्मण! मैं यह बात सुनकर परम अमृतकी धारामें अभिषिक्त हो गया तथा वृद्धा द्वारा दिखाये गये मार्गकी ओर एकटकसे देखने लगा॥४४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तया वृद्धया, तं श्रीनन्दनन्दनागमनसम्बन्धिनम् एकया एकाग्रया दृष्ट्या अवलोकनेन॥४४॥

भावानुवाद—मैं उस वृद्धा द्वारा बताये गये श्रीनन्दनन्दनके आगमन-सम्बन्धी मार्गको एकाग्र दृष्टिसे देखने लगा॥४४॥

परमानन्द-भारेण स्तम्भितोरुः कथञ्चन।
यत्नेनाग्रे भवन् दूरेऽश‍ृणवं कमपि ध्वनिम्॥४५॥

श्लोकानुवाद—उस समय परमानन्दके वेगसे मेरे दोनों घुटने स्तम्भित हो गये, तथापि बड़े यत्नसे कुछ आगे बढ़नेपर मैंने दूरसे किसी एक मधुर ध्वनिको सुना॥४५॥

दिग्दर्शिनी टीका—स्तम्भितौ जड़ीकृतौ ऊरू यस्य सः; दूरे वर्त्तमानम्॥४५॥

भावानुवाद—परमानन्दके कारण मेरे घुटने स्तम्भित अर्थात् जड़के समान हो गये। तब मैंने दूरसे आ रही किसी मधुर ध्वनिको श्रवण किया॥४५॥

गवां हाम्बारावैः सुललिततरं मोहमुरली-
कलं लीलागीत-स्वरमधुररागेण कलितम्।
जगद्वैलक्षण्याचितविविध-भङ्गीविलसितं,
व्रजस्थानां तेषां सपदि परमाकर्षवलितम्॥४६॥

श्लोकानुवाद—वह श्रीकृष्णकी मोहन मुरलीकी ध्वनि थी, जो गौओंके हम्बा-रवसे सुललित लीला-गानयुक्त मधुर राग-रागनियोंसे परिपूर्ण थी तथा जगत्-विलक्षण विविध भङ्गिविलाससे सुशोभित थी। वह मुरलीध्वनि व्रजवासियोंको परम आकर्षित करनेवाली थी॥४६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ध्वनिमेवाभिव्यञ्जयति—गवामिति। मोहस्य तद्धेतोर्मुरल्याः कलं मधुरास्फुटशब्दमश्रृणवमिति पूर्वेणैवान्वयः। लीलया गीतानि तेषां स्वराः षड्जादयस्तेषु च मधुरा रागा मल्लारादयस्तैः, कलितं युक्तम्। जगद्वैलक्षण्येनाचिताभिर्व्याप्ताभिर्विविधाभिर्भङ्गीभिर्मूर्च्छनादिभिः परिपाटीभिर्विलसितं शोभितम्। तेषां गोपीप्रभृति-जनानां, परमेण अत्यन्तेन आकर्षेण आकृष्ट्या वलितं सम्वलितं, तत्र कृतवलं वा॥४६॥

भावानुवाद—वह ध्वनि किस प्रकार अभिव्यक्त हो रही थी, इसे गोपकुमार 'गवां' इत्यादि श्लोकमें वर्णन कर रहे हैं। गायोंके हम्बा-रवसे सुललित उस मोह उत्पन्न करनेवाली मोहन मुरलीकी मधुर अस्फुट ध्वनिको मैंने श्रवण किया। वह ध्वनि लीला-गीतोंके षड्जादि स्वर और मल्लार आदि मधुर रागोंसे युक्तसे होकर जगत्-विलक्षण विविध मूर्च्छना (सङ्गीतमें एक षड्जसे दूसरे षड्ज तक जानेमें सातों स्वरोंका आरोह-अवरोह) आदिकी भङ्गि अर्थात् परिपाटी द्वारा विचित्र विलास माधुरीसे सुशोभित तथा गोपी आदि व्रजवासियोंको परम आकर्षण करनेकी शक्तिसे सम्पन्न थी॥४६॥

यस्मात् सस्रुस्तरुविततितो दीर्घधारा रसानां,
घोषस्थानामपि तनुभृतां नेत्रतोऽश्रु-प्रवाहाः।

तन्मातॄणामपि विवयसां क्षीरपूराः स्तनेभ्यः,
कलिन्द्याश्च प्रचलपयसां ते न्यवर्त्तन्त वेगाः॥४७॥

श्लोकानुवाद—उस मुरलीकी ध्वनिके प्रभावसे समस्त वृक्षोंसे रसकी बहुत बड़ी-बड़ी धाराएँ निकल रही थीं, प्रत्येक व्रजवासीके नेत्रोंसे अश्रु-धारा प्रवाहित हो रही थी, श्रीकृष्णकी माताओं यहाँ तक कि वृद्धा धात्री आदिके स्तनोंसे भी दूधकी धाराएँ बह रही थीं तथा श्रीयमुनाजीका स्वाभाविक प्रवाह भी विपरीत-गामी और स्तब्ध हो गया था॥४७॥

दिग्दर्शिनी टीका—यस्माद्ध्वनेर्मुरलीकलाद्वा, तरूणां विततितः श्रेण्याः, रसानां दीर्घा धाराः सस्रुः। घोषः गोपनिवासस्थानं, तस्मिन् स्थितानामिति तत्र तद्दृष्ट्यभिप्रायेण वस्तुतस्तु वनस्थादीनामपि। तस्य श्रीनन्दनन्दनस्य; मातृणां बहुत्वञ्च मातृ-स्वसृ-धात्र्याद्यपेक्षया; यद्वा, ब्रह्मकृतबालकवर्ग-हरणसमये पीतस्तन्यान्यां गोपीनामपेक्षया; विवयसां वृद्धानामपि। ते खरतरा दुर्निरोधाः न्यवर्तन्त, स्तब्धतां प्रतिकूलतां वा प्रापुः॥४७॥

भावानुवाद—जिस मुरलीकी मधुर ध्वनि या तानके प्रभावसे वृक्षोंसे रसकी बड़ी-बड़ी धाराएँ निकल रही थीं, 'घोष' अर्थात् गोपोंके रहनेका स्थान—वहाँपर निवास करनेवाले व्रजवासी और वन स्थित समस्त शरीरधारियोंके नेत्रोंसे अश्रुधाराएँ प्रवाहित हो रही थीं। श्रीनन्दनन्दनकी सभी माताओं अर्थात् माता, मौसी और धात्री आदिके स्तनोंसे दूधकी धाराएँ बह रही थीं। अथवा ब्रह्मा द्वारा बालकोंको हरण किये जानेके समय स्वयं श्रीकृष्णने बालक बनकर जिनका स्तनपान किया था, (इसी अपेक्षासे अनेक माताओंके विषयमें कहा गया है) उन सभी माताओं यहाँ तक कि वृद्धा धात्रियोंके स्तनोंसे भी दूधकी धाराएँ बह रही थीं। अधिक क्या बताऊँ, श्रीयमुनाजीका प्रबल प्रवाह भी स्तब्ध होकर विपरीत-गामी हो गया था॥४७॥

न जाने सा वंश्युद्गिरति गरलं वामृतरसम्,
न जाने तन्नादोऽप्यशनिपरुषो वाम्बुमृदुलः।
न जाने चात्युष्णो ज्वलितदहनाद्वेन्दुशिशिरो
यतो जातोन्मादा मुमुहुरखिलास्ते व्रजजनाः॥४८॥

श्लोकानुवाद—उस वंशीकी मधुर नादको सुननेमात्रसे ही सभी व्रजवासी उन्माद अवस्थाको प्राप्त हो गये। इसलिए मैं यह नहीं जान सका कि वह वंशी प्रचन्ड विष उगल रही थी या अमृतकी वर्षा कर रही थी। अथवा वह वंशीकी ध्वनि वज्रके समान कठोर थी या जलके समान कोमल, अथवा दहकती हुई अग्निसे भी अधिक तप्त थी या चन्द्रमासे भी अधिक शीतल थी॥४८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु मुरलीकलोऽसौ तत्त्वतः कीदृशः? इत्यत्राह—नेति। उद्गिरति वमति, तन्नादेन परममोहप्राप्तेः। तस्या वंश्या नादः अशनेर्वज्रादपि परुषः कठिनः, अम्बुनो जलादपि मृदुलो वेत्यपि न जाने। ज्वलिताद्दहनादग्नेरप्यत्युष्णः, इन्दोश्चन्द्रादपि शिशिरः शीतलो वेति न जाने, यतो वंश्यास्तन्नादतो वा॥४८॥

भावानुवाद—यदि कहो कि वह मुरलीकी ध्वनि तत्त्वतः कैसी थी? इस प्रश्नकी आशंकासे ही गोपकुमार 'न जाने' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। उस मुरली ध्वनिके मधुर नादको सुननेमात्रसे ही समस्त व्रजवासी परम मोहित हो गये थे। अतः मैं यह नहीं बतला सकता कि वह मुरली प्रचन्ड विष उगल रही थी या फिर अमृत रसकी वर्षा कर रही थी। मैं नहीं जानता कि वह वंशीकी ध्वनि वज्रसे भी कठोर थी, अथवा जलसे भी कोमल, अथवा वह वंशीध्वनि जलती हुई अग्निसे भी अधिक तप्त थी या चन्द्रकी किरणोंसे भी सुशीतल थी॥४८॥

अथानुपश्यामि गृहाद्विनिःसृता–
स्तदीयनीराजनवस्तुपाणयः ।
प्रयान्ति काश्चिद्व्रजयोषितोऽपराः,
शिरोऽर्पितालङ्करणोपभोग्यकाः ॥४९॥

श्लोकानुवाद—तब मैंने देखा कि कुछ व्रजाङ्गनाएँ अपने-अपने घरोंसे बाहर निकलीं। उनमेंसे कुछ तो श्रीकृष्णके नीराजन (आरती) की वस्तुओंको लेकर जा रही थीं और कुछ अपने-अपने सिरपर अलङ्कार और भोग्य सामग्री लेकर जा रही थीं॥४९॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथ क्षणानन्तरम्; दृष्टमेवाह—गृहाद्विनिःसृताः सत्यो व्रजयोषितो गोप्यः प्रयान्ति। तासु च काश्चित् तदीयस्य श्रीनन्दनन्दनसम्बन्धिनो

नीराजनस्य निर्मञ्छनकर्मणः वस्तूनि दीपपुष्प-सर्षपादीनि पाणिषु यासां ताः। अपराश्च शिरःसु अर्पितानि न्यस्तानि अलङ्करणानि माल्यानुलेपनादीनि उपभोग्यानि च नवनीत-शिखरिण्यादीनि याभिस्ताः॥४९॥

भावानुवाद—तदुपरान्त मैंने देखा कि अपने-अपने घरोंसे बाहर निकलकर कुछ व्रजाङ्गनाएँ श्रीकृष्णकी ओर जा रही थीं। उनमेंसे कोई-कोई श्रीनन्दनन्दनके नीराजन (आरती) के लिए निर्मञ्छनकी वस्तुएँ अर्थात् दीप-पुष्प-चन्दन आदि हाथोंमें लेकर जा रही थीं। कोई अपने सिरपर अलङ्कार अर्थात् माला, चन्दन आदि लेकर जा रही थीं और कोई माखन इत्यादि खाद्य-वस्तुएँ लेकर जा रही थीं॥४९॥

किञ्चिच्च काश्चित्त्वनपेक्षमाणाः,
सम्भ्रान्तिविघ्नाकलिताः स्खलन्त्यः।
धावन्ति तस्यां दिशि यत्र धेनु-
हाम्बारवा वेणु-निनादमिश्राः॥५०॥

श्लोकानुवाद—कुछ व्रजाङ्गनाएँ सम्भ्रमरूपी विघ्नसे व्याकुल होनेपर भी किसीकी अपेक्षा न करके वेणुकी ध्वनिसे मिश्रित गौओंका 'हम्बा' स्वर जिस दिशासे आ रहा था, उसी तरफ स्खलित पदसे दौड़ रही थीं॥५०॥

दिग्दर्शिनी टीका—अप्यर्थे चकारः; किञ्चिदप्यनपेक्षमाणाः; यतः सम्भ्रान्तिः सम्भ्रम एव विघ्नः गमनाद्यन्तरायः तेन आकलिता गृहीताः, अतएव स्खलन्त्यः इतस्ततो निपतन्त्यः; यत्र यस्यां दिशि धेनूनां हाम्बारवाः सन्ति॥५०॥

भावानुवाद—कोई-कोई व्रजाङ्गना किसी भी वस्तुकी अपेक्षा न करके ही दौड़ी जा रही थी। यद्यपि सम्भ्रमरूप विघ्न उनके जानेमें बाधक हो रहा था, तथापि वे स्खलित पदोंसे ही अर्थात् गिरती-पड़तीं, गौओंके हम्बा-रवसे मिश्रित मुरलीकी ध्वनि जिस दिशासे सुनायी पड़ रही थी, उस दिशाकी ओर जा रही थीं॥५०॥

काश्चिद्विपर्यग्धृतभूषणा ययुः
काश्चिच्च नीवीकच-बन्धनाकुलाः।

अन्या गृहान्तस्तरुभावमाश्रिताः
काश्चिच्च भूमौ न्यपतन् विमोहिताः ॥५१ ॥

श्लोकानुवाद—कोई-कोई व्रजाङ्गना अपने भूषण उल्टे-पल्टे धारण करके ही गमन कर रही थी। कोई-कोई अपनी नीवी तथा केशपाशोंको बाँधनेमें व्याकुल होनेपर भी उसके प्रति मनोनिवेश न करके ही जा रही थीं। तथा कुछ व्रजाङ्गनाएँ घरमें ही रहकर वृक्षोंकी तरह जड़ता भावको प्राप्त हो गयीं और अन्य कोई-कोई मूर्च्छित होकर भूमिपर गिर पड़ी॥५१ ॥

दिग्दर्शिनी टीका—विपर्यञ्च विपरीतानि; यद्वा, विपर्यक् विपर्ययो यथा स्यात्तथा धृतानि भूषणानि याभिस्ताः, नीवीनां परिधानवस्त्रग्रन्थीनां कचानाञ्च मुहुर्मुच्यमानत्वात् बन्धनेनाकुलाः, तरुभावं स्थावरत्वं गृहान्तरेव आश्रिताः प्राप्ताः ॥५१ ॥

भावानुवाद—कोई व्रजसुन्दरी विपरीत अर्थात् उल्टे-पुल्टे भूषण धारण करके ही जा रही थी। कोई नीवी अर्थात् वस्त्र परिधान ग्रन्थिका बन्धन करते-करते जा रही थी। किसी-किसीका चलते समय केशपाश बार-बार खुल रहा था, इसलिए वे उन केशोंको बाँधनेमें व्याकुल होकर ही जा रही है। तथा कुछ व्रजसुन्दरियाँ घरमें रहते हुए ही वृक्षके समान जड़ भावको प्राप्त हो गयीं और कोई-कोई मूर्च्छित होकर भूमितलपर गिर पड़ी॥५१ ॥

मोहं गताः काश्चन नीयमाना,
धृत्वाश्रुलालार्द्रमुखाः सखीभिः।
यान्तीतराः प्रेम-भराकुलास्तं,
पश्यैतमित्यालिभिरुच्यमानाः ॥५२ ॥

श्लोकानुवाद—कोई-कोई सखी उस प्रेम विह्वला मूर्च्छित व्रजसुन्दरीको, जो नेत्रोंसे अश्रु तथा मुखसे लार बहाती जा रही थी, अपने हाथोंसे पकड़कर ले जाती हुई यह कह रही थी—"सखि! देखो तुम्हारे प्राणेश्वर श्रीनन्दनन्दन आ रहे हैं॥"५२ ॥

दिग्दर्शिनी टीका—मोहं गताः सत्योऽपि सखीभिर्धृत्वा नीयमानाः, प्रेमभरेणाकुला विह्वलाः; तं निजप्राणेश्वरं श्रीनन्दनन्दनम्; आलिभिः सखीभिः ॥५२ ॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥५२॥

तदीयनामेहितगानतत्परा,
विचित्रवेशाम्बरकान्तिभूषिताः ।
रमातिसौभाग्यमद-प्रहारिका,
जवेन कृष्णा-तटमाश्रयन्त ताः॥५३॥

श्लोकानुवाद—वे सब व्रजसुन्दरियाँ श्रीकृष्णके नाम तथा उनकी लीलाओंका गान करते-करते शीघ्रतापूर्वक श्रीयमुनाके तटपर जा रही थीं। वे चित्र-विचित्र वेश, वस्त्र और कान्ति द्वारा विभूषित महालक्ष्मीके सौभाग्यमदको भी चूर्ण करनेवाली थीं॥५३॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं वर्गशो गृहान्निर्गता विशेषेण केनचिद्वर्णयित्वा सामान्येन सर्वा एव ता वर्णयति—तदीयेति। ताश्च सर्वाः कृष्णायाः कालिन्द्यास्तटं तीरमाश्रयन्त, तद्वर्त्मना भगवदागमनात्। कीदृश्यः? तदीयानां श्रीनन्दनन्दनसम्बन्धिनां नाम्नामीहितानाञ्च चरितानां गाने तत्पराः परमनिष्ठां प्राप्ताः, कदाचित् कथञ्चिदपि तद्राहित्याभावात्। विचित्रैर्वेशैर्भूषणैः अम्बरैः कान्तिभिश्च भूषिताः; रमाया महालक्ष्म्याः अतिसौभाग्यमदस्य अत्यन्तसौन्दर्याभिमानस्य प्रहारिका विनाशकर्त्र्यः; तस्या अपि सकाशात् परमसौन्दर्यातिसेविता इत्यर्थः॥५३॥

भावानुवाद—इस प्रकार घरसे बाहर निकलकर आनेवाली व्रज-सुन्दरियोंमेंसे किसी-किसीके जानेके वृत्तान्तका वर्णन करके अब गोपकुमार सामान्य रूपसे सभी व्रजसुन्दरियोंके जानेका वृत्तान्त 'तदीय' इत्यादि श्लोक द्वारा वर्णन कर रहे हैं। जो सब गोपियाँ श्रीकृष्णके आगमन पथ—कालिन्दी तटपर पहुँच रही थीं, वे कैसी थीं? वे समस्त व्रजाङ्गनाएँ श्रीनन्दनन्दनके नाम और उनके हितकर लीला-चरित्र आदिको गान करनेमें तत्पर अर्थात् परम निष्ठा प्राप्त कर चुकी थीं तथा कदाचित् उनमेंसे कोई भी श्रीकृष्णके नाम और लीला आदि गान किये बिना नहीं रह सकतीं थीं। वे व्रजाङ्गनाएँ विचित्र वेश, वस्त्र, भूषण और कान्ति द्वारा विभूषित महालक्ष्मीके भी सौभाग्यमदको चूर्ण करनेवाली थीं, अर्थात् महालक्ष्मीके अत्यन्त सौन्दर्य अभिमानको विनाश करनेवाली तथा उससे भी अधिक सौन्दर्य आदि द्वारा परिसेवित थीं॥५३॥

ततोऽहमपि केनाप्याकृष्यमाण इवाग्रतः।
धावन्तीभिः समन्ताभिर्धावन्नभ्यसरं रयात्॥५४॥

श्लोकानुवाद—तब मैं भी शीघ्रगतिसे जा रही उन व्रजसुन्दरियोंके पीछे दौड़ने लगा। उस समय मुझे ऐसा लगा जैसे कि मैं किसीके द्वारा आकर्षित होकर उनका अनुसरण कर रहा हूँ॥५४॥

अथापश्यन् दूरान्मधुरमुरली–राजितकरो
जवान्निःसृत्यासौ सखिपशुगणाद्धावनपरः।
अये श्रीदामंस्त्वत्कुलकमलभास्वानयमितः
सरूपः प्राप्तो मे सुहृदिति वदन्नेति ललितम्॥५५॥

श्लोकानुवाद—इसके पश्चात् मैंने कुछ दूरीसे देखा कि हस्तकमलमें सुशोभित मनोहर मुरली लिए श्रीकृष्ण अपनी सखा–मण्डली तथा गौओंके बीचसे शीघ्रतापूर्वक निकलकर कहने लगे—"हे श्रीदाम! देखो, तुम्हारे कुलरूपी कमलके लिए सूर्यस्वरूप और मेरा अत्यन्त प्रियबन्धु यह सरूप नामक सखा यहाँ आ गया है।" ऐसा कहते–कहते वे ललित गतिसे मेरी ओर आगमन करने लगे॥५५॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथानन्तरं दूरादपश्यम्। किन्तदाह—मधुर इत्यादिना सिन्धुरित्यन्तेन। सखीनाञ्च श्रीदामादिगोपानां, पशूनाञ्च गवादीनां गणात् जवेन निःसृत्य धावनपरः सन् असौ श्रीनन्दनन्दनः ललितं यथा स्यात्तथा एति आगच्छति। किं कुर्वन्? तत् कुलमेव कमलं तस्य भास्वान् भास्करः, त्वद्वंश्यानां मध्ये परमश्रेष्ठः इत्यर्थः। मम सुहृत् परमबन्धुः सरूपसंज्ञोऽयमितः अत्रैव प्राप्तः, समागतो लब्धो मया वेति वदन्॥५५॥

भावानुवाद—तदुपरान्त गोपकुमारने दूरसे जो देखा उसका वर्णन वर्त्तमान श्लोकके 'मधुर' इत्यादि वाक्यसमूहसे आरम्भकर श्लोक संख्या ५९ के अन्तिम शब्द 'सिन्धु' तक कर रहे हैं। श्रीदाम आदि सखाओंकी मण्डली और गौओंमेंसे शीघ्रतापूर्वक बाहर आकर वे मधुर मुरली धारण करनेवाले श्रीनन्दनन्दन मनोहर भङ्गि सहित कहने लगे, हे श्रीदाम! देखो, तुम्हारे कुलरूपी कमलके लिए सूर्यस्वरूप यह सरूप नामक मेरा परम प्रिय बन्धु यहाँ आया है। ऐसा कहते–कहते श्रीकृष्ण मेरी ओर आगमन करने लगे॥५५॥

आरण्यवेशो विचलत्कदम्ब-
मालावतं साम्बरबार्हमौलिः।
सौरभ्यसंवासितदिक्तटान्तो,
लीलास्मित-श्रीविकसन्मुखाब्जः ॥५६॥

श्लोकानुवाद—हे ब्रह्मन्! उस समय श्रीकृष्णने वन्यवेष धारण किया हुआ था। उनके गमनके वेगसे उनके गलेमें विराजित कदम्बके पुष्पोंकी माला हिल-डुल रही थी। उनके श्रीअङ्गपर पीताम्बर और मस्तकपर मयूरपुच्छसे बना हुआ मुकुट शोभा पा रहा था। उनके श्रीअङ्गोंकी सौरभसे दसों दिशाएँ सुगन्धित हो रही थीं और उनके विकसित मुखकमलपर लीलामय मन्द-मन्द हास्य अत्यन्त सुशोभित हो रहा था॥५६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तमेव वर्णयति—आरण्येति चतुर्भिः, आरण्यानामिव वेशः छन्दो यस्य सः; यद्वा, आरण्या वेशा भूषणानि यस्य सः। तदेवाह—विचलन्तः धावनेन कम्पमानाः कदम्बमालादयो यस्य सः; तत्र अवतंसः कर्णभूषणद्वयम्, अम्बरं परिधानोत्तरीयवस्त्रयुग्मं, बार्हो बर्हनिर्मितो मौलिर्मुकुटम्, सौरभ्येण निजगात्रामोदेन सम्यग् वासितो दिक्तटानामन्तो येन सः; लीलया यत् स्मितं तस्य श्रिया शोभया विकसत् मुखाम्बुजं यस्य सः॥५६॥

भावानुवाद—अब गोपकुमार श्रीकृष्णके सौन्दर्यराशिकी महिमाका वर्णन 'आरण्य' इत्यादि चार श्लोकोंमें कर रहे हैं। हे ब्राह्मण! उस समय मैंने श्रीकृष्णकी वन विहारके उपयोगी वेश-भूषाकी शोभा देखी। चलते समय उनकी कदम्ब-माला तथा दोनों कानोंके मकर-कुण्डल हिल-डुल रहे थे। उनकी दिव्य देहपर पीताम्बर वस्त्र और उत्तरीय तथा सिरपर मयूरपुच्छसे बना मुकुट शोभा पा रहा था। वे अपनी देहकी सुगन्धसे दसों दिशाओंको सुगन्धित कर रहे थे। उनके विकसित मुखकमलपर लीलामय मृदु मधुर हास्य शोभायमान था॥५६॥

कृपावलोकोल्लसदीक्षणाम्बुजो,
विचित्रसौन्दर्यभरैकभूषणः।
गोधूलिकालङ्कृत-चञ्चलालक-,
श्रेण्यावृतिव्यग्रकराम्बुजाङ्गुलिः ॥५७॥

श्लोकानुवाद—उनके नेत्रकमल कृपाभरी दृष्टिसे प्रफुल्लित हो रहे थे। इस प्रकारकी विचित्र सौन्दर्यराशि ही उनका सर्वश्रेष्ठ भूषण बन गया था। वे अपनी चञ्चल अलकावलीको, जो गोधूलिसे अलंकृत हो रही थी, अपने हस्तकमलकी अँगुलियोंसे बार-बार सम्भालनेमें व्यग्र थे॥५७॥

दिग्दर्शिनी टीका—कृपावलोकेन उल्लसन्ती ईक्षणाम्बुजे लोचनकमले यस्य सः; विचित्राणां सौन्दर्यानां भर एव एकं मुख्यम् असाधारणं वा भूषणं यस्य सः, गोधूलिकाभिरलङ्कृतानां चञ्चलानामलकानां श्रेण्या आवृतौ सम्वरणे व्यग्रा कराम्बुज-स्याङ्गुलयो यस्य सः॥५७॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णके नेत्रकमल कृपाभरी दृष्टिसे दीप्त हो रहे थे। इस प्रकारकी विचित्र सौन्दर्यराशि ही उनका एक मुख्य अथवा असाधारण भूषण बन गया था। गोधूलिसे अलंकृत उनकी चञ्चल अलकावली उनके मुखकमलको बार-बार ढक रही थी तथा वे अपने हस्तकमलकी अँगुलियों द्वारा उसे सम्भालनेमें व्यग्र थे॥५७॥

धरातल-श्रीभर-दानहेतुना,
भूमिस्पृशोर्नृत्यविलासगामिनोः ।
सुजातयोः श्रीपदपद्मयोर्जवा-
दुच्चालनोल्लासभरैर्मनोहरः ॥५८॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णके कोमल चरणकमल मानो पृथ्वीकी शोभाको बढ़ानेके लिए ही उसको स्पर्श कर रहे थे। उनका गतिविलास ऐसा था मानो वे नृत्य कर रहे हों। उल्लासवशतः अपने दोनों श्रीचरण-कमलोंको वेग सहित उठा-उठाकर रखनेसे वे मनोहर शोभाका विस्तार कर रहे थे॥५८॥

दिग्दर्शिनी टीका—श्रीयुक्तयोः पदपद्मयोः जवाद्वेगेन उच्चालने उच्चैः सञ्चालने उल्लासभरैरौत्सुक्यातिशयैः; यद्वा, उच्चालनेन शोभातिशयैर्मनो हरतीति तथा सः। कीदृशोः? सुजातयोः कोमलयोः। किञ्च, धरातलस्य भूमेः श्रीभरः शोभातिशयस्तस्य दानहेतुनैव भूमिं स्पृशत इति तथा तयोः अनेन परमवेगेन चलनं गतिसौन्दर्यञ्च दर्शितम्, अतएव नृत्यविलासेन गामिनोः गमनशीलयोः॥५८॥

भावानुवाद—श्रीकृष्ण अपने श्रीचरणकमलोंको अत्यधिक उल्लासवशतः वेग सहित उठा-उठाकर रख रहे थे। अथवा उनके कोमल श्रीचरण-कमल उठा-उठाकर रखनेकी भङ्गीवशतः अत्यन्त मनोहर शोभाका विस्तार कर रहे थे। उनके श्रीचरणकमल पृथ्वीको अत्यधिक शोभा दान करनेके लिए ही उसको स्पर्श कर रहे थे। उनका गमन ऐसा था मानों वे नृत्यविलास कर रहे हों, अतएव इसके द्वारा उनकी वेगपूर्ण गतिकी सुन्दरता प्रदर्शित हुई है॥५८॥

कैशोरमाधुर्य-भरोल्लसच्छ्री-
गात्राभ्रकान्त्युज्ज्वलिताखिलाशः ।
तत्रत्यनित्यप्रियलोक-चित्त-
ग्राह्याद्भुतानेकमहत्त्वसिन्धुः ॥५९॥

श्लोकानुवाद—नित्यप्रिय गोलोकवासियोंकी चित्तवृत्ति द्वारा ग्रहणकी जानेवाली अद्भुत-अपार-महिमा-सिन्धुस्वरूप उनकी कैशोर-माधुरी तथा नवीन मेघके समान उनकी अङ्गकान्ति देदीप्यमान होकर सब दिशाओंको उज्ज्वल कर रही थी॥५९॥

दिग्दर्शिनी टीका—कैशोरेण यो माधुर्यभरस्तेन उल्लसन्ती प्रस्फुटन्ती श्रीः शोभा यस्य गात्रस्य; यद्वा, उल्लसत उच्चैः शोभमानस्य श्रीगात्रस्य श्रीयुक्तमूर्त्तेः श्रीमदवयवर्गस्य वा, अभ्रस्य नवीननीरदस्येव कान्त्या उज्ज्वलिता विद्योतिता अखिला आशा दिशो येन सः। एवं तन्माधुर्यादिकं सामान्येनोक्तम्, विशेषतश्च सम्यगहं वर्णयितुं नार्हामीत्यभिप्रायेणाह—तत्रत्येति। तत्रत्यानां श्रीगोलोकीयानां नित्यप्रियाणां नित्याश्च ते प्रियाश्च भगवद्वल्लभास्तेषाम्; यद्वा, नित्यमेव तत्प्रियाणां लोकानां चित्तेनैव ग्राह्याणां ग्रहीतुं शक्यानाम् अद्भुतानां सर्वतो विलक्षणानाम् अनेकानां बहुविधानां महत्त्वानां महिम्नां सिन्धुः, स्थिरापार-गभीरैकाश्रय इत्यर्थः। एवमनुक्तान्यन्यान्यपि सर्वोत्कृष्टतराणि तदीयसौन्दर्य-माधुर्यादीनि ऊह्यानि॥५९॥

भावानुवाद—कैशोर अवस्थाके प्रचुर माधुर्य द्वारा प्रस्फुटित श्रीअङ्गोंकी अत्यधिक शोभा अथवा श्रेष्ठ रूपसे शोभायमान उनकी श्रीयुक्त मूर्त्ति या उनके श्रीमद् अङ्गसमूह तथा नवीन मेघोंके समान उनकी श्यामल कान्ति दसों दिशाओंको उज्ज्वल कर रही थी। इस प्रकार गोपकुमार सामान्य रूपसे श्रीनन्दनन्दनके माधुर्य आदिके विषयमें बतलाकर, अब

विशेष रूपसे अर्थात् सम्यक् वर्णन करनेमें असमर्थताके अभिप्रायसे 'तत्रत्य' इत्यादि पद कह रहे हैं। 'तत्रत्य' अर्थात् श्रीगोलोकवासी भगवान्‌के नित्यप्रिय परिकरोंका चित्त ही उस माधुर्यको ग्रहण करनेमें समर्थ है। विशेष रूपसे उनका नवनवायमान माधुर्य—उत्कृष्ट तथा अद्भुत अर्थात् समस्त प्रकारसे विलक्षण अनेक प्रकारकी महिमाओंका सिन्धुस्वरूप (अर्थात् स्थिर, अपार और गम्भीर आश्रयस्वरूप) है। अतएव उनके अन्यान्य सर्वोत्कृष्ट सौन्दर्य और माधुर्य आदि जिसका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है, वह सब वर्णनके अतीत हैं॥५९॥

स्वदीनलोक–प्रियतानियन्त्रितो,
बलादथोत्प्लुत्य समीपमागतः।
तदीक्षणप्रेम–विमोहितं हि मां,
गले गृहीत्वा सहसापतद्भुवि॥६०॥

श्लोकानुवाद—मुझ दीनके प्रेमके अधीन होकर वे मुरलीधारी बलपूर्वक कूदकर मेरे निकट आये तथा सहसा मेरे गलेको पकड़कर अचेतन होकर भूमितलपर गिर पड़े। मैं भी उनके दर्शनसे प्रेममें विमोहित हो गया॥६०॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथ पश्चात्, समीपमदूरमागतः सन् बलादुत्प्लुत्य उच्चैः कूर्दित्वा सहसा अतर्कितमेव गले मां धृत्वा भूव्यपतत्। तत्र हेतुः—स्वस्य तस्य दीनलोको योऽहं, तस्मिन् प्रियता प्रेम, तया नियन्त्रितः वशीकृतः। कीदृशं माम्? तस्य भगवतः ईक्षणेन दर्शनेनैव प्रेम्णा विमोहितम्॥६०॥

भावानुवाद—तत्पश्चात् श्रीकृष्ण बलपूर्वक छलाङ्ग लगाकर मेरे निकट आये और सहसा मेरा कण्ठ धारण करके भूमितलपर गिर पड़े। उनके इस प्रकार भूमितलपर गिरनेका कारण था कि वे मुझ दीन व्यक्तिके प्रेमके अधीन थे। यदि कहो कि उस समय आपकी कैसी अवस्था थी? मैं उन श्रीकृष्णको अपने समीप देखकर प्रेमसे मोहित हो गया, अतएव मैं भी उनके साथ भूमितलपर गिर पड़ा॥६०॥

क्षणेन संज्ञामहमेत्य तस्माद्–,
विमोच्य यत्नाद्गलमुत्थितः सन्।

पश्यामि भूमौ पतितो विमुह्य,
वर्त्मार्द्रयन्नस्ति रजोमयं सः॥६१॥

श्लोकानुवाद—क्षणकालके बाद होश आनेपर जब मैं यत्नपूर्वक श्रीभगवान्‌के हस्तकमलोंको अपने कण्ठसे अलग करके उठा, उस समय मैंने देखा कि श्रीनन्दननन्दन मूर्च्छित होकर भूमिपर पड़े हुए हैं तथा अपने नयनोंसे बह रही प्रेम-अश्रुओंकी धारासे धूलिधूसरित-पथको कीचयुक्त कर रहे हैं॥६१॥

दिग्दर्शिनी टीका—संज्ञामेत्य प्राप्य; गलं निजकण्ठं, तस्मात् श्रीभगवतः सकाशाद्यत्नादविमोच्य, सः श्रीनन्दनन्दनो विमुह्य मोहं प्राप्य भूमौ पतितः सन् रजोमयं वर्त्म आर्द्रयन् अश्रुधाराभिः पङ्किलयन्नस्तीत्यपश्यम्॥६१॥

भावानुवाद—सचेतन होनेपर मैंने यत्नपूर्वक श्रीभगवान्‌के हस्त-कमलोंको अपने कण्ठसे अलग किया। तब मैंने देखा कि श्रीनन्दनन्दन प्रेम-मूर्च्छावशतः भूमिपर ही पड़े थे तथा उनके अश्रुओंकी धारासे वह धूलियुक्त पथ कीचपूर्ण हो गया था॥६१॥

गोप्यः समेत्याहुरहो वतायं,
कोऽत्रागतो वा किमिदं चकार।
एतां दशां नोऽसुगतिं निनाय,
हा हा हताः स्मो व्रजवासिलोकाः॥६२॥

श्लोकानुवाद—तब गोपियाँ वहाँ एकत्रित होकर परस्पर कहने लगीं—"यह कौन है? कहाँसे आया है? तथा इसने यह क्या किया? इसने ही हमारे प्राणनाथकी ऐसी अवस्था की है? हाय! हाय! हम सब व्रजवासी मारे गये॥"६२॥

दिग्दर्शिनी टीका—अयं गोपकुमारवेशः। कः कतमः? इदन्तापरामृष्टमेव विवृण्वन्ति—एतामिति। नोऽस्माकं असुगतिं प्राणनाथम्॥६२॥

भावानुवाद—गोपियाँ एकत्रित होकर कहने लगीं—यह गोपवेश धारण करनेवाला कौन है? कहाँसे आया है? इस प्रकारसे विचार करके वे बोलीं—इसीने हमारे प्राणनाथकी ऐसी दशा की है?॥६२॥

कंसस्य मायाविवरस्य भृत्यः,
कश्चिद्भविष्यत्ययमत्र नूनम्।
एवं विलापं विविधं चरन्त्य–
स्तमुद्रुदत्यः परिवब्रुरार्त्ताः॥६३॥

श्लोकानुवाद—कोई-कोई कहने लगीं कि यह व्यक्ति निश्चय ही श्रेष्ठ मायावी कंसका कोई सेवक होगा। इस प्रकार विविध प्रकारसे विलापपूर्वक उच्च स्वरसे रोती हुई उन गोपियोंने श्रीकृष्णको चारों ओरसे घेर लिया॥६३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र कारणमुद्भावयन्ति—कंसस्येति। नूनं वितर्के; उच्चै रुदत्यः, तं श्रीनन्दनन्दनं परिवब्रुः परित आवृतवत्यः॥६३॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णकी मोह-दशाका कारण कल्पना करके गोपियाँ 'कंसस्य' इत्यादि श्लोक कह रही हैं। अर्थात् यह व्यक्ति निश्चय ही मायावी कंसका कोई सेवक होगा। इसपर वितर्क (अनुमान) पूर्वक उच्च स्वरसे रोते-रोते उन गोपियोंने श्रीनन्दनन्दनको घेर लिया॥६३॥

अथास्य पृष्ठतो वेगाद्गोप-सङ्घाः समागताः।
दृष्ट्वा तादृगवस्थं तं रुरुदुः करुणस्वरैः॥६४॥

श्लोकानुवाद—फिर श्रीकृष्णके पीछे जो सब ग्वालबाल थे, वे भी अतिशीघ्र वहाँ आ पहुँचे और श्रीकृष्णको वैसी अवस्थामें देखकर करुण स्वरसे रोने लगे॥६४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य श्रीनन्दनन्दनस्य पृष्ठतः पश्चात् स्थिताः। तं निजप्राणसखं तादृगवस्थं प्राप्तमोहं दृष्ट्वा॥६४॥

भावानुवाद—तदुपरान्त उन श्रीनन्दनन्दनके पीछे आनेवाले ग्वालबाल भी वहाँ आ पहुँचे तथा अपने प्राणनाथकी मूर्च्छित अवस्था देखकर करुण स्वरसे रोने लगे॥६४॥

तमाक्रन्द-ध्वनिं घोरं दूराच्छ्रुत्वा व्रजस्थिताः।
वृद्धा नन्दादयो गोपा यशोदा पुत्रवत्सला॥६५॥

जरत्योऽन्यास्तथा दास्यः सर्वे तत्र समागताः।
धावन्तः प्रस्खलत्पादा मुग्धा हा हेति–वादिनः॥६६॥

श्लोकानुवाद—तब उस भयङ्कर रोदनकी ध्वनिको दूरसे सुनकर व्रजमें रहनेवाले श्रीनन्दराय आदि वृद्ध गोप, पुत्रवत्सला श्रीयशोदा तथा अन्यान्य वृद्ध–गोपियाँ यहाँ तक कि उनकी दासियाँ भी स्खलित गतिसे दौड़ती हुई वहाँ आ पहुँचीं तथा श्रीकृष्णकी ऐसी अवस्था देखकर हा–हा शब्द द्वारा विलाप करती हुई मुग्ध (मूर्च्छित) हो गयीं॥६५–६६॥

दिग्दर्शिनी टीका—आक्रन्दः आर्त्तनादेन रोदनं तस्य ध्वनिं, तं गोपी–गोपगणैः क्रियमाणं, घोरं भयङ्करं, दूराच्छ्रुत्वा। यत्रासौ विमुह्य पतितोऽस्ति तत्र। मुग्धाः तन्मोहकारणानभिज्ञाः, मोहं प्राप्ता इति वा॥६५–६६॥

भावानुवाद—उस भयङ्कर रोनेकी ध्वनिको दूरसे सुनकर व्रजके सभी गोप और गोपियाँ कातर होकर स्खलित गतिसे दौड़ते हुए उस स्थानपर आ पहुँचे जहाँ श्रीकृष्ण मूर्च्छित होकर गिर पड़े थे। यद्यपि वे श्रीकृष्णकी मूर्च्छाका कारण नहीं जानते थे, तथापि वे भी मूर्च्छित हो गये॥६५–६६॥

ततो गावो वृषा वत्साः कृष्णसारादयो मृगाः।
आगतास्तां दशां तस्य दृष्ट्वा रोदनकातराः॥६७॥

श्लोकानुवाद—फिर गौएँ, बैल और बछड़े तथा काले वर्णके हिरण आदि भी वहाँ आ पहुँचे। श्रीकृष्णकी ऐसी दशा देखकर वे सभी कातर होकर रोने लगे॥६७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य जीवनस्वामिनः; तां मोहरूपां दशां दृष्ट्वा॥६७॥

भावानुवाद—तदुपरान्त गाय और बैल आदि सभी पशु भी अपने प्राणधनकी ऐसी मूर्च्छित दशा देखकर रोने लगे॥६७॥

अश्रुधाराभिर्धौतास्या नदन्तः स्नेहतो मृदु।
आगत्यागत्य जिघ्रन्तो लिहन्त्येतं मुहुर्मुहुः॥६८॥

श्लोकानुवाद—वे सब पशु अश्रु-धाराओंसे अपने मुखोंको भिगोकर धीरे-धीरे रम्भाने लगे तथा श्रीकृष्णके निकट आकर स्नेहसे बार-बार उनके श्रीअङ्गोंको सूँघने तथा चाटने लगे॥६८॥

दिग्दर्शिनी टीका—अश्रुधाराभिरभितो धौतानि आस्यानि येषां ते; एतं श्रीनन्दनन्दनम्॥६८॥

भावानुवाद—अश्रु-धारासे उन सभी पशुओंका मुख भीग गया। वे कातर स्वर करते हुए श्रीनन्दनन्दनके निकट आकर स्नेहपूर्वक बार-बार उनके श्रीअङ्गोंको सूँघने तथा चाटने लगे॥६८॥

खगास्तस्योपरिष्टाच्च भ्रमन्तो व्योम्नि दुःखिताः।
रुदन्त इव कुर्वन्ति कोलाहलमनेकशः॥६९॥

श्लोकानुवाद—पक्षी भी बड़े दुःखित होकर आकाशमें श्रीकृष्णके ऊपर इधर-उधर उड़ते हुए इस प्रकार कोलाहल मचा रहे थे कि मानो वे रो रहे हों॥६९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य निजप्राणावलम्बनस्य उपरिष्टाद् व्योम्नि भ्रमन्तः; इवेति व्योम्नि भ्रमणेन साक्षात्तत्तत्त्वाननुभवात्॥६९॥

भावानुवाद—अपने प्राणोंके अवलम्बन (सहारे) श्रीकृष्णकी ऐसी दशा देखकर आकाशमें भ्रमण करनेवाले पक्षी भी दुःखी होकर मानों रोने लगे। 'इव' शब्दसे बोध होता है कि आकाशमें भ्रमण करनेके कारण वे साक्षात् उस तत्त्वको अनुभव नहीं कर पाये॥६९॥

स्थावराश्चान्तरुत्तप्ताः सद्यः शुष्का इवाभवन्।
बहुनोक्तेन किं सर्वे मृता इव चराचराः॥७०॥

श्लोकानुवाद—जड़-वृक्ष आदि अपने दुःखपूर्ण अन्तर-अनुतापसे एकदम सूख-से गये। अधिक क्या कहूँ, उस समय वहाँके समस्त चराचर शोकसे मृतप्राय हो गये॥७०॥

दिग्दर्शिनी टीका—बहुना तद्वृत्तेन उक्तेन किम्? एतेनैवालमित्यर्थः॥७०॥

भावानुवाद—उस वृत्तान्तका अधिक क्या वर्णन करूँ? अर्थात् इतना बताना ही यथेष्ट है॥७०॥

अहं महाशोकसमुद्रमग्नः,
स्वकृत्यमूढः परमार्त्तिमाप्तः।
निधाय तत्पादयुगं स्वमस्ते,
रुदन् प्रवृत्तो बहुधा विलापे॥७१॥

श्लोकानुवाद—तब मैं भी महान शोकरूपी सागरमें डूब गया तथा अत्यधिक दुःखवशतः अपने कर्त्तव्यको भूल गया। क्या करूँ, कुछ नहीं समझ पानेपर श्रीकृष्णके दोनों चरणकमलोंको अपने मस्तकपर रख करके अनेक प्रकारसे विलाप करते हुए रोने लगा॥७१॥

दिग्दर्शिनी टीका—स्वस्य मम कृत्ये तदानीं कर्त्तव्ये मूढ़ः सन्। तत्तस्य श्रीनन्दनन्दनस्य। यद्वा, तत् परमसुन्दरकोमलमधुरम्, अर्थात् तस्यैव स्वस्य मम मस्तके निधाय न्यस्य रुदन्॥७१॥

भावानुवाद—तब मैं कर्त्तव्य विमूढ़ हो गया अर्थात् अपने कर्त्तव्यको भी भूल गया। तत्पश्चात् श्रीनन्दनन्दनके अति सुन्दर कोमल मधुर श्रीचरणकमलोंको अपने मस्तकपर धारण करके रोने लगा॥७१॥

विदूरवर्त्ती बलभद्रदेवो–
ऽनुजोपमाकल्पवयोऽभिरामः ।
नीलाम्बरालङ्कृतगौरकान्ति–
स्ततः समायात् सभयं सवेगम्॥७२॥

श्लोकानुवाद—तदुपरान्त श्रीबलदेवजी जो अनुज श्रीकृष्णकी भाँति वेश–भूषा और आयुवाले थे, जो नीलाम्बर द्वारा अलंकृत थे और जिनकी अङ्गकान्ति गौर थी तथा जो किसी कारणसे दूर रह गये थे, भयपूर्वक वेगसे दौड़ते हुए वहाँ आ पहुँचे॥७२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततः पश्चाद्, तस्मादार्त्तनादाद्वा मद्विलापाद्वा, तस्मिन् स्थाने इति वा। बलभद्रदेवः सभयं सवेगञ्च समायातः। ननु सर्वपश्चात् कथमागत–स्तत्राह—विदूरवर्त्ति–कृष्णेन सह धावनासामर्थ्यात् पश्चाद्भूत इत्यर्थः। यद्वा, केनापि हेतुना दूरे स्थितः; अनुजः श्रीकृष्णस्तदुपमेन तदीयाकल्पवयःसदृशेन आकल्पेन भूषणेन वयसा च कैशोरेण अभिरामः सुन्दरः, नीलाम्बराभ्यामलङ्कृता गौरी मृणालधवला कान्तिर्यस्य सः॥७२॥

भावानुवाद—तदुपरान्त उन सब व्रजववासियोंके दुःखपूर्ण नादको सुनकर अथवा मेरे विलापको सुनकर पीछे रह गये श्रीबलदेवजी भयपूर्वक वेगसे दौड़ते हुए वहाँ पहुँचे। यदि आपत्ति हो कि श्रीबलरामजी सबसे पीछे क्यों थे? इसके लिए कह रहे हैं कि दूरवर्ती श्रीकृष्णके साथ दौड़नेमें असमर्थता हेतु अथवा अन्य किसी कारणसे दूर थे। वे अनुज श्रीकृष्णके समान ही सुन्दर वेश-भूषा और नयनोंको आनन्द देनेवाली कैशोर आयुसे सुशोभित थे तथा नीलाम्बर द्वारा अलंकृत गौर-कान्तिवाले थे॥७२॥

विशारदेन्द्रः परितो विलोक्य,
रुदन् क्षणाद्धैर्यमिवावलम्ब्य।
मदीयदोर्भ्यामनुजस्य कण्ठं,
संग्राहयामास निजप्रयत्नात्॥७३॥

श्लोकानुवाद—चतुर-शिरोमणि श्रीबलराम भी अनुज श्रीकृष्णकी ऐसी अवस्था देखकर रोने लगे तथा क्षणकालके बाद धैर्य धारण करके इधर-उधर दृष्टिपात करने लगे। तत्पश्चात् मुझे देखकर स्वयं ही यत्नपूर्वक उन्होंने मेरी दोनों भुजाओंको पकड़कर श्रीकृष्णके कण्ठमें डाल दिया॥७३॥

दिग्दर्शिनी टीका—प्रथमं रुदन्, अनुजस्य तादृगवस्थादर्शनात्। पश्चाद्धैर्यमवलम्ब्य इव तन्मोहनिदान-निश्चयार्थं परितो विलोक्य सर्वतो दृष्टिं प्रसार्य पश्चान्मद्दर्शनान्निदानाव-धारणेन मदीयाभ्यां दोर्भ्यां कृत्वा निजादसाधारणात् प्रयत्नात् अनुजस्य श्रीकृष्णस्य कण्ठं ग्राहयामास; यतो विशारदानां परमाभिज्ञवराणामिन्द्रः परमपूज्यः॥७३॥

भावानुवाद—अनुजकी ऐसी अवस्था देखकर पहले तो श्रीबलराम रोने लगे, किन्तु फिर कुछ धैर्य धारण करके श्रीकृष्णके मूर्च्छित होनेके कारणको जाननेके लिए इधर-उधर देखने लगे। तब वहाँ मुझे देखकर उनके मूर्च्छित होनेके कारणको समझकर उन्होंने स्वयं ही विशेष प्रयत्न सहित मेरी दोनों भुजाओंको पकड़कर अनुजके कण्ठमें डाल दिया। इसका कारण था कि वे चतुर-शिरोमणियोंमें परम पूज्य हैं॥७३॥

सम्मार्जयामास मदीयपाणिना,
श्रीमत्तदङ्गानि तथा तमुच्चकैः।
आह्वाययामास विचित्रकाकुभिः,
प्रोत्थापयामास मयैव भूतलात् ॥७४॥

श्लोकानुवाद—बादमें श्रीबलरामजीने मेरे हाथों द्वारा श्रीकृष्णके श्रीअङ्गोंका मार्जन करवाया तथा मुझसे विचित्र विनययुक्त वाक्यों द्वारा उच्च स्वरसे उन्हें बुलवाया। अन्तमें मेरे द्वारा ही उन्हें भूमिसे उठवाया ॥७४॥

दिग्दर्शिनी टीका—श्रीमन्ति तस्यानुजस्याङ्गानि सम्यक् मार्जयामास। तथेति समुच्चये। यद्वा, तेन प्रकारेणेत्यर्थः। एवं सति सर्वत्रैवास्य सम्बन्धो द्रष्टव्यः। ततश्चास्य बलादुत्तरत्र यथेत्यध्याहार्यम्। तम् अनुजम्, मया मद्द्वारैव, विचित्रकाकुभिः कृत्वा उच्चैराह्वाययामास आह्वानं कारयामास ॥७४॥

भावानुवाद—श्रीबलरामजीने मेरे हाथों द्वारा अपने अनुजके श्रीअङ्गोंको मार्जित करवाया। 'तथा' अर्थात् 'इस प्रकारसे' का सर्वत्र ही सम्बन्ध है—ऐसा समझना चाहिये। अन्तमें मेरे द्वारा ही बलपूर्वक उन्होंने अपने अनुजको भूमिसे उठवाया और मेरे द्वारा ही विचित्र दीनतापूर्ण वाक्योंसे उच्च स्वरमें उन्हें आह्वान करवाया ॥७४॥

सद्योऽश्रुधारापरिमुद्रिते ते,
श्रीनेत्रपद्मे उदमीलयत् सः।
मां वीक्ष्य हर्षात् परिरभ्य चुम्बन्,
लज्जामगच्छत् परितोऽवलोक्य ॥७५॥

श्लोकानुवाद—उसी क्षण श्रीकृष्णने अश्रुधाराओंसे बन्दसे हो रहे अपने नेत्रकमलोंको खोला तथा मुझे देखते ही आनन्दित होकर आलिङ्गन करके चुम्बन करने लगे। फिर चारों ओर निरीक्षण करते हुए लज्जित हो गये ॥७५॥

दिग्दर्शिनी टीका—ते परममनोहरेः; सः श्रीनन्दनन्दनः परितः सर्वदिक्षु अवलोकनं कृत्वा लज्जां प्राप, सर्वेषामेव तत्रागमन-रोदनादिदर्शनेन निजप्रेम-मोहानुमानात् ॥७५॥

भावानुवाद—तदुपरान्त श्रीनन्दनन्दनने अपने परम मनोहर नेत्रकमलोंको खोला तथा मुझे देखते ही आनन्दित होकर आलिङ्गन करके चुम्बन करने लगे, परन्तु चारों ओर देखकर लज्जित हो गये। श्रीकृष्णके लज्जित होनेका कारण था—सभीकी वहाँपर उपस्थिति तथा उन्हें रोते हुए देखकर अपनी (श्रीकृष्णकी) प्रेम-मूर्च्छाका अनुमान॥७५॥

चिरादृष्ट-प्राणप्रियसखमिवावाप्य स तु मां,
करे धृत्वा वामस्वकर-कमलेन प्रभुवरः।
विचित्रं सम्प्रश्नं विदधदखिलांस्तान् व्रजजनान्,
समानन्द्य श्रीमानविशदिभगामी व्रजवरम्॥७६॥

श्लोकानुवाद—उस समय श्रीकृष्ण मुझसे इस प्रकार मिले जैसे प्राणप्रिय सखा बहुत दिनोंके बाद मिलता है। अपने बायें हस्तकमलसे मेरा दायाँ हाथ पकड़कर वे मुझसे बहुत-से विचित्र-विचित्र प्रश्न करने लगे। फिर समस्त व्रजवासियोंको आनन्दित करके मस्त हाथीकी तरह झूमते हुए उन्होंने श्रीनन्दव्रजमें प्रवेश किया॥७६॥

दिग्दर्शिनी टीका—सः श्रीनन्दनन्दनस्तु चिरं बहुकालमदृष्टो यः प्राणेभ्योऽपि प्रियः सखा तमिव मां प्राप्य वामेन दक्षिणेतरेण सुन्दरेण वा स्वकरकमलेन—मां धृत्वा, 'हे प्रियसख! क्षेममारोग्यं ते' इत्यादिकं सम्यक्प्रश्नं कुर्वन् इभो गजस्तद्वद्-गमनशीलः व्रजवरं सर्वव्रजेषु श्रेष्ठं श्रीनन्दव्रजं प्राविशत्॥७६॥

भावानुवाद—श्रीनन्दनन्दन बहुत समय बाद मिले प्राणप्रिय सखाकी तरह मुझे पाकर अपने सुन्दर बायें हस्तकमल द्वारा मेरे दायें हाथको धारण करके कहने लगे, "हे प्रियसखे! तुम्हारा मङ्गल तो है?" इत्यादि अनेक प्रकारसे मेरी कुशलता हेतु प्रश्न करने लगे। अन्तमें उपस्थित समस्त व्रजवासियोंको आनन्दित करके मस्त हाथीकी तरह झूमते हुए उन्होंने व्रजवरमें अर्थात् सभी व्रजोंमें श्रेष्ठ—श्रीनन्दव्रजमें प्रवेश किया॥७६॥

वन्या मृगास्तस्य वियोगदीना,
गन्तुं विना तं हि कुतोऽप्यशक्ताः।

प्रातर्भविष्यत्प्रभुदर्शनाशा-
स्तस्थुर्व्रज-द्वारि निशां नयन्तः ॥७७ ॥

श्लोकानुवाद—वनके मृग श्रीकृष्णके विरहमें दुःखित होकर उसी स्थानपर ही रह गये, क्योंकि श्रीकृष्णके बिना वे अन्य किसी स्थानपर जानेमें असमर्थ थे। विशेषतः प्रातःकाल पुनः प्रभुके दर्शन होंगे, इसी आशासे उन्होंने उस व्रजगोष्ठके द्वारपर ही रात्रि यापन की॥७७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च तस्य प्रभुवरस्य वियोगेन विरहेण दीनाः निशां नयन्तः। हेतौ शतृङ्, गमयितुमित्यर्थः, व्रजस्य द्वार्येव तस्थुः। हि यतः, तं प्रभुवरं विना कुत्रचिदपि गन्तुमशक्ताः। किञ्च, प्रातर्भविष्यति भाविनि प्रभोस्तस्य दर्शने आशा येषां ते॥७७॥

भावानुवाद—तदुपरान्त प्रभुके वियोगसे कातर होकर वनके मृग व्रजगोष्ठके द्वारपर ही बैठे रहे, क्योंकि वे प्रभुके बिना अन्य कहीं भी जानेमें असमर्थ थे। तथा प्रातः पुनः प्रभुका दर्शन होगा—इसी आशासे उन्होंने वहीं रहकर रात्रि यापन की॥७७॥

उड्डीयोड्डीय पश्यन्तो विहगास्तं व्रजान्तरे।
रात्रावदृष्ट्वा क्रोशन्तो रुदन्त इव निर्ययुः॥७८॥

श्लोकानुवाद—पक्षी व्रजमें उड़-उड़कर प्रभुका दर्शन करने लगे तथा रात्रिमें प्रभुके दर्शन नहीं होंगे, इसी दुःखसे कोलाहलके छलसे रोते-रोते बाहर चले गये॥७८॥

दिग्दर्शिनी टीका—व्रजस्य अन्तरे मध्ये उड्डीयोड्डीय तं प्रभुवरं पश्यन्तः। वीप्सा पौनःपुन्येन, पश्चाद्रात्रौ सत्यां तमदृष्ट्वा, न पश्यन्त इत्यर्थः। एवं तत्रत्य-वन्यपशुपक्षिगणस्यापि तदेकप्रेमपरता दर्शिता॥७८॥

भावानुवाद—पक्षी व्रजमें उड़-उड़कर प्रभुका दर्शन करने लगे। यहाँपर पुनः-पुनःके अर्थमें उड़-उड़कर का प्रयोग हुआ है। इसका कारण था कि वे रात्रिमें प्रभुका दर्शन नहीं कर पायेंगे। इस प्रकार वहाँके वन्य पशु-पक्षियोंमें भी श्रीकृष्णके प्रति एकान्तिक प्रेम प्रदर्शित हुआ है॥७८॥

गोदोहनानन्तरमाग्रहेण,
नन्दस्य पुत्रप्रणयाकुलस्य।
सम्भालनं साधु गवामकृत्वा,
तौ भ्रातरौ जग्मतुरात्म–गेहम्॥७९॥

श्लोकानुवाद—गो–दोहनके पश्चात् पुत्र–स्नेहसे व्याकुल श्रीनन्दरायके आग्रहसे दोनों भाई गौओंको अच्छी तरह सँभाले बिना ही अपने घर चले आये॥७९॥

दिग्दर्शिनी टीका—गवां दोहनानन्तरं, पश्चाद् गवां सम्भालनं परिज्ञानं साधु यथा स्यात्तथा अकृत्वैव द्वौ भ्रातरौ श्रीरामकृष्णौ आत्मगेहं जग्मतुः। तत्र हेतुः, नन्दस्याग्रहेण—"तात! वनभ्रमणेन परिश्रान्तोऽसि, साग्रजो गृहं गत्वा स्नानादिकं कुरु, गवां सम्भालनमहं करिष्ये, विलम्वं मा विधेहि, तव माता शोचन्ती मां निन्दिष्यति, मम शपथं मानय, द्रुतं प्रयाहि" इत्यादि प्रयत्नविशेषेण। तत् कुतः? पूत्रस्य तस्य प्रणयेन स्नेहेनाकुलस्य॥७९॥

भावानुवाद—गो–दोहनके उपरान्त गौओंको अच्छी तरह सम्भाले बिना ही दोनों भाई श्रीकृष्ण–श्रीबलराम अपने घर आ गये। उसका कारण था श्रीनन्दरायका प्रयत्न सहित विशेष आग्रह—"हे तात! वन–भ्रमण करते–करते बहुत थक गये हो, बड़े भाईके साथ घर जाकर स्नान आदि करो, मैं सभी गौओंको सँभाल लूँगा। देरी मत करो, क्योंकि देरी होनेसे तुम्हारी माता दुःखी होकर मेरी निन्दा करेगी। अतएव तुम्हें मेरी शपथ है, तुम दोनों शीघ्र जाओ।" इत्यादि। उनके इस प्रकार आग्रह करनेका कारण था कि वे पुत्र–स्नेहसे व्याकुल हो रहे थे॥७९॥

स्नेहस्नुवत्स्तन्यदृगश्रुधारया,
धौताम्बराङ्गा त्वरया यशोदया।
भूत्वा पुरोऽकारि सरोहिणीकया,
प्रत्यङ्गनीराजनमेतयोर्मुहुः ॥८०॥

श्लोकानुवाद—तदुपरान्त दोनों पुत्रोंको देखकर श्रीयशोदा और श्रीरोहिणी माताओंके स्तनोंसे दूधकी धारा और नेत्रोंसे अश्रुकी धारा प्रवाहित होने लगी जिससे उनके अङ्ग और वस्त्र भीग गये। वे आगे

बढ़कर श्रीकृष्ण-बलरामके प्रत्येक अङ्गकी बार-बार आरती उतारने लगी॥८०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च रोहिणीसहितया यशोदया त्वरया पुरोऽग्रे भूत्वाभिगम्य, तयोर्भ्रात्रोः प्रत्यङ्गनीराजनं मुहुर्वारम्वारमकारि। कीदृश्या? स्नेहेन स्नुवतः क्षरत स्तन्यस्य दृगश्रुणश्च धारया धौतानि अम्बराणि अङ्गानि च यस्यास्तया॥८०॥

भावानुवाद—तदुपरान्त श्रीरोहिणी सहित माँ श्रीयशोदा शीघ्रतापूर्वक व्रजपुरके द्वारपर आगे आयीं तथा श्रीकृष्ण-बलरामको देखकर बार-बार उनके प्रत्येक अङ्गकी आरती उतारने लगीं। उस समय दोनों माताओंकी कैसी दशा थी? पुत्र-स्नेहसे उनके स्तनोंसे दूधकी धारा और नयनोंसे अश्रु-धारा निकलकर उनके अङ्गों तथा वस्त्रोंको भिगो रही थी॥८०॥

नीराजयन्त्यात्म-शिरोरुहैः सुतं,
सालिङ्गति स्नेह-भरेण चुम्बति।
नो वेति रक्षिष्यति शीर्ष्णि किं निजे,
वक्षोऽन्तरे वा जठरान्तरे वा॥८१॥

श्लोकानुवाद—माँ यशोदा अपने केशों द्वारा पुत्रकी आरती करते-करते स्नेहसे उसका आलिङ्गनकर बार-बार चुम्बन करने लगी। स्नेहमयी वे माता यह निश्चय नहीं कर पा रही थी कि वे पुत्रको अपने वक्षःस्थलपर या फिर अपने सिरपर या हृदयमें अथवा पेटके अन्दर—कहाँ रखकर रक्षा करे?॥८१॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं सामान्येन द्वयोरेव तस्याः स्नेहमुक्त्वाधुना विशेषतः श्रीकृष्ण-विषयकमाह—नीराजयन्तीति। सा यशोदा आत्मनः शिरोरुहैः केशैः सुतं कृष्णं नीराजयन्ती सती स्नेहभरेणालिङ्गति चुम्बति च। वक्षसः हृदयस्य अन्तरे अभ्यन्तरे; एवकारश्च पुत्रत्वेन जठरमध्ये एव रक्षणस्यौचित्यात्॥८१॥

भावानुवाद—इस प्रकार सामान्य रूपसे दोनों भाईयोंकी स्नेहपूर्ण आरतीके विषयमें वर्णन करके अब विशेष रूपसे श्रीकृष्णकी आरतीके विषयमें 'नीराजय' इत्यादि श्लोक द्वारा बतला रहे हैं। माता श्रीयशोदा अपने केशों द्वारा पुत्रकी आरती करते-करते स्नेहपूर्वक उसका आलिङ्गन और चुम्बन करने लगी। परन्तु माता उस समय

अपने पुत्रको कहाँ रखें, अर्थात् मैं अपने पुत्रको वक्षःस्थलपर या हृदयके भीतर अथवा सिरपर—कहाँ रखकर रक्षा करूँ? प्रेममें आतुर होनेके कारण वे इसे स्थिर नहीं कर पा रही थीं। 'एव' कार द्वारा सूचित हो रहा है कि पुत्रको अपने पेटके अन्दर रखकर रक्षा करना ही उचित है॥८१॥

तत्रैव नीतं प्रणयाकुलेन मां,
तेन स्वयं कारितमातृवन्दनम्।
सा लालयामास मुदा स्व-पुत्रव-,
दृष्ट्वा मयि प्रेम-भरं सुतस्य तम्॥८२॥

श्लोकानुवाद—तत्पश्चात् श्रीकृष्ण प्रेमसे अधीर होकर मुझे अन्तःपुरमें ले गये तथा मेरे द्वारा माताओंको प्रणाम करवाया। तब श्रीयशोदा माताने भी मेरे प्रति अपने पुत्रके अपूर्व प्रेमको देखकर मेरा लालन भी अपने पुत्रके समान ही आनन्दपूर्वक किया॥८२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदानीन्तनं निजवृत्तमाह—तत्रैवेति। तेन प्रभुवरेण; तत्रान्तःपुरे मातृसमीप एव नीतं मां सा यशोदा स्वपुत्रवन्मुदा लालयामास नीराजनादिकमकरोत्। कीदृशम्? स्वयं प्रभुवरेण तेनैव प्रयोजकेन कारितं मातुः श्रीयशोदाया वन्दनं येन तम्। कुतः? प्रणयेन मद्विषयक-प्रेम्णा आकुलेन व्यग्रेण। ननु तस्याः कथमन्यस्मिंस्तादृशः स्नेहः सम्भवेत्? तत्राह—दृष्ट्वेति। तं परमगाढ़म्; यद्वा, पथि प्रथमसमागमेऽनुभूतम्॥८२॥

भावानुवाद—अब 'तत्रैव' इत्यादि श्लोक द्वारा गोपकुमार अपना वृत्तान्त कह रहे हैं। वे सर्वश्रेष्ठ प्रभु मुझे अपनी माताके निकट अन्तःपुरमें ले गये और श्रीयशोदाजीने प्रसन्नतापूर्वक अपने पुत्रके समान ही मेरा लालन अर्थात् आरती आदि उतारी। ऐसा किस प्रकार सम्भव हुआ? स्वयं प्रभुने ही प्रयोजक होकर मुझसे अपनी माता श्रीयशोदाजीकी वन्दना आदि करायी थी। किसलिए? मेरे प्रेममें अधीर होकर। यदि आपत्ति हो कि माता श्रीयशोदाने किस प्रकार अन्य व्यक्तिके प्रति ऐसा स्नेह प्रकाशित किया? इसके लिए ही 'दृष्वा' इत्यादि पद कह रहे हैं। मेरे प्रति अपने पुत्रका प्रगाढ़ प्रेम देखकर अथवा मार्गमें प्रथम मिलनके समय मेरे प्रति अपने पुत्रके प्रेमको अनुभव करके॥८२॥

तावदागत्य मिलिता युगपत्तत्र गोपिकाः।
काश्चिद्व्याजेन केनापि काश्चित् सर्वानपेक्षया॥८३॥

श्लोकानुवाद—जिस समय माँ श्रीयशोदा श्रीकृष्णकी आरती कर रही थीं, उस समय बहुत-सी व्रजसुन्दरियाँ एक साथ ही वहाँ उपस्थित हुईं। उनमेंसे कोई किसी कार्यके छलसे तथा कोई सब प्रकारसे निरपेक्ष होकर आयीं॥८३॥

दिग्दर्शिनी टीका—यावन्माता नीराजनादिकं करोति, तावदेव अनेन तासां तदेकपरत्वादिकम् व्यञ्जितम्। काश्चिच्च सर्वत्र लोकधर्मादौ अनपेक्षया नैरपेक्ष्येण हेतुना विशिष्टा वा तत्रागत्य मिलिताः॥८३॥

भावानुवाद—जिस समय माता श्रीयशोदा श्रीकृष्णकी आरती आदि कर रही थीं, उसी समय बहुत-सी व्रजसुन्दरियाँ वहाँ आकर उपस्थित हो गयीं। उनमेंसे कोई-कोई किसी कार्यके बहाने और कोई-कोई लोक-धर्म आदिकी अपेक्षा किये बिना ही वहाँ आ गयीं। इसके द्वारा उन व्रजगोपियोंका श्रीकृष्णके प्रति ही अनुरक्त होनेका वैशिष्ट्य ध्वनित हुआ है॥८३॥

मातृभ्यां स्नापनारम्भं द्वाभ्यां भ्रात्रोर्द्वयोः कृतम्।
आलक्ष्य भगवानाह बल्लवीरतिलम्पटः॥८४॥

श्लोकानुवाद—जब माताओंने (श्रीयशोदा और रोहिणीने) उन दोनों भाईयोंको स्नान कराना आरम्भ किया, तब व्रजसुन्दरियोंकी रतिमें आसक्त श्रीकृष्ण कहने लगे—॥८४॥

दिग्दर्शिनी टीका—मातृभ्यां यशोदा-रोहिणीभ्याम्॥८४॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥८४॥

मातरौ भ्रातरावावां क्षुधार्त्तौ स्वस्तदोदनम्।
निष्पाद्य भोजयेथां नौ तातमानाय सत्वरम्॥८५॥

श्लोकानुवाद—हे माताओं! हम दोनों भाईयोंको बड़ी भूख लग रही है, अतएव आप जल्दीसे भोजन तैयार करें और पिताजीको बुलाकर उनके सहित हमें भोजन करवाइये॥८५॥

दिग्दर्शिनी टीका—किन्तदाह—हे मातरौ। आवां भ्रातरौ द्वौ क्षुधया आर्त्तौ; स्वः भवावः, तत्तस्मात्, सत्वरमोदनं निष्पाद्य साधयित्वा तातं श्रीनन्दमानाय कमपि प्रेष्य तदानयनं कारयित्वा नौ आवां भोजयेथाम्॥८५॥

भावानुवाद—तब श्रीकृष्णने क्या कहा—इसे गोपकुमार 'मातरौ' इत्यादि श्लोक द्वारा कह रहे हैं। हे माताओं! हम दोनों भाई भूखसे पीड़ित हैं। अतएव आप शीघ्र ही भोजन तैयारकर तथा किसीके द्वारा पिता श्रीनन्दरायको बुलवाकर उनके सहित हमें भोजन करवाइये॥८५॥

तच्छ्रुत्वाहुः प्रियं गोप्यः श्रीयशोदे व्रजेश्वरि।
देवि रोहिणि कर्त्तव्यादस्माद्विरमतां युवाम्॥८६॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णके मुखसे अपने लिए प्रिय इन वचनोंको सुनकर सभी गोपियाँ कहने लगीं—हे व्रजेश्वरि श्रीयशोदे! हे देवि रोहिणि! आप इस स्नान-कार्यको छोड़ दीजिये॥८६॥

दिग्दर्शिनी टीका—प्रियं, मात्रोर्ज्येष्ठस्य चान्यत्र प्रस्थापनकारणत्वात्। निजहृद्यं तद्भगवद्वाक्यं श्रुत्वा। अस्मात् पुत्रयोः स्नापनात्॥८६॥

भावानुवाद—दोनों माताओं और ज्येष्ठ बलदेवजीके अन्य स्थानपर जानेके कारण रूप अपने प्रिय अर्थात् हृदयके अनुरूप वचनोंको श्रीकृष्णके मुखसे श्रवणकर वे व्रजगोपियाँ कहने लगीं—हे व्रजेश्वरि! आप अपने पुत्रोंके स्नान कार्यको छोड़ दीजिये॥८६॥

शीघ्रं भोजनसामग्रीं सम्पादयतमेतयोः।
वयमेव सुखं सम्यक् स्नापयेमाचिरादिमौ॥८७॥

श्लोकानुवाद—आप जल्दी ही इनके लिए भोजन तैयार कीजिये। हम सुखपूर्वक इन्हें (श्रीकृष्ण-बलरामको) अच्छी प्रकारसे स्नान करा देंगी॥८७॥

दिग्दर्शिनी टीका—एतयोः श्रीरामकृष्णयोः॥८७॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥८७॥

श्रीयशोदोवाच—

प्रथमं त्वरया ज्येष्ठः स्नापयित्वा प्रहीयताम्।
नन्दस्यानयनायात्र भोजनार्थाय बालिकाः॥८८॥

श्लोकानुवाद—श्रीयशोदाजीने कहा—हे बालिकाओं! तुम पहले बड़े भाई बलरामको जल्दीसे स्नान कराकर भेजो, जिससे कि वह जाकर श्रीगोपराजको भोजनके लिए यहाँ बुला लाये॥८८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ज्येष्ठः श्रीबलरामः। भोजनमेव अर्थः प्रयोजनं यस्य तस्मै, नन्दस्यात्रानयनाय प्रहीयताम्। अतएव त्वरया प्रथमं स्नापयित्वा। हे बालिका इति सम्बोधनेन कदापि कुत्रचित् काप्याशङ्का तस्या नास्तीति व्यज्यते॥८८॥

भावानुवाद—हे बालिकाओ! ज्येष्ठ बलरामको भोजन हेतु श्रीगोपराजको लानेके लिए भेजना है, अतएव तुम पहले उसे जल्दीसे स्नान करवा दो। यहाँपर "हे बालिकाओ!" इस सम्बोधनसे यह प्रकाशित हो रहा है कि माता श्रीयशोदाको व्रजगोपियोंके प्रति बालिका-प्रतीति तथा श्रीकृष्णके प्रति उसी प्रकार बालक प्रतीतिवशतः कभी भी किसी भी प्रकारकी शृङ्गारभाव-सूचक आशङ्का नहीं हुई॥८८॥

श्रीसरूप उवाच—

प्रशस्य तद्वचो हृद्यं रामं ताः कतिचिद्द्रुतम्।
आप्लाव्य प्रेषयामासुस्तयोर्गेहं प्रविष्टयोः॥८९॥

श्लोकानुवाद—श्रीसरूपने कहा—व्रजसुन्दरियाँ श्रीयशोदाजी द्वारा कथित अपने हृदयके अनुरूप वचनोंकी प्रशंसा करने लगीं। तब दोनों माताएँ रसोईघरमें चली गयीं। उनमेंसे कुछ गोपियोंने श्रीबलरामको जल्दीसे स्नान कराकर श्रीनन्दराजके पास भेज दिया॥८९॥

दिग्दर्शिनी टीका—गोपकुमारस्यास्य भगवता सरूपेति नामोक्तेः इतः प्रभृति तन्नाम्नैव निर्देशः। तस्या यशोदाया वचः प्रशस्य साधु साध्विति संश्लाघ्य यतो हृद्यं निजप्रियमेतत्। ज्येष्ठस्य साक्षाद्यथेष्टं स्नापनादिक्रीड़ासुखस्य अनुपपत्तेः। तयोः श्रीयशोदारोहिण्योर्गेहं प्रविष्टमात्रयोः सत्योः। एवं तत्स्नापने शैघ्र्यं दर्शितम्। तयोस्तत्रानवस्थित्या तासामसङ्कोचोऽप्युक्तः॥८९॥

भावानुवाद—श्रीभगवान्‌ने गोपकुमारको 'सरूप' नामसे बुलाया, अतएव अब आगे सब जगह उन्हें सरूप नामसे ही सम्बोधित किया जायेगा। श्रीसरूपने कहा—ऐसा कहकर दोनों माताएँ रसोईघरमें प्रवेश कर गयीं। व्रजसुन्दरियाँ श्रीयशोदाजीके वचनोंकी प्रशंसा करने लगी, क्योंकि वह वचन गोपियोंके हृदयके अनुरूप अर्थात् प्रिय थे। अर्थात्

ज्येष्ठ भाई बलरामकी साक्षात् उपस्थितिमें व्रजसुन्दरियों द्वारा अपनी अभिलाषाके अनुरूप श्रीकृष्णका स्नान आदि क्रीड़ा सुख सम्भव नहीं था। अतएव श्रीयशोदा तथा श्रीरोहिणीके रसोईघरमें प्रवेश करते ही उन्होंने शीघ्र ही सुचारु रूपसे श्रीबलदेवको स्नान कराकर श्रीनन्दराजके पास भेज दिया। श्रीबलरामके उस स्थानपर न रहनेसे ही गोपियाँ असंकोचपूर्वक अपना प्रिय कार्य कर सकती थीं॥८९॥

श्रीकृष्णस्य विचित्राणि भूषणानि विभागशः।
क्रमेणोत्तार्य ताः स्वीयैर्वस्त्रैर्गात्राण्यमार्जयन्॥९०॥

श्लोकानुवाद—उन व्रजसुन्दिरयोंने परस्पर सेवा कार्य विभाग कर लिया और फिर क्रमसे श्रीकृष्णके विविध प्रकारके भूषण आदिको उनके अङ्गोंसे उतारकर अपने-अपने वस्त्राञ्चलसे उनके अङ्गोंका मार्जन करने लगीं॥९०॥

दिग्दर्शिनी टीका—विभागश इति काचिच्च किमपि काचिच्च किमपीत्येवं पृथक् पृथक् बहुलवन्टनेनेत्यर्थः। तथापि कतिचित् इत्यत्राप्यनुवर्त्तनीयम्, एवमग्रेऽपि सर्वत्र। बहुतराणां तासां युगपदेक-सेवाप्रवृत्त्यसम्भवात्। ताः गोप्यः, स्वीयैः स्वस्वगृहादानीतैः निजोत्तरीयैर्वा॥९०॥

भावानुवाद—कार्य अनुसार पृथक्-पृथक् अर्थात् मैं इस अङ्गकी, तुम उस अङ्गकी इत्यादि बहुत प्रकारसे सेवाको बाँटकर वे व्रजसुन्दरियाँ क्रमसे श्रीकृष्णके विचित्र अलङ्कार आदिको उनके अङ्गोंसे उतारने लगीं। वस्तुतः इस प्रकार सेवाका विभाग किये बिना बहुत-सी व्रजसुन्दरियों द्वारा एकसाथ एक ही सेवाको करना सम्भव नहीं था। उसके पश्चात् वे अपने-अपने घरोंसे लाये हुए मार्जन करनेवाले वस्त्रों द्वारा अथवा अपनी-अपनी ओढ़नी द्वारा उनके अङ्गोंका मार्जन करने लगीं॥९०॥

वंशीं सपत्नीमिव याच्यमानां,
ताभिः कराब्जाच्च जिघृक्ष्यमाणाम्।
सङ्केतभङ्ग्या स तु मां प्रबोध्य,
चिक्षेप दूरान्मम मुक्तहस्ते॥९१॥

श्लोकानुवाद—फिर उन समस्त व्रजसुन्दरियोंने श्रीकृष्णके हस्तकमलमें स्थित वंशीको अपनी सपत्नी (सौत) की भाँति मानकर श्रीकृष्णके हाथोंसे एकसाथ ही बलपूर्वक छीननेकी चेष्टा की। उन चतुर-शिरोमणिने सङ्केत द्वारा मुझे समझाया तथा मेरे द्वारा उनकी पीठकी ओर हाथ बढ़ानेपर उन्होंने चतुरतापूर्वक उस वंशीको मेरे हाथमें दे दिया॥९१॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं स्नपनार्थं क्रमेण भूषणोत्तारणसमयेऽपि मुरलिकयापि न प्राप्तेति तस्य चातुर्यं दर्शयति—वंशीमिति। स तु कृष्णः वंशीं मम मुक्ते प्रसारिते हस्ते दूराच्चिक्षेप। किं कृत्वा? सङ्केतस्य भ्रू-नर्तनादिसंज्ञाया भङ्ग्या परिपाट्या मां प्रबोध्य मया क्षिप्यमाणामेतां मुरलीं दूरं पृष्ठतोऽपसृत्य हस्तं प्रसार्य गृहाणेति प्रकर्षेण बोधयित्वा। कुतः? ताभिर्गोपीभिर्याच्यमानां 'मय्यर्पय मय्यर्पय' इति प्रत्येकं सर्वाभिरेव प्रार्थ्यमानाम्। एवमेकया सर्वासामासां मनोरथसिद्ध्या सापत्न्यप्राप्तेस्तन्निरासाय कस्यामपि नैनामर्पयेति गम्यते। किञ्च, जिघृक्षमाणां बलाद्ग्रहीतुमीप्यमाणाम्। कुतः? सपत्नीमिव स्वातन्त्र्येण सदाधरामृतपानात्॥९१॥

भावानुवाद—इस प्रकार स्नान करानेके लिए क्रमसे भूषण आदि उतारनेके समय भी वे व्रजसुन्दरियाँ श्रीकृष्णकी मुरलीको प्राप्त नहीं कर सकीं। श्रीकृष्णकी इस चतुरताको प्रदर्शन करनेके लिए 'वंशी' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। इसके उपरान्त श्रीकृष्णने मेरे पसारे हुए हाथमें कौशलपूर्वक उस वंशीको दे दिया। कैसे? सङ्केतपूर्वक अर्थात् भौंओंके इङ्गित द्वारा मुझे समझानेपर मैंने उनकी पीठके पास जाकर अपने हाथ पसार दिये थे। श्रीकृष्णने उस वंशीको मुझे किसलिए दिया? उन व्रजसुन्दरियों द्वारा एक ही साथ "मुझे दो, मुझे दो" कहकर प्रार्थना करनेपर भी उन्होंने वह वंशी किसीको नहीं दी, क्योंकि एकको देनेसे दूसरोंका मनोरथ पूरा नहीं होगा। अतएव गोपियोंमें उदित होनेवाले सपत्नी भावको दूर करनेके लिए उन्होंने वह वंशी किसीको भी नहीं दी। उन सभी व्रजसुन्दरियोंके द्वारा एक ही समय बलपूर्वक वंशी ग्रहण करनेकी अभिलाषा करनेपर भी उन चतुर-शिरोमणि श्रीकृष्णने किसीको भी वंशी नहीं दी, क्योंकि वह मुरली सौतकी भाँति स्वतन्त्र रूपसे सदैव श्रीकृष्णका अधरामृत पान करती हैं॥९१॥

अभ्यज्योत्तमतैलैस्ताः कर्त्तुमुद्वर्त्तनं शनैः।
आरेभिरे स्व–हस्ताब्जकोमलस्पर्शपाटवैः॥९२॥

श्लोकानुवाद—गोपियोंने सर्वप्रथम श्रीकृष्णके अङ्गोंपर उत्तम तैल लगाया और अपने कोमल हस्तकमलों द्वारा निपुणतासे धीरे–धीरे उबटन लगाना आरम्भ किया॥९२॥

दिग्दर्शिनी टीका—उत्तमैर्महाराजादिभिः तैलैः अभ्यज्य सर्वाङ्गेष्वभ्यङ्गं कृत्वा स्वासां गोपीनां हस्ताब्जानि तैः कोमलस्पर्शस्तस्मिन् पाटवैश्चातुर्यैः शनैरुद्वर्त्तनं तैलाद्युत्पाटनं कर्त्तुमारेभिरे ता एव॥९२॥

भावानुवाद—'उत्तम' अर्थात् महाराजाओंके लिए उपयुक्त श्रेष्ठ तैल। 'अभ्यज्य' अर्थात् गोपियोंने श्रीकृष्णके समस्त अङ्गोंपर विशेष परिपाटी द्वारा तैल लगाया और फिर अपने हस्तकमलोंके कोमल स्पर्शकी पटुता द्वारा धीरे–धीरे उन्हें उबटन लगाना आरम्भ किया॥९२॥

तथापि सौकुमार्याद्वा लीलाकौतुकतोऽपि वा।
स करोत्यार्त्ति–सीत्कारं समं श्रीमुखभङ्गिभिः॥९३॥

श्लोकानुवाद—तथापि अति सुकोमल श्रीअङ्ग होनेके कारण अथवा लीला–परिहासवशतः श्रीकृष्ण मुँह बनाते हुए पीड़ा हेतु सी–सी शब्द करने लगे॥९३॥

दिग्दर्शिनी टीका—स नागरेन्द्रः कृष्णः आर्त्त्या व्यथया यः सीत्कारः मुखशब्दविशेषस्तं करोति। न च केवलं सीत्करोति, आर्त्तिलक्षणं श्रीमुखविकारञ्च करोतीत्याह—सममिति॥९३॥

भावानुवाद—तथापि नागरोंमें श्रेष्ठ श्रीकृष्ण पीड़ासे सी–सी शब्द करने लगे। केवल सी–सी ही नहीं, अपितु श्रीमुखमें विकार लाकर दर्द होनेके लक्षण आदिको भी प्रकाश करने लगे॥९३॥

पुत्रैकप्राणयाकर्ण्य तं तदार्त्तिस्वरं तया।
बहिर्भूयाशु किं वृत्तं किं वृत्तमिति पृच्छ्यते॥९४॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्ण ही जिनके एकमात्र प्राणस्वरूप हैं—वे श्रीयशोदाजी अपने पुत्रके पीड़ापूर्ण स्वरको सुनकर शीघ्र ही घरसे बाहर निकलकर पूछने लगीं, "क्या हुआ? क्या हुआ?"॥९४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तमुद्वर्त्तनोद्भवं तस्य कृष्णस्य आर्त्तिस्वरमाकर्ण्य तया यशोदया आशु बहिर्भूय गृहान्निर्गत्य, वीप्सा सम्भ्रमेण॥९४॥

भावानुवाद—उस उबटन लगानेसे उत्पन्न श्रीकृष्णके पीड़ापूर्ण स्वरको सुनकर माँ श्रीयशोदा शीघ्र ही घरसे बाहर निकलकर पूछने लगीं, "क्या हुआ? क्या हुआ?" यहाँपर भयवशतः दो बार "क्या हुआ" कहा गया है॥९४॥

सुतस्य सस्मितं वक्त्रं वीक्ष्याथो विश्यते गृहम्।
ताभिस्तु सस्मित-त्रासं गीतैर्निष्पाद्यतेऽस्य तत्॥९५॥

श्लोकानुवाद—तत्पश्चात् श्रीयशोदाने पुत्रके हास्ययुक्त मुखको देखकर पुनः घरमें प्रवेश किया। तब व्रजसुन्दिरयोंने भय तथा मृदु हास्य सहित गान करते-करते उबटन लगानेका कार्य समाप्त किया॥९५॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथोऽनन्तरं गृहं प्रविश्यते तयैव; ताभिर्गोपीभिस्तु स्मितं मिथ्यार्त्तिस्वीकारात् त्रासश्च यशोदानिर्गमात् ताभ्यां सहितं यथा स्यात्तथा अस्य कृष्णस्य तदुद्वर्त्तनं गीतैः कृत्वा तस्य गीतप्रियत्वात्। यशोदायां तत्सीत्कारशब्दाच्छादनार्थं वा संपाद्यते समाप्यते॥९५॥

भावानुवाद—तदुपरान्त श्रीयशोदा अपने पुत्रके हास्ययुक्त मुखको देखकर पुनः घरमें चली गयीं। गोपियोंने श्रीकृष्णकी मिथ्या पीड़ावशतः सीत्कार हेतु मृदु हास्य तथा श्रीयशोदाके बाहर निकलकर न आ जानेके भय सहित गान करते-करते उबटन कार्य समाप्त किया। श्रीकृष्ण गीतप्रिय है, इसलिए गोपियाँ उबटनके समय भी गान कर रही थीं अथवा श्रीयशोदाजीके समक्ष उनके सी-सी शब्दको छिपाने (दबाने) के लिए अर्थात् बिना किसी विघ्नके उबटन कार्यरूपी अपने क्रीड़ासुखको समाप्त करनेके लिए गाने लगीं॥९५॥

अथ कोष्णैः सुवासैस्तं यामुनैर्निर्मलैर्जलैः।
सलीलं स्नापयामास रत्नकुम्भघटीभृतैः॥९६॥

श्लोकानुवाद—फिर गोपियाँ गुनगुने और सुगन्धित श्रीयमुनाके निर्मल जलको रत्नसे बने हुए कलशमेंसे लोटे द्वारा लेकर लीलापूर्वक उन्हें स्नान कराने लगीं॥९६॥

दिग्दर्शिनी टीका—कोष्णैः ईषदुष्णैः, सुवासैः सुगन्धिभिः तं कृष्णं सलीलं जलप्रक्षेपादि-लीलासहितं तस्य विशेषणं क्रियाविशेषणं वा, घटी स्वल्पो घटः॥९६॥

भावानुवाद—तब गोपियाँ गुनगुने और सुगन्धित श्रीयमुनाके जलको लीला सहित अर्थात् लोटे द्वारा श्रीकृष्णपर फैंक-फैंककर उन्हें स्नान कराने लगीं॥९६॥

नीतैः स्वस्वगृहान्मालालेपनाम्बरभूषणैः।
विचित्रैर्नटवेषेणाभूषयंस्तं यथारुचि॥९७॥

श्लोकानुवाद—तदुपरान्त गोपियोंने अपने-अपने घरसे लायी हुई माला, चन्दन, वस्त्र और आभूषण आदि द्वारा अपनी-अपनी रुचिके अनुसार श्रीकृष्णका विचित्र नटवरवेशमें शृङ्गार किया॥९७॥

दिग्दर्शिनी टीका—यथारुचीति, कृष्णाय यद् रोचते तदनतिक्रम्य। यद्वा, स्वस्वरुच्यनुसारेणेत्यर्थः॥९७॥

भावानुवाद—तब गोपियोंने यथारुचि अर्थात् श्रीकृष्णकी रुचिके अनुसार अथवा अपनी-अपनी रुचिके अनुसार उन्हें सजाया॥९७॥

भोग्यञ्च निभृतं किञ्चित् भोजयित्वोक्तवस्तुभिः।
मुहुर्नीराजनं कृत्वा दधुस्तानि स्व-मूर्धसु॥९८॥

श्लोकानुवाद—तत्पश्चात् गोपियोंने एकान्तमें उन्हें कुछ भोजन कराकर कर्पूर-दीप आदि द्वारा बार-बार उनकी आरती उतारते हुए उसे (आरतीको) अपने-अपने मस्तकपर लगाया॥९८॥

दिग्दर्शिनी टीका—भोग्यं नवनीतादिकं निभृतं भोजयित्वेति प्रेमविशेष-सङ्गोपनाय श्रीयशोदावञ्चनाय वा, अन्यथा वारं वारं भोजनेन पुत्रस्योदरास्वास्थ्यादिशङ्कया तस्याः क्रोधोत्पत्तेः। उक्तैर्नीराजनविहितैर्वस्तुभिः कर्पूरदीपसर्षपादिभिः, तानि नीरा-जितवस्तूनि॥९८॥

भावानुवाद—तत्पश्चात् गोपियोंने अपने विशेष प्रेमको गुप्त रखनेके लिए अथवा माता श्रीयशोदासे छिपानेके लिए श्रीकृष्णको एकान्तमें माखन आदि भोजन कराया। अन्यथा बार-बार भोजन करनेके कारण पुत्रके पेटमें गड़बड़ होनेकी आशङ्कासे माताको क्रोध भी हो सकता है। आरतीके द्रव्यों अर्थात् कर्पूर, दीप और सरसों द्वारा

आरती करके गोपियोंने उन सभी वस्तुओंको अपने-अपने मस्तकपर लगाया॥९८॥

दिव्यचन्दन-काश्मीर-कस्तूरीपङ्क-मुद्रया ।
गल-भाल-कपोलादौ चित्रयामासुरद्भुतम्॥९९॥

श्लोकानुवाद—फिर उन्होंने केशर-कस्तूरी मिले हुए दिव्य चन्दनके लेपसे श्रीकृष्णके कण्ठ, मस्तक तथा कपोलोंको अति सुन्दर रूपसे चित्रित कर दिया॥९९॥

दिग्दर्शिनी टीका—दिव्यानां परमोत्तमानां चन्दनादीनां पङ्कस्य लेपस्य मुद्रया अङ्कविशेषेण॥९९॥

भावानुवाद—फिर गोपियोंने परम-उत्तम चन्दनके लेपसे श्रीकृष्णको अङ्कित कर दिया॥९९॥

सभावं वीक्ष्यमाणास्ता हस्तं संस्तभ्य यत्नतः।
प्रवृत्ता नेत्रकमले तस्योज्ज्वलयितुं मुदा॥१००॥

श्लोकानुवाद—तब श्रीकृष्णमें अपने प्रति मधुर भावको देखकर व्रजगोपियोंके हाथोंमें कम्पन होने लगा। यत्नपूर्वक अपनेको स्थिर करके उन गोपियोंने प्रसन्नता सहित उनके नेत्रकमलोंमें काजल लगाया॥१००॥

दिग्दर्शिनी टीका—वीक्ष्यमाणाः कृष्णेनैव दृश्यमानाः; हस्तं स्वस्वकराब्जं संस्तुभ्य स्थिरीकृत्य। तदीय-सभाववीक्षणतस्तासामपि भावविशेषोदयेन हस्तकम्पात्तन्नेत्र-कमलोज्ज्वलनासम्पत्तेः॥१००॥

भावानुवाद—'वीक्ष्यमाना' अर्थात् श्रीकृष्ण द्वारा उन गोपियोंके प्रति दृष्टिपात करनेपर उनमें किसी विशेष भावके उदित होनेसे उनके हाथ काँपने लगे जिसके कारण वे श्रीकृष्णके नेत्रोंमें ठीकसे काजल नहीं लगा पा रही थीं। इसलिए उन्होंने यत्नपूर्वक उस भावका सम्वरण करके अपने हाथोंको स्थिरकर श्रीकृष्णके नेत्रोंमें काजल लगाया॥१००॥

वन्यक्रीड़ासुखं कृष्णो भूरिशस्तासु भाषते।
विचित्राणि च नर्माणि काञ्चिच्च तनुते रतिम्॥१०१॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्ण उनके प्रति वनकी लीलाओंके सुखका वर्णन करने लगे तथा विचित्र-विचित्र परिहासपूर्ण वचनोंको कहते हुए रति-सुख (कुच-स्पर्शादि क्रीड़ासुखका) विस्तार करने लगे॥१०१॥

दिग्दर्शिनी टीका—रतिं कुचालम्भनादिक्रीड़ाम्॥१०१॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥१०१॥

एवमन्योन्यसौहार्दभर-प्रकटनेन हि।
वेशः समाप्तिं नायाति लोप्यमानस्तथा मुहुः॥१०२॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार परस्पर प्रीति प्रकाश करते हुए श्रीकृष्णकी वेश-रचना समाप्त नहीं हुई, क्योंकि गोपियाँ तिलकादि द्वारा उनका शृङ्गार करती और श्रीकृष्ण बार-बार उसको मिटा देते॥१०२॥

दिग्दर्शिनी टीका—वेशः तिलकविरचन-भालचित्रणादिः समाप्तो न स्यात्। तथेति हेत्वन्तरे; मुहुर्लोप्यमानः—"इदं साधु न वृत्तं, लुप्त्वा पुनर्निर्मीयताम्" इत्येवं तेनैव पुनः पुनरुत्साद्यमान इत्यर्थः॥१०२॥

भावानुवाद—वेश-रचना अर्थात् मस्तकपर तिलक लगाना आदि कार्य समाप्त नहीं हुआ, क्योंकि बार-बार वह वेश-रचना मिट जाती अर्थात् श्रीकृष्ण बार-बार "यह ठीक नहीं लगा, पुनः लगाओ" ऐसा कहकर मिटा देते, इसलिए पुनः लगाना पड़ता। इस प्रकार क्षण-क्षणमें श्रीकृष्ण द्वारा मिटाये जानेके कारण वेश-रचनाका कार्य समाप्त नहीं हो रहा था॥१०२॥

भूयो भूयो यशोदा च पुत्रस्नेहातुरान्तरा।
बहिर्निर्गत्य पश्यन्ती वदत्येवं रुषेव ताः॥१०३॥

श्लोकानुवाद—श्रीयशोदा माँका मन अपने पुत्रके स्नेहसे व्याकुल हो रहा था, अतएव वे बार-बार घरसे बाहर आकर देख रही थीं कि पुत्रकी वेश-रचना समाप्त हुई है या नहीं? विलम्ब होता देखकर क्रोधित-सी होकर वे गोपियोंको इस प्रकार कहने लगीं—॥१०३॥

दिग्दर्शिनी टीका—पुत्रस्नेहेन आतुरं विवशं अन्तरं हृद्यस्याः सा। एवं वक्ष्यमाणं ता गोपीः प्रति वदति। इवेति तत्त्वतो रोषाभावात्॥१०३॥

भावानुवाद—माता श्रीयशोदाका हृदय अपने पुत्रके स्नेहसे व्याकुल हो रहा था। वेश-रचना समाप्त हुई या नहीं—इसे देखनेके लिए वे बार-बार रसोई घरसे बाहर आकर देखती। अन्ततः विलम्ब होता देख क्रोधसे गोपियोंको इस प्रकार कहने लगीं। यहाँपर 'इव' कार द्वारा श्रीयशोदा मातामें तत्त्वतः क्रोधका अभाव समझना चाहिये॥१०३॥

श्रीयशोदोवाच—

लोलप्रकृतयो बाल्यादहो गोपकुमारिकाः।
स्नानालङ्करणं नास्याधुनापि समपद्यत॥१०४॥

श्लोकानुवाद—श्रीयशोदाने कहा—अरी गोपकुमारियों! बाल्य अवस्थाके कारण तुम बड़े चञ्चल स्वभावकी हो। अभी तक कृष्णका स्नान-वेश रचना समाप्त नहीं हुआ क्या?॥१०४॥

दिग्दर्शिनी टीका—गोपानां कुमारिका बाल्यादेरारभ्य लोलाश्चञ्चलाः प्रकृतयः स्वभावाः यासां तादृश्यो भवन्ति। सम्बोधनद्वयं वा। तल्लिङ्गमाह-स्नानेति। अस्य कृष्णस्य न समपद्यत न समाप्तमित्यर्थः॥१०४॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥१०४॥

श्रीसरूप उवाच—

तासां निरीक्षमाणानां परितः स्व-प्रियं मुहुः।
परिहासोत्सुकं चित्तं वृद्धाभिप्रेत्य साब्रवीत्॥१०५॥

श्लोकानुवाद—श्रीसरूपने कहा—वे गोपसुन्दरियाँ अपने प्रिय श्रीकृष्णको चारों ओरसे घेरकर बार-बार उनके मुखचन्द्रको निहार रही थीं तथा उत्सुकतापूर्वक हास-परिहास कर रही थीं। तब कोई एक वृद्धा उनके मनके भावोंको समझकर कहने लगीं—॥१०५॥

दिग्दर्शिनी टीका—स्वप्रियं श्रीकृष्णं परितः सर्वतो मुहुर्निरीक्ष्यमाणानां तासां गोपीनां तत एवं परिहासे उत्सुकं चित्तमभिप्रेत्य। सा तासां तस्य च प्रियङ्करी॥१०५॥

भावानुवाद—वे व्रजसुन्दरियाँ अपने प्रिय श्रीकृष्णको चारों ओरसे घेरकर बार-बार उनके मुखकमलका निरीक्षण कर रही थीं। उस समय गोपियोंके चित्तको परिहास करनेमें उत्कण्ठित जानकर गोपियोंका प्रिय कार्य करनेवाली वृद्धा मुखरा बोली—॥१०५॥

अरे पुत्रि यशोदेऽत्र हर्षादेत्य निरीक्ष्यताम्।
भवत्याः श्यामलं पुत्रं निन्युः सुन्दरतामिमाः॥१०६॥

श्लोकानुवाद—अरी पुत्रि यशोदे! यहाँ आकर हर्षपूर्वक देखो तो सही, इन सभी बालिकाओंने तुम्हारे श्यामवर्णके पुत्रको कैसा सुन्दर बना दिया है॥१०६॥

दिग्दर्शिनी टीका—निरीक्ष्यणीयमेवाह—भवत्या इति। इमा बालिकाः॥१०६॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥१०६॥

स्व-धात्र्या वाक्यमाकर्ण्य मुखरायाः पुनर्बहिः।
भूत्वाभिप्रेत्य तन्नर्म सरोषमिव साब्रवीत्॥१०७॥

श्लोकानुवाद—मुखरा नामक अपनी धात्रीके इन वचनोंको सुनकर श्रीयशोदाजी फिरसे रसोईघरके बाहर आयीं और यह जानकर कि ये परिहास कर रहीं हैं, क्रोधित-सी होकर इस प्रकार कहने लगीं—॥१०७॥

दिग्दर्शिनी टीका—मुखरासंज्ञायाः, तच्च नर्म इत्यभिप्रेत्य॥१०७॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥१०७॥

श्रीयशोदोवाच—

सहजाशेषसौन्दर्यनीराजितपदाम्बुजः ।
जगन्मूर्ध्नि नरीनर्त्ति मदीयश्यामसुन्दरः॥१०८॥

श्लोकानुवाद—श्रीयशोदाजीने कहा—स्वाभाविक अनन्त सौन्दर्य जिसके चरणकमलोंकी आरती उतारता है, मेरे उस पुत्र श्यामसुन्दरका सौन्दर्य जगत्के समस्त सौन्दर्योंके सिरपर नृत्य करता है॥१०८॥

दिग्दर्शिनी टीका—सहजैः स्वाभाविकैरशेषसौन्दर्यैः नीराजितं पदाम्बुजं यस्य सः; अतएव जगतां मूर्ध्नि मदीयो मत्पुत्रो नरीनर्त्ति सर्वसुन्दरगणानां परममूर्धन्य इत्यर्थः। श्यामश्चासौ सुन्दरश्चेति श्यामतयैव परमसुन्दरत्वमभिप्रेतम्॥१०८॥

भावानुवाद—सहज-स्वाभाविक अनन्त सौन्दर्य जिसके चरणकमलोंकी आरती उतारता है, मेरे उसी पुत्रका सौन्दर्य सभी सौन्दर्योंके सिरपर नृत्य करता है, अर्थात् उसका सौन्दर्य समस्त सुन्दरजनोंसे भी

परमश्रेष्ठ है। इसका अभिप्राय है कि श्रीकृष्णका वर्ण श्याम होनेपर भी सुन्दर है, अतएव श्यामवर्ण ही अत्यन्त सुन्दर है॥१०८॥

एतत्पादनखाग्रैकसौन्दर्यस्यापि नार्हति।
सौन्दर्यभारः सर्वासामासां नीराजनं ध्रुवम्॥१०९॥

श्लोकानुवाद—यह निश्चय जानो कि इन सब व्रजगोपियोंका अत्यधिक सौन्दर्य मेरे श्यामसुन्दरके चरणनखके अग्रभागके कणमात्रकी आरती उतारनेके भी योग्य नहीं है॥१०९॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु अन्यो जनो मा भवतु नाम, इमास्तु गौराङ्ग्यः श्रीराधाद्याः परमसुन्दर्यस्तत्राह—एतदिति। सर्वासाम् आसां श्रीराधादीनां सौन्दर्यभारः एतस्य–मदीय–श्यामसुन्दरस्य यत्पादनखाग्रस्य एकमेकतरं सौन्दर्यं तस्यापि नीराजनं नार्हति। ध्रुवं निश्चितम्; भारशब्दस्यायमभिप्रायः—यच्च किञ्चित् सौन्दर्यमासां विद्यते; तन्मदीयश्यामसुन्दरस्य वधूत्वाभावेन वैफल्यापत्तेर्भाव एवेति॥१०९॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि अन्य दूसरोंका सौन्दर्य श्यामसुन्दरके सौन्दर्यके समान नहीं हो सकता—यह सत्य है, किन्तु ये गौर अङ्गोंवाली परमसुन्दरी श्रीराधिका आदिका सौन्दर्य क्या तुम्हारे श्यामसुन्दरके योग्य नहीं है? इसके उत्तरमें श्रीयशोदाजी 'एतत्' इत्यादि श्लोक कह रही हैं। तुम इन सब गौर अङ्गोंवाली श्रीराधिका आदिके सौन्दर्यको देखकर क्या गर्व कर रही हो? मैं निश्चित रूपसे कह रही हूँ कि इन सबका यह अत्यधिक सौन्दर्य मेरे श्यामसुन्दरके चरणनखके अग्रभागके सौन्दर्यके एक कणमात्रकी आरती उतारनेके योग्य भी नहीं है। 'भार' शब्दका अभिप्राय यह है कि इनका जो थोड़ा बहुत सौन्दर्य है, वह मेरे श्यामसुन्दरके बन्धुत्वके अभावमें भारस्वरूप अर्थात् विफल होगा॥१०९॥

श्रीसरूप उवाच—

तत् सौन्दर्यं सा च लावण्यलक्ष्मी–
स्तन्माधुर्यं तस्य किं वर्णितं स्यात्।
द्रव्यैर्योग्या लौकिकैर्नोपमा स्यात्,
किम्वान्येन द्वारकेन्द्रेण नापि॥११०॥

श्लोकानुवाद—श्रीसरूपने कहा—हे ब्राह्मण! श्रीयशोदानन्दनकी सुन्दरता, लावण्य, शोभा और मधुरिमाका क्या वर्णन करूँ? संसारमें किसी वस्तुके साथ उनकी उपमा नहीं दी जा सकती। अन्यान्य अवतारोंकी तो बात ही क्या, उनकी उपमा साक्षात् द्वारकानाथके साथ भी नहीं दी जा सकती है॥११०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु श्रीयशोदानन्दनस्य तस्य कीदृशं तत् सौन्दर्यम्? विशेषेण कथयति चेत्तत्राह—तदिति। परमाद्भुतं सौन्दर्यमङ्गसौष्ठवं, लावण्यं कान्तिविशेषस्तस्य लक्ष्मीः शोभा सम्पत्तिर्वा, माधुर्यं हसितादि। तत्र हेतुमाह—द्रव्यैरिति। लौकिकैर्द्रव्यैः श्रीलोचनादीनां कमलादिभिः; यद्वा, लोकानुसारिभिः श्रीविष्ण्वादिभिरपि तस्योपमा न स्यात्, तस्य परमलोकातीतत्वात्। ननु तर्हि श्रीनारायणादिभिः सह दृष्टान्तेन कथयेति चेत्तत्राह—किं वेति। अन्येन श्रीवैकुण्ठेश्वरेण श्रीमदयोध्यानाथेनापि वा तस्योपमा योग्या न स्यादिति किं वक्तव्यम्? द्वारकेन्द्रेण श्रीयदुनाथेनापि तस्योपमा योग्या न स्यादित्यर्थः। तस्मादप्यधिकाधिकसौन्दर्ययुक्त इति भावः॥११०॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि उन श्रीयशोदानन्दनका सौन्दर्य कैसा है? 'तत्' इत्यादि श्लोक द्वारा श्रीसरूप उसका विशेष रूपसे वर्णन कर रहे हैं। श्रीयशोदानन्दनका सौन्दर्य अर्थात् उनके अङ्गोंका गठन, उनका लावण्य अर्थात् उनकी कान्तिकी शोभा, तथा उनका माधुर्य अर्थात् सभी अवस्थाओंमें अत्यन्त रुचिकर हास्य आदि परम अद्भुत हैं, मैं इन सबका क्या वर्णन करूँ? इसका कारण यह है कि कमल आदि लौकिक द्रव्योंके साथ उनके लोकातीत नेत्रोंकी उपमा नहीं दी जा सकती। अथवा इस लोकमें उनके अवतार श्रीविष्णु आदिके साथ भी दृष्टान्त द्वारा उनकी उपमा नहीं दी जा सकती, क्योंकि उनका सौन्दर्य आदि परम लोकातीत है। यदि कहो कि तो फिर श्रीनारायणादिके साथ दृष्टान्त द्वारा कुछ वर्णन कीजिये। इसके लिए ही कह रहे हैं—क्या वर्णन करूँ? श्रीवैकुण्ठके ईश्वर श्रीनारायण या अयोध्यानाथ श्रीरामचन्द्रकी बात तो दूर रहे, साक्षात् द्वारकानाथ श्रीयदुनाथके साथ भी श्रीयशोदानन्दनके सौन्दर्यादिकी उपमा नहीं दी जा सकती। इसका कारण है कि वे उनसे भी अत्यधिक सौन्दर्यसे युक्त हैं॥११०॥

कृष्णो यथा नागरशेखराग्र्यो,
राधा तथा नागरिकावराग्र्या।
राधा यथा नागरिकावराग्र्या,
कृष्णस्तथा नागरशेखराग्र्यः ॥१११॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्ण जिस प्रकार नागर-शिरोमणियोंमें परम श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार श्रीराधाजी भी श्रेष्ठ नागरियोंमें परमश्रेष्ठ हैं तथा जिस प्रकार श्रीराधाजी श्रेष्ठ नागरियोंमें अग्रगण्या हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भी नागर-शिरोमणियोंमें अग्रगण्य हैं॥१११॥

दिग्दर्शिनी टीका—किन्तु केवलं श्रीराधिकैव तदुपमायोग्येत्याशयेनाह—कृष्ण इति। नागराणां विदग्धानां शेखरेषु मूर्धन्येष्वपि अग्र्यः परमश्रेष्ठः। तस्याश्च सदृशः स एवैको नान्य इत्याह—राधेति। एवं तयोरन्योऽन्यं सादृश्यं ताभ्यामेव, न त्वन्येन केनापीति भावः॥१११॥

भावानुवाद—किन्तु केवल श्रीराधिका ही उनकी उपमाके योग्य हैं—इसे बतलानेके लिए श्रीसरूप 'कृष्ण' इत्यादि श्लोक रहे हैं। श्रीकृष्ण जिस प्रकार नागर अर्थात् विदग्ध-शिरोमणियोंमें परमश्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार श्रीराधिका भी उनकी नागरियोंमें अग्रगण्य अर्थात् विदग्ध नायिकाओंकी शिरोभूषणस्वरूप हैं। अतएव दोनों ही दोनोंके लिए उपमा योग्य हैं, अन्य किसीसे भी उनकी उपमा नहीं हो सकती है॥१११॥

स्नात्वा गतं गोपराजं बलरामेण संयुतम्।
संलक्ष्य लीनास्ताः सर्वा द्रुतं कृष्णोऽग्रतोऽभवत्॥११२॥

श्लोकानुवाद—तब गोपराज श्रीनन्दरायजी स्नान करके श्रीबलरामके साथ वहाँ आ रहे हैं, ऐसा जानकर गोपियोंने अपने आपको छिपा लिया और श्रीकृष्ण भी जल्दीसे आगे आकर अपने पितासे मिले॥११२॥

दिग्दर्शिनी टीका—प्रस्तुतमाह—स्नात्वेति। आगतं संलक्ष्य स्वरादिलक्षणेनाभिज्ञाय ता गोप्यो लीनाः प्रच्छन्ना बभूवुः॥११२॥

भावानुवाद—अब श्रीसरूप आरम्भ किये गये विषयको आगे बढ़ा रहे हैं। गोपराज श्रीनन्द स्नान करके वहाँ आ रहे हैं—स्वरादि लक्षणोंसे ऐसा जानकर वे गोपियाँ छिप गयीं॥११२॥

नन्दो भोजनशालायामासीनः कनकासने।
भोजनं कर्त्तुमारेभे तथा तौ तस्य पार्श्वयोः॥११३॥

श्लोकानुवाद—श्रीनन्दरायजी भोजनशालामें स्वर्णके आसनपर बैठ गये तथा दोनों भाई उनके समीप दोनों ओर बैठ गये। तब उन सभीने भोजन करना आरम्भ किया॥११३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथेति समुच्चये। तौ द्वावपि भ्रातरौ तस्य नन्दस्य पार्श्वद्वये कनकासनयोरासीनौ भोजनं कर्त्तुमारेभाते इत्यर्थः॥११३॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥११३॥

यशोदानन्दनो वामे दक्षिणे रोहिणी-सुतः।
तेषामहन्तु महताग्रहेणाभिमुखे पृथक्॥११४॥

श्लोकानुवाद—श्रीनन्दराजजीकी बायीं ओरमें श्रीयशोदानन्दन और दायीं ओरमें श्रीरोहिणीनन्दन बैठ गये। मैं भी उनके आग्रहसे उनके सामने बैठ गया॥११४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्रासनप्रकारमाह—यशोदेति। वामपार्श्वे तस्यासनञ्च ज्येष्ठत्वेन दक्षिणपार्श्वे श्रीबलरामस्यासनात्। तथा श्रीनन्देन स्वहस्तेन सुखं पुत्रभोजनस्य कारणाच्च। अहन्तु अभिमुखे नन्दस्य सन्मुखे; तेषां श्रीनन्दादीनां महता आग्रहेण; पृथगित्यनेन तेषाम् एकत्रैव भोजनं ध्वनितम्। तयोरकृतोपवीतत्वेनादोषात्॥११४॥

भावानुवाद—भोजनके समय वे किस प्रकारसे बैठे—इसे श्रीसरूप 'यशोदा' इत्यादि श्लोक द्वारा बतला रहे हैं। श्रीकृष्ण श्रीनन्दरायजीकी बायीं ओर बैठ गये, क्योंकि श्रीनन्दजी पुत्रके सुखके लिए उसे अपने हाथसे भोजन कराते। ज्येष्ठ होनेके कारण श्रीबलरामजी उनके दक्षिण भागमें बैठे और मैं श्रीनन्दादिके अत्यधिक आग्रहसे उनके सामने बैठ गया। इस प्रकार अलग बैठनेपर भी उनका एकसाथ भोजन करना ही सूचित हो रहा है। विशेषतः श्रीकृष्ण-बलरामका उपवीत संस्कार न होनेके कारण उनका एकसाथ भोजन करना दोषपूर्ण नहीं है॥११४॥

श्रीरोहिण्या परिष्कृत्य रात्नसौवर्णराजतैः।
विविधैर्भाजनैर्दिव्यैः प्रहितं गृहमध्यतः॥११५॥

परिवेष्यमाणं स्नेहेन मात्रा भोगपुरन्दरः।
सर्वसद्गुणसम्पन्नमन्नं भुङ्क्ते चतुर्विधम्॥११६॥

श्लोकानुवाद—उस समय श्रीरोहिणीदेवी रसोईघरसे सुन्दर रत्नोंसे जड़े हुए स्वर्ण तथा चाँदीके विवि ध प्रकारके पात्रोंमें दिव्य भोजन-साम्रगी सजा-सजाकर भेजने लगीं तथा श्रीयशोदादेवी स्नेहपूर्वक उसे परोसने लगीं। भोग-पुरन्दर श्रीकृष्ण समस्त प्रकारके गुणोंसे युक्त चार प्रकारके व्यजनोंका भोजन करने लगे॥११५-११६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र भोजने श्रीकृष्णस्य प्राधान्यतस्तदीयभोजनप्रकारं विशेषेणाह—श्रीरोहिण्येति दशभिः। परिष्कृत्य उपस्कृत्य, दिव्यैर्भाजनैः कृत्वा गृहमध्यतः श्रीरोहिण्या प्रहितं चतुर्विधमन्नं भोगपुरन्दरो निखिल-भोगेन्द्रः श्रीयशोदानन्दनो भुङ्क्ते इति द्वाभ्यामन्वयः। रात्नैश्च रत्ननिर्मितैः सौवर्णैश्च राजतैश्च। मात्रा श्रीयशोदया परिवेष्यमाणम्, सर्वैः सद्गुणैः सौरभ्यसारस्य-सौवर्ण्यादिभिः सम्पन्नम्॥११५-११६॥

भावानुवाद—उस भोजनमें श्रीकृष्णकी प्राधानता होनेके कारण श्रीसरूप उनके भोजनकी प्रणाली और उसकी विशेषताका वर्णन 'श्रीरोहिण्या' इत्यादि दस श्लोकोंमें कर रहे हैं। रसोईघरसे श्रीरहिणीदेवी रत्न जड़ित सोने और चाँदीके दिव्य पात्रोंमें चार प्रकारकी भोजन सामग्री सजा-सजाकर भेज रहीं थीं तथा माता श्रीयशोदा उन व्यञ्जनोंको परोस रहीं थीं। भोग-पुरन्दर अर्थात् निखिल भोगोंके एकमात्र भोक्ता श्रीयशोदानन्दन सुगन्ध, आस्वादन, सुन्दर वर्ण आदि समस्त प्रकारके गुणोंसे परिपूर्ण व्यजनोंका भोजन करने लगे॥११५-११६॥

पृथक्-पृथक् कचोलासु विचित्रासु प्रपूरितम्।
विस्तीर्णकनकस्थल्यां नीत्वा कवलयन् भृशम्॥११७॥

श्लोकानुवाद—विचित्र प्रकारके भोजन द्रव्योंसे परिपूर्ण अलग-अलग कटोरोंमेंसे, जो कि एक बड़ी स्वर्णकी थालीमें रखे हुए थे, वे ग्रास उठा-उठाकर भोजन कर रहे थे॥११७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्प्रकारविशेषमाह—पृथगिति द्वाभ्याम्। कवलयन् कवलरूपेण रचयन्। भुङ्क्ते इति पूर्वेणैवान्वयः॥११७॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥११७॥

मात्रा कदाचित् पित्रा च भ्रात्रापि क्रमशो मुखे।
समर्प्यमानं यत्नेन कवलं लीलयाददत्॥११८॥

श्लोकानुवाद—कभी माता श्रीयशोदा, कभी पिता श्रीनन्दरायजी और कभी भ्राता श्रीबलराम क्रमसे यत्नपूर्वक श्रीकृष्णके मुखमें ग्रास देते थे तथा वे भी लीलापूर्वक उनके द्वारा दिये गये द्रव्योंको ग्रहण करते जा रहे थे॥११८॥

दिग्दर्शिनी टीका—आददत् स्वीकुर्वन्॥११८॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥११८॥

तथा पानकजातञ्च कचोलाभृतमुत्तमम्।
भृङ्गारिकाभृताश्चापो मध्ये मध्ये पिबन् शिवाः॥११९॥

श्लोकानुवाद—कटोरोंमें भरी हुई पीने योग्य सामग्रियोंको तथा झारीमें भरे हुए परम उत्तम सुगन्धित जलको वे भोजनके बीच-बीचमें पान कर रहे थे॥११९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथेति समुच्चये। कचोलासु भृतं पूरितम्। मध्ये मध्येऽन्न-भोजनस्य अन्तरान्तरा। शिराः परमोत्तमाः॥११९॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥११९॥

आदौ सुमृष्टमुत्कृष्टं कोष्णं सघृतशर्करम्।
पायसं नाड़िका-पूप-फेणिका-रोटिकायुतम्॥१२०॥

अन्यानि घृतपक्वानि रसालासहितानि च।
दधिदुग्धविकारोत्थमिष्टान्नान्यपराण्यपि ॥१२१॥

मध्ये सूक्ष्मं सितं भक्तं कोष्णं सुरभिकोमलम्
वटकैः पर्पटैः शाकैः सूपैश्च व्यञ्जनैः परैः॥१२२॥

मधुराम्लरसप्रायैः प्रायो गोरससाधितैः।
कटुचूर्णान्वितैरम्लद्रव्यैः सलवणैर्युतम्॥१२३॥

अन्ते पुनः शिखरिणीं विकारान् दधिसम्भवान्।
हिङ्ग्वादिसंस्कृतं तक्रं बुभुजे माञ्ज भोजयन्॥१२४॥

श्लोकानुवाद—सर्वप्रथम घी और शर्करा मिश्रित परम मधुर तथा उत्तम कुछ-कुछ गर्म खीरको जलेबी, मालपुआ, बतासा और रोटीके साथ भोजन करना आरम्भ किया। फिर घीसे बने हुए अन्यान्य पकवानोंके साथ रसाला तथा दही-दूधसे बनी हुई छैना इत्यादि विविध मिठाइयोंको खाया। तत्पश्चात् महीन सफेद सुगन्धियुक्त कोमल तथा कुछ गरम चावलोंको पकौड़ी, पापड़, अनेक प्रकारके साग, दाल तथा अन्य रसाले व्यञ्जनोंके साथ खाया, जो कि अनेक प्रकारके खट्टे-मीठे, कड़वे, तीखे, नमक आदि मसालोंसे बने हुए थे। इसके उपरान्त फिरसे शिखरिणी, दहीसे बनी हुई तरल सामग्रियों अर्थात् हींग-जीरा आदिसे मिश्रित छाछको श्रीकृष्णने स्वयं पीया और मुझे भी पान करवाया॥१२०-१२४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्रैव क्रममाह—आदाविति। सुमृष्टं परममधुरं परमोज्ज्वलं वा, नाड़िकादिभिरन्वितं बुभुज इति पञ्चमेनान्वयः। रसाला, शिखरिणी, दधिदुग्ध-योर्विकारेभ्यः प्रकारविशेषेभ्यः उत्थानि सिद्धानि मिष्टान्नानि आमिक्षादीनि। मध्ये च भक्तं शाल्योदनं वटकादिभिर्युतं बुभुजे इत्यनेनैवान्वयः। व्यञ्जनान्येव विशिनष्टि—मधुरेति। केवलैरम्लद्रवैश्च कादिकादिभिर्युतम्। कीदृशैस्तैः? कटूनां मरिच्यादीनां चूर्णेनान्वितैः लवणसहितैश्च आदिशब्देन लवणभृष्टजीरकादि॥१२०-१२४॥

भावानुवाद—श्रीकृष्ण द्वारा भोजन किए जानेवाले द्रव्योंका क्रम श्रीसरूप 'आदौ' इत्यादि पाँच श्लोकोंमें बतला रहे हैं। सर्वप्रथम श्रीकृष्णने परम मधुर खीरको जलेबी, मालपुआ इत्यादिके साथ भोजन किया। फिर रसाला, शिखरिणी (चीनी, नारियल और केसर आदिसे बना हुआ दहीका पेय) तथा दही और दूधके विकारसे निर्मित विशेष प्रकारकी छैना इत्यादि मिठाइयोंको खाया। इसके बाद उन्होंने सफेद कोमल चावलोंको पकौड़ी इत्यादि तथा अनेक प्रकारके खट्टे-मीठे, कड़वे, तीखे अर्थात् मिर्च-मसालों तथा नमक और हींग-जीरा मिश्रित व्यञ्जनोंके साथ खाया॥१२०-१२४॥

सा चर्वणोद्यदरुणाधरचारुजिह्वा,
गण्डस्थलाननसरोजविलास-भङ्गी ।
भ्रूचापलोचन-सरोरुहनर्त्तनश्री-,
विद्योतिता न वचसा मनसापि गम्या॥१२५॥

श्लोकानुवाद—भोजन करते समय श्रीकृष्णके अरुणवर्णके अधर, चारु जिह्वा तथा कपोलोंका सुन्दर ढङ्गसे हिलना तथा धनुष जैसी भृकुटी और नेत्रकमलोंका नृत्य करना इतना सुन्दर था कि उस समय प्रकटित उनके श्रीमुखकमलकी अपूर्व शोभाको मन तथा वाणी द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता है॥१२५॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु भोजनजं तस्य श्रीमुखशोभाविशेषं वर्णयेत्यपेक्षायामाह—सेति। परमाद्भुता चर्वणेन नाड़िकादीनां दन्तैरवखण्ड़नेन उद्यन्ती आविर्भवन्ती अरुणाधरादिविलासभङ्गी, वचसा मनसापि गम्या प्राप्या न भवति। कीदृशी? भ्रूचापयोर्लोचनसरोरुहयोश्च नर्त्तनस्य श्रिया शोभया विद्योतिता विशेषेण प्रकाशिता॥१२५॥

भावानुवाद—यदि कहो कि भोजन करते समय प्रकटित उनके श्रीमुखकी शोभाका कुछ वर्णन कीजिये। इसकी अपेक्षासे कह रहे हैं—जलेबी इत्यादि चबाये जानेवाले पदार्थोंको दाँतों द्वारा तोड़ते समय अथवा चबाते समय उनके अरुणवर्णके अधर आदि पर प्रकट होनेवाली विलास-भङ्गि परम अद्भुत थी। वह विलास-भङ्गि कैसी थी? धनुष जैसी भृकुटी और नेत्रकमलोंकी जो अपूर्व नृत्य शोभा उस समय प्रकाशित हुई थी, वह वाणी और मनके अगोचर है॥१२५॥

गोपिकाभिश्च मिष्टान्नमानीय स्व-स्व-गेहतः।
क्षीराज्यशर्करापक्वं यशोदाग्रे धृतं तदा॥१२६॥

श्लोकानुवाद—तब गोपियोंने भी श्रीकृष्णके लिए अपने-अपने घरसे लाई हुई दूध, घी और शर्करासे बनी हुई अनेक प्रकारकी मिठाइयों और भोज्य सामग्रियोंको श्रीयशोदाजीके आगे रख दिया॥१२६॥

दिग्दर्शिनी टीका—क्षीरैराज्यैश्च घृतैः शर्करादिभिश्च पक्वम्॥१२६॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥१२६॥

विचित्रलीलया तत्तत् सश्लाघं बुभुजेऽसकृत्।
ताः सर्वाः रञ्जयन् किञ्चिद्भोजयन् स्व-करेण माम्॥१२७॥

श्लोकानुवाद—उन सब गोपियोंको आनन्द देनेके लिए श्रीकृष्णने उन भोज्य सामग्रियोंकी प्रशंसा करते हुए विचित्र लीलापूर्वक उनका भोजन किया तथा अपने हस्तकमलसे मुझे भी कुछ-कुछ खिलाया॥१२७॥

दिग्दर्शिनी टीका—श्लाघया साधु साध्वित्यादिप्रशंसया सहितं यथा स्यात्। ता गोपिका रञ्जयन् रञ्जयितुम्॥१२७॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णने उन सब गोपियोंको आनन्दित करनेके लिए 'साधु-साधु' इत्यादि प्रशंसापूर्ण वचनों द्वारा उनके द्वारा लायी गयी भोज्य सामग्रियोंकी प्रशंसा की॥१२७॥

अथ श्रीराधिकानीय सा मनोहरलड्डुकम्।
कृष्णस्य वामतो दध्रे गुटिकापूरिकान्वितम्॥१२८॥

श्लोकानुवाद—इसके पश्चात् श्रीराधिकाजी द्वारा लाये हुए इलायचीदाना तथा अनेक प्रकारकी गिरियोंसे मिश्रित 'मनोहर' नामक लड्डुओंको श्रीकृष्णके बायीं ओर रख दिया गया॥१२८॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथ ताभ्यः पश्चात् सा उक्तमाहात्म्या। मनोहरेत्यन्वर्थसंज्ञं लड्डुकं मोदकम्। वामतो वामपार्श्वे; तत्र तस्य धरणञ्च स्वयं तेन तस्य सुखग्रहणायेति ज्ञेयम्। गुटिका-पूरिकाभ्यामन्वितम्॥१२८॥

भावानुवाद—इसके पश्चात् श्रीाराधिकाजी द्वारा स्वयं अपने हाथोंसे बनाये हुए इलायचीदाना तथा गिरियोंसे मिश्रित 'मनोहर' नामक लड्डुओंको श्रीकृष्णके बायीं ओरमें रख दिया गया जिससे कि श्रीकृष्ण स्वयं ही आसानीसे उन्हें ग्रहण कर सकें॥१२८॥

निष्कृष्य तन्नखाग्रेण तर्ज्जन्यङ्गुष्ठयोः कियत्।
जिह्वाग्रे न्यस्य चक्रेऽसौ निम्बवन्मुखविक्रियाम्॥१२९॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णने उन लड्डुओंमेंसे एकको अपनी तर्जनी अँगुली तथा अगूँठेके नख द्वारा थोड़ा-सा तोड़कर जिह्वापर रखते ही

अपने मुखको इस प्रकारसे बनाया मानों वे लड्डु नीमकी तरह कड़वे हों॥१२९॥

दिग्दर्शिनी टीका—असौ कृष्णश्च तर्जन्यङ्गुष्ठयोर्नखाग्रेण तल्लड्डुकं कियत् सर्वमेव निष्कृष्य भङ्क्त्वादाय निम्बवत् जिह्वाग्रे विन्यासेनैव मुखस्य विक्रियां भङ्गीविशेषं चक्रे॥१२९॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥१२९॥

भ्रातुः स्मितं रुषं मातुस्तस्यां तातस्य विस्मयम्।
तन्वन् सखीनां मुग्धानामाधिं तस्या द्विषां मुदम्॥१३०॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णके मुखकी भङ्गिको देखकर श्रीबलरामजी मुस्करा पड़े, श्रीयशोदाजी श्रीराधिकाजीके प्रति क्रोधित हो गयीं तथा श्रीनन्दरायजी आश्चर्यमें पड़ गये। उस समय मुग्धा सखियाँ दुःखी हो गयी तथा विपक्षी सखियोंको आनन्द हुआ॥१३०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र हेतुं वक्तुं तमेव विशिनष्टि—भ्रातुरिति। श्रीबलरामस्य स्मितं तन्वन परिहासभङ्गी-विस्तारणात्। तस्यां श्रीराधिकायां विषये मातुः श्रीयशोदाया रुषं क्रोधम्, पुत्रं प्रति तिक्तद्रव्यदानात्। तातस्य श्रीनन्दस्य विस्मयं तदीय-तद्द्रव्यस्य तादृशत्वासम्भवात्। तस्याश्च श्रीराधिकायाः सखीनामाधिम्, तन्नीतद्रव्यस्य प्रामादिक-तिक्तत्वानुमानात्। मुग्धानामित्यनेन विदग्धानां हर्षविशेषो जातस्तदीय-तादृक्-परिहास-भङ्ग्या निजसखीसौभाग्य-विशेषतर्कणादिति ध्वन्यते। द्विषां सपत्नीनां च मुदं सपत्न्यानीतद्रव्यस्य तादृशत्वात्। अत्रापि मुग्धानामित्यनुषङ्गः॥१३०॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णने श्रीराधिकाजी द्वारा लाये गये 'मनोहर' लड्डुको मुँहमें डालते ही ऐसा मुँह बनाया मानों वे नीमके समान कड़वे हों। इसका कारण स्पष्ट करनेके उद्देश्यसे श्रीसरूप 'भ्रातुः' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। यह था विदग्ध-नायककी नर्म परिहासयुक्त एक विशेष लीला-भङ्गीका विस्तार। अनुजकी परिहासमयी भङ्गिको देखकर श्रीबलरामजी मुस्करा दिये। श्रीकृष्णको इतना कड़वा द्रव्य प्रदान करनेके कारण माता श्रीयशोदा श्रीराधाजीके प्रति क्रोधित हुईं। बुद्धिमती श्रीराधिकाने किस प्रकार भूलवशतः ऐसा कड़वा द्रव्य प्रदान किया? किन्तु श्रीराधिका द्वारा ऐसी भूल होना असम्भव है, ऐसा सोचकर श्रीनन्दजी आश्चर्य चकित हो गये। श्रीराधिकाजीके पक्षकी

सखियाँ उनके द्वारा लाये गये लड्डुओंको कड़वा समझकर दुःखित होकर सोचनी लगीं, हाय! हमारी सखी राधिकाने यह भूल कैसे कर डाली? वे भी मुग्ध हो गयीं। यहाँपर 'मुग्धा' शब्द द्वारा विदग्धा सखियोंको परम हर्ष होना और उस परिहास–भङ्गिसे अपनी सखी श्रीराधिकाका विशेष सौभाग्य अनुभव होना ध्वनित होता है। सौत भावयुक्त विपक्षकी सखियाँ प्रसन्न हुईं, क्योंकि उनकी सौतन द्वारा लायी गयी वस्तुएँ स्वादरहित थीं। विपक्षकी सखियोंके लिए भी 'मुग्धा' अनुषङ्ग रूपमें ग्रहण करना होगा॥१३०॥

तद्भ्रातृवंशजातस्य मम चिक्षेप भाजने।
तत् सर्वं परमस्वादु भुक्त्वाहं विस्मितोऽभवम्॥१३१॥

श्लोकानुवाद—(हे राधे!) यह लड्डु तुम्हारे भाईके वंशमें उत्पन्न इस सरूपके ही योग्य है—इस भावसे श्रीकृष्णने उस मनोहर लड्डुको मेरी थालीमें डाल दिया। मैं उस अत्यधिक स्वादिष्ट लड्डुको पाकर आश्चर्य चकित हो गया॥१३१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तल्लड्डुकादिकञ्च मम भाजने भोजनपात्रे चिक्षेप। कुतः? तस्याः श्रीराधिकाया भ्रातुः श्रीदाम्नो वंशे जातस्य अयं भावः। निम्बसदृशमिदं मादृशां योग्यं न भवेत्, किन्तु त्वद्बन्धुनामेवोचितमित्यनेनैव भुज्यताम्। वस्तुतस्तु सर्वोत्कृष्टतरं तत् परमप्रीत्या भोजनार्थं तस्मै ददाविति। अहञ्च तत् सर्वं भुक्त्वा विस्मितोऽभवम्; कुतः? परमस्वादु॥१३१॥

भावानुवाद—विदग्ध–शिरोमणि श्रीकृष्णने उस मनोहर लड्डुको मेरी थालीमें डाल दिया। किसलिए? इस भावसे कि यह सरूप श्रीराधिकाजीके भैया श्रीदामके वंशमें उत्पन्न हुआ है। अर्थात् श्रीकृष्ण परिहास–भङ्गी द्वारा यह जताना चाहते थे कि नीम जैसे कड़वे यह लड्डु मेरे योग्य नहीं है, किन्तु तुम्हारे भैयाके वंशमें उत्पन्न हुए तुम्हारे इस बन्धु (नातेदार) के ही योग्य है। वास्तवमें उन सर्वोत्कृष्ट लड्डुओंको परम प्रीतिपूर्वक मुझे भोजन करानेके उद्देश्यसे ही श्रीकृष्णने उन्हें मेरी थालीमें डाला था। मैं भी उन लड्डुओंको पाकर आश्चर्यचकित हो गया, क्योंकि वे अत्यन्त स्वादिष्ट थे॥१३१॥

राधया निभृतं कृष्णः सभ्रूभङ्गं निरीक्षितः।
मृदुस्मितानतास्यस्तां कटाक्षेणान्वरञ्जयत्॥१३२॥

श्लोकानुवाद—तब एकान्तमें बैठी श्रीराधाजीने भ्रूभङ्गीसे श्रीकृष्णकी ओर देखा तथा श्रीकृष्णने भी मुख कुछ नीचा करके श्रीराधाजीके प्रति मन्द मुस्कानयुक्त कटाक्ष द्वारा उन्हें आनन्दित किया॥१३२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु सरलबुद्धेः श्रीयशोदाया रोषेण श्रीराधायाः कच्चिल्लज्जा-दुःखं न जातमित्यत्राह—राधयेति। निभृतमिति तत्रैव केनाप्यलक्ष्यत्वेनेत्यर्थः। मृदु स्मितं यस्मिन् तच्च तत् आनतञ्च आस्यं श्रीमुखं यस्य सः॥१३२॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि सरल चित्तवाली श्रीयशोदाजी द्वारा क्रोध प्रकाशित करनेपर क्या श्रीराधिकाजीको किसी प्रकारकी लज्जा या दुःख नहीं हुआ? इसके समाधानमें श्रीसरूप 'राधया' इत्यादि श्लोक द्वारा कह रहें हैं कि श्रीयशोदाजीके क्रोध करनेपर दुःखी-सी होकर श्रीराधिकाजी एकान्तमें श्रीकृष्णके प्रति कटाक्ष करके देख रही थीं। उनके उक्त रोषको लक्ष्य करके श्रीकृष्णने भी मुख कुछ नीचे करके मन्द-मन्द मुस्कराते हुए उनके प्रति कटाक्ष करते हुए उन्हें आनन्दित किया॥१३२॥

सद्यो बुद्धा मया लीला सा विदग्धशिरोमणेः।
निजप्रेमभरार्त्तानां परमप्रीणनात्मिका॥१३३॥

श्लोकानुवाद—मैं उसी क्षण ही उस लीलाके रहस्यको समझ गया। अर्थात् उनके प्रेममें व्याकुल हो रहीं उन श्रीराधाजीको आनन्द प्रदान करनेके लिए ही विदग्ध-शिरोमणि श्रीकृष्णकी यह एक लीला थी॥१३३॥

दिग्दर्शिनी टीका—निजेन श्रीकृष्णविषयकेण तत्सम्बन्धिना वा प्रेमभरेण आर्त्तानां दीनानां जनानां यत् परमप्रीणनं तदेव आत्मा तत्त्वं यस्याः सा। बहुव्रीहौ कः॥१३३॥

भावानुवाद—मैं तत्क्षणात् समझ गया कि अपने अर्थात् श्रीकृष्ण विषयक प्रचुर प्रेममें दुःखसे व्याकुल व्यक्तियोंको परम आनन्द प्रदान करना ही जिनका तत्त्व अर्थात् स्वभाव है—यह उन विदग्ध-शिरोमणि श्रीकृष्णकी एक लीला थी॥१३३॥

अथाचम्य यथान्यायं ताम्बूलं लीलयोत्तमम्।
चर्वन् स राधिकां पश्यन् चर्वितं सम्मुखे न्यधात्॥१३४॥

श्लोकानुवाद—इसके पश्चात् उन्होंने आचमन करके लीला-भङ्गीसे एक उत्तम ताम्बूल चबाया और श्रीराधिकाजीको देखते-देखते उस चबाए हुए ताम्बूलको मेरे मुखमें दे दिया॥१३४॥

दिग्दर्शिनी टीका—उत्तममुत्कृष्टम्; स विदग्धशिरोमणिः कृष्णः; राधिकां पश्यन्निति तद्बन्धुजनं प्रत्यपि तदभीष्टद्रव्यप्रदानेन तस्याः सन्तोषोत्पत्तेः, तस्यैव वा सुखविशेषोत्पत्तेरिति दिक्॥१३४॥

भावानुवाद—विदग्ध-शिरोमणिने उत्तम ताम्बूल चबाया और श्रीराधिकाको दिखाकर उस चबाये हुए ताम्बूलको मेरे मुखमें दे दिया। इस प्रकारसे श्रीराधाजीके बन्धुओंको भी श्रीराधाजीकी अभीष्ट वस्तु प्रदान करके उन्हें (श्रीराधाजीको) सन्तुष्ट किया तथा उन्हें सन्तुष्ट करनेसे श्रीकृष्ण भी सुखी हुए। उक्त विचारका यही दिग्दर्शन है॥१३४॥

माता स्नेहातुरा मन्त्रान् पठन्ती भुक्तजारकान्।
वामपाणितलेनास्योदरं मुहुरमार्जयत्॥१३५॥

श्लोकानुवाद—तब माता श्रीयशोदा स्नेहसे आतुर होकर भोजन पचानेवाले मन्त्रोंका पाठ करती हुई, अपने बायें हाथकी हथेलीसे श्रीकृष्णके उदरको बार-बार मार्जन करने लगीं॥१३५॥

दिग्दर्शिनी टीका—माता श्रीयशोदा। अस्य कृष्णस्य स्नेहातुरेति कथञ्चिदपि तन्न सम्भवेदेव, केवलं स्नेहविवशत्वेनैव तथा करोतीत्यर्थः॥१३५॥

भावानुवाद—'स्नेहातुरा' अर्थात् जो कार्य कभी भी सम्भव नहीं है, माता श्रीयशोदा केवल श्रीकृष्णके प्रति स्नेहसे विवश होकर ही वैसा कार्य करने लगीं॥१३५॥

गोव्रजान्तर्गतो नन्दो रामः सुप्तो विचक्षणः।
चंक्रम्यते स्म गीतानि गायन् कृष्णो व्रजाङ्गने॥१३६॥

श्लोकानुवाद—तदुपरान्त श्रीनन्दजी गौशालामें चले गये, विचक्षण अर्थात् चतुर-शिरोमणि श्रीबलरामजी अपने शयनकक्षमें चले गये और श्रीकृष्ण गान करते-करते उसी आँगनमें टहलने लगे॥१३६॥

दिग्दर्शिनी टीका—विचक्षण इति कृष्णस्य रहःक्रीड़ावसरोऽयमित्यादिकं जानन्नित्यर्थः। यशोदापि गृहकृत्यार्थं गृहान्तःप्रविष्टेति ज्ञेयं, वक्ष्यमाणाकारणानुसारात्। कृष्णश्च व्रजाङ्गने चंक्रम्यते पुनः पुनर्भ्रमति॥१३६॥

भावानुवाद—'विचक्षण' अर्थात् यह श्रीकृष्णकी गोपनीय क्रीड़ाओंका समय है—इसे जाननेवाले श्रीबलरामजी अपने शयनकक्षमें चले गये। तथा कथित होनेवाले विषयके कारणको न जानते हुए माँ श्रीयशोदा भी घरके कार्योंको करनेके लिए घरके भीतर चली गयीं—ऐसा जानना होगा। श्रीकृष्ण उसी आँगनमें इधर-उधर टहलने लगे॥१३६॥

क्षणं विहृत्य व्रजसुन्दरीरतः,
स मातुराकारण-गौरवादरात्।
सुखं स्म शेते शयनालयं गत-
स्तल्पे पयःफेनमनोज्ञतूलिके॥१३७॥

श्लोकानुवाद—व्रजसुन्दरियोंमें आसक्त श्रीकृष्ण कुछ क्षणों तक उनके साथ विहार करते रहे, किन्तु जब माताने उन्हें शयनके लिए बुलाया, तब वे माताके वचनोंका आदर करके शयनघरमें गये तथा दूधकी झागके समान सुन्दर, सफेद मनोहर शय्यापर सो गये॥१३७॥

दिग्दर्शिनी टीका—स कृष्णः व्रजसुन्दरीषु रतः सकामः सन् क्षणं विहृत्य चंक्रमणक्रीड़ां कृत्वा मातुः श्रीयशोदाया आकारणस्य तत्कृतस्याह्वानस्य गौरवमाधिक्यं तस्मिन्नादराद्धेतोः शयनालयं गतः सन् तल्पे शय्यायां सुखं शेते स्म अशयिष्ट। कीदृशे? पयःफेनादपि मनोज्ञा शौक्ल्यसौकुमार्यादिना रुचिरा तूलिका यस्मिन् तस्मिन्॥१३७॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीकृष्णने इधर-उधर टहलनेकी लीला करते-करते क्षणकालके लिए व्रजसुन्दिरयोंमें आसक्त होकर विहार किया। किन्तु माता श्रीयशोदा द्वारा शयनके लिए पुनः-पुनः बुलाये जानेपर माताके प्रति अधिक गौरववशतः उनके वचनोंका आदर करनेके लिए शयनकक्षमें जाकर सुखसे शय्यापर सो गये। वह शय्या कैसी थी? दूधकी झागके समान सफेद तथा मनोहर और अत्यन्त कोमल गद्देवाली थी॥१३७॥

निरङ्कपूर्णेन्दुसमैस्तथापरैर्मृदूपधानैर्युतमस्ति यत्ततम्।
अनर्घ्यरत्नाचितकाञ्चनोल्लसल्ललामपल्यङ्कवरे महाप्रभे॥१३८॥

श्लोकानुवाद—वह शय्या अत्यधिक प्रकाशमय अमूल्य रत्नोंसे जड़े हुए अति सुन्दर स्वर्णके पलङ्गके ऊपर लगी हुई थी तथा निष्कलङ्क पूर्ण चन्द्रमाके समान कोमल-कोमल तकियोंसे सुशोभित हो रही थी॥१३८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तल्पमेव विशेषतो वर्णयन् तदाधारमाह—निरङ्केति। अनर्घरत्नैराचितैः काञ्चनैरुल्लसति उच्चैः शोभमाने ललामे परमसुन्दरे पल्यङ्कवरे यत्तल्पं ततं विस्तारितमस्ति। कीदृशम्? निरङ्केण पूर्णेन चेन्दुना समैः परमशुभ्रवर्त्तुलाकारैरित्यर्थः। तथा अपरैस्तदितरैरायताकारैरित्यर्थः। मृदुभिः कोम-लैरुपाधानैरुच्छीर्षकैर्युतम्। महती प्रभा कान्तिर्यस्मिन् तस्मिन्॥१३८॥

भावानुवाद—अब 'निरङ्क' इत्यादि श्लोक द्वारा श्रीसरूप श्रीकृष्णकी शय्या तथा शय्याके आधारका वर्णन कर रहे हैं। अमूल्य रत्नोंसे जड़े हुए स्वर्णसे निर्मित देदीप्यमान परम सुन्दर उस श्रेष्ठ पलङ्गपर वह शय्या लगाई गयी थी। किस प्रकारसे? उस शय्यापर निष्कलङ्क पूर्ण चन्द्रमाके समान अत्यन्त सफेद गोलाकार कोमल-कोमल तकिये शोभा पा रहे थे तथा कुछ छोटे-छोटे देदीप्यमान कोमल तकिये ऊपर अर्थात् सिरकी ओर तथा नीचे अर्थात् चरणकमलोंकी ओर सुशोभित हो रहे थे॥१३८॥

यः शोभते मौक्तिकमालिकावृतै-,
श्चित्रैर्वितानैरुपशोभिते धृतः।
प्रासादसिंहेऽगुरुधूपवासिते,
रम्यप्रकोष्ठे बहुरत्ननिर्मिते॥१३९॥

श्लोकानुवाद—उस भवनके श्रेष्ठ स्थानपर जहाँ पलङ्ग स्थापित था, विचित्र रङ्गका चँदोवा लगा हुआ था, जो मोतियोंकी झालरोंसे सुशोभित था। बहुत प्रकारके रत्नोंसे निर्मित वह रम्य प्रकोष्ठ अगरु और धूपसे सुगन्धित हो रहा था॥१३९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्याप्याधारमाह—य इति। प्रासादेषु सिंहे परमश्रेष्ठे यः पल्यङ्कवरः धृतः स्थापितः शोभते। कीदृशे? मौक्तिकानां मालाभिः विलम्बरूप-श्रेणीभिरावृतैश्चित्रैर्बहुविधैर्वितानैश्चन्द्रातपैरुपशोभिते। किञ्च, अगुरूणां धूपैर्वासिते; रम्याणि प्रकोष्ठानि चतुर्दिक्षु वर्त्तमानकोष्ठविशेषा यस्य तस्मिन्॥१३९॥

भावानुवाद—अब उस श्रेष्ठ पलङ्गके आधारका वर्णन 'यः' इत्यादि श्लोक द्वारा कर रहे हैं। भवनके परमश्रेष्ठ स्थानपर जहाँ वह पलङ्ग स्थापित था, विचित्र रङ्गका चँदोवा लगा हुआ था, जो मोतियोंकी झालरोंसे सुशोभित था। वह रम्य प्रकोष्ठ जिसके चारों ओर अनेक प्रकोष्ठ वर्त्तमान थे, अगरु और धूपसे सुगन्धित हो रहा था॥१३९॥

राधार्पयत्यस्य मुखान्तरे सा,
संस्कृत्य ताम्बूलपुटं विदग्धा।
चन्द्रावली श्रीललितापि पाद-
पद्मे तु सम्वाहयतः सलीलम्॥१४०॥

श्लोकानुवाद—चतुर-शिरोमणि श्रीराधिकाजी ताम्बूलकी बीड़ी सजा-सजाकर श्रीकृष्णके मुखकमलमें दे रही थीं। श्रीचन्द्रावली और श्रीललितादेवी बड़े सुन्दर ढङ्गसे उनका पाद-सम्वाहन कर रही थीं॥१४०॥

दिग्दर्शिनी टीका—शयनलीलामेव सविशेषं वर्णयति—राधेति पञ्चभिः। अस्य कृष्णस्य मुखान्तरे मुखमध्ये। सा प्रियतमगणमुख्या; ताम्बूलस्य पुटं पुटिकां संस्कृत्य उपस्कृत्य॥१४०॥

भावानुवाद—अब श्रीसरूप 'राधा' इत्यादि पाँच श्लोकोंमें विशेष रूपसे श्रीकृष्णकी शयन लीलाका वर्णन कर रहे हैं। प्रियतमाओंमें मुख्य श्रीराधिकाजी ताम्बुलकी बीड़ी सजा-सजाकर श्रीकृष्णके मुखकमलमें दे रहीं थीं॥१४०॥

काश्चिच्च बालव्यजनान्युपाददुः,
काश्चिच्च ताम्बूलसमुद्गकावलिम्।
काश्चित् पतद्ग्राहचयं विभागशो,
भृङ्गारिकाः काश्चन सज्जलैर्भृताः॥१४१॥

श्लोकानुवाद—कोई सखी उन्हें पंखा झलनेके लिए चामर, कोई पीकदानी, कोई पान रखनेवाला पात्र, कोई मधुर सुगन्धित जलसे भरी हुई झारी लिये खड़ी थीं। इस प्रकार विभाग करके सभी सखियाँ परिचर्यामें लगी हुई थीं॥१४१॥

दिग्दर्शिनी टीका—बालव्यजनानि चामराणि उपाददुः वीजनार्थं जगृहुः। ताम्बूलस्य समुद्गकानां पात्रविशेषाणामावलिं श्रेणीम्। पतद्ग्राहकाणां ताम्बूलचर्वितधारणपात्राणां चयम्। विभागशः प्रत्येकमेकमेकमित्येवं बहुलविभजन-क्रमेण। अस्य सर्वत्राप्यनुषङ्गः। काश्चन गोप्यो भृङ्गारिकाः जलपानपात्रविशेषानुपाददुः। कीदृशीः? सद्भिर्माधुर्यादिसद्-गुणयुक्तैर्जलैर्भृताः पूर्णाः॥१४१॥

भावानुवाद—कार्य अनुसार अलग-अलग दल बनाकर अर्थात् एक-एक प्रकारकी सेवाको बाँटकर कोई गोपी पंखा झलनेके लिए चामर, कोई ताम्बूलकी बीड़ी रखनेवाला पात्र, कोई पीकदानी तथा कोई गोपी मधुर सुगन्धित जलसे भरी हुई झारी लिये खड़ी थीं॥१४१॥

अन्याश्च तच्छोत्रमनोहराणि,
गायन्ति गीतानि सकीर्त्तनानि।
वाद्यानि काश्चिद्बहु वादयन्ति,
तन्वन्ति नर्माण्यमुना सहान्याः॥१४२॥

श्लोकानुवाद—अन्य कोई-कोई गोपी श्रीकृष्णके कानोंको मनोहर लगनेवाले गीत तथा लीला-चरित्रोंका गान कर रही थीं, कोई अनेक प्रकारके वाद्य-यन्त्रोंको बजा रही थीं तथा कोई-कोई श्रीकृष्णके साथ हास-परिहास कर रही थीं॥१४२॥

दिग्दर्शिनी टीका—कीर्त्तनैर्नाम-गाथोच्चारणविशेषैः सहितानि। बहु यथा स्यात्तथा। अमुना कृष्णेन सह॥१४२॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥१४२॥

सर्वाभिरेवं परिषेव्यमाण-
स्ताभिः स सौहार्दभरार्द्रिताभिः।
ताम्बूलिकं चर्वितमत्यभीष्टं,
ताभ्यो ददेऽन्योन्यमलक्ष्यमाणम्॥१४३॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार वे सभी व्रजसुन्दरियाँ प्रेमसे परिपूरित होकर श्रीकृष्णकी सेवामें लगी हुई थीं और श्रीकृष्ण भी उनके अभीष्ट अपने चबाये हुए ताम्बूलको उन सबको इस चतुरतासे दे रहे थे कि उनमें एक-दूसरेको भी इसका पता न लगे॥१४३॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं सेवमानानां निजाभीष्टप्राप्तिमाह—सर्वाभिरिति। एवमुक्त-प्रकारेण, स श्रीकृष्णः सौहार्दभरेण प्रेमातिशयेन आर्द्रिताभिर्यन्त्रिताभिः; ताम्बूलिकं ताम्बूलभवम्। नन्वेवं सर्वासामपि परस्परं साम्यापत्तेः कथं प्रत्येकं सुखविशेषः सम्पद्यताम्? तत्राह—अन्योन्यं ताभिरलक्ष्यमाणम्—एकस्यै दीयमानमन्यया न लक्ष्यत इत्यर्थः॥१४३॥

भावानुवाद—इस प्रकार उन व्रजसुन्दरियोंको सेव्यमान श्रीकृष्ण द्वारा अपने-अपने अभीष्टकी प्राप्तिके विषयमें 'सर्वाभिः' इत्यादि श्लोक द्वारा बतला रहे हैं। उक्त प्रकारसे वे सभी गोपियाँ प्रेमसे परिपूरित होकर श्रीकृष्णकी सेवा कर रही थीं तथा श्रीकृष्णने भी उन सभीको अपना चबाया हुआ ताम्बूल प्रदान किया। यदि आपत्ति हो कि इस प्रकार परस्पर एकसाथ होनेपर किस प्रकार प्रत्येक गोपीको सुख प्राप्त हो सकता है? इसके लिए कह रहे हैं—परस्पर अलक्ष्य अर्थात् एक सखीको देते समय अन्य सखी न देख पाये, ऐसी चतुरतापूर्वक श्रीकृष्ण उस अभीष्ट वस्तुको प्रदान कर रहे थे॥१४३॥

एवं महाधूर्त्तसदःशिरोमणिः,
सर्वाः प्रियास्ता रमयन् स्व-चेष्टितैः।
श्रीराधिका-प्रेमकथासु निर्वृतः,
प्रस्वापलीलामभजत् क्षणादयम्॥१४४॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार महाधूर्त समाजके मुकुटमणि श्रीकृष्णने अपने व्यवहारसे सभी प्रियाओंको सन्तुष्ट किया तथा श्रीराधिकाजीके प्रेम-आलापको सुनकर ही थोड़ी देरके लिए शयनलीला की॥१४४॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तर्हि श्रीराधिकायाः सर्वतो वैशिष्ट्यं कथं सिध्येदित्यपेक्षायां तत्प्रकारं वदन् शयनलीलाप्रसङ्गमुपसंहरति—एवमिति। महाधूर्त्तानां सदसः समाजस्य शिरोमणिः। श्रीराधिकायाः प्रेमकथाभिः सुनिर्वृतः सन्॥१४४॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि श्रीकृष्ण द्वारा सभी गोपियोंको सन्तुष्ट करनेसे श्रीराधिकाजीका सर्वाधिक वैशिष्ट्य किस प्रकार स्थापित होगा? इसी अपेक्षासे 'एवं' इत्यादि श्लोक द्वारा श्रीराधाजीके वैशिष्ट्यका वर्णन करके ही शयनलीलाके प्रसङ्गका उपसंहार कर रहे हैं। यद्यपि महाधूर्त समाजके शिरोमणि श्रीकृष्णने अपने व्यवहारसे सभीको सन्तुष्ट किया, तथापि श्रीराधिकाजीके प्रेम-आलापको सुनकर ही उन्होंने शयन किया॥१४४॥

कयापि संज्ञया तास्तु तेन सङ्केतिताः किल।
सर्वाः स्व-स्व-गृहं जग्मुर्हर्षपूरपरिप्लुताः॥१४५॥

श्लोकानुवाद—तत्पश्चात् श्रीकृष्णने अपने किसी इङ्गित द्वारा उन्हें कुछ सङ्केत दिया, जिससे वे सभी आनन्दित होकर अपने-अपने घरोंमें चली गयीं॥१४५॥

दिग्दर्शिनी टीका—संज्ञया भ्रूनर्त्तनादिसङ्केतेन। ता गोप्यः। तेन कृष्णेन। किलेति वितर्के। अतएव हर्षभरे आनन्दरसप्रवाहे परिप्लुता निमग्नाः प्रत्येकं सर्वाः प्रत्येव पूर्ववदन्योन्यमलक्ष्यत्वेन रहःक्रीड़ासङ्केतनात्॥१४५॥

भावानुवाद—तब श्रीकृष्णने अपने भ्रू-नर्तनके इङ्गित द्वारा उन सब गोपियोंको कुछ सङ्केत दिया जिसके फलस्वरूप वे सभी आनन्दरसके प्रवाहमें निमग्न होकर अपने-अपने घरोंको चली गयीं। यहाँ भी पहलेकी भाँति ही प्रत्येकको अलक्ष्य रूपमें अर्थात् भ्रू-नर्तनके इङ्गित द्वारा प्रत्येकको इस प्रकार रति-क्रीड़ाका सङ्केत दिया जिससे कि एक गोपीको इङ्गित करते समय अन्य गोपियाँ न देख पायें॥१४५॥

श्रीदाम्नागत्य गेहं स्वमहं नीतः प्रयत्नतः।
अन्यत्तस्य निशाक्रीड़ावृत्तं नार्हामि भाषितुम्॥१४६॥

श्लोकानुवाद—हे ब्राह्मण! उसी समय श्रीदाम उस स्थानपर आये तथा बड़े आदर सहित मुझे अपने घर ले गये। इसलिए रात्रिमें श्रीकृष्णने जो-जो विहार किये, मैं उनका वर्णन नहीं कर सकता हूँ॥१४६॥

दिग्दर्शिनी टीका—स्वं स्वकीयम्। ननु सङ्केतहेतुकं तत्क्रीड़ाविशेषं विवृन्विति चेत्तत्राह—अन्यदिति। कथितात् परम्, निशि या क्रीड़ा तस्या वृत्तम्॥१४६॥

भावानुवाद—यदि कहो कि उस सङ्केतवशतः हुई श्रीकृष्णकी अन्यान्य लीलाओंका वर्णन कीजिये? इसके लिए ही 'अन्य' इत्यादि श्लोक द्वारा श्रीसरूप कह रहे हैं कि मैं उनकी रात्रिकालीन अन्यान्य लीलाओंको वर्णन करनेमें असमर्थ हूँ, क्योंकि श्रीदाम मुझे वहाँसे आदर सहित अपने घर ले गये थे॥१४६॥

नीत्वा महात्त्या तां रात्रिं प्रातर्नन्दगृहे गतः।
अपश्यं स हि सुप्तोऽस्ति पर्यङ्के रतिचिह्नभाक्॥१४७॥

श्लोकानुवाद—बड़े दुःखके साथ श्रीदामके घरपर रात बिताकर मैं प्रातःकाल श्रीनन्दभवनमें उपस्थित हुआ। वहाँ मैंने देखा कि श्रीकृष्ण रतिके चिह्नोंसे युक्त होकर पलङ्गपर सोये हुए हैं॥१४७॥

दिग्दर्शिनी टीका—दृष्टमेवाह—स श्रीकृष्णः पर्यङ्के सुप्तोऽस्तीति, रात्रौ जागरणेन प्रातरपि निद्राभङ्गाभावात्। कीदृशः सः? रतेः सौरतस्य चिह्नानि नखक्षतादीनि भजति सर्वाङ्गेषु विभर्तीति तथा सः॥१४७॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णकी रात्रिकालीन रतिक्रीड़ाके सम्बन्धमें श्रीसरूप ने जो देखा उसका वर्णन कर रहे हैं—प्रातःकाल मैंने श्रीनन्दभवनमें आकर देखा कि श्रीकृष्ण पलङ्गपर सोये हुए हैं। अर्थात् रात्रिमें जागते रहनेके कारण अभी तक उनकी निद्रा-भङ्ग नहीं हुई है। उस समय श्रीकृष्णको किस रूपमें देखा? उनके सभी अङ्गोंपर नखक्षत आदि रतिक्रीड़ाके चिह्न सुशोभित थे॥१४७॥

सरलप्रकृतिर्माता निविष्टा तस्य पार्श्वतः।
बहुधा लालयन्ती तं किञ्चिदात्मन्यभाषत॥१४८॥

श्लोकानुवाद—सरल स्वभाववाली माता श्रीयशोदा उनके पास आकर बैठी हुई थीं तथा अनेक प्रकारसे पुत्रका लालन करती हुई वे अपने आपमें ही कुछ इस प्रकार कहने लगीं॥१४८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तादृशं चिह्नयुक्तं पुत्रं दृष्ट्वापि श्रीयशोदया तदीया सा क्रीड़ा नैव प्रतीता इत्याह—सरलेति। सरला ऋजुप्रकृतिः स्वभावो यस्याः सा।

अतएव तं कृष्णं बहुधा मुहुर्निमज्जनादि-बहुप्रकारेण लालयन्ती। आत्मनि स्वस्मिन्नेव किञ्चिद्वक्ष्यमाणमभाषत॥१४८॥

भावानुवाद—किन्तु वैसे चिह्नोंसे युक्त अपने पुत्रको देखकर भी माता श्रीयशोदाको श्रीकृष्णकी रात्रिकालीन लीलाओंके विषयमें कुछ भी प्रतीत नहीं हुआ, इसे बतलानेके लिए 'सरला' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। सरल स्वभाववाली माता श्रीयशोदा अपने पुत्रके पास आकर बैठीं तथा अनेक प्रकारसे उनका लालन अर्थात् अपने हाथों द्वारा उनके अङ्गोंको स्पर्श करके बार-बार मार्ज्जन करते हुए अपने आपमें ही आगे कहे जानेवाले वचनोंको बोलने लगीं॥१४८॥

श्रीयशोदोवाच—

हन्त बालो ममावित्वा गा वनेष्वखिलं दिनम्।
श्रान्तो निद्रासुखं प्राप्तो न जागर्त्यधुनाप्ययम्॥१४९॥

श्लोकानुवाद—श्रीयशोदाजीने कहा—हाय! मेरा यह बालक सारा दिन वन-वनमें भ्रमण करके गौओंकी रक्षा करता है, इसलिए थककर सुखसे ऐसे सो रहा है कि अब तक भी जाग नहीं पाया है॥१४९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्रादौ रासक्रीडया समग्ररात्रिजागरणेन जातां प्रातर्निद्रां दृष्ट्वान्यथा सम्भावयन्त्याह—हन्तेति खेदे। अयं बाल इति तदीयतत्क्रीड़ाविशेषशङ्का-राहित्यं द्योतयति। अखिलं सम्पूर्णं दिनं वने गा अवित्वा रक्षित्वा। अधुना प्रातःसमयेऽपि॥१४९॥

भावानुवाद—सर्वप्रथम रासलीलामें सम्पूर्ण रात्रि जागरणके कारण प्रातःकाल तक श्रीकृष्णको सोया हुआ देखकर माता श्रीयशोदा कुछ अन्य विषयकी सम्भावनाकर कह रही है—हाय! कैसे दुःखकी बात है! मेरा यह बालक सारा दिन वन-वनमें भ्रमण करके गौओंकी रक्षा करता है, इसलिए थककर सुखसे ऐसे सो रहा है कि प्रातःकाल होनेपर भी नहीं जागा है। "मेरा यह बालक"—इस वचन द्वारा माता श्रीयशोदाका श्रीकृष्णकी रासलीलाके विषयमें शङ्कारहित होना सूचित हुआ है॥१४९॥

अरण्यकण्टकैर्दुष्टैः क्षतानीमानि सर्वतः।
अक्रियन्तास्य गात्रेषु परितो धावतो मुहुः॥१५०॥

श्लोकानुवाद—यह अबोध बालक वनमें बार-बार इधर-उधर भागता रहता है, इसलिए वहाँकी कँटीली झाड़ियोंसे इसके अङ्ग क्षत-विक्षत हो गये हैं॥१५०॥

दिग्दर्शिनी टीका—विदग्धगोपीगणकृत-नखक्षतानि दृष्ट्वा आह—अरण्येति। इमानीति हस्तेन स्पृष्ट्वा कथयतीति बोधयति। एवमग्रेऽप्यूह्यम्। नन्वरण्यकण्टकैरधरादौ क्षतं कथं सम्भवेत् तत्राह—परितो धावत इति॥१५०॥

भावानुवाद—विदग्धा गोपियों द्वारा किये गये नखक्षत आदि चिह्नोंको देखकर श्रीयशोदा माता कह रही हैं कि अबोध बालकने वन-वनमें भ्रमण करके कँटीली झाड़ियोंसे अपने अङ्गोंको क्षत-विक्षत कर लिया है। 'इमानी' अर्थात् इस प्रकार अपने हाथ द्वारा उन सभी क्षत स्थानोंको स्पर्श करके ऐसा कह रही है तथा आगे भी ऐसा ही समझना होगा। यदि आपत्ति हो कि वनके काँटोंसे होठ आदि कैसे क्षत होंगे? इसके लिए ही कह रही हैं कि इधर-उधर भागते समय झाड़ियोंके काँटों द्वारा अधर क्षत हो गये हैं॥१५०॥

अहो कष्टं न जानाति किञ्चिन्निद्रावशं गतः।
म्रक्षयामास गात्रेषु स्वस्येदं नेत्रकज्जलम्॥१५१॥

श्लोकानुवाद—अहो! कैसा कष्ट है, मेरा यह बालक निद्राके वशीभूत होनेके कारण इतना भी नहीं जानता है कि इसने अपने नेत्रोंके कज्जलको अपने अङ्गोंमें सर्वत्र लगा रखा है॥१५१॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथ कज्जलोज्ज्वल-श्रीगोपिका-लोचनचुम्बनादिना अधरादौ लग्नं कज्जलं वीक्ष्याह—अहो इति। किञ्चिदपि न जानाति, यतः स्वस्य नेत्रकज्जलमिदं स्वस्यैव गात्रे म्रक्षयामास॥१५१॥

भावानुवाद—अब श्रीगोपियोंके कज्जलसे उज्ज्वल नेत्रोंका चुम्बन करते हुए श्रीकृष्णके होठोंपर लगे काजलको देखकर माता श्रीयशोदा कह रही हैं—अहो! कैसा कष्ट है, मेरा यह बालक निद्राके वशीभूत होकर इतना भी नहीं जानता है कि इसने अपने नेत्रोंका कज्जल सभी अङ्गोंपर लगा लिया है॥१५१॥

तथात्माधरताम्बूलरागञ्चेतस्ततो विदन्।
चिच्छेद हारमालादि-परिवृत्तिं मुहुर्भजन्॥१५२॥

श्लोकानुवाद—इस सोये हुए बालकने अपने अधरके ताम्बूल-रङ्गको जहाँ-तहाँ सभी अङ्गोंमें लगा लिया है। तथा इधर-उधर करवट बदलते समय इसने अपने हार-मालाादिको भी तोड़ दिया है, परन्तु इसे कुछ भी पता नहीं है॥१५२॥

दिग्दर्शिनी टीका—स्वगण्ड़ादौ लग्नं श्रीगोपिकाधरताम्बूलरागं तथा त्रुटितहारादीनपि दृष्ट्वाह—तथेति समुच्चये। आत्मनोऽधरस्य ताम्बूलरागञ्च इतस्ततः सर्वाङ्गेषु म्रक्षयामास। अविदन् निद्रावशेन किञ्चिदप्यजानन्; अविदन्नित्यस्य उत्तरत्राप्यनुषङ्गः। परिवृत्तिं पार्श्वपरिवर्तनं मुहुर्भजन् कुर्वन्। आदिशब्दात् कण्ठसूत्रवसनादि॥१५२॥

भावानुवाद—गोपियोंके अधरके ताम्बूल-रङ्गको श्रीकृष्णके कपोलादिमें लगा देखकर तथा टूटे हुए हारोंको देखकर माता श्रीयशोदा कहने लगीं कि इसने अपने अधरके ताम्बूल-रङ्गको सभी अङ्गोंपर लगा लिया है तथा बार-बार करवट लेते समय इसके गलेका हार और मालाादि भी टूट गये हैं, किन्तु मेरा यह बालक निद्राके वशीभूत होनेके कारण कुछ भी नहीं जानता है॥१५२॥

नूनं काश्मीरवर्णेयं यमुनातीर-मृत्तिका।
न परित्याजिता हन्त स्नानेनापि वपुःसखी॥१५३॥

श्लोकानुवाद—माता श्रीयशोदाने विचार किया कि निश्चय ही श्रीयमुना-तटकी केसरिया रङ्गकी मिट्टी इसके सभी अङ्गोंपर लगी हुई है। कैसे दुःखकी बात है! देहकी सहचरीकी भाँति लगी उस मिट्टीने इसे स्नान करानेपर भी नहीं छोड़ा है॥१५३॥

दिग्दर्शिनी टीका—श्रीगोपीस्तनेभ्यो लग्नं कुङ्कुमं दृष्ट्वाह—नूनमिति वितर्के निश्चये वा। यतो वपुषः श्रीमूर्त्तेः सखी सहचरी अत्यन्तसंलग्नेत्यर्थः॥१५३॥

भावानुवाद—गोपियोंके स्तनोंसे लगी कुङ्कुमको श्रीकृष्णके सभी अङ्गोंपर लगा देखकर श्रीयशोदा माता 'नूनं' इत्यादि श्लोक कह रही हैं। निश्चित ही श्रीयमुनाजीके तटकी केसरिया रङ्गकी मिट्टी इसके

सभी अङ्गोंमें लगी हुई है। कैसे दुःखकी बात है! अङ्गोंकी सहचरीके समान अत्यधिक संलग्न वह मिट्टी इसको स्नान करानेपर भी नहीं छोड़ती है॥१५३॥

बालाभिश्चपलाभि–र्ह्यः सन्ध्यायामवधानतः।
स्नानं न कारितं सम्यङ्नाभ्यङ्गोद्वर्त्तने तथा॥१५४॥

श्लोकानुवाद—ऐसा बोध होता है कि कल सायंकालको चञ्चल बालिकाओंने ठीकसे अङ्ग मार्जन तथा उबटन लगाकर इसे स्नान नहीं कराया है, इसलिए इसके अङ्गोंमें लगे मिट्टीके दाग दूर नहीं हुए हैं॥१५४॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तथाप्युद्वर्त्तनादिनापसरेत्तत्राह—बालाभिरिति। अवधानतः मनोऽभिनिवेशेन। सम्यग् यथा स्यात्। अभ्यङ्गोद्वर्त्तने च सम्यक् न कारिते॥१५४॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि क्या सायंकालमें स्नानके समय उबटन लगानेपर भी श्रीकृष्णके अङ्गोंपर लगी वह मिट्टी नहीं हटी? इसके लिए ही माता श्रीयशोदा 'बालाभि' इत्यादि श्लोक कह रही हैं। चञ्चल बालिकाओंने मन लगाकर उबटन कार्य नहीं किया॥१५४॥

श्रीसरूप उवाच—

माता यशोदा मुहुरेवमाह तासां समक्षं व्रजकन्यकानाम्।
तत्रागतानां भयहासलज्जाविर्भाव–मुद्राविलसन्मुखीनाम्॥१५५॥

श्लोकानुवाद—श्रीसरूपने कहा—प्रातःकाल नन्दभवनमें एकत्र हुईं उन व्रजबालाओंमें माता श्रीयशोदाकी इन सब बातोंको सुनकर भय, हास्य और लज्जा उदित होनेके कारण उस समय उनका मुखमण्डल एक अपूर्व भावभङ्गी द्वारा विभूषित हो रहा था॥१५५॥

दिग्दर्शिनी टीका—यशोदेति श्लेषेण तस्मा एवं यशो ददावित्यर्थः। एवमुक्त-प्रकारकं तासां रात्रौ तेन सह कृतक्रीड़ानां समक्षं साक्षान्माता मुहुराह—तत्र श्रीनन्दगृहे। भयं कदाचिच्छ्रीयशोदया तत्त्वतो बुद्ध्येतेत्याशङ्कया; हासश्च तदीयमौग्ध्यवचनश्रवणात्, लज्जा च तत्तदङ्गेषु तत्तच्चिह्नदर्शनात्, तासामाविर्भावस्य मुद्रया भङ्ग्या चिह्नेन वा विलसन्ति मुखानि यासां तासाम्॥१५५॥

भावानुवाद—अतएव 'यशोदा'—इसके श्लेष अर्थ द्वारा यह बोध होता है कि वे केवल पुत्रको ही यश दान करती हैं अथवा उसके यशका वर्णन करती हैं। इस प्रकार माता श्रीयशोदाके उक्त वचनोंको श्रवण करके श्रीनन्दभवनमें एकत्रित गोपियोंका मुखमण्डल, भयके उदित होनेसे अर्थात् कहीं श्रीयशोदाजी हमारे साथ श्रीकृष्ण द्वारा रात्रिमें किया गया विलास आदिके विषयमें जान न जायें—इस आशङ्कासे, माताकी मुग्धताको देखकर हास्य उत्पन्न होनेसे तथा श्रीकृष्णके अङ्गोंमें दिखाई देनेवाले रति-चिह्नोंको देखकर लज्जावशतः, एक ही साथ उदित भय-हास्य-लज्जाकी अपूर्व भङ्गिमा द्वारा विभूषित हो रहे थे॥१५५॥

ततोऽसौ स्वापलीलाया विरतः स्नापितस्तया।
भूषणैर्भूषितः साकं बलरामेण भोजितः॥१५६॥

श्लोकानुवाद—इसके पश्चात् श्रीकृष्ण जग गये। तब माता श्रीयशोदाने श्रीबलरामके साथ उन्हें स्नान करवाया तथा अनेक प्रकारके आभूषणोंसे भूषित करके उन्हें भोजन करवाया॥१५६॥

दिग्दर्शिनी टीका—असौ श्रीकृष्णः। तया यशोदया बलरामसहितो भोजितश्च तयैव॥१५६॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥१५६॥

विश्रमय्य क्षणं तञ्च गोपीनां सुखवार्त्तया।
वने शुभप्रयाणाय तस्य कृत्यानि साऽकरोत्॥१५७॥

श्लोकानुवाद—तत्पश्चात् श्रीकृष्णने गोपियोंसे सुखपूर्वक बातचीत करते हुए थोड़ी देर विश्राम किया। उधर माता श्रीयशोदा अपने पुत्रके शुभ वन-प्रस्थानके लिए मङ्गल कार्योंकी व्यवस्था करने लगीं॥१५७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तं श्रीकृष्णम्; तस्य श्रीकृष्णस्य वने शुभप्रयाणार्थम्; कृत्यानि कर्त्तुं योग्यानि; सा श्रीयशोदा॥१५७॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥१५७॥

तासामप्यन्तरार्त्तानां भाविविच्छेदचिन्तया।
दिव्यमङ्गलगीतेन पूर्णकुम्भादिकं न्यधात्॥१५८॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि गोपियाँ श्रीकृष्णके भावी विरहकी आशङ्कासे व्याकुल थीं, तथापि उनके शुभ वन-प्रस्थानके लिए दिव्य मङ्गलगीत गाते हुए उन्होंने पूर्ण कलशोंको स्थापित किया॥१५८॥

दिग्दर्शिनी टीका—कृत्यान्येवाह—तासामिति त्रिभिः। गोपीनां भाविनः वनप्रयाणेन भविष्यतः विच्छेदस्य चिन्तया अनुसन्धानेन अन्तर्मनसि आर्त्तानां दुःखितानामिति गानेऽशक्तिरुक्ता। तथापि दिव्यमङ्गलगीतेन यात्रा-मङ्गलार्थं तस्यावश्यकत्वादितिभावः। आदिशब्देन दध्यक्षत-पुष्पलाजादि-मङ्गलद्रव्यम्। न्यधात् स्थाने स्थाने न्यस्तवती॥१५८॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णके शुभ वन-प्रस्थानके लिए किए जानेवाले मङ्गल कार्योंका 'तासाम्' इत्यादि तीन श्लोकोंमें वर्णन कर रहे हैं। श्रीकृष्णके वन जानेके भावी विरहकी चिन्तासे गोपियाँ मन-ही-मन अत्यन्त दुःखी थीं तथा उनमें गीत गानेकी भी शक्ति नहीं थी, तथापि मङ्गल यात्राके लिए कृत्य करना आवश्यक है, इसलिए वे मङ्गलगीत गान करते-करते स्थान-स्थानपर पूर्ण कलशों सहित दही, चावल, पुष्प, लाज आदि माङ्गलिक द्रव्योंको स्थापित करने लगीं॥१५८॥

निवेश्य साग्रजं पुत्रं पीठेऽरण्योचितानि सा।
पर्यधापयदङ्गेषु भूषणान्यौषधानि च॥१५९॥

श्लोकानुवाद—इसके बाद माताने श्रीकृष्ण तथा श्रीबलरामको एक चौकीपर बैठाकर वनके उपयुक्त शृङ्गार किया तथा कष्ट निवारक अनेक प्रकारकी औषधियोंको उनके अङ्गोंमें बाँध दिया॥१५९॥

दिग्दर्शिनी टीका—साग्रजं श्रीबलरामसहितम्; पीठे एकस्मिन्नेव, स्नेहेन द्वयोरभेदमननात्। अङ्गेषु तयोर्गात्रेषु; औषधानि गारुड़मणि-व्याघ्रनखाभिमन्त्रितरक्षाड़ोर-विशल्यकरणीप्रभृतीनि॥१५९॥

भावानुवाद—फिर माताने अग्रज श्रीबलराम सहित श्रीकृष्णको एक ही चौकीपर बैठाया। इसके द्वारा माताका दोनोंके प्रति समान स्नेह होनेके कारण दोनोंको अभेद समझना सूचित हुआ है। फिर उनके अङ्गोंपर वन जानेके समयके उचित गरुड़मणि, सिंहके नख, मन्त्रजप

द्वारा बनी रक्षा-डोर, कष्ट निवारक अनेक प्रकारकी औषधियोंको बाँध दिया॥१५९॥

प्रयोज्य वृद्धविप्राभिरन्याभिश्च शुभाशिषः।
बलाद्यात्राविधिं तेन सर्वं सा समपादयत्॥१६०॥

श्लोकानुवाद—तदुपरान्त वृद्धा ब्राह्मणियों तथा वृद्धा गोपियों द्वारा उन दोनोंको आशीर्वाद दिलवाया तथा फिर दोनों पुत्रोंके द्वारा ही बलपूर्वक यात्रा-विधिका सम्पूर्ण अनुष्ठान करवाया॥१६०॥

दिग्दर्शिनी टीका—अन्याभिः वृद्धगोपीभिः। तेन पुत्रेण द्वारेण यात्राविधिं स्वरविज्ञानाद्यर्थं तदीय-श्रीहस्ताङ्गुलिभिस्तदीयनासाग्रधारणादिलक्षणं सर्वं बलात्तस्या-निच्छयापि सम्पादितवती॥१६०॥

भावानुवाद—दोनों पुत्रोंके द्वारा यात्रा-विधिका सम्पूर्ण अनुष्ठान करवाया। अर्थात् उनकी इच्छा न होनेपर भी बलपूर्वक स्वर विज्ञानके लिए उनके हाथोंकी अङ्गुलियों द्वारा उनके नाकके अग्र भागको पकड़ना तथा हाथोंकी अङ्गुलियोंको छटकना आदि लक्षणसे युक्त यात्रा-विधिका अनुष्ठान करवाया॥१६०॥

भोग्यं माध्याह्निकं मात्रार्पितमादाय किञ्चन।
तथाप्यगाः पुरः कुर्वन् प्रस्थितो वेणुमीरयन्॥१६१॥

श्लोकानुवाद—तब श्रीकृष्ण माता द्वारा प्रदानकी गयी दोपहरके भोजनकी सामग्रीको श्रीदामके हाथोंमें देकर स्वयं वेणुवादन करते हुए गौओंके साथ आगे चल दिये॥१६१॥

दिग्दर्शिनी टीका—मात्रा अर्पितं शिक्यादिना निबध्य श्रीहस्ते न्यस्तं गृहीत्वा। यद्वा, श्रीदामादिहस्तेऽर्पितं स्वीकृत्य गाः तद्विश्रामार्थमासीनाः सतीरुत्थाप्य पुरः कुर्वन् अग्रे चालयन् तत्प्रकारमाह—वेणुम् ईरयन् वादयन् वेणुसङ्केतादिनेत्यर्थः॥१६१॥

भावानुवाद—माता द्वारा प्रदत्त छींकेसे बँधी हुई दोपहरकी भोजन साम्रगीको श्रीकृष्णने अपने हाथसे ग्रहणकर श्रीदामके हाथोंमें दे दिया। फिर उन समस्त गौओंको जो श्रीकृष्णके आगमनकी प्रतीक्षा हेतु विश्राम कर रही थीं, वेणुके सङ्केत द्वारा उठवाकर आगे चलवाया

तथा स्वयं श्रीकृष्णने भी वेणुवादन करते-करते सभी गौओंके साथ प्रस्थान किया॥१६१॥

तावत् सहचराः सर्वे तस्याभ्यर्णे समागताः।
निर्गत्य वर्गशो घोषात्तत्सख्योचिततां गताः॥१६२॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णके साथ सख्यपूर्ण व्यवहारमें प्रवीण ग्वालबाल अपने-अपने भोजनकी सामग्रियोंको लेकर अपने घरोंसे मण्डलियोंमें निकल आये और श्रीकृष्णसे आ मिले॥१६२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तावदिति तत्क्षण एवेत्यर्थः। इति तेषां तदेकापेक्ष्यतोक्ता, सहचरा गोपकुमाराः; तस्य श्रीकृष्णस्य; सम्यक् स्वस्वभोज्यादिग्रहणपूर्वकमागताः। घोषात् निजनिजावासान्निर्गत्य; वर्गश इति स्वस्व-सम्प्रदायभेदेन, तत्र च बाहुल्येनेत्यर्थः। ननु ते कीदृशाः? इत्यपेक्षायामाह—तस्य कृष्णस्य एव सख्ये सखित्वे विषये उचिततां योग्यतां प्राप्ता इति सर्वथा तत्सदृशा इत्यर्थः॥१६२॥

भावानुवाद—तब तक जो साथी ग्वालबाल श्रीकृष्णके आगमनकी प्रतिक्षा कर रहे थे, वे अपने-अपने भोजनकी सामग्री लेकर अपने घरोंसे मण्डलियोंमें अर्थात् बहुत अधिक सखा होनेके कारण अपने-अपने भावके अनुसार विभक्त होकर श्रीकृष्णके साथ आ मिले। यदि कहो कि वे सखा कैसे थे? इसकी अपेक्षासे कह रहे हैं कि वे श्रीकृष्णके सखा होने योग्य थे तथा वेश-भूषा आदि विषयोंमें भी सब प्रकारसे श्रीकृष्ण जैसे ही थे॥१६२॥

कदाचित्तैः समं वंशीः श‍ृङ्गाणि च कदापि सः।
कदाचित् पत्रवाद्यानि बहुधा वादयन् वभौ॥१६३॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्ण भी उन सखाओंके साथ कभी वंशी, कभी श‍ृङ्ग, कभी-कभी दर्भ (कुश) के पत्तोंसे बने हुए वाद्य, यन्त्र आदिको बजाते हए सुशोभित हो रहे थे॥१६३॥

दिग्दर्शिनी टीका—स श्रीकृष्णः; पत्रवाद्यानि दर्भपत्रादि-रचितवाद्यभाण्डानि। वभौ अशोभत॥१६३॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥१६३॥

समं भ्रात्राऽवतस्थेऽसावात्तक्रीड़ापरिच्छदैः।
गायद्भिस्तैश्च नृत्यद्भिः स्तुवद्भिस्तं प्रहर्षतः॥१६४॥

श्लोकानुवाद—भ्राता श्रीबलराम सहित अवस्थित श्रीकृष्ण उन सखाओंको नाना प्रकारकी क्रीड़ा-उपकरणोंसे युक्त तथा नृत्य, गान और स्तुति आदि करते हुए देखकर बहुत प्रसन्न हो रहे थे॥१६४॥

दिग्दर्शिनी टीका—भ्रात्रा श्रीबलरामेण सहितः। आत्ता गृहीताः परिच्छदाः ध्वज-चामर-छत्र-पादुका-व्यजनासन-भोग्य-पेय-कन्दुक-ताल-मृदङ्गादीनि विचित्रक्रीड़ा-साधनादि यैस्तैः। प्रकृष्टहर्षत इति वनगमनेन स्वच्छन्दसहक्रीड़ा-सुखसम्पत्तेः॥१६४॥

भावानुवाद—श्रीकृष्ण भ्राता श्रीबलराम तथा सखाओंके साथ वनकी ओर चल दिये। उन सखाओंमेंसे कोई ध्वजा, कोई चामर, कोई छत्र, कोई पादुका, कोई व्यजन (पँखा), कोई भोजनपात्र, कोई भोजन सामग्री, कोई स्वादिष्ट पेय, कोई गेंद, कोई करताल, कोई मृदङ्ग इत्यादि अनेक लीलाओंकी सामग्री लेकर मङ्गलगीत गान करते-करते जा रहे थे। वनके स्वच्छन्द विहार-सुखकी उत्कण्ठामें श्रीकृष्ण अत्यन्त आनन्दित हो रहे थे॥१६४॥

अग्रे ज्यायानहं पृष्ठे ताश्चानुव्रजनच्छलात्।
आकृष्टाः प्रेमपाशेन प्रस्थिता विरहासहाः॥१६५॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णके आगे श्रीबलदेव तथा पीछे मैं चल रहा था। श्रीकृष्णके विरहको सहन न कर पानेके कारण उनके प्रेमके पाशमें आबद्ध होकर गोपियाँ भी पीछे-पीछे ही आ रहीं थीं॥१६५॥

दिग्दर्शिनी टीका—प्रस्थानप्रकारमाह—अग्र इति। ज्यायान् श्रीबलदेवः, अहं सरूपः। तास्तदेकप्रेष्ठत्वेन प्रसिद्धा गोप्यः व्यक्तं तासामनुक्तिस्तदानीन्तन-तद्भावविशेष-स्मरणेन भावविशेषोदयवैवश्यात्। ननु व्याजेनापि दिने जनतान्तः कथं तासां प्रस्थानं युज्यते? तत्राह—आकृष्टा इति। किञ्च, विरहं तद्विच्छेददुःखं न सहन्ते न सोढुं शक्नुवन्तीति तथा ताः॥१६५॥

भावानुवाद—अब श्रीकृष्णके गोचारणके लिए प्रस्थान करनेकी विशेषताका वर्णन 'अग्रे' इत्यादि श्लोक द्वारा कर रहे हैं। श्रीकृष्णके आगे ज्येष्ठ श्रीबलराम तथा पीछे मैं (सरूप) चल रहा था। तथा जो

श्रीकृष्णकी प्रियतमा होनेके कारण प्रसिद्ध हैं, वे गोपियाँ भी किसी छलसे उनके पीछे-पीछे चल रहीं थीं। उन गोपियोंका नाम स्पष्ट रूपसे उल्लेख न करनेका कारण यह है कि उस समय श्रीकृष्णके किसी विशेष भावका स्मरण होनेसे श्रीसरूप प्रेमसे विवश हो गये। यदि आपत्ति हो कि वे व्रजाङ्गनाएँ कोई बहाना बनाकर भी किस प्रकार दिनमें सभीके सामने उनके पीछे-पीछे आ रहीं थीं? इसीके लिए 'आकृष्टा' इत्यादि पद कह रहे हैं। श्रीकृष्ण द्वारा आकर्षित होकर अर्थात् प्रेमपाशमें आबद्ध होनेके कारण गोपियाँ श्रीकृष्णका विरह दुःख सहनेमें असमर्थ होकर उनके साथ-साथ चलने लगीं॥१६५॥

भावेन केनचित् स्विन्नं पुत्रस्योद्वीक्ष्य सा मुखम्।
सम्मार्ज्य प्रस्नुवत्स्तन्या बहिर्द्वारान्तमन्वगात्॥१६६॥

श्लोकानुवाद—माता श्रीयशोदाने जब किसी एक भावके प्रभावसे पुत्रके मुखकमलपर कुछ पसीना आया देखा, तब हाथ द्वारा उसे पोंछनेपर उनके स्तनोंसे दूधकी धारा बहने लगी। इस प्रकार स्नेहसे व्याकुल होकर माता बाहरी द्वार तक पुत्रके पीछे-पीछे आयीं॥१६६॥

दिग्दर्शिनी टीका—केनचिद्गोपी-निरीक्षणादिकामजेन इत्यर्थः। तस्य स्पष्टमनुक्तिः सुगोप्यत्वात्। सा श्रीयशोदा। सम्यङ्मार्जयित्वा आदौ हस्तेन पश्चाच्च वस्त्राञ्चलादिनेति ज्ञेयम्। प्रस्नुवत् स्तन्यं स्तनाभ्यां क्षीरं यस्याः सा। वनान्तःप्रयाणेन स्नेहभरोदयात् स्वभावत एव वा। बहिर्द्वारान्तं व्रजस्य बाह्यद्वारपर्यन्तमन्वगात् पुत्रमनुवव्राज॥१६६॥

भावानुवाद—किसी गोपीके दृष्टिपातसे उदित प्रेमके प्रभावसे (यहाँ अत्यन्त गोपनीय होनेके कारण उस गोपीका स्पष्ट रूपसे उल्लेख नहीं किया गया है) पुत्रके मुखपर कुछ पसीना आया देखकर माता श्रीयशोदाने पहले अपने हाथ द्वारा और फिर अपने आँचलसे पसीनेको पूर्ण रूपसे पोंछ दिया। श्रीकृष्णके वन जानेका समय उपस्थित होनेसे स्नेह उमड़नेके कारण स्वाभाविक रूपसे माताके स्तनोंसे दूधकी धारा बह रही थी। तत्पश्चात् स्नेहसे व्याकुल माता व्रजके बाहरी द्वार तक पुत्रके पीछे-पीछे आयीं॥१६६॥

तेनोक्तापि गृहं यान्ती ग्रीवामुद्वर्त्तयन्त्यहो।
पदान्यतीत्य द्वित्राणि पुनर्व्यग्रा ययौ सुतम्॥१६७॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्ण द्वारा निषेध किये जानेपर भी वे दो–तीन कदम पीछे चलकर रुक गयीं और मुड़–मुड़कर उन्हें देखने लगीं। पुनः पुत्र–स्नेहमें व्याकुल होकर पुत्रके निकट आ गयीं॥१६७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च तेन पुत्रेण गृहगमनायोक्ता सती गृहं यान्त्यपि। अहो विस्मये खेदे वा। व्यग्रा पुत्रविच्छेदेन व्याकुला सती। यद्वा, स्नेहभरोदयेना समापितं कृत्यं किञ्चित् स्मृत्वैव सम्भ्रान्ता सती सुतं तं पुनराययौ तत्पार्श्वमागता॥१६७॥

भावानुवाद—तब पुत्र श्रीकृष्ण द्वारा घर जानेके लिए कहे जानेपर माता श्रीयशोदा घरको जाने लगीं। किन्तु, अहो! (विस्मय अथवा दुःखवशतः) पुत्र विच्छेदसे व्याकुल होकर अथवा प्रचुर स्नेहके उदित होनेके कारण मङ्गलकृत्योंके समाप्त होनेपर भी कुछ कृत्योंका स्मरणकर घबड़ाकर पुनः पुत्रके निकट आ पहुँचीं॥१६७॥

उपस्कृत्यास्य ताम्बूलं मुखे हस्ते समर्प्य च।
पुनर्निवृत्य प्राग्वत् सा तं वेगैराययौ पुनः॥१६८॥

श्लोकानुवाद—फिर श्रीकृष्णके मुख तथा हाथमें सजा हुआ ताम्बूल देकर लौट गयीं और पहलेकी तरह मुड़–मुड़कर उन्हें देखने लगीं। किन्तु पुनः वे भागकर पुत्रके पास लौट आयीं॥१६८॥

दिग्दर्शिनी टीका—अस्य सुतस्य मुखे हस्ते च समर्प्य; प्राग्वदिति ग्रीवोद्व–र्त्तनादिकमतिदिशति। एवमग्रेऽपि॥१६८॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णके मुख और हाथमें ताम्बुल देकर लौट आयीं तथा पहलेकी भाँति गर्दन मोड़–मोड़कर उनकी ओर देखने लगीं। माता श्रीयशोदाने इसी प्रकारसे बहुत बार आना–जाना किया॥१६८॥

मिष्टं फलादिकं किञ्चिद्भोजयित्वा सुतं पथि।
पाययित्वा च गेहाय यान्ती प्राग्वन्न्यवर्त्तत॥१६९॥

श्लोकानुवाद—इस बार पथमें ही चलते-चलते उन्हें कुछ मीठे फल खिलाकर तथा फलोंका रस पिलाकर घरकी ओर लौट आयीं। किन्तु फिरसे लौटकर पुत्रके निकट उपस्थित हुईं॥१६९॥

दिग्दर्शिनी टीका—पथीति वर्त्ममध्ये गच्छन्तमपीत्यर्थः। पाययित्वा च किञ्चित्॥१६९॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥१६९॥

मुहुर्निरीक्ष्य वस्त्रादि सन्निवेश्य सुतस्य सा।
पुनर्निवृत्याथागत्य दीना पुत्रमशिक्षयत्॥१७०॥

श्लोकानुवाद—इस बार माता पुत्रके वस्त्र और भूषण आदिकी देख-भाल करते हुए उन्हें ठीक करने लगीं। तत्पश्चात् घर लौटते-लौटते पुनः पुत्रके पास चली आयीं तथा दुःखित होकर श्रीकृष्णको इस प्रकार शिक्षा देने लगीं॥१७०॥

दिग्दर्शिनी टीका—आदि-शब्दाद्भूषणादि; दीना दुःखिता सती पुत्रचाञ्चल्या-नुसन्धानेन। यद्वा, निजशिक्षाग्राहणाय, यद्वा, स्नेहभरस्वभावेन सदैवार्त्ता॥१७०॥

भावानुवाद—माता श्रीयशोदा पुत्र श्रीकृष्णकी चञ्चलताको स्मरणकर दुःखित थी, अथवा अपने द्वारा दी गयी शिक्षाको पुत्र द्वारा ग्रहण न करनेके कारण, अथवा प्रचुर स्नेहके स्वभाववशतः सदा दुःखित थीं॥१७०॥

भो वत्स दुर्गमेऽरण्ये न गन्तव्यं विदूरतः।
सकण्टकवनान्तश्च प्रवेष्टव्यं कदापि न॥१७१॥

तदर्थञ्चात्मशपथं माता विस्तार्य काकुभिः।
पुनर्निवृत्य कतिचित् पदानि पुनराययौ॥१७२॥

श्लोकानुवाद—हे वत्स! किसी दुर्गम वनमें अधिक दूर नहीं जाना तथा काँटोंवाले वनमें तो कभी भी नहीं जाना। इस बातको माननेके लिए माताने अनेक प्रकारके दीन वचनों द्वारा पुत्रको अपनी शपथ दिलवायी और तत्पश्चात् घरकी ओर कुछ कदम चलकर ही वे पुनः लौट आयीं॥१७१-१७२॥

दिग्दर्शिनी टीका—शिक्षणमेवाह—भो इति, विदूरत इति। यदि वा कथञ्चिद्दुर्गमे गम्यते, तथापि अतिदूरे न गन्तव्यमेवेत्यर्थः। सकण्टकेति निकटेऽपि कण्टकयुक्तवनमध्ये नैव प्रवेष्टव्यमित्यर्थः ॥१७१-१७२॥

भावानुवाद—माता श्रीयशोदाने पुत्रको जो शिक्षा दी, उसे 'भो' इत्यादि श्लोक द्वारा बतला रहे हैं। हे वत्स! यदि किसी दुर्गम वनमें जाओ भी, तो बहुत दूर मत जाना। काँटोवाले वनमें तो बिलकुल मत जाना॥१७१-१७२॥

भोस्तात राम स्थातव्यं भवताग्रेऽनुजस्य हि।
त्वया च सख्युः श्रीदामन् स-सरूपेण पृष्ठतः॥१७३॥
अंशोऽस्य दक्षिणे स्थेयं वामे च सुबल त्वया।
इत्यादिकमसौ प्रार्थ्य सतृणं पुत्रमैक्षत॥१७४॥

श्लोकानुवाद—हे तात बलराम! तुम सदैव अपने छोटे भाईके आगे ही रहना। हे श्रीदाम! तुम सरूपके साथ अपने सखाके पीछे-पीछे रहना। हे अंशुमान! तुम दायीं ओर, तथा हे सुबल! तुम बायीं ओर रहना। इस प्रकार माता दाँतोंमें तिनका लेकर बार-बार प्रार्थना करते हुए पुत्रकी ओर देखने लगीं॥१७३-१७४॥

दिग्दर्शिनी टीका—अनुजस्य कृष्णस्याग्रे; हीत्यनेन ज्येष्ठतया तद्योग्यतां बोधयति। सरूपसहितेन त्वया सख्युः कृष्णस्य पृष्ठतः पश्चात् स्थातव्यम्। यद्यपि तथैव तैर्गच्छद्भिः स्थीयते, तथापि नियमेन तथावस्थानाय व्यग्रतया तथोक्तम्। अनुजस्येति सख्युरित्यनेन च स्नेहविशेषं जनयति। सख्युरित्यग्रेऽप्यनुवर्त्तनीयम्। हे अंशो अस्य कृष्णस्य दक्षिणे पार्श्वे स्थेयम्; हे सुबल त्वया च वामे पार्श्वे स्थेयम्; आदिशब्देन सभयस्थाने च गच्छन्नयं बलान्निवार्यः; आतपादौ छायादिकं कार्यम्; भोजनपानसमये च भोजनादिकं प्रयत्नतः कारयितव्यमित्यादि। सतृणं दशनैस्तृणानि गृहीत्वा, प्रार्थ्य तेषु प्रार्थनं कृत्वा, असौ श्रीयशोदा पुत्रं श्रीकृष्णम् ऐक्षत स्वप्रार्थनास्वीकारायावलोकयामास। सतृणमित्यस्यात्रैव वान्वयः। यद्वा, गृहाय निरस्यन्ती स्नेहभरोदयेनैवैक्षत॥१७३-१७४॥

भावानुवाद—हे तात बलराम! तुम छोटे भाई कृष्णके आगे ही रहना। यहाँपर 'हि' शब्दसे श्रीबलरामके श्रीकृष्णसे बड़े होनेके कारण उनमें आगे जानेकी योग्यता सूचित हो रही है। हे श्रीदाम! सरूपके

साथ तुम अपने सखाके पीछे रहना। यद्यपि वे सब वहाँपर स्वतः ही उसी प्रकारसे गमन कर रहे थे, तथापि माताने सदा ही इस प्रकार अवस्थित रहनेके लिए व्याकुलताके कारण ऐसा कहा। श्रीकृष्णके प्रति विशेष स्नेह उत्पन्न करनेके उद्देश्यसे माता "अनुज और सखा" कह रही हैं। इस सख्य भावका परिचय आगे वर्णन किया जायेगा। हे अंशुमान! तुम कृष्णके दायीं ओर तथा हे सुबल! तुम बायीं ओर रहना। 'आदि' शब्दका तात्पर्य यह है कि यदि कृष्ण काँटोंवाले वन और गम्भीर स्थानोंपर जानेकी चेष्टा करें, तो तुम बलपूर्वक उन्हें लौटा लाना, धूप आदिसे रक्षा करना, अर्थात् छायाका कार्य करना तथा भोजनके समय यत्नपूर्वक भोजन कराना। फिर दाँतोंमें तिनका लेकर बार-बार उन सभीसे प्रार्थना करके श्रीयशोदाजी अपने पुत्र श्रीकृष्णकी ओर देखने लगीं। पुत्रकी ओर देखनेका उद्देश्य यह था कि पुत्र भी मेरी प्रार्थनाको स्वीकार करें। अथवा घर लौटते समय स्नेह उमड़नेके कारण पुत्रकी ओर देखने लगीं॥१७३-१७४॥

एवं व्यग्रधिया यातायातं सा कुर्वती मुहुः।
नवप्रसूतामजयत् सुरभिं वरवत्सलाम्॥१७५॥

श्लोकानुवाद—माता श्रीयशोदाका स्नेह नव-प्रसूता गायसे भी अधिक था। वह अपने पुत्रके स्नेहसे व्याकुल होकर बार-बार जातीं और लौट आतीं॥१७५॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमिति अनुक्तमन्यदपि संगृह्णाति, तच्चातिविस्तरभयेनाशक्त्या वा विस्तार्य नोक्तमिति ज्ञेयम्; तच्चाग्रे व्यक्तं भावि। मुहुर्यातायातं गमनागमने कुर्वतीत्यत्र हेतुः—व्यग्रा स्नेहभरेण व्याकुला या धीस्तया इति तेन सह प्रयातुं तं परित्यक्तुञ्चाशक्तेरित्यर्थः। सुरभिं गाम् अजयत् वात्सल्यविशेषेणातिशयितवतीत्यर्थः। वरवत्सलां परमस्निग्धामिति कदाचित् कस्याश्चित्तादृशस्नेहाभावेन तत्परिहारार्थम्॥१७५॥

भावानुवाद—इस प्रकार स्नेहसे व्याकुल माताके व्यवहारके सम्बन्धमें और जो कुछ वर्णन नहीं किया गया, उसको भी समझना चाहिये। अथवा उस व्यवहारके अत्यन्त विपुल होनेके भयसे असमर्थ होकर विस्तारसे उनकी अवस्थाका वर्णन नहीं किया जा रहा है—ऐसा समझना होगा और उस व्यवहारकी विपुलता आगे व्यक्त हो जायेगी।

माताके द्वारा बार-बार पुत्रके पास आने और फिर लौट जानेका कारण यह था कि वे प्रचुर स्नेहवशतः व्याकुल हो रही थीं। अर्थात् पुत्रके साथ वनमें भी नहीं जा सकतीं थीं और पुत्रको छोड़कर घर लौट जानेमें भी असमर्थ थीं। इस प्रकार वात्सल्यके विषयमें उन्होंने नव-प्रसूता सुरभी गायको भी जय कर लिया था। 'वर वत्सला' कहनेका उद्देश्य यह है कि कोई भी कदापि माता श्रीयशोदाके समान परमस्निग्ध वात्सल्यभाव अर्थात् प्रचुर स्नेहसे युक्त हो ही नहीं सकता॥१७५॥

तां सपादग्रहं नत्वाश्लिष्य पुत्रः प्रयत्नतः।
विविधच्छलतः स्वीयशपथैश्च न्यवर्त्तयत्॥१७६॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णने उनके चरण छूकर उन्हें प्रणाम और उनका आलिङ्गन किया। फिर यत्नपूर्वक विविध प्रकारके छलसे तथा अपनी शपथ देकर माताको वापस घर लौटाया॥१७६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तां श्रीयशोदाम्; पुत्रः श्रीकृष्णः। इति तद्वचनादराय स्नेहो दर्शितः। विविधैश्छलैर्निजभोगादिसाधनगृहकृत्यव्याजैः। तथाप्यनिवर्तमानां निजशपथैश्च निवर्तयामास॥१७६॥

भावानुवाद—माता श्रीयशोदाके वचनोंमें आदर रहनेके कारण उनके चरण छूकर प्रणाम तथा आलिङ्गन द्वारा श्रीकृष्णका माताके प्रति स्नेह प्रदर्शित हुआ है। विविध प्रकारके छल अर्थात् अपनी भोजन-सामग्री आदि तैयार करनेके लिए उन्हें घरके कार्योंके विषयमें स्मरण कराया। तब भी माताको लौटता हुआ नहीं देखकर अपनी शपथ प्रदान करके उन्हें वापस घर लौटाया॥१७६॥

तस्थौ तत्रैव सा दूरात् पश्यन्ती तं वनान्तिके।
चित्रितेव स्नुतस्तन्या सास्रोत्तुङ्गस्थलोपरि॥१७७॥

श्लोकानुवाद—माता श्रीयशोदा बहुत देर तक वहीं खड़ी रहीं और फिर एक ऊँचे टीलेपर चढ़कर श्रीकृष्णकी ओर तब तक देखती रहीं जब तक वे वनके निकट नहीं पहुँच गये। उस समय उनके स्तनोंसे दूध टपक रहा था तथा आँखोंसे अश्रु बह रहे थे॥१७७॥

दिग्दर्शिनी टीका—यत्र न्यवर्त्तयत्तत्रैव वनान्तिके यदुत्तुङ्गस्थलं तदुपरि तस्थौ सास्रं रुदतीत्यर्थः॥१७७॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥१७७॥

श्रीगोप्यस्त्वनुगच्छन्त्यो बाष्पसंरुद्धकण्ठिकाः।
गानाशक्ताः स्खलत्पादा अश्रुधारास्तदृष्टयः॥१७८॥
कर्त्तुं वक्तुञ्च ताः किञ्चिदशक्ता लज्जया भिया।
महाशोकार्णवे मग्नास्तत्प्रतीकरणेऽक्षमाः॥१७९॥

श्लोकानुवाद—जो गोपियाँ श्रीकृष्णके पीछे-पीछे चल रही थीं, भावी विच्छेदके दुःखसे उनका कण्ठ भर आया और वे गीत गानेमें भी असमर्थ हो गयीं। उनके चरण इधर-उधर डगमगाने लगे तथा अश्रु-धाराओंसे उनकी दृष्टि रुद्ध-सी हो गयी, परन्तु भय और लज्जाके कारण न तो वे कुछ कह सकती थीं और न ही कुछ कर सकती थीं। इस प्रकार विरह-दुःखका निवारण करनेमें असमर्थ होनेके कारण वे गोपियाँ महाशोकरूपी सागरमें निमग्न हो गयीं॥१७८-१७९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तु-शब्दो भिन्नोपक्रमे पूर्वतो विशेषाय; अनुगच्छन्तः तमनुव्रजन्त एव। अश्रुधारयास्तदृष्टयश्च बभूवुः। द्वाभ्यां वान्वयः। ततश्च तास्तदेकप्रियाः सर्वसद्गुणालङ्कृता वा। लज्जया स्वाभाविक्यैव, भिया च गुरुजनादेः तस्मादेव वा; यद्वा, गुरुजनादिलज्जया या भीस्तया। तस्य शोकस्य प्रतिकरणे प्रतिकारे अक्षमा अशक्ताः। तत्र हेतुः—किञ्चिदालिङ्गनादिकं कर्त्तुम्; अप्यर्थे चकारः। किञ्चित् कथमस्माभिर्जीवितव्यमित्यादिकं वक्तुमप्यशक्ताः। *"निवेद्य दुःखं सुखिनो भवन्ति"* इत्यादिन्यायतस्तेनापि तच्छोकप्रतिकारः सम्भवेत्तदभावाच्च महाशोकार्णवे मग्ना एवेत्यर्थः॥१७८-१७९॥

भावानुवाद—यहाँपर 'तु' शब्दके प्रयोग द्वारा भिन्न उपक्रमसे पहलेसे भी अधिक विशेषता सहित गोपियोंकी अवस्थाका वर्णन कर रहे हैं। जो व्रजसुन्दिरयाँ श्रीकृष्णका अनुगमन कर रही थीं, भावी विरहके शोकसे उनका कण्ठ भर आया था, इसलिए वे स्वभाव सुलभ गान करनेमें भी असमर्थ हो रही थीं। अश्रुकी धाराओंसे उनकी दृष्टि रुद्ध-सी हो गयी थीं, इसलिए चलते समय उनके चरण डग-मगा रहे थे। समस्त प्रकारके सद्‌गुणोंसे अलंकृत श्रीकृष्णकी वे प्रियाएँ

स्वाभाविक लज्जावशतः अथवा गुरुजनोंके प्रति लज्जावशतः अपने शोकादिको दूर करनेमें असमर्थ थीं। इसका कारण था कि वे श्रीकृष्णका आलिङ्गन आदि कुछ भी करने अथवा "आपके विरहमें हम किस प्रकार जीवित रहेंगी?" इत्यादि कुछ भी कहनेमें असमर्थ थीं। "निवेद्य दुःखं सुखिनो भवन्ति" अर्थात् अपने बन्धुको दुःख बतलानेसे दुःख हल्का हो जाता है—इस न्यायके अनुसार भी अपने दुःखको दूर करनेकी सम्भावनाके अभावमें शोकको दूर करनेमें असमर्थ होकर वे अबलाएँ महाशोकरूपी सागरमें निमग्न हो गयीं॥१७८–१७९॥

व्रजाद्बहिर्दूरतरं गतानां,
तदङ्गनानां हृदयेक्षणानि।
जहार यत्नेन निवर्त्तयंस्ता,
मुहुः परावृत्त्य निरीक्ष्यमाणाः॥१८०॥

श्लोकानुवाद—जो व्रजाङ्गनाएँ श्रीकृष्णका अनुगमन करते-करते व्रजसे बाहर बहुत दूर तक वनमें चली आयीं थीं, उनके हृदय और सतृष्ण नेत्रोंको श्रीकृष्णने हरण कर लिया था, इसलिए वे लौट नहीं पा रही थीं। श्रीकृष्ण द्वारा बहुत यत्नपूर्वक उन्हें वापस भेजनेपर भी वे बार-बार मुड़-मुड़कर उन्हें देख रहीं थीं॥१८०॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, व्रजादिति। अस्य व्रजस्य तासां वा महाशोकार्णव-मग्नानामङ्गनानाम् हृदयानीक्षणानि च जहार नितरामाचकर्ष। कथमित्यपेक्षायामाह—यत्नेनेति। ता व्रजाङ्गना निवर्त्तयन् निवर्त्तयितुम्॥१८०॥

भावानुवाद—तदुपरान्त कह रहे हैं कि यद्यपि महाशोकरूपी सागरमें निमग्न उन व्रजङ्गनाओंके हृदय और सतृष्ण नेत्रोंको श्रीकृष्णने हरण कर लिया, तथापि श्रीकृष्ण द्वारा उन व्रजाङ्गनाओंको बहुत यत्नपूर्वक वापस भेजनेपर भी वे बार-बार मुड़-मुड़कर उन्हें देख रहीं थीं॥१८०॥

व्यग्रात्मनाथ तेनेष्टदूतेन स्वयमेव च।
ग्रीवामुद्वर्त्त्य सप्रेमदृष्ट्याश्वासयता मुहुः॥१८१॥

भ्रूसङ्केतादिना लज्जाभये जनयता बलात्।
संस्तम्भितास्तास्तन्मातुरग्रे तद्वदवस्थिताः॥१८२॥

श्लोकानुवाद—तब श्रीकृष्णने स्वयं ही व्याकुलतावशतः अपनी गर्दन मोड़कर प्रेमदृष्टिसे उन्हें बार-बार आश्वासित किया तथा अपने प्रियदूत भ्रू-सङ्केतादि द्वारा उनके हृदयमें भय और लज्जा जाग्रतकर बलपूर्वक उन्हें आगे वनमें जानेसे रोक दिया। वे भी माता श्रीयशोदाकी भाँति दुःखसे स्तम्भित होकर माँके आगे ही उनकी भाँति किसी ऊँचे टीलेपर खड़ी हो गयीं॥१८१-१८२॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथ अनन्तरं दुर्गमवनान्तःप्रवेशकाल इत्यर्थः। व्यग्रात्मना व्याकुलचित्तेन सता, तेन श्रीकृष्णेन, बलात्ता व्रजाङ्गनाः सम्यक् स्तम्भिताः पश्चादागच्छन्त्यः स्थिरीकृताः सत्यः। तन्मातुः श्रीयशोदाया अग्रे पुरतः। तद्वत् तन्मातृवदिति तं दूरात् पश्यन्त्यश्चित्रिता इवोत्तुङ्गस्थलोपरि रुदत्यः अवतस्थिरे इत्यर्थः। कथम्भूतेन तेन? इष्टेन प्रियेण दूतेन तद्द्वारा वाचिकेन इत्यर्थः। तथा स्वयमेव ग्रीवामुद्वर्त्त्य परावर्त्त्य सप्रेमदृष्ट्या चाश्वासयता सान्त्वयता। किञ्च, भ्रूविक्षेप-सङ्केतेन आदि-शब्दाच्छिरोऽवधूनन-जिह्वाग्र-दशनादिना च लज्जां भयञ्च जनयता, आच्छन्ने सति प्रादुर्भावयता॥१८१-१८२॥

भावानुवाद—जब श्रीकृष्णने दुर्गम वनमें प्रवेश किया, उस समय उन्होंने स्वयं ही व्याकुल चित्तसे बार-बार व्रजाङ्गनाओंके प्रति प्रेमदृष्टि करके बलपूर्वक उन्हें वनमें आगे आनेसे रोक दिया। इसलिए पीछे आनेवाली वे व्रजाङ्गनाएँ दुःखपूर्वक वहीं स्थित होकर माता श्रीयशोदाके आगे उनके जैसे ही किसी ऊँचे टीलेपर खड़ी होकर अश्रुपूर्ण नयनों द्वारा चित्रवत् दूरसे देखने लगीं। उनका गमन कैसे थमा? श्रीकृष्णकी वाचिक भङ्गिस्वरूप प्रिय दूत द्वारा उनकी गति थम गयी। तथा वे स्वयं ही गर्दन मोड़कर बार-बार प्रेमपूर्ण दृष्टि द्वारा उन्हें आश्वासित करने लगे और भ्रू-सङ्केत आदि द्वारा उनके हृदयमें भय और लज्जाका सञ्चार करवाया। आदि शब्दसे सिरको हिलाना, दाँतों द्वारा जिह्वाके अग्र भागको दबाना इत्यादि समझना चाहिये॥१८१-१८२॥

बल्लवेन्द्रश्च सुस्निग्धः स्वत एव विशेषतः।
पत्नी-वात्सल्यदृष्ट्या च स्नेहोद्रेकेण यन्त्रितः॥१८३॥

सर्वव्रजजनस्नेहभरं पुत्रे विलोक्य तम्।
वृद्धैः सहानुयातोऽपि दूरं त्यक्तुं न चाशकत्॥१८४॥

श्लोकानुवाद—श्रीनन्दरायजीका चित्त स्वाभाविक रूपमें ही स्नेहसे कोमल है तथा विशेषकर अपनी पत्नी श्रीयशोदाजीके पुत्र-वात्सल्यको देखकर अत्यधिक स्नेहके उदित होनेके कारण वे स्तम्भित हो गये। पुत्रके प्रति सभी व्रजवासियोंका प्रचुर स्नेह देखकर वृद्ध उपानन्द आदिके साथ दूर तक आनेपर भी वे पुत्रको छोड़कर घर लौटनेमें समर्थ नहीं हो पाये॥१८३-१८४॥

दिग्दर्शिनी टीका—बल्लवेन्द्रः श्रीनन्दः इति सर्वैरेव व्रजजनैः पुरोहितादिभिश्च परिवृत इति ज्ञेयम्। स्वत एव सुस्निग्धः, स्वभावत एव स्नेहार्द्रचित्तः; किंवा पुत्रेऽत्यन्तस्नेहयुक्तः। विशेषतश्च पत्न्याः श्रीयशोदाया वात्सल्यस्य दृष्ट्या स्नेहस्य उद्रेकः आधिक्याविर्भावः तेन यन्त्रितः वशीकृतः सन्। वृद्धैरुपनन्दादिभिः सहितः तं पुत्रं दूरमनुषातोऽपि त्यक्तुं नाशकदिति द्वाभ्यामन्वयः। किञ्च, पुत्रे सर्वेषामेव व्रजजनानां श्रीगोपीप्रभृतिनां स्नेहभरं विलोक्येति त्यागाशक्तौ स्नेहोद्रेक एव वा हेतुः॥१८३-१८४॥

भावानुवाद—'बल्लवेन्द्र' शब्दसे यहाँ पुरोहित आदि समस्त व्रजवासियोंसे घिरे हुए गोपराज श्रीनन्दको समझना होगा। श्रीनन्द स्वतः ही स्निग्ध हैं अर्थात् उनका चित्त स्वाभाविक रूपसे ही स्नेहसे कोमल है अथवा पुत्रके प्रति अत्यन्त स्नेहयुक्त है। विशेषतः पत्नी श्रीयशोदाका पुत्र-वात्सल्य देखकर अत्यधिक स्नेह उमड़ आनेके कारण वे वशीभूत हो गये तथा वृद्ध उपानन्द आदिके साथ दूर तक श्रीकृष्णका अनुगमन करनेपर भी पुत्रको छोड़कर लौट आनेमें समर्थ नहीं हो सके। तदुपरान्त कह रहे हैं कि विशेषतः पुत्रके प्रति श्रीगोपी आदि सभी व्रजवासियोंका प्रचुर स्नेह देखकर स्नेह उमड़ आनेके कारण पुत्रको छोड़कर आनेमें समर्थ नहीं हुए॥१८३-१८४॥

शुभानि शकुनान्युच्चैः पश्वादीनाञ्च हृष्टताम्।
संलक्ष्यान्तःप्रहृष्टोऽपि पुत्रविच्छेदकातरः॥१८५॥

साग्रजं पृथगालिङ्ग्य युगपच्चात्मजं मुहुः।
शिरस्याघ्राय च स्नेहभरार्त्तोऽश्रूण्यवासृजत्॥१८६॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि श्रीनन्दमहाराज आकाशमें मङ्गल शकुनोंवाले पक्षियों तथा यहाँ-वहाँ भ्रमण कर रहे सभी पशुओंकी प्रसन्नताको लक्ष्यकर अन्दरसे प्रसन्न थे, तथापि पुत्रके विरहसे दुःखित होकर पहले तो उन्होंने दोनों पुत्रोंको अलग-अलग आलिङ्गन किया, फिर दोनोंको एक साथ बार-बार आलिङ्गन किया तथा बार-बार स्नेहपूर्ण हृदयसे उनके मस्तकको सूंघते-हुए अश्रु बहाने लगे॥१८५-१८६॥

दिग्दर्शिनी टीका—शुभानि शकुनानि सम्पूर्ण-मुख-काय-परिभ्रमणादीनि। पश्वादीनां रात्रिविरहेण दिवा वनप्रयाणे च हृष्टतां हर्षं संलक्ष्य इति अन्तःप्रहृष्टत्वे हेतुः। आदि-शब्देन वन्यमृग-खगादयः। तथापि पुत्रस्य विच्छेदेन कातरो दुःखितः सन् विवशो वा सन् साग्रजं श्रीबलराम-सहितम् आत्मजं श्रीकृष्णं पृथक् आदौ पृथक्त्वेन आलिङ्ग्य पश्चाद् युगपच्च बाहुभ्यां तौ द्वावेवैकदा गृहीत्वा आलिङ्ग्य। मुहुरिति सर्वत्रैव योज्यम्। अवासृजत् धारान्यायेन मुमोच। बहु रुरोदेत्यर्थः इति द्वाभ्यामन्वयः॥१८५-१८६॥

भावानुवाद—मुख और काया द्वारा समस्त शुभलक्षणोंको सूचित करनेवाले पक्षियोंको आकाशमें उड़ता देखकर तथा रात्रिमें विरह अनुभव करनेवाले गौ, वनके मृग, खरगोश आदि पशुओंमें भी श्रीकृष्ण द्वारा वनमें प्रस्थान करते समय उदित प्रसन्नताको लक्ष्यकर श्रीनन्द महाराज हृदयसे प्रसन्न हो गये। तथापि पुत्र वियोगसे दुःखित अथवा विवश होकर पहले अग्रज श्रीबलराम तथा अपने पुत्र श्रीकृष्णका अलग-अलग आलिङ्गन किया और फिर अपनी दोनों भुजाओंसे दोनों पुत्रोंका एक साथ बार-बार आलिङ्गन करते हुए बार-बार स्नेहपूर्ण हृदयसे पुत्रके मस्तकको सूँघते हुए अश्रु बहाने लगे अर्थात् बहुत अधिक रोने लगे॥१८५-१८६॥

अथ प्रणम्य पुत्रेण कृत्यं दर्शयता बहु।
प्रस्थापितः परावृत्त्य तमेवालोकयन् स्थितः॥१८७॥

श्लोकानुवाद—इसके पश्चात् श्रीकृष्ण-बलरामने पिताको प्रणाम करके अनेक प्रकारके कर्त्तव्योंका निर्देश करके उन्हें वापस लौटाया तथा श्रीनन्द महाराज भी बार-बार उन्हें मुड़-मुड़कर देखते हुए कुछ समय वहीं खड़े रहे॥१८७॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथ अनन्तरं बहु कृत्यमवश्यं कर्त्तव्यं स्वविषयकदैन्यादिभयतो व्रजजनाश्वासन-रक्षणादिकं, तथा अपराह्णे निजागमनसमये व्रजशोभापादनादिकञ्च कर्म दर्शयता बोधयता॥१८७॥

भावानुवाद—इसके पश्चात् श्रीकृष्णने दैन्यपूर्वक पिताको अनेक प्रकारके कार्यों अर्थात् व्रजवासियोंको आश्वासन और भयसे रक्षा इत्यादि कर्त्तव्योंके विषयमें स्मरण करवाया तथा अपराह्णमें अपने आगमनके समय व्रजकी शोभा सम्पादन आदि जैसे बहुत कार्योंका बोध करवाके पिताको वापस लौटाया॥१८७॥

अरण्यान्तरितो दूरे गतौ पुत्रावलोकयन्।
शब्दं कञ्चिदश्रृण्वंश्च निववर्त व्रजं प्रति॥१८८॥

नियुज्य जाङ्घिकान् भृत्यान् तद्वार्त्ताहरणाय सः।
गोपीभिरन्वितां पत्नीं सान्त्वयित्वानयद्गृहान्॥१८९॥

श्लोकानुवाद—कुछ देर बाद जब श्रीकृष्ण और श्रीबलराम वनमें बहुत दूर जानेपर अदृश्य हो गये तथा गौओंका 'हम्बारव' तथा श‍ृङ्गादिका शब्द भी सुनायी नहीं पड़ने लगा, तब श्रीनन्द महाराजने पुत्रकी वार्त्ता लानेके लिए शीघ्रतापूर्वक पैदल चलनेवाले दूतोंको नियुक्त किया तथा श्रीयशोदाजी और अन्य गोपियोंको सान्त्वना देकर अपने साथ घर ले आये॥१८८-१८९॥

दिग्दर्शिनी टीका—अप्यर्थे चकारः। कञ्चिद्हम्बाराव-श‍ृङ्गादिशब्दमप्यश‍ृण्वन् सन् व्रजं प्रति तत्र गन्तुं निववर्त्त तदभिमुखो बभूवेत्यर्थः। तयो पुत्रयोः वार्त्ताया आहरणाय जाङ्घिकान् जङ्घया शीघ्रं दूरं गन्तुं शक्तान् वरान् भृत्यान् नियुज्य, गृहानिति तासां निजनिजगृहं स्वगृहमेव वा प्रापयत्॥१८८-१८९॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥१८८-१८९॥

तास्तु तस्य विलासांस्तान् गायन्त्यो विविशुर्व्रजम्।
दिनमारेभिरे नेतुं ध्यायन्त्यस्तस्य सङ्गमम्॥१९०॥

श्लोकानुवाद—विरहसे पीड़ित उन गोपियोंने श्रीकृष्णकी माधुरीका गान करते-करते व्रजमें प्रवेश किया और उनके साथ हुए सङ्गमका ध्यान करके दिन बिताने लगीं॥१९०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तथापि तासां गृहेऽवस्थितिर्दिननयनञ्च कथमस्तु? तत्राह—तास्त्विति। 'तु'-शब्दोऽत्र श्रीनन्दादिभ्यो विशेषाय। तान् रासादीन् रम्यान् वा *"वामबाहुकृत-वामकपोलः"* (श्रीमद्भा. १०/३५/२) इत्याद्युक्तान्। सङ्गमं सम्भोगं संयोगं वा; तञ्च भूतं भाविनं वा॥१९०॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि विरहसे पीड़ित उन व्रजगोपियों द्वारा घर लौट आनेपर भी उन्होंने किस प्रकार घर रहकर दिन बिताया? इसकी अपेक्षामें 'तास्तु' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। यहाँपर 'तु' शब्द पूर्वोक्त श्रीनन्दादि व्रजवासियोंसे भी अधिक वैशिष्ट्यका द्योतक है। विरहिणी गोपियाँ श्रीकृष्णके रासादि विलासका अथवा श्रीमद्भागवत (१०/३५/२) में कथित "श्रीकृष्ण जब बायें हाथपर बायें कपोलको रखकर भ्रू-नर्तन करते-करते" इत्यादिका गान करते-करते व्रज पहुँची तथा अपन-अपने घरोंमें आकर श्रीकृष्णके साथ पहले हुए अथवा भविष्यमें होनेवाले सङ्गम (संयोग) का ध्यान करते हुए दिन बिताने लगीं॥१९०॥

तत्तद्विशेषो निर्वाच्योऽनन्तशक्त्यापि नापरः।
महार्त्तिजनके तस्मिन् को वा धीमान् प्रवर्त्तते॥१९१॥

श्लोकानुवाद—उन सब व्रजसुन्दिरयोंकी विशेष अवस्थाका वर्णन करनेमें अनन्तदेव भी असमर्थ हैं, अथवा उस अत्यन्त दुःखदायक विषयका वर्णन करनेके लिए कौन बुद्धिमान् प्रवृत्त होगा?॥१९१॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु मात्रा प्रबोधनमारभ्य व्रजागमनावधि तत्तत्तदीयं चेष्टितं हृत्कर्णरसायणं, विस्तार्य निःशेषं कथयेत्यत्राह—तत्तदिति। अनन्तस्य सहस्राननशेषस्य; यद्वा, अनन्ततया अपरिच्छिन्नया शक्त्यापि अपरस्तत्तद्विशेषो तत्तद्विशेषनिर्देशो न निर्वाच्यो भवति। ननु *"मायाबलेन भवतापि निगृह्यमानं पश्यन्ति केचित्"* इत्यादिन्यायेन भागवत-प्रवरस्य भगवतः किमशक्यम्? अनन्तत्वादशक्यमेवेति चेत्तर्हि किञ्चिद्विस्तार्य कथ्यतामिति चेत्तत्राह—महेति। धीमानिति अन्यथा जगद्दुःख-विशेषजननान्निर्बुद्धिरेवेति भावः। अतएव श्रीबादरायणिरप्येतद्विस्तार्य नाकथयदिति ज्ञेयम्। एवमन्यदप्यूह्यम्॥१९१॥

भावानुवाद—यदि कहो कि श्रीकृष्ण द्वारा विरहसे पीड़ित माताको समझाने-बुझानेसे आरम्भ करके उनके व्रजमें वापस लौटने तक

उनकी समस्त चेष्टाएँ हृदय और कर्णके लिए रसायन है, अतएव विस्तारपूर्वक उनका वर्णन कीजिये। इसकी अपेक्षामें 'तत्तद्' इत्यादि श्लोक द्वारा कह रहे हैं कि इस विरह-वैचित्र्यका वर्णन करनेमें हजारों मुखवाले अनन्तदेव भी असमर्थ हैं। अथवा अनन्तदेव असीम शक्तिसे युक्त होनेपर भी उसकी विशेषताका वर्णन नहीं कर सकते, क्योंकि वह विरह-वैचित्र्य अनिर्वचनीय है।

यदि आपत्ति हो कि, "हे भगवान्! यद्यपि आप अपनी योगमायाके प्रभावसे सदैव सभीकी दृष्टिसे अगोचर रहते हैं, तथापि आपके अनन्य भक्त निरन्तर आपका दर्शन करते हैं।"—इस न्यायके अनुसार आपके प्रिय भक्तों अर्थात् भागवत श्रेष्ठजनोंके लिए क्या असाध्य है? तथा यदि कहो कि उस लीलाके अनन्त होनेके कारण सम्पूर्ण रूपसे वर्णन करनेमें असमर्थ होनेपर भी उसका कुछ तो विस्तारसे वर्णन कीजिये। इसीके समाधानके लिए 'महार्त्ति' इत्यादि पद कह रहे हैं। अत्यन्त दुःखदायक उस लीलाका वर्णन करनेमें कौन बुद्धिमान् प्रवृत्त होगा? अर्थात् महा-मोहजनक दावानलके द्वारके उद्घाटन द्वारा जगत्के लिए दुःख उत्पन्न करके कौन अपनी बुद्धिहीनताका परिचय देगा? इसलिए श्रीबादरायणिने भी इस विरहलीलाका विस्तारसे वर्णन नहीं किया है—ऐसा समझना होगा॥१९१॥

स तु प्रस्थाप्य ताः स्वान्तरार्त्तोऽपि सखिभिर्बलात्।
नीतोऽग्रे प्राविशत्तूर्णं श्रीमद्वृन्दावनान्तरम्॥१९२॥
सन्दर्श्यमानः सखिभिः स तु वृन्दावनश्रियम्।
स्वयञ्च वर्णयन् युक्त्या निर्गताधिरिवाभवत्॥१९३॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्ण उन समस्त व्रजवासियोंको विशेषतः व्रजसुन्दरियोंको वापस भेजकर अपने अन्तरमें अत्यन्त दुःखी होनेपर भी सखाओं द्वारा बलपूर्वक आगे ले जानेके कारण शीघ्र ही श्रीवृन्दावनमें प्रविष्ट हुए। उस समय सखा उन्हें श्रीवृन्दावनकी शोभा दिखलाने लगे तथा उन्होंने स्वयं भी उस वृन्दावनकी शोभाका वर्णन करके अपने मनकी पीड़ाको कम किया॥१९२-१९३॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वसौ कथं नाम तासां विरहमसहतेत्यत्राह—स त्विति द्वाभ्याम्, स श्रीकृष्णः; तु-शब्देन ताभ्योऽप्यस्य दुःखविशेषो बोध्यते। स तु सखिभिर्बलादित्यादिना दर्शितः। सखिभिर्बलादग्रे पुरतो नीतः सन्, अन्यथा अन्योऽन्यं निरीक्षणेन परित्यागाशक्तेः। श्रीमतो वृन्दावनस्यान्तरं मध्यम्; दुर्गमिति तत्र तासां गमनशङ्का निरस्ता। यद्यपि श्रीयशोदादयोऽपि तेन प्रस्थापिताः, तथापि ताः प्रस्थाप्येति गोपीनां विरहेण तस्य चित्तान्तर्दुःखविशेषोत्पत्तेः। सन्दर्श्येति युक्त्या निजाग्रज-सम्माननादिव्याजेन। तथा चोक्तं श्रीबादरायणिना दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा. १०/१५/५)—*"अहो अमी देववरामरार्चितं, पादाम्बुजं ते सुमनःफलार्हणम्। नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मनस्तमोऽपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम्॥"* इत्यादि। इवेति समग्रान्ध्यनिर्गमं द्योतयति॥१९२-१९३॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि श्रीकृष्णने किस प्रकार गोपियोंके विरह दुःखको सहन किया? इसकी आशङ्कासे 'स तु' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। यहाँपर 'तु' शब्दके प्रयोगसे गोपियोंसे भी अधिक विरहदुःख श्रीकृष्णको हुआ—ऐसा सूचित हो रहा है। श्रीकृष्ण उन व्रजाङ्गनाओंके विरहके कारण एक कदम भी आगे नहीं बढ़ पाये, इसलिए सखागण बलपूर्वक उन्हें आगे ले गये—ऐसा प्रदर्शित हुआ है। अन्यथा श्रीकृष्ण और गोपियाँ एक-दूसरेको देखना परित्याग करनेमें असमर्थ थे। इसके द्वारा गोपियोंकी श्रीवृन्दावनके दुर्गम वनमें प्रवेश करनेकी आशङ्का दूर हुई है। यद्यपि श्रीकृष्ण श्रीयशोदा इत्यादि प्रमुख व्रजवासियोंको वापस भेजकर दुःखित थे, तथापि उन गोपियोंको वापस भेजकर उनके विरहसे अन्दर-ही-अन्दर विशेष रूपसे दुःखित हो रहे थे। इसलिए अग्रजके सम्मानके छलसे श्रीवृन्दावनकी विशेष शोभाका यथायथ वर्णन करने लगे। श्रीशुकदेव गोस्वामीने श्रीमद्भागवत (१०/१५/५) में इसका वर्णन किया है—"हे देवश्रेष्ठ! ये समस्त वृक्ष अपने वृक्ष योनिमें जन्म होनेके कारण अज्ञानका विनाश करनेके लिए अपनी शाखाओंके अग्रभागमें पुष्प और फलरूप पूजाके उपकरण लेकर देवताओं द्वारा पूज्य आपके चरणकमलोंमें प्रणाम कर रहे हैं।" इत्यादि प्रकारसे वर्णन करके श्रीकृष्ण अपनी सम्पूर्ण विरह-पीड़ाको दूर करनेका प्रयास कर रहे थे॥१९२-१९३॥

ततोऽतनोद्यान् स तु गोपविभ्रमा-
नतोऽभजन् यादृशतां चराचराः।

हृदा न तद्वृत्तमुपासितं भवेत्,
कथं परस्मिन् रसना निरूपयेत्॥१९४॥

श्लोकानुवाद—इसके पश्चात् उन्होंने जो एक गोपकी भाँति क्रीड़ा विहार किया था, उस विहारका दर्शन करके स्थावर-जङ्गम तक ने जिस भावको प्राप्त किया था, उस सबका मनसे भी ध्यान नहीं किया जा सकता है, तो फिर इस जिह्वासे उसको दूसरोंके सामने कैसे वर्णन करूँ?॥१९४॥

दिग्दर्शिनी टीका—गोपानामिव तेषामिव वा विभ्रमान् क्रीड़ाः; अतः एभ्यो गोपविभ्रमेभ्यो हेतुभ्यः। यादृशतां यादृग्भावम् अभजन् प्रापुः, तद्वृत्तं हृदा मनसापि उपासितं ध्यातं न भवेत्। अतः कथं रसना जिह्वा परस्मिन् अन्यजनं प्रति निरूपयेत्? तद्वृत्तम्॥१९४॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥१९४॥

गोवर्धनाद्रिनिकटेषु स चारयन् गा
रेमे कलिन्दतनयाम्बुनि पाययंस्ताः।
सायं तथैव पुनरेत्य निजं व्रजं तं
विक्रीड़ति व्रजवधूभिरसौ व्रजेशः॥१९५॥

श्लोकानुवाद—व्रजेश श्रीकृष्णने श्रीगोवर्द्धन पर्वतकी तलहटीमें गोचारण कराते हुए क्रीड़ाएँ की, फिर श्रीयमुनाजीमें गौओंको पानी पिलवाकर स्वयं जलविहार किया तथा उसी प्रकार सायंकालको पूर्ववत् अपने व्रजमें लौटकर व्रजवधुओंके साथ विविध प्रकारसे विहार किया॥१९५॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं सामान्येन तदानीन्तनक्रीड़ाप्रसङ्गमुपसंहरन् नित्यमाश्चर्यमाणा अहोरात्रविहारप्रकारं संक्षेपेणोद्दिशति—गोवर्धनेति। स श्रीकृष्णः; ता गाः; तथा पूर्वोक्तप्रकारेणैव विविधं क्रीड़ति। असौ श्रीकृष्णः; व्रजेश इति तत्रत्यमशेषं श्रीव्रजवध्वादिकं तस्यैव भोगक्रीड़ासाधनमिति बोधयति॥१९५॥

भावानुवाद—इस प्रकार सामान्य रूपसे श्रीवृन्दावनकी लीलाओंके प्रसङ्गका उपसंहारकर श्रीकृष्णके नित्य आश्चर्यमय दिन-रातके विहारकी परिपाटीको संक्षेपमें निर्देश करनेके लिए 'गोवर्द्धन' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। यहाँपर 'व्रजेश' कहनेसे यह बोध होता है कि व्रजकी समस्त

वस्तुएँ ही श्रीकृष्णकी लीला पुष्टिके अनुकूल उनके भोगक्रीड़ाके उपकरण हैं तथा उनमें व्रजबधुएँ सर्वप्रधान हैं॥१९५॥

श्रीगोपराजस्य यदप्यसौ पुरी,
नन्दीश्वराख्ये विषये विराजते।
ते तस्य कृष्णस्य मतानुवर्त्तिनः,
कुञ्जादिरासं बहु मन्यते सदा॥१९६॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि गोपराजकी पुरी श्रीनन्दीश्वर नामक प्रदेशमें हैं, तथापि श्रीकृष्णकी इच्छानुसार वे गोलोकवासी सदा कुञ्ज आदिमें वास करनेके लिए अधिक आग्रह प्रकाश करते हैं॥१९६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तं व्रजमेत्येत्युक्तम्। तत्र पूर्वोद्दिष्टपुरीमध्ये वनमध्ये वा नित्यमसौ क्रीड़तीत्यपेक्षायामाह—श्रीगोपेति। असौ श्रीपूर्वोक्तस्वरूपा; विषये स्थाने; ते श्रीगोलोकवर्त्तिनो जनाः, कृष्णस्य मतं प्रायः सदा वनान्तर्विहरणादिकं तदनुवर्त्तनशीलाः; अतएव सदा निकुञ्जादिरासं बहु यथा स्यात्तथा मन्यन्ते। आदि-शब्देन तरुतल-शकटावरणादि; एवं प्रायो नित्यं वनान्तरेव विक्रीड़तीति भावः॥१९६॥

भावानुवाद—यदि कहो कि व्रजके अन्तर्गत श्रीगोपराजकी पुरीमें अथवा वनमें—कहाँपर श्रीकृष्ण नित्य क्रीड़ा करते हैं? इस प्रश्नकी आशङ्कासे 'श्रीगोप' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। यद्यपि गोपराज श्रीनन्दकी श्रीनन्दीश्वर नामक पुरी विराजमान है, तथापि गोलोकके वासी भी श्रीकृष्णकी भाँति सदैव वनमें विहार आदिके लिए उनका अनुगमन करते हैं। अतएव वे भी सदा निकुञ्जादिमें रास करनेके लिए अधिक आग्रह प्रकाश करते हैं। 'आदि' शब्दसे वृक्षके नीचे और शकटके नीचेका स्थान आदिको समझना चाहिये। इस प्रकारसे वे भी नित्य वनमें ही विहार करते हैं॥१९६॥

तत्रैव वसता ब्रह्मन्नानन्दो योऽनुभूयते।
सुखं यच्च स वा तद्वा कीदृगित्युच्यतां कथम्॥१९७॥

श्लोकानुवाद—हे ब्राह्मण! मैंने उस गोलोकमें वास करके जिस आनन्द तथा सुखका अनुभव किया, वह कैसा है—इसे किसी भी प्रकारसे व्यक्त नहीं किया जा सकता है॥१९७॥

दिग्दर्शिनी टीका—अधुना श्रीगोलोकस्य पूर्वोद्दिष्टमेव सर्वोत्कृष्टतरमाहात्म्यं दर्शयितुमादौ तत्रत्यं सर्वतोऽधिकतरं परमानन्दसुखमाह—तत्रेति। स आनन्दो वा कीदृक्? केन सदृशः? तत्सुखं वा कीदृगिति कथमुच्यताम्, अपि तु न वक्तुं शक्यत इत्यर्थः। आनन्दसुखयोर्भेदश्च कार्य-कारणत्वेन बाह्याभ्यन्तरत्वादिना वा कश्चित् कल्प्यः लोके तथा अश्रवणात्॥१९७॥

भावानुवाद—अब पूर्वोद्दिष्ट रूपसे श्रीगोलोकके सर्वोत्कृष्ट माहात्म्यको प्रदर्शित करनेके लिए श्रीसरूप सर्वप्रथम वहाँके सर्वाधिक परमानन्द और सुखके विषयमें 'तत्रैव' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। वहाँ रहकर मैंने जिस आनन्द और सुखको अनुभव किया है, वह आनन्द तथा वह सुख किस प्रकारका है या किसके जैसा है? इसके लिए कह रहे हैं कि मैं उसका वर्णन कैसे करूँ? अपितु वर्णन करनेमें असमर्थ हूँ। ऐसा सुना नहीं जाता, किन्तु कुछ लोगोंकी धारणा है कि आनन्द और सुखका कार्य-कारणत्व रूपमें अथवा बाहरी और भीतरी रूपसे भेद है॥१९७॥

मुक्तानां सुखतोऽत्यन्तं महद्वैकुण्ठवासिनाम्।
भगवद्भक्तिमाहात्म्यादुक्तं तद्वेदिभिः सुखम्॥१९८॥

श्लोकानुवाद—भगवद्भक्तिके माहात्म्यके कारण मुक्तपुरुषोंके सुखसे भी वैकुण्ठवासियोंका सुख अत्यधिक है। सुखकी मीमांसा करनेवाले ऐसा ही स्थिर करते हैं॥१९८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र हेतुमाह—मुक्तानामिति चतुर्भिः। अत्यन्तं महत् सुखमुक्तम्। अत्यन्तमहत्त्वे हेतुः—भगवद्भक्तेर्माहात्म्यात्॥१९८॥

भावानुवाद—श्रीगोलोकमें अनुभव होनेवाले आनन्दको व्यक्त नहीं किया जा सकता—इसका कारण श्रीसरूप 'मुक्तानां' इत्यादि चार श्लोकोंमें वर्णन कर रहे हैं। सुखकी मीमांसा करनेवाले कहते हैं कि मुक्त पुरुषोंको अनुभव होनेवाला सुख महान है और भगवद्भक्तिका अत्यन्त महत्व होनेके कारण मुक्तपुरुषोंके सुखकी तुलनामें भी वैकुण्ठवासियोंके आनन्दका महत्व और भी अधिक है॥१९८॥

अयोध्याद्वारवत्यादिवासिनाञ्च ततोऽपि तत्।
उक्तं रसविशेषेण केनचित् केनचिन्महत्॥१९९॥

श्लोकानुवाद—किसी-किसी रस-विशेषके कारण वैकुण्ठवासियोंके सुखसे अयोध्यावासियोंका सुख अधिक है तथा उसी कारणवशतः अयोध्यावासियोंके सुखसे द्वारकावासियोंका सुख अधिक है॥१९९॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततस्तस्माद् वैकुण्ठवासि-सुखादपि अयोध्यावासिनां तत्सुखं महदुक्तम्। केन हेतुना? केनचित् केनचित् रसविशेषेण परमैकान्तितया सेवादिरसभेदेन। एतच्च प्रागेवोद्दिष्टमस्ति। तद्यथा श्रीवैकुण्ठे विचित्रभक्तिरसेन मोक्षादप्यधिकतरं सुखविशेषमनुभवद्भ्यः श्रीनारायणस्य नित्यपार्षदेभ्योऽपि अयोध्यायां श्रीरघुनाथ-चरणारविन्दैकान्तिनां नित्यसेवकानां सेवारसनिष्ठा-विशेषेणाधिकं सुखम्, तेभ्योऽपि द्वारकायां श्रीयादवेन्द्र-चरणारविन्दैकान्तिनां नित्यसुहृदां सौहृदरसनिष्ठा-विशेषेणाधिकमिति, एवम् एतेभ्योऽपि श्रीगोलोके श्रीनन्दनन्दनचरणारविन्दैकान्तिनां नित्यप्रियाणां प्रेमरसनिष्ठा-विशेषेणाधिकाधिकमिति॥१९९॥

भावानुवाद—उन वैकुण्ठवासियोंके सुखसे अयोध्यावासियोंका सुख अधिक है। किसलिए? किसी-किसी रस विशेषवशतः परम ऐकान्तिकता सहित होनेवाली भगवत्-सेवामें रसके भेदसे सुखका भेद होता है, अर्थात् रस-विशेषके तारतम्यसे सुखका तारतम्य होता है। इन सब तत्त्वोंका पहले वर्णन हो चुका है। इसका दृष्टान्त इस प्रकार है—वैकुण्ठमें विचित्र भक्तिरसवशतः मोक्षसे भी अधिक सुखका अनुभव होता है। इस प्रकार श्रीनारायणके नित्य पार्षदोंसे भी अयोध्यामें श्रीरघुनाथके चरणकमलोंके ऐकान्तिक नित्य सेवक अपनी सेवारस-निष्ठाकी विशेषता द्वारा अधिक सुखका अनुभव करते हैं और उनसे भी द्वारकामें श्रीयादवेन्द्रके चरणकमलोंके ऐकान्तिक नित्य सुहृदगणोंको अपनी सौहृदरस-निष्ठाकी विशेषता द्वारा अधिक सुखका अनुभव होता है। इस प्रकार क्रमकी उत्कृष्टताके अनुसार श्रीगोलोकवासियोंका जो सुख है, वह द्वारकावासियोंके सुखकी तुलनामें भी अधिक है, अर्थात् श्रीगोलोकमें श्रीनन्दनन्दनके चरणकमलोंकी ऐकान्तिक नित्य प्रियाओंको प्रेमरस-निष्ठाकी विशेषता द्वारा समस्त प्रकारसे सर्वाधिक सुख प्राप्त होता है॥१९९॥

गोलोकवासिनां यत्तत् सर्वतोऽप्यधिकाधिकम्।
सुखं तद्युक्त्यतिक्रान्तं दध्याद्वाचि कथं पदम्॥२००॥

श्लोकानुवाद—अतएव गोलोकवासियोंका सुख अन्य सभी लोकोंके सुखसे अधिकाधिक है। जब यह सुख किसी प्रकारकी युक्ति द्वारा ही प्रदर्शित नहीं हो सकता, तब वाणी द्वारा कैसे प्रकाशित होगा?॥२००॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवाह—गोलोकेति। यत्तदिति कथञ्चिदपि निर्वक्तुम–शक्यमित्यर्थः। यतः सर्वतः तदयोध्यादिवासिसुखतोऽप्यधिकाधिकम्। अतएव युक्तीस्तर्कानतिक्रान्तमतीतं तत् सुखं कथं वाचि विषये पदं दध्यात्? वाग्वृत्तिगोचरो भवत्वित्यर्थः॥२००॥

भावानुवाद—इस प्रकार पूर्व श्लोकमें कथित क्रमके अनुसार गोलोकवासियोंका सुख अन्य सभी लोकोंके सुखसे भी अधिक है—इसे बतलानेके लिए श्रीसरूप 'गोलोक' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। 'यत्तत्' अर्थात् मैं गोलोकवासियोंके सुखको किसी भी प्रकारसे व्यक्त करनेमें असमर्थ हूँ, क्योंकि वह सुख समस्त प्रकारसे अयोध्यादि लोकोंके सुखसे अधिक है। अतएव जब उस सुखका वर्णन युक्ति और तर्कसे भी अतीत है, तब वह सुख किस प्रकारसे वाक्यों द्वारा वर्णन किया जा सकता है, अर्थात् वह वाणीके अगोचर है॥२००॥

तस्यानुभविनो नित्यं तत्रत्या एव ते विदुः।
तत्त्वं ये हि प्रभोस्तस्य तादृक् सौहार्द–गोचराः॥२०१॥

श्लोकानुवाद—उस सुखके तत्त्वको तो वे ही जानते हैं जो गोलोकमें रहकर नित्य उस सुखका अनुभव करते हैं। तथा जिनका श्रीगोलोकनाथके प्रति व्रजवासियोंके समान प्रेम है, वही उस सुखके स्वरूपको जान सकते हैं॥२०१॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तर्हि तत् कथं विज्ञातं स्यादित्यत्राह—तस्येति। नित्यमनुभविनः निरन्तर–तत्सुखानुभवन्तः तत्रत्याः श्रीगोलोकवर्त्तिनस्त एव तस्य सुखस्य तत्त्वं स्वरूपं विदुः। सर्वत्रैव हेतुः—ये हीति। तस्य श्रीगोलोकनाथस्य; तादृशः परमानिर्वचनीयावितर्क्यस्य सौहार्दस्य प्रेम्णो गोचरा विषयाः॥२०१॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि तब फिर किस प्रकारसे उस सुखके स्वरूपको जाना जा सकता है? इसके उत्तरमें श्रीसरूप 'तस्य' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। उस सुखका निरन्तर अनुभव करनेवाले

गोलोकवासी ही उस सुखके यथार्थ तत्त्व अर्थात् स्वरूपको जानते हैं। यदि कहो कि तब वह सुख अन्योंके लिए किस प्रकारसे अनुभव होगा? इसके उत्तरमें 'ये हि' इत्यादि पदों द्वारा सभी अवस्थाओंमें उस सुखके स्वरूपको अनुभव करनेका कारण बतलाते हुए कह रहे हैं कि जिनका श्रीगोलोकनाथके प्रति व्रजवासियोंके समान परम अनिर्वचनीय तथा वितर्क (सन्देह) रहित प्रेम है, केवल उनके आनुगत्यमें ही वैसा प्रेमसुख अनुभव होता है॥२०१॥

एषामेवावतारास्ते नित्या वैकुण्ठपार्षदाः।
प्रपञ्चान्तर्गतास्तेषां प्रतिरूपाः सुरा यथा॥२०२॥

श्लोकानुवाद—वैकुण्ठके नित्य पार्षद श्रीनन्द आदि गोलोकके नित्य परिकर श्रीनन्द आदिके ही अवतार हैं, जैसे प्रपञ्चके अन्तर्गत स्वर्ग आदिके देवता वैकुण्ठके पार्षदोंके प्रतिरूप या प्रतिबिम्ब हैं॥२०२॥

दिग्दर्शिनी टीका—श्रीगोलोकस्य सर्वोत्कृष्टत्व एव हेतुं दर्शयन्। श्रीनन्दादीनां द्रोणधराद्यवतारत्वेन प्राप्तं नित्यप्रियत्वादिबाधं वारयन् श्रीपद्मपुराणीयोत्तरखण्ड़ाद्यनुसारेण तेषामेव तदवतारित्वमाह—एषामेवेति सप्तभिः। ते पूर्वोक्तमाहात्म्याः, वैकुण्ठस्य श्रीनारायणस्य। यद्वा, श्रीवैकुण्ठलोकस्य तद्वर्त्तिनः पार्षदाः श्रीनन्दादयः एषां श्रीगोलोक-वासिनां नित्यप्रियगोपराज-श्रीमन्नन्दादीनामेवावताराः। ननु तर्ह्यवतारत्वेन नित्यत्वहानिः स्यात्तत्राह—नित्या इति। लोकद्वयेऽस्मिंस्त एव रूपद्वयेन नित्यं विहरन्तीत्यर्थः। तत् प्रामाण्याय तत्र दृष्टान्ताः। प्रपञ्चान्तर्गताः स्वर्गादौ वर्त्तमाना देवा यथा तेषां वैकुण्ठपार्षदानां प्रतिरूपाः, प्रतिबिम्बरुपमूर्त्तयस्तथेति। प्रतिरूपत्वञ्च तेषां प्रपञ्चान्तर्गतत्वेन मायिकवत् प्रतीतेः। अतएव अवतारा इत्यनुक्तिः। वस्तुतस्तु प्रतिरूपत्वेऽपि तत्सादृश्यमेवोह्यम्। अग्रे श्रीकृष्णावतारैः सह दृष्टान्तितत्वेन तेषांमेतेषामेतैः सहाभिन्नतापत्तेः। यद्वा, प्रतिरूपा अवतारा एवेत्यर्थः। तथा सति चावतारशब्दप्रयोगो वैकुण्ठवर्त्तीन्द्रचन्द्रादि-प्रतिबिम्बस्वरूपाणां स्वर्गादिवर्त्तीन्द्रचन्द्रादीनां प्रपञ्चान्तर्गतानां प्रतिच्छायातुल्यानां मायिकानां साहचर्यादित्यूह्यम्। अग्रे अवतारशब्दप्रयोगश्च उभयेषामेव तेषां प्रपञ्चान्तर्गतत्वेनैकरूपतया दोषाभावादिति दिक्॥२०२॥

भावानुवाद—अब श्रीसरूप श्रीगोलोकके सर्वश्रेष्ठ होनेका कारण प्रदर्शित कर रहे हैं। "द्रोण और धरा श्रीनन्दराज और श्रीयशोदाके रूपमें अवतरित हुए हैं"—ऐसा कहनेसे श्रीनन्दराज और श्रीयशोदाके नित्य प्रिय परिकर होनेके विषयमें बाधा उपस्थित हो रही है। अब

इस बाधाको दूर करनेके लिए पद्मपुराणके उत्तरखण्ड आदिके प्रमाणानुसार गोलोकके नित्यप्रिय परिकर श्रीनन्द–यशोदा आदिको द्रोण और धराके अवतारी (अंशी) के रूपमें प्रतिपादन करनेके लिए 'एषां' इत्यादि सात श्लोकोंकी अवतारणा हुई है। पहले जिनका माहात्म्य वर्णन हुआ है, वे वैकुण्ठनाथ श्रीनारायणके नित्य पार्षद श्रीनन्द आदि इन श्रीगोलोकवासी नित्य प्रिय परिकर गोपराज श्रीनन्द आदिके ही अवतार हैं। यहाँ आपत्ति हो सकती है कि वैकुण्ठके पार्षद यदि अवतार हैं, तो उनकी नित्यताके अभावका प्रसङ्ग उपस्थित होता है। इसके उत्तरमें कह रहे कि नहीं, वे भी नित्य है। इन दोनों लोकों (श्रीगोलोक और श्रीवैकुण्ठ) में श्रीनन्द आदि दो रूपोंमें नित्य विहार कर रहे हैं। इसके प्रमाण स्वरूप दृष्टान्त दे रहे हैं—प्रपञ्चके अन्तर्गत स्वर्ग आदिमें वर्त्तमान देवता जिस प्रकार वैकुण्ठके पार्षदोंके प्रतिरूप अर्थात् प्रतिबिम्बरूप मूर्त्ति हैं। यहाँपर 'प्रतिरूप' कहनेका तात्पर्य यह है कि प्रपञ्चके अन्तर्गत होनेके कारण देवताओंके रूप मायिक जैसे प्रतीत होते हैं, इसलिए उन्हें प्रतिरूप कहा गया है, अवतार नहीं। वस्तुतः प्रतिरूपमें भी अवतारीकी सादृश्यता जाननी होगी। आगे श्रीकृष्णके सभी अवतारोंके साथ दृष्टान्त दिये जानेपर नित्य पार्षदोंके साथ देवताओंका अभेद प्रतिपादित होगा। अथवा 'प्रतिरूप' ही अवतार हैं। ऐसा होनेपर भी 'अवतार' शब्दके प्रयोगसे स्वर्ग आदिके अन्तर्गत इन्द्र–चन्द्र आदिको वैकुण्ठके अन्तर्गत स्थित इन्द्र–चन्द्र आदिके प्रतिबिम्बस्वरूप समझना चाहिये, किन्तु प्रपञ्चके अन्तर्गत होनेके कारण उनमें प्रतिच्छायाके समान मायिक धर्मका सहचरण (अनुसरण) रहता है—ऐसा जानना होगा। अतः आगे देवताओंके लिए जो 'अवतार' शब्दका प्रयोग हुआ है, वह दोनों (नित्य पार्षदों और देवताओं) मेंसे उन देवताओंके प्रपञ्चके अन्तर्गत होनेपर भी उनमें एकरूपता होनेके कारण दोषयुक्त नहीं है॥२०२॥

यथा च तेषां देवानामवतारा धरातले।
क्रीड़ां चिकीर्षतो विष्णोर्भवन्ति प्रीतये मुहुः॥२०३॥

श्लोकानुवाद—(जिस प्रकार) भगवान् श्रीविष्णुके द्वारा पृथ्वीपर अवतीर्ण होनेकी इच्छा करनेपर उनकी प्रीतिके लिए देवता भी भू-मण्डलपर बार-बार अवतार लेते हैं॥२०३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्रापि तथैव दृष्टान्तमाह—यथा चेति। तेषां वैकुण्ठपार्षद-प्रतिरूपभूतानां देवानामवतारा धरातले मुहुर्वारं वारं यथा भवन्ति। किमर्थम्? धरातल एव क्रीड़ां कर्त्तुमिच्छतो विष्णोरुपेन्द्रस्य प्रीतये। मुहुरिति भगवदवताराणामिव तत्र तत्र तेषां चिरकालास्थायित्वेन तत्तत्प्रयोजनवशेन पुनःपुनः प्रादुर्भावात्। अत्र चायं विवेकः—श्रीगोलोके वर्त्तमानस्य नित्यप्रियस्य गोपराज-श्रीनन्दस्यैवावतारो वैकुण्ठे नन्दनामा नित्यपार्षदः। तस्यापि देवेषु द्रोणनामा वसुः। पृथिव्यां स हि स्वयं कदाचिन्नन्दरूप एवावतरति। एवं श्रीगोलोके श्रीबलरामः, वैकुण्ठे शेषाख्यो नित्यपार्षदः; देवेषु च धरणीधरः सप्तमपातालवर्त्ती। भुवि च कदाचिद्बलराम एव। तथा गोलोके श्रीदामा, वैकुण्ठे नित्यपार्षदो गरुड़ः, देवेषु विनतानन्दनः, भूवि च कदाचित् श्रीदामैव। तथा गोलोके श्रीवसुदेव-देवक्यौ, वैकुण्ठे सुतपः-पृष्ण्यौ, देवेषु कश्यपादिती, भूवि च कदाचिद्वसुदेव-देवक्यावेवेति। एवमन्येऽपि कल्पनीयाः॥२०३॥

भावानुवाद—स्वर्गके देवताओंके भी मूल अवतारी गोलोकके नित्य पार्षद ही हैं—इस विषयमें भी पूर्वोक्त प्रकारके अनुरूप दृष्टान्त प्रदर्शित करनेके लिए 'यथा च' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। वैकुण्ठ-पार्षदोंके प्रतिरूप देवताओंका बार-बार पृथ्वीपर अवतार होता है। किसलिए? धरातलपर लीला करनेके इच्छुक भगवान् श्रीविष्णुकी प्रीतिके लिए। यहाँपर 'मुहुः' कहनेका तात्पर्य यह है कि भगवान्के अवतारके समान देवताओंका अवतार चिरकाल स्थायी नहीं है, केवल लीलामें अनुरक्त विष्णुके सुख-विधानरूप प्रयोजनके कारण देवताओंका पुनः-पुनः आगमन होता है। इसका विचार इस प्रकार है—श्रीगोलोकमें वर्त्तमान नित्यप्रिय परिकर गोपराज श्रीनन्दके ही अवतार वैकुण्ठमें श्रीनन्द नामक नित्य पार्षद हैं तथा उन वैकुण्ठवासी श्रीनन्दके ही प्रतिरूप देवताओंमें द्रोण नामक वसु हैं। श्रीगोलोकके श्रीनन्दराज स्वयं भी कभी-कभी पृथ्वीपर अवतरित होते हैं तथा उस समय उनके समस्त अवतार भी उनमें सम्मलित रहते हैं। इसी प्रकार श्रीगोलोकके श्रीबलराम वैकुण्ठमें शेष नामक नित्य पार्षद हैं तथा देवताओंमें सप्त-पातालवर्ती धरतीको धारण करनेवाले धरणीधर हैं। कभी-कभी गोलोकके मूल श्रीबलराम भी पृथ्वीपर अवतरित होते हैं। उसी प्रकार

गोलोकके श्रीदाम वैकुण्ठके नित्य पार्षद श्रीगरुड़ हैं तथा देवताओंमें विनतानन्दन हैं। स्वयं श्रीदाम भी कभी-कभी पृथ्वीपर अवतरित होते हैं। श्रीगोलोकमें श्रीवसुदेव-देवकी वैकुण्ठमें सुतपा और पृश्नी हैं तथा देवताओंमें कश्यप और अदिति हैं। स्वयं श्रीवसुदेव और देवकी भी कभी-कभी पृथ्वीपर अवतरित होते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य पार्षदोंके विषयमें भी समझना चाहिये॥२०३॥

यथावताराः कृष्णस्याभिन्नास्तेनावतारिणा।
तथैषामवतारास्ते न स्युरेतैः समं पृथक्॥२०४॥

श्लोकानुवाद—जैसे श्रीकृष्णके सभी अवतार अवतारी श्रीकृष्णसे अभिन्न हैं, उसी प्रकार श्रीनन्द आदिके सभी अवतार भी अवतारी अर्थात् गोलोकके नित्यप्रिय गोपराज श्रीनन्दसे अभिन्न हैं॥२०४॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं रूपादिभेदेऽप्यभेदमाह—यथेति। तेन कृष्णेन सहाभिन्नाः। कुतः? अवतारिणा तत्तदवतारनिधानेनेत्यर्थः, अंशस्यांशिनोऽपृथक्त्वादिति भावः। एषां नित्यप्रियगोपराज-श्रीनन्दादीनां ते पूर्वोक्ता नित्यपार्षद-श्रीनन्दादयोऽवतारा एतैः श्रीनन्दादिभिरवतारिभिः समं पृथक् भिन्ना न स्युः। एवमेव स्वर्गादौ वर्त्तमानानामपि श्रीकश्यपादित्यादीनां भूमौ पृथक् श्रीवसुदेव-देवक्यादिजन्मापि सङ्गच्छते, तैः सहैषां भिन्नाभिन्नत्वात्॥२०४॥

भावानुवाद—इस प्रकार अवतारी और अवतारमें रूप आदिका भेद होनेपर भी अभेद ही मानना चाहिये—इसे बतलानेके लिए 'यथा' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। श्रीकृष्णके सभी अवतार अवतारी श्रीकृष्णसे अभिन्न हैं। कैसे अभिन्न है? अवतारी श्रीकृष्ण सभी अवतारोंके कारण हैं, अतएव सभी अवतारोंसे भिन्न प्रतीत होनेपर भी वे स्वरूपतः उनसे अभिन्न हैं। अर्थात् अंश और अंशीमें भेद होनेपर भी स्वरूपतः अंशीका अंश होनेके कारण उनमें अभिन्नता हैं। उसी प्रकार नित्यप्रिय गोपराज श्रीनन्द आदिके समस्त अवतार अर्थात् पूर्वोक्त वैकुण्ठपार्षद श्रीनन्द आदि सभी अवतार अपने अवतारी श्रीनन्दराजसे अभिन्न हैं। इसी प्रकार स्वर्ग आदिमें श्रीकश्यप और अदितिके वर्त्तमान रहनेपर भी श्रीवसुदेव और देवकीका पृथ्वीपर पृथक् रूपमें जन्म होना भी सङ्गत है, क्योंकि श्रीवसुदेव और

देवकीके समस्त अवतार इनसे स्वरूपतः भिन्न होनेपर भी अभिन्न हैं॥२०४॥

कदाप्यंशेन जायन्ते पूर्णत्वेन कदाचन।
यथाकालं यथाकार्यं यथास्थानञ्च कृष्णवत्॥२०५॥

श्लोकानुवाद—जिस प्रकार श्रीकृष्ण काल, कार्य और स्थानके अनुसार कभी अंश रूपमें और कभी पूर्ण रूपमें अवतीर्ण होते हैं, उसी प्रकार गोलोकके श्रीनन्दराज आदिके सभी अवतार भी कभी अंश रूपमें और कभी पूर्ण रूपमें अवतीर्ण होते हैं॥२०५॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तर्हि बहुवैलक्षण्यं कथं दृश्यते? तत्राह—कदापीति। जायन्ते प्रादुर्भवन्ति, अवतरन्तीत्यर्थः। यथाकालमिति यस्मिन् काले यत् प्रयोजननिमित्तं यस्मिन् स्थाने चांशत्वेन पुर्णत्वेन वा अवतरितुं युज्यन्ते, तदा तदर्थं तत्र तथैवावतरन्तीत्यर्थः। अत्रानुरूपो दृष्टान्तः—कृष्णवदिति। यथासौ सत्ययुगादौ पृथिव्युद्धरणाद्यर्थं शौकरपुर्यादावंशेन श्रीवाराहरूपादिना अवतरति, कस्मिंश्चिद्द्वापरान्ते च निजप्रेमभक्तिविशेषविस्तारक-सुखक्रीड़ाविशेषार्थं श्रीमथुरायां पूर्णत्वेनावतरति तथेत्यर्थः॥२०५॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि तब फिर उनमें अनेक प्रकारकी विलक्षणता किस प्रकारसे दिखायी देती है? इसके उत्तरमें 'कदा' इत्यादि श्लोक द्वारा कह रहे हैं कि जिस समय जिस प्रयोजनके लिए जिस स्थानपर अवतार अर्थात् अंश या अवतारी अर्थात् अंशीकी आवश्यकता होती है, उसी काल और प्रयोजनके अनुसार तथा उस स्थानके वैशिष्ट्यके अनुसार वैसा ही अवतरण होता है। इसके अनुरूप दृष्टान्त बतलानेके लिए 'कृष्णवत्' इत्यादि पद कह रहे हैं। जिस प्रकार श्रीकृष्ण सत्ययुगके प्रारम्भमें पृथ्वीके उद्धारके लिए शौकरपुरी (शूकरक्षेत्र) आदिमें अपने अंश वराहके रूपमें अवतरित होते हैं, तथा किसी द्वापरके अन्तमें अपनी प्रेमभक्तिका विशेष रूपसे विस्तार करनेवाली सुखमय लीलाके लिए श्रीमथुरामें पूर्ण रूपसे अवतरित होते हैं। इसी प्रकार श्रीनन्द आदिके सभी अवतार भी काल, कार्य तथा स्थानके वैशिष्ट्यके अनुसार कभी तो अंश रूपसे और कभी पूर्ण रूपसे अवतरित होते हैं॥२०५॥

एवं कदाचित् केनापि समाकृष्टा रसेन ते।
निजनाथेन सहिताः कुत्राप्यतितितीर्षवः॥२०६॥

अवतारैर्निजैः सर्वैः परमेश्वरवद्यदा।
ऐक्यं व्याजेन केनापि गताः प्रादुर्भवन्ति हि॥२०७॥

तदैषामवतारास्ते गच्छन्त्येतेषु वै लयम्।
अतोऽभवंस्त एवैते इति ते मुनयोऽवदन्॥२०८॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार वे नित्य परिकर कभी किसी रसके द्वारा आकृष्ट होकर अपने प्रभु श्रीकृष्णके साथ किसी स्थानपर अवतीर्ण होनेकी अभिलाषा करते हैं तथा भगवान्‌की तरह वे किसी बहाने अपने अवतारके साथ एक होकर आविर्भूत होते हैं। उस समय उनके अवतार भी उनमें लीन रहते हैं, इसलिए मुनिलोग कहते हैं कि द्रोण और धराने ही श्रीनन्द और श्रीयशोदाके रूपमें जन्म ग्रहण किया है॥२०६-२०८॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतएव श्रीद्रोणादयो ब्रह्मदत्त-श्रीविष्णुभक्तिवरादिप्राप्त्या भुवि नन्दादयो बभूवुरित्येतत् सङ्गच्छते, इत्याह—एवमिति त्रिभिः। ते श्रीगोलोकवर्त्तिनो नित्यप्रिय-श्रीनन्दादयः, केनापि रसेन परमप्रेममय-क्रीड़ाविशेषेणाकृष्टाः, निजनाथेन श्रीगोलोकेश्वरेण परमभगवता श्रीकृष्णेन सहिताः कुत्रापि श्रीमथुरायामवतर्तुमिच्छन्तो निजैरवतारैर्नन्दपार्षदादिभिः सह केनापि ब्रह्मवरादिना मिषेण ऐक्यं गताः सन्तो यदा प्रादुर्भवन्ति, तदा एषां नित्यप्रिय-नन्दादीनां ते नन्दपार्षदादयोऽवतारा एतेषु नित्यप्रिय-श्रीनन्दादिषु लयं गच्छन्ति लीयन्त इति त्रयाणामन्वयः। तत्र सर्वत्रैवानुरूपो दृष्टान्तः—परमेश्वरवत् कृष्ण इवेति। अतोऽस्मात्तेषामेतेष्वेव लयाद्धेतोस्ते द्रोणादय एव एते नन्दादयोऽभवन्निति तत्तल्लोकवृत्तान्तादिपरा मुनयोऽवदन्। एतदखिलं श्रीनारदोक्तकृष्णावतारप्रसङ्गे प्रागविवृतमस्त्येव। एवमेव पद्मपुराणीय-कार्तिकमाहात्म्य-प्रतिपादित-श्रीराधापूर्वजन्मवृत्तञ्च सुसङ्गतं स्यात्। कोटिकन्दर्पसुन्दर-श्रीभगवन्मूर्त्तिसेवाद्यर्थं तत्तद्रूपेण तथैव तत्र तत्रावतीर्णत्वात्। एवमन्यदप्यूह्यम्। अलमतिविस्तरेण॥२०६-२०८॥

भावानुवाद—अतएव श्रीद्रोण आदिका श्रीब्रह्मा द्वारा दिये गये श्रीविष्णुभक्तिके वरको प्राप्तकर पृथ्वीपर श्रीनन्द आदिके रूपमें अवतीर्ण होना सङ्गत ही है—इसे 'एवं' इत्यादि तीन श्लोकोंमें वर्णन कर रहे है। उस श्रीगोलोकके नित्यप्रिय श्रीनन्दादिके द्वारा किसी विशेष रसके आस्वादनके लिए अर्थात् किसी परम प्रेममयी लीलासे

आकृष्ट होकर अपने प्रभु श्रीगोलोकनाथ परम भगवान् श्रीकृष्णके साथ मथुरामें अवतीर्ण होनेकी इच्छा करनेपर वह उनके समान ही अपने-अपने अवतार अर्थात् श्रीवैकुण्ठादि श्रीनन्द आदि पार्षदोंके साथ एक होकर ब्रह्म द्वारा दिये गये वर आदिके बहाने आविर्भूत होते हैं। उस समय अवतारी नित्यप्रिय श्रीनन्दादि अपने अवतार वैकुण्ठ पार्षद श्रीनन्दादिको अपनेमें लयकर ही अवतीर्ण होते हैं। अतएव समस्त अवस्थाओंमें इनके लिए अनुरूप दृष्टान्त परमेश्वर श्रीकृष्णके समान ही समझना चाहिये। अतएव द्रोण आदिका अपने अवतारी श्रीनन्दादिमें लय होनेके कारण उस लोकके वृत्तान्तमें रत मुनि ही श्रीनन्दादिको द्रोण आदिका अवतार कहते हैं। जिस प्रकार—स्वयं भगवान् श्रीकृष्णको कोई वामन, कोई वराह और कोई नृसिंह आदि भी कहते हैं, उसी प्रकार जो जिस लोकका वृत्तान्त जानते हैं, वे उस लोकमें अपने प्रभुको न देखकर यही मानते हैं कि, "वे मथुरामें प्रकट हुए हैं।" पहले अर्थात् श्रीनारदजी द्वारा कहे गये श्रीकृष्णावतार प्रसङ्गमें इस सम्पूर्ण तत्त्वका वर्णन हो चुका है। तथा इसी प्रकार पद्मपुराणके कार्त्तिक-माहात्म्यमें प्रतिपादित श्रीराधाजीके पूर्वजन्मका वृत्तान्त आदि भी सुसङ्गत ही है, क्योंकि करोड़ों कामदेवोंसे भी सुन्दर भगवान्‌की मूर्त्तिकी सेवाके लिए सभी पार्षद उनके अनुरूप उन-उन स्थानोंपर अवतरित होते हैं—ऐसा समझना होगा। अतएव यहाँपर और अधिक विस्तार करनेका प्रयोजन नहीं है॥२०६-२०८॥

कृत्स्नमेतत् परं चेत्थं तत्रत्यं विद्ध्यसंशयम्।
पूर्वोक्त-नारदोद्दिष्टसिद्धान्ताद्यनुसारतः ॥२०९॥

श्लोकानुवाद—हे ब्राह्मण! मैंने पहले श्रीनारदकी उक्तिके अनुसार जिस सिद्धान्तको प्रतिपादित किया था, उसका उचित समन्वय या सुसङ्गति होती है—आप इस विषयमें कदापि संशय मत करना॥२०९॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वेवं श्रीवैकुण्ठलोकतोऽपि परमोत्कृष्टमाहात्म्यवति तल्लोके कंसादीनां दैत्यानां कथं निवासः? कथं वा तत्रापि तेषां पूर्ववद्दृष्टतानुवृत्तिः? कथं वा अचेतनकाष्ठादिमयानां शकटादीनां गोधूल्यादीनां वा सम्भावनेत्यादिकं, तथा गोलोकवर्ति-नित्यप्रिय-श्रीनन्दादीनामेव नन्दादि-वैकुण्ठपार्षदत्वेनावतरणे, तथा श्रीगोलोकस्य

श्रीवैकुण्ठलोकादपि माहात्म्य-विशेषादौ चाप्रसिद्धत्वेन कञ्चिदपि संशयं मा कृथा इत्याह—कृत्स्नमिति। इत्थमुक्त-प्रकारेण; एतदुक्तं श्रीगोलोकमाहात्म्यादिकं परञ्चानुक्तमग्रे वक्ष्यमाणमन्यदपि, तत्रत्यं श्रीगोलोकसम्बन्धि कृत्स्नमशेषमेव न विद्यते संशयो यस्मिन् तथाभूतं विद्धि प्रतीहि। कुतः? पूर्वं श्रीवैकुण्ठमाहात्म्यप्रसङ्गे उक्तानां मया निरूपितानां नारदोद्दिष्टसिद्धान्तानां नारदेन संक्षेपादुक्तानां मया प्रतिपादितानां न्यायानाम्; आदिशब्दात् पद्मपुराणीयोत्तरखण्डपञ्चरात्रादिवचनानां, तथा अग्रे वक्ष्यमाण-सच्चिदानन्दमय-निज-तत्तत्परिवारसहित-श्रीभगवल्लीलावतरण-सिद्धान्तादेश्चानुस्मरणात्। तत्र च कंसादीनां तल्लोकनिवासहेतुरग्रे मूलग्रन्थ एव व्यक्तो भावी। तद्विवरणञ्च तत्रैव विशेषतो विधेयम्। किं तर्हि तेऽपि सच्चिदानन्दघनविग्रहा भगवन्नित्यप्रिया एव श्रीवैकुण्ठपार्षदा इव श्रीभगवतो विनोदविशेषविस्तारणाय तथा तथेहन्ते? तथा शकटादिकञ्च तत्रत्यं सर्वे सच्चिदानन्दघनरूपमेवेत्यादिकं पूर्वोक्तवैकुण्ठवर्तिरीत्यैव सर्वमनवद्यमूह्यम्। तत्रापेक्षितप्रमाणवचनानि चान्ते लेख्यानीति दिक्॥२०९॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि श्रीवैकुण्ठलोकसे भी परम-उत्कृष्ट माहात्म्यसे युक्त उस श्रीगोलोकमें कंस आदि दैत्योंको किस प्रकार स्थान प्राप्त हुआ? अथवा कैसे वे वहाँपर भी पूर्वकी भाँति दुष्टता करते हैं? तथा कैसे वहाँपर अचेतन लकड़ीके बने शकट आदि और गोधूलि इत्यादिके विद्यमान होनेकी सम्भावना है? तथा गोलोक स्थित नित्यप्रिय श्रीनन्द आदिके साथ मिलकर वैकुण्ठ पार्षद श्रीनन्दादि किस प्रकार पार्षदके रूपमें अवतीर्ण होते हैं? हे ब्राह्मण! चिन्ता मत करना या फिर श्रीवैकुण्ठलोकसे भी श्रीगोलोकके अधिक माहात्म्य, जिसके विषयमें अभी भी प्रसिद्धि नहीं है, बिलकुल भी संशय मत करना—इसे बतलानेके लिए श्रीसरूप 'कृत्स्न' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। अर्थात् उक्त रूपसे जो गोलोकका माहात्म्य वर्णन हुआ है तथा बादमें भी जो वर्णित होगा, उस गोलोक-सम्बन्धी विषयोंमें किसी प्रकारके संशय आदिका कोई स्थान नहीं है, अतएव किसी प्रकारका भी संशय मत करना।

इसका कारण है कि पहले श्रीवैकुण्ठके माहात्म्यका निरूपण करते समय वैकुण्ठलोकमें श्रीनारद द्वारा कहे गये संक्षिप्त सिद्धान्तके अनुसार मैंने विशेष विचारपूर्वक जो सिद्धान्त प्रतिपादित किया है, वह सब सुसङ्गत ही है। 'आदि' शब्दसे पद्मपुराणके उत्तरखण्ड और पञ्चरात्रादिके वचन तथा आगे जो कहा जायेगा, अर्थात् सच्चिदानन्दमय

श्रीभगवान् स्वयं अपने विग्रह तथा परिकरों सहित लीलावशतः जिस प्रकार अवतीर्ण होते हैं, वे सब सिद्धान्त अनुस्मरणीय हैं। तथा श्रीगोलोकमें कंस आदिके वासका भी कारण मूल ग्रन्थमें वर्णन किया जायेगा, अतएव उसका विशेष विवरण उस स्थानपर करना ही उचित है। तथापि यहाँपर प्रश्न हो सकता है कि क्या कंस आदि भी सच्चिदानन्दघन विग्रह श्रीभगवान्‌के नित्यप्रिय पार्षद तथा श्रीवैकुण्ठके पार्षदोंकी तरह श्रीभगवान्‌के लीलानन्दके विस्तारके लिए दैत्यों आदि जैसी चेष्टा द्वारा वहाँ रहते हैं? तथा क्या वहाँ शकट आदि लकड़ीकी बनी हुई वस्तुएँ भी वहाँके समस्त पार्षदोंके समान सच्चिदानन्दघन स्वरूप हैं? इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि पूर्वोक्त (श्रीबृ. भा. २/४/१३९–१४०) में वैकुण्ठके अन्तर्गत स्थापित किये गये सिद्धान्तके अनुसार सब कुछ सङ्गत ही है। अर्थात् जिस प्रकार वैकुण्ठमें तृण आदि वस्तुएँ तथा बन्दर आदि पशु सभी सच्चिदानन्दमय हैं, उसी प्रकार गोलोकमें भी कंस आदि दैत्य और शकट आदि समस्त वस्तुएँ सच्चिदानन्दमय हैं। केवल प्रभुकी प्रसन्नताके लिए ही उन्होंने वैसा रूप धारण किया है। इस विषयमें जिन प्रमाण-वचनोंकी आवश्यकता है, उनका अन्तमें वर्णन किया जायेगा। इस विचारका यही दिग्दर्शन है॥२०९॥

माथुरोत्तम तत्रत्यं महाश्चर्यमिदं शृणु।
कथ्यमानं मया किञ्चित् श्रीकृष्णस्य प्रभावतः॥२१०॥

श्लोकानुवाद—हे मथुरावासियोंमें श्रेष्ठ! श्रीकृष्णकी कृपाके प्रभावसे मैं उस गोलोकका कुछ आश्चर्यपूर्ण माहात्म्य वर्णन कर रहा हूँ, आप उसे श्रवण कीजिये॥२१०॥

दिग्दर्शिनी टीका—पुनरन्यं श्रीगोलोकस्य एव माहात्म्यविशेषं तत्रत्यानां भावविशेषतोऽपि आह—माथुरेत्यादिना अद्भुतेत्यन्तेन। हे माथुरेषु उत्तम! श्रेष्ठेति परमाश्चर्यश्रवणेऽवधानविशेषाय सम्बोधनम्। तत्रत्यं श्रीगोलोकीयम्; इदं वक्ष्यमाणम्; तच्च वाङ्मनसाविषयमपि श्रीकृष्णकृपाविशेषमहिम्नैव। सारतः संक्षेपेण कथयामीत्याह—कथ्यमानमिति॥२१०॥

भावानुवाद—पुनः उन गोलोकवासियोंके विशेष भावका वर्णन करनेके लिए अन्य प्रकारसे श्रीगोलोकके माहात्म्यका वर्णन 'माथुर'

इत्यादि श्लोक (२१०) से आरम्भकर 'अद्भुत' इत्यादि श्लोक (२१९) तक कर रहे हैं। हे मथुरावासियोंमें उत्तम अर्थात् श्रेष्ठ!—श्रीगोलोककी परम आश्चर्यपूर्ण महिमाको एकाग्रता सहित श्रवण करनेके लिए ऐसा सम्बोधन है। श्रीगोलोक-सम्बन्धी अभी कहा जानेवाला माहात्म्य वाणी और मनका विषय नहीं होनेपर भी श्रीकृष्णकी विशेष कृपाके प्रभावसे ही संक्षेपमें वर्णन कर रहा हूँ, आप श्रवण कीजिये॥२१०॥

बालकास्तरुणा वृद्धा गोपास्ते कोटि-कोटिशः।
सर्वे विदुर्महाप्रेयानहं कृष्णस्य नेतरः॥२११॥

श्लोकानुवाद—उस गोलोकमें करोड़ों-करोड़ों बालक, तरुण और वृद्ध गोप वास करते हैं, परन्तु वे सभी यह समझते हैं कि मैं ही श्रीकृष्णका परम प्रिय हूँ, और दूसरा कोई वैसा नहीं है॥२११॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव वदन् प्रथमं तत्रत्यानां पुंसां भगवति श्रीकृष्णे भावविशेषं दर्शयति—बालका इति त्रिभिः। ते श्रीगोलोकवासिनः। अहमेव कृष्णस्य प्रेयान् परमप्रियः न तु इतरोऽन्य इति। सर्वे प्रत्येकं विदुः॥२११॥

भावानुवाद—श्रीगोलोकके उस आश्चर्यपूर्ण माहात्म्यको बतलानेके लिए सर्वप्रथम वहाँके गोपोंका भगवान् श्रीकृष्णके प्रति विशेष भाव प्रदर्शन करनेके लिए श्रीसरूप 'बालका' इत्यादि तीन श्लोक कह रहे है। उस श्रीगोलोकके समस्त वासी यही समझते हैं कि मैं ही श्रीकृष्णका परमप्रिय हूँ—और कोई दूसरा वैसा नहीं है॥२११॥

तथैव व्यवहारोऽपि तेषां कृष्णे सदेक्ष्यते।
प्रत्येकं तेषु तस्यापि विशुद्धस्तादृगेव सः॥२१२॥

श्लोकानुवाद—मैंने श्रीकृष्णके प्रति उनका व्यवहार भी वैसा ही देखा तथा श्रीकृष्णका भी उनके प्रति वैसा ही विशुद्ध व्यवहार अनुभव किया॥२१२॥

दिग्दर्शिनी टीका—न चैतन्मननमात्रं किन्तु व्यवहारोऽपि तेन सह तेषां निरन्तरमन्योऽन्यं तदनुरूप एवेत्याह—तथैवेति। तादृश एव तेषां गोपवर्गाणां व्यवहारो भोजनादिः। तेषु गोपवर्गेषु तस्य श्रीकृष्णस्यापि स व्यवहारस्तादृक् तेषां व्यवहारानुरूप एव। यद्वा, परमप्रियतमविषयक-कृत्यानुरूप एव। न च तत्र

कथञ्चिदपि किञ्चित् कापट्यमस्तीत्याह—विशुद्ध इति। अत एकस्मिन्नेव तात्त्विकी परमप्रियता अन्येषु च व्यवहार-कौशलेनैवेति निरस्तम्॥२१२॥

भावानुवाद—वे केवल ऐसा मानते हैं, ऐसी बात नहीं, बल्कि श्रीकृष्णके साथ निरन्तर उसके अनुरूप व्यवहार भी करते हैं—इसे बतलानेके लिए ही 'तथैव' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। वे गोप श्रीकृष्णके साथ जिस प्रकारसे विशुद्ध व्यवहार सहित भोजन-पान आदि करते हैं, श्रीकृष्ण भी उन गोपोंके प्रति उनके व्यवहारके अनुरूप ही व्यवहार करते हैं। अथवा परमप्रियतमसे सम्बन्धित कार्योंके अनुरूप व्यवहार करते हैं। इस व्यवहारमें किसी प्रकारकी किञ्चित्मात्र भी कपटता नहीं रहती है—इसे बतलानेके लिए कह रहे हैं कि उनका परस्पर व्यवहार परम विशुद्ध होता है। इसके द्वारा श्रीकृष्णकी किसी एकके प्रति ही व्यवहारमें तत्त्वतः परमप्रियता तथा अन्य सबके प्रतिमात्र व्यवहार कुशलता होनेकी कपटताका संशय दूर हुआ है॥२१२॥

तथापि तृप्तिः कस्यापि नैवोदेति कदाचन।
प्रेमतृष्णा च विविधा दैन्यमाता विवर्धते॥२१३॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकारके प्रेमपूर्ण व्यवहारसे कभी किसीकी तृप्ति नहीं होती, बल्कि विविध प्रकारकी प्रेम-तृष्णा जो दीनताकी जननी है, बढ़ती ही जाती है॥२१३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तृप्तिः परिपूर्णता। न च केवलं तृप्त्यनुदय एव, प्रेमविशेषेण श्रीकृष्णविषयका नानातृष्णा च वरीवृद्ध्यत इत्याह—प्रेमेति। प्रेम्णा तृष्णा लोभः प्रेमतृष्णा। कीदृशी? दैन्यस्य माता जननी। सङ्गमे वर्त्तमानेऽपि परमप्रेमविशेषस्य प्रायो विरहार्तिपर्यवसानस्वभावकत्वात्॥२१३॥

भावानुवाद—'तृप्तिः' अर्थात् परिपूर्णता। उन्हें केवल तृप्ति नहीं होती, ऐसा ही नहीं, बल्कि विशेष प्रेमके कारण श्रीकृष्णसे सम्बन्धित नाना प्रकारकी तृष्णाएँ उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती हैं—इसे बतलानेके लिए 'प्रेम' इत्यादि पद कह रहे हैं। प्रेमके कारण जो लोभ होता है, वही प्रेम-तृष्णा है। वह कैसी है? वह प्रेम-तृष्णा दीनताकी जननी है, क्योंकि मिलनके समय एक साथ रहनेपर भी उस परमविशेष

प्रेमके स्वभाववशतः वह मिलन प्राय विरह–दुःखमें ही बदल जाता है॥२१३॥

गोपीषु च सदा तासु प्रत्येकं कोटिकोटिषु।
परा प्रीतिः कृपासक्तिरपि सा तस्य वीक्ष्यते॥२१४॥

श्लोकानुवाद—वहाँ करोड़ों-करोड़ों गोपियाँ वास करती हैं तथा प्रत्येककी ही श्रीकृष्णके प्रति परमप्रीति है। श्रीकृष्णकी भी उनके प्रति उसी प्रकारकी कृपापूर्ण आसक्ति है॥२१४॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं तत्रत्यानां स्त्रीणां भावविशेषं दर्शयति—गोपीष्विति पञ्चभिः। तासु श्रीगोलोकवर्त्तिनीषु, तस्य कृष्णस्य, सा तादृशी परा परमा प्रीतिः प्रेमा, कृपा प्रीतिलक्षणाभिव्यञ्जनम् आसक्तिरपि तदेकपरता वीक्ष्यते साक्षादनुभूयते॥२१४॥

भावानुवाद—अब वहाँकी स्त्रियोंके विशेष भावको प्रदर्शन करनेके लिए श्रीसरूप 'गोपीषु' इत्यादि पाँच श्लोक कह रहे हैं। श्रीगोलोक स्थित सभी गोपियोंका श्रीकृष्णके प्रति जैसा परमप्रेम है, श्रीकृष्णकी भी उनके प्रति वैसी परम प्रीति लक्षणयुक्त कृपा और आसक्ति साक्षाद् अनुभव होती है॥२१४॥

यया युक्तिशतैर्व्यक्तं मादृशैरनुमन्यते।
आभिः समो न कोऽप्यन्यत्रत्योऽप्यस्य प्रियो जनः॥२१५॥

श्लोकानुवाद—इसलिए हमने सैकड़ों युक्तियों द्वारा यह निश्चित किया है कि गोपियाँ श्रीकृष्णकी जितनी प्रिय हैं, उनका उतना प्रिय गोलोकमें तथा अन्यत्र कहींपर भी कोई नहीं है॥२१५॥

दिग्दर्शिनी टीका—यया प्रीत्या कृपया आसक्त्यापि हेतुना युक्तिशतैः कृत्वा व्यक्तं निश्चितम् यथा स्यात्तथा मादृशैरनु निरन्तरं मन्यते। किं तदाह—आभिरिति। अन्यत्रत्यस्य का वार्ता, अत्रत्य-श्रीगोलोकवर्त्यप्यन्यः कोऽपि जनो गोपीभिः समोऽस्य कृष्णस्य प्रियो नास्तीति॥२१५॥

भावानुवाद—गोपियोंके प्रति श्रीकृष्णकी परमप्रेमयुक्त कृपा और आसक्तिके कारणको सैकड़ों युक्तियों द्वारा निश्चित करके मुझ जैसोंने निरन्तर स्वीकार किया है कि वे गोपियाँ श्रीकृष्णको जितनी प्रिय हैं,

उनका उतना प्रिय अन्य कहींपर यहाँ तक कि गोलोकमें भी नहीं है। अर्थात् गोपियोंके समान श्रीकृष्णको कोई भी प्रिय नहीं है॥२१५॥

तत्रापि यां प्रति प्रेमविशेषोऽस्य यदेक्ष्यते।
तदा प्रतीयते कृष्णस्यैषैव नितरां प्रिया॥२१६॥

श्लोकानुवाद—तथापि उन गोपियोंमें भी जब वे जिस किसी गोपीको विशेष प्रेम सहित देखते हैं, उस समय मुझे ऐसा प्रतीत होता कि वही श्रीकृष्णकी परमप्रिय हैं॥२१६॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं सामान्येनोक्त्वा प्रत्येकं विशेषतोऽप्याह—तत्रापीति। सर्वासां तासां साम्येन परमप्रियतमत्वेऽपि यां गोपीं प्रति अस्य कृष्णस्य प्रेमविशेषः सर्वतोऽसाधारणः प्रेमा यदा ईक्ष्यते। नितरां सर्वतोभावेन एषैव कृष्णस्य प्रियेति प्रतीयते निश्चयेन ज्ञायते॥२१६॥

भावानुवाद—इस प्रकार सामान्य रूपसे समस्त गोपियोंके विषयमें बतलाकर अब प्रत्येककी विशेषता बतलानेके लिए 'तत्रापि' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। इस प्रकार सभी गोपियाँ समान रूपसे श्रीकृष्णकी प्रियतमा होनेपर भी जब वे जिस गोपीकी ओर विशेष प्रेम सहित देखते हैं, तब निश्चित रूपसे ऐसा लगता है कि वही गोपी समस्त प्रकारसे श्रीकृष्णकी अत्यन्त प्रिय है। अर्थात् इसीके प्रति ही श्रीकृष्णका असाधारण प्रेम है॥२१६॥

सर्वास्तदुचितां तास्तु क्रीड़ासुखपरम्पराम्।
सर्वदानुभवन्त्योऽपि मन्यन्ते प्रेम न प्रभोः॥२१७॥
प्रत्येकं चिन्तयन्त्येवमहो किं भविता कियत्।
सौभाग्यं मम येन स्यां कृष्णस्याधमदास्यपि॥२१८॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि वे सब गोपिकाएँ अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार अत्यधिक प्रेम सहित लीला-सुखकी धाराका सदैव अनुभव करती हैं, तथापि प्रेमके स्वभाववशतः उनमेंसे प्रत्येक यही सोचती हैं कि मुझे श्रीकृष्णके प्रति प्रेम नहीं है। इसलिए प्रत्येक गोपीके मनमें यही चिन्ता रहती हैं कि "क्या कभी मेरा ऐसा सौभाग्य होगा कि श्रीकृष्ण मुझ अधमाको दासीके रूपमें भी ग्रहण करेंगे?"॥२१७-२१८॥

दिग्दर्शिनी टीका—न च तासां बहुतरत्वेन कथञ्चिदपि तदनुरूपव्यवहार-सङ्कोचः कस्याञ्चिदप्यस्तीति वदन् प्रत्येकं तासां तस्मिन् प्रेमपरीपाक-निष्ठाविशेषं दर्शयति—सर्वा इति द्वाभ्याम्। तस्य परमप्रेमविशेषस्य उचितां योग्याम्। प्रभोः श्रीकृष्णस्य प्रेम स्वस्यां प्रियतामहं श्रीकृष्णस्य प्रेयसीति न मन्यत इत्यर्थः॥२१७॥

अतएव ताः प्रत्येकमेवं चिन्तयन्ति अभिलषन्तीत्यर्थः। अहो खेदे। मम सौभाग्यं किञ्चित् स्वल्पमपि किं भविता, येन सौभाग्येन दास्यपि तत्राप्यधमापि स्यामहं भूयासम्? एवं गोपाः कदाचिदात्मानं श्रीकृष्णस्य दासवरं परमप्रियतममपि मन्येरन्। अतः स्वसौभाग्यविशेषञ्च भावयन्ति। किन्तु, परं प्रेमविशेष-स्वभावतो मनोऽतृप्त्या भगवति विविधतृष्णां वहन्ति। गोप्यः परमप्रेमनिष्ठया सदैवातृप्तिविशेषेण परमदीनतां गताः, कदाचिदात्मानमधमां दासीमपि मन्यमानाः केवलं तद्दास्यमात्राय सौभाग्यमेवेच्छन्तीति गोपेभ्यो गोपीनां भावविशेषो द्रष्टव्य इति दिक्। यद्यपि श्रीवैकुण्ठपार्षदादीनामपि भक्तिस्वभावेन श्रीभगवच्चरणारविन्दभजनानन्दादौ तृप्तिर्नास्त्येव, तथापि परमशक्तिमतः श्रीभगवतः कृपाभरोऽस्मासु सर्वेष्वेव निर्विशेषतया विद्यत इति तेषां प्रत्येकं प्रतिभातीत्येवं श्रीगोलोकवर्त्तिभ्यो भेदो द्रष्टव्यः॥२१८॥

भावानुवाद—इस प्रकार अनेक गोपियोंके प्रति श्रीकृष्णका परमप्रेम वर्त्तमान रहनेपर भी किसी भी समय किसीके भी प्रति श्रीकृष्णका अनुरूप व्यवहार संकुचित नहीं होता है—ऐसा कहनेके लिए प्रत्येक गोपीके प्रेमकी चरम सीमाको प्राप्त विशेष निष्ठाका प्रदर्शन 'सर्वा' इत्यादि दो श्लोकों द्वारा कर रहे हैं। सभी गोपियाँ श्रीकृष्णके परम प्रेमके लिए योग्य होनेपर भी, अर्थात् उनकी लीला-सुखकी धाराका निरन्तर अनुभव करनेपर भी अपने आपको श्रीकृष्णकी प्रिया नहीं मानती हैं—ऐसी खेदपूर्ण बुद्धि ही उनके परिपक्व प्रेमका परिचायक है।

अतएव वे सभी मन-ही-मन अभिलाषा करती हैं—"अहो! क्या मेरा ऐसा सौभाग्य होगा कि श्रीकृष्ण मुझे अपनी अधम दासीके रूपमें भी ग्रहण करेंगे?" तथा सभी गोप श्रीकृष्णके परम प्रियतम होनेके कारण कभी-कभी स्वयंको श्रीकृष्णका सबसे श्रेष्ठ दास मानकर अपने आपको सौभाग्यशाली समझते हैं। किन्तु, परमप्रेमके विशेष स्वभाववशतः कभी तृप्त नहीं हो पाते हैं। इसलिए श्रीकृष्णकी प्रेममयी सेवाके विषयमें वे अनेक प्रकारकी तृष्णाओंसे युक्त रहते हैं। गोपियाँ परमप्रेमकी परिपक्व निष्ठावशतः सदैव अतृप्त रहनेके कारण परम

दीनताको प्राप्त करती हैं। इसलिए कभी-कभी अपने आपको अधम दासी माननेमें भी संकोच नहीं करती हैं तथा केवल श्रीकृष्णके दास्यमात्रकी प्राप्तिरूप परम सौभाग्यकी इच्छा करती हैं। इसके द्वारा समस्त गोपोंसे भी गोपियोंका विशेष भाव सूचित हो रहा है। उक्त विचारका यही दिग्दर्शन है।

यद्यपि वैकुण्ठके पार्षदोंको भी भक्तिके स्वभावके कारण श्रीभगवान्के चरणकमलोंके भजन-आनन्दके विषयमें बिलकुल तृप्ति नहीं होती है, तथापि वे सभी सोचते हैं कि हम सबपर परम शक्तिमान् श्रीभगवान्की प्रचुर कृपा समान रूपसे विद्यमान है। इस प्रकार वैकुण्ठके पार्षदोंकी तुलनामें गोलोकवासियोंके भाव उत्कृष्टतर हैं, अतएव भेद द्रष्टव्य है॥२१७-२१८॥

अहो स्वामिन् गभीरोऽयं दुस्तर्को महतामपि।
गाढ़प्रेमरसावेश-स्वभावमहिमाद्भुतः ॥२१९॥

श्लोकानुवाद—हे स्वामिन्! उस गाढ़ प्रेमरसका आवेश और उसके भावकी स्वाभाविक अद्भुत महिमा अत्यन्त गम्भीर है—महत्-पुरुष भी तर्क द्वारा उसको समझ नहीं सकते, इसलिए इस विषयको कोई निश्चित रूपसे बतला नहीं पाया है॥२१९॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वेवं सर्वतोऽधिकतरं श्रीकृष्णस्य तत्तत्कारुण्यविशेषं निरन्तरं साक्षादनुभवतामपि तेषां कथं तादृशो भावः सम्भवेत्तत्राह—अहो इति आश्चर्ये। अयमुक्तलक्षणः गाढ़ेन प्रेमरसेन य आवेशोऽभिभवस्तस्य स्वभावः प्रकृतिस्तस्य महिमा माहात्म्यं महतामपि दुस्तर्कः, दुःखेनापि तर्कयितुमशक्य इत्यर्थः। यतो गभीरोऽनन्त इत्यर्थः। किञ्च, अद्भुतः लोकोत्तरः निखिलकरणवृत्त्यतीत इति वा॥२१९॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि श्रीकृष्णकी सबसे अधिक कारुण्यका निरन्तर साक्षात् रूपसे अनुभव करनेवालेके लिए किस प्रकार वैसा भाव सम्भव होता है? इसके उत्तरमें 'अहो' इत्यादि श्लोक द्वारा कह रहे हैं—कैसा आश्चर्य है! ऐसे लक्षण अर्थात् गाढ़ प्रेमरसका आवेश और उस भावसे युक्त उन व्रजवासियोंके स्वभाव और माहात्म्यको महत्-पुरुष भी तर्क द्वारा समझ नहीं सकते हैं।

अर्थात् इस विषयमें दुःख करके भी तर्क करनेमें असमर्थ रहते हैं, क्योंकि उन व्रजवासियोंका स्वभाव और माहात्म्य गम्भीर अर्थात् अनन्त है तथा अद्भुत अर्थात् इन्द्रियोंकी सभी वृत्तियोंसे अतीत है॥२१९॥

एकदा यमुना-तीरे विहरन्नन्दनन्दनः।
शुश्रावात्मह्रदे तस्मिन् कालियं पुनरागतम्॥२२०॥

श्लोकानुवाद—एकबार श्रीनन्दननन्दन यमुना तटपर विहार कर रहे थे, उस समय उन्होंने सुना कि कालियनाग फिरसे अपने ह्रदमें आ गया है॥२२०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तमेव सप्रपञ्चं दर्शयितुं तत्रत्यं श्रीभगवल्लीलाविशेषमाह— एकदेत्यादिना भक्तमनोहरा प्रभोरित्यन्तेन। आत्मनः कालियस्य ह्रदे॥२२०॥

भावानुवाद—उक्त विषयको दृष्टान्त द्वारा विस्तार सहित प्रदर्शन करनेके लिए वहाँ घटित श्रीभगवान्‌की विशेष लीलाका वर्णन 'एकदा' इत्यादि श्लोक (२२०) से आरम्भ करके श्लोक (३५६) के 'भक्त मनोहरा' पद तक कर रहे हैं॥२२०॥

एकाकी तत्र गत्वाशु नीपमारुह्य वेगतः।
कूर्दित्वा निपपातास्मिन् ह्रदे निःसारयन्नपः॥२२१॥

श्लोकानुवाद—तब श्रीकृष्ण अकेले ही जल्दीसे वहाँ पहुँचे और कदम्बके वृक्षपर चढ़ गये तथा वहाँसे अत्यन्त वेगसे उस ह्रदमें कूद पड़े, जिससे उस ह्रदका जल बहुत दूर तक उछलने लगा॥२२१॥

दिग्दर्शिनी टीका—एकाकितया च गमनं स्नेहभरेण स्वसङ्गिनां महाविषदूषितस्थाने नयनायोग्यतया विमर्शनात्। किंवा, एते प्रेमभरेण तद् ह्रदविषयक-मदीय-निपातविहारं यत्नेन वारयिष्यन्तीत्याशङ्कातः अपो जलानि निःसारयन् वेगनिपातेनैव ह्रदाद्बहिः कुर्वन्। तथा च दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा. १०/१६/७)—*"सर्पह्रदः पुरुषसारनिपातवेग-, संक्षोभितोरगविषोच्छ्वसिताम्बुराशिः। पर्यक्प्लुतो विषकषायविभीषणोर्मिर्धावन् धनुःशतमनन्त-बलस्य किं तत्॥"* इति ॥२२१॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णके वहाँ अकेले जानेका उद्देश्य अपने सखाओंके प्रति अत्यधिक स्नेह था, क्योंकि उन्होंने विचार किया कि सखाओंको

भयानक विषसे दूषित स्थानपर ले जाना उचित नहीं है। या फिर वे सखा अपने प्रेमके कारण उस जहरीले विषसे दूषित कालियाह्रदमें कूदने रूपी मेरे विहारको यत्नपूर्वक बाधा देंगे। ऐसी आशङ्का करके वे तत्क्षणात् वहाँ पहुँचे और उस ह्रदमें अत्यन्त वेगसे कूद पड़े, जिससे उसका जल बहुत दूर तक उछलने लगा। यथा, श्रीमद्भागवत (१०/१०/७) में वर्णन है—"उन पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके द्वारा अत्यन्त वेग सहित ह्रदमें कूदनेसे उस ह्रदके साँप विचलित हो गये तथा उन व्याकुल सर्पोंके मुखसे निकले विषसे ह्रदका जल उछलने लगा और विष मिश्रित जलराशिकी भयङ्कर तरङ्गोंसे वह जल चारों ओर सौ हाथ तक फैल गया। असीम बलशाली भगवान्के लिए ऐसा कार्य बिलकुल भी असम्भव नहीं है॥"२२१॥

विचित्रसन्तारवितारलीलया,
जले लसंस्तद्बहुधा निनादयन्।
खलेन भोगैरमुनैत्य वेष्टितः,
स कौतुकी काञ्चिददर्शयद्दशाम्॥२२२॥

श्लोकानुवाद—विचित्र प्रकारसे तैरनेकी लीलाका विस्तार करते हुए श्रीकृष्ण विविध प्रकारसे जलवाद्यादि क्रीड़ा करने लगे। उसी समय खलस्वभाव कालियने अपने फणों द्वारा प्रभुको लपेट लिया और कौतुकी श्रीकृष्णने भी उसी रूपमें अपनी कुछ विचित्र अवस्था प्रदर्शित की॥२२२॥

दिग्दर्शिनी टीका—विचित्रौ बहुविधौ सन्तारवितारौ अनुलोम-प्रतिलोम-सन्तरणे एव लीला तया। लसन् क्रीड़न् शोभमान इति वा। बहुधा तज्जलं निनादयन् विचित्रजलवाद्यानि कुर्वन्नित्यर्थः। खलेन परमदुष्टेन अमुना कालियेन एत्य आगत्य स श्रीनन्दनन्दनः भोगैर्निजदेहावयवैर्निजदेहैरेव वा गुरुत्वेन बहुत्वं वेष्टितः सन्। काञ्चिदवाच्यां दशां निजावस्थाम् अदर्शयत्, यतः कौतुकी॥२२२॥

भावानुवाद—उस ह्रदमें श्रीकृष्ण विचित्र-विचित्र अनेक प्रकारकी अर्थात् सीधा या उलटकर तैरनेकी लीलाका विस्तार करके तथा जलमें अनेक प्रकारकी जलवाद्य (जलमण्डुक वाद्य) आदि क्रीड़ाएँ करते हुए शोभायमान होने लगे। तभी उस अत्यन्त दुष्ट कालियनागने

वहाँ आकर अपनी देह और फणों द्वारा बलपूर्वक श्रीनन्दनन्दनको लपेट लिया तथा कौतुकी श्रीकृष्णने भी उस खल कालियनाग द्वारा लपेटे जानेपर अपनी किसी विचित्र अवस्थाको प्रदर्शित किया॥२२२॥

तत्सङ्गिनस्तं सहसा प्रयातं,
गोपास्त्वनालोक्य मृता इवाभवन्।
सर्वे तदन्वेषणकातरा ययु–,
स्तत्पादचिह्नैर्ह्रदमीक्षितैरमुम् ॥२२३॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णके सहचर समस्त गोपबालक सहसा श्रीकृष्णको वहाँसे चला गया देखकर मृतककी भाँति हो गये। तब वे सभी दुःखित होकर उन्हें ढूँढ़ने लगे तथा उनके श्रीचरणकमलोंके चिह्नों (ध्वज–वज्र–अंकुश आदि) को देखते हुए कालियह्रद आ पहुँचे॥२२३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य श्रीनन्दनन्दनस्य सङ्गिनः सहचराः गोपाः, तं श्रीनन्दनन्दनं, तस्य श्रीनन्दनन्दनस्य अन्वेषणे मार्गणे कातरा विवशास्तेन विकला वा सन्तः। पश्चात् ईक्षितैस्तत्रैव लक्षितैः तस्य पादचिह्नैर्ध्वजवज्राङ्कुशादिभिर्द्वार–भूतैरमुं कालियसम्बन्धिनं ह्रदं ययुः॥२२३॥

भावानुवाद—श्रीनन्दनन्दनके सभी साथी गोपबालक सहसा उन्हें न देखकर मृतककी भाँति हो गये तथा दुःखसे व्याकुल होकर मार्गमें उन्हें ढूँढ़ने लगे। तत्पश्चात् श्रीनन्दनन्दनके श्रीचरणचिह्नोंको लक्ष्यकर वे सब कालियह्रदमें आ पहुँचे॥२२३॥

दृष्ट्वैव कृष्णं तमदृष्टचेष्टं,
मोहं गतास्तेऽस्य वयस्यसङ्घाः।
आच्छादितं यं वनवीथिभिर्ये–
ऽनालोकयन्तो न जिजीविषन्ति॥२२४॥

श्लोकानुवाद—जैसे ही साथी गोपबालकोंने कालियनागके फणों द्वारा लपेटे गये श्रीकृष्णके अङ्गोंको चेष्टारहित अवस्थामें देखा, उसी क्षण वे मूर्च्छित होकर गिर पड़े। इसका कारण था कि जब कभी श्रीकृष्ण वनके पथोंमें वृक्ष आदिकी ओटमें छिपनेके कारण दिखायी नहीं देते थे, तब वे समस्त गोपबालक अपने स्वभाववशतः श्रीकृष्णके

इतने भी वियोगको सहन न कर प्राण त्याग करनेकी इच्छा करते थे॥२२४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तं कालियभोगवेष्टिताङ्गं तत्रापि न दृष्टा न लक्षिता चेष्टा यस्य तथाभूतं कृष्णं दृष्ट्वैव। ते उक्तस्वभावाः, अस्य कृष्णस्य वयस्यसंघाः सर्वेऽपि गोपा इत्यर्थः। तच्चोचितमेवेत्याह—आच्छादितमिति। यं कृष्णं वनवीथिभिराच्छादितं सन्तमप्यनालोकयन्तो ये वयस्यसंघा न जीवितुमिच्छन्ति। एवमत्रैव वाक्योपसंहारः। किंवा पूर्वयोर्यच्छब्दयोराभ्यां यच्छब्दाभ्यां सम्बन्धः॥२२४॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२२४॥

गावो वृषा वत्सतरास्तथान्ये,
ग्राम्याः समग्राः पशवोऽथ वन्याः।
तीरे स्थितास्तत्र महार्त्तनादैः
क्रन्दन्ति कृष्णानन-दत्तनेत्राः॥२२५॥

श्लोकानुवाद—गाय, बैल, बछड़े, गाँव तथा वनमें रहनेवाले समस्त पशु उस ह्रदके तटपर आकर श्रीकृष्णके श्रीमुखको देखते हुए अत्यधिक करुण स्वरसे रोने लगे॥२२५॥

दिग्दर्शिनी टीका—न केवलं तत्सङ्गिनो गोपा एव परमदुःखिता बभूवुः, ग्रामारण्यपशवोऽपि तथैवाभवन्नित्याह—गाव इति। अन्ये महिष्यजादयः; वन्या हरिणादयः, तत्र ह्रदे तीरे स्थिताः सन्तः॥२२५॥

भावानुवाद—केवल श्रीकृष्णके सखाओंकी ही अत्यन्त दुःखवशतः ऐसी दशा नहीं हुई, बल्कि गाँव और वनके सभी पशुओंकी भी वैसी ही दशा हुई—इसे बतलानेके लिए 'गावो' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। गाँवके अन्य भैंस आदि सभी पशु तथा वनके हिरण आदि पशु भी ह्रदके तटपर खड़े होकर अत्यधिक करुण स्वरसे रोने लगे॥२२५॥

आक्रन्ददीना विहगा ह्रदस्य,
तस्यान्तरुड्डीय पतन्ति वेगात्।
वृक्षादयस्तत्क्षणमेव शोषं,
प्राप्ता महोत्पातचयाश्च जाताः॥२२६॥

श्लोकानुवाद—समस्त पक्षी व्याकुल होकर उच्च स्वरसे रोते-रोते उड़-उड़कर वेगसे उस ह्रदके जलमें गिरने लगे। सब वृक्ष तथा लताएँ उसी क्षण सूख गये तथा चारों ओर महा-उत्पात होने लगे॥२२६॥

दिग्दर्शिनी टीका—न च केवलं त एव तथा बभूवुः, सर्वे पक्षिणोऽपि स्थावराश्चापि मृतप्राया अभवन्नित्यर्थः। आक्रन्देति, आक्रन्देन अत्युच्चस्वररोदनेन दीना विकलाः, अन्तर्मध्ये पतन्ति। सर्वत्रैव तत्र परमोपद्रवाश्च बभूवुरित्याह—महेति, महान्तः गुरुतरा उत्पातचयाः भूकम्पादयः; ते च तत्रैव श्रीशुकेनापि उक्ताः—"*अथ व्रजे महोत्पातास्त्रिविधा ह्यतिदारुणाः। उत्पेतुर्भुवि दिव्यात्मन्यासन्नभयशंसिनः॥*" (श्रीमद्भा. १०/१६/१२) इति॥२२६॥

भावानुवाद—केवल स्थलचर पशुओंकी ऐसी अवस्था हुई हो, ऐसा नहीं, बल्कि आकाशके समस्त पक्षी यहाँ तक कि अचल वृक्ष आदि भी मृतककी भाँति हो गये। पक्षी उच्चस्वरसे रोते-रोते व्याकुल होकर उस ह्रदमें गिरने लगे तथा सभी वृक्ष आदि उसी क्षण सूख गये। चारों ओर भयसूचक महा-भीषण उत्पात अर्थात् भूकम्प आदि आरम्भ हो गये। इन भयानक उत्पातोंके विषयमें श्रीशुकदेव गोस्वामीने भी श्रीमद्भागवत (१०/१६/१२) में वर्णन किया है—"उस समय व्रजमें भूकम्प आना, आकाशसे उल्कापात गिरना तथा प्राणियोंके शरीरके बायें अङ्ग फड़कना आदि रूप निकट उपस्थित भयकी सूचना देनेवाले तीन प्रकारके अत्यन्त भीषण महा-उत्पात होने लगे॥"२२६॥

सम्प्रेरितोऽन्तः प्रभुणैव तेन,
धावन् जगाम व्रजमेकवृद्धः।
हाहा महारावगणैः सुघोरैः,
क्रन्दन्नुदन्तं तमथाचचक्षे॥२२७॥

श्लोकानुवाद—उसी समय प्रभु द्वारा मानो अन्तरमें प्रेरणा प्राप्तकर, एक वृद्ध दौड़ता हुआ व्रजमें आया और उसने जोर-जोरसे रोते हुए हा-हाकारपूर्वक अपने नेत्रोंसे देखा हुआ सब वृत्तान्त कह सुनाया॥२२७॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं व्रजवर्त्तिनां श्रीनन्दादीनामपि प्राक् तत्तदुत्पातदर्शनेन पश्चात्तद्वार्त्ताश्रवणेन च मृतप्रायतामाह—सम्प्रेरित इति त्रिभिः। तेन श्रीनन्दनन्दनेनैव

अन्तश्चित्तमध्ये सम्यक् प्रेरितः सन्, अन्यथा तस्य तत्रागमनासम्भवात्। तथापि कथं घटेतेत्यत्राह—प्रभुणा सर्वं कर्त्तुं समर्थेन। तस्य तत्र तेन प्रेरणञ्च तद्वार्त्ताश्रवणेन तेषां परमप्रेमविशेषाविर्भावनार्थम्। किंवा महोत्पात-दर्शनेनैव परमशङ्काकुलानां परमार्त्तानां शीघ्रं स्वनिकट-नयनार्थमित्यूह्यम्। एकः कश्चिद्वृद्धः वृद्धत्वेन रसविशेषहान्यापत्तेर्वाक्य-प्रामाण्याद्वा तत्प्रेरणमित्यूह्यम्। तं कालियह्रद-विषयक-श्रीकृष्णनिपातादिरूपम् उदन्तं वृत्तान्तमाचचक्षे वभाषे॥२२७॥

भावानुवाद—श्रीनन्द आदि व्रजवासी भी सर्वप्रथम उन उत्पातोंको देखकर तथा बादमें उस वृत्तान्तको सुनकर मृतप्राय हो गये—इसे बतलानेके लिए 'सम्प्रेरित' इत्यादि तीन श्लोक कह रहे हैं। श्रीनन्दनन्दन द्वारा ही अपने अन्तर चित्तमें सम्पूर्ण रूपसे प्रेरित होकर कोई एक वृद्ध दौड़ता हुआ व्रजमें आया। अन्यथा उसका उस समय वहाँ जाना असम्भव था। तथापि ऐसा कैसे हुआ? इसके लिए ही कह रहे हैं कि प्रभु सब कुछ करनेमें समर्थ हैं। विशेषतः उस वृद्धको व्रजमें भेजनेका कारण था कि उसके द्वारा कथित वृत्तान्तको सुननेसे उन व्रजवासियोंमें परमप्रेमका आविर्भाव होता। अथवा फिर वैसे उत्पातोंको देखकर शङ्कासे व्याकुल और अत्यधिक दुःखित उन्हें शीघ्र ही अपने निकट लानेके लिए ऐसा किया—जानना होगा। "किसी एक वृद्ध" को प्रेरित करनेका उद्देश्य यह है कि इससे रसकी हानि नहीं होगी, क्योंकि उसकी बातोंको प्रमाणस्वरूप सभी ग्रहण करेंगे। उस वृद्धने जोर-जोरसे रोते हुए हा-हाकारपूर्वक कालियह्रदमें श्रीकृष्णका कूदना इत्यादि जो सब कुछ अपनी आँखोंसे देखा था, उस वृत्तान्तको कह सुनाया॥२२७॥

प्रागेव दृष्ट्वा महतो भयङ्करा-
नुत्पातवारान् बहुसम्भ्रमाकुलाः।
अन्वेषणार्थं व्रजमङ्गलस्य ते,
घोषस्थिताः सन्ति बहिर्विनिःसृताः॥२२८॥

श्लोकानुवाद—उस वृद्धके पहुँचनेसे पहले ही वहाँ महाभयङ्कर उत्पातोंके द्वारा व्याकुल होकर सभी व्रजवासी व्रजके मङ्गलस्वरूप श्रीकृष्णको ढूँढ़नेके लिए अपने निवास स्थानसे बाहर निकल चुके थे॥२२८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततः प्राक्तनं तेषामेव वृत्तमाह—प्रागेवेति। उत्पातानां वारान् समूहान्; व्रजमङ्गलस्य कृष्णस्येति व्रजस्य मङ्गलरूपे तस्मिन् स्वस्थे स्थिते सति कदाचिदप्युत्पातास्तादृशा न सम्भवेयुरेवेति तस्यान्वेषणार्थं घोषे निजावासे स्थिताः श्रीनन्दयशोदादयः प्राक् तद्वृद्धगमनात् पूर्वमेव घोषाद्बहिर्विनिःसृताः सन्तीत्यर्थः॥२२८॥

भावानुवाद—अब उस वृद्धके व्रजमें पहुँचनेसे पहले व्रजकी अवस्थाका वर्णन 'प्रागेव' इत्यादि श्लोक द्वारा कर रहे हैं। उन महाभयङ्कर उत्पातोंको देखकर समस्त व्रजवासी भयसे व्याकुल हो गये थे। यद्यपि व्रजके मङ्गलस्वरूप श्रीकृष्णके सर्वदा स्वस्थ स्थितिमें रहनेके कारण कभी भी वैसे उत्पातोंसे किसी प्रकारके भय आदिकी आशङ्काकी सम्भावना नहीं थी, तथापि उन्हें ढूँढ़नेके लिए श्रीनन्द-यशोदा आदि उस वृद्धके आनेसे पहले ही अपने भवनसे बाहर निकल चुके थे॥२२८॥

पुनः प्रवयसस्तस्य भग्नकण्ठस्वरस्य तु।
तद्वाक्यं तेषु सहसा वज्रपात इवाभवत्॥२२९॥

श्लोकानुवाद—फिर उस वृद्धके अवरुद्ध कण्ठसे निकले श्रीकृष्णके कालियह्रदमें कूदनेकी वार्त्तारूपी असहनीय वचन तो उन व्रजवासियोंके लिए सहसा महा-वज्रपातकी तरह हो गये॥२२९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत् कालियह्रदविषयक-श्रीकृष्णनिपातादि-वार्त्तारूपं वाक्यम्॥२२९॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२२९॥

स गृहेऽवस्थितो रामो मिथ्या मिथ्येति घोषयन्।
सान्त्वयन् व्रजलोकांस्तान् मृतप्रायान् प्रधावतः॥२३०॥
मातरं रोहिणीं यत्नात् प्रबोध्य गृहरक्षणे।
नियुज्य पुरतो यातैर्धावित्वा तैः सहामिलत्॥२३१॥

श्लोकानुवाद—किन्तु श्रीबलरामजीने जो उस दिन घरपर ही थे, "यह झूठ है, झूठ है" कहकर मृतककी भाँति हो रहे तथा कालियह्रदकी ओर दौड़े जा रहे व्रजवासियोंको सान्त्वना दी। उन्होंने

माता श्रीरोहिणीको यत्नपूर्वक समझा-बुझाकर गृह-रक्षाके लिए वहीं रोक दिया तथा स्वयं दौड़कर आगे भागे जा रहे व्रजवासियोंसे जा मिले॥२३०-२३१॥

दिग्दर्शिनी टीका—स निजानुजप्रभावादि ज्ञातवान्। घोषयन् सर्वत उच्चैः शब्दं कारयन्, तेनैव तान् कृष्णान्वेषणार्थं निर्गतान् सान्त्वयन् आश्वासयन् धावित्वा वेगेनाभिद्रुत्य तैर्व्रजजनैः सह अमिलत् सङ्गत इति द्वाभ्यामन्वयः। कीदृशैः? पुरतोऽग्रे यातैः दूरं गतैरित्यर्थः। नन्वयं कथं पश्चाद्भूतः? इत्यत्राह—मातरमिति प्रबोध्य श्रीकृष्णप्रभावादिकं प्रकर्षेण बोधयित्वा यत्नेन तां गृहरक्षणे श्रीकृष्णभोजनादि-गृहकृत्यावेक्षणे नियुज्य॥२३०-२३१॥

भावानुवाद—श्रीबलरामजी अपने अनुज श्रीकृष्णके प्रभावको जानते थे, इसलिए उन्होंने उच्च स्वरसे "यह झूठ है, झूठ है" कहते-कहते श्रीकृष्णको ढूँढ़नेके लिए निकले उन व्रजवासियोंको सान्त्वना दी। तथापि वे मृतप्राय होकर ही कालियह्रदकी ओर दौड़े चले जा रहे थे। बादमें श्रीबलरामजी भी दौड़ते हुए उन व्रजवासियोंसे जा मिले। यदि आपत्ति हो कि श्रीबलरामजी पीछे क्यों रह गये? इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि माता श्रीरोहिणीजीको श्रीकृष्णके प्रभाव आदिके विषयमें सम्पूर्ण रूपसे समझाकर तथा श्रीकृष्णके लिए भोजन आदि सामग्री तैयार करने इत्यादि घरके कर्त्तव्योंके प्रति नियुक्त कराकर और यत्नपूर्वक उन्हें घरकी रक्षाके लिए वहीं रोककर बादमें श्रीबलराम अन्य व्रजवासियोंसे जा मिले॥२३०-२३१॥

अचिरात्तं ह्रदं प्राप्तः सोऽनुजं वीक्ष्य तादृशम्।
नाशक्नोद्रक्षितुं धैर्यं रुरोद प्रेमकातरः॥२३२॥

श्लोकानुवाद—श्रीबलरामजी शीघ्र ही उस ह्रदके निकट जा पहुँचे। वहाँ पहुँचकर वे अनुज श्रीकृष्णकी वैसी अवस्था देखकर धैर्य धारण नहीं कर पाये तथा स्वयं भी प्रेमसे व्याकुल होकर रोने लगे॥२३२॥

दिग्दर्शिनी टीका—स रामः अनुजं श्रीकृष्णं तादृशं तथाभूतं वीक्ष्य॥२३२॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२३२॥

विलापं विविधं चक्रे काष्ठपाषाणभेदकम्।
क्षणान्मूर्छामनुप्राप्तो यशोदानन्दवत् स तु॥२३३॥

श्लोकानुवाद—श्रीबलरामजी ऐसा विविध विलाप करने लगे जिसे सुनकर काष्ठ-पत्थर आदि भी फट जायें। क्षणकालके लिए श्रीयशोदा और श्रीनन्दराजकी भाँति वे भी मूर्च्छित हो गये॥२३३॥

दिग्दर्शिनी टीका—काष्ठानामपि पाषाणानामपि च भेदकं विदारकम्। अनु-शब्देन यशोदानन्दवदित्यनेन च तयोरपि ततः पूर्वमेव मूर्च्छाप्राप्त्यादिकं ध्वनितम्॥२३३॥

भावानुवाद—श्रीबलरामजी विविध प्रकारसे ऐसा विलाप करने लगे जिसको सुनकर काष्ठ और पत्थर भी फट जायें। श्रीयशोदा और श्रीनन्दकी भाँति वे भी मूर्च्छित हो गये। इसके द्वारा ध्वनित होता है कि श्रीनन्द-यशोदा पहलेसे ही मूर्च्छित थे॥२३३॥

ततस्तेषाञ्च सर्वेषां प्राणिनामार्त्तिपूरिताः।
महाक्रन्दवरा घोरा बभूवुर्विश्वरोदकाः॥२३४॥

श्लोकानुवाद—तब व्रजमें स्थित समस्त प्राणियोंका ऐसा महा-दुःखपूर्ण रोनेका घोर शब्द हुआ, मानो समस्त विश्व ही रो रहा हो॥२३४॥

दिग्दर्शिनी टीका—प्राणिनामिति तत्रत्याखिलजीवानामेवेत्यर्थः। विश्वं जगदपि रोदयन्तीति तथा ते॥२३४॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२३४॥

तेन नादेन महता बलरामः स चेतितः।
आत्मानं स्तम्भयामास यत्नाद्धीरशिरोमणिः॥२३५॥

श्लोकानुवाद—उस अत्यन्त मार्मिक घोर रोदनकी गूँजसे धीर-शिरोमणि श्रीबलरामजी मूर्च्छासे सचेत हुए तथा बड़े यत्नसे उन्होंने अपने आपको सम्भाला॥२३५॥

दिग्दर्शिनी टीका—सः प्राप्तमूर्च्छोऽपि चेतितः संज्ञांप्रापितः। स्तम्भयामास धैर्यवन्तञ्चकार॥२३५॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२३५॥

क्षणेन संज्ञां पितरौ गतौ तौ,
दृष्ट्वा सुतं तादृशमुद्रुदन्तौ।

वेगात्तमेव ह्रदमाविशन्तौ,
रुद्धौ बलाच्छ्रीबलिना कराभ्याम्॥२३६॥

श्लोकानुवाद—क्षणकालके बाद जब श्रीनन्द और श्रीयशोदा सचेत हुए, तब पुत्रको वैसी अवस्थामें देखकर महान रोदन करते हुए वेगपूर्वक उस ह्रदमें प्रवेश करनेके लिए दौड़े। किन्तु श्रीबलरामजीने बलपूर्वक अपने हाथोंसे उन्हें रोक लिया॥२३६॥

दिग्दर्शिनी टीका—पितरौ यशोदा-नन्दौ। सुतं श्रीकृष्णं तादृशं दुरवस्थसदृशं दृष्ट्वा, श्रीबलिना श्रीबलभद्रेण कराभ्यां बलात् स्वशक्त्या रुद्धौ आवृतौ। अतोऽपि गृहे रोहिण्या यत्नेन रक्षणमिति ज्ञेयम्, अन्यथा द्वाभ्यां कराभ्यां त्रयाणां तेषां रोधनाशक्तेः॥२३६॥

भावानुवाद—श्रीयशोदा और श्रीनन्द अपने पुत्र श्रीकृष्णको दुरावस्था जैसी स्थितिमें देखकर शीघ्र ही उस ह्रदमें प्रवेश करनेके लिए दौड़े, किन्तु श्रीबलदेवजीने बलपूर्वक अपने दोनों हाथोंसे पकड़कर उन्हें रोक लिया। ऐसा बोध होता है कि इसलिए ही उन्होंने यत्नपूर्वक माँ श्रीरोहिणीको घरकी रखवालीके लिए रोक दिया था, अन्यथा दो हाथों द्वारा तीनोंको रोकना असम्भव होता॥२३६॥

मूर्छितान्मृततुल्यांस्तान् सर्वान् दृष्ट्वार्त्तियन्त्रितः।
सुगद्गदस्वरेणोच्चैः कृष्णं सम्बोध्य सोऽब्रवीत्॥२३७॥

श्लोकानुवाद—श्रीबलरामजीने जब उन समस्त व्रजवासियोंकी मृतकके समान मूर्च्छित अवस्था देखी, तब वे दुःख द्वारा वशीभूत होकर गद्गद कण्ठ द्वारा उच्च स्वरसे श्रीकृष्णको सम्बोधन करते हुए इस प्रकार कहने लगे॥२३७॥

दिग्दर्शिनी टीका—आर्त्त्या यन्त्रितो वशीकृतः स बलरामः॥२३७॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२३७॥

श्रीबलदेव उवाच—

एते न वैकुण्ठनिवासि-पार्षदा,
नो वानरास्ते न च यादवा अपि।

गोलोकलोका भवदेकजीवना,
नश्यन्त्यशक्या भगवन् मयावितुम्॥२३८॥

श्लोकानुवाद—श्रीबलदेवजीने कहा—हे भगवन्! ये वैकुण्ठके पार्षद नहीं हैं, अथवा अयोध्यावासी बन्दर आदि भी नहीं हैं, या फिर द्वारकावासी यादव आदि भी नहीं हैं, ये तो गोलोकवासी हैं, जिनके आप ही एकमात्र जीवन हैं। इसलिए मैं इनकी रक्षा करनेमें असमर्थ हूँ॥२३८॥

दिग्दर्शिनी टीका—एते श्रीनन्दादयः, वैकुण्ठनिवासिनः पार्षदा गरुड़ादयो न भवन्ति; ते अयोध्यानिवासिनो वानराश्च श्रीहनूमदादयोऽपि नो भवन्ति; न च ते द्वारकावासिनो यादवाः श्रीमदुद्धवादयोऽपि भवन्ति। किं तर्हि? गोलोकस्य लोका जनाः, अतो भवानेवैको जीवनं येषां ते; अतएव मया अवितुं नाशतो रक्षितुमशक्या नश्यन्ति म्रियन्ते। अयमर्थः—वैकुण्ठपार्षदादयस्ते भवद्विरहादिकमपि सोढुं शक्नुवन्ति, त्वदीयप्रभावविशेषं सदैवानुसन्दधते; अतो मयापि प्रबोध्य रक्षिताः स्युः। एते तु परमप्रेमभरोपहतचित्ता विगतानुसन्धानाः क्षणमपि त्वदीयविच्छेदमप्यसहमानाः कथमीदृशीं ते दशां सहेरन्? अतो म्रियन्त एवेति भावः॥२३८॥

भावानुवाद—श्रीबलदेवजीने कहा, हे भगवन्! ये श्रीनन्द-श्रीयशोदा आदि वैकुण्ठके पार्षद श्रीगरुड़ आदि नहीं हैं, या फिर अयोध्यावासी श्रीहनुमान आदि वानर भी नहीं हैं और न ही ये द्वारकावासी श्रीउद्धव आदि यादव हैं। यदि कहो तो फिर ये कौन हैं? इसके लिए कहते हैं—ये गोलोकवासी हैं और आप ही इनके एकमात्र जीवन हैं। इसलिए मैं भी इनकी रक्षा करनेमें असमर्थ हूँ, सचमुच शीघ्र ही इनके प्राण निकल जायेंगे।

तात्पर्य यह है कि वैकुण्ठके पार्षद आपके विरहको सहन करनेमें समर्थ हैं, क्योंकि वे सदा आपके विशेष प्रभावका अनुसन्धान (खोज) करते रहते हैं, अतएव मैं भी उन्हें समझा-बुझाकर उनकी रक्षा करनेमें समर्थ हूँ। किन्तु ये श्रीनन्द-यशोदा आदि सदैव आपके प्रचुर प्रेमवशतः अपनी सुध-बुधसे रहित हैं, अर्थात् जिनको अपने विषयमें ही कुछ पता नहीं है, वे किस प्रकार आपके विशेष प्रभावको जान सकते हैं? अतएव जब ये क्षणकालके लिए भी आपके वियोगको सहन करनेमें असमर्थ हैं, तब ये कैसे आपकी ऐसी दशाको सहन

करेंगे? अर्थात् आपके विरहको सहन नहीं कर पानेके कारण ये शीघ्र ही मृत्युके मुखमें पतित होंगे॥२३८॥

प्राणैर्वियुक्ता न भवन्ति याव–,
त्तावद्विनोदं करुण त्यजैतम्।
कृष्णान्यथा गोष्ठजनैकबन्धो,
गन्तासि शोकं मृदुलस्वभावः॥२३९॥

श्लोकानुवाद—हे दयामय! इनके प्राण निकलनेसे पहले ही आप अपने इस करुण खेलको छोड़ दें, नहीं तो हे कृष्ण! व्रजजन-बन्धो! इनके प्राण निकलनेके बाद आप भी अत्यन्त दुःखी होंगे, क्योंकि आपका स्वभाव कोमल है॥२३९॥

दिग्दर्शिनी टीका—हे करुण! परमकारुणिक! यद्वा, हे मूर्त्तकरुणरस! एतं चेष्टाराहित्यादिरूपं विनोदं कौतुकं त्यज। हे कृष्ण! अन्यथा शीघ्रैतद्विनोदात्यागेन शोकं गन्तासि प्राप्स्यसि। यतो मृदुलः परमदुःखसहनासमर्थः स्वभावो यस्य सः। किञ्च, गोष्ठजना एव एके मुख्या अनन्या वा बन्धवो यस्य तस्य सम्बोधनम्। अत एषां शोकदुःखं कदाचिदपि सोढ़ु न शक्ष्यसीत्यर्थः॥२३९॥

भावानुवाद—हे करुण! हे परम करुणा करनेवाले! अथवा हे करुणरसकी मूर्त्ति! आप अपनी इस असमर्थता रूप क्रीड़ा-कौतुकको छोड़ दें। हे कृष्ण! यदि आप इस क्रीड़ाको शीघ्र ही नहीं छोड़ेंगे तो आप अत्यन्त दुःखित होंगे, अर्थात् इन सबके प्राण निकल जायेंगे। हे व्रजवासियोंके ही एकमात्र बन्धु! आपका स्वभाव कोमल है, अतएव आप ऐसे परम दुःखको सहन करनेमें असमर्थ होंगे॥२३९॥

श्रीसरूप उवाच—

गोप्यो विलापैर्विविधैरुदन्त्यो,
मोमुह्यमानाः परमार्त्तगात्र्यः।
पार्श्वे प्रभोर्गन्तुमिव प्रविष्टा–,
स्तास्तं ह्रदं शोकविनष्टचित्ताः॥२४०॥

श्लोकानुवाद—श्रीसरूपने कहा—हे ब्राह्मण! उस समय गोपियाँ मूर्च्छित अवस्थासे उठकर विविध प्रकारके विलाप सहित रोदन करती

हुई दुःखित होकर पुनः मूर्च्छित हो गयीं। कुछ समय बाद सचेत तो हुईं, परन्तु शोकसे विचारशून्य होकर फिर श्रीकृष्णके निकट जानेके लिए उस ह्रदमें प्रवेश करने लगीं॥२४०॥

दिग्दर्शिनी टीका—श्रीगोप्यस्तु परमविह्वलतया पश्चात् पतिताः कथञ्चिदागत्य निजप्राणेश्वरं तादृशं वीक्ष्यैव तस्मिन् ह्रदे प्राविशन्नित्याह—गोप्य इत्यादि। मोमुह्यमानाः पुनः पुनर्मुह्यन्त्य इति सर्वपश्चादागमनकारणमुक्तम्। अतएव शेषे तासां चरित-वर्णनमित्यपि ज्ञेयम्। परमार्त्तानि मुक्तकेश-भग्नवलयत्वादिना परमदुःखितानि गात्राण्यपि यासां ताः। इवेति परमार्थतो मरणायैव प्रवेशात्। ननु सर्वज्ञशिरोमणिवर्गपूज्यपादानां तासां कथं तादृश-श्रीभगवत्प्रभावाज्ञानं सम्भवति? तत्राह—शोकेन विशिष्टमुपहतं चित्तं यासां ताः। ननु शोकोऽपि कथं नाम सम्भवेत्तत्राह—ता इति। क्षणमपि तद्विरहासहास्तदेकप्राणा उक्तमाहात्म्या इत्यर्थः॥२४०॥

भावानुवाद—श्रीगोपियाँ परम व्याकुल होकर अर्थात् अत्यधिक प्रेमके कारण विवश होकर भूमिपर गिर पड़ीं तथा बादमें बड़े कष्टसे किञ्चित्मात्र आगे बढ़नेपर अपने प्राणेश्वरकी ऐसी दशा देखकर ह्रदमें प्रवेश करनेकी चेष्टा करने लगीं—इसे बतलानेके लिए श्रीसरूप 'गोप्य' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। वे बार-बार मूर्च्छित हो रही थीं, इसीलिए सबसे बादमें वहाँ पहुँचीं। अतएव सबसे अन्तमें उनका चरित्र वर्णन कर रहे हैं। अत्यन्त दुःखित होनेके कारण उनके शरीर क्षीण हो गये, केश खुल गये तथा हाथकी चूड़ियाँ आदि अलङ्कार टूटकर गिर पड़े थे। 'इव' कार द्वारा सूचित हो रहा है कि वास्तवमें मरनेके लिए ही वे उस जहरीले ह्रदमें प्रवेश करनेकी चेष्टा करने लगीं।

यदि आपत्ति हो कि सर्वज्ञ शिरोमणिजन भी जिनके चरणकमलोंकी पूजा करते हैं, वे गोपियाँ किस प्रकार श्रीभगवान्के प्रभावको नहीं जान पायीं? इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि उस समय गोपियोंका चित्त शोकके कारण विशेष रूपसे आहत था। यदि पुनः कहो कि शोकने किस प्रकार उनके चित्तको ढक लिया? इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि वे गोपियाँ एकक्षणके लिए भी श्रीकृष्णका विरह सहन नहीं कर पातीं थीं, क्योंकि कृष्ण ही उनके प्राण हैं। अतएव श्रीकृष्णके निकट जानेके लिए ह्रदमें प्रवेश करने लगीं—यही उनका माहात्म्य है॥२४०॥

तावद्विहाय प्रभुरात्म–कौतुकं,
निर्गत्य तत्कालियभोगबन्धनात्।
उत्तुङ्गविस्तीर्णसहस्रतत्फणे–
ष्वारुह्य हस्ताब्जयुगं व्यसारयत्॥२४१॥

श्लोकानुवाद—तब श्रीकृष्ण अपने कौतुकको बन्दकर कालियके फणपाशसे बाहर निकले और कालियके ऊपरको उठे हुए हजारों फणोंपर चढ़ गये। तब उन्होंने सभी गोपियोंको वहाँ चढ़ानेके लिए अपने दोनों हस्तकमलोंको पसार दिया॥२४१॥

दिग्दर्शिनी टीका—स च श्रीगोपिकानां तद्दुःखभरमसहमानः सद्य एव तं निजविनोदं परित्यज्य ता नितरामानन्दयदित्याह—तावदिति त्रिभिः। यावत्ताः प्रविशन्ति, तावदेवात्मनः कौतुकं विहाय। अतएव तस्मात् कालियभोगेन बन्धनात् निर्गत्य बहिर्भूय उत्तुङ्गेषु अत्युच्चेषु विस्तीर्णेषु सहस्रेषु चापरिमितेषु तस्य कालियस्य फणेषु आरुह्य निजकरकमलद्वयं प्रसारितवान्, तेष्वेव युगपत् गोपीगणस्य नयनार्थम्। ननु दूरस्थितानां तथा तत् कथं सम्भवतीत्यत्राह—प्रभुरिति, असम्भाव्यमपि कर्त्तुं समर्थः॥२४१॥

भावानुवाद—किन्तु श्रीकृष्ण भी गोपियोंके वैसे दुःखको सहन नहीं कर पाये, इसलिए उन्होंने शीघ्र ही अपने कौतुकको परित्यागकर गोपियोंको अत्यधिक आनन्दित किया—इसे बतलानेके लिए 'तावद्' इत्यादि तीन श्लोक कह रहे हैं। जब गोपियोंने ह्रदमें प्रवेश करना आरम्भ किया, उसी समय श्रीकृष्णने अपने कौतुकको बन्द कर दिया और कालियके फणपाशसे बाहर निकल आये। फिर उन्होंने उस कालिय नागके अत्यन्त ऊँचे उठे हुए विशाल हजारों फणोंपर चढ़कर उन गोपियोंको एकसाथ ऊपर लानेके लिए अपने दोनों हस्तकमलोंको पसार दिया। यदि आपत्ति हो कि दूर खड़ी उन गोपियोंका किस प्रकार निकट आना सम्भव हुआ? इसीके लिए कह रहे हैं 'प्रभु'—अर्थात् श्रीकृष्ण असम्भवको भी सम्भव करनेमें समर्थ हैं॥२४१॥

तेष्वेव नीत्वा युगपन्निजप्रियास्ता,
गोपिकाः सत्वरमध्यरोहयत्।

रत्नस्थलीपङ्क्तिसमेषु सर्वत-,
श्चित्रातिचित्र-भ्रमणाभिरामिषु ॥२४२॥

श्लोकानुवाद—तत्पश्चात् अपनी प्रिय गोपियोंको एकसाथ ही उन्होंने जल्दीसे उस कालियनागके फणोंपर चढ़ा लिया। रत्नस्थलीकी पंक्तियोंकी तरह सुशोभित उन फणोंपर गोपियाँके साथ श्रीकृष्ण इधर-उधर विचित्र प्रकारसे भ्रमण करते हुए बड़ी सुन्दर शोभा पा रह थे॥२४२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च तेषु फणेष्वेव युगपदेकदैव ताः सर्वा एव गोपिकाः सत्वरं नीत्वा अध्यरोहयत् आरोहयामास। कीदृशेषु? रत्नस्थलीनां पङ्क्तिभिः समेषु तुल्येषु, महारत्ननिकराचितत्वात्। किञ्च, सर्वतः इतस्ततश्चित्रातिचित्रैर्बहुतरप्रकारैः परमाश्चर्यरूपैर्वा भ्रमणैः अभिरामिषु मनोरमशीलेषु॥२४२॥

भावानुवाद—तब श्रीकृष्णने उन सभी गोपियोंको एक साथ ही अति शीघ्र कालियके फणोंपर चढ़ा लिया। वे फण कैसे थे? वे फण रत्नस्थलीकी पक्तियोंके समान अर्थात् महारत्नोंसे परिपूरित थे। तदुपरान्त कह रहे हैं कि गोपियोंके साथ श्रीकृष्ण द्वारा उन फणोंपर इधर-उधर बहुत प्रकारसे अर्थात् परम आश्चर्य रूपमें भ्रमण करनेसे उनकी अत्यन्त मनोरम शोभा हो रही थी॥२४२॥

ताभिः समं तेषु महाद्भुतेषु,
रङ्गेषु दिव्यैर्बहुगीतवादनैः।
नृत्यन् विचित्रं स तु कौतुकार्णवो,
लेभे सुखं रासविलास-सम्भवम्॥२४३॥

श्लोकानुवाद—कौतुकके समुद्र श्रीकृष्णने उस फणरूपी महा-अद्भुत रङ्गमञ्चपर समस्त गोपियोंके साथ दिव्य गीत, वाद्य तथा विचित्र नृत्य आदि विहारोंसे रासविलासकी भाँति आनन्द अनुभव किया॥२४३॥

दिग्दर्शिनी टीका—स श्रीकृष्णस्तु ताभिर्गोपीभिः समं महाद्भुतेषु परमापूर्वेषु रङ्गेषु नृत्यस्थलीरूपेषु तेषु फणेषु रासविलाससम्भवं रासक्रीड़ोद्भूतं सुखं लेभे अन्वभूत्। किं कुर्वन्? ताभिः समं तेष्वेव दिव्यैः तत्रत्यदेवैर्दिवि क्रियमाणैर्बहुभिर्गीतैर्वादनैश्च वाद्यैर्विचित्रं यथा स्यात्तथा नृत्यन्। यतः कौतुकानामर्णवः सागरः। रासक्रीड़ा चेयं श्रीकृष्णस्य शक्तिविशेषतः; किंवा स्वीयमोहस्य गाम्भीर्येण शीघ्रानपगमात् श्रीनन्दादिभिर्नाव-लोकितेत्यूह्यम्॥२४३॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णने उस कालियनागके फणरूपी महा–अद्भुत रङ्गमञ्च अर्थात् नृत्य–स्थलीपर गोपियोंके साथ रासलीलासे उत्पन्न होनेवाले आनन्दका अनुभव किया। किस प्रकारसे? श्रीकृष्ण द्वारा उन गोपियोंके साथ नृत्यलीला आरम्भ करनेपर आकाशके देवता भी अनेक प्रकारके वाद्य–गीत सहित विचित्र नृत्य–कौतुकका विस्तार करने लगे। श्रीकृष्ण कौतुकके सागर हैं, अतएव कालियके फणोंपर गोपियोंके साथ श्रीकृष्णकी रासक्रीड़ा आदिका उनकी अद्भुत शक्तिके प्रभावसे अथवा फिर अधिक देर तक मूर्च्छित रहनेके कारण श्रीनन्द आदि दर्शन नहीं कर पाये॥२४३॥

रामेण प्रापितैर्बोधं वर्त्तमानैस्तटोपरि।
कृष्णं नन्दादिभिर्दृष्ट्वा प्राप्तौ तैर्हर्षविस्मयौ॥२४४॥

श्लोकानुवाद—श्रीबलरामजीने तटपर स्थित श्रीनन्दादि व्रजवासियोंको सचेत कराया। तब वे सब श्रीकृष्णको देख आनन्दित और विस्मित हो उठे॥२४४॥

दिग्दर्शिनी टीका—श्रीकृष्णस्य स्वस्थतादिदर्शनेन हर्षः, दुष्टकालियचेष्टयाप्यनभि–भवाद्यालोचनेन विस्मयश्च प्राप्तौ॥२४४॥

भावानुवाद—सचेत होनेपर श्रीनन्दराज आदि व्रजवासी श्रीकृष्णको स्वस्थ देखकर हर्षित हो उठे तथा श्रीकृष्ण द्वारा दुष्ट कालियकी चेष्टाओंको दमन करते देख विस्मित भी हुए॥२४४॥

दमयित्वाहिराजं स स्तुवतीनां समाच्छिनत्।
वस्त्राणि नागपत्नीनामुत्तरीयाणि सस्मितम्॥२४५॥

श्लोकानुवाद—फिर श्रीकृष्णने सर्पराज कालियको दमनकर अपनी मन्द मुस्कान सहित उनकी स्तुति कर रही नाग–पत्नियोंके उत्तरीय वस्त्रोंको छीन लिया॥२४५॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च स कृष्णः स्तुवतीनां कृष्णस्यैव स्तुतिं कुर्वतीनां नागस्य कालियस्य पत्नीनाम् उत्तरीयाणि वस्त्राणि सस्मितं भावविशेषेण प्रसाद–विशेषाभिव्यञ्जनाय वा स्मितेन सहितं यथा स्यात्तथा सम्यक् आच्छिनत् बलादाकृष्य जग्राह॥२४५॥

भावानुवाद—तब श्रीकृष्णने उनकी स्तुति करनेवाली कालियनागकी पत्नियोंके उत्तरीय वस्त्रोंको किसी विशेष भाव अथवा विशेष कृपाको प्रकट करनेके लिए मन्द मुस्कान सहित बलपूर्वक खींच लिया॥२४५॥

तैरेकं प्रग्रहं दीर्घं विरचयास्य नासिकाम्।
विध्वा प्रवेश्य वामेन पाणिनाधात् स कौतुकी॥२४६॥

श्लोकानुवाद—तब कौतुकी श्रीकृष्णने उन समस्त उत्तरीय वस्त्रोंसे सर्पराजको नथनेके लिए एक लम्बी रस्सी बना ली तथा उसे कालियकी नासिकाके छिद्रमें डालकर अपने बायें हस्तकमलसे पकड़ लिया॥२४६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तैरुत्तरीयवस्त्रैश्च सर्वैरेकं प्रग्रहं रज्जुविशेषं विरचय अस्याहिराजस्य नासिकां विद्ध्वा तस्यामेव तं प्रवेश्य स कृष्णो वामेन पाणिना निजकराम्बुजेन अधात् धृतवान्; यतः कौतुकी॥२४६॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२४६॥

नागमश्वमिवारूढश्चोदयामास तं हठात्।
धृतां दक्षिणहस्तेन मुरलीं वादयन् मुदा॥२४७॥

श्लोकानुवाद—तब श्रीकृष्ण उस कालियनागके ऊपर घोड़ेकी तरह सवार हो गये। फिर अपने दक्षिण हाथमें मुरली धारणकर उसे आनन्दपूर्वक बजाकर कालियको अश्वकी भाँति बलपूर्वक इधर-उधर जानेकी प्रेरणा देने लगे॥२४७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च तं नागं कालियं दमित्वा अश्वमिवारूढ़ःसन् हठाद्बलात् चोदयामास इतस्ततोऽश्ववद्गन्तुं प्रेरयामास। किं कुर्वन्? निजदक्षिणहस्तेन धृतां गृहीतां मुरलीं मुदा वादयन्॥२४७॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२४७॥

कशयेव कदाचित्तं तया सञ्चालयन् बलात्।
निजवाहनतां निन्ये प्रसादभरमाचरन्॥२४८॥

श्लोकानुवाद—कभी-कभी उस मुरलीको चाबुककी तरह उपयोगकर कालियको जोरसे दौड़ाने लगते। इस प्रकार उस कालियके प्रति उन्होंने अपने वाहनकी भाँति प्रचुर कृपा की॥२४८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तया मुरल्यैव कशयेव कदाचित् सञ्चालयन् बलान्निजवाहनतां निन्ये, श्रीगरुड़मिव निजवाहनं चकार इत्यर्थः। न चायं दमनादिना निग्रहो मन्तव्यं, किन्तु परमानुग्रह एवेत्याह—प्रसादेति। तथा च श्रीदशमस्कन्धे (श्रीमद्भा. १०/१६/३४) नागपत्नीस्तुतौ—*"अनुग्रहोऽयं भवता कृतो हि नो, दण्ड़ोऽसतां ते खलु कल्मषापहः। यद्दन्दशूकत्वममुष्य देहिनः, क्रोधोऽपि तेऽनुग्रह एव सम्मतः॥"* इत्यादि॥२४८॥

भावानुवाद—कभी-कभी उस मुरलीको ही चाबुक जैसे उपयोगकर बलपूर्वक उसे अपने वाहन अर्थात् श्रीगरुड़की भाँति चलाने लगते। अतएव श्रीकृष्ण द्वारा कालियके दमन करनेको निग्रह (दण्ड) न समझकर उसके प्रति उनकी अत्यधिक कृपा समझनी चाहिये। नागपत्नियोंकी स्तुतिमें भी यही अभिव्यक्त हुआ है, यथा (श्रीमद्भा. १०/१६/३४)—"आपके द्वारा दिया जानेवाला दण्ड निश्चित रूपमें पापियोंके पापनाश करता है, इसलिए आपने दण्ड देकर हमपर कृपा ही की है। विशेषतः हमारे इस पतिने जिस पापके कारण सर्प योनि प्राप्त की है, उस पापका नाश करनेवाले आपके क्रोधको भी हम आपकी कृपा ही मानती हैं॥"२४८॥

तत्पत्नीभिरुपानीतमनर्घ्यं रत्नभूषणम्।
वस्त्रमाल्यानुलेपञ्च तत्फणेष्वेव सोऽदधात्॥२४९॥

श्लोकानुवाद—कालियनागकी पत्नियोंने श्रीकृष्णको अमूल्य रत्नोंसे बने आभूषण, वस्त्र, माला और चन्दन आदि प्रदान किये, वे सब पूजा-द्रव्य श्रीकृष्णने कालियनागके फणोंपर ही रख दिये॥२४९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य कालियस्य पत्नीभिः, रत्नमयभूषणम्, वस्त्रादीनां द्वन्द्वैक्यम्। स कृष्णः कालियस्य फणेष्वेव धृतवान्॥२४९॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२४९॥

पद्मोत्पलादिभिः पुष्पैर्यामुनैस्ताभिराहृतैः।
भूषणैस्तैश्च ता गोपीरात्मानञ्च व्यभूषयत्॥२५०॥

श्लोकानुवाद—तब श्रीकृष्णने नागपत्नियों द्वारा लाये गये श्रीयमुनाजीके जलमें उत्पन्न कमल तथा पुष्प आदि और पूर्वोक्त आभूषणों द्वारा उन सभी गोपियोंको तथा अपने आपको भी विभूषित किया॥२५०॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवकारेण तदानीं न वपुषि पर्यधत्तेति बोधितम्। तत्कारणमेव दर्शयति—पद्मेति। ताभिः कालियपत्नीभिरेवाहृतैः; अत्रान्तर्भूतकारितार्थो द्रष्टव्यः; अहारितैरित्यर्थः। यद्वा, ताभिः कृत्वा आहृतैरानीतैर्यमुनाजलोद्भवैः पद्मादिभिः पुष्पैः तैश्च। कालियफणोपरिनिहितैर्भूषणैः कृत्वा ताभिरेव तन्नागपत्नीगणहस्तैरेव द्वारभूतैः ताः कालियफणेष्वधिरोहिताः सर्वा गोपीः आत्मानञ्च विशेषेण भूषयामास। स श्रीकृष्ण एव॥२५०॥

भावानुवाद—पूर्व श्लोकमें 'एव' कार द्वारा सूचित होता है कि श्रीकृष्णने तब उन सभी पूजाके उपहार भूषण आदिको धारण नहीं किया। इसका कारण बतलानेके लिए 'पद्म' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। बादमें कालियकी पत्नियों द्वारा लाये गये श्रीयमुनाजीके जलमें उत्पन्न कमल और अन्यान्य पुष्पोंके साथ पूर्वोक्त भूषण आदिसे, जो कालियके फणोंपर रखे थे, उन नागपत्नियोंके हाथोंसे ही कालियके फणोंपर विराजित समस्त गोपियोंको विभूषित करवाया तथा फिर स्वयं भी विभूषित हुए॥२५०॥

स्तूयमानः फणीन्द्रेण तेनासंख्यमुखेन सः।
निःससार ह्रदात् सर्वान् स्वीयान् हर्षेण नर्त्तयन्॥२५१॥

श्लोकानुवाद—फिर उस सर्पराजने अपने असंख्य मुखोंसे श्रीकृष्णकी स्तुति की। तब श्रीकृष्ण उस ह्रदसे बाहर निकल आये। यह देखकर श्रीनन्दराज आदि सभी प्रसन्नतासे नृत्य करने लगे॥२५१॥

दिग्दर्शिनी टीका—असंख्यानि अपरिमितानि मुख्यानि यस्य तेन; अनेन स्तवनस्य बहुविधवैचित्री सूचिता। एवं शेषसादृश्यमपि तं निन्य इत्यूह्यम्। स्वीयान् श्रीनन्दादीन्॥२५१॥

भावानुवाद—असंख्य मुखवाले कालियने अनेक प्रकारसे अर्थात् विचित्र-विचित्र रूपमें श्रीकृष्णकी स्तुति की। श्रीकृष्णने उसे शेषनाग जैसा कृपापात्र बनाया॥२५१॥

सुपर्णदुष्प्राप–महाप्रसादवरावली–लाभमहाप्रहृष्टात् ।
स कालियाद्गोपवधूसमूहैः समं महाश्चर्यतरोऽवरूढः॥२५२॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार महा–आश्चर्यपूर्ण लीलाका अभिनयकर श्रीकृष्ण समस्त गोपियोंको साथ लेकर उस कालियके फणोंसे नीचे उतरे, जो गरुड़को भी प्राप्त न होनेवाली महान कृपाको प्राप्त करके अत्यधिक प्रसन्न था॥२५२॥

दिग्दर्शिनी टीका—स कृष्णो गोपवधूसमूहैः समं कालियादवरूढ़ः अवततार। कीदृशात्? सुपर्णेन श्रीगरुड़ेनापि दुष्प्रापाणामलभ्यानां महाप्रसादरूपाणां सर्वदोषहीनानां सर्वसद्गुणमयानामित्यर्थः। यद्वा, महाप्रसादानां श्रीगोपीगणेन सह निजफणगणोपरि भगवतः समारोहणादीनां परमानुग्रहविशेषाणां वरावलीनाञ्च वाञ्छितार्थश्रेणीनां लाभेन महाप्रहृष्टात्। एवं बहुविधा वराश्च प्राप्ता इत्युक्तम्। ते च समूर्धगणविषयक–नित्य–श्रीभगवच्चरणारविन्दचिह्नावस्थितिरूपादयो वितर्क्याः। ननु कथमेवं तस्य महादुष्टस्य सम्भवेत्? कथं वा तत्फणेषु रासक्रीड़ादिकञ्च? तत्राह—महाश्चर्यतर इति। निखिलमद्भुतजातं तत्त्वतस्तस्मादेव सिध्यतीत्यर्थः॥२५२॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णने जिस प्रकार गोपवधुओंको कालियनागके फणोंपर चढ़ाया था, उसी प्रकारसे ही उन्हें उतारा। इस प्रकार श्रीकृष्णने उस कालियको श्रीगरुड़के लिए भी प्राप्त न होनेवाले महाप्रसादरूप अर्थात् समस्त दोषोंसे रहित तथा समस्त सद्गुणोंसे परिपूर्ण कृपासे विभूषित किया। अथवा महाप्रसाद कहनेका तात्पर्य है कि गोपियोंके साथ श्रीकृष्णने उस कालियके फणोंपर चढ़कर भगवत समारोह आदिरूप परम अनुग्रहको प्रकटितकर वरोंकी धारा द्वारा उसको विभूषित किया था। कालियनाग भी अपने वाञ्छित वरोंकी श्रेणीको प्राप्त करके अत्यधिक प्रसन्न था। इस प्रकार कालियको अनेक प्रकारके वर प्राप्त हुए। विशेषतः अपने मस्तकके भूषणके रूपमें नित्यकालके लिए भगवान्के श्रीचरणकमलोंका चिह्न प्राप्त किया, अर्थात् भगवान्ने कालियके मस्तकपर अपना श्रीचरणचिह्न अर्पण करके उसके प्रति अपनी कृपाको चिरस्मरणीय कर दिया। यदि आपत्ति हो कि उस महादुष्टके प्रति ऐसी महान कृपा किस प्रकार सम्भव हुई? अथवा किस प्रकार उसके फणोंपर रासलीला आदि हुई? इसके लिए कह रहे हैं—'महाश्चर्यतर' अर्थात् समस्त अद्भुत

लीलाओंके मूल कारण उन भगवान्के लिए कुछ भी असम्भव नहीं है, अर्थात् भगवान् द्वारा सब कुछ ही सम्भव होता है॥२५२॥

नीराजनालिङ्गनराजिकापरै-
र्नन्दादिभिर्हर्षदृगश्रुधारया ।
आप्लावितोऽसौ कृपयानुशिष्य तं,
किञ्चित् फणीन्द्रं निरसारयद् ह्रदात्॥२५३॥

श्लोकानुवाद—तब श्रीनन्दादि व्रजवासियोंने श्रीकृष्णकी आरती उतारी, बार-बार आलिङ्गन करते हुए उन्हें आनन्द-अश्रुकी धाराओंसे स्नान करवा दिया। फिर श्रीकृष्णने कृपापूर्वक उस कालियको कुछ उपदेश देकर उसे ह्रदसे बाहर कर दिया॥२५३॥

दिग्दर्शिनी टीका—नीराजनानामालिङ्गनानाञ्च राजिका परम्परा तत्परैः, हर्षेण या दृशोरश्रुधारा तयाप्लावितः स्नापितः सन् असौ कृष्णः कृपया तं फणीशं कालियं किञ्चिदनुशिष्य आज्ञाप्य। तथा च श्रीदशमस्कन्धे (श्रीमद्भा. १०/१६/६०-६१) श्रीभगवदाज्ञा—*"नात्र स्थेयं त्वया सर्प! समुद्रं याहि माचिरम्। स्वज्ञात्यपत्यदाराढ्यो गो-नृभिर्भुज्यते नदी॥ य एतत् संस्मरेन्मर्त्यस्तुभ्यं मदनुशासनम्। कीर्त्तयन्नुभयोः सन्ध्योर्न युष्मद्भयमाप्नुयात्॥"* इति॥२५३॥

भावानुवाद—इसके उपरान्त श्रीकृष्णके तटपर आनेपर श्रीनन्दादिने बार-बार उनकी आरती उतारी तथा बार-बार आलिङ्गन करते हुए आनन्द-अश्रुकी धाराओंसे श्रीकृष्णको स्नान करवा दिया। बादमें श्रीकृष्णने कृपापूर्वक उस कालियके प्रति कुछ उपदेश किये। यथा दशम-स्कन्ध (श्रीमद्भा. १०/१६/६०-६१) में भगवान्की आज्ञा—"हे सर्प! तुम अबसे यहाँ नहीं रहना। शीघ्र ही अपनी जाति, पुत्र और स्त्रियों सहित सागरकी ओर प्रस्थान करो, देरी मत करना। गाय-मनुष्य आदि सर्वदा इस यमुनाजीका जल पान करते हैं। तुम्हारे यहाँ रहनेपर वे यहाँ नहीं आ पायेंगे। जो व्यक्ति दोनों सन्ध्याओं (प्रातः और सायंकाल) में तुम्हारे प्रति मेरे इन आदेश वाक्योंका श्रद्धापूर्वक स्मरण और कीर्त्तन करेगा, वह तुमसे कभी भी भयभीत नहीं होगा॥"२५३॥

तैर्गोपगोपीनिवहैः प्रहृष्टै-
र्विस्तार्यमाणेन मनोहरेण।
वादित्रगीतादिमहोत्सवेन,
सन्तोषितोऽगाद्भगवान् स्वघोषम्॥२५४॥

श्लोकानुवाद—इसके बाद गोप-गोपियों द्वारा आयोजित एक विस्तारपूर्ण मनोहर वाद्य-नृत्य-गीतादि रूप महोत्सवसे आनन्दित होकर श्रीभगवान् अपने घरमें लौट आये॥२५४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तैस्तदेकपरायणैः वादित्रगीतादिभिर्यो महोत्सवस्तेन। स्वकीयं घोषमावासम्॥२५४॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२५४॥

कदाचित्तस्य दुष्टस्य कंसस्यानुचरौ प्रियौ।
बहिश्चरासुरूपौ तौ केश्यरिष्टौ महासुरौ॥२५५॥

आद्यो महाहयाकारो द्वितीयस्तु वृषाकृतिः।
गोपान् भीषयमाणौ तान् मर्दयन्तौ च गोकुलम्॥२५६॥

गगनस्पृङ्महाकायौ नादेन प्राणिनोऽखिलान्।
निपातयन्तौ भूपृष्ठे युगपद्व्रजमागतौ॥२५७॥

श्लोकानुवाद—किसी समय दुष्ट कंसके प्रिय अनुचर केशी तथा अरिष्टासुर नामक दो महा-असुर व्रजमें आये। उनमेंसे केशीकी बड़े भयङ्कर घोड़ेकी और अरिष्टासुरकी बैलकी आकृति थी। ये दोनों असुर गोपोंको भयभीत करने लगे तथा गौओंका मर्दन करने लगे। इन दोनोंके शरीर इतने विशाल थे, मानो आकाशको छू रहे हों तथा दोनोंके एक साथ गर्जनको सुनकर समस्त प्राणी भयभीत होकर पृथ्वीपर गिर न लगे॥२५५-२५७॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं करुणरसादि-मिश्र-वीररसलीलामुक्त्वा शुद्धवीररसलीला-माह—कदाचिदिति। एकदा तौ प्रसिद्धौ केश्यरिष्टो तत्संज्ञौ महासुरौ युगपदेककालमेव व्रजमागताविति त्रिभिरन्वयः। कीदृशौ? तस्य मथुराधिपस्य कंसस्य प्रियौ अनुचरौ सेवकौ; अतस्तस्यैव बहिश्चरा असवः प्राणास्तत्स्वरूपौ। आद्यः केशी महाहयस्येवाकारो यस्य सः, द्वितीयोऽरिष्टः वृषभस्येवाकृतिर्यस्य सः। तान् श्रीकृष्णप्रेमभराकृष्टचित्तान्;

गवां कुलञ्च मर्दयन्तौ पद्भिराक्रमन्तौ। गगनं स्पृशत इति तथा तौ महान्तौ च अतिस्थूलौ कायौ देहौ ययोस्तौ॥२५५-२५७॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीकृष्णकी करुणरस आदिसे मिश्रित वीररसकी लीलाका वर्णन करके अब शुद्ध वीररसकी लीलाका वर्णन 'कदाचित्' इत्यादि श्लोक द्वारा कर रहे हैं। एक बार केशी और अरिष्ट नामक प्रसिद्ध दो महा-असुर एक साथ एक ही समयमें व्रजमें आये। वे कैसे थे? वे दोनों मथुराके अधिपति दुष्ट कंसके प्रिय अनुचर होनेके कारण बहिश्चरगणों (जासूसों) के प्राणस्वरूप थे। उनमेंसे प्रथम केशी बड़े भयङ्कर घोड़ेकी आकृतिवाला तथा दूसरा अरिष्ट बैलकी आकृतिवाला था। वे श्रीकृष्णके प्रेमसे आकृष्ट चित्तवाले गोकुलवासी गोपोंके हृदयमें भयका सञ्चार करने लगे तथा गो-कुल अर्थात् गौओंको अपने पैरोंसे रोंदने लगे। उन दोनों असुरोंका बहुत विशाल स्थूलशरीर मानो आकाशको छू रहा था॥२५५-२५७॥

तयोर्भियाकृष्य बलेन कृष्णो,
निवार्यमाणोऽपि निजेष्टलोकैः।
आश्वास्य तान् दर्शितवीरदर्पः,
स्वपाणिनास्फोट्य भुजं पुरोऽभूत्॥२५८॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि केशी और अरिष्टके भयसे भयभीत होकर श्रीकृष्णके प्रिय गोप-गोपियोंने उन्हें उन दोनों असुरोंके पास जानेसे बलपूर्वक खींचकर रोक रखा था, तथापि वे सबको आश्वासन देकर वीरोंके समान दर्प दिखलाते हुए अपनी भुजाओंको ठोककर उन दोनोंके सम्मुख जा खड़े हुए॥२५८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तयोः केश्यरिष्टयोर्भिया निजैरिष्टलोकैः प्रियजनैर्गोप-गोपीभिः बलेनाकृष्य निवार्यमाणोऽपि निरुध्यमाणोऽपि तान् लोकान् आश्वास्य पुरोऽभूत् अग्रे निःसृतः॥२५८॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२५८॥

प्रागागतं वेगभरेण केशिनं,
पादप्रहारेण निरस्य दूरतः।

पश्चाद्वृषं प्राप्य विभिद्य नासिकां,
बद्ध्वाशु गोपीश्वर–सम्मुखे न्यधात्॥२५९॥

श्लोकानुवाद—पहले बड़े वेगसे केशी दैत्य श्रीकृष्णके सामने आया, तब उन्होंने अपने श्रीचरणके प्रहार द्वारा उसे दूर फेंक दिया। फिर जब अरिष्टासुर आया, तब श्रीकृष्णने शीघ्र ही उसकी नासिका छेदकर उसे नथ लिया और श्रीगोपीश्वर महादेवके सामने लाकर बाँध दिया तथा उनका वाहन समझकर उसकी रक्षा की॥२५९॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च वेगभरेण महाहयतया जवातिशयवत्त्वेन हेतुना प्राक् आदावेव आगतम्। दूरतो निरस्य निःशेषेणाक्षिप्त्वा। वृषं वृषाकृतिमरिष्टमागतं प्राप्य तस्य नासिकां विभिद्य विदार्य। गोपीश्वरस्य श्रीवृन्दावनान्तर्वर्त्ति–श्रीशिवलिङ्गस्य सम्मुखे न्यधात्। तस्य चालनाशक्त्या तद्वाहनत्वेनैव तस्मिन्नेव बद्ध्वा न्यासतयाऽरक्षदित्यर्थः ॥२५९॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२५९॥

पुनस्तमायातममन्दविक्रमो,
हयं समुत्पत्य महापराक्रमः।
बलात् समारुह्य गतीरनेकशो–
ऽनुशिक्षयन्निर्दमयन् व्यराजत॥२६०॥

श्लोकानुवाद—केशी दैत्य द्वारा फिरसे आक्रमण किए जानेपर विक्रमशाली श्रीकृष्ण महापराक्रमसे उसकी पीठपर चढ़ गये तथा उसे दमन करनेके लिए उसे अनेक प्रकारसे ऐसे भगाने लगे, मानो उसे चाल चलनेकी शिक्षा दे रहे हों। इस प्रकार उस घोड़ेरूपी असुरको दमन करके वे अति सुशोभित हुए॥२६०॥

दिग्दर्शिनी टीका—हयाकारं तं केशिनं पुनरायान्तं सन्तं समुत्प्लुत्य सम्यगुच्चैः कूर्दित्वा बलात् सम्यगारुह्य अनेकशः गतीरश्वचलनप्रकारान् अनुशिक्षयन् तेनैव निःशेषं दमयन् व्यराजत विशेषेणाशोभत। ननु महावेगबलवान् केशी यावत् पुनरेति, तावदेव कथं महाबलमरिष्टं बद्ध्वा गोपीश्वरे निधाय सद्य एव केशिग्रहणाय आशु तत्रैवागतः स्यात्तत्राह—अमन्दः परमशीघ्रः विक्रमो गमनागमनादि–चेष्टा यस्य सः; यतः महान् पराक्रमो वीर्यविशेषो यस्य सः॥२६०॥

भावानुवाद—घोड़ेकी आकृतिवाला केशी दैत्य फिरसे पूरे वेगके साथ कूदते–कूदते आया। तब महापराक्रमसे श्रीकृष्ण उसकी पीठपर चढ़ गये तथा अनेक प्रकारसे उसे चलनेकी शिक्षा देते हुए अन्तमें उसका दमन करके अत्यन्त सुशोभित हुए। यदि आपत्ति हो कि बलवान् केशीने जिस समय तक अत्यधिक वेगसे पुनरागमन नहीं किया, उस बहुत थोड़े समयमें ही श्रीकृष्णने किस प्रकार महाबलवान् अरिष्टासुरको बाँधकर श्रीगोपीश्वरके सामने खड़ा किया? तथा फिर किस प्रकार वे उसी क्षण केशीपर आक्रमण करनेके लिए अति शीघ्र ही वहाँ वापस आ गये? इसके लिए कह रहे हैं—वे अमन्द (परम शीघ्र) विक्रमशाली हैं, अर्थात् उनकी गमनागमन आदि चेष्टाओंको कोई देख नहीं सकता, क्योंकि वे महापराक्रमी अर्थात् महावीर्यवान् हैं॥२६०॥

हयं तमारुह्य निजान् वयस्यान्,
सुशीघ्रहस्तेन सहस्रशस्तान्।
विचित्र–तत्कूर्दन–कौतुकेन,
भ्रमन् भुवि व्योम्नि च सोऽभिरेमे॥२६१॥

श्लोकानुवाद—उस अश्वरूपी केशीपर चढ़कर श्रीकृष्णने शीघ्र ही अपने परमप्रिय हजारों सखाओंको भी हाथ पकड़–पकड़कर उसकी पीठपर चढ़ा लिया। फिर उसे विचित्र कौतुकपूर्वक कुदा–कुदाकर कभी पृथ्वीपर और कभी आकाशमें ले जाकर वे मनोहर रीतिसे खेलने लगे॥२६१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तं हयं केशिपृष्ठोपरीत्यर्थः। तान् परमप्रियतमान्; स श्रीकृष्णः विचित्रं तस्य केशिनो यत् कूर्दनं गतिविशेषस्तदेव कौतुकं तेन, कदाचिद्भुवि कदाचिच्च व्योम्नि भ्रमन् अभितो रेमे चिक्रीड़॥२६१॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२६१॥

क्षणान्नियम्य स्ववशे विधाय,
निबध्य पाशैस्तमपि व्रजान्तः।

अरक्षदारोहणकेलयेऽमुं,
वृषं तथानोगण–वाहनाय॥२६२॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार क्षणकालमें ही श्रीकृष्णने उस असुरको संयमितकर अपने वशमें कर लिया और अपनी खेल-सवारीके लिए उसे रस्सीसे बाँधकर वहीं व्रजमें रख लिया। श्रीगोपीश्वरके सामने बँधे हुए अरिष्टासुर बैलको भी शकट (बैल गाड़ी) ढोनेके लिए वहीं रख लिया॥२६२॥

दिग्दर्शिनी टीका—आरोहणरूपकेलये तं हयमपि व्रजस्यान्तर्मध्येऽरक्षत्। तथेति समुच्चये। अमुं श्रीगोपीश्वरे निहितम् अरिष्टाख्यं वृषञ्च, अनसां शकटानां गणस्य वाहनाय व्रजान्तरे वा अरक्षत्॥२६२॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२६२॥

नन्दीश्वरपुरे तत्र वसन्तं कृष्णमेकदा।
कंसाज्ञयागतोऽक्रूरो नेतुं मधुपुरीं व्रजात्॥२६३॥

श्लोकानुवाद—जिस समय श्रीकृष्ण नन्दीश्वरपुरीमें रह रहे थे, तब एक समय कंसकी आज्ञासे अक्रूर श्रीकृष्णको व्रजसे मथुरा ले जानेके लिए आया॥२६३॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं विशुद्धपरमकरुणरसलीलामाह—नन्दीश्वरेत्यादिना कथं ब्रुवेतामित्यन्तेन। तत्र तस्मिन् पूर्वोक्ते श्रीगोलोकवर्त्तिनि नन्दीश्वरसंज्ञके पुरे एव, एकदा कदाचिदक्रूर आगतः। किमर्थम्? तदानीं तत्रैव वसन्तं श्रीकृष्णं व्रजात्तस्मादेव मधुपुरीं नेतुम्। नन्दीश्वरपुर इत्यस्यात्र निर्देशेन पूर्वोक्ता लीला प्रायो वनान्तरेवेति ध्वनितम्॥२६३॥

भावानुवाद—अब श्रीसरूप विशुद्ध परम-करुणरसकी लीलाका वर्णन 'नन्दीश्वर' इत्यादि (श्लोक २६३) से आरम्भ करके (श्लोक संख्या ३४४ के अन्तिम पद) 'कथं ब्रुवेताम्' तक कर रहे हैं। पूर्वोक्त श्रीगोलोकस्थित नन्दीश्वर नामक पुरीमें एकबार अक्रूर उपस्थित हुए। किसलिए? उस समय उस व्रजमें वास कर रहे श्रीकृष्णको वहाँसे मथुरा ले जानेके लिए। यहाँ 'नन्दीश्वरपुर' कहनेसे यह ध्वनित हो रहा है कि पूर्वोक्त लीला प्रायः वनमें ही अनुष्ठित हुई थी॥२६३॥

तस्मिंस्तदानीं यद्वृत्तं तच्छ्रुत्वान्यत्रिका अपि।
शिलाकाष्ठादयो नूनं रुदन्ति विदलन्ति च॥२६४॥

श्लोकानुवाद—इस बातको सुनकर वहाँके व्रजवासियोंकी जो दशा हुई, उसका वर्णन करनेका सामर्थ्य किसीमें भी नहीं है। यहाँ तक कि इस बातको सुननेमात्रसे ही अन्य स्थानोंपर स्थित शिला तथा काष्ठ आदि भी रोने लगे और शोकसे टुकड़े-टुकड़े हो गये॥२६४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्मिन् व्रजे; तदानीन्तन-तत्रत्यलोकानां का वार्त्ता? इदानीम् अन्यत्रिका अन्यदेशवर्त्तिनोऽपि, तत्र च शिलादयोऽपि। नूनमिति वितर्के निश्चये वा। विदलन्ति विदारं लभन्ते॥२६४॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२६४॥

रात्रावार्कण्य तां वार्त्तां लोका गोकुलवासिनः।
व्यलपन् बहुधा सर्वे रुदन्तो मुमुहुर्भृशम्॥२६५॥

श्लोकानुवाद—रात्रिके समय उस वार्त्ता अर्थात् कंसकी आज्ञासे अक्रूर श्रीकृष्णको व्रजसे मथुरा ले जायेंगे—इसे सुनकर समस्त गोकुलवासी बहुत प्रकारसे विलाप करते हुए रोने लगे तथा बार-बार मूर्च्छित होने लगे॥२३५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तां कंसाज्ञयाक्रूरेण मधुपुर्यां श्रीकृष्णनयनसम्बन्धिनीं वार्त्तां, श्रीगोलोकवर्त्तिव्रज एव गोकुलं तद्वासिनः॥२६५॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२३५॥

पुत्रप्राणा यशोदा च विभ्यती दुष्टकंसतः।
जुगोप कृष्णमेकान्ते निह्नुत्य शपथैर्निजैः॥२६६॥

श्लोकानुवाद—श्रीयशोदाजीने अपने प्राणप्रिय श्रीकृष्णको दुष्ट कंससे भयभीत होकर एकान्तमें गुप्त स्थानपर छिपा दिया तथा अपनी शपथ दिलाकर उन्हें बाहर जानेसे रोक दिया॥२६६॥

दिग्दर्शिनी टीका—जुगोप निभृतमरक्षत्; निह्नुत्य वस्त्रादिना आच्छाद्य; निजैः शपथैरिति अन्यथा रहसि निह्नुत्य तस्य सङ्गोपनाशक्तेः॥२६६॥

भावानुवाद—तब श्रीयशोदाजीने श्रीकृष्णको एकान्त स्थानपर ले जाकर वस्त्र आदिसे ढक दिया। फिर अपनी शपथ दिलाकर उन्हें बाहर जानेसे रोक दिया अन्यथा श्रीकृष्णको एकान्त स्थानमें केवल वस्त्रोंसे ढककर छिपाना असम्भव था॥२६६॥

प्रातः प्रबोधितो नन्दोऽक्रूरेण बहुयुक्तिभिः।
प्रबोध्य रुदतीं पत्नीं स्वपुत्रं बहिरानयत्॥२६७॥

श्लोकानुवाद—प्रातःकालमें अक्रूरने अनेक प्रकारकी युक्तियों द्वारा श्रीनन्दजीको समझाया। तब वे अपनी रोती हुई पत्नी श्रीयशोदाको आश्वासन देकर अपने पुत्रको बाहर ले आये॥२६७॥

दिग्दर्शिनी टीका—बह्वीभिर्युक्तिभिः कंसपरमदुष्टताप्रदर्शन–श्रीकृष्णप्रभावभर–प्रतिपाल–नादिरूपाभिः प्रबोधितः प्रबोधं प्रापितः सन्। पत्नीं श्रीयशोदां रुदतीमपि तथैव प्रबोध्य। स्वपुत्रम् श्रीकृष्णम्॥२६७॥

भावानुवाद—प्रातःकालमें अक्रूरजीने अनेक युक्तियों अर्थात् कंसकी परम दुष्टताका प्रदर्शन तथा अपने भक्तोंके पालन आदि विषयमें श्रीकृष्णका प्रभाव बतलाकर श्रीनन्दराजको समझाया। तब श्रीनन्दराज अपनी रोती हुई पत्नी श्रीयशोदाजीको आश्वासन देकर अपने पुत्र श्रीकृष्णको बाहर ले आये॥२६७॥

हाहेत्यार्त्तस्वरैरुच्चै रुदतीनामलज्जितम्।
गोपीनां वीक्षमाणानां प्राणानिव समाच्छिनत्॥२६८॥

श्लोकानुवाद—ऐसा देखकर गोपियाँ बड़े दुःखित स्वरसे “हा हा–कार” करती हुई लज्जा त्यागकर रोने लगीं। उस समय ऐसा लग रहा था, मानो उनके देखते–देखते कोई बलपूर्वक उनके प्राणोंको ही निकालकर ले जा रहा हो॥२६८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य बहिर्नयनेन च श्रीनन्दो गोपीनां जीवनमेव बलादाचकर्षेत्याह—हा हेति। वीक्षमाणानामिति नन्देन स्वयं बहिः स्वपुत्रनयने किञ्चित् कर्त्तुमशक्त्या निरीक्षणमात्रं कुर्वतीनामित्यर्थः॥२६८॥

भावानुवाद—ऐसा प्रतीत हो रहा था कि अपने पुत्रको बाहर लानेके साथ ही साथ श्रीनन्दराजने गोपियोंके प्राणोंको ही बलपूर्वक

बाहर निकाल लिया हो—इसे बतलानेके लिए 'हा' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। तब वे गोपियाँ लज्जा त्यागकर आर्त्तस्वरसे "हा–हा–कार" करती हुई उच्च स्वरसे रोने लगी तथा दुःखपूर्वक केवल श्रीकृष्णकी ओर देखने लगीं। पिता द्वारा पुत्रको बाहर लाने और अन्य स्थानपर भेजनेके कारण वह गोपियाँ कुछ भी कहने या करनेमें असमर्थ थीं॥२६८॥

तदा यशोदा बहिरेत्यदीना,
निजाश्रुधाराः परिमार्ज्जयन्ती।
धृत्वा करे न्यासमिवात्मपुत्रं,
श्वफल्कपुत्रस्य करे न्यधत्त॥२६९॥

श्लोकानुवाद—तब श्रीयशोदाजी बाहर निकलीं तथा अपने अश्रुओंको पोंछते–पोंछते दुःखसे पीड़ित होकर अपने पुत्र श्रीकृष्णका हाथ पकड़कर उसे श्वफल्कके पुत्र अक्रूरके हाथमें अपनी बहुमूल्य धरोहरकी तरह सौंप दिया॥२६९॥

दिग्दर्शिनी टीका—श्वफल्कपुत्रस्याक्रूरस्य करे न्यासं निक्षेपमिवात्मपुत्रं श्रीकृष्णः न्यधत्त अर्पयामास॥२६९॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२६९॥

प्रोवाच नन्दञ्च तवापि हस्ते,
न्यस्तो मया प्राणधनाधिकोऽयम्।
कुत्राप्यविश्वस्य निधाय पार्श्वेऽ–,
त्रानीय देयो भवता करे मे॥२७०॥

श्लोकानुवाद—तब श्रीयशोदाजीने श्रीनन्दराजसे भी कहा—"मैंने अपने प्राणोंसे भी अधिक प्रिय इस पुत्रको आपके हाथोंमें सौंपा है, आप किसीका विश्वास नहीं करके इसे अपने पास ही रखना और फिर यहाँ वापस लाकर इसी प्रकार मेरे हाथोंमें सौंप देना॥"२७०॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्दञ्च प्रोवाच सैव किन्तदाह—तवापीति। अयं श्रीकृष्णः, न्यस्तः न्यासरूपेणार्पितः। यतः प्राणेभ्योऽपि धनेभ्योऽपि चाधिकः, अतो भवता

कुत्रापि कस्मिंश्चिदक्रूरादावपि अविश्वस्य विश्वासमकृत्वा; अतएव निजपार्श्वे निधाय अत्रानीय मम करे देयः॥२७०॥

भावानुवाद—केवल अक्रूरपर सम्पूर्ण विश्वास न कर पानेके कारण श्रीयशोदाजी अपने पति श्रीनन्दराजसे कहने लगीं—मैं अपने प्राणोंसे भी प्रिय धन श्रीकृष्णको आपके हाथोंमें समर्पित कर रही हूँ। अतएव आप कहींपर किसीके भी प्रति विश्वास न करके, यहाँ तक कि इस अक्रूरका भी विश्वास न करके सदा इसे अपने पास ही रखना तथा जल्दी वापस लाकर मेरे हाथोंमें लौटा देना॥२७०॥

एवं सुतस्नेहभरातुरा सती,
मोमुह्यमाना समयं विधाय सा।
कृष्णं विनैकात्मगृहं यदा गता–
क्रन्दस्तदासीद्व्रजयोषितां महान्॥२७१॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार पुत्रके प्रति अत्यधिक स्नेहसे व्याकुल होकर सती श्रीयशोदा श्रीनन्दराजको वचनबद्धकर मूर्च्छित हो गयीं। फिर जब उन्होंने श्रीकृष्णशून्य घरमें प्रवेश किया, तब सभी व्रजाङ्गनाएँ बहुत जोर-जोरसे रोने लगीं॥२७१॥

दिग्दर्शिनी टीका—समयं वाग्बन्धम्; सा श्रीयशोदा एकाकिनी आत्मनो गृहमागता यदा, तदा महानाक्रन्दः उच्चैरार्त्तनादेन रोदनशब्दः आसीदभूत्, तथापि श्रीकृष्णत्यागेन नैराश्यापत्तेः॥२७१॥

भावानुवाद—उस समय श्रीयशोदाजी श्रीनन्दराजको वचनबद्धकर अकेली जब घरमें आयीं, तब व्रजाङ्गनाएँ बहुत जोर-जोरसे रोने लगीं। तथापि श्रीकृष्णके त्याग द्वारा उदित निराशाके कारण श्रीयशोदाजी बार-बार मूर्च्छित होने लगीं॥२७१॥

यस्मिन् स्मृतेऽद्यापि शिलापि रोदिति,
स्रवत्यपो दारु पविश्च दीर्यते।
नूनं जगन्मज्जति शोकसागरे,
प्राणैर्वियुक्तं न भवेद्यदि क्षणात्॥२७२॥

श्लोकानुवाद—उनकी उस क्रन्दन ध्वनिका आज भी स्मरण होनेसे पत्थर रोने लगते हैं, सूखी लकड़ियाँ भी पानी होकर बहने लगती हैं तथा व्रज फट जाते हैं। यहाँ तक कि समस्त जगत् भी मृतकके समान हो जाता है, अर्थात् यदि जगत्के वासियोंके प्राण तत्क्षण न भी निकलें, किन्तु वे शोक-सागरमें निश्चय ही डूब जाते हैं॥२७२॥

दिग्दर्शिनी टीका—यस्मिन् आक्रन्दे, दारु शुष्ककाष्ठमपि, अपो जलानि, स्रवति वहति, पविर्वज्रमपि स्वयमेव दीर्यते; किमन्यद् बहु वक्तव्यं, जगदपि मृतप्रायमेव भवतीत्याह—नूनमिति वितर्के॥२७२॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२७२॥

यशोदया ता बहुधानुसान्त्विताः,
प्रबोध्यमानाः सरलस्वभावया।
महार्त्तिशोकार्णवमग्नमानसाः,
सकोपमूचुर्वत तां व्रजस्त्रियः॥२७३॥

श्लोकानुवाद—सरल स्वभाववाली श्रीयशोदाके द्वारा अनेक प्रकारसे सान्त्वना देने और समझाने-बुझानेपर भी व्रजगोपियाँ अत्यधिक शोकरूपी सागरमें निमग्न होनेके कारण क्रोधित होकर श्रीयशोदाको इस प्रकार कहने लगीं॥२७३॥

दिग्दर्शिनी टीका—बहुधेति मया मुनिपुत्रस्याक्रूरस्य श्रीनन्दस्य च हस्ते करे निक्षेपतया असौ समर्पितोऽस्ति। साधुलोकहस्तनिक्षिप्तद्रव्ये च कापि शङ्का न सम्भवति। "तच्छीघ्रं ताभ्यामेवासावत्रानीय मयि समर्प्य" इत्यादिना बहुप्रकारेण प्रबोध्यमाना अपि। अतएव तथा कपटाक्रूरयुक्तिजातप्रतीतेश्च सरलः अवक्रः सर्वतोऽप्रसारी वा स्वभावो यस्यां तथा। तां श्रीयशोदाम्॥२७३॥

भावानुवाद—बहुत प्रकारसे समझानेपर अर्थात् मैंने मुनिपुत्र अक्रूर तथा श्रीगोपराजके हाथोंमें अपने पुत्रको समर्पण किया है। सज्जन व्यक्तियोंके हाथमें समर्पित वस्तुके प्रति किसी प्रकारकी शङ्का नहीं हो सकती है। "वे शीघ्र ही कृष्णको मेरे हाथोंमें लाकर अवश्य सौंप देंगे।"—इत्यादि अनेक प्रकारसे समझानेपर भी वे व्रजगोपियाँ महाशोकके सागरमें निमग्न होनेके कारण क्रोधपूर्वक श्रीयशोदाजीको कहने

लगीं—"तुम सरल स्वभाववाली होनेके कारण अक्रूरके कपटयुक्ति-जालमें फँस गयी हो।" अर्थात् तुमने उसकी क्रूर युक्तियोंपर विश्वास किया है॥२७३॥

रे निर्दयेऽरे धिषणाविहीने,
वत्सं निजं व्याघ्रकरे समर्प्य।
शक्तासि दाहार्हमिदं प्रवेष्टुं,
रिक्तं गृहं तेन कथं त्वमेका॥२७४॥

श्लोकानुवाद—अरी निर्दये! बुद्धिहीने! बाघके हाथमें अपने पुत्रको सौंपकर श्रीकृष्णशून्य इस दाह योग्य घरमें तुम अकेली किस प्रकारसे प्रवेश कर पायी हो?॥२७४॥

दिग्दर्शिनी टीका—वत्सं स्वपुत्रमिति; यथा व्याघ्रहस्ते गोवत्सो नार्पयितुं युज्यते, तथा कंसभृत्यहस्ते श्रीकृष्णोऽपि न समर्पयितुं युज्यते, तथापि समर्प्येति श्लेषार्थः। तेन श्रीकृष्णेन रिक्तं शून्यम्, अतएव दाहस्यार्हं योग्यम् इदं त्वदीयं गृहं कथं त्वमेकाकिनी प्रवेष्टुं शक्तासि?॥२७४॥

भावानुवाद—अरी बुद्धिहीने! गायके लिए जिस प्रकार अपने बछड़ेको बाघके हाथमें समर्पण करना उचित नहीं है, उसी प्रकार तुम्हारे द्वारा कंसके सेवक अक्रूरके हाथोंमें अपने पुत्रको समर्पण करना उचित नहीं है। तथापि तुमने समर्पण कर ही डाला है। अतएव श्रीकृष्णसे रहित यह घर दाह योग्य है और इस दाह योग्य घरमें तुम किस प्रकार अकेली ही आनेमें समर्थ हुई हो?॥२७४॥

तामेवमन्यांश्च विगर्हयन्त्यो–
क्रूरं शपन्त्योऽधिकशोकवेगात्।
निर्गत्य गेहात् प्रभुमाह्वयन्त्यो–
धावन् सवेगं करुणं रुदत्यः॥२७५॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार वे समस्त व्रजाङ्गनाएँ श्रीयशोदा तथा श्रीनन्दराजको धिक्कार तथा अक्रूरको अभिशाप देती हुई और भी अधिक शोकसे व्याकुल होकर घरसे बाहर निकल आयीं तथा करुण

स्वरसे रोते-रोते अपने प्रभु श्रीकृष्णको पुकारती हुई उनके पीछे तेजीसे भागने लगीं॥२७५॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमित्यादिप्रकारेण तां यशोदाम् अन्यांश्च नन्दादीन् विगर्हयन्त्यः विनिन्दन्त्यः; प्रभुं श्रीकृष्णं करुणं यथा स्यात्॥२७५॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२७५॥

तैस्तैर्महाशोकदृढार्त्तिरोदनै-,
रक्रूरनन्दौ बलबल्लवान्वितौ।
यानाधिरूढं प्रियमप्यरोदयन्,
व्यामोहयन्त व्रजवासिनोऽखिलान्॥२७६॥

श्लोकानुवाद—उन व्रजाङ्गनाओंके महाशोकसे उत्पन्न प्रगाढ़ दुःखपूर्ण क्रन्दनसे अक्रूर, श्रीनन्दराज, श्रीबलदेव और अन्यान्य गोप, यहाँ तक कि अक्रूर द्वारा लाये गये रथपर बैठे श्रीकृष्ण—सभी रोने लगे। यह देखकर समस्त व्रजवासी परम मोह (मूर्च्छा) रूपी व्याकुलताको प्राप्त हुए॥२७६॥

दिग्दर्शिनी टीका—बलेन श्रीबलरामेण, बल्लवैश्च गोपैरन्वितौ। यानं श्रीकृष्ण-नयनार्थमक्रूरेणैवानीतं रथमधिरूढ़ं प्रियं श्रीकृष्णमपि रोदयामासुः। किं बहुना? सर्वानपि व्रजवासिनस्तान् व्यामोहयन्त च परममोहव्याकुलाञ्चक्रुरित्यर्थः॥२७६॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२७६॥

स्वास्थ्यं क्षणात् प्राप्य स गोपिकागति-,
स्ता वीक्ष्य लब्धान्त्यदशा इव स्वयम्।
सञ्जीवयन् यानवरादवाप्लुत-,
स्ताभिर्वृतः कुञ्जमगादलक्षितम्॥२७७॥

श्लोकानुवाद—गोपियोंकी एकमात्र गति श्रीकृष्णने क्षणकालके बाद स्वस्थ होकर देखा की गोपियाँ अब अपनी अन्तिम दशाकी जैसी अवस्थामें हैं। उन्हें जीवन-दान देनेके लिए श्रीकृष्ण रथसे कूदकर उन गोपियोंकी मण्डलीमें आ पहुँचे और उन सबको अपने साथ लेकर अलक्षित भावसे कुञ्जोंमें चले गये॥२७७॥

दिग्दर्शिनी टीका—गोपिकानां गतिः स श्रीकृष्णः, ता गोपीकाः, लब्धा अन्त्या चरमा दशा अवस्था याभिस्ता इव वीक्ष्य सञ्जीवयन् ता एव अलक्षितं केनापि न लक्षितं यथा स्यात्तथा यानवरात् रथोत्तमादवाप्लुतः कूर्दित्वाऽवतीर्णः सन् ताभिर्गोपीभिर्वृतो निकुञ्जं गतः॥२७७॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२७७॥

कंसदूतस्ततः स्वस्थोऽपश्यन् कृष्णं रथोपरि।
अनुतप्य बलं वाक्यपाटवैरनुनीतवान्॥२७८॥

श्लोकानुवाद—इसके पश्चात् कंसके दूत अक्रूरने स्वस्थ होकर जब श्रीकृष्णको रथपर नहीं देखा, तब वह इस आकस्मिक घटनासे पश्चाताप करने लगे। तथापि दीनता सहित वचन-चातुरीसे उन्होंने श्रीबलदेवजीको अपने वशमें कर लिया॥२७८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततस्तदनन्तरं कंसदूतोऽक्रूरः स्वस्थः सन् अनुतप्य पश्चात्तापं कृत्वा बलं श्रीबलभद्रं वाक्चातुर्यैरनुनीतवान् वशीचक्रे॥२७८॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२७८॥

दुःखञ्च कथयामास देवकीवसुदेवयोः।
यादवानाञ्च सर्वेषां तच्च कृष्णैकहेतुकम्॥२७९॥

श्लोकानुवाद—अक्रूरने श्रीदेवकी, श्रीवसुदेव और अन्यान्य यादवोंके समस्त दुःखोंका इस प्रकारसे वर्णन किया, जिससे यह प्रतीत होता था कि एकमात्र श्रीकृष्ण ही उन समस्त दुःखोंके कारण हैं॥२७९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तच्च दुःखं, कृष्ण एव एको हेतुर्यस्य तत् इत्यपि कथयामासेत्यर्थः॥२७९॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२७९॥

ततः श्रीरौहिणेयोऽसौ वासुदेवोऽमुना सह।
पितृव्येणानुजं मृग्यन् कुञ्जं तत् प्राप लक्षणैः॥२८०॥

श्लोकानुवाद—इसके पश्चात् वसुदेवनन्दन रोहिणीका पुत्र श्रीबलरामजी अपने चाचा अक्रूरके साथ अनुज श्रीकृष्णको ढूँढ़नेके लिए उनके

श्रीचरणचिह्नोंको देखते-देखते उसी कुञ्जके निकट आ पहुँचे जहाँ वे विराजमान थे॥२८०॥

दिग्दर्शिनी टीका—वासुदेवो वसुदेवसुत इति तस्य वसुदेवादिदुःखानसहिष्णुत्वं सूचितम्; अतएव अमुना पितृव्येणाक्रूरेण सह अनुजं श्रीकृष्णं मृग्यन् सन् लक्षणैः श्रीकृष्णपदपद्धत्यादिभिः, तत् श्रीकृष्णाधिष्ठितं कुञ्जं प्राप॥२८०॥

भावानुवाद—यहाँ श्रीबलदेवजीको 'वासुदेवो' अर्थात् वसुदेव-पुत्र कहकर सम्बोधित किया गया है। इससे श्रीबलदेवजी द्वारा श्रीवसुदेव आदिके दुःखको सहन न कर पाना सूचित होता है। अतएव श्रीबलदेव पिताके दुःखसे दुखित होकर चाचा अक्रूरके साथ अनुज श्रीकृष्णको ढूँढ़ते हुए उनके श्रीचरणचिह्नोंको देखकर उसी कुञ्जके निकट उपस्थित हुए, जिसमें श्रीकृष्ण विराजमान थे॥२८०॥

गोपीभिरावृतं कृष्णमालक्ष्यारात् स्थितोऽग्रजः।
अक्रूरस्त्वब्रवीत् कृष्णं श्रावयन्निदमुद्रुदन्॥२८१॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णको गोपियोंसे घिरा हुआ देखकर ज्येष्ठ भ्राता श्रीबलरामजी तो दूर ही रुक गये और अक्रूर जोर-जोरसे रोते हुए श्रीकृष्णको सुना-सुनाकर इस प्रकार कहने लगे॥२८१॥

दिग्दर्शिनी टीका—अग्रजो बलरामश्च आराद्दूरे स्थितः उच्चै रुदन् सन् अक्रूरस्तु इदं वक्ष्यमाणमब्रवीत्। कृष्णं श्रावयन्निति यथासौ श्रृणोति तथेत्यर्थः॥२८१॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२८१॥

श्रीमदक्रूर उवाच—

निर्भर्त्स्येते दुष्टकंसेन नित्यम्,
दीनौ वृद्धौ खड्गमुद्यम्य हन्तुम्।
इष्येते च त्रासशोकार्त्तिमग्नौ,
भक्तौ युक्तौ जातु नोपेक्षितुं तौ॥२८२॥

श्लोकानुवाद—श्रीअक्रूरने कहा—दुष्ट कंस वृद्ध तथा दीन वसुदेव और देवकीको प्रतिदिन धमकाता है और कभी-कभी तलवार दिखाकर मारनेकी चेष्टा करता है। इससे वे दोनों भयभीत होकर

शोक और दुःखमें निमग्न रहते हैं। वे आपके भक्त हैं, अतएव आपके द्वारा उनकी उपेक्षा करना उचित नहीं है॥२८२॥

दिग्दर्शिनी टीका—वृद्धौ देवकी-वसुदेवौ दृष्टेन कंसेन निर्भर्त्स्येते हन्तुमिष्येते च। ननु हन्येतां नाम, तेन मम किमिति चेत्तत्राह—तौ देवकी-वसुदेवौ तव भक्तौ, तत्र च त्रासः कंसाद्भयं, शोकश्च पुत्रादर्शनादिना, आर्त्तिश्च पुत्रविषयक-कंसदुर्मन्त्रणश्रवणादिना तेषु मग्नौ, अतो जातु कदाचिदपि उपेक्षितुं न युक्तौ त्वया। यद्वा, तत्र कालविलम्बोऽप्ययुक्त इत्येतदर्थं त्रासादिमग्नावित्युक्तम्। ततश्च विलम्बे सति त्रासादिना स्वयमेव मरिष्यते इति भावः॥२८२॥

भावानुवाद—दुष्ट कंस वृद्ध देवकी और वसुदेवको धमकाता है तथा कभी-कभी तलवार द्वारा उन दोनोंको मारनेकी भी चेष्टा करता है। यदि आप कहो कि इससे मेरा क्या बिगड़ता है? इसके लिए कह रहे हैं—हे प्रभो! देवकी-वसुदेव आपके ही भक्त हैं। वे कंसके भय, पुत्रके दर्शन न होनेके शोक और पुत्रके प्रति कंसकी कुनीतियोंको श्रवण करनेसे उदित दुःखमें निमग्न रहते हैं, अतएव आपके द्वारा उनकी उपेक्षा करना उचित नहीं है। अथवा वहाँ जानेमें विलम्ब करना भी उचित नहीं है, क्योंकि विलम्ब होनेसे भय आदिके कारण वे स्वयं ही प्राण-त्याग देंगे॥२८२॥

सर्वेऽनन्यालम्बना यादवास्ते,
मद्वर्त्मान्तर्दत्तनेत्रा महार्त्ताः।
शोकोत्तप्ता मा हताशा भवन्तु,
त्रस्ताः कंसाद्देवविप्रादयश्च॥२८३॥

श्लोकानुवाद—अन्य सभी यादवोंका भी कोई सहारा नहीं है। वे सभी आपके आगमनके मार्गपर आँखें लगाये बैठे हैं। अत्यधिक दुःख और शोकसे सन्तप्त उन यादवोंको हताश करना आपके लिए उचित नहीं होगा। विशेषतः उस कंससे देवता तथा ब्राह्मण आदि भी भयभीत हो रहे हैं॥२८३॥

दिग्दर्शिनी टीका—न केवलं तौ द्वावेव, सर्वे यादवादयोऽपि तादृशा एवेत्याह—सर्वे इति। न विद्यते अन्यत् त्वत्तः परम् आलम्बनं गतिर्येषां ते, त्वद्बान्धवाः त्वदीया इति वा। मम वर्त्मनोऽन्तर्दत्तानि अर्पितानि नेत्राणि यैस्ते तत्र

त्वत्सहित–मद्गमनप्रतीक्षका इत्यर्थः। अतस्त्वां विना मद्गमनाभावात् हता आशा त्वद्दर्शनादिविषयका लालसा येषां तथाभूताः सन्तः स्वत एव प्रागार्त्ताः शोकेन तप्ताश्च, इदानीं परमार्त्ता शोकेनोच्चैस्तप्ताश्च मा भवन्त्वित्यर्थः। यद्वा, 'महार्त्ताः', 'शोकोत्तप्ताः' इति पदद्वयं तेषां स्वरूपनिरूपणमात्रार्थकं, ततश्च हताशा मा भवन्नित्येव वाक्यसमाधानम्। देवा इन्द्रादयः विप्रा गर्गादयः, आदिशब्दाद्गोवैष्णवादयश्च; कंसात्त्रस्ताः सदा भीता एव केवलं त्वदाशया जीवन्तोऽधुना हताशा मा भवन्त्वित्यर्थः ॥२८३॥

भावानुवाद—केवल उन दोनोंकी ही बात नहीं, बल्कि सभी यादवोंकी ही ऐसी दशा है—इसे बतलानेके लिए श्रीअक्रूर 'सर्वे' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। उन यादवोंका और कोई भी सहारा नहीं है, अर्थात् आपके अलावा उनकी कोई गति नहीं है। विशेषतः वे आपके बन्धु हैं अथवा वे सब आपके ही हैं। वे सभी आपके आगमनके मार्गपर तृष्णायुक्त दृष्टि लगाये बैठे हुए हैं। अर्थात् मेरे साथ आपके आनेकी प्रतीक्षामें जीवन धारण कर रहे हैं। अतएव आपके बिना मेरे भी वहाँ नहीं जानेसे वे हताश होंगे। विशेषतः आपके दर्शनकी लालसासे वे पहलेसे ही दुःखी हैं, अब और अधिक दुःखित होकर शोकसे दग्धीभूत हो जायेंगे। अतएव आपके लिए परम दुःखित और शोकसे सन्तप्त उन यादवोंको हताश करना उचित नहीं है। अथवा 'महार्त्त' और 'शोकसन्तप्त' यह दोनों पद उन यादवोंके स्वरूपको निरूपणमात्र करनेके अर्थमें हैं। अतएव आप उन्हें हताश न करें अन्यथा बादमें आप भी हताश होंगे। उस कंससे इन्द्र आदि देवता, गर्ग आदि ब्राह्मण तथा गाय और वैष्णव भी सदैव भयभीत होकर आपके आनेकी आशासे जीवन धारण कर रहे हैं। अतएव हे दयामय! अब आप उन्हें हताश नहीं करें ॥२८३॥

स श्लाघते बाहुबलं सदात्मनो,
नो मन्यते कञ्चन देवमर्दनः।
आत्मानुरूपैरसुरैर्बलाबलैः,
कंसस्तथा राजकुलैः सदार्चितः ॥२८४॥

श्लोकानुवाद—वह कंस सदा आत्म प्रशंसाके साथ अपने बाहुबलका प्रदर्शन करता रहता है तथा देवताओंको भी जीतनेके कारण वह

किसीको तृणके समान भी नहीं समझता है। वह कंस अपने समान असुर राजाओं द्वारा सदैव पूजित हो रहा है॥२८४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथापि किमप्यब्रुवाणं श्रीकृष्णं संलक्ष्य करुणारसादिविघातकं कोपं जनयन्नाह—स इति। अनिर्वचनीयदोषराशिरूपः, यतो देवानिन्द्रादीनपि मर्दयतीति तथा सः। आत्मनः कंसस्यानुरूपैस्तुल्यैरिति कंसस्यापि महाबलत्वं, तेषामप्यात्म-श्लाघादिकञ्च ध्वनितम्। तथेति समुच्चये, तादृशैरिति वा। राज्ञां बाण-भौमादीनां कुलैश्च वर्गैरर्चितः॥२८४॥

भावानुवाद—अक्रूरके इन विनयपूर्ण वाक्योंको श्रवण करनेपर भी श्रीकृष्णने कोई उत्तर नहीं दिया। इसलिए अक्रूर फिरसे करुणरस आदिके विघातक क्रोध उत्पन्न करनेवाले वचनोंका प्रयोग करनेके लिए 'स' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। अनिर्वचनीय दोषोंवाला वह कंस सदा अपने बाहुबलकी प्रशंसा करता रहता है, किसीको कुछ भी नहीं मानता है। यहाँ तक कि उसने इन्द्र आदि देवताओंको भी पराजित कर दिया है तथा अपने समान प्रबल बाण-भौम आदि असुर राजाओं द्वारा वह कंस सदा अनुकूल भावसे पूजित हो रहा है। इससे कंस द्वारा अपने महाबल तथा अपनी प्रशंसा करनेका कारण ध्वनित हो रहा है॥२८४॥

श्रीसरूप उवाच—

एवं ब्रुवाणः सतृणानि धृत्वा,
दन्तैर्महाकाकुकुलं चकार।
एकैकशस्ताः प्रणमन् व्रजस्त्री-
रक्रूरनामा परमोग्रकर्मा॥२८५॥

श्लोकानुवाद—श्रीसरूपने कहा—इस प्रकार अत्यन्त क्रूर कार्य करनेवाले किन्तु नाममात्रसे ही अक्रूर अपने दाँतोंके नीचे तिनका दबाकर अत्यधिक दीनतापूर्वक प्रत्येक व्रजगोपीको प्रणाम करके प्रार्थना करने लगे— ॥२८५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथापि तस्य कुञ्जात् निःसरणमनालोक्य निजप्रियजन-वशवर्त्तितामालोच्य श्रीगोपीः प्रत्येव प्रार्थनाञ्चकारेत्याह—एवमिति। तृणानि दन्तैर्धृत्वा परममुग्रं क्रूरं कर्म यस्य सः, महाप्रयत्नेन कंसाज्ञया कृष्णस्य नयनात्॥२८५॥

भावानुवाद—तथापि श्रीकृष्णको कुञ्जसे बाहर आता हुआ नहीं देखकर तथा श्रीकृष्ण द्वारा अपने प्रियजन गोपियोंके वशवर्ती रहनेके महान गुणकी चिन्ताकर अन्य किसी उपायको न देखकर दाँतोंमें तिनका धारणकर अक्रूर एक-एक करके प्रत्येक गोपीसे प्रार्थना करने लगे—इसे बतलानेके लिए श्रीसरूप 'एवं' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। अपने नामसे अक्रूर होनेपर भी वे कर्म करनेमें परम उग्र अर्थात् क्रूर हैं। यहाँपर 'उग्रकर्मा' कहनेका उद्देश्य यह है कि वे महान प्रयत्नसे कंसकी आज्ञाका पालन करके श्रीकृष्णको व्रजसे मथुरा ले जाना चाहते हैं॥२८५॥

श्रीमदक्रूर उवाच—

मा घातयध्वं यदुवंशजातान्,
लोकांश्च कृत्स्नान् कृपयध्वमेतान्।
कृष्णस्य दीनौ पितरौ च देव्यः,
कंसेन रुद्धौ परिरक्षताम्॥२८६॥

श्लोकानुवाद—श्रीअक्रूरने कहा—हे देवियो! यदुकुलमें उत्पन्न हुए यादवोंको कंसके हाथोंसे मत मरने दो। कृपा करके उनकी रक्षा होने दो। विशेषतः कंस द्वारा कारागारमें बन्द श्रीकृष्णके दीन माता-पिताके प्राण बचाओ॥२८६॥

दिग्दर्शिनी टीका—एतानित्यनेन गोपादीनामपि कंसाद्भयं सूचयति। अमू देवकी-वसुदेवौ, कृष्णस्य तत्र गमने न वृत्ते सति कंसेन सर्वे यादवा, अन्येऽपि सर्वे लोका, विशेषतो वृद्धौ देवकी-वसुदेवौ चाचिरादेव हन्तव्याः। अतस्तत्तद्रक्षार्थं श्रीकृष्णस्य तत्र शुभप्रयाणमनुमोदयध्वमिति भावः॥२८६॥

भावानुवाद—'एतान्' इस पद द्वारा अक्रूर गोप-गोपी आदि व्रजवासियोंके प्रति भी कंसके भय और अत्याचारको सूचित कर रहे हैं। इन श्रीकृष्णके वहाँ न जानेसे कंस समस्त यादवों और अन्य लोगोंको विशेषकर वृद्ध देवकी-वसुदेवको शीघ्र ही मार देगा। अतएव उन सबकी रक्षाके लिए श्रीकृष्ण वहाँ शुभ प्रस्थान करें तथा आपलोग उनके गमनका अनुमोदन करें॥२८६॥

श्रीगोपिका ऊचुः—

हे हे महाधूर्त्त मृषाप्रलापक,
कंसानुवर्त्तिन् पितरौ कुतोऽस्य।
पुत्रस्य वै नन्द–यशोदयोस्तौ,
मा गोकुलं मारय मा जहि स्त्रीः ॥२८७॥

श्लोकानुवाद—यह सुनकर सभी गोपियोंने कहा—हे महाधूर्त! हे झूठ बोलनेवाले! हे कंसके आज्ञापालक दूत! वसुदेव-देवकी किस प्रकार श्रीकृष्णके माता-पिता हुए? श्रीनन्द-यशोदा ही श्रीकृष्णके माता-पिता हैं। इस छलसे श्रीकृष्णको मथुरा ले जाकर तुम गोकुलवासियोंका वध मत करो तथा हम स्त्रियोंकी हत्या मत करो॥२८७॥

दिग्दर्शिनी टीका—मृषा अनृतः प्रलापो यस्य तस्य सम्बोधनम्। ननु श्वफल्कमुनिपुत्रस्यास्य कथं महाधूर्त्तता मृषाप्रलापता च सम्भवेत्तत्राहुः—हे कंसस्या-नुवर्त्तिन्निति महाधूर्त्तत्वमेवाभिव्यञ्जयन्ति। वै प्रसिद्धौ। नन्दयशोदयोः पुत्रस्यास्य श्रीकृष्णस्य; तौ वसुदेव-देवक्यौ। कुतः कस्माद्धेतोः पितरौ भवतः? ननु तौ मा भवतः पितरौ अनन्यगती भक्तौ तु भवत इत्यत्र आहुः—मेति। अयं भावः—तयोस्तु कंसहेतुको वधस्त्वयि न पर्यवस्यत्येव, स च भावी प्रतिकारश्च अन्यथा कथञ्चित्तत्र घटेत, एष च तद्धेतुको वधः, तत्र च गवां कुलस्य स्त्रीगणस्य च स च सम्प्रत्येव जायेत; अतो महापातकजातमेतत्त्वं हठात् कर्त्तुं नार्हसीति॥२८७॥

भावानुवाद—'मृषाप्रलापक!'—यह सम्बोधन झूठ बोलनेवालेके लिए है। यदि आपत्ति हो कि श्वफल्कमुनिके पुत्र श्रीअक्रूर जैसे व्यक्तिके लिए महाधूर्तता तथा झूठ बोलना किस प्रकार सम्भव हो सकता है? इसीके लिए कह रहे हैं—हे कंसके आज्ञापालक दूत! उस दुष्ट कंसके संगदोषसे तुम्हारी महाधूर्तता ही प्रकाशित हो रही है। श्रीनन्द-यशोदा ही श्रीकृष्णके पिता-माताके रूपमें प्रसिद्ध हैं अर्थात् श्रीकृष्ण उनके ही पुत्र हैं। वसुदेव-देवकी किस प्रकार श्रीकृष्णके माता-पिता हुए? यदि कहो कि श्रीवसुदेव-देवकी श्रीकृष्णके माता-पिता न भी हों, किन्तु अनन्य भक्त तो हैं, अतएव उनकी रक्षा करना श्रीकृष्णका कर्त्तव्य है। गोपियाँ अक्रूरके इस अभिप्रायको जानकर कह रही हैं—हे अक्रूर! कंस यदि वसुदेव-देवकीका वध करेगा, तो इससे तुम्हें कोई

दोष नहीं लगेगा। इसका कारण है कि वह घटना तो भविष्यमें होगी तथा उसका प्रतिकार अर्थात् विरोध या उपाय भी अन्य किसी प्रकारसे हो सकता है, किन्तु अभी तुम इस गोकुलके सभी प्राणी, विशेषतः गौओं तथा स्त्रियोंके वधका कारण बन रहे हो और यह वध तो जल्दी ही होगा। अतएव महापापसे उत्पन्न इस कार्यका हठात् अनुष्ठान करना उचित नहीं है॥२८७॥

श्रीसरूप उवाच—

दुष्टस्य कंसस्य निशम्य चेष्टितं,
दुःखं निजानाञ्च तदात्महेतुकम्।
आश्वास्य गोपीर्निरगाद्रुषा शुचा,
कुञ्जाद्बलस्यानुमतिं विलक्ष्य च॥२८८॥

श्लोकानुवाद—श्रीसरूपने कहा—श्रीकृष्णने दुष्ट कंसके वैसे व्यवहारको सुना तथा अपने आपको यादवोंके दुःखका कारण माना। फिर श्रीबलदेवजीकी भी मथुरा जानेकी अनुमतिसे अवगत होकर उन गोपियोंको सान्त्वना देते हुए वे क्रोध और शोकपूर्वक उस कुञ्जसे बाहर निकल आये॥२८८॥

दिग्दर्शिनी टीका—निजानां यादवादीनां तत् कंसकृतं परमदुःखञ्च निशम्य तत्र च आत्मा स्वयं श्रीकृष्ण एव हेतुर्यस्य तत्, तेषां स्वतो दोषाभावात् कंसदुष्टताश्रवणेन रुट् क्रोधस्तया, निजानां दुःखश्रवणेन तु शुक् शोकस्तया च हेतुना कुञ्जान्निःसृतः बलस्य श्रीबलरामस्य अनुमतिं मधुपुरीगमनादिविषयक-सम्मतिञ्च विलक्ष्य तत्रैवाक्रूरसङ्गत्यागमन-मौनादिलक्षणेन ज्ञात्वा॥२८८॥

भावानुवाद—दुष्ट कंसके व्यवहारसे यादवोंके परम दुःखको सुनकर श्रीकृष्ण अपने आपको उस दुःखका कारण समझने लगे। (अर्थात् श्रीकृष्णके लिए ही देवकी-वसुदेव आदिको वैसा दुःख मिल रहा है।) यादवोंमें स्वतः ही दोषका अभाव तथा कंसकी परम दुष्टताके वृत्तान्तको सुनकर श्रीकृष्ण अत्यन्त क्रोधित हुए तथा फिर अपने प्रियजनोंके दुःखको सुनकर शोकसे भरकर वे कुञ्जसे बाहर निकल आये। तत्पश्चात् मौन आदि लक्षणोंके द्वारा श्रीबलरामजीकी भी अनुमति अर्थात् अक्रूरके साथ मथुरा जानेकी सम्मतिसे भी अवगत हुए॥२८८॥

ततः प्रमुदितोऽक्रूरो बलरामानुमोदितः।
तत्रैव रथमानेतुं धावन् वेगाद्बहिर्गतः॥२८९॥

श्लोकानुवाद—इसके पश्चात् अक्रूर श्रीबलरामजीकी अनुमतिसे प्रसन्न होकर अतिशीघ्र कुञ्जसे बाहर आकर रथको वहींपर लानेके लिए भागे॥२८९॥

दिग्दर्शिनी टीका—बलरामेण अनुमोदितः अभिनन्दितः सन्॥२८९॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२८९॥

निर्णीय कृष्णस्य पुरे प्रयाणं,
तस्याननाब्जं मुहुरीक्षमाणाः।
भीता वियोगानलतो रुदत्यो,
गोप्यः पदाब्जे पतितास्तमाहुः॥२९०॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णने मथुरा जानेका निश्चय कर लिया है—ऐसा जानकर गोपियाँ उनके श्रीमुखकमलको बार-बार देखने लगीं तथा भावी विरहकी अग्निसे भयभीत होकर रोते-रोते उनके श्रीचरणकमलोंमें गिरकर कहने लगीं—॥२९०॥

दिग्दर्शिनी टीका—पुरे मधुपुर्यां तस्य श्रीकृष्णस्य तस्यैव पदाब्जे पतिताः सत्यस्तं श्रीकृष्णमेवाहुः। ननु साक्षात्तथोक्तौ धार्ष्ट्यं स्यात्तत्राह—वियोगविरह एवानलस्तस्माद्भीताः, अतएव रुदत्यः, यथा श्रीदशमस्कन्धे (श्रीमद्भा. १०/२९/३१) श्रीकृष्णस्य साक्षादेव परमात्त्यार्—*"मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसम्"* इत्यादिकं तासामेव वचनम्। तथैवेदमप्याधिविशेषेणेत्यनवद्यम्॥२९०॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीकृष्ण द्वारा मथुरा जानेका दृढ़ निश्चय करनेपर गोपियाँ श्रीकृष्णके श्रीचरणकमलोंमें गिरकर रोते-रोते कहने लगीं। यदि आपत्ति हो कि साक्षात् रूपमें श्रीकृष्णसे इस प्रकारसे कहनेके कारण क्या गोपियोंकी धृष्टता सूचित नहीं हो रही है? इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि वे विरहरूपी अग्निसे भयभीत होकर ही वैसा विलाप कर रही थीं। यथा, दशम-स्कन्ध (श्रीमद्भा. १०/२९/३१) में गोपियाँ श्रीकृष्णके सामने ही अत्यधिक दुःखी होकर कहने लगीं—"हे विभो! (तुमलोग अपने घर लौट जाओ) इस प्रकारके कठोर वचन

कहना आपके लिए उचित नहीं है।” यहाँपर श्रीकृष्ण साक्षात् विद्यमान हैं, तथापि केवल “तुमलोग घर लौट जाओ”—इस वचनसे गोपियोंको जो विरह-वेदना हुई थी, उसकी तुलनामें आगे कही जानेवाली गोपियोंके विरहकी वेदना अत्यधिक असहनीय है॥२९०॥

श्रीगोप्य ऊचु—

न शक्नुमो नाथ कदापि जीवितुं,
विना भवन्तं लवमप्यनाश्रयाः।
न मुञ्च दासीस्तदिमा निजाः प्रभो,
न यस्य तत्रैव यतो गमिष्यसि॥२९१॥

श्लोकानुवाद—गोपियोंने कहा—हे नाथ! आपके बिना हम निराश्रय होकर लवमात्रके लिए भी जीवित नहीं रह पायेंगी। हे प्रभो! आप अपनी इन दासियोंका त्याग न करें। आप जहाँ जा रहे हैं, हमें भी वहीं ले चलें॥२९१॥

दिग्दर्शिनी टीका—हे नाथ! लवमपि जीवितुं न शक्नुमः, यतो न विद्यते आश्रयो गतिस्त्वद्व्यतिरिक्तं जीवनालम्बनं वा यासां ताः, तत्तस्मात्, यतो यत्र॥२९१॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२९१॥

वनं गृहं नो भवदालयो वनं,
द्विषत्सुहृद्बन्धुगणाश्च वैरिणः।
विषञ्च पीयूषमुतामृतं विषं,
यदर्थमस्मात्त्वदृते म्रियामहे॥२९२॥

श्लोकानुवाद—हे नाथ! आपके लिए वन ही हमारा घर बन गया है और घर वन बन गया है। शत्रु भी मित्र बन गये हैं और बन्धु वैरी बन गये हैं। विष भी अमृत बन गया है और अमृत विष बन गया है। इसीलिए हम कह रही हैं कि आपके विरहमें हम मर जायेंगी॥२९२॥

दिग्दर्शिनी टीका—अन्यथा त्वचिरादेव मरिष्याम इत्याहुर्वनमिति। यस्य तवार्थं निमित्तं वनमपि नोऽस्माकं गृहमभवत् तत्रैव त्वत्सङ्गमलाभात्; आलयश्च

वनमभवत् त्वत्सङ्गमाभावात्; द्विषत्सपत्नीवर्गादिरपि सुहृत् त्वत्सङ्गमसाहायात्; बन्धुगणाश्च पतिपूत्रादयो वैरिणोऽभवन् त्वत्सङ्गमनिवारणात्; विषमपि पीयूषमभवत्, दुःखप्रदद्रव्यस्यापि प्रेमाभिभवेन पीयूषवत् सुखेनैव भोजनात्; यद्वा, विरहे मुमूर्षोर्जनस्य विषस्यापि परमेष्टतापत्तेः। उत अपि अमृतं सुधांशु-ज्योत्स्ना-चन्दनालेपनादि-मधुरोपभोगद्रव्यमपि विषमेवाभवत्, त्वदीयशीघ्रसङ्गमविरोधित्वात्। किंवा विरहे सति सुखस्यापि दुःखरूपेणैव परिस्फूर्तेरित्येषा दिक्। एतच्च प्रेमभरस्वाभाविकं प्रागपि श्रीनारदकृत-प्रेमविशेषतत्त्व-निर्वचनप्रसङ्गे विवृतमस्त्येव; अस्मात्त्वत्तः ऋते विना म्रियामह इति तत्तदखिलनिरपेक्षा एव वयं केवलं त्वदेकावलम्बन-जीवनास्त्वद्वियोगेन कथमधुना जीवितुं शक्ष्यामोऽतोऽचिरान्-मरिष्याम एवेत्यर्थः॥२९२॥

भावानुवाद—यदि आप हमें अपने साथ नहीं ले जायेंगे तो शीघ्र ही हमारे प्राण निकल जायेंगे। हे नाथ! आपके लिए वन भी हमारा घर बन गया है, क्योंकि हम उस वनमें ही आपका सङ्ग प्राप्त करती हैं। तथा वन घर बन गया है, क्योंकि घरमें आपका सङ्ग प्राप्त नहीं कर सकतीं। द्वेषी सपत्नियाँ भी हमारी सुहृत हो गयी हैं, क्योंकि वे आपके मिलनमें हमारी सहायता करती हैं। तथा पति-पुत्र आदि बन्धु भी शत्रु बन गये हैं, क्योंकि वे आपसे मिलनेमें बाधा प्रदान करते हैं। विष भी अमृत हो गया है, क्योंकि दुःख देनेवाली वस्तुएँ भी प्रेमकी प्रबलताके कारण अमृतके समान सुखपूर्वक खायी जाती हैं। अथवा विरहवशतः मरनेके लिए विष भी परम इष्ट साधक हो जाता है और अमृत भी विषके समान बन जाता है, अर्थात् चन्द्रमाकी किरणें और चन्दनका लेप आदि मधुर उपभोगके द्रव्य भी विषके समान हो जाते हैं, क्योंकि यह सब द्रव्य शीघ्रतापूर्वक आपसे मिलन करानेके विरोधी हैं। अथवा विरहमें सुख भी दुःखके रूपमें स्फुरित होता है—उक्त विचारका यही दिग्दर्शन है। इस प्रकारके गाढ़ प्रेमका स्वभाव पहले श्रीनारदजी द्वारा प्रेम तत्त्व-निरूपणके प्रसङ्गमें वर्णन किया जा चुका है। इसलिए गोपियाँ कह रही हैं, हे प्रभो! आपके विरहमें हम जल्दी ही मर जायेंगी, क्योंकि सबके प्रति निरपेक्ष रहनेवाले आप हमारे जीवनके एकमात्र आश्रय हैं। अतएव आपके वियोगमें अब हम कैसे जीवित रहनेमें सक्षम होंगी। हम बहुत जल्दी ही प्राण त्याग देंगी॥२९२॥

कथं तवेदं स्मितसुन्दराननं,
मनोहरं पादसरोरुहद्वयम्।
उरःस्थलञ्चाखिल–शोभयार्चितं,
कुतोऽप्यनालोक्य चिरं म्रियेमहि॥२९३॥

श्लोकानुवाद—आपके मृदु हास्ययुक्त सुन्दर मुखकमलको, आपके मनोहर युगल चरणकमलोंको तथा समस्त शोभाओंके आधार आपके वक्षस्थलको कहींपर भी नहीं देख पानेसे हम निश्चय ही मर जायेंगी॥२९३॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु अनन्यगतीनां सुहृदां सुखं विधाय यावदायामि, तावन्मम स्मरण–कीर्त्तनादिना सुखं तिष्ठत; तत्राहुः—कथमिति। कुत्रापि गृहे वनेऽपि च अनालोक्य साक्षाद्दृष्ट्वा कथं चिरं म्रियेमहि, जीवितुं न शक्नुम इत्यर्थः। यद्वा, ननु मन्निमित्तकेन सुहृदां दुःखेन ममाप्यकीर्त्तिः स्यादित्येतन्मदीयगमनकारणं विमृश्य धैर्यमवलम्बध्वम्, तत्राहुः—कुतोऽपि कस्माच्चित् कारणादपीति॥२९३॥

भावानुवाद—यदि श्रीकृष्ण कहें कि मैं ही जिनकी एकमात्र गति हूँ, अपने उन प्रियजनोंको प्रसन्न करके जब तक मैं लौटकर न आ जाऊँ, तब तक तुम मेरा स्मरण–कीर्त्तन आदि करते हुए सुखपूर्वक रहो। इसीके उत्तरमें गोपियाँ कह रही हैं कि आपके इस मुस्कराते हुए सुन्दर मुखकमल, युगल चरणकमलों तथा समस्त शोभाओंके आधारस्वरूप आपके वक्षःस्थलको न तो घरमें और न ही वनमें, कहींपर भी नहीं देख पानेसे हम अवश्य ही मर जायेंगी, अर्थात् किसी भी तरह जीवन धारण करनेमें समर्थ नहीं होंगी। अथवा यदि श्रीकृष्ण कहें कि मेरे कारण प्रियजनोंको जो दुःख हो रहा है, वह मेरी ही अपकीर्त्ति है, अतएव इसे मेरे जानेका कारण समझकर धैर्य रखो। इसके उत्तरमें गोपियाँ कह रहीं हैं—हे नाथ! कोई भी कारण क्यों न हो, आपके विरहमें हम निश्चय ही मर जायेंगी॥२९३॥

वृन्दावनं गोपविलासलोभात्,
त्वयि प्रयाते सह मित्रवृन्दैः।
सायं समायास्यसि खल्ववश्य–
मित्याशयाहर्गमयेम कृच्छ्रात्॥२९४॥

श्लोकानुवाद—जब आप गोपों जैसा लीला-विलास करनेके लोभसे सखाओंके साथ प्रातः श्रीवृन्दावन चले जाते हैं, तब इस आशासे कि सन्ध्याके समय आप अवश्य ही लौट आयेंगे, हम अत्यधिक कष्टपूर्वक जीवन धारण करके समय व्यतीत करती हैं॥२९४॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु अचिरादेवमागतप्रायं मन्यध्वम्, तत्राहुः—वृन्देति त्रिभिः। गोपक्रीड़ालोभेन मित्रवृन्दैर्गोपवर्गैः सह त्वयि वृन्दावनं प्रयाते सति अहर्दिवसं कृच्छ्राद्दुःखेन नैव गमयेम। कथम्? खलु निश्चितम् अवश्यमेव सायं समायास्य-सीत्येतदाशया॥२९४॥

भावानुवाद—यदि श्रीकृष्ण कहें कि मैं जल्दी ही लौट आऊँगा, अर्थात् मुझे आया हुआ समझकर धैर्य धारण करो। श्रीकृष्णके इस प्रकारके अभिप्रायसे अवगत होकर गोपियाँ 'वृन्दावनं' इत्यादि तीन श्लोकों कह रही हैं। आप जब गोपों जैसी लीला-विलासके लोभसे सखाओंके साथ प्रातः वृन्दावन जाते हैं, तब हम अत्यन्त कष्टपूर्वक दिनका समय व्यतीत करती हैं। किस प्रकार व्यतीत करती हैं? सन्ध्याके समय आप अवश्य ही लौट आयेंगे—इस आशासे॥२९४॥

दूरं गते तत्पुरमाज्ञया पुनः,
कंसस्य दुष्टस्य तदिष्टसङ्गतः।
जीवेम नानाविधशङ्कयाकुलाः,
कथं प्रवासार्त्तिविचिन्तनेन च॥२९५॥

श्लोकानुवाद—एक तो आप दूर देश जा रहे हैं और वह भी दुष्ट कंसकी आज्ञासे उसके सुहृद अक्रूरके साथ उसकी मथुरापुरीमें जा रहे हैं। हम अनेक प्रकारकी विपत्तियोंकी आशङ्कासे व्याकुल होकर अपने चित्तमें प्रवाससे उत्पन्न आपके दुःखकी चिन्तामें कैसे जीवन धारण करेंगी॥२९५॥

दिग्दर्शिनी टीका—अधुना च दूरं देशान्तरं त्वयि गते सति, तत्र च सुहृद्वर्ग-नारीगणवृन्दं तस्य वा कंसस्यैव पुरम्, एतदेव परमासह्यं, पुनश्च कंसाज्ञया तत्रापि तस्य इष्टः प्रियोऽक्रूरस्तस्य सङ्गतः सङ्गत्या; अतएव नानाविधया शङ्कया आकुलाः सत्यः कथं जीवेम? ननु कालिय-दमनादिना मत्प्रभावो भवतीभिरनुभूतोऽस्त्येव, तत् कथं मिथ्यैव शङ्काकुला भविष्यथ? तत्राहुः—प्रवासेन निजगृहाद्देशान्तरगमनेन या आर्त्तिर्भाविभयदुःखं तस्याश्चिन्तनेन चेति॥२९५॥

भावानुवाद—अब आप दूर अर्थात् दूसरे देशमें जा रहे हैं तथा वहाँपर कंसके सुहृद और नारियाँ हैं, विशेषतः वह दुष्ट कंसकी पुरी है—यह हमारे लिए अत्यन्त असहनीय है। तथा फिर आप उसकी आज्ञानुसार उसके प्रिय अक्रूरके साथ जा रहे हैं, अतएव सचमुच हम नाना प्रकारकी शङ्काओंसे व्याकुल होकर कैसे जीवित रहेंगी? यदि श्रीकृष्ण कहें कि कालियके दमनके समय मेरे प्रभावको तुमने साक्षात् अनुभव किया है, अतएव किसलिए मिथ्या शङ्कासे व्याकुल हो रही हो? इसीके लिए गोपियाँ कह रही हैं—प्रवासमें अर्थात् अपने घरसे किसी दूसरे देशमें जानेमें होनेवाले भय और दुःखकी चिन्ता करके हम किस प्रकार जीवन धारण करेंगी?॥२९५॥

न ज्ञायते सानुचरस्य तस्य,
कंसस्य घातेन कियान् श्रमः स्यात्।
कालश्च तत्रत्य-जनार्त्तिहत्या,
स्याद्वा न वा तत्र वत स्मृतिर्नः॥२९६॥

श्लोकानुवाद—हम नहीं जानती हैं कि अनुचरों सहित कंसको मारनेमें आपको कितना परिश्रम होगा तथा वहाँके प्रियजनोंके दुःखोंको दूर करनेके लिए आपको कितना समय लगेगा? हमें यह भी पता नहीं है कि वहाँ जाकर आप हमें स्मरण भी करेंगे या नहीं?॥२९६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु मम प्रिया धेनवो वयस्यास्तातश्च सङ्गे यान्ति, तत्राहुः—नेति। श्रमस्तवायासः कियान्, किं परिमितः स्यादिति न ज्ञायते, ज्ञातुं न शक्यत इत्यर्थः। महानेव श्रमः सम्भाव्यत इति भावः। ननु सपरिवारोऽसौ कंसोऽत्यल्पसामर्थ्यो लीलयैव सुखं हन्तव्यस्तत्राहुः—तत्रत्यानां मधुपुरीवर्त्तिनिजजनानां यादवादीनामार्त्तेर्हत्या नाशनेन कालः कियान् स्यादिति च न ज्ञायते, महान् विलम्ब एव सम्भाव्यत इति भावः। ननु भवतीनां स्मरणेन तत्र मम विलम्बो न भवितैव, तत्राहुः—स्याद्वेति। वत खेदे, तत्र मधुपुर्यां नोऽस्माकं स्मृतिस्त्वत्कर्त्तृकं स्मरणं स्याद्वा, न वेत्यपि न ज्ञायते, न स्यादेवेति सम्भाव्यत इति भावः॥२९६॥

भावानुवाद—यदि श्रीकृष्ण कहें कि मेरी प्रिय गौएँ और सखा, विशेषतः पिता भी जब मेरे साथ जा रहे हैं, तब वृथा शङ्कासे क्यों दुःखी हो रही हो? इसीके लिए गोपियों 'न' इत्यादि पदों द्वारा कह

रही हैं कि अनुचरों सहित कंसका नाश करनेमें आपको कितना परिश्रम होगा हम इसे जाननेमें असमर्थ हैं, अर्थात् हमें तो अत्यधिक परिश्रमकी ही सम्भावना लगती है। यदि श्रीकृष्ण फिर कहते हैं कि मैं बहुत जल्दी ही अल्प सामर्थ्ययुक्त उस कंसको उसके अनुचरों सहित लीला करते हुए अनायास ही मार डालूँगा। इसके लिए गोपियाँ 'तत्रत्य' इत्यादि पदों द्वारा कह रही हैं—हे नाथ! हम नहीं जानतीं कि मथुराके यादवोंका दुःख दूर करनेमें आपको कितना समय लगेगा, अर्थात् उसमें भी विलम्बकी ही सम्भावना लगती है। यदि श्रीकृष्ण कहते हैं कि तुम प्रियाओंको स्मरण करते-करते जल्दी ही लौट आऊँगा, वहाँ विलम्ब नहीं होगा। इसके लिए गोपियाँ कह रही हैं—अहो! हम यह भी नहीं समझ पा रही हैं कि मथुरा जाकर आप हमें स्मरण भी करेंगे या नहीं? अर्थात् आपके द्वारा हमें स्मरण न करनेकी ही सम्भावना है॥२९६॥

श्रीसरूप उवाच—

इत्येवमादिकं काकुकुलं ता विदधुस्तथा।
येन तत्रत्यमखिलं रुरोद च मुमोह च॥२९७॥

श्लोकानुवाद—श्रीसरूपने कहा—उन सभी गोपियोंने ऐसी व्याकुलता सहित दीनतापूर्ण वचनोंको कहा जिसे सुनकर वहाँ उपस्थित सभी प्राणी रोते-रोते मूर्च्छित हो गये॥२९७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथा तादृशं, ता गोप्यः, येन काकुकुलेन, अखिलं सर्वप्राणिजातम्॥२९७॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२९७॥

कथञ्चिद्भगवान् धैर्यमालम्ब्याश्रूणि मार्जयन्।
स्वस्य तासाञ्च नेत्रेभ्योऽब्रवीदेतत् सगद्गदम्॥२९८॥

श्लोकानुवाद—क्षणकालके पश्चात् भगवान् श्रीकृष्णने किसी प्रकार थोड़ा धैर्य धारण करके अपने आँसुओंको पोंछा तथा गोपियोंके भी आँसुओंको पोंछते हुए गद्‌गद स्वरसे कहने लगे—॥२९८॥

दिग्दर्शिनी टीका—स्वस्य भगवतः, तासाञ्च गोपीनां नेत्रेभ्योऽश्रूणि मार्जयन् अपसारयन्॥२९८॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२९८॥

श्रीभगवानुवाच—

सतां ममापि द्विषतोऽल्पशक्ते–
र्विधाय कंसस्य शमं सहेलम्।
मामागतप्रायमिदं प्रतीत,
सख्यो रुदित्वा कुरुताशिवं मा॥२९९॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्‌के कहा—वह कंस साधुओं और मुझसे द्वेष करता है। अल्प-शक्तिवाले उस कंसको मैं बिना किसी परिश्रमके सहजमें ही विनाश कर दूँगा। तुम मुझको बहुत शीघ्र यहाँ आया ही समझो। अतएव हे सखियो! मेरी इस शुभ यात्राके समयमें रोकर यात्राके लिए अमङ्गल मत करो॥२९९॥

दिग्दर्शिनी टीका—सतां ममापीति, द्विषः कर्मणि षष्ठी। अल्पा शक्तिर्बलं यस्य तस्य; अतएव हेलया अवज्ञयैव सहितं यथा स्यात्तथा शमं नाशं विधाय, हे सख्यः, रुदित्वा अशिवं मम शुभयात्रायाममङ्गलं मा कुरुत॥२९९॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२९९॥

श्रीसरूप उवाच—

अथ तत्रैव नन्दाद्या गोपाः सर्वे गता जवात्।
रोहिणी श्रीयशोदा च परेऽपि पशवस्तथा॥३००॥

श्लोकानुवाद—श्रीसरूपने कहा—इसी बीचमें जहाँपर गोपियोंके साथ श्रीकृष्ण वार्त्तालाप कर रहे थे, वहाँपर श्रीनन्द आदि गोप, श्रीयशोदा-श्रीरोहिणी तथा पुरोहित-दास-दासी सभी व्रजवासी और गाय-भैंस आदि सभी पशु भी जल्दीसे आ पहुँचे॥३००॥

दिग्दर्शिनी टीका—यत्र श्रीगोपीकाभिः सह भगवान् वर्त्तते, तत्रैव अपरेऽपि पुरोहित-दास-दासीप्रभृतयो जनाः, तथा पशवश्य गोमहिष्यादयो जवाद्गताः॥३००॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३००॥

अक्रूरेण द्रुतानीतमारुरोह रथं हरिः।
साग्रजो गोपिकालग्नां दृष्टिं यत्नान्निवर्तयन्॥३०१॥

श्लोकानुवाद—अक्रूर जल्दीसे वहाँ रथ ले आये। उस समय श्रीकृष्ण यत्नपूर्वक अपनी दृष्टिको गोपियोंकी ओरसे हटाकर श्रीबलरामके साथ उस रथपर चढ़ गये॥३०१॥

दिग्दर्शिनी टीका—द्रुतमेवानीतं; गोपिकासु लग्नाम् आसक्तां स्वस्य दृष्टिम्॥३०१॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३०१॥

यशोदा रुदतीर्दृष्ट्वा पतिता धूलिपङ्किलाः।
मुह्यतीर्विह्वला गोपीः प्रारुदत् करुणस्वरम्॥३०२॥

श्लोकानुवाद—तब गोपियाँ उनके विरहसे व्याकुल होकर रोते-रोते मूर्च्छित होकर भूमिपर गिर पड़ीं तथा अपने अश्रुओंसे भूमिको पङ्किल (कीच) करने लगीं। यह सब देखकर माँ श्रीयशोदा भी पुनः करुण स्वरमें जोर-जोरसे रोने लगीं॥३०२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च तन्माता गोपीकानां रोदनादिदर्शनेन पुनरुच्चैरधिकं रुरोदेत्याह—यशोदेति। करुणस्वरं यथा स्यात्॥३०२॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३०२॥

यत्नात्तां सान्त्वयन्नाह नन्दोऽन्तर्दुःखितोऽपि सन्।
प्रस्तुतार्थसमाधान-नैपुण्यं दर्शयन्निव॥३०३॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि श्रीनन्दजीका हृदय अत्यधिक दुःखसे पीड़ित था, तथापि उन्होंने यत्नपूर्वक श्रीयशोदाजीको सान्त्वना देते हुए आवश्यक कर्त्तव्यके उपस्थित होनेपर उसके समापन हेतु निपुणता प्रदर्शन करनेके लिए कहा। किन्तु वास्तवमें वहाँ समाधान असम्भव था॥३०३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तां यशोदाम्; प्रस्तुतस्य अवश्यकर्त्तव्यत्वेनोपस्थितस्य अर्थस्य प्रयोजनस्य समाधाने समापने नैपुण्यं पाण्डित्यं प्रकटयन्, इवेति च परमार्थतस्तथा समाधानायोगात्॥३०३॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३०३॥

श्रीनन्द उवाच—

मा विद्धि हर्षेण पुरीं प्रयामि तां,
कृष्णं कदाप्यन्यसुतञ्च वेद्म्यहम्।
हित्वेममायानि कथञ्चन व्रजं,
तस्यां विधास्ये च विलम्बमुन्मनाः॥३०४॥

श्लोकानुवाद—श्रीनन्दराजने कहा—हे यशोदे! तुम ऐसा मत समझना कि मैं प्रसन्नतासे मथुरा जा रहा हूँ। मैं कृष्णको कभी भी किसी दूसरेका पुत्र नहीं मानता हूँ। मैं सत्य कह रहा हूँ कि कृष्णको छोड़कर मैं कभी भी व्रजमें नहीं लौटूँगा और विचारशून्य होकर वहाँ विलम्ब भी नहीं करूँगा॥३०४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्रादौ मधुपुरीदर्शनौत्सुक्येन तत्र च श्रीकृष्णस्य सङ्गत्यैव गमनेनापि कापि मम प्रीतिरस्तीति न मन्यस्वेत्याह—मेति। तां परमोत्कृष्टां मदीय-मित्रवर-श्रीवसुदेवादिसम्बन्धिनीं वा पुरीं हर्षेणाहं प्रयामीति मा विद्धि जानीहि। एवञ्च कंसाज्ञया गमनादिकं, हर्षाभावे कारणमुह्यम्। यद्वा, तां दुष्टकंसराजाधिष्ठितामिति। ननु मिथ्याप्रलाप्यक्रूरादिवचनेन श्रीवसुदेवसुतज्ञानतः श्रीकृष्णे कदाचित् तवौदासीन्यं सम्भवेत्तत्राह—कृष्णमिति। अन्यस्य सुत इति कदाप्यहं वेद्मि प्रत्येमीति मा विद्धि। ननु श्रीवसुदेवादिभिर्बलादयं रक्षिष्यते, तत्राह—इमं कृष्णं कथञ्चिदपि हित्वा व्रजमायानि आगमिष्यामीति च मा विद्धि। ननु कंसवधेन राज्यप्राप्त्या तत्रैव भगवान् सुखं चिरं वत्स्यति, तत्राह—उन्मनाः हतविचारः सन्नहं तस्यां पुर्यां विलम्बं विधास्य इत्यपि मा विद्धि॥३०४॥

भावानुवाद—श्रीयशोदाको सान्त्वना देते हुए श्रीनन्दराज सर्वप्रथम कह रहे हैं—हे यशोदे! तुम ऐसा बिलकुल मत समझना कि मुझमें मथुरापुरीके दर्शनकी उत्सुकता है तथा श्रीकृष्णके साथ वहाँ जानेमें मुझे थोड़ा भी अच्छा लग रहा है। अथवा अपने परमश्रेष्ठ मित्र श्रीवसुदेवजीकी पुरीके दर्शन करने प्रसन्नतापूर्वक जा रहा हूँ, ऐसा भी मत सोचना। इस प्रकार कंसकी आज्ञासे मथुरा जानेमें श्रीनन्दराजकी प्रसन्नताके अभावके कारणको समझना होगा। अथवा दुष्ट कंस राजा है, इसलिए उसकी आज्ञासे केवल बाध्य होकर वहाँ जा रहा हूँ। यदि तुम सोचती हो कि झूठ बोलनेवाले अक्रूरके कहनेके अनुसार श्रीकृष्णको वसुदेवका पुत्र समझकर मैं उसके प्रति कुछ उदासीन हो

गया हूँ—ऐसी आशङ्का मत करना, क्योंकि मैं कभी भी यह नहीं सोचता हूँ कि कृष्ण किसी दूसरेका पुत्र है। यदि तुम सोचती हो कि श्रीवसुदेव आदि बलपूर्वक श्रीकृष्णको वहाँ रख लेंगे—तो ऐसी आशङ्का भी मत करना, क्योंकि इसे सत्य मानो कि कृष्णको छोड़कर मैं कभी भी व्रजमें लौटकर नहीं आऊँगा। यदि कहो कि कंसका वध करनेके उपरान्त राज्य प्राप्त होनेपर श्रीकृष्ण वहाँपर सुखपूर्वक बहुत समय तक वास करेगा? इसके लिए श्रीनन्दराजजी कह रहे हैं कि ऐसी आशङ्का भी मत करना, क्योंकि मैं विचारशून्य होकर उस पुरीमें कभी भी विलम्ब नहीं करूँगा, अर्थात् मैं कृष्णको वहाँ रहने नहीं दूँगा॥३०४॥

जाने न किन्ते तनयं विना क्षणं,
जीवेम नेमे व्रजवासिनो वयम्
तद्विद्धि मामाशु सपुत्रमागतं,
श्रीदेवकीशूरसुतौ विमोच्य तौ॥३०५॥

श्लोकानुवाद—क्या मैं यह नहीं जानता हूँ कि तुम्हारे इस पुत्रके बिना हम सभी व्रजवासी क्षणकालके लिए भी जीवन धारण करनेमें असमर्थ हैं? इसलिए तुम यह निश्चित रूपसे जान लो कि श्रीदेवकी और श्रीवसुदेवको कंसके बन्धनसे छुड़ाकर मैं जल्दी ही पुत्र सहित यहाँ लौट रहा हूँ॥३०५॥

दिग्दर्शिनी टीका—निजमनुन्मनस्त्वमेवाभिव्यञ्जयन् विलम्बविधानादौ सर्वत्रैव हेतुमाह—जान इति। ते तव तनयं श्रीकृष्णं विना, वयमित्यात्मना सह सर्वेषामेव तेषामभेदाभिप्रायेण। तत्तस्मात् सपुत्रं मामाशु शीघ्रमेवागतं विद्धि प्रतीहि। ननु तर्हि गमनेनैव किं प्रयोजनम्? तत्राह—श्रीदेवकीति, शूरसुतो वसुदेवः, तौ तव मम च क्रमेण परमसुहृदौ परमदीनतां प्राप्ताविति वा विमोच्य, श्रीकृष्णहस्तेन कंसवधद्वारा बन्धनविमोचनमात्रं कारयित्वैवेत्यर्थः॥३०५॥

भावानुवाद—अब श्रीनन्दराजजी श्रीकृष्णको अपना पुत्र माननेका भाव प्रकाश करके, उस मथुरापुरीमें विलम्ब करना बिलकुल भी कर्त्तव्य नहीं है—इसीको सब प्रकारके कारणके रूपमें 'जाने' इत्यादि श्लोक द्वारा प्रदर्शित कर रहे हैं। हे यशोदे! मैं यह भलीभाँति जानता

हूँ कि तुम्हारे पुत्र श्रीकृष्णके बिना हम (व्रजवासियोंसे अभेदके अभिप्रायसे हम कह रहे हैं) क्षणकाल भी जीवित नहीं रह पायेंगे। अतएव मैं पुत्र सहित शीघ्र ही लौट आऊँगा—ऐसा निश्चित समझो। यदि श्रीयशोदाजी कहें कि तो फिर वहाँ जानेकी आवश्यकता ही क्या है? इसकी आशङ्कासे श्रीनन्दराजजी कह रहे हैं—तुम ऐसा निश्चित रूपसे जान लो कि क्रमशः तुम्हारे और मेरे परम सुहृद श्रीदेवकी तथा शूरसेनके पुत्र श्रीवसुदेवकी ऐसी परम दयनीय स्थिति ही हमारे वहाँ जानेका कारण है। दुष्ट कंससे उन्हें छुड़वाकर अर्थात् श्रीकृष्णके हाथोंसे कंसका वध करवाकर उन्हें बन्धनसे मुक्त करतेमात्र ही मैं पुत्र सहित लौट आऊँगा॥३०५॥

श्रीसरूप उवाच—

इत्थं सशपथं तेन यशोदाश्वासिता मुहुः।
चित्ते शान्तिमिवाधाय गोपीराश्वासयद्बहु॥३०६॥

श्लोकानुवाद—श्रीसरूपने कहा—इस प्रकार श्रीनन्दराजने बार-बार शपथ लेते हुए श्रीयशोदाजीको अनेक प्रकारसे सान्त्वना प्रदान की। श्रीयशोदाजी अपने चित्तमें कुछ शान्ति-सी प्राप्त करके गोपियोंको बहुत प्रकारसे आश्वासन देने लगीं॥३०६॥

दिग्दर्शिनी टीका—शपथैः सहितं यथा स्यात्तथा, तेन नन्देन आश्वासिता सान्त्विता सती। इवेति तत्त्वतः शान्त्यभावं द्योतयति। बहु यथा स्यात्॥३०६॥

भावानुवाद—'इव' कारसे श्रीयशोदाजीके चित्तमें तत्त्वतः शान्तिका अभाव ही सूचित हो रहा है॥३०६॥

यत्नात् सन्तर्प्य बहुधा ताः समुत्थापितास्तया।
अनांस्यारुरुहुर्गोपाः सोऽक्रूरोऽचालयद्रथम्॥३०७॥

श्लोकानुवाद—श्रीयशोदाजीने बहुत यत्नसे मूर्च्छित व्रजाङ्गनाओंके मस्तकपर जल छिड़ककर उन्हें उठाया। तत्पश्चात् सभी गोप चलनेके लिए गाड़ियोंपर सवार हो गये तथा अक्रूरजीने भी रथ आगे बढ़ा दिया॥३०७॥

दिग्दर्शिनी टीका—बहुधा सन्तर्प्य जलसेकादिना नानाप्रकारेण सन्तर्पणं कृत्वा ता गोपस्तया यशोदया समुत्थापिता भूमिपतनात् मोहाद्वा। स श्रीकृष्ण-नयनोत्सुकः॥३०७॥

भावानुवाद—जल छिड़ककर तथा विविध प्रकारसे यत्नपूर्वक श्रीयशोदाजीने उन मूर्च्छित व्रजाङ्गनाओंको भूमिसे उठाया। श्रीकृष्णको ले जानेके लिए उत्सुक अक्रूरने भी उसी समय रथ चला दिया॥३०७॥

प्रयान्तं कृष्णमालोक्य किञ्चित्तद्विरहासहाः।
हाहेत्याक्रोश–शुष्कास्याः प्रस्खलत्–पादविक्रमाः॥३०८॥

भग्नकण्ठस्वरैर्दीर्घैर्महार्त्त्या काकुरोदनैः।
पूरयन्त्यो दिशः सर्वा अन्वधावन् व्रजस्त्रियः॥३०९॥

काश्चिद्रथं दधुः काश्चिच्चक्राधो न्यपतन् जवात्।
काश्चिन्मोहं गताः काश्चिन्नाशकन् गन्तुमग्रतः॥३१०॥

श्लोकानुवाद—जो क्षणकालके लिए भी श्रीकृष्णका विरह सहन नहीं कर पाती हैं, वे व्रजसुन्दरियाँ श्रीकृष्णको मथुरा गमन करते हुए देखकर 'हा–हाकार' शब्द करते हुए चिल्लाने लगीं। उस समय उनके मुख सूख गये और उनमें चलनेका भी सामर्थ्य नहीं रहा। वे व्रजगोपियाँ अत्यन्त दुःखित होकर गद्गद कण्ठ द्वारा उच्च स्वरसे दीनतापूर्ण रोदन करने लगीं, जिससे समस्त दिशाएँ पूरित हो गयीं। फिर वे रथके पीछे–पीछे ही भागने लगीं।

उनमेंसे किसी गोपीने तो रथको पकड़ लिया और कोई–कोई रथको रोकनेके लिए तथा अपने मरनेके लिए रथके पहियेके आगे गिर पड़ीं और कोई–कोई थोड़ी दूर जाकर शोकके वशीभूत होकर मूर्च्छित हो गयी और कोई–कोई जहाँ–की–तहाँ खड़ी रही, आगे नहीं बढ़ पायी॥३०८–३१०॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्चित् स्वल्पमपि तस्य श्रीकृष्णस्य विरहं न सहन्त इति तथा ताः; हा हेत्याक्रोशेन उच्चतरनादेन शुष्कानि आस्यानि यासां ताः; प्रस्खलन्तः पादानां विक्रमा न्यासा यासां ताः॥३०८॥

अन्वधावन् रथस्य पश्चादधावन्॥३०९॥

चक्रयोरधः जवाद्वेगेन न्यपतत्, रथगमननिरोधाय स्वमरणाय वा काश्चिच्च धावित्वा कियद्दूरं गता एव सत्यो मोहं गताः॥३१०॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३०८–३१०॥

ततो गावो वृषा वत्सा मृगाश्चान्येऽपि जन्तवः।
आक्रोशन्तोऽश्रुधौतास्यास्तस्थुरावृत्य तं रथम्॥३११॥

श्लोकानुवाद—इसके पश्चात् गौएँ, बैल, बछड़े, मृग और श‍ृगाल आदि अन्यान्य समस्त प्राणी चिल्लाते हुए तथा अश्रुकी धाराओंसे अपने मुखको भिगोते हुए उस रथको, जिसपर श्रीकृष्ण विराजमान थे, चारों ओरसे घेरकर वहाँ खड़े हो गये॥३११॥

दिग्दर्शिनी टीका—जन्तवो वृक-श‍ृगालाद्याः, अश्रुभिर्धौतानि आस्यानि येषां ते, तं श्रीकृष्णाद्यधिरुढ़म्॥३११॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३११॥

खगाश्च वभ्रमुस्तस्योपरि कोलाहलाकुलाः।
सपद्युद्भिज्ज–जातीनामशुष्यन् पत्रसञ्चयाः॥३१२॥

श्लोकानुवाद—सभी पक्षी कोलाहल करते-करते रथके ऊपर उड़ने लगे। वृक्ष-लता आदि अपनी शाखाओं और पत्तों सहित सूख गये॥३१२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य रथस्योपरि, उद्भिज्जजातीनां तरु-गुल्म-लतादीनाम्, अशुष्यन् शुष्कतां प्रापुः॥३१२॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३१२॥

स्खलन्ति स्म महाद्रीणां सवनस्पतिकाः शिलाः।
नद्यश्च शुष्कजलजाः क्षीणाः सस्रुः प्रतिस्रवम्॥३१३॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोवर्द्धन आदि महापर्वतोंकी शिलाएँ वृक्षोंके साथ टूट-टूटकर नीचे गिरने लगीं। सभी नदियोंमें उत्पन्न कमल आदि पुष्प सूख गये, वे नदियाँ क्षीण हो गयीं अर्थात् उनका जल अल्प हो गया,

उनके स्रोतकी गति रुक गयी तथा किसी–किसी स्थानपर वे उलटी भी बहने लगीं॥३१३॥

दिग्दर्शिनी टीका—महाद्रीणां श्रीगोवर्धनादीनां वनस्पतिभिः सहिताः शिलाः स्खलन्ति पतन्ति, शुष्काणि जलजानि जलजातानि पुष्पादीनि यासां ताः; क्षीणाः स्वल्पजलाः सत्यः प्रतिस्रवं स्रोतः प्रतिलोमं सस्रुरवहन्॥३१३॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३१३॥

तेषां दशां तां परमप्रियाणां,
वीक्ष्यार्त्तिशोकाकुलमानसोऽसौ ।
उद्रोदनं रोद्धुमभूदशक्तो,
व्यग्रोऽश्रुधारापरिमार्जनैश्च ॥३१४॥

श्लोकानुवाद—परमप्रिय गोपियों आदिकी उस परमदुःखमयी दशाको देखकर श्रीकृष्णका मन भी शोकसे व्याकुल हो उठा। वे भी उच्च स्वरसे अपने रोनेको रोकनेमें असमर्थ होकर अपनी अश्रु–धाराको पोंछनेमें व्यग्र हो गये॥३१४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेषां गोपीप्रभृतीनां तां परमदुःखमयीं दशां वीक्ष्य, असौ कृष्णः, आर्त्त्याः शोकेन च आकुलं मानसं यस्य तथाभूतः सन्। उद्रोदनम् उच्चैः निजक्रन्दनं रोद्धुं स्तम्भयितुमशक्तोऽभूत्, न शशाकेत्यर्थः। किञ्च, स्वस्य अश्रुधाराणां परिमार्जनैर्व्यग्रश्चाभूत्॥३१४॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३१४॥

रथादवप्लुत्य पुनः प्रयाणं,
प्रभोरथाशङ्क्य स वृष्णिवृद्धः।
दधार पृष्ठे प्रणयादिवामुं,
कदापि मोहेन पतेत् किलेति॥३१५॥

श्लोकानुवाद—प्रभु श्रीकृष्ण फिर रथसे उतरकर कहीं अन्तर्हित न हो जायें, ऐसी आशङ्का करके परमबुद्धिमान् वृष्णि–वृद्ध अक्रूरने उनकी कमरको पकड़ लिया। परन्तु बाहरसे वे ऐसा दिखा रहे थे कि उन्होंने श्रीकृष्णको इसलिए पकड़ रखा है, मानो वे कहीं मूर्च्छित होकर गिर न पड़ें॥३१५॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथ अनन्तरं, प्रभोः श्रीकृष्णस्य, सः अक्रूरः अमुं प्रभुं पृष्ठे दधार; यतो वृष्णिषु वृद्धः परमबुद्धिमान्। तदेव दर्शयति—इवेत्युत्प्रेक्षायां, किल वितर्के, कदाचिन्मोहेनायं पतेदिति प्रणयादिव दधार, परमार्थतस्तु पुनः प्रयाणनिरोधनार्थमेव पृष्ठभागे धारणात्॥३१५॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३१५॥

कृष्णं मुग्धमिवालक्ष्य कशाघातैः प्रचोदिताः।
राम-नन्दादिसम्मत्या रथाश्वास्तेन वेगतः॥३१६॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णको मूर्च्छित-सा देखकर तथा श्रीबलराम और श्रीनन्दराजजीकी सम्मतिसे अक्रूरने घोड़ोंको चाबुक लगाकर रथको वेगसे चला दिया॥३१६॥

दिग्दर्शिनी टीका—मुग्धं प्राप्तमोहमिव कृष्णमालक्ष्य लक्षणेन ज्ञात्वा रामादीनामनुमत्या तेनाक्रूरेण रथस्याश्वाः कशाया घातैः प्रहारैः वेगतः जवेन प्रचोदिताः प्रेरिताः॥३१६॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३१६॥

इतस्ततो निपतिता गोपनारीः पशूंश्च सः।
वर्जयन् वक्रगत्याशु रथं तं निरसारयत्॥३१७॥

श्लोकानुवाद—इधर-उधर गिरी पड़ी गोपियों और पशुओंसे बचा-बचाकर अश्वचालक अक्रूरने रथको टेढ़े-मेढ़े पथसे घुमाकर निकाल लिया॥३१७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु रथस्य चक्राधो निपतिताः सङ्खशः परितो वर्तमानाश्च गो-गोप्यादयः कथमतीताः? तत्राह—इत इति। सोऽक्रूरः वक्रगत्या तिर्यग् गमनेन वर्जयन् परित्यजन्॥३१७॥

भावानुवाद—यदि कहो कि रथके पहियेके नीचे पड़ी हुईं और इधर-उधर गिरी पड़ी गोपियों तथा गौओंको लाँघकर अक्रूरने किस प्रकार रथको चलाया? इसीके लिए कह रहे हैं कि वे अक्रूर वक्र गतिसे अर्थात् टेढ़े-मेढ़े पथसे उन्हें बचा-बचाकर रथ चलाने लगे॥३१७॥

क्रोशन्तीनाञ्च गोपीनां कुररीणामिवोल्वणम्।
पश्यन्तीनां प्रभुं जहेऽक्रूरः श्येन इवामिषम्॥३१८॥

श्लोकानुवाद—जिस प्रकार चील पक्षियोंसे बाज पक्षी आमिषको हर लेता है, उसी प्रकार अक्रूर उन रोती हुई गोपियोंके बीचसे श्रीकृष्णका हरण करके आँखोंसे ओझल हो गये॥३१८॥

दिग्दर्शिनी टीका—पश्यन्तीनामित्यनादरे षष्ठी, प्रभुं श्रीकृष्णं, निर्दयतया द्रुतहरणे दृष्टान्तः—आमिषं श्येन इवेति॥३१८॥

भावानुवाद—अक्रूर द्वारा श्रीकृष्णको निर्दयतापूर्वक शीघ्र ही हरण करनेका दृष्टान्त बतलानेके लिए कह रहे हैं—जिस प्रकार बाज पक्षी अन्यान्य पक्षियोंसे आमिष हरण करता है॥३१८॥

तथा सञ्चोदितास्तेन हयास्ते वेगवत्तराः।
क्वासौ गतो न केनापि शक्तो लक्षयितुं यथा॥३१९॥

श्लोकानुवाद—उस समय अक्रूरने उन घोड़ोंको इतनी तेजीसे दौड़ाया कि कोई भी यह जान नहीं पाया कि प्रभु कहाँ चले गये?॥३१९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेन अक्रूरेण ते रथयोजिताः शिक्षिताः कंसानुवर्त्तिनो वा। असौ प्रभुः रथो वा॥३१९॥

भावानुवाद—रथ सञ्चालनमें शिक्षित अथवा कंसकी आज्ञाका पालन करनेवाले उस अक्रूरने इतनी तेजीसे रथ भगाया जिससे कोई भी यह जान नहीं पाया कि प्रभु या रथ कहाँ गया॥३१९॥

स्वं स्वं शकटमारूढ़ा महावृषभयोजितम्।
सवेगमनुजग्मुस्तं गोपा नन्दादयोऽखिलाः॥३२०॥

श्लोकानुवाद—श्रीनन्दादि समस्त गोप भी बड़े-बड़े बैलोंसे जुड़े हुए अपने छकड़ोंमें बैठकर अत्यन्त वेगसे उनका अनुगमन करने लगे॥३२०॥

दिग्दर्शिनी टीका—सवेगं यथा स्यात्, सवेगमपीति वा। तं रथमनुजग्मुः॥३२०॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३२०॥

नीत्वा ब्रह्महृदेऽक्रूरः स्तुत्वा बहुविधैः स्तवैः।
प्रबोध्य न्यायसन्तानैः कृष्णं स्वास्थ्यमिवानयत्॥३२१॥

श्लोकानुवाद—अक्रूरने ब्रह्मह्रदके निकट रथको लाकर बहुत प्रकारसे श्रीकृष्णकी स्तुति की तथा अनेक प्रकारकी नीतियोंको विस्तारपूर्वक समझाकर उन्हें स्वस्थ करनेकी चेष्टा करने लगे॥३२१॥

दिग्दर्शिनी टीका—ब्रह्मह्रदेऽक्रूरतीर्थे, तत्र नयनञ्च ब्रह्मह्रददृष्ट्या पूर्वं गोपवर्गेभ्यः दर्शितस्यास्य वैकुण्ठलोकस्य स्मृत्या कदाचिन्निजावतरणकृत्यः कंसवधादिकमयं स्मरेदित्यर्थमिवोह्यम्। न्यायानां नीतीनां सन्तानैर्बहुविस्तारैः प्रबोध्य वेत्यन्तःस्वास्थ्याभावं द्योतयति॥३२१॥

भावानुवाद—अक्रूरने रथको ब्रह्मह्रद (अक्रूरतीर्थ) पर लाकर श्रीकृष्णकी अनेक प्रकारसे स्तुति की। ब्रह्मह्रदको देखकर पूर्व स्मृतिके उदित होनेसे श्रीकृष्णमें भावान्तर उपस्थित हो सकता है, क्योंकि श्रीकृष्णने पहले यहींपर गोपोंको वैकुण्ठलोकका दर्शन करवाया था। इसलिए हो सकता है कि उन्हें अपने अवतारके कार्य—कंस वध आदिरूप कर्त्तव्यकी स्मृति हो जाये—ऐसा समझना होगा। अतएव अक्रूर अनेक प्रकारके नीतिपूर्ण वचनोंका जाल विस्तारकर उन्हें स्वस्थ करने लगे। वस्तुतः इसके द्वारा श्रीकृष्णके सवस्थ होनेका अभाव ही सूचित हुआ है॥३२१॥

तेषां व्रजजनानान्तु या दशाजनि दुःश्रवा।
दलन्ति कथया तस्या हा हा वज्रादयोऽप्यलम्॥३२२॥

श्लोकानुवाद—परन्तु उस समय सभी व्रजवासियोंकी जो दुःखपूर्ण दशा हुई, वह सुनने योग्य नहीं है। हाय! उनकी दशाके विषयमें सुनकर वज्र आदि भी टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं॥३२२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततो व्रजे किं वृत्त्मित्यपेक्षायामाह—तेषामिति। दुःश्रवेति—यैः सा श्रूयते, तेषामपि तादृशमेव दुःखं जायत इत्यर्थः। अलमत्यर्थं दलन्ति॥३२२॥

भावानुवाद—यदि कहो कि उस समय व्रजवासियोंकी कैसी दशा हुई? इसके लिए 'तेषां' इत्यादि श्लोक द्वारा कह रहे हैं कि उस समय व्रजवासियोंकी जैसी दशा हुई वह सुनने योग्य नहीं है। अर्थात् जो उसे सुनेगा उसमें भी उनके जैसा ही दुख उत्पन्न हो जायेगा॥३२२॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

एवं वदन्नये मातः सरूपः करुणस्वरैः।
रुदन्नुच्चैः सकातर्यं मुमोह प्रेमविह्वलः॥३२३॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षित् महाराजजीने कहा—हे मातः (श्रीउत्तरा देवी)! इस प्रकार कहते-कहते श्रीसरूप दुःखित होकर करुण स्वरसे रोते-रोते प्रेममें विह्वल होकर मूर्च्छित हो गये॥३२३॥

दिग्दर्शिनी टीका—हे मातरुत्तरे! प्रेम्णा विह्वलः सन्॥३२३॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३२३॥

तेन माथुरवर्येण व्यग्रेण रुदता क्षणात्।
प्रयासैर्विविधैः स्वास्थ्यं नीतोऽसौ पुनरब्रवीत्॥३२४॥

श्लोकानुवाद—तब उस कथाके श्रोता माथुर-ब्राह्मण भी व्याकुल होकर रोने लगे। क्षणकालके बाद उन्होंने सरूपको विविध प्रकारके प्रयास द्वारा स्वस्थ किया। तब सरूपने फिरसे बोलना प्रारम्भ किया॥३२४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेन तत्कथाश्रोत्रा क्षणात् स्वास्थ्यं नीतः सन् असौ सरूपः॥३२४॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३२४॥

श्रीसरूप उवाच—

कृष्णो मधुपुरीं गत्वा तत्रत्यान् परितोष्य तान्।
कंसं सानुचरं हत्वा पितरौ तौ व्यमोचयत्॥३२५॥

श्लोकानुवाद—श्रीसरूपने कहा—श्रीकृष्णने मथुरा जाकर वहाँके निवासियोंको सन्तुष्ट किया तथा कंसको उसके अनुचरों सहित मारकर अपने माता-पिताको बन्धनसे मुक्त किया॥३२५॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं पुनर्मोहातिशयशङ्कया श्रीकृष्णविरहकृतगोपीप्रभृति-व्रजजनमहादुर्दशाप्रसङ्गं परित्यज्य मधुपुर्यां गतस्य श्रीकृष्णस्यैव वृत्तमाह—कृष्ण इति। तान् वायकमालाकार-प्रभृतीन् तत्रत्यान् पौरजनान्; पितरौ देवकी-वसुदेवौ॥३२५॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीकृष्णके विरहसे गोपी इत्यादि व्रजवासियोंकी महादुर्दशाके प्रसङ्गके वर्णन द्वारा फिरसे मूर्च्छा न आ जाये, इस आशङ्कासे श्रीसरूप उस विरहके प्रसङ्गको छोड़कर श्रीकृष्णके मथुरा जानेके प्रसङ्गका वर्णन 'कृष्णो' इत्यादि श्लोक द्वारा कर रहे हैं। श्रीकृष्णने मथुरा जाकर वहाँ रहनेवाले दर्जी और माला बनानेवाले आदि सभी पुरवासियोंको सन्तुष्ट किया तथा कंसको उसके अनुचरों सहित मारकर श्रीदेवकी-वसुदेवको बन्धनसे मुक्त किया॥३२५॥

उग्रसेनञ्च कंसस्य तातं राज्येऽभ्यषेचयत्।
आनिन्ये यादवान् दिग्भ्यः पौरांश्चाश्वासयज्जनान्॥३२६॥

श्लोकानुवाद—इसके पश्चात् कंसके पिता उग्रसेनको राजा बनाकर तथा कंसके भयसे अन्य देशोंको भागे हुए यादवोंको वापस बुलाकर मथुरावासियोंको मधुर वचनों द्वारा धीरज बँधाया॥३२६॥

दिग्दर्शिनी टीका—कंसस्य तातमिति तस्य राज्याभिषेचनौचित्यमुक्तम्। दिग्भ्यः देशान्तरेभ्यः आश्वासयत् मिष्टवाक्यादिना सान्त्वयामास॥३२६॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३२६॥

यदूनां परमार्त्तानां तदेकगतिजीविनाम्।
कंसेष्टनृप-भीतानामाग्रहाद्भक्तवत्सलः ॥३२७॥
तत्रावात्सीत् सुखं कर्त्तुं साग्रजो गोकुले च तान्।
नन्दादीन् प्रेषयामास तत्रत्याश्वासनाय सः॥३२८॥

श्लोकानुवाद—कंसके मित्र दुष्ट-राजाओंसे भयभीत और अत्यन्त दुःखित तथा श्रीकृष्णको ही अपना जीवन माननेवाले उन यादवोंके आग्रहसे भक्तवत्सल श्रीहरि श्रीबलराम सहित उन्हें सुख देनेके लिए मथुरामें ही वास करने लगे तथा समस्त व्रजवासियोंको आश्वासन देनेके लिए श्रीनन्दराज तथा अन्य गोपोंको गोकुल भेज दिया॥३२७-३२८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च यदूनामाग्रहात्तेषामेव सुखं कर्त्तुं तत्र मधुपुर्यामेव स श्रीकृष्णः साग्रजोऽवात्सीदिति द्वाभ्यामन्वयः। कुतः? भक्तवत्सल; कीदृशानाम्? तस्य श्रीकृष्णस्यैव, यद्वा, तद्रूपयैव एकया अनन्यया गत्या अवलम्बनेन जीवितुं

शीलमेषामिति तथा तेषाम्; किञ्च, परमार्त्तानां कंसकृतद्वेषादिना महादुःखितानाम्; किञ्च, कंसस्य इष्टेभ्यः प्रियेभ्यो नृपेभ्यो जरासन्धादिभ्यो भीतानाम। ननु तर्हि व्रजजनाः कथं जीवेयुस्तत्राह—तान् निजसङ्गागतान् नन्दादीन् गोकुले प्रेषयामास। किमर्थम्? तत्रत्यानां गोकुलवर्त्तिनामाश्वासनाय सान्त्वनाय॥३२७-३२८॥

भावानुवाद—तत्पश्चात् यादवोंके आग्रह तथा उन्हें सुख प्रदान करनेके लिए श्रीकृष्ण अपने ज्येष्ठ भ्राता श्रीबलराम सहित उस मधुपुरीमें ही वास करने लगे। उन्होंने ऐसा क्यों किया? इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि वे भक्तवत्सल हैं। वे यादव कैसे थे? श्रीकृष्ण ही उनके जीवन थे, अथवा अनन्यगति अर्थात् श्रीकृष्णके बिना प्राणहीन यादव कंसके द्वेष आदि द्वारा अत्यन्त दुःखी तथा कंसके मित्र जरासन्ध जैसे राजाओंसे भयभीत थे। उन यादवोंके सुखके लिए वे भक्तवत्सल श्रीकृष्ण वहीं वास करने लगे। यदि आपत्ति हो कि तो फिर व्रजवासी कैसे जीवित रहेंगे? इसीके लिए कह रहे हैं कि अपने साथ आये श्रीनन्दराजजी तथा अन्य गोपोंको श्रीकृष्णने किसी प्रकार समझा-बुझाकर व्रजमें भेज दिया। किसलिए? उन व्रजवासियोंको आश्वासन और सान्त्वना प्रदान करनेके लिए॥३२७-३२८॥

श्रीभगवानुवाच—

पितरादौ भवान् यातु गोपवर्गैः सह द्रुतम्।
यावन्न म्रियते कोऽपि तत्रत्योऽस्मान् विना जनः॥३२९॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—हे पिताजी! हमारे विरहसे कहीं किसी व्रजवासीके प्राण न निकल जाये, इसलिए आप इन गोपों सहित शीघ्र ही गोकुल जाइये॥३२९॥

दिग्दर्शिनी टीका—प्रेषणप्रकारमेवाह—श्रीभगवानिति। हे पितः श्रीनन्द! तत्रत्यः गोकुलवर्त्ती जनः, अस्मानिति बहुत्वेन सर्वान् नन्दादीन् गृह्णाति। ततश्च त्वयि गोपवर्गेषु च तत्र गतेषु ते जीविष्यन्तीति तत्प्रस्थापन-चातुर्यमूह्यम्॥३२९॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णने श्रीनन्द आदिको किस प्रकार व्रजमें भेजा, इसे बतलानेके लिए सरूप 'श्रीभगवान्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। श्रीभगवान्ने कहा, हे पितः श्रीनन्दः! हमारे विरहमें उन गोकुलवासियोंमेंसे कोई प्राण त्याग न कर दें, उससे पहले ही आप सभी गोपों सहित

वहाँ प्रस्थान कीजिये। 'अस्मान्' इस बहुवचनसे श्रीनन्द आदि सहित समस्त व्रजवासियोंको भी समझना चाहिये। इसके द्वारा उन्हें गोकुल भेजनेमें श्रीकृष्णकी चतुरता प्रकाशित हो रही है॥३२९॥

अहञ्च तव मित्राणामेषामुद्विग्नचेतसाम्।
अचिरात् सुखमाधाय तमेषोऽस्म्याव्रजन् व्रजम्॥३३०॥

श्लोकानुवाद—मैं भी आपके मित्र इन उद्विग्न-चित्त यादवोंको सुखी करके जल्दी ही उस प्रिय व्रजमें आ रहा हूँ॥३३०॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तथापि त्वां विना म्रियेत एवेति चेत्तत्राह—अहमिति। एषां यादवानां सुखमाधाय; कुतः? तवैव मित्राणां सुहृदाम्; तत्र च उद्विग्नं परमभीतं दुःखिततरं वा चेतो येषां तेषाम्; अचिरादेव तं मत्प्रियतमं व्रजमेषोऽहमाव्रजन्ना-गच्छन्नस्मि॥३३०॥

भावानुवाद—यदि श्रीनन्दराजजी कहें कि तथापि तुम्हारे बिना हम सभी मर जायेंगे, इसीके लिए श्रीकृष्ण 'अहञ्च' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। इन यादवोंको सुखी करके मैं भी जल्दी ही उस प्रियतम व्रजमें आ रहा हूँ। यदि कहो कि किसलिए इन यादवोंको सुखी करना चाहते हैं? इसके लिए कह रहे हैं—ये सब आपके मित्र हैं तथा विशेषतः इस समय ये परम भयभीत और अत्यन्त दुःखी हैं॥३३०॥

श्रीनन्द उवाच—

त्वमन्यदीयोऽसि विहाय यादृशान्,
कुतोऽपि वस्तुञ्च परत्र शक्नुयाः।
इति प्रतीतिर्न भवेत् कदापि मे,
ततः प्रतिज्ञाय तथा मयागतम्॥३३१॥

श्लोकानुवाद—श्रीनन्दराजजीने कहा—हे पुत्र! मैं यह जानता हूँ कि तुम किसी दूसरेके नहीं हो। तुम हमें छोड़कर और दूसरोंके होकर अन्य किसी स्थानपर रहनेमें समर्थ होओगे—मुझे यह प्रतीति पहले कभी नहीं हुई। इसलिए मैंने यह प्रतिज्ञाकी थी कि तुम्हें छोड़कर मैं अकेला व्रजमें नहीं आऊँगा॥३३१॥

दिग्दर्शिनी टीका—परत्र व्रजादन्यस्मिन् स्थाने वस्तुं शक्नुयाश्च; तथा तादृशम्—*"हित्वेममायानि कथञ्चन व्रजम्"* इत्यादिप्रकारमित्यर्थः॥३३१॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३३१॥

तद्रक्ष रक्षात्मसमीपतोऽस्मान्,
मा मुञ्च मा मुञ्च निजान् कथञ्चन।
आत्मेच्छया तत्र यदा प्रयास्यसि,
त्वत्सङ्गतो याम तदैव हा वयम्॥३३२॥

श्लोकानुवाद—इसलिए हे पुत्र! रक्षा करो, रक्षा करो, हमें अपने पास ही रखो, हमें अपनेसे दूर कभी मत भेजो। जब तुम अपनी इच्छासे व्रज जाओगे, हम लोग भी तभी तुम्हारे साथ व्रजमें लौटेंगे॥३३२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्तस्मात् आत्मनस्तव समीप एव, रक्ष रक्ष वीप्साद्वयमत्यन्त-वैयग्र्ये। तत्र व्रजे, हा कष्टं तदा त्वत्सङ्गत्यैव वयं तत्र यामः यास्यामः। यद्वा, अनुमतौ पञ्चमी, तदैव यानानुमतिं विधेहीत्यर्थः॥३३२॥

भावानुवाद—अतएव हम लोगोंको अपने पास ही रख लो, दूर मत भेजो। यहाँपर अत्यन्त व्याकुलताके कारण रक्षा करो, रक्षा करो—दो बार कहा गया है। कैसा कष्ट है! हम लोग भी तुम्हारे साथ ही व्रजमें लौटेंगे, अथवा तभी हम लोगोंको जानेकी अनुमति देना॥३३२॥

मदाशया ते व्रजवासिनो जना,
भवज्जनन्या सह सन्ति सासवः।
गते विना त्वां मयि दारुणान्तरे,
ध्रुवं विनङ्क्ष्यन्ति सपद्यमी पितः॥३३३॥

श्लोकानुवाद—मेरे द्वारा दिये गये वचनोंकी आशासे तुम्हारी माता सहित सभी व्रजवासियोंने प्राण धारण कर रखा है। मेरा चित्त बहुत कठोर है, क्योंकि तुम्हारे द्वारा "हे पितः!"—इन वचनोंको सुनकर भी मैं अपने प्राण-धारण करनेमें समर्थ हो रहा हूँ। यदि मैं तुम्हें यहीं

छोड़कर गोकुल जाता भी हूँ, तब तो वे व्रजवासी निश्चय ही प्राण त्याग देंगे॥३३३॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वादौ तेषामाश्वासनाय भवान् यात्वित्युक्तम्, तत्राह—मदिति। श्रीनन्दः कृतशपथः कृतप्रतिज्ञः कदाचिदपि कृष्णं विहाय नायास्यतीति मद्विषयकाशया तथा मद्दत्तया आशया वा भवज्जनन्या श्रीयशोदया सहिताः; भवज्जनन्येति सम्बन्धं द्रढ़यन् तां स्मारयंश्च स्नेहभरमुत्पादयति; सासवः प्राणयुक्ताः सन्ति; दारुणं कठिनमन्तरं चित्तं यस्य तस्मिन्; अतोऽहं गन्तुमपि न शक्नोमीत्यर्थः। किंवा, त्वदेतादृशवचनश्रवणादपि प्राणान् धारयितुमर्हामीति भावः। हे पितः! अमी व्रजवासिनस्तु सपदि मद्गमनक्षण एव ध्रुवं विनङ्क्ष्यन्ति॥३३३॥

भावानुवाद—यदि श्रीकृष्ण कहें कि प्रथमतः उन व्रजवासियोंको आश्वासन देनेके लिए आप व्रजमें जाइये। इसीके लिए श्रीनन्दराज 'मदाशया' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। मेरी प्रतिज्ञा थी कि "कृष्णको छोड़कर मैं कभी भी व्रजमें नहीं लौटूँगा"—मेरे द्वारा दिये गये वचनोंकी आशासे ही तुम्हारी माता श्रीयशोदा सहित सभी व्रजवासियोंने प्राण धारण कर रखा है। श्रीनन्दराज द्वारा 'तुम्हारी माता' कहनेका गूढ़ उद्देश्य है—सुदृढ़-सम्बन्धके स्मरणसे श्रीकृष्णमें माताके प्रति स्नेह उत्पन्न कराना। इसलिए कठिन हृदयवाला मैं वापस लौटनेमें भी असमर्थ हूँ, अथवा मेरा हृदय अत्यधिक कठोर है, क्योंकि "हे पितः!" इत्यादि—तुम्हारे इन वचनोंको श्रवण करनेमात्रसे ही मेरे प्राण निकलना ही उचित था, किन्तु मैं अभी तक प्राण-धारण कर रहा हूँ। हे वत्स! तुम्हें छोड़कर व्रजमें जानेसे वे व्रजवासी उसी समय प्राण त्याग कर देंगे॥३३३॥

श्रीदामोवाच—

गोचारणेन लसति त्वयि गोष्ठभूम्या–
माच्छादिते तरुलतादिभिरेव यस्मिन्।
जीवेम ये न वयमीश तमन्तरा ते,
स्थातुं चिरं कथममुत्र भवेम शक्ताः॥३३४॥

श्लोकानुवाद—श्रीदामने कहा—हे नाथ! जब आप गोचारणके बहानेसे व्रजभूमिमें विहार करते हुए वृक्ष, लता आदिकी ओटमें हो

जाते थे, इतने समयमें ही आपको देखे बिना हमलोग प्राण धारण करनेमें असमर्थ हो जाते थे। अब आपको छोड़कर हम व्रजभूमिमें चिरकालके लिए किस प्रकार वास करनेमें समर्थ होंगे? अपितु जल्दी ही मर जायेंगे॥३३४॥

दिग्दर्शिनी टीका—हे ईश प्रभो! गोष्ठभूम्यामेव लसति क्रीड़ति सत्येव यस्मिन् त्वयि आच्छादिते सत्येव ये वयं न जीवेम, तं त्वामन्तरा विना ते एव वयम् अमुत्र गोष्ठभूम्यां चिरं स्थातुं कथं शक्ता भवेम? अपि तु शीघ्रमेव मरिष्याम इत्यर्थः॥३३४॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३३४॥

श्रीसरूप उवाच—

एवं विक्लवितं तेषां श्रुत्वा तूष्णीं स्थिते प्रभौ।
व्रजं जिगमिषां तस्याशङ्क्य शूरसुतोऽब्रवीत्॥३३५॥

श्लोकानुवाद—श्रीसरूपने कहा—इस प्रकार श्रीनन्दराज तथा अन्य गोपोंकी विकलता पूर्ण उक्तिको सुनकर श्रीकृष्ण कुछ देर तक मौन हो गये। तब शूरसेनके पुत्र श्रीवसुदेवजी श्रीकृष्णकी व्रजमें जानेकी इच्छाकी आशङ्का करके कहने लगे॥३३५॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमित्यादिप्रकारेण तेषां श्रीनन्दादीनां विक्लवितं वैकल्योक्तिं श्रुत्वा प्रभौ श्रीकृष्णे तस्य प्रभोर्व्रजगमनेच्छामाशङ्क्य सम्भाव्य॥३३५॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३३५॥

श्रीवसुदेव उवाच—

भ्रातर्नन्द भवत्सूनोः साग्रजस्यास्य निर्वृत्तिः।
भवेत्तत्रैव वसतः सर्वथान्यत्र तु व्यथा॥३३६॥

श्लोकानुवाद—श्रीवसुदवेजीने कहा—हे भाई नन्दराय! श्रीबलराम सहित तुम्हारा यह पुत्र व्रजमें रहकर ही सर्वथा परम आनन्द प्राप्त करता है, अन्य किसी भी स्थानपर वास करनेसे ये केवल दुःखी ही होता है॥३३६॥

दिग्दर्शिनी टीका—अस्य भवत्सुनोः श्रीकृष्णस्य साग्रजस्यापि तत्र भवद्व्रज एव वसतो निर्वृत्तिः सुखं सर्वथा भवेत्, अन्यत्र तद्व्रजेतरस्थाने वसतस्तु व्यथा दुःखमेव भवेत्॥३३६॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३३६॥

किन्तूपनयनस्यायं कालस्तद्ब्रह्मचारिणौ।
भूत्वा स्थानान्तरे गत्वाधीत्येमौ व्रजमेष्यतः॥३३७॥

श्लोकानुवाद—किन्तु दोनोंके ही उपनयन (जनेऊ संस्कार) का समय हो गया है, अतएव अभी ये ब्रह्मचारी होकर दूसरे स्थानपर वेद अध्ययन करेंगे और फिर व्रजमें चले जायेंगे॥३३७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तर्हि द्रुतं तत्रैवेमं प्रस्थापय, तत्राह—किन्त्विति। अयमेकादशवर्षवयःसम्बन्धी; तत् तस्मात् इमौ रामकृष्णौ कृतोपनयनतया ब्रह्मचारिणौ भूत्वा व्रजं तं गमिष्यतः। ननु तर्हि अविलम्बितमत्रैवैतावुपनीयेताम्, तत्राह—स्थानान्तरे गत्वाधीत्येति ब्रह्मचर्यादवश्यमेव वेदाध्ययनं, तच्च देशान्तरे सद्गुरावेवोपयुक्तमिति भावः। अनेन वयमप्यत्र स्नेहेन रक्षिष्यामः, भवतामप्यत्रानुमतिरुचितैव, एतयोर्हि कृत्यसम्पच्चय इष्टः स्यात्॥३३७॥

भावानुवाद—यदि श्रीनन्दराजजी कहें कि तो फिर जल्दी ही इन्हें व्रज भेजो। इसीके लिए ही श्रीवसुदेव 'किन्तु' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। किन्तु अब इनके उपनयनका समय है, क्योंकि ये अब ग्यारह वर्षके हो गये हैं। अतएव बलराम और कृष्ण ब्रह्मचारी होकर अर्थात् उपनयन कराके ही व्रज जायेंगे। यदि श्रीनन्दजी पुनः कहें कि तो फिर बिना देरी किये इसी स्थानपर ही उपनयन-संस्कार किया जाये। इसके लिए श्रीवसुदेवजी कह रहे हैं कि दूसरे स्थानपर जाकर सद्गुरुके निकट ब्रह्मचर्य पालन करते हुए वेद अध्ययन करनेके उपरान्त ही ये व्रजमें जायेंगे। इसलिए स्नेहके वशीभूत होनेपर भी मैं इन्हें दूसरे स्थानपर भेजूँगा—यहाँपर नहीं रखूँगा। अतएव इस कार्यमें अनुमति प्रदान करना आपका भी कर्त्तव्य है। अर्थात् इनके उपनयन आदि संस्कारके लिए प्रीतिवशतः जिस प्रकार मैं कोई बाधा नहीं दे रहा हूँ, उसी प्रकार आपके लिए भी बाधा देना उचित नहीं है॥३३७॥

श्रीसरूप उवाच—

सम्मतिं वसुदेवस्य वाक्ये स्वस्य त्वसम्मतिम्।
कृष्णस्य नन्दः संलक्ष्य प्रतस्थे रोदनाकुलः॥३३८॥

श्लोकानुवाद—श्रीसरूपने कहा—श्रीवसुदेवके वचनोंके प्रति श्रीकृष्णकी सम्मति तथा अपने वचनोंके प्रति उनकी असम्मति देखकर श्रीनन्दजी व्याकुल होकर रोते हुए चल पड़े॥३३८॥

दिग्दर्शिनी टीका—वसुदेवस्य वाक्ये कृष्णस्य सम्मतिं स्वस्य वाक्ये कृष्णस्य असम्मतिं सम्मत्यभावं नन्दः संलक्ष्य इति इङ्गितेनाभिप्रेत्य। वस्तुतस्तु मादृशां गमनमालोक्यास्मद्विरहेणान्यत्र स्थातुमशक्तः। श्रीकृष्णोऽस्मत्सङ्गत्यैव व्रजमेष्यतीत्यभिप्रायेण श्रीनन्दस्य प्रस्थानमिति ज्ञेयम्॥३३८॥

भावानुवाद—इसके पश्चात् श्रीनन्दराजजी इङ्गित आदि लक्षणों द्वारा श्रीवसुदेवके वचनोंमें श्रीकृष्णकी सम्मति तथा अपने वचनोंके प्रति असम्मति जानकर रोते-रोते चल पड़े। किन्तु उन्होंने सोचा कि कृष्ण मुझे व्रज जाता देखकर विरहसे अन्य किसी स्थानपर रहनेमें समर्थ नहीं होगा, अतएव मेरे साथ ही चल पड़ेगा—इसी अभिप्रायसे ही श्रीनन्दजीका व्रजके लिए प्रस्थान समझना चाहिये॥३३८॥

स यादवकुलैर्देवो गोपराजमनुव्रजन्।
रुदद्भिः क्रमशो गोपैर्धृतः कण्ठेऽरुदत्तराम्॥३३९॥

श्लोकानुवाद—तब श्रीकृष्णदेव अन्य यादवोंके साथ-साथ श्रीनन्दराजका अनुगमन करने लगे। फिर जब रोते हुए सभी गोपोंने एक-एक करके उन्हें गले लगाया, तब वे भी बड़े जोर-जोरसे रोने लगे॥३३९॥

दिग्दर्शिनी टीका—यादवकुलैः सह स देवः श्रीकृष्णः कण्ठे धृतः सन्॥३३९॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३३९॥

व्याकुलं कृष्णमालक्ष्य यियासुं संन्यवर्त्तयन्।
वसुदेवादयो धीरा यादवा युक्तिपङ्क्तिभिः॥३४०॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णकी व्याकुलताको देखकर तथा यह समझकर कि वे व्रज जानेके लिए उत्सुक हैं, श्रीवसुदेव आदि धीर यादव युक्तियोंका जाल बिछाकर उन्हें वापस लौटा लाये॥३४०॥

दिग्दर्शिनी टीका—यियासुं व्रजमेव गन्तुमिच्छन्तं युक्तीनां जरासन्धादिभयकृत-यदुकुलादि-महावैकल्योपशमनावश्यकता-प्रदर्शनादिरूपाणां पङ्क्तिभिः संन्यवर्त्तयन्, यतो धीरा विचक्षणाः ॥३४०॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णको व्रज जानेमें इच्छुक समझकर श्रीवसुदेव आदि धीर यादव जरासन्ध आदिके भयसे उत्पन्न यदुकुलकी व्याकुलताको शमन करनेकी आवश्यकता प्रदर्शन इत्यादि रूप युक्तियोंका जाल बिछाकर श्रीकृष्णको वापस लौटा लाये॥३४०॥

कृष्णेच्छयैव ते सर्वे नन्दाद्याः प्रापिता व्रजम्।
श्रुत्वायान्तञ्च नन्दं ते मुदाभीयुर्व्रजस्थिताः॥३४१॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णकी इच्छासे ही श्रीनन्दराज आदि सभी गोप व्रजको चल पड़े। श्रीनन्दजीके व्रजमें आनेका समाचार सुनकर समस्त व्रजवासी बड़े प्रसन्न होकर उनकी ओर अग्रसर हुए॥३४१॥

दिग्दर्शिनी टीका—श्रीकृष्णस्य इच्छयैव व्रजं प्रापिता इत्यन्यथा तं विना तेषां कथञ्चिदपि व्रजे प्रस्थानासम्भवात्। अतः शकटादयोऽपि तयैव स्वयं चलिता इत्यूह्यम्। ते च तदाशाबद्धजीवना व्रजस्थिता जना नन्दमायान्तं श्रुत्वा मुदा श्रीकृष्णगमनसम्भावनया हर्षेण अभीयुः अभिमुखमग्रतो गताः॥३४१॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णकी इच्छासे ही श्रीनन्दराज आदि गोप व्रज लौट आये, अन्यथा अर्थात् श्रीकृष्णकी इच्छाके बिना उनका कभी भी व्रजकी ओर प्रस्थान करना सम्भव नहीं होता। यहाँ तक कि श्रीकृष्णकी इच्छासे ही सभी छकड़े (बैल गाड़ियाँ) भी स्वयं चलने लग गये थे। श्रीकृष्णके आगमनकी आशासे ही जीवन धारण कर रहे समस्त व्रजवासी दूरसे ही गाड़ियोंकी ध्वनि सुनकर श्रीनन्दजी आ रहे हैं—ऐसा जानकर प्रसन्नतापूर्वक उनके साथ श्रीकृष्णके आगमनकी सम्भावनासे उनकी ओर अग्रसर हुए॥३४१॥

नन्दस्तु शोक-लज्जाभ्यां मुखमाच्छाद्य वाससा।
रुदन् गेहं गतोऽशेत भूमौ परमदुःखितः॥३४२॥

श्लोकानुवाद—श्रीनन्दराजजी शोक और लज्जावशतः वस्त्र द्वारा अपने मुखको ढककर रोते-रोते घर जाकर अत्यन्त दुःखी होकर भूमिपर ही लेट गये॥३४२॥

दिग्दर्शिनी टीका—शोकः श्रीकृष्णविच्छेदेन लज्जा च निजप्रतिज्ञाभङ्गात् पूर्वं श्रीयशोदाश्वासक–प्रतिज्ञाकरणाद्वा श्रीकृष्णपरित्यागेन स्वगृहगमनाद्वा ताभ्यां हेतुभ्यां वाससा वस्त्रेण कृत्वा स्वस्य मुखमाच्छाद्य॥३४२॥

भावानुवाद—श्रीनन्दराजजी श्रीकृष्णके विच्छेदसे उत्पन्न शोक और अपनी प्रतिज्ञाके भङ्ग होने अर्थात् पूर्वोक्त श्रीयशोदाजीको आश्वासन देते समयकी हुई प्रतिज्ञाके भङ्ग होनेसे अथवा श्रीकृष्णको छोड़कर अकेले ही अपने घर लौटनेके कारण लज्जावशतः वस्त्र द्वारा अपने मुखको ढककर अत्यन्त दुःखित होकर भूमिपर ही लेट गये॥३४२॥

ते चाविलोक्य प्रभुमार्त्तिकातराः,
कर्त्तव्यमूढ़ा बहुशङ्कयातुराः।
शुष्काननाः प्रष्टुमनीश्वराः प्रभो–
र्वार्त्तामशृण्वन् वत वृद्धगोपतः॥३४३॥

श्लोकानुवाद—व्रजवासी श्रीकृष्णको न देखकर दुःखवशतः कर्त्तव्य–विमूढ़ हो गये तथा अनेक प्रकारकी आशङ्काएँ करते हुए अत्यन्त अधीर हो गये। उनके मुख सूख गये तथा कृष्णके सम्बन्धमें पूछनेका भी सामर्थ्य नहीं रहा। तत्पश्चात् उन्होंने वृद्ध गोपोंके मुखसे सब कुछ सुना॥३४३॥

दिग्दर्शिनी टीका—ते व्रजवासिनश्च प्रभुं श्रीकृष्णम् अविलोक्य न दृष्ट्वैव आर्त्त्या कातरा व्यग्राः। अतः कर्त्तव्येषु तदानीन्तननिजकृत्येषु, मूढ़ाः, किञ्च, बह्व्या कंसदुश्चेष्टादिकृतया शङ्कया आतुरा विवशाः; अतएव शुष्काणि आननानि येषां ते। प्रभुमेव प्रष्टुं श्रीकृष्णः कुत्रेति प्रश्नमपि कर्त्तुमसमर्थाः, प्रभोस्तस्यैव वार्त्तां यदुकुलदुःखोपशमनाद्यर्थमधुनासौ मधुपुर्यामेव स्थित इत्यादिरूपां शुश्रुवुः। वत खेदे॥३४३॥

भावानुवाद—व्रजवासी अपने प्रभु श्रीकृष्णको न देखकर दुःखसे व्याकुल हो गये तथा उस समय अपने–अपने कर्त्तव्यके विषयमें विमूढ़ हो गये। तत्पश्चात् कंस द्वारा किसी दुश्चेष्टा आदिकी आशङ्का करके अत्यन्त अधीर हो गये। उनका मुख सूख गया तथा "कृष्ण कहाँ हैं?"—यह प्रश्न पूछनेका भी उनमें सामर्थ्य नहीं रहा। तत्पश्चात् वृद्ध

गोपोंके मुखसे श्रीकृष्णका समाचार अर्थात् यदुकुलके दुःखोंको नाश करनेके लिए उनके मथुरामें रहने आदिके विषयमें श्रवण किया॥३४३॥

हा हेति हा हेति महार्त्तिनादै-,
रुच्चै रुदत्यः सह कृष्णमात्रा।
प्रापुर्दशां यां पुनरङ्गनास्ता,
हा हन्त हा हन्त कथं ब्रुवेताम्॥३४४॥

श्लोकानुवाद—तब श्रीयशोदा सहित सभी व्रजवासी बड़े जोर-जोरसे 'हा-हाकार' करते हुए अत्यन्त दुःखित स्वरसे रोने लगे। उस समय उनकी जो दशा हुई, हाय! उसका मैं किस प्रकार वर्णन करूँ?॥३४४॥

दिग्दर्शिनी टीका—कृष्णमात्रा श्रीयशोदया सह ताः अङ्गनाः श्रीगोप्यः यां दशां पुनः प्रापुः तां दशाम्॥३४४॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३४४॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

एवं मनस्यागत-तत्प्रवृत्ति-
प्रादुष्कृतात्यन्तशुगग्निदग्धः।
मुग्धोऽभवद्गोपकुमारवर्यो,
मातः सरूपो नितरां पुनः सः॥३४५॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षित्ने कहा—हे मातः! इस प्रकार श्रीकृष्णके विच्छेदसे गोपियों आदि व्रजवासियोंकी जो दशा हुई, उस विरह दशाका वर्णन करते समय श्रीसरूप नामक श्रेष्ठ गोपकुमारके हृदयमें उस लीलाकी स्फूर्ति हो उठी और वे उस विरहकी शोक-अग्निमें दग्ध होकर पुनः अत्यधिक रूपसे मूर्च्छित हो गये॥३४५॥

दिग्दर्शिनी टीका—मनसि आगतया सम्प्राप्तया तासां तया वा श्रीगोपिकादि-तद्दशा-सम्बन्धिन्या प्रवृत्त्या वार्त्तया प्रादुष्कृता अत्यन्ता शुक् शोक एवाग्निस्तेन दग्धः अन्तःसन्तप्तः सन्। हे मातः! स सरूपनामा गोपकुमारवर्यो नितरामतिशयेन पुनर्मुग्धो लब्धमोहोऽभवत्॥३४५॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३४५॥

तेनैव विप्रप्रवरेण यत्नतो,
नीतो मनाक् स्वास्थ्यमिव स्वयुक्तिभिः।
आशङ्क्य मोहं पुनरात्मनोऽधिकं,
वार्त्तां विशेषेण न तामवर्णयत्॥३४६॥

श्लोकानुवाद—तब उस श्रेष्ठ ब्राह्मणने श्रीसरूपकी ऐसी अवस्था देखकर अपनी युक्तियोंसे जल छिड़कना आदि उपायों द्वारा बड़े यत्नसे उन्हें सचेत किया। तब श्रीसरूपने भी फिरसे अपने अधिक मूर्च्छित हो जानेकी आशङ्कासे व्रजवासियोंके उस विरह-वृत्तान्तको विशेष रूपसे वर्णन नहीं किया॥३४६॥

दिग्दर्शिनी टीका—स्वस्य विप्रवरस्यैव युक्तिभिर्जलसेकाद्युपायैर्यत्नतो मनाक् ईषत्स्वास्थ्यमिव नीतः सन् तां तद्व्रजजनसम्बन्धिनीं वार्त्ताम् अधिकं बहुलं यथा स्यात्तथा विशेषतो नावर्णयत्। तत्र हेतुः—आत्मनः स्वस्य पुनर्मोहमाशङ्क्येति अधिकमित्यस्यात्रैव वान्वयः॥३४६॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३४६॥

तत्कथा-शेषशुश्रूषा-व्यग्रं तं वीक्ष्य माथुरम्।
यत्नात् सोऽन्तरवष्टभ्य पुनराह महाशयः॥३४७॥

श्लोकानुवाद—परन्तु माथुर ब्राह्मण उस बाकीके वृत्तान्तको श्रवण करनेके लिए उत्सुक थे। ऐसा देखकर उदार हृदयवाले श्रीस्वरूप अपने चित्तको अति यत्नपूर्वक स्थिर करके फिरसे कहने लगे॥३४७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथाप्यत्यन्तसंक्षेपेण किञ्चिदकथयदिति सहेतुकमाह—तदिति। तस्याः प्रस्तुतायाः कथायाः शेषस्य अन्तभागस्य शुश्रूषया श्रवणेच्छया व्यग्रं वीक्ष्य स सरूपः अन्तश्चित्तमवष्टभ्य स्थिरीकृत्य महाशय इति तथापि तस्य विप्रस्य हितोदयानुसन्धानात् तादृशदुःखस्यापि सम्वरणादिति वा॥३४७॥

भावानुवाद—तथापि श्रीसरूप द्वारा अत्यन्त संक्षेपमें कुछ वर्णन करनेका कारण श्रीपरीक्षित् 'तत्' इत्यादि श्लोक द्वारा कह रहे हैं। वह माथुर-ब्राह्मण प्रस्तुत (चल रही) कथाके अन्तिम भागको श्रवण करनेके लिए अत्यन्त उत्सुक थे। ऐसा देखकर महाशय (उदार हृदयवाले) श्रीसरूपने बहुत यत्नपूर्वक अपने चित्तको स्थिर करके

अर्थात् उस विरह–दुःखको भी सम्वरण करके उस ब्राह्मणके हितके लिए फिरसे कहना आरम्भ किया॥३४७॥

श्रीसरूप उवाच—

तेषान्तु शोकार्त्तिभरं कदापि तं,
परैः प्रकारैरनिवर्त्यमाप्ततः।
जनात् स विख्याप्य जनेषु सर्वतो,
व्रजं प्रियप्रेमवशो चिराद्गतः॥३४८॥

श्लोकानुवाद—श्रीसरूपने कहा—श्रीकृष्णने यादवोंके समक्ष ऐसा स्थापित किया था कि व्रजवासियोंका अत्यधिक दुःख मेरे व्रजमें गये बिना अन्य किसी भी तरहसे शान्त नहीं हो सकता। अतएव अपने प्रियजनोंके प्रेमसे वशीभूत होकर वे स्वयं शीघ्र ही व्रजमें चले आये॥३४८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेषां व्रजजनानां तमनिर्वाच्यं शोकार्त्तिभरं परैर्निजगमन–व्यतिरिक्तैः प्रकारैः कदाचिदपि अनिवर्त्त्यं शमयितुमशक्यमिति, आप्ततः प्रतीति–योग्याज्जनात् श्रीमदुद्धवादेर्हेतोः तद्द्वारेत्यर्थः। जनेषु यादवादि–लोकेषु सर्वतो विख्याप्य स श्रीकृष्णः अचिरादेव व्रजं गतः, यतः प्रिय–जनानां प्रेम्णः परवशः साग्रज एव यथापूर्ववेशादिविशिष्टो गत इति ज्ञेयम्, अग्रे पूर्ववदेव लीलाचरणाद्युक्तेः॥३४८॥

भावानुवाद—उन व्रजवासियोंके अनिर्वचनीय अत्यधिक शोक और दुःखको स्वयं मेरे व्रजमें जाये बिना अन्य किसी भी प्रकारसे दूर नहीं किया जा सकता—श्रीकृष्णने ऐसी प्रतीतिके योग्य व्यक्ति श्रीउद्धवको व्रजमें भेजकर अपने उक्त वचनकी सार्थकता अनुभव करवायी। तथा श्रीउद्धवके मथुरामें लौटनेपर उनके द्वारा समस्त यादवोंमें प्रचारित करवाया कि श्रीकृष्ण बहुत जल्दी ही व्रजमें जायेंगे, क्योंकि वे अपने प्रियजनोंके प्रेमसे वशीभूत हैं। अतएव भगवान् श्रीकृष्ण अग्रज श्रीबलराम सहित व्रज अनुरूप वेश आदिसे युक्त होकर व्रजमें गये थे तथा उन्होंने पहले जैसी समस्त लीलाएँ की थीं॥३४८॥

विदग्धमूर्धन्यमणिः कृपाकुलो,
व्रजस्थितानां स ददत् सपद्यसून्।

तथा समं तैर्विजहार ते यथा,
विसस्मरुर्दुःखमदः समूलकम् ॥३४९ ॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार विदग्ध-शिरोमणि श्रीकृष्णने कृपासे व्याकुल होकर सभी व्रजवासियोंको अपने आगमनसे प्राण-दान दिया। श्रीकृष्ण उनके साथ इस प्रकार व्यवहार करने लगे, जिससे वे उस दुःखपूर्ण घटनाको सम्पूर्ण रूपसे ही भूल गये॥३४९॥

दिग्दर्शिनी टीका—स श्रीकृष्णः असून् प्राणान् ददत् ददानः तैर्व्रजस्थितैः, ते व्रजस्थिताः, अदः श्रीकृष्णविरहदुःखं, मूलेन अक्रूरव्रजगमन-श्रीकृष्णमथुरागमनादिना निदानेन सहितं यथा विसस्मरुः कथाकालापेक्षया अतीत-निर्देशः, तत्र हेतुद्वयं कृपया आकुलो व्यग्र इति विदग्धानां मूर्धन्यमणिरिति च॥३४९॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णने व्रजमें लौटकर व्रजवासियोंको प्राण-दान दिया। अतएव व्रजवासी उनके विरह-दुःखके मूल कारण अक्रूरके व्रजमें आने तथा श्रीकृष्णके मथुरा जाने जैसी समस्त घटनाओंको उनके कारण सहित भूल गये। (इसीलिए यहाँपर कथाके कालकी अपेक्षासे भूतकालका निर्देश हुआ है) इसके दो कारण हैं—भगवान् कृपासे व्याकुल रहते हैं तथा वे विदग्ध-शिरोमणि हैं, इसलिए उन्होंने व्रजवासियोंके साथ पूर्ववत् व्यवहार किया था॥३४९॥

यदि च कोऽपि कदाचिदनुस्मरे–
द्वदति तर्हि मया स्वपता वत।
किमपि दुष्टमनन्वयमीक्षितं,
सरुदितञ्च भयाद्बहु शोचति ॥३५० ॥

श्लोकानुवाद—यद्यपि कभी कोई श्रीकृष्णके उस विरहका स्मरण करता भी, तथापि वे उस असम्भव घटनाको स्वप्नमें अनुभव किया हुआ मानकर भयपूर्वक रोते हुए बहुत प्रकारसे शोक करता॥३५०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव दर्शयति—यदीति। तेषां मध्ये कोऽपि जनः अनुस्मरेत् तद्दुःखं तद्वृत्तं वा, तर्हि वदति किं तदाह—वत वितर्के खेदे वा। मया स्वपता स्वप्नेनेत्यर्थः। किञ्च, दुष्टममङ्गलं दृष्टं तच्च न विद्यते अन्वयोऽघटनासम्भावनापि वा यस्य तत्, कदाचिदपि श्रीकृष्णस्य अन्यत्र गमनाद्यसम्भवात्। ततश्च रुदितेन रोदनेन सहितं यथा स्यात्तथा, भयाद्दुःस्वप्न-दर्शनभयेन, बहु यथा स्यात्तथा शोचति। एवं सर्वथैव तेषां परमप्रेम-विशेषाविर्भावो दर्शितः॥३५०॥

भावानुवाद—श्रीकृष्णके व्रजमें लौट आनेपर व्रजवासी उनके दुःखपूर्ण वियोगको सम्पूर्णता भूल गये—इसे दिखलानेके लिए श्रीसरूप 'यदि' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। यदि उन व्रजवासियोंमेंसे कभी कोई श्रीकृष्णके मथुरा जानेके दुःखपूर्ण वृत्तान्तको स्मरण भी करता, तो वे खेदपूर्वक सोचता कि मैंने आज श्रीकृष्ण-विच्छेदरूपी असम्भव घटनाको स्वप्नमें अनुभव करके भयसे क्रन्दन करते हुए बहुत प्रकारसे शोक किया। वास्तवमें यह घटना बहुत कष्टदायक और अमङ्गलमय होनेके कारण असम्भव है, इसलिए वह घटना स्वप्न जैसी ही प्रतीत होती है—ऐसा समझना होगा। इसका कारण है कि श्रीकृष्णका व्रज त्याग करके अन्यत्र कहीं जाना असम्भव है। अतएव समस्त परिस्थितियोंमें व्रजवासियोंके परमप्रेमका आविर्भाव प्रदर्शित हुआ है॥३५०॥

चिरेण गोपालविहारमाधुरीभरैः,
समाकृष्ट-विमोहितेन्द्रियाः ।
न सस्मरुः किञ्चिदतीतमेष्यद-
प्यमी विदुर्न व्रजवासिनो जनाः॥३५१॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपालके साथ चिरकाल तक विहार-माधुरीके प्रवाहमें व्रजवासियोंकी इन्द्रियाँ इस प्रकारसे आसक्त और मुग्ध थीं कि वे भूत और भविष्यका कुछ भी स्मरण नहीं कर पाते थे॥३५१॥

दिग्दर्शिनी टीका—एतच्च तत्कालीनमेव वृत्तमुक्तम्, पश्चाच्च स्वप्ने तद्दर्शनं तत्स्मरणमपि च गतमिति किं वक्तव्यम्? किञ्चिदप्यन्यच्च तेऽनुसन्धातुं कदाचिदपि न प्रभवन्तीत्याह—चिरेणेति। अमी पूर्वोक्तमाहात्म्या व्रजवासिनो जनाः, किञ्चिदपि चिरेण न सस्मरुः सर्वमपि विस्मृतवन्तः। किंवा न स्मर्त्तुं शक्ता इत्यर्थः। एष्यत् भावि च किञ्चिन्न विदुः। तत्र हेतुः—गोपालस्य गोपक्रीड़ाविदग्धस्य श्रीकृष्णस्य विहारः क्रीड़ा तस्य माधुरी तस्या भरैः परम्पराभिरुद्रेकैर्वा समाकृष्टानि विमोहितानि च इन्द्रियाणि मनआदीनि येषां ते॥३५१॥

भावानुवाद—व्रजवासियों द्वारा श्रीकृष्णके मथुरा जानेके वृत्तान्तका स्मरण तत्कालीन ही था, क्योंकि बादमें यह वृत्तान्त उन्हें स्वप्नमें भी दर्शन या स्मरण नहीं होता था, अतएव इस विषयमें अधिक क्या

वर्णन करूँ? उनमें श्रीकृष्णके विरहका किञ्चिद्मात्र भी स्मरण कभी भी उदित नहीं होता था—इसे बतलानेके लिए ही 'चिरेण' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। पूर्वोक्त माहात्म्यवाले समस्त व्रजवासी चिरकाल तक उसका किञ्चित भी स्मरण नहीं कर पाये, वे सब कुछ भूल गये। अथवा उनमें उस घटनाको स्मरण करनेका समर्थ ही नहीं रहा तथा भविष्यमें भी नहीं होगा—ऐसा जानना चाहिये। इसका कारण है कि 'गोपालकी' अर्थात् गोप-लीला-विदग्ध श्रीकृष्णकी विहार-माधुरीके प्रवाहमें उनकी समस्त इन्द्रियाँ और मन आकर्षित और विमोहित थीं, अर्थात् वे सदैव उस विहार-माधुरीमें निमग्न रहते थे॥३५१॥

स हि कालान्तरेऽक्रूरोऽपूर्वागत इवागतः।
तथैव रथमादाय पुनस्तस्मिन् व्रजे सखे॥३५२॥

श्लोकानुवाद—हे सखे! कुछ समय बाद वह अक्रूर पहलेकी भाँति ही रथ लेकर फिरसे व्रजमें आये॥३५२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव प्रपञ्चयन्नाह—स हीति षड्भिः। येन पुर्वं कृष्णो नीतः, स एव तथैव कंसाज्ञया मधुपुयां श्रीकृष्णादिनयनार्थमेव हे सखे! तस्मिन्नेव व्रज आगतः, सोऽपि तद्व्रजजनवत् श्रीगोलोकस्वाभाविकप्रेमभरेण मोहित इत्यभिप्रायेणाह—पूर्वमनागत इवेति॥३५२॥

भावानुवाद—समस्त व्रजवासी श्रीकृष्णकी विहार-माधुरीके प्रवाहमें सदैव निमग्न रहते थे—इसे विस्तार सहित बतलानेके लिए श्रीसरूप 'स' इत्यादि छः श्लोक कह रहे हैं। हे सखे! जो पहले भी श्रीकृष्णको ले गया था, वही अक्रूर कंसकी आज्ञासे श्रीकृष्णको मथुरा ले जानेके लिए रथ लेकर फिरसे व्रजमें आये। यहाँपर 'इव' कार द्वारा सूचित हो रहा है कि उन व्रजवासियोंकी भाँति श्रीगोलोकमें भी स्वाभाविक प्रचुर प्रेमसे सभी मोहित हैं तथा इसी अभिप्रायसे ही कहा गया है—पहलेकी भाँति आये॥३५२॥

नीयमाने पुनस्तेन तथैव व्रजजीवने।
तत्रत्यानां दशा कापि पूर्ववत् समजायत॥३५३॥

श्लोकानुवाद—जब वे अक्रूर उन व्रज-जीवन श्रीकृष्णको फिरसे मथुरा ले जाने लगे, तब व्रजवासियोंमें पहले जैसी ही विरह अवस्था उदित हो गयी॥३५३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेन अक्रूरेण, तथैव पूर्ववदेव, व्रजजीवने श्रीकृष्णे, तत्रत्यानां व्रजवासिनाम्॥३५३॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३५३॥

मधुपुर्यां पुनर्गत्वा कंसं हत्वा पुनर्व्रजम्।
आगतः पूर्ववत्तत्र तथैव विहरत्यसौ॥३५४॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णने फिरसे मथुरा जाकर कंसका वध किया तथा पुनः व्रज आकर व्रजवासियोंके साथ पहलेकी भाँति ही विहार करने लगे॥३५४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र व्रजे, तथैव पूर्वोक्तप्रकारेणैव, असौ श्रीकृष्णो विहरति॥३५४॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३५४॥

एवं पुनः पुनर्याति तत्पुरे पूर्वपूर्ववत्।
पुनः पुनः समायाति व्रजे क्रीड़ेत्तथैव सः॥३५५॥

श्लोकानुवाद—इसी प्रकार पहलेकी भाँति बार-बार श्रीकृष्णचन्द्र कंसकी मथुरापुरीमें जाते हैं और पुनः-पुनः व्रजमें आकर व्रजवासियोंके साथ उसी प्रकारसे विहार करते हैं॥३५५॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमुक्तप्रकारेण तत्पुरे तस्य कंसस्य पुर्यां तस्यां मधुपुर्यामिति वा। तथैव पूर्वपूर्ववदेव; सः श्रीकृष्णः॥३५५॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३५५॥

तथैव कालीयदमः पुनः पुन-
स्तथैव गोवर्धनधारणं मुहुः।
परापि लीला विविधाद्भुताऽसकृत्,
प्रवर्त्तते भक्तमनोहरा प्रभोः॥३५६॥

श्लोकानुवाद—इसी प्रकार श्रीगोलोकमें कालिय-दमन और गोवर्द्धन-धारण आदि लीलाएँ बार-बार होती हैं। इसके अलावा प्रभु भक्तोंके मनको हरण करनेवाली विविध प्रकारकी अद्भुत लीलाओंको भी बार-बार करते रहते हैं॥३५६॥

दिग्दर्शिनी टीका—न च केवलं तस्य मधुपुरी-गमनागमनादिलीलैवेदृशी, अन्यापि सर्वा तादृश्येवेत्याह—तथैवेति। कालियस्य दमः दमनं पुनः पुनर्भवति परा अन्यापि पुतनामोचनाद्या विविधा प्रभोर्लीला अद्भुता अदृष्टाश्रुतरूपा सती असकृत् मुहुर्मुहुः स्वयमेव प्रवर्त्तते। ननु प्रायः पूर्वपूर्वाचरितैव लीला कथं पुनः पुनर्विस्तार्यते? न च पूतना काचिदन्या नित्यमाचर्यते, तत्राह—भक्तानां नित्यानामाधुनिकानामपि मनोहरेति तत्र यासां लीलानां स्मरणादिना भगवति भक्तिविशेषो जातोऽस्ति, ता एव प्रीत्या अत्यन्तं मनसि संलग्नाः सन्ति। तदनुभवेनैव च तेषां सुखविशेषोदयः स्यादित्येवमाधुनिकानां मनोहरा, नित्यानां सर्वविलक्षणमाधुर्याश्चर्यतादिवत्त्वादिति दिक्॥३५६॥

भावानुवाद—ऐसा नहीं कि केवल मथुरा आने-जानेकी लीला ही बार-बार होती है, बल्कि श्रीकृष्णकी अन्यान्य समस्त लीलाएँ भी उसी प्रकार बार-बार होती हैं—इसे बतलानेके लिए 'तथैव' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। भगवान् उसी प्रकार बार-बार कालिय-दमन लीला करते हैं और अन्यान्य लीलाएँ भी अर्थात् पूतना-वध आदि भगवान्‌की विविध और अद्भुत लीलाएँ, जो कभी न तो देखीं गयीं हैं और न ही सुनी गयीं हैं, बार-बार स्वयं ही प्रवर्तित होती रहती हैं। यदि आपत्ति हो कि पूर्व-पूर्वमें बालकके समान चेष्टा द्वारा की गयीं पूतना-वध आदि लीलाएँ किस प्रकार पुनः-पुनः हो सकती हैं? विशेषतः पूतना आदि असुरोंके साथ की गयी लीलायें किस प्रकार नित्य हो सकती हैं? इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि नित्य परिकर और आधुनिक भक्तोंके मनको हरण करनेवाली भगवान्‌की लीलाओंके स्मरणसे उनमें भगवान्‌की भक्ति विशेष रूपमें उदित होती है, फलस्वरूप भगवान्‌में प्रीति वर्द्धित होनेसे उनका मन अत्यन्त दृढ़ रूपसे उनमें लग जाता है। इसलिए उन लीलाओंके अनुभवसे ही उनमें विशेष प्रकारका सुख उदित होगा तथा नये भक्तोंके मनको हरण करनेवाली होनेपर भी वह लीलाएँ नित्य परिकरोंके द्वारा समस्त

प्रकारसे विलक्षण माधुर्य और आश्चर्यसे परिपूर्ण रूपमें अनुभव होती हैं—यही इस विचारका दिग्दर्शन है॥३५६॥

तत्रत्यास्ते तु तां सर्वामपूर्वां मन्यते सदा।
श्रीकृष्ण-परमप्रेमकालकूट-विमोहिताः ॥३५७॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार वे गोलोकवासी श्रीकृष्णके परम प्रेमरूपी कालकूट विषसे विमोहित होकर उन सब लीलाओंको सदा-सर्वदा अपूर्व अर्थात् नित्य-नवीन रूपमें अनुभव करते हैं॥३५७॥

दिग्दर्शिनी टीका—न च तत्र पूर्वानुभूतत्वेन प्रीतिहानिः काचिदपि स्यादित्या-शयेनाह—तत्रत्या इति। तां लीलां सर्वामपि अपूर्वां पूर्वमजातामित्येव मन्यन्ते। ननु कथमेव सम्भवेत्तत्राह—श्रीकृष्णेति। श्रीकृष्णविषयकं परमप्रेमैव कालकूटं महाविष-विशेषस्तेन विमोहिताः॥३५७॥

भावानुवाद—यहाँपर आपत्ति हो सकती है कि पहले अनुभव की हुई होनेके कारण इन सब लीलाओंके फिरसे होनेपर व्रजवासियोंमें उन लीलाओंके प्रति प्रीति कुछ कम हो सकती है? ऐसी आशङ्काके समाधानके लिए 'तत्रत्या' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। वे लीलाएँ सभीके लिए सदैव अपूर्व है, अर्थात् ऐसा लगता है कि जैसे यह लीला पहले कभी अनुभव ही नहीं हुई है। यदि कहो कि ऐसा किस प्रकार सम्भव होता है? इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि श्रीकृष्णके परम प्रेमरूपी कालकूटके महाविषसे विमोहित होनेके कारण वे लीलाएँ सदैव नव-नवायमान रूपमें अनुभव होती हैं॥३५७॥

अतस्तेषां हि नितरां स वरीवृद्ध्यते महान्।
वियोगयोगयोः प्रेमावेशावेगो निरन्तरम्॥३५८॥

श्लोकानुवाद—अतएव उन व्रजवासियोंके अनिर्वचनीय प्रेमके आवेशका वेग संयोग तथा वियोग लीला द्वारा महान रूपसे निरन्तर उत्तरोत्तर बढ़ता ही रहता है॥३५८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेषां व्रजजनानां, सः अनिर्वचनीयः पूर्वोक्तलक्षणो वा। वियोगे विरहे, योगे सङ्गमेऽपि प्रेम्ण आवेश आविर्भावविशेषस्तस्य वा आवेगः पराक्रमः महान्, गुरुतरं निरन्तरं नितरां पुनः पुनर्वर्धते॥३५८॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३५८॥

दूरेऽस्तु तावद्वार्त्तेयं तत्र नित्यनिवासिनाम्।
न तिष्ठेदनुसन्धानं नूत्नानां मादृशामपि॥३५९॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोलोकमें रहनेवाले नित्य परिकरोंकी तो बात ही क्या है, मुझ जैसे नये व्यक्तिको भी यह विस्मरण हो जाता है कि यह लीला पहले हो चुकी है या नवीन है॥३५९॥

दिग्दर्शिनी टीका—किं वक्तव्यमहो ते नित्यप्रियास्तद्विस्मरन्तीति आधुनिका भगवत्कृपया साधका अपि तत्र गता विस्मरन्तीत्याह—दूरेऽस्त्विति। तत्र श्रीगोलोके नित्यनिवासिनामियं तत्तद्विस्मरणादिरूपा वार्त्ता दूरेऽस्तु॥३५९॥

भावानुवाद—उन नित्य परिकर गोलोकवासियोंको तो निरन्तर ही विस्मरण होता है, अतः उनके विषयमें क्या कहें? किन्तु भगवान्की कृपासे वहाँ जानेपर नवीन साधकोंको भी विस्मरण हो जाता है॥३५९॥

तादृङ्महामोहनमाधुरीसरि-
द्धारासमुद्रे सततं निमज्जनात्।
तादृक्प्रियप्रेममहाधनावली-
लाभोन्मदात् के हि न विस्मरन्ति किम्॥३६०॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णकी महा-मोहनकारी माधुरीरूपी नदी-धाराके समुद्रमें जो निरन्तर डूबे हुए हैं तथा वैसे प्रियभावसे प्रेम-महाधन प्राप्त करके उन्मत्त हो रहे हैं, ऐसे लोगोंको कौनसी वस्तु विस्मरण नहीं होती है॥३६०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तच्चोचितमेवेत्याह—तादृश्योऽनिर्वचनीया महामोहन्यो माधुर्य एव सरितस्तासां धाराः प्रवाहास्तासां समुद्रे, सततं निमज्जनात् अन्तरवगाहनात् यस्तादृगनिर्वचनीयः समुद्रानुरूपो वा प्रियः प्रेमा श्रीकृष्णचरणारविन्दविषयकभाव-विशेषस्तदेव महाधनं चिन्तामणिर्निधिर्वा तस्याबल्याः श्रेण्या लाभेन य उन्मद उन्मत्तता तस्माद्धेतोः; के वा जना किं न विस्मरन्ति? अपि तु सर्वेऽपि सर्वमपि विस्मरन्तीत्यर्थः॥३६०॥

भावानुवाद—व्रजवासियोंके प्रेमावेशके आवेगवशतः विस्मरण होना उचित ही है, क्योंकि श्रीकृष्णकी उस अनिर्वचनीय महा-मोहनकारी

मधुरिमारूपी नदी-प्रवाहके समुद्रमें निरन्तर डूबे रहनेके कारण जो अनिर्वचनीय अर्थात् उसी समुद्रके अनुरूप श्रीकृष्णके चरणकमलोंसे सम्बन्धित विशेष प्रेमरूप महाधन अर्थात् चिन्तामणि स्वरूप महानिधिकी श्रेणीको प्राप्त कर उन्मत्त हो रहे हैं, ऐसे लोगोंको उस परम उत्तम वस्तु प्राप्त होनेसे कौन और क्या नहीं विस्मरण हो जाता? बल्कि वे सभी कुछ ही भूल जाते हैं॥३६०॥

अहो महैश्वर्यमसावापि प्रभु–
र्निजप्रियप्रेमसमुद्र–संप्लुतः ।
कृतञ्च कार्यञ्च न किञ्चिदीश्वरः,
सदानुसन्धातुमभिज्ञशेखरः ॥३६१॥

श्लोकानुवाद—कैसा आश्चर्य है! सर्वज्ञ-शिरोमणि श्रीकृष्ण भी अपने प्रियजनोंके प्रेमरूपी समुद्रमें निमग्न होकर अपने महान ऐश्वर्यको भूल जाते हैं। उस समय उन्हें यह ज्ञान नहीं रहता है कि मैंने क्या किया और मेरा क्या कर्त्तव्य है॥३६१॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु श्रीभगवत्प्रेमभरेण सर्वज्ञतादिस्फूर्त्तिः स्वयमेव स्यात्तत् कथं विस्मरणं सम्भवेदित्याशङ्क्य प्रेमभरस्वभाववर्णनेन तत्परिहाराय दृष्टान्तं दर्शयितुं श्रीभगवानपि स्वयं विस्मरेदित्याह—अहो इति। निजप्रियाणां तेषु वा यः प्रेमा स एव समुद्रः गाम्भीर्यादिना तस्मिन् संप्लुतः सम्यङ्निमग्नः सन् चिद्घन-विग्रहत्वादभिज्ञशेखरोऽपि किञ्चिदपि सर्वदा अनुसन्धातुं न ईश्वरः समर्थो भवति। सर्वदेत्यनेन कदाचित् किञ्चिदेव तत्प्रेमानुकूलमसौ तत्र स्मरतीति ध्वन्यते॥३६१॥

भावानुवाद—यहाँ आपत्ति हो सकती है कि श्रीभगवान्‌के प्रेमके प्रभावसे सर्वज्ञता आदिकी स्फूर्तिरूप वैभव स्वयं ही उपस्थित होते हैं, अतएव सब कुछ भूल जाना किस प्रकार सम्भव होगा? इसी आशङ्काको दूर करनेके लिए प्रचुर प्रेमके स्वभावका वर्णन करते हुए 'अहो' इत्यादि श्लोक द्वारा दृष्टान्त दे रहे हैं। कैसा आश्चर्य है! उस अत्यन्त उन्नत प्रेमका स्वभाव स्वयं श्रीभगवान्‌को भी सब कुछ भूला देता है। भगवान् श्रीकृष्ण चिद्घनविग्रह होनेके कारण सर्वज्ञ-शिरोमणि और सब प्रकारसे समर्थवान् हैं, तथापि अपने प्रिय परिकरोंके प्रेमरूपी गम्भीर समुद्रमें सम्पूर्ण रूपसे डूबे रहनेके कारण उन्हें यह ज्ञान नहीं

रहता है कि मैंने क्या किया है और मेरा क्या कर्त्तव्य है। मूल श्लोकके 'सदा' शब्दसे ऐसा ध्वनित हो रहा है कि किसी समय उन्हें उस प्रेमके अनुकूल कुछ स्मरण भी रहता है॥३६१॥

लीलैव नित्या प्रभुपादपद्मयोः,
सा सच्चिदानन्दमयी किल स्वयम्।
आकृष्यमाणेव तदीयसेवया,
तत्तत्परिवारयुता प्रवर्त्तते॥३६२॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णके चरणकमलोंसे सम्बन्धित समस्त लीलाएँ नित्य और सच्चिदानन्दमय हैं। जिस समय जिस लीलाकी आवश्यकता होती है, उसी समय वह लीला अपने परिकर-परिवार सहित आकृष्ट होकर उनकी सेवामें स्वयं ही उपस्थित हो जाती हैं॥३६२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तर्हि यथापूर्वं सा सा लीलापि कथं घटताम्? तत्राह—लीलेति। प्रभुपादपद्मयोर्लीलैव तैस्तत्तदुचितैः परिवारैर्निजपरिकरैर्युक्ता स्वयं प्रवर्त्तते, यतो नित्या; तत् कुतः सच्चिदानन्दमयी? स्वरूपे परिणामे वात्र मयट्; परिणामत्वस्यापि पूर्वोद्दिष्टेन भगवच्छक्तिविशेषेण सम्पादनान्निर्दोषतैव सर्वथेति ज्ञेयम्। अतएव *"एवं धाष्ट्यान्युशति! कुरुते मेहनादीनि वास्तौ"* (श्रीमद्भा. १०/८/३१) इत्याद्युक्तायां तत्तल्लीलायां लौकिकरीतिदृष्ट्या घृणादिदोषोऽपि निरस्त इति दिक्। किमर्थं प्रवर्त्तते? तदीयया प्रभुपादपद्म सम्बन्धिन्या तद्विषयकया सेवया। यद्वा, तदीयानां तद्भक्तानां सेवया आकृष्यमाणेव। यथा श्रीविष्णुपुराणे—*"मनुष्यदेहिनां चेष्टामित्येवमनुवर्त्ततः। लीला जगत्पतेस्तस्य छन्दतः संप्रवर्त्तते॥"* इति॥३६२॥

भावानुवाद—यहाँ आपत्ति हो सकती है कि यदि श्रीकृष्णको यह भी ज्ञान नहीं रहता कि उन्होंने क्या किया और क्या करना है, तब उनकी समस्त लीलाएँ पूर्वकी भाँति किस प्रकार संघटित होती है—इस आशङ्काके समाधानके लिए ही 'लीलैव' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। श्रीकृष्णके चरणकमलोंसे सम्बन्धित लीला ही उनके लीलाके उपयोगी परिवार तथा परिकरों सहित स्वयं ही प्रवर्तित होती है। यदि कहो कि नित्य होनेपर भी वह लीला किस प्रकार सच्चिदानन्दमयी है? इसके समाधानमें कह रहे हैं कि यहाँ स्वरूप अथवा परिणाम अर्थमें 'मयट' प्रत्ययका प्रयोग हुआ है। अतएव परिणाम अर्थात् (लौकिकवत्) लीलाके रूपमें रूपान्तरण होना भी पूर्वोद्दिष्ट श्रीभगवान्‌की विशेष

शक्तिके प्रभावसे स्वयं ही सम्पादित होनेके कारण सर्वथा निर्दोष है—ऐसा समझना होगा। अतएव माता यशोदाके प्रति गोपियोंके वचन (श्रीमद्भा. १०/८/३१)—"हे यशोदे! तुम्हारा पुत्र कभी-कभी हमारे लिपे-पूते स्वच्छ घरोंमें दही-दुग्ध न पानेपर मूत्र आदि भी कर जाता है।" श्रीमद्भागवतकी इस उक्तिसे यह जाना जाता है कि उन-उन लीलाओंमें लौकिक रीतिके दृष्ट होनेपर भी घृणा आदि दोष नहीं रहता—यही उक्त विचारका दिग्दर्शन है। यदि कहो कि ऐसी लीला किसलिए प्रवर्तित होती है? इसके उत्तरमें कह रहें हैं कि श्रीकृष्णके चरणकमलोंसे सम्बन्धित सेवाके लिए अथवा उनके भक्तोंकी सेवाके लिए आकृष्ट होकर वह लीला स्वयं ही प्रकट होती है। इसलिए श्रीविष्णुपुराणमें कहा गया है—"जगत्पति भगवान् अपनी लीलाको देहधारी मनुष्योंकी चेष्टाकी भाँति ही अपनी इच्छासे प्रकट करते हैं॥"३६२॥

इयं ते कथिता ब्रह्मन् गोलोकस्य विलक्षणा।
माहात्म्यमाधुरीधारा प्रान्तकाष्ठा हि सर्वतः॥३६३॥

श्लोकानुवाद—हे ब्राह्मण! मैंने समस्त लोकोंसे विलक्षण तथा चरम सीमाको प्राप्त उस गोलोककी महिमा-माधुरीकी धाराका वर्णन किया है॥३६३॥

दिग्दर्शिनी टीका—माहात्म्यस्य माधुरीणां धारायाः परम्परायाः प्रान्तकाष्ठा परमचरमसीमेयं ते तुभ्यं कथिता। सर्वत इति निःशेषेण। यद्वा, सर्वेभ्यो वैकुण्ठलोकादिभ्योऽपि विलक्षणेति सम्बन्धः॥३६३॥

भावानुवाद—मैंने श्रीगोलोकके माहात्म्यकी माधुरी-धाराकी चरम सीमाको तुम्हें सम्पूर्ण रूपसे वर्णन किया है। अथवा इस गोलोक-माहात्म्यकी माधुरीको वैकुण्ठलोक आदि समस्त लोकोंसे भी विलक्षण समझना॥३६३॥

श्रीमाथुर उवाच—

कृष्णे मधुपुरीं याते वसेत् कुत्र भवान् कथम्।
यश्चिरात्तत्पदं प्राप्तः प्रयत्नैस्तत्तदाशया॥३६४॥

श्लोकानुवाद—श्रीमाथुरब्राह्मणने कहा—श्रीकृष्णके मथुरा जानेपर आप कहाँ और किस प्रकार रहे? आपने तो बहुत समयके बाद अनेक प्रयत्नोंसे उस गोलोकको प्राप्त किया था॥३६४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र च श्रीगोपकुमारस्य तस्य तत्र मधुपुर्यां व्रज एव वा कुत्रापि स्थितिमघटमानामाशङ्क्य पृच्छति—कृष्ण इति। यो भगवान् तस्य तस्य व्रजभूमिविषयक-श्रीगोपालदेव-निरन्तर-सन्दर्शन-सहक्रीड़नादेराशया प्रयत्नैः प्रकृष्टयत्न-बाहुल्येन चिरात् तत्पदं श्रीगोलोकं प्राप्तः। अतो भगवतः श्रीकृष्णस्य तस्य तथा व्रजभूम्यां सदा क्रीड़ादेश्च परित्यागः कदाचिदपि न सम्भवेदेव, श्रीकृष्णस्य मधुपुरी-निवासेन च तद्द्वयमेकदा न घटेतैच। अतोऽसौ मधुपुर्यां यावदवसत्, तावत् भवान् कुत्र केन प्रकारेणावसदिति प्रश्नः॥३६४॥

भावानुवाद—उस समय श्रीगोपकुमार मथुरा या व्रज, इन दोनोंमेंसे किस स्थानपर थे, इसका निश्चय न कर पानेसे आशङ्कायुक्त होकर वह माथुरब्राह्मण 'कृष्ण' इत्यादि श्लोक द्वारा श्रीसरूपसे जिज्ञासा कर रहे हैं। आपने व्रजभूमिसे सम्बन्धित भगवान् श्रीगोपालदेवके निरन्तर दर्शन और उनके साथ लीला सुख अनुभव करनेके लिए अनेक प्रयत्नोंसे बहुत समयके बाद उस गोलोकको प्राप्त किया था। भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा व्रजभूमिमें सदा-सर्वदा लीला करनेके कारण उनके लिए कभी भी उस स्थानका परित्याग करना सम्भव नहीं है और श्रीकृष्णके मथुरामें निवास करनेपर आपके द्वारा एक साथ दोनों स्थानोंपर रहना सम्भव नहीं है। अतएव श्रीकृष्णने जब तक मथुरामें वास किया था, तब तक आपने कहाँ और किस प्रकार वास किया? यही ब्राह्मणका प्रश्न है॥३६४॥

श्रीसरूप उवाच—

आदेशेन प्रभोस्तस्य व्रजे नन्दादिभिः सह।
वसन्ति मादृशाः सर्वे तत्र स्वसदृशैस्तदा॥३६५॥

श्लोकानुवाद—श्रीसरूपने कहा—मैं अपने प्रभु श्रीकृष्णकी आज्ञासे उस व्रजमें ही अपने जैसे भाववाले श्रीनन्दराज आदिके साथ रहा॥३६५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्रोत्तरमाह—आदेशेनेति त्रिभिः। मत्सदृशाः भगवत्कृपया साधनेन तल्लोकं गता जनाः तत्र व्रज एव सदा वसन्ति। केन हेतुना? तस्य

प्रभोः श्रीकृष्णस्यादेशेनाज्ञया। तत् कुतः? स्वसदृशैर्निजतुल्यैः श्रीनन्दादिभिः सहेति, अन्यथा मधुपुर्यामसदृशजनसङ्गत्या मनोदुःखापत्तेर्भावविशेषासंवृद्धेर्वा। अतएवोक्तं श्रीहरिभक्तिसुधोदये—*"स्वकुलर्ध्यै ततो धीमान् स्वयूथ्यानेव संश्रयेत्"* इति॥३६५॥

भावानुवाद—'आदेशेन' इत्यादि तीन श्लोकोंमें श्रीसरूप ब्राह्मणके प्रश्नका उत्तर दे रहे हैं। मेरी तरह जो भगवान्‌की कृपासे साधन-भजन करके उस लोकमें पहुँचे हैं, वे सदा उसी व्रजमें ही वास करते हैं। किसलिए? भगवान् श्रीकृष्णके आदेशवशतः। वह आदेश कैसा है? अपने भावके अनुरूप श्रीनन्दराज आदि व्रजवासियोंके साथ व्रजमें ही रहो अन्यथा मथुरामें विजातीय भाववाले व्यक्तियोंके सङ्गसे तुम्हारा मन दुःखी हो सकता है, अर्थात् वहाँ तुम्हारे विशेष भावकी वृद्धि नहीं होगी। इसलिए श्रीहरिभक्तिसुधोदयमें कहा गया है—"बुद्धिमान् व्यक्ति अपने कुलकी वृद्धिके लिए सदैव अपने यूथका आश्रय करेगा॥"३६५॥

तल्लोकस्य स्वभावोऽयं कृष्णसङ्गं विनापि यत्।
भवेत्तत्रैव तिष्ठासा न चिकीर्षा च कस्यचित्॥३६६॥

श्लोकानुवाद—उस गोलोकका ऐसा स्वभाव है कि कृष्णसङ्गके बिना भी व्रजमें ही रहनेकी इच्छा होती है तथा किसी दूसरे स्थानपर जानेकी इच्छा तक नहीं होती है॥३६६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तथापि श्रीकृष्णं विना कथं तत्र वासः? कथं वा सुखं वृत्तम्? तत्राह—तदिति द्वाभ्याम्। तस्य श्रीगोलोकाख्यस्य लोकस्य; यद्यस्मात् स्वभावाद्धेतोः कृष्णस्य सङ्गं विनापि तत्र श्रीगोलोक एव तत्रत्यव्रजभूमौ वा तिष्ठासा स्थातुमिच्छा भवेत्, न च कस्यचित् कुत्रापि गमनादिकर्मणश्चिकीर्षा विधानेच्छा भवेत्॥३६६॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि तथापि श्रीकृष्णके बिना भी आपने व्रजमें किस प्रकार वास किया तथा आप वहाँ किस प्रकारसे सुखी रहे? इसके उत्तरमें श्रीसरूप 'तल्लोक' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। उस गोलोक नामक व्रजका स्वभाव ही ऐसा है कि श्रीकृष्णके सङ्गके बिना भी उस गोलोक अर्थात् व्रजभूमिमें ही रहनेकी इच्छा होती है। किसीकी भी कभी कहीं दूसरे स्थानपर जानेकी इच्छा तक नहीं होती है॥३६६॥

तत्रत्यं यच्च तद्दुःखं तत् सर्वसुखमूर्धसु।
स नरीनर्त्ति शोकश्च कृत्स्नानन्दभरोपरि॥३६७॥

श्लोकानुवाद—उस श्रीगोलोकमें जो दुःख है, वह समस्त प्रकारके सुखोंके सिरपर बार-बार नृत्य करता है तथा वहाँपर जो शोक है, वह भी समस्त प्रकारकी आनन्दराशिके सिरपर बार-बार नृत्य करता है॥३६७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु श्रीकृष्णविरहेण पूर्ववद्दुःखं पर्यवस्यदेव, तत्राह—तत्रत्यमिति। श्रीगोलोकभवं तत् श्रीकृष्णविरहादिकृतं दुःखं सर्वेषां सुखानां मूर्धसु सम्यक् नरीनर्त्ति, भृशं नृत्यति। सर्वेभ्योऽपि सुखेभ्योऽधिकसुखमयमित्यर्थः। उक्तसमुच्चये चकारः। तत्रत्यः स शोकश्च कृत्स्नानाम् आनन्दानां भरस्योपरि संनरीनर्त्ति सर्वानन्दाधिकतर इत्यर्थः। एतच्च श्रीकृष्णप्रेमविशेष-स्वाभाविकं प्राग्विवृतमस्त्येव। एवमयमपि तल्लोकस्वभाव एवेति चकारात् ज्ञेयम्॥३६७॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि श्रीकृष्णके सङ्गके बिना व्रजमें वासका सुख भी श्रीकृष्णके विरहमें दुःख बन जायेगा—इसीके समाधानमें 'तत्रत्यं' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। गोलोकमें श्रीकृष्णके विरह आदिमें जो दुःख होता है, वह दुःख भी समस्त प्रकारके सुखोंके सिरपर बार-बार नृत्य करता है। अर्थात् वह विरहमय दुःख सब प्रकारके सुखोंसे भी अधिक सुखमय है। तथा वहाँपर जो शोक है, वह शोक भी सम्पूर्ण आनन्दके सिरपर बार-बार नृत्य करता है, अर्थात् वह शोक समस्त प्रकारकी आनन्दराशिसे भी अधिक आनन्दमय है। यही श्रीकृष्णप्रेमका विशेष स्वभाव है—इस विषयको पहले ही वर्णन किया जा चुका है। उस लोकका स्वभाव भी इसी प्रकार ही समझना चाहिये, 'च' कारके द्वारा यही सूचित हो रहा है॥३६७॥

इत्थं वसंस्तत्र चिरेण वाञ्छितं,
वाञ्छाधिकं चाविरतं परं फलम्।
चित्तानुपूर्त्यानुभवन्नपि ध्रुवं,
वस्तु-स्वभावेन न तृप्तिमाप्नुयाम्॥३६८॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार मैंने गोलोकमें वास करके अपने बहुत समयके वाञ्छित फलको ही नहीं, बल्कि वाञ्छासे अधिक परम

फलको प्राप्त किया। यद्यपि उस फलको मैंने निरन्तर चित्त भरकर अनुभव किया है, तथापि उस वस्तुके स्वभावसे कभी भी तृप्ति नहीं होती है। अर्थात् उस फलको आस्वादन करनेकी इच्छा दूर नहीं हो रही है॥३६८॥

दिग्दर्शिनी टीका—इत्थमुक्तप्रकारेण तत्र श्रीगोलोके वसन् सन् परं सर्वोत्कृष्टतरं फलं चित्तस्यानुपूर्त्या परिपुरणेन अविरतमनुभवन्नपि तृप्तिं पर्याप्तिं न प्राप्नुयाम्। केन हेतुना? वस्तुनस्तस्यैव स्वभावेन प्रकृत्या॥३६८॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३६८॥

अतो व्रजस्त्रीकुचकुङ्कुमाचितं,
मनोरमं तत्पदपङ्कजद्वयम्।
कदापि केनापि निजेन्द्रियादिना,
न हातुमीशे लवलेशमप्यहम्॥३६९॥

श्लोकानुवाद—इसलिए मैं व्रजस्त्रियोंके कुचकुङ्कुमसे रञ्जित उनके मनोरम युगल श्रीचरणकमलोंको अपनी इन्द्रियों (शब्द और अङ्ग) आदिसे कभी भी लवमात्र कालके लेशके लिए भी त्याग करनेमें समर्थ नहीं हूँ॥३६९॥

दिग्दर्शिनी टीका—केनापि निजेन इन्द्रियेण आदि–शब्दादङ्गादिनापि लवमात्रकालस्य लेशमपि व्याप्य हातुं त्यक्तुं नेशे, न शक्नोमि॥३६९॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३६९॥

तस्यापि यो दीनतरे जनेऽस्मिन्,
माधुर्यनिष्ठाप्त–कृपाप्रसादः ।
अन्यैरसम्भाव्यतया न वक्तुं,
कुत्रापि युज्येत तथाप्यनूक्तः॥३७०॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णने भी मुझ जैसे अत्यन्त दीन व्यक्तिपर अपने माधुर्यकी चरम सीमाके अनुभवरूपी जिस महान कृपाको अर्पण किया है, अन्य किसी व्यक्तिके लिए उसकी धारणा करना भी असम्भव है। यद्यपि उस अनुभवको कहींपर व्यक्त करना उचित नहीं

है, तथापि श्रीराधाजीकी आज्ञासे तुम्हारे कल्याणके लिए मैंने उसे बार-बार वर्णन किया है॥३७०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य श्रीभगवतोऽपि अस्मिन् जने मय्येवेत्यर्थः। माधुर्यस्य निष्ठां परमकाष्ठां प्राप्तस्य कृपया प्रसादोदयः, स कुत्रापि कस्मिंश्चिदपि जनैरपि वक्तुं न युज्यते। यद्यप्येवं, तथाप्यनूक्तः पूर्वपूर्वमप्युक्तानुवादेन कथितः, पुनः पुनरुक्त इति वा। श्रीराधाज्ञया त्वदीयहितार्थमिति भावः॥३७०॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३७०॥

एवं तत्र चिरं तिष्ठन् मर्त्यलोकस्थितं त्विदम्।
मथुरामण्डलं श्रीमदपश्यं खलु तादृशम्॥३७१॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार मैंने वहाँ चिरकाल तक वास करके इस भौम मथुरामण्डलको भी गोलोकके सदृश देखा॥३७१॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तर्हि भौम-मथुरामण्डलेऽस्मिन् कथमागतोऽसि? तत्राह—एवमिति चतुर्भिः। तादृशं श्रीगोलोकसदृशमेवापश्यम्, श्रीगोलोक-तत्त्वानुभवेनैवं तन्मथुरामण्डलतत्त्वानुभवसिद्धेः। ज्ञानपराणां ब्रह्मस्वरूपज्ञानेनैवात्मतत्त्वज्ञानसिद्धिवत्, अन्यथा प्रथमं बहिर्दृष्ट्या ज्ञानानुदयेनैतत्साधने साधकानां श्रद्धाद्यनुत्पत्तेः। अतएव तच्च पदयोरपि ब्रह्मणीव तत्त्वप्रतिपादकयोरादौ तत्पदनिर्देश इति दिक्॥३७१॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि तो फिर आप इस भौम मथुरामण्डलमें किसलिए आये हैं? इसीके उत्तरमें श्रीसरूप 'एव' इत्यादि चार श्लोक कह रहे हैं। मैंने उक्त रूपसे श्रीगोलोकमें चिरकाल तक वास करके इस भौम मथुरामण्डलको भी गोलोकके समान ही देखा। इस प्रकार श्रीगोलोकके तत्त्वका अनुभव होनेसे मथुरामण्डलके तत्त्वका अनुभव भी सिद्ध होता है। इस सम्बन्धमें दृष्टान्त यह है कि ज्ञानमें अनुरक्त जनोंके लिए ब्रह्मस्वरूपके ज्ञानसे जिस प्रकार आत्मतत्त्वका ज्ञान सिद्ध होता है, उसी प्रकार गोलोकके तत्त्वको जाननेसे मथुरामण्डलका ज्ञान सिद्ध होता है। अन्यथा प्रथमतः बाह्य दृष्टिसे ज्ञानके उदित नहीं होनेपर इस पदको प्राप्त करनेके साधनमें साधककी श्रद्धा आदि उत्पन्न नहीं होती। इसीलिए 'तत्त्वमसि' वाक्यके प्रारम्भमें भी ब्रह्मतत्त्व प्रतिपादक 'तत्' पदका निर्देश किया गया है। उक्त विचारका यही दिग्दर्शन है॥३७१॥

तत्तच्छ्रीगोपगोपीभिस्ताभिर्गोभिश्च तादृशैः।
पशुपक्षिकृमिक्ष्माभृत्-सरित्तर्वादिभिर्वृतम् ॥३७२॥

श्लोकानुवाद—उस गोलोकके समान यह मथुरामण्डल भी गोप, गोपी, गौएँ, पशु, पक्षी, कृमि, पर्वत, नदी, वृक्ष, लता, गुल्म आदि द्वारा परिव्याप्त है॥३७२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तादृशत्वमेव दर्शयन् तद्विशिनष्टि—तत्तदिति द्वाभ्याम्। तैस्तैः श्रीगोलोकवर्त्तिभिरेवेत्यत्यन्ताभेदाभिप्रायेण। वस्तुतस्तु तत्तत्पृथक्-मूर्त्ति-विशेषैरित्यर्थः। तत्रात्रापि सदैवैकरूपेण श्रीभगवत्क्रीड़ोक्तेः। एवं ताभिरिति च श्रीयुक्तैर्गोपैर्गोपीभिश्च वृतम्; तादृशैः श्रीगोलोकवर्त्तिसदृशैरेव पश्वादिभिश्च वृतम्। आदि-शब्देन लतागुल्मतृणादि॥३७२॥

भावानुवाद—अब पूर्वोक्त श्रीगोलोक और श्रीमथुरामण्डलकी समानताको प्रदर्शित करनेके लिए, अर्थात् उनके एकतत्त्वको विस्तृत रूपसे 'तत्तत्' इत्यादि दो श्लोकोंमें वर्णन कर रहे हैं। उस श्रीगोलोकके परिकरोंका इस श्रीमथुरामण्डलके परिकरोंसे अत्यन्त अभेदके अभिप्रायसे कह रहे हैं कि वह गोलोक जिस प्रकार सदैव शोभासे पूर्ण गोप-गोपी, गौओं आदिसे परिव्याप्त है, उसी प्रकार यह श्रीमथुरामण्डल भी शोभायुक्त गोप-गोपी, गौओं आदिसे परिव्याप्त है। वास्तवमें दोनों स्थानोंपर परिकरों आदिकी पृथक् मूर्त्ति होनेपर भी उस गोलोक तथा इस व्रजमें सदैव एक ही तरहकी भगवत्-लीला होती है। 'आदि' शब्दसे पशु, पक्षी, कृमि, कीट, पर्वत, नदी, वृक्ष, लता, गुल्म, तृण आदिको भी समझना चाहिये॥३७२॥

तथैवाविरतं श्रीमत्कृष्णचन्द्रेण तेन हि।
विस्तार्यमाणया तादृक्क्रीड़ाश्रेण्यापि मण्डितम्॥३७३॥

श्लोकानुवाद—यह मथुरामण्डल भी उस गोलोककी भाँति ही निरन्तर श्रीकृष्णचन्द्रकी विविध प्रकारकी विस्तृत लीलाओंसे सुशोभित है॥३७३॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, तथैव श्रीगोलोकोक्तप्रकारेणैव। तेन श्रीगोलोक-विहारिणैव तादृशीनां श्रीगोलोकविषयकक्रीड़ासदृशीनामेव क्रीड़ानां श्रेण्याप्यलङ्कृतम्॥३७३॥

भावानुवाद—श्रीकृष्ण जिस प्रकार श्रीगोलोकमें विहार करते हैं, उसी प्रकारकी क्रीड़ाओंकी धारा द्वारा ही उन्होंने इस श्रीमथुरामण्डलको भी अलंकृत किया हुआ है॥३७३॥

तत् कदाचिदितस्तत्र कदापि विदधे स्थितिम्।
भेदं नोपलभे कञ्चित् पदयोरधुनैतयोः॥३७४॥

श्लोकानुवाद—इसलिए मैं कभी इस भौम व्रजमें और कभी उस गोलोक व्रजमें रहता हूँ। परन्तु मैं आज तक इन दोनों स्थानोंमें तिलमात्रका भी भेद अनुभव नहीं कर पाया हूँ॥३७४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत् तस्मात्, इतः अस्मिन् भौममाथुरव्रजप्रदेशे, कदाचित्तत्र श्रीगोलोके च कदापि स्थितिं विदधे, वसामि इत्यर्थ। तत्र हेतुमाह—भेदमिति। एतयोः भौममथुरामण्डल-श्रीगोलोकरूपयोः पदयोः स्थानयोर्भेदं नोपलभे नावलोकयामि। अत्र वर्त्तमानोऽपि जाने, इह तत्रैव निवसन्नस्मि, तत्र निवसन्नपि जाने; अत्रैव वर्त्तमानोऽस्मीत्यर्थः। ननु तर्हि पूर्वमेतत् परित्यज्य कथं तत्प्राप्तये बहुलयत्नोऽकारि? तत्राह—अधुनैवेति। पूर्वन्तु एतत्तत्त्वानुभवेन परमभेदज्ञानमेवासीदित्यर्थः। अत्र युक्तिश्चोक्तैव॥३७४॥

भावानुवाद—मैं कभी इस भौम मथुरामण्डलमें और कभी उस श्रीगोलोक व्रजमें रहता हूँ—इसका कारण बतलानेके लिए 'भेद' इत्यादि पद कह रहे हैं। मैंने अभी तक इस भौम मथुरामण्डल और उस गोलोकमें किसी भी प्रकारका भेद नहीं देखा या अनुभव किया है। यहाँ रहनेपर भी लगता है कि जैसे मैं गोलोकमें ही रह रहा हूँ और गोलोकमें रहनेपर भी लगता है कि मैं इस मथुरामण्डलमें रह रहा हूँ। यदि आपत्ति हो कि तो फिर पहले आपने इस मथुरामण्डलको छोड़कर उस गोलोक प्राप्तिके लिए इतना अधिक प्रयास किसलिए किया? इसीके लिए 'अधुनैव' इत्यादि पद कह रहे हैं। मैं अब इस व्रजभूमिके तत्त्वको जान गया हूँ, पहले इस तत्त्वका अनुभव नहीं कर पानेके कारण इन दोनोंमें बहुत अधिक भेद समझता था। इस विषयमें युक्ति पहले दिखायी जा चुकी है॥३७४॥

गमनागमनैर्भेदो यः प्रसज्जेत केवलम्।
तञ्चाहं तत्तदासक्त्या न जानीयामिव स्फुटम्॥३७५॥

श्लोकानुवाद—केवल आने-जानेके समय थोड़ा बहुत भेद तो प्रतीत होता है, किन्तु दोनों लोकोंके प्रति समान आसक्तिके कारण मैं उसे स्पष्ट रूपसे अनुभव नहीं कर पाता हूँ॥३७५॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तथाप्यूर्ध्वाधोभावेनानयोर्भेदो घटत एव, तेन च इतः परमोर्ध्वप्रान्तसीमाप्राप्त-तल्लोकगमनेऽन्तरा लोकद्वयस्याप्यस्य विच्छेदेन दुःखमधुनापि सम्भवेदेव, तत्राह—गमनेति पञ्चभिः। बहुत्वं पौनःपुन्यापेक्षया, न भेदश्च। तस्मिन् तस्मिन् गमनागमनादौ श्रीगोलोकैस्तन्मथुरागोकुलादौ वा आसक्त्या चित्तावेशेन, इवेत्यनेन क्वचित् कदाचित् किञ्चिदेव जानीयामिति सूच्यते॥३७५॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि तथापि ऊपर और नीचे स्थित होनेकी भावनासे दोनोंमें कुछ भेद हो सकता है तथा उस गोलोकके समस्त लोकोंके ऊपर चरम सीमापर स्थित होनेके कारण जब आप इस भौमव्रजसे उस गोलोकमें या फिर वहाँसे यहाँ आते हैं, उस समय दोनों लोकोंके विच्छेदमें दुःखकी सम्भावना हो सकती है? इसके समाधानके लिए 'गमनागमनै' इत्यादि पाँच श्लोक कह रहे हैं। पुनः-पुनः आने-जानेकी अपेक्षासे कोई भेद न भी हो, तथापि ऊपर और नीचे आने-जानेसे हृदयमें थोड़ा दुःख तो होता ही है। किन्तु श्रीगोलोक और श्रीमथुरा-गोकुल, इन दोनों लोकोंके प्रति आसक्ति और चित्त आविष्ट होनेके कारण मैं स्पष्ट रूपसे इसका अनुभव नहीं कर पाता हूँ। 'इव' कार द्वारा यह सूचित हो रहा है कि कभी-कभी थोड़ा दुःख होता है॥३७५॥

अस्मात् स्थानद्वयादन्यत् पदं किञ्चित् कथञ्चन।
नैव स्पृशति मे दृष्टिः श्रवणं वा मनोऽपि वा॥३७६॥

श्लोकानुवाद—इन दोनों स्थानोंके अलावा किसी अन्य स्थानको नेत्रोंसे देखनेकी बात तो दूर रहे, कानोंसे उसका नाम श्रवण करनेकी या मन द्वारा उसको स्पर्श करनेकी भी इच्छा नहीं होती है॥३७६॥

दिग्दर्शिनी टीका—आसक्तिमेव दर्शयन् भेदे सत्यपि तदज्ञानहेतुमाह—अस्मादिति। तच्छ्रीगोलोके तन्मथुरामण्डलरूपात्, पदं स्थानं कर्त्तृ॥३७६॥

भावानुवाद—दोनों लोकोंके प्रति अपनी आसक्तिको दिखलाकर इन दोनों लोकोंका अन्य लोकोंसे भेद होनेपर भी उन (अन्य)

लोकोंके विषयमें अपने अज्ञानका कारण बतलानेके लिए 'असमात्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। श्रीगोलोक और इस मथुरामण्डल—इन दोनों स्थानोंके अलावा किसी अन्य स्थानको मेरी दृष्टि, श्रवण (कर्ण) और मन स्पर्श भी नहीं करते हैं॥३७६॥

अन्यत्र वर्त्तते क्वापि श्रीकृष्णो भगवान् स्वयम्।
तादृशास्तस्य भक्ता वा सन्तीति मनुते न हृत्॥३७७॥

श्लोकानुवाद—किसी अन्य स्थानपर भी स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीनन्दराजजी आदि जैसे उनके समस्त भक्त वर्त्तमान हैं, मेरा हृदय कभी भी इसको स्वीकार ही नहीं करता है॥३७७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्रैव हेतुमाह—अन्यत्रेति। एतत्स्थानद्वयादन्यस्मिन् स्थाने। तादृशा एतत्स्थानद्वयवर्त्ति-श्रीनन्दादिसदृशास्तस्य श्रीकृष्णस्य भक्ताः। द्वारकादिवर्त्ति-व्यावृत्त्यर्थं स्वयं भगवानिति तादृशा इति च निर्देशः। इत्येतन्मम हृन्मम मन एव न मन्यते॥३७७॥

भावानुवाद—श्रीगोलोक और श्रीमथुरामण्डलके अलावा अन्य किसी स्थानको मेरी दृष्टि, कर्ण और मन स्पर्श भी नहीं करते हैं—इसका कारण बतलानेके लिए श्रीसरूप 'अन्यत्र' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। इन दोनों स्थानोंके अलावा अन्य किसी स्थानपर भी स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण तथा श्रीनन्द आदि जैसे उनके भक्त हैं, मेरा हृदय इस बातको कभी मानता ही नहीं है। 'स्वयं भगवान्' और 'तादृशा'—इसके द्वारा द्वारका आदिमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण तथा श्रीनन्दराज आदि परिकरोंका न होना समझना चाहिये॥३७७॥

कदाचिद्दर्शनं वा स्याद्वैकुण्ठादिनिवासिनाम्।
श्रीकृष्णविरहेणार्त्तानिव पश्यामि तानपि॥३७८॥

श्लोकानुवाद—जब कभी मुझे वैकुण्ठवासियोंका दर्शन होता है, तब उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि वे भी श्रीकृष्णके विरहमें दुःखी हैं॥३७८॥

दिग्दर्शिनी टीका—ये वा केचिदन्यादृशा दृश्येरन्, तेऽपि श्रीगोलोकनिवास-स्वभावेन मया तत्रत्यसदृशा एव दृश्यन्त इत्याह—कदाचिदिति। आदि-शब्देन

श्रीवैकुण्ठलोकवर्त्त्ययोध्यादि। तान् वैकुण्ठादिवासिनोऽपि श्रीकृष्णस्य तस्य विरहेण आर्त्तानिव पश्यामि, आत्मसादृश्येनान्येषामपि सर्वेषां भावमननन्यायात्। एवञ्च तच्छ्रीगोलोकैतन्माथुरव्रजवर्त्तिलोकसादृश्यदृष्ट्या तत्राप्यभेदप्रसक्तेर्निजभावहान्यभावेन यथापूर्वमेव सुखं स्यादिति भावः॥३७८॥

भावानुवाद—जब कभी मुझे वैकुण्ठवासियों या अयोध्यावासियोंका दर्शन होता है, तब मैं उन्हें गोलोकवासियोंके स्वभावके अनुरूप अर्थात् व्रजवासियों जैसा ही देखता हूँ—इसे बतलानेके लिए 'कदाचित्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। उन वैकुण्ठ आदिके वासियोंको देखकर लगता है कि वे भी श्रीकृष्णके विरहमें दुःखीसे हैं। "आत्मसादृश्येनान्योमपि सर्वेषां भावमनन"—इस न्यायके अनुसार दूसरोंको देखकर उनमें अपने जैसे भावकी ही प्रतीति होती है। तथा श्रीगोलोकमें भी इस माथुर व्रजलोकके समान दर्शन करनेके कारण वहाँ भेदकी प्रतीति नहीं होती, इसलिए अपने भावकी हानि (प्रेममें कमी) नहीं होती है, अर्थात् पहले जैसा ही सुख अनुभव होता है॥३७८॥

कदापि तेषु व्रजवासिलोक–
सादृश्यभावानवलोकनान्मे ।
जातानुतापेन भवेत्ततोऽपि,
प्रेमप्रकाशात् परमं सुखं तत्॥३७९॥

श्लोकानुवाद—तथा जब कभी मुझे वैकुण्ठवासी भक्तोंमें व्रजवासियों जैसा भाव नहीं दिखायी देता, तब मेरे हृदयमें बड़ा अनुताप होता है। उस अनुताप द्वारा भी मुझमें परमप्रेम प्रकाशित होनेपर परमसुखका ही सञ्चार होता है॥३७९॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु स्वस्वनाथेन श्रीभगवता सह सदा विलसनानन्दभरवतां तेषां कथं तथा दर्शनं सर्वदा सम्भवेदित्याशङ्क्याह—कदापीति। यदा परमानन्द–क्रीड़ाभरेणार्त्तानिव न पश्यामि, किन्तु परमानन्दपूर्णानिति पश्यामि, तदेत्यर्थः। तेषु वैकुण्ठादिवासिषु व्रजवासिषु; व्रजवासिनां तद्गोलोकैतन्मथुराव्रजे निवसतां लोकानां जनानां सादृश्यस्य तेषां भावसदृशस्य भावस्य प्रेमविशेषस्यानवलोकनान्मे मम यो जातोऽनुतापस्तेन यः प्रेम्णः प्रकाशोऽभिव्यक्तिस्तस्माद्धेतोस्ततस्तस्मिन् श्रीवैकुण्ठलोकादावपि तच्छ्रीगोलोकैतन्मथुरा व्रजानुभूतमेव परमं सुखं भवेन्ममैव॥३७९॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि वैकुण्ठ और अयोध्या आदि धामके पार्षद अपने-अपने धामके नाथ श्रीभगवान्‌के साथ निरन्तर विलास करते हुए आनन्दमें निमग्न रहते हैं, अतएव उनका सर्वदा उस प्रकार विरह-शोकसे व्याकुल रूपमें दर्शन किस प्रकार सम्भव है? इसी आशङ्कासे 'कदापि' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। जब कभी मैं उन वैकुण्ठवासियोंमें व्रजवासियोंके समान विशेष प्रेमको नहीं देखता अर्थात् परमानन्दमयी क्रीड़ामें निमग्न रहते हुए भी दुःखितकी भाँति अतृप्त न देखकर परमानन्दसे पूर्ण देखता, तब मेरे हृदयमें बहुत अनुताप होता और उसी अनुतापसे ही मुझमें परमप्रेम प्रकाशित होता। इसके कारण उन वैकुण्ठ आदि लोकोंमें अनुभव किये जानेवाले परमानन्दसे पूर्ण सुखसे भी उस श्रीगोलोक या इस श्रीमथुरा व्रजमें अधिक परमसुखका सञ्चार होता है—जानना होगा॥३७९॥

अहो गोलोकीयैर्निखिलभुवनावासिमहितैः,
सदा तैस्तैर्लोकैः समनुभवनीयस्य महतः।
पदार्थस्याख्यातुं कति विवरणानि प्रभुरहं,
तदास्तां तल्लोकाखिलपरिकरेभ्यो मम नमः॥३८०॥

इति श्रीबृहद्भागवतामृते गोलोकमाहात्म्येऽभीष्टलाभो नाम षष्ठोऽध्यायः।

श्लोकानुवाद—अहो! समस्त लोकवासियोंके पूजनीय श्रीगोलोकवासी श्रीनन्दराज आदि महानुभवगणों द्वारा अनुभव किये जानेवाले गोलोक-माहात्म्यका मैंने श्रीभगवान्‌की कृपासे किञ्चित् वर्णन किया है। अतएव मैं उस गोलोक धाम तथा वहाँके समस्त परिकरोंको पुनः-पुनः प्रणाम करता हूँ॥३८०॥

श्रीबृहद्भागवतामृतके द्वितीयखण्डके षष्ठ अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

दिग्दर्शिनी टीका—एवमुक्तं श्रीगोलोकमाहात्म्यमुपसंहरन् भक्त्या तत्रत्यान् सर्वानेव प्रणमति—अहो इति विस्मये। तैस्तैरनिर्वचनीयमाहात्म्यैरुक्तलक्षणैर्वा गोलोकीयैः श्रीगोलोकवासिभिर्लोकैः श्रीनन्दादिभिरेव सम्यगनुभवनीयस्य महतः पदार्थस्य वस्तुनः श्रीगोलोकरूपस्य कति विवरणानि वृत्तान्तानि आख्यातुमहं प्रभुः शक्तो भवामि,

अपि तु अन्यानि बहुलानि तानि कथयितुं न शक्नोमीत्यर्थः। कीदृशैः? अखिलेषु भुवनेषु भूलोकमारभ्य वैकुण्ठलोकपर्यन्तेषु लोकेषु आवासिभिर्निवासिभिर्जनैर्महितैः पूजितैः इति तेषां तदनुभवयोग्यताकारणमुक्तम्। तत्तस्मात्, तस्य श्रीगोलोकाख्यस्य लोकस्य अखिलेभ्योऽपि परिकरेभ्यो मम नम आस्ताम्। यद्वा, महतः पदार्थस्येति श्रीनन्दनन्दन-चरणारविन्द- विषयक-प्रेमविशेषस्य इत्यर्थः। ततश्च तस्य विवरणानि तद्विलास-वैभवरूपाणि श्रीगोलोक-भौममाथुर-श्रीगोकुलविषयक-तदीयसन्दर्शन-सह-क्रीड़ाचरणादीनि। तल्लोकेति च तस्य प्रेमविशेषस्य सम्बन्धिनो ये जनास्तेषामखिल-परिकरेभ्यश्चरणरजः-प्रभृतिभ्योऽपि मम नम इति। अन्यत् समानम्। एवञ्चाशेष-साध्यश्रेष्ठत्वादिना तत्प्रेमाणमेवानमदिति ज्ञेयमिति दिक्॥३८०॥

इति श्रीभागवतामृतटीकायां दिग्दर्शिन्यां द्वितीयखण्डे षष्ठोऽध्यायः।

भावानुवाद—इस प्रकारसे उक्त श्रीगोलोक-माहात्म्यका उपसंहार करके श्रीसरूप भक्तिपूर्वक वहाँके समस्त परिकरोंको प्रणाम करनेके लिए 'अहो' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। अहो! (विस्मयसे) उन अनिर्वचनीय माहात्म्य अथवा उक्त लक्षणोंसे युक्त समस्त लोकवासियोंके पूजनीय श्रीगोलोकवासी श्रीनन्दराज आदि समस्त पार्षदों द्वारा सदैव सम्पूर्ण रूपसे अनुभव किए जा रहे महत् अर्थात् सर्वश्रेष्ठ वस्तुरूप श्रीगोलोक-माहात्म्यका मैंने कुछ विवरणमात्र प्रकाश किया है। ऐसा केवल श्रीभगवान्‌की कृपाशक्तिके प्रभावसे ही सम्भव हुआ है, किन्तु इसके अलावा बहुत-से अन्य वृत्तान्तोंका वर्णन करनेमें मैं असमर्थ हूँ। यदि कहो कि उस गोलोकके माहात्म्यको अनुभव करनेकी योग्यता कैसी है? इसके लिए कह रहे हैं कि वह महिमा सम्पूर्ण भुवन अर्थात् भू-लोकसे आरम्भ करके वैकुण्ठलोक तक समस्त लोकोंके भी पूजनीय गोलोकवासियोंके ही अनुभव करनेके योग्य हैं। इसके द्वारा गोलोकवासियोंकी ही उस गोलोक-माहात्म्यको अनुभव करनेकी योग्यताका कारण प्रदर्शित हुआ।

अतएव श्रीगोलोकके समस्त परिकरोंको मैं पुनः-पुनः प्रणाम करता हूँ। अथवा यहाँ 'महत् पदार्थ' कहनेसे श्रीनन्दनन्दनके चरणकमलोंके प्रति प्रेमको समझना चाहिये। उस प्रेमका विशेष विवरण अर्थात् उस प्रेमविलासके वैभवरूपमें श्रीगोलोक और भौम मथुरामण्डल स्थित श्रीगोकुलसे सम्बन्धित उनके रूपके दर्शनके साथ उनकी क्रीड़ा-आचरण

आदिको भी मैं प्रणाम करता हूँ। अथवा प्रेममय मूर्त्ति उस लोकके वासियों अर्थात् उन समस्त परिकरोंकी चरणरज इत्यादि को भी मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ। इसके द्वारा समस्त प्रकारके साध्योंके शिरोमणि उस प्रेमको ही प्रणाम किया गया है—ऐसा जानना होगा॥३८०॥

श्रीबृहद्भागवतामृतके द्वितीयखण्डके षष्ठ अध्यायकी
दिग्दर्शिनी टीकाका भावानुवाद समाप्त।

सप्तमोऽध्यायः (जगदानन्दः)

श्रीसरूप उवाच—

एवं यत् परमं साध्यं परमं साधनञ्च यत्।
तद्विचार्याधुना ब्रह्मन् स्वयं निश्चीयतां त्वया॥१॥

श्लोकानुवाद—श्रीसरूपने कहा—हे ब्राह्मण! इस प्रकार आपने परमश्रेष्ठ साध्य और साधनके विषयमें श्रवण किया। अब आप विचार करके स्वयं ही निश्चय करें॥१॥

दिग्दर्शिनी टीका

सप्तमे श्रीसरूपस्य कृपया प्रेमवेगतः।
तद्वत् कृष्णप्रसादोऽभूद्विप्रे तस्मिन्नितीर्यते॥

एवं श्रीगोलोक-माहात्म्यं सपरिकरं प्रतिपाद्य *"श्रुत्वा बहुविधं साध्यं साधनञ्च ततस्ततः। प्राप्यं कृत्यञ्च निर्णेतुं न किञ्चिच्छक्यते मया॥"* इति माथुरविप्र-पूर्वकृतप्रश्नस्योत्तरमापादयन्नाह—एवमिति मदुक्तप्रकारेण। हे ब्रह्मन्! तत् परमसाध्यं परमसाधनञ्च अधुना सपरिकरश्रीगोलोक-माहात्म्यश्रावणानन्तरं स्वयमेव त्वया विचार्य विविच्य निश्चीयतामवधार्यताम्; शिष्यज्ञानविशेष-परीक्षार्थमेवमुक्तमिति ज्ञेयम्॥१॥

भावानुवाद—इस सप्तम अध्यायमें श्रीसरूपकी कृपासे माथुर-ब्राह्मणको प्रेमकी प्राप्ति तथा उस प्रेमके आवेशसे ब्राह्मणको श्रीसरूपके समान ही श्रीकृष्णकी कृपा प्राप्ति आदिका वर्णन किया गया है।

इस प्रकार श्रीनन्दनन्दनके परिकरों सहित श्रीगोलोकके माहात्म्यको स्थापित करके श्रीसरूपने कहा—हे ब्राह्मण! आपने मुझसे पहले [श्रीबृहद्भागवतामृतम् (२/१/९८)] प्रश्न किया था—"मैं गङ्गाके तटपर और काशी आदि स्थानोंपर बहुत प्रकारके साध्य और साधनोंके विषयमें श्रवण करके भी अभी तक यह निश्चय नहीं कर पाया हूँ कि मेरा साध्य क्या है और उसका साधन क्या है?" आपके इस

प्रश्नके उत्तरमें मैंने अपना वृत्तान्त सुनाया है। अब आप मेरे द्वारा उक्त सपरिकर श्रीगोलोकके माहात्म्यको श्रवण करनेके उपरान्त स्वयं ही परम साध्य और परम साधनका विचार करके निर्णय कीजिये। वास्तवमें श्रीसरूपकी ब्राह्मणके प्रति यह उक्ति उसी प्रकार समझनी चाहिये, जिस प्रकार श्रीगुरुदेव शिष्यके ज्ञानकी परीक्षाके लिए कहा करते हैं॥१॥

माथुरब्राह्मणश्रेष्ठ मद्वत् प्राप्यं त्वयापि तत्।
सर्वं देव्याः प्रसादेन प्राप्तमेवेति मन्यताम्॥२॥

श्लोकानुवाद—हे मथुराके ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ! देवीकी कृपासे आप भी मेरी भाँति अभीष्ट फलको सम्पूर्ण रूपमें प्राप्त करेंगे—ऐसा निश्चित रूपमें समझना॥२॥

दिग्दर्शिनी टीका—कृपया तदेव किञ्चिदभिव्यञ्जयन् सर्वञ्च तत्प्रायस्तेऽपि सिद्धमेवेत्याह—माथुरेति। मद्वदिति यथा मया प्राप्तं तथैवेत्यर्थः। तत्र हेतुः—हे माथुरब्राह्मणेषु श्रेष्ठेति। तदुक्तमाहात्म्यं प्राप्यं साध्यम्॥२॥

भावानुवाद—श्रीसरूप अब कृपापूर्वक उस माथुर ब्राह्मणके अभीष्ट साध्यको किञ्चित् प्रकाशित करते हुए उस साध्यकी प्रायः सम्पूर्ण सिद्धि होनेके अभिप्रायसे 'माथुर' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। मथुराके ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ होनेके कारण आप भी मेरी तरह उक्त माहात्म्ययुक्त महान साध्य वस्तुको प्राप्त करेंगे॥२॥

वर्त्तते चावशिष्टं यत् भूतप्रायञ्च विद्धि तत्।
वीक्षे कृपाभरं तस्य व्यक्तं भगवतस्त्वयि॥३॥

श्लोकानुवाद—तथा जो कुछ भी बाकी है, उसको भी प्राप्त हुआ ही समझना, क्योंकि मैं आपपर भगवान्‌की पूर्ण कृपाको देख रहा हूँ॥३॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तस्य लक्षणं किञ्चिदपि मयि नास्ति, तत्राह—वर्त्तत इति। यच्च श्रीमदनगोपालदेव-सन्दर्शनादिकं, तत्र लिङ्गमाह—वीक्ष इति। तस्य श्रीगोलोकनाथस्य॥३॥

भावानुवाद—यदि ब्राह्मण कहें कि उस महान साध्य वस्तुको प्राप्त करनेका किञ्चित्‌मात्र भी लक्षण मुझमें नहीं है। इसके लिए ही श्रीसरूप 'वर्त्तते' इत्यादि श्लोक द्वारा कह रहे हैं कि मैं उसका लक्षण देख रहा हूँ—आपपर श्रीगोलोकनाथकी सम्पूर्ण कृपा है। अतएव श्रीमदनगोपालदेवका साक्षात् दर्शन आदि जो कुछ भी बाकी है, वह भी आपको शीघ्र ही प्राप्त होगा॥३॥

पश्य यच्चात्मनस्तस्य तदीयानामपि ध्रुवम्।
वृत्तं परमगोप्यं तत् सर्वं ते कथितं मया॥४॥

श्लोकानुवाद—देखिये! यद्यपि मेरा तथा श्रीकृष्ण और उनके परिकरोंका वृत्तान्त निश्चय ही अत्यन्त गोपनीय है, तथापि वह सब भी मैंने आपसे कह दिया है॥४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव विवृणोति—पश्येत्यष्टभिः। पश्येत्यस्य वाक्यार्थ एव कर्म। यत्तु वृत्तं वृत्तान्तं, आत्मनो मम, तस्य च भगवतस्तदीयानां भक्तानामपि, ध्रुवं निश्चयेन परमगोप्यम्॥४॥

भावानुवाद—श्रीसरूप अपने द्वारा देखे जानेवाले माथुर-ब्राह्मणके प्रति श्रीभगवान्‌की सम्पूर्ण कृपाके लक्षणोंका वर्णन 'पश्य' इत्यादि आठ श्लोकोंमें कर रहे हैं॥४॥

निजभावविशेषश्च भगवच्चरणाश्रयः।
न प्रकाशयितुं योग्यो ह्रिया स्वमनसेऽपि यः॥५॥

जाते दशाविशेषे च वृत्तं स्व-परविस्मृतेः।
विशेषज्ञानराहित्यान्नानुभूतं यदात्मना॥६॥

तत्तत् सर्वमिदं तेन कृष्णेनाविश्य मे हृदि।
निःसारितमिवायातं बलाद्वक्त्रे त्वदग्रतः॥७॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णके चरणकमलोंके प्रति अपने जिस विशेष भावको लज्जावशतः अपने मनमें भी प्रकाशित करना उचित नहीं है, उस भावको तथा प्रेमकी विशेष अवस्थामें जब मैं मूर्च्छित हो गया था, उस समय अपने आपकी और अन्य सब कुछकी विस्मृतिरूप

विशेष ज्ञानके अभावके कारण मैं जो कुछ अनुभव नहीं कर पाया था—उन सभी वृत्तान्तोंको भी श्रीकृष्णने मेरे हृदयमें प्रवेशकर बलपूर्वक मेरे मुखसे आपके समक्ष प्रकाशित करवा दिया है॥५-७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु परमगोप्यमपि कृपया शिष्ये प्रकाश्यत एव, तत्राह—निजेति त्रिभिः। यो निजभावविशेषो ह्रिया लज्जया स्वकीयमनसेऽपि प्रकाशयितुं न योग्यो भवति, यच्च वृत्तमात्मना मयापि तदानीं नानुभूतम्; तत्तत् सर्वमिदमपरोक्षमेव तवागन्तुकनवीनभक्तस्याप्यग्रतो बलादनिच्छयापि मम वक्त्रे आयातमाविर्भूतमिति त्रयाणामन्वयः। तत्र हेतुमुत्प्रेक्षते; तेन परमाश्चर्यलीलेनातर्क्यमहिम्ना कृष्णेन, मम हृदि आविश्य निःसारितमिव हृदो वक्त्राद्वा बहिष्कृतमिव; बलादित्यस्यात्रैव वान्वयः। आत्मनाप्यननुभूतत्वे हेतुः—दशाविशेषे मोहोन्मादादौ जाते सति, स्वस्य मम परेषाञ्च विस्मृतेर्हेतोर्यद्विशेषज्ञानस्य *"अयं घटः पटो वा"* इत्यादिसम्वेदनस्य राहित्यं लयस्तस्मात्॥५-७॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि श्रीगुरुदेव तो परम गोप्य विषयको भी शिष्यके निकट कृपापूर्वक प्रकाशित करते हैं? इसीकी अपेक्षामें श्रीसरूप 'निज' इत्यादि तीन श्लोक कह रहे हैं। श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंके प्रति अपना विशेष भाव जो लज्जावशतः अपने मनमें भी प्रकाशित करनेके योग्य नहीं हैं तथा अपनी प्रेम-मूर्च्छाकी अवस्थामें मैं स्वयं भी जिन वृत्तान्तोंका अनुभव नहीं कर पाया, वे सभी वृत्तान्त अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) रूपमें ही आप जैसे आगन्तुक अर्थात् नवीन भक्तके सामने इच्छा न रहनेपर भी बलपूर्वक मेरे मुखसे प्रकट हुए हैं। इसका कारण बतलाते हुए कह रहे हैं—श्रीकृष्णने मेरे हृदयमें प्रवेश करके उन समस्त परम आश्चर्यजनक लीलाओंकी तर्कसे अतीत महिमाको बलपूर्वक मेरे हृदयसे निकालकर मुखके माध्यमसे आपके समक्ष प्रकाशित करवा दिया। "मैंने स्वयं भी जिसका अनुभव नहीं किया"—इस वाक्यका तात्पर्य है कि श्रीभगवान्‌के दर्शन आदिसे प्रेमकी विशेष अवस्था अर्थात् मूर्च्छा-उन्माद आदिके उत्पन्न होनेके कारण मैं स्वयं अपनी और अन्य सब कुछकी विस्मृतिवशतः अर्थात् "यह घट है या पट" इत्यादि विशेष ज्ञानके लय हो जानेके कारण जो कुछ अनुभव नहीं कर पाया, उस सबका भी मैंने आपके समक्ष वर्णन किया है—यही आपपर श्रीभगवान्‌की कृपाका लक्षण है॥५-७॥

भवतश्चात्र विश्वासो नितरां समपद्यत।
लक्षणैर्लक्षितश्चायं मया शीघ्रफलप्रदः॥८॥

श्लोकानुवाद—मैं लक्षण देखकर जान गया हूँ कि मेरे वचनोंपर आपने दृढ़ विश्वास किया है, अतएव आपको शीघ्र ही फलकी प्राप्ति होगी॥८॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, अत्र मत्कथिते विश्वासः प्रतीतिः। ननु मानसिकोऽसौ त्वया कथं ज्ञातः? तत्राह—अयं विश्वासश्च लक्षणैर्मुखप्रसक्त्यादिभिर्मया लक्षितः। तत्र शीघ्रमेव प्रकर्षेण फलं ददातीति तथाभूतः, विश्वासोत्पत्त्यैव सत्कर्मणां शीघ्रफलसिद्धेः। यद्वा, अयं विश्वासः श्रवण-श्रद्धा; शीघ्रफलप्रद इति लक्षणैरनुकूल-पक्षिरुतादिभिर्ज्ञातः॥८॥

भावानुवाद—तदुपरान्त श्रीसरूप कह रहे हैं कि कृपाका लक्षण यह भी है कि मेरे द्वारा कथित इन वृत्तान्तोंमें आपका सुदृढ़ विश्वास हो गया है। यदि कहो कि मेरे मनकी अवस्थाको आपने कैसे जान लिया? इसके लिए ही कह रहे हैं कि आपके मुखकी प्रसन्नता इत्यादि लक्षण द्वारा मैं समझ गया हूँ कि आपने मेरे वचनोंपर विश्वास किया है। यह विश्वास शीघ्र ही विशेष तथा प्रचुर फल प्रदान करनेवाला है तथा ऐसे विश्वासकी उत्पत्तिके कारण ही सत्कर्मोंका फल भी शीघ्र प्राप्त होता है। अथवा यह विश्वास अर्थात् श्रवणमें श्रद्धा शीघ्र ही फल प्रदान करनेवाला है, क्योंकि मैं इसका लक्षण पक्षियोंके अनुकूल कलरव आदिसे समझ गया हूँ॥८॥

स्वयं श्रीराधिका देवी प्रातरद्यादिदेश माम्।
सरूपायाति मत्कुञ्जे मद्भक्तो माथुरो द्विजः॥९॥

श्लोकानुवाद—विशेषतः स्वयं श्रीराधिकाजीने आज प्रातःकालमें ही मुझे यह आदेश दिया है—हे सरूप! मेरे कुञ्जमें मेरा भक्त माथुर-ब्राह्मण आ रहा है॥९॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, स्वयमिति। हे सरूप! मद्भक्त इति दुर्गाया अपि मदंशत्वेनाभेदाभिप्रायात्॥९॥

भावानुवाद—तदुपरान्त कह रहे हैं कि स्वयं श्रीराधिकाजीने मुझे आदेश दिया—हे सरूप! मेरा भक्त माथुर-ब्राह्मण मेरे कुञ्जमें आ रहा

है। यहाँपर 'मेरा भक्त' कहनेका तात्पर्य यह है कि श्रीदुर्गादेवी (कामाख्यादेवी) श्रीराधिकाजीकी अंश हैं, अतएव अंश-अंशीमें अभेद होनेके अभिप्रायसे ही ऐसा कहा गया है॥९॥

तत्रैकाकी त्वमद्यादौ गत्वा सदुपदेशतः।
प्रबोध्याश्वास्य तं कृष्णप्रसादं प्रापय द्रुतम्॥१०॥

श्लोकानुवाद—इसलिए तुम अभी अकेले उस कुञ्जमें जाकर उसे अपने सद् उपदेशोंसे समझाओ और आश्वासन दो, जिससे कि वह शीघ्र ही श्रीकृष्णकी कृपा प्राप्त कर सके॥१०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र मत्कुञ्जे; त्वमादावेकाकी गत्वेति, अन्यथा तदीय-प्रबोधाद्यनुत्पत्त्या श्रीकृष्णप्रसाद-प्राप्त्यसम्भवात्॥१०॥

भावानुवाद—तुम मेरे कुञ्जमें अकेले जाओ और उसे अपने सद् उपदेशों द्वारा समझाओ। अन्यथा उसके लिए श्रीकृष्णकी कृपाको प्राप्त करना असम्भव होगा॥१०॥

अस्मात्तस्याः समादेशाच्छ्रीघ्रमत्राहमागतः।
न प्रहर्षादुपेक्षे स्म कृष्णसङ्गसुखञ्च तत्॥११॥

श्लोकानुवाद—श्रीराधिकाजीके आदेशसे अत्यधिक प्रसन्न होकर मैं अपने परम वाञ्छित श्रीकृष्णके सङ्गसुखको भी छोड़कर अति शीघ्र इस कुञ्जमें उपस्थित हुआ हूँ॥११॥

दिग्दर्शिनी टीका—अस्मादीदृशात्; द्रुतमिति श्रीकृष्णस्य व्रजाद्वने समागमनात् पूर्वमेवेत्यर्थः। तदाज्ञाप्राप्ति-परमहर्षेण च श्रीकृष्णसङ्गोऽपि मया नापेक्षित इत्याह—नेति। तत् निजपरमापेक्षितमपि। श्रीराधाज्ञा-प्रतिपालनेनैव श्रीकृष्णस्य वशीकरणात् स्वयमेवाधि-काधिक-तत्सङ्गसुखसंसिद्धेरिति दिक्॥११॥

भावानुवाद—इसलिए श्रीराधिकाजीकी आज्ञा प्राप्त होते ही मैं अत्यधिक प्रसन्न होकर अति शीघ्र अर्थात् श्रीकृष्णके व्रजसे वनमें जानेसे पहले ही उनके सङ्गसुखको छोड़कर इस स्थानपर आया हूँ। यहाँ श्रीसरूपकी अत्यधिक प्रसन्नताका कारण यह है कि श्रीकृष्णके सङ्गसे उत्पन्न सुखकी तुलनामें श्रीराधिकाजीकी आज्ञाका पालन करना

परम आकांक्षित है, क्योंकि श्रीराधिकाजीकी आज्ञाका पालन करनेसे ही श्रीकृष्ण वशीभूत हो जाते हैं, जिसके फलस्वरूप स्वतः ही अत्यधिकरूपमें श्रीकृष्णका सङ्गसुख सम्पूर्ण रूपमें प्राप्त होता है॥११॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

एवमुक्तेऽपि विप्रस्य तस्य हि प्रेमसम्पदः।
उदयादर्शनान्मूर्ध्नि सरूपः करमर्पयत्॥१२॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षित् महाराजने कहा—हे मातः! इस प्रकार इतना सब कुछ कहनेपर भी जब श्रीसरूपने विप्रके हृदयमें प्रेम-सम्पत्तिका उदय होता नहीं देखा, तब उन्होंने उस विप्रके सिरपर अपना हाथ रख दिया॥१२॥

दिग्दर्शिनी टीका—प्रेम्णः सम्पदः सम्पत्तेर्यद्वा प्रेमैव सम्पत् तस्या य उदयः आविर्भावस्तस्यादर्शनात्। तस्यैव मूर्ध्नि; करं स्वहस्तम्॥१२॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥१२॥

सद्यस्तस्यास्फुरच्चित्ते स्वानुभूतमिवाखिलम्।
श्रीसरूपानुभूतं यत् कृपया तन्महात्मनः॥१३॥

श्लोकानुवाद—तब उसी क्षण ही महत्-जन श्रीसरूपकी कृपासे उस ब्राह्मणके हृदयमें भी वह सब अनुभूतियाँ स्फुरित हो उठीं, जिन्हें श्रीसरूपने स्वयं अनुभव किया था॥१३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्र फलमाह—सद्य इति। श्रीमता सरूपेण तेनानुभूतं यत्तदखिलं तस्य विप्रस्य चित्ते स्वेनात्मनैव तेन विप्रेणानुभूतमिव तत्क्षण एवास्फुरत् साक्षादभूत्। स चासौ महात्मा च, तस्य कृपया; तदिति पृथक् पदं वा; ततश्च महात्मन इत्यर्थात् सरूपस्यैव॥१३॥

भावानुवाद—श्रीसरूप द्वारा उस माथुर-ब्राह्मणके सिरपर हाथ रखनेके फलको बतलानेके लिए श्रीपरीक्षित् 'सद्य' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। उसी क्षण ही महात्मा श्रीसरूपकी कृपासे उनके द्वारा अनुभव किया गया समस्त तत्त्व उस विप्रके हृदयमें इस प्रकारसे स्फुरित हुआ, जैसा कि वह सब स्वयं विप्रने ही अनुभव किया हो॥१३॥

महत्सङ्गम–माहात्म्यमेवैतत् परमाद्भुतम्।
कृतार्थो येन विप्रोऽसौ सद्योऽभूत्तत्स्वरूपवत्॥१४॥

श्लोकानुवाद—महत्पुरुषोंके सङ्गका माहात्म्य इसी प्रकारसे ही परम अद्भुत है, जिसके प्रभावसे वह ब्राह्मण भी क्षणकालमें ही श्रीसरूपकी भाँति कृतार्थ हो गया॥१४॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु तादृशप्रयत्नभरेण श्रीभगवत्कृपाविशेषेण अतिचिरेण तादृश-भक्तेन प्राप्तं वस्तु कथमस्य तत्तदभावेनापि द्रुतमेव सिद्धम्? तत्राह—महदिति। एतन्महद्भिर्यः सङ्गमस्तस्य माहात्म्यमेव, न त्वन्यसाधनादिकृतम्। ननु कथमेवं सम्भवति? तत्राह—परमाद्भुतम्, अत्यन्तदुर्वितर्क्यम्; अतएव सर्वं सम्भवत्येवेति भावः। अतएवोक्तं तृतीयस्कन्धे (श्रीमद्भा. ३/२३/५५) श्रीदेवहूत्या—*"सङ्गो यः संसृतेर्हेतुरसत्सु विहितोऽधिया। स एव साधुषु कृतो निःसङ्गत्वाय कल्पते॥"* इति। अस्यार्थः—अधिया अज्ञानेन हेतुना, अबुद्धिना पुरुषेण वा; असत्सु असाधुलोकेषु विहितः संसृतेर्हेतुर्यः सङ्गः भोजनपानादिलक्षणः। अधियेत्यस्य परार्धेन वा सम्बन्धः। अज्ञानेनापि कृत्वेत्यर्थः। अप्यर्थे एव शब्दः। सोऽपि साधुषु कृतः सन् निःसङ्गो विरक्तो प्रेमयुक्तो वा प्रेम्णि फलानुसन्धानाभावन्यायात् तद्भावाय कल्पते, समर्थो भवतीति। वाशिष्ठे च—*"सदा सन्तोऽभिगन्तव्या यद्यप्युपदिशन्ति न। या हि स्वैरकथास्तेषां उपदेशा भवन्ति ते॥ शून्यमापूर्णतामेति मृतिरप्यमृतायते। आपत् सम्पदिवाभाति विद्वज्जनसमागमात्॥"* इति। तृतीयस्कन्धे (श्रीमद्भा. ३/७/१९) श्रीविदुरेणापि—*"यत्सेवया भगवतः कूटस्थस्य मधुद्विषः। रतिरासो भवेत्तीव्रः पादयोर्व्यसनार्दनः॥"* इति। अस्यार्थः—युष्मच्चरणसेवयेति पूर्वश्लोके युष्मदिति प्रस्तुतीभूतमस्ति; येषां युष्माकं साधूनां सेवया कूटस्थस्य दुर्ज्ञेयस्यापि, यद्वा, कूटमन्नकूटमिति विख्यातं श्रीगोवर्धनाद्रिशृङ्गं तद्वर्त्तिनो भगवतो मधुद्विषः श्रीकृष्णस्य पादयो रतिरासः प्रेमोत्सवः; यद्वा, रत्या रासस्तेनैव सह रासक्रीड़ा भवेत्। तीव्रः दुर्निवारः स्वाभाविकोऽनवच्छिन्नो वेत्यर्थः। व्यसनं संसारमशेषदुःखं वा अर्दयति नाशयतीति तथा सः; यद्वा, पादयोर्व्यसनार्दन इति यथास्थितमेव सम्बन्धः। ततश्च रासक्रीड़ाया नृत्यप्राधान्येन, नृत्यस्य च गतिप्राधान्येन पादयोर्व्यसनं दुःखम् अन्यव्यापारपरतां वा अर्दयतीति; एवं सति च मधुद्विष इति सप्तम्यर्थे षष्ठी ज्ञेयेति। श्रीकपिलेनापि—*"सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः। तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥"* (श्रीमद्भा. ३/२५/२५) इति। अस्यार्थः—वीर्यस्य मन्माहात्म्यस्य संवित् सम्यग्वेदनं याभ्यस्ताः, हृत्कर्णानां रसायनाः सुखप्रदाः, तासां जोषणात् सेवनात् अपवर्गोऽविद्यानिवृत्तिर्मोक्षो वा वर्त्मप्रापको यस्य तस्मिन् हरौ प्रथमं श्रद्धा विश्वासः, ततो रतिः प्रेमा, ततो भक्तिः सेवा-निष्ठता अनुक्रमिष्यति

अनुक्रमेण भविष्यतीत्यर्थः। यद्वा, अनु पश्चादायास्यति स्वत एव सिध्यतीत्यर्थः। ततश्चोक्तक्रमोऽत्राविवक्षितः, किन्तु *"आदौ श्रद्धा ततो भक्तिः कीर्त्तनाद्या ततो रतिः प्रेम"* इति बोद्धव्यम्। *"भक्त्या सञ्जातया भक्त्या"* इत्यादिना सर्वत्रैव भक्तेरपि प्रेमफलत्वोक्तेरिति। अतएव श्रीध्रुवेणापि प्रार्थितं चतुर्थस्कन्धे (श्रीमद्भा. ४/९/११)—*"भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसङ्गो, भूयादनन्त महताममलाशयानाम्। येनाञ्जसोल्बणमुरुव्यसनं भवाब्धिम्, नेष्ये भवद्गुणकथामृतपानमत्तः॥"* इति। अस्यार्थः—भक्तिं त्वयि प्रवहतां सातत्येन कुर्वताम्, अतोऽमलाशयानां विशुद्धचित्तानाम्, अतएव महतां प्रकृष्टः सङ्गो मे भूयात्। ननु तुरीय-पुरुषार्थं मोक्षं किं न याचसे? आनुषङ्गिकफलत्वेन तस्य स्वयमेव सिद्धेरित्याह—येन महत्प्रसङ्गेन भवद्गुणकथयैवामृतं, तस्य पानेन मत्तः सन् अञ्जसा अनायासेनैव उरूणि व्यसनानि यस्मिन् तमपि भवाब्धिम् संसारसागरं नेष्ये उत्तरिष्यामि। एतदुक्तं भवति—यथा हि मधुपानासक्तानां तदास्वादनमेव मुख्यफलं, शीतादितरणञ्चानुषङ्गिकं, तथा भगवद्भक्तिसुधा-पानरसिकानां निरन्तरतत्पानमेव मुख्यं फलम्; मोक्षादिकञ्च नान्तरीयकमिति स्वत एव सिध्येदिति। अतएव श्रीशिवेनाप्युक्तं चतुर्थस्कन्धे (श्रीमद्भा. ४/२४/५७-५८) *"क्षणार्धेनापि तुलये न स्वर्गं नापुनर्भवम्। भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥ अथानघाङ्घ्रेस्तव कीर्त्तितीर्थयोरन्तर्बहिःस्नानविधूतपाप्मनाम्। भूतेष्वनुक्रोशसुसत्त्वशीलिनां, स्यात् सङ्गमोऽनुग्रह एष नस्तव॥"* इति। अनयोरर्थः—भगवत्सङ्गिसङ्गस्य क्षणार्धेनापि स्वर्गं न तुलये, समं न गणयामि; न च अपुनर्भवं मोक्षमपि, मर्त्यानामाशिषो राज्याद्याः किमुत? अतो भगतद्भक्तजनसङ्ग एव सकलपुरुषार्थश्रेणीशिरसि नरीनर्त्तीति भावः। अथ अतएव हेतोः अनघौ पापहरौ अघासुरघातकौ वा अङ्घ्री यस्य तस्य तव कीर्त्तिर्यशः, तीर्थं गङ्गा, गोपीगणवारिभरणसम्बन्धियमुनाघट्टो वा, तयोः क्रमेणान्तर्बहिः-स्नानाभ्याम्। यद्वा, अन्तःस्थो वासनाक्षयाद्बहिःस्थश्च नरकादिनिवर्त्तनात् स्नानेन विधूतो विनाशितः पाप्मा येषाम्। अतएव भूतेषु अनुक्रोशः कृपा, सामान्यतः सुसत्त्वञ्च रागादिरहितचित्ततादि। शीलञ्च आर्जवादि तद्वतां सङ्गमो नोऽस्माकं स्यात्। एष एव तवास्मद्विषयकोऽनुग्रह इति। अतएव श्रीभरतेनाप्युक्तं पञ्चमस्कन्धे (श्रीमद्भा. ५/१२/१२-१३)—*"रहूगणैतत्तपसा न याति, न चेज्यया निर्वपणाद्गृहाद्वा। न छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥ यत्रोत्तमःश्लोकगुणानुवादः, प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविघातः। निषेव्यमाणोऽनुदिनं मुमुक्षोर्मतिं सतीं यच्छति वासुदेवे॥"* इति। अनयोरर्थः—*"ज्ञानं विशुद्धम्"* इत्यादिपूर्वश्लोके भगवत्संज्ञं वासुदेवं ब्रह्मेति गतमस्ति। एतच्छ्रीवसुदेवनन्दनरूपं भगवत्संज्ञं परं ब्रह्म तपआदिभिर्न याति, न प्राप्नोति जनः। तपः स्वधर्माचरणं, मनस ऐकाग्र्यं वा तेनापि; इज्यया वैदिककर्मणा, निर्वपणात् अन्नादिसंविभागेन, गृहाद्वा तन्निमित्तमृदोपकरणेन, छन्दसा वेदाभ्यासेन, जलादिभिरुपासितैरपि। तत्र जल-शब्देन तदधिकारी वरुणो ज्ञेयः। एतैरन्येऽपि देवा

उपलक्षयितव्याः। यद्वा, जलाग्न्योः प्रवेशेनापि तथा सूर्यमण्डलभेदेनापीत्यर्थः। महतां पादरजसा योऽभिषेकं स्नानं परमतीर्थत्वात्, तं विना। इदमत्र तात्पर्यम्—महतामनुग्रहे सति तपस्यादिभिरपि तत् प्राप्यते। तैर्विना च केवलं तेनैव प्राप्यतेऽपि। ननु तं विना कदाचिदपि न लभ्येत, यद्वा, केवलं तेनैव लभ्यते, न तु तैः, तेषां तत्साधनासामर्थ्यादिति। यत्र येषु महत्सु उत्तमश्लोकस्य उत्तमो निर्मलः, यद्वा, उद्गतं (अपगतं) तमो यस्मात् स उत्तमाः श्लोको यशो यस्य तस्य भगवतः श्रीकृष्णस्य गुणानुवादः भक्तवात्सल्यादिगुणकथा प्रस्तूयते स्वयमेव प्रस्तुतो भवति। यद्वा, यस्मिन् महत्पादरजोऽभिषेके सति प्रस्तूयते जनेन। ग्राम्यकथानां विघातो यस्मात् स च परमविषयासक्तेनाप्यनुदिनं निषेव्यमाणः सन् श्रीवसुदेवनन्दने मुमुक्षोर्विषयविरक्तस्य मतिं तत्र च सतीं दृढ़ां यच्छति; यद्वा, मुमुक्षोरपि नितरां सेव्यमानः सन् श्रीवसुदेवनन्दने अनुदिनं सतीं मुमुक्षादित्याजनेन उत्तमां मतिं यच्छतीति। तत्रैव (श्रीमद्भा. ५/१३/२१) तं प्रति श्रीरहूगणेनापि—*"अहो नृ-जन्माखिल-जन्मशोभनं, किं जन्मभिस्त्वपरैरप्यमुष्मिन्। न यद्धृषीकेशयशःकृतात्मनां, महात्मनां वः प्रचुरः समागमः॥"* इति। अस्यार्थः—अखिलेषु जन्मसु शोभनं श्रेष्ठम्; यद्वा, अखिलजन्मानि सर्वजीवानित्यर्थः। भगवद्भक्तिविस्तारणेन शोभयतीति तथा तत् नृजन्म एव। अतः न परं श्रेष्ठं येभ्यस्तैर्देवादिजन्मभिरपि किम्? अमुष्मिन् स्वर्गेऽपि जन्मभिः किम्? न किञ्चित्, यत् येषु जन्मसु यस्मिन् स्वर्गे वा वो युष्माकं महात्मनां समागमः प्रचुरो न भवति। विषयभोगपरैर्देवादिभिस्तस्य दुर्लभत्वात्, प्रायस्तीर्थपावनाद्यर्थं पृथिव्यामेव महात्मनां भ्रमणाच्च। कीदृशानाम्? हृषीकेशस्य यशसा कृतः शोधितः, यद्वा, यशस्येव कृतः कीर्त्तनादिना अर्पित आत्मा यैस्तेषामिति। सप्तमस्कन्धे च (श्रीमद्भा. ७/५/३२) श्रीप्रह्लादेन—*"नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रिं, स्पृशत्यनर्थापगमो यदर्थः। महीयसां पादरजोऽभिषेकं, निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्॥"* इति। (अस्यार्थः) *"न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुं, दुराशया ये बहिरर्थमानिनः"* (श्रीमद्भा. ७/५/३१) इति पूर्वश्लोके प्रस्तुतमपि येषां स्वरूपतोऽपि एषां दुराशयानां मतिरुरुक्रमस्य भगवतोऽङ्घ्रिं तावन्न स्पृशति, न प्राप्नोति; असम्भावनादिभिर्हन्यत एवेत्यर्थः। यस्या अङ्घ्रिस्पर्शिन्या मतेरर्थः। अनर्थस्य संसारस्य तदङ्घ्रिभजन-व्यतिरिक्तार्थस्य वापगमो नाशः। यावन्निष्किञ्चनानां निरस्त-विषयाभिमानानाम्; यद्वा, भगवद्भक्त्यपेक्षया सर्वत्र निरपेक्षाणां महत्तमानां पादरजसा अभिषेकं न वृणीत। महदनुग्रहाभावान्न तेषां तत्त्वनिश्चयो, नापि किमपि तत् फलमिति। दशमस्कन्धे च (श्रीमद्भा. १०/५१/५३) श्रीमुचुकुन्देन—*"भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः। सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ, परावरेशे त्वयि जायते रतिः॥"* इति। अस्यार्थः—भो अच्युत! भ्रमतः संसरतो जनस्य यदा त्वदनुग्रहेण भवस्य संसारस्य अपवर्गोऽन्तो भवेत्, प्राप्तकालः स्यात्, तदा सतां सङ्गमो भवेत्।

सत्समागमे च सति भवापवर्गस्य का कथा, त्वयि प्रेमैवाविर्भवतीत्याह—यदा च सत्सङ्गमो भवेत्, तदानीमेव परावरेशे कार्यकारण-नियन्तरि, यद्वा, परे ब्रह्मादयः अपरे अर्वाचीना जीवास्तेषामपीशे, केवलं गौरवेणैव सेव्ये, न तु प्रियतमतया सुलभे सतां भक्तानामेव गतौ प्राप्ये त्वयि रतिर्जायते इति। एकादशस्कन्धे (श्रीमद्भा. ११/२६/३१-३४) स्वयं भगवतापि—*"यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम्। शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा॥ निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायणम्। सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥ अन्नं हि प्राणिनां प्राण आर्त्तानां शरणं त्वहम्। धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग्विभ्यतोऽरणम्॥ सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः। देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च॥"* इति। एषामर्थः—विभावसुमग्निम्, उप समीपे आश्रयमाणस्य सेवमानस्य भयं सर्पादेः अप्येति नश्यति। तथा कर्मादिजाड्यम् आगामिसंसारभयं तन्मूलमज्ञानं, यद्वा, भयं संसारः, अज्ञानं भगवद्भक्तिमहिमज्ञानं नश्यतीत्यर्थः। तत्रोपशब्दप्रयोगेणात्र दूरेऽपि सेवमानस्येति ध्वन्यते। तत्र हेतुः—निमज्ज्योन्मज्जताम् उच्चावचयोनीर्गच्छताम्। यद्वा, घोरे भवाब्धावेव निमज्ज्योन्मज्जतां तस्मादुत्थातुमिच्छतामित्यर्थः। ब्रह्म-परब्रह्मतत्त्वं वेदं वा विदन्तीति तथा ते, सकलवेदतात्पर्य-गोचर-परमरहस्य-मदीयभक्तिमाहात्म्यवेत्तार इत्यर्थः। अतएव शान्ता, मोक्षेऽप्यपेक्षाराहित्यात्। किञ्च, यथा अन्नमेव प्राणो जीवनम्; अहमेव यथा शरणम्। धर्म एव यथा प्रेत्य परलोके वित्तम्, तथा सन्त एव अर्वाक् संसारपतनाद्विभ्यतः पुंसः अरणं शरणमित्यर्थः। किञ्च, सन्तः चक्षूंषि सगुण-निर्गुणज्ञानानि; यद्वा, भगवद्भक्तिमाहात्म्यज्ञानानि, गौरवेण वैचित्र्या वा बहुत्वं, दिशन्ति वितरन्ति। अर्कः सम्यग् उत्थित एव बहिरेव तदप्येकमेव परिच्छिन्नत्वेनाल्पतरमेव वा चक्षुर्दिशतीत्यर्थः। किं बहुना? *"सन्त एव देवताः सर्वा, बान्धवाश्च सर्वे सन्त एव, आत्मा सर्वजीवानां चेतयिता प्रियो वा।"* सन्त इत्यस्य पुनःप्रयोगो निर्धारणार्थः। अप्यर्थे चकारः। सन्त एव अहमपि। यद्वा, अहमेव तु सन्तः, न ते मत्तो भिन्ना इत्यर्थ इति। तथा तत्र तेनैव—*"सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत् सखा"* इति प्रतिज्ञायोत्तरम्। *"न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च। न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्त्तं न दक्षिणा॥ व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः। यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्॥"* (श्रीमद्भा. ११/१२/१-२) इति। एतयोरर्थः—न रोधयति, मां न वशीकरोति। योगः आसन-प्राणायामादि-शमादि-समाधिपर्यन्तः, सांख्यं तत्त्वानां विवेकः, धर्मः सामान्यतोऽहिंसादि-वर्णाश्रमाचारो वा, स्वाध्यायो वेदजपः, तपः कृच्छ्रादि, त्यागः सन्न्यासः, इष्टापूर्त्ते—इष्टमग्निहोत्रादि, पूर्त्तं कूपारामादिनिर्माणम्; दक्षिणा शब्देन सामान्यतो दानं लक्ष्यते; व्रतानि एकादश्युपवासादीनि, यज्ञो देवतापूजा, छन्दांसि रहस्यमन्त्राः, तीर्थानि गङ्गादीनि, तदाश्रयाणामित्यर्थः। नियमाः शौचादयो द्वादश, यमाश्चाहिंसादयो द्वादशैव, ते च तत्र

तेनैव उक्ताः सन्ति। *"अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसञ्चयः। आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यञ्च मौनं स्थैर्यं क्षमा भयम्॥ शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धातिथ्यं मदर्चनम्। तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम्॥"* (श्रीमद्भा. ११/१९/३३–३४) इति। तत्र अस्तेयं मनसापि परस्वाग्रहणम्, आस्तिक्यं धर्मविश्वासः, शौचञ्च बाह्याभ्यन्तरञ्चेति द्वयमिति। अवरुन्धे वशीकरोति। सर्वत्र गुणमये गुणातीते च सङ्गं मनोऽभिनिवेशम् अपहन्तीति तथा सः। यद्वा, ममैव सर्वसङ्गापहः, वैकुण्ठादिविषयक-क्रीड़ासक्तितोऽप्याकर्षक इत्यर्थ इति। अतएव महतां सङ्गतः कृतार्थता स्यादिति किं वक्तव्यम्? तेषां माहात्म्यश्रवणमेव परमफलमिति श्रीविदुरेणोक्तं तृतीयस्कन्धे (श्रीमद्भा. ३/१३/४)—*"श्रुतस्य पुंसां सुचिरश्रमस्य, नन्वञ्जसा सूरिभिरीड़ितोऽर्थः। तत्तद्गुणानुश्रवणं मुकुन्दपादारविन्दं हृदयेषु येषाम्॥"* इति। अस्यार्थः—सुचिरं श्रमो यस्मिन् तस्य, पुंसां श्रुतस्य शास्त्रस्य तदभ्यासस्य तदुत्पन्नज्ञानस्य वा अयमेवार्थः। ननु निश्चितमीड़ितः स्तुतः कोऽसौ? मुकुन्दपादारविन्दं येषां हृदयेष्वस्ति, तेषां तेषां भागवतानाम्; यद्वा, येषां हृदयेष्वस्ति, तेषां तस्य मुकुन्दपादारविन्दहृदयरूपस्यानिर्वचनीयस्य वा गुणस्य माहात्म्यस्य स्वभावस्य वा अनुश्रवणं वारं वारं श्रवणमिति। श्रीध्रुवेणाप्युक्तं चतुर्थस्कन्धे (श्रीमद्भा. ४/९/१०)—*"या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्मध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात्। सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्, किंवान्तकासि-लुलितात् पततां विमानात्॥"* इति। अस्यार्थः—भवज्जनानां कथायाः श्रवणेन। स्वमहिमनि निजानन्दरूपेऽपि मा भूत् न भवतीत्यर्थः। अन्तकस्य असिना कालेन लुलितात् खण्डितात् विमानात् पततां सा नास्तीति किमु वक्तव्यमिति। महतां प्रसङ्गेन परमकृतार्थता भवतीति किं वक्तव्यं, तद्भक्त-भक्तानामपि सङ्गेन स्यादिति तत्र तेनैवोक्तम्—*"ते न स्मरन्त्यतितरां प्रियमीश मर्त्यं, ये चान्वदः सुतसुहृद्गृहवित्तदाराः। ये त्वब्जनाभ! भवदीयपदारविन्द-सौगन्ध्यलुब्धहृदयेषु कृतप्रसङ्गाः॥"* (श्रीमद्भा. ४/९/१२) इति। अस्यार्थः—भवदीया वैष्णवास्तेषां पदारविन्दयोः सौगन्ध्यसेवायामित्यर्थः, लुब्धं हृदयं येषां तेषु ये कृतप्रसङ्गाः। तु-शब्देन अन्येषां केवलयोगादिनिष्ठानां देहाद्यभिमानाद्यनिवृत्तिं दर्शयति। ते अतितरामतिशयेन प्रियमपि मर्त्यं देहं न स्मरन्ति नानुसन्दधते; अतितरां न स्मरन्तीति वान्वयः, भगवच्चरणारविन्दविषयक-प्रेमसिद्धेः। यथोक्तमेकादशस्कन्धे (श्रीमद्भा. ११/१३/३६) श्रीहंसेन—*"देहञ्च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा, सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्। दैवादपेतमथ दैववशादुपेतं, वासौ यथा परिहितं मदिरामदान्धः॥"* इति। अतएव अदो मर्त्यमनु सम्बन्धा ये सुतादयस्तानपि न स्मरन्त्येवेति। महतां लक्षणञ्च पञ्चमस्कन्धे (श्रीमद्भा. ५/५/२–३) *"महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता, विमन्यवः सुहृदः साधवो ये"*, *"ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था, जनेषु देहम्भरवार्त्तिकेषु। गृहेषु जायात्मजरातिमत्सु, न प्रीतियुक्ता यावदर्थाश्च लोके॥"* इति। समचित्ताः शत्रुमित्रादावेकभावाः; यतः प्रशान्ताः रागद्वेषादिशून्याः,

यतो विमन्यवः निष्क्रोधाः, यतः सुहृदः निरुपाधि-सर्वोपकारपराः, यतः साधवः सदाचाररताः; एवं यथेच्छं वा विशेषणानामेषां हेतुहेतुमद्भावो द्रष्टव्यः। किंवा सर्वेषामप्येषां लक्षणानं वा शब्दबलाद्विकल्पेन स्वातन्त्र्यं किंवा समुच्चय एव ज्ञातव्यः। मयि ईशे परमेश्वररूपे निजेष्टप्रभुरूपे वा कृतं सौहृदं प्रेमैव अर्थः पुरुषार्थो येषां ते। एष हेतुश्च सदाचारत्वे सर्वत्रापि वा पूर्वत्र द्रष्टव्यः। स्वातन्त्र्यपक्षे च वा शब्देनान्यनिरपेक्षस्यैवास्य लक्षणत्वं बोध्यते। अतएव देहं विभर्तीति देहम्भरा विषयवार्तैव, न धर्मादिविषया येषु तेषु जनेषु जायादियुक्तेषु गृहेषु च न प्रीतिमन्तः। रातिर्मित्रं धनं वा। ननु तर्हि देहनिर्वाहः कथं स्यात्? तत्राह—यावदर्थमेव अर्थो येषामिति मध्यपदलोपी समासः, देहनिर्वाहाधिक-स्पृहाशून्या इत्यर्थः। एतद्विशेषणद्वयेन चेशविषयकृत सौहृदलक्षणबाह्यं दर्शितमिति वा ज्ञेयमिति। एकादशस्कन्धे (श्रीमद्भा. ११/१४/१७) स्वयं श्रीभगवतापि—*"निष्किञ्चना मय्यनुरक्तचेतसः, शान्ता महान्तोऽखिलजीववत्सलाः। कामैरनालब्धधियो जुषन्ति ते, यन्नैरपेक्ष्यं न विदुः सुखं मम॥"* इति। अस्यार्थः—मय्यनुरक्तचेतस एव महान्तः; तेषां बाह्यलक्षणानि—निष्किञ्चनाः त्यक्तपरिग्रहाः, शान्ता रागादिशून्याः, अखिलजीवेषु वत्सलाः, कामैर्विषय-भोगैरनालब्धधियः अस्पृष्टचित्ताः; एषाञ्च यथेष्टं हेतुहेतुमद्भावो द्रष्टव्यः। आन्तरलक्षणमाह—एवम्भूता मम मदीया यत् सुखं जुषन्ति सेवन्ते, तत् सुखं त एव विदुर्नान्ये। कुतः? नैरपेक्ष्यं तद्विदुर्नान्यः इत्यन्वयः। अथवा ईदृशा एव सुखं जुषन्तीत्यन्वयः, परमानन्दमनुभवन्तीत्यर्थः। यद्वा, जुषन्ति सेवन्ते प्रीणयन्ति वा, अर्थान्मामेव यद्यस्मात्ते मम नैरपेक्ष्यमात्मारामत्वादिना सर्वत्र निरपेक्षतां न विदुः किन्तु भक्तिरसापेक्षको भक्तजनपरवश इत्येवं विदुरित्यर्थः। *"अपि मे पूर्णकामस्य नवं नवमिदं प्रियम्"* इति। *"अहं भक्तपराधीनः"* (श्रीमद्भा. ९/४/६३) इत्यादिश्रीभगवद्वचन-प्रामाण्यादेव। अतएव श्रद्धाद्यतिशयोत्पत्त्या भजनेनानुरागसिद्ध्या महत्ता सम्पद्यते; अत इदमेवान्तरमुख्यलक्षणं ज्ञेयमिति। तत्रैव योगेश्वरेण श्रीहरिणाप्युक्ताखिल-भगवद्भक्तलक्षणसारोऽयमन्ते प्रोक्तः—(श्रीमद्भा. ११/२/५५) *"विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्धरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः। प्रणयरसनया धृताङ्घ्रिपद्मः, स भवति भागवतप्रधान उक्तः॥"* इति। अस्यार्थः—हरिरेव साक्षात् स्वयं यस्य हृदयं न विसृजति न मुञ्चति। यद्वा, साक्षाद्धरिः श्रीकृष्णः *"कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्"* (श्रीमद्भा. १/३/२८) इत्युक्तेः। कथम्भूतः? अवशेन ऋतु-स्खलनादिवैवश्येनापि अभिहितमात्रोऽपि अघौघं पापसमूहं नाशयतीति तथा सः। तत् किं न विसृजति? यतः प्रणयः प्रेमैव रशना वशीकरणहेतुत्वात्, तया धृतं हृदये बद्धम् अङ्घ्रिपद्मं यस्य सः। भागवतप्रधानः महानित्यर्थः; स भक्तो भवति। यद्वा, कीदृशः? अघासुरस्य ओघं वेगं मुक्तिदानेन नाशयतीति तथा सः, दुर्वितर्क्य-माहात्म्यः श्रीवृन्दावनविहारीत्यर्थः। अतएव हरिः परममनोहरः; अन्यत् समानम्। स भागवतप्रधान

इत्येकत्वञ्च, तादृशानां बाहुल्यासम्भवात्। तदुक्तं *"एवं सल्लक्षणा लोके दुर्लभा मानवाः कलौ। न हि सिंहसमूहा वै दृश्यन्ते यत्र कुत्रचित्॥"* इति। श्रीहरिभक्तिसुधोदये च धरणीवाक्ये—*"सुदुर्लभा भागवता हि लोके"* इति। एकादशस्कन्धेऽपि (श्रीमद्भा. ११/२/२९)—*"दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां क्षणभङ्गुरः। तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्॥"* इति। यतः समूलाशेषपापक्षयादेव तथा सम्पूर्णसत्कर्मगणसम्पत्त्यैव श्रीकृष्णे भगवति भक्तिर्जायते। तथा च श्रीभगवद्गीतासु (श्रीगी. ७/२८)—*"येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्। ते द्वन्दमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढ़व्रताः॥"* इति। श्रीदशमस्कन्धे च (श्रीमद्भा. १०/४७/२४)—*"दानव्रततपोहोम-जप-स्वाध्याय-संयमैः। श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते॥"* इति। योगवाशिष्ठे च—*"जन्मान्तरसहस्रेषु तपोज्ञानसमाधिभिः। नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते॥"* इति। अतो येषु भगवद्भक्तिर्न दृश्यते, ते पापिनो एव ज्ञेयाः। न चात्मतत्त्वज्ञानपराणां ज्ञानमेव भक्तिरिति वाच्यम्, योगवाशिष्ठादिवचनेषु तपोज्ञानसमाधीनां भक्तिसाधनतोक्तेः। तथा श्रीभगवद्गीता-तात्पर्यनिर्धारे श्रीधरस्वामिपादैरन्ते टीकायां लिखितमिदम्—*"ज्ञानस्य भक्त्यवान्तरव्यापारत्वमेव"* *"तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते"* (श्रीगी. १०/१०; १३/१८) इत्यादिवचनात्। *"न च ज्ञानमेव भक्तिरिति युक्तम्"*, *"समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्"*, *"भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः"* (श्रीगी. १८/५४-५५) इत्यादौ भेददर्शनादित्यादि। अतएवात्मतत्त्वोपासका यतयो भक्तेभ्यो भिन्ना एव। यथोक्तं चतुर्थस्कन्धे (श्रीमद्भा. ४/२२/३९) श्रीपृथुं प्रति सनत्कुमारेण—*"यत्पाद-पङ्कजपलाशविलासभक्त्या, कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः। तद्वन्न रिक्तमतयो यतयो निरुद्धस्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्॥"* इति। अस्यार्थः-यस्य पादपङ्कजयोः पलाशानि अङ्गुलयस्तेषां विलासः कान्तिस्तस्य स्मृत्या, यद्वा, विलासः श्रीवृन्दावनादिविषयकक्रीड़ा तस्य भक्त्या श्रवण-कीर्त्तन-स्मरणरूपया। तदुक्तं स्वमातरं प्रति श्रीकपिलदेवेन सर्वसाधनवर्गकथने सर्वसारतया तदन्ते वैकुण्ठलीलाभिध्यानमिति। यद्वा, विलासो नाम भगवन्महाप्रसादान्नभक्षण-नृत्यगीतादिस्तद्रूपयापि भक्त्या कर्माशयम् अहङ्काररूप-हृदयग्रन्थिं संसारबन्धं वा कर्मभिरेव ग्रथितं सन्तः साधवः उद्ग्रथयन्ति मोचयन्ति। यतयः सन्न्यासिनस्तु निरुद्धः स्रोतोगणः इन्द्रियवर्गः यैस्तथाभूताः सन्तोऽपि तद्वद्भक्तवत् कर्माशयं नोद्ग्रथयन्ति; किन्तु किञ्चिदेव शिथिलयन्तीत्यर्थः। यद्वा, सन्त एवोद्ग्रथयन्ति, यतयस्तु नैवेत्येष एव तद्वदित्यस्य तात्पर्यार्थः। यद्वा, *"तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः"* (श्रीमद्भा. १०/२/३३) इत्यत्र तथा न भ्रश्यन्ति, किन्तु किञ्चिद्भ्रश्यन्तीत्यर्थोऽनुपयुक्तः, बद्धसौहृदत्वाच्च कदाचिदपि न भ्रश्यन्तीत्येष एवार्थः सतां सम्मत इति। स्रोतःशब्देन यथा गङ्गादिस्रोतसां निरोधः

कदाचिदपि न स्यात्, तथा इन्द्रियवर्गस्यापीति बोध्यते, कथञ्चिद्वा तादृशा अपि भवन्तु, तथापि नोद्ग्रथयितुं शक्नुवन्तीत्यत्र हेतुः—रिक्ता निर्विषया, यद्वा, रिक्ते शून्यरूपे आत्मतत्त्वे। यथोक्तं श्रुतिभिर्दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा. १०/८७/२९) ब्रह्मत्वेन भगवत्स्तुतौ—*"वियत इवापदस्य तव शून्यतुलां दधतः"* इति। यद्वा, रिक्ता शून्यमतिर्येषां ते निर्बुद्धय इत्यर्थः। श्रीभगवच्चरणारविन्द-भक्तित्यागेनात्मोपासनात्। अतएव प्राक् सन्त इति निर्देशेन सदितरत्वमन्येषां ध्वनितम्, तं वसुदेवनन्दनम् अरणं शरणं भज आश्रय। अरणमित्यनेन च यतीनां शरणराहित्यं ध्वनितम्, विना भगवदाश्रयणमनाथत्वे पर्यवसानात्। श्रीभगवतो भक्तास्तु तेन सनाथाः परमनिर्भयाः सर्वेन्द्रियवृत्तिविस्तारेण सर्वथा तद्भजनात् संसारबन्धं मोचयन्तीति किं वाच्यम्? अनुक्षण-नूतननूतनमधुरमधुरानन्दपूरं मुक्तगण-दुर्लभमेव प्राप्नुवन्ति। एतच्च प्रागेव सपरिकरं निरूपितमस्ति। तत्र च यतिभिर्महाप्रयत्नेन दुस्तरमपि संसारसागरं श्रीभगवद्भक्ता हेलयैव सुखं तरन्तीत्यभिप्रायेणैव तथोक्तमित्यूह्यम्। यच्चोक्तं तृतीयस्कन्धे (श्रीमद्भा. ३/५/३९) कारणदेवैः—*"ननाम ते देव पदारविन्दं, प्रपन्नतापोपशमातपत्रम्। यन्मूलकेता यतयोऽञ्जसोरुसंसारतापं बहिरुत्क्षिपन्ति॥"* इति। अत्रायमर्थः—यतयोऽपि यस्य पदारविन्दस्य मूलं तलं केत आश्रयो येषां तथाभूता एव सन्तः महदपि संसारदुःखमञ्जसा अनायासेनैव बहिरुत्क्षिपन्तीति। यद्वा, ये श्रीभगवच्चरणारविन्दाश्रयास्ते यतय एव नोच्यन्ते, किन्तु परमभक्ता एव, सर्वपरित्यागेन तच्चरणारविन्दाश्रयणात्, केवलं गृहादिपरित्यागनिष्ठार्थमेव सन्न्यासग्रहणात्, वेशमात्रेण यतिसादृश्यं तेषाम्। ये तु आत्मानमेव श्रीभगवन्तं श्रीनारायणं मन्वाना आत्मव्यतिरिक्तदृष्टं श्रुतं सर्वमेव मन्मायाकल्पितं मय्येवाध्यस्तमित्यादि मायावादानुसारेणाद्वैत बोधमात्रपरास्त एवाद्वैतपर-वेदान्तसिद्धान्तमते यतयोऽभिधीयन्ते। त एव हि सच्छब्दवाच्येभ्यो भक्तेभ्यो भिन्ना अक्षीणपापा विषयरागवासितान्तःकरणा अज्ञा अपि पण्डितमानिनो दैत्यप्रकृतयः। तान् प्रत्येवेमानि वचनानि श्रूयन्ते। तत्र दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा. १०/२/३२) देवस्तुतौ—*"येऽन्येऽरविन्दाक्ष! विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्त्यभावादविशुद्धबुद्धयः। आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः, पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः॥"* इति। श्रुतिस्तुतौ च—*"यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदिकामजटा, दुरधिगमोऽसतां हृदि गतोऽस्मृतकण्ठमणिः। असुतृप्योगिनामुभयतोऽप्यसुखं भगवन्ननपगतान्तकादनधिरूढपदाद्भवतः॥"* (श्रीमद्भा. १०/८७/३९) इति। वाशिष्ठे च—*"अज्ञस्यार्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत्। महानरकजालेषु तेनैव विनियोजितः॥"* इति। ब्रह्मवैवर्ते च—*"विषयस्नेहसंयुक्तो ब्रह्माऽमिति यो वदेत्। कल्पकोटिसहस्राणि नरके स तु पच्यते॥"* इति। पुराणान्तरे च—*"संसारसुखसंयुक्तं ब्रह्माहमितिवादिनम्। कर्मब्रह्मपरिभ्रष्टं तं त्यजेदन्त्यजं यथा॥"* इति। इत्येषा दिक्, अलमतिविस्तरेण। प्रकृतश्लोकार्थमनुसरामि। येन महत्सङ्गममाहात्म्येन असौ भगवद्भक्तिमाहात्म्यानभिज्ञोऽपि विप्रः सद्योऽविलम्बितम् एव कृतार्थः परिपूर्णफलोऽभूत्।

तत्र च स बहुतरप्रयत्नादिना कृतार्थतां प्राप्तो यः स्वरूपस्तद्वदेवेत्यर्थः। अतएव सर्वसाधननिरूपण-प्रसङ्गे पूर्वमिदं महत्सङ्गम-माहात्म्यं नोक्तम्;—सर्वसाधनवर्गश्रेष्ठत्वात्, परमसाध्यान्तर्भूतत्वाच्च॥१४॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि वैसे (अर्थात् गोपकुमार द्वारा किए गए) प्रचुर प्रयत्नसे श्रीभगवान्‌की विशेष कृपा द्वारा जो वस्तु गोपकुमार जैसे भक्तोंको बहुत विलम्बसे प्राप्त होती है, वह वस्तु उस ब्राह्मणको वैसे प्रयत्न आदिके अभावमें भी शीघ्रतापूर्वक कैसे प्राप्त हुई? इसके समाधानके लिए श्रीपरीक्षित् 'महत्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। वास्तवमें यह महत्पुरुषोंके सङ्गका ही माहात्म्य है, जिसके फलस्वरूप वह ब्राह्मण साधन आदि न करनेपर भी श्रीसरूपकी भाँति ही प्रेम प्राप्तकर कृतार्थ हुआ था। यदि कहो कि ऐसा कैसे सम्भव हो सकता है? इसके लिए 'परमाद्भुतम्' पद द्वारा कह रहे हैं कि ऐसा संशय मत करना, क्योंकि महत्पुरुषोंके सङ्गका माहात्म्य परम अद्भुत और सम्पूर्ण रूपसे तर्कके अतीत है, अतएव उसके द्वारा सब कुछ सम्भव है। इसलिए तृतीय-स्कन्ध (श्रीमद्भा. ३/२३/५५) में श्रीदेवहूतिने कहा है—"अज्ञानतावशतः असाधु व्यक्तियोंके साथ हुआ जो सङ्ग संसार-बन्धनका कारण होता है, वही सङ्ग यदि साधु-पुरुषोंके साथ हो जाये, तो वह निःसङ्गत्व अर्थात् मुक्तिका कारणस्वरूप हो जाता है।" इसका अर्थ है कि अज्ञानतावशतः अथवा बुद्धिहीनताके कारण असाधु व्यक्तियों सहित भोजन-पान आदि लक्षणयुक्त जो सङ्ग संसार-बन्धनका कारण बनता है, वही सङ्ग यदि अज्ञानतावशतः साधुओंसे भी हो जाये, तब वह 'निःसङ्ग' अर्थात् विषयोंसे वैराग्य अथवा फलकी कामनासे रहित प्रेमभावको उत्पन्न करनेमें समर्थ होता है। वशिष्ठमें भी ऐसा ही कथित है—"सर्वदा साधुओंके समीप जाना। यदि वे तुम्हें कोई उपदेश न भी दें, तो भी उनके समीप ही रहना, क्योंकि उनकी स्वाभाविक बातें (वचन) भी तुम्हारे लिए उपदेश स्वरूप होंगी। इस प्रकार भक्तोंके समागमसे भक्तिशून्य हृदयमें भी भक्ति रसका भलीभाँति सञ्चार होता है, अर्थात् जिनका हृदय शून्य मार्गमें भ्रमण करके मायारूपी मरीचिकाकी छलनासे भ्रान्त है, उनका हृदय भी नित्य आनन्दमय भक्तिरससे परिपूर्ण हो जाता है। इस प्रकार

मृत भी अमृतमें बदल जाता है, अर्थात् मृतस्वरूप यह मर्त्य देह भगवान्‌की सेवाके उपयोगी अमृत स्वरूपमें परिवर्तित हो जाता है। विपत्ति भी सम्पत्तिमें बदल जाती है, अर्थात् भक्तिके विघ्न नष्ट होनेपर स्वाभाविक भक्ति-सम्पद उदित होती है।"

तृतीय-स्कन्ध (श्रीमद्भा. ३/७/१९) में श्रीविदुरजीने भी श्रीमैत्रेय मुनिसे कहा है—"आप जैसे साधुओंकी चरण-सेवा करनेसे कूटस्थ भगवान् श्रीमधुसूदनके चरणकमलोंमें एकान्तिक प्रेमरूपी उत्सव उत्पन्न होता है तथा आनुसङ्गिक रूपमें संसार-बन्धनका भी नाश हो जाता है।" इसका अर्थ है—आप जैसे साधुओंकी चरण-सेवा करनेसे 'कूटस्थ' अर्थात् समस्त कालमें विद्यमान रहनेवाले तथा दुर्ज्ञेय, अथवा 'कूटस्थस्य' यह विशेषण 'कूट' अर्थात् अन्नकूट नामसे विख्यात श्रीगोवर्द्धन पर्वतके शिखरपर बैठे श्रीकृष्णको ही इङ्गित कर रहा है। अतएव 'पादयोः रतिरासः' अर्थात् उस गोवर्द्धनके शिखरपर विराजित भगवान् श्रीमधुसूदनके चरणकमलोंमें तीव्र रतिरास अर्थात् उनके साथ निरन्तर प्रेमरूपी उत्सव। अथवा 'तीव्र' कहनेका अर्थ है—दुर्निवार्य अर्थात् ऐसी वासना जिसका निवारण करना अत्यन्त कठिन हो अथवा स्वाभाविक निरन्तरमयी रतिवशतः रास अर्थात् श्रीकृष्णके साथ व्रजगोपियोंकी रासलीलाको समझना चाहिये। 'पादयोर्व्यसनार्दनः' अर्थात् श्रीकृष्णके युगलचरणोंमें रति जो संसारके अनन्त दुःखोंको सम्पूर्णता नष्ट करती है। अथवा रासलीलामें नृत्य ही प्रधान है तथा उस नृत्यमें गतिकी प्रधानता होती है, अतएव रास क्रीड़ामें 'पादयोर्व्यसनार्दनः' अर्थात् उन युगल चरणकमलोंका संचालन दुःख या फिर अन्य विषयोंमें अनुरक्तिको नष्ट करता है।

श्रीकपिलदेवने भी (श्रीमद्भा. ३/२५/२५) में वर्णन किया है—"साधुओंके यथार्थ सङ्गमें मेरे माहात्म्यको प्रकाश करनेवाली तथा हृदय और कानोंको प्रिय लगनेवाली कथाएँ होती हैं। उन कथाओंका प्रीति सहित सेवन (श्रवण) करते-करते शीघ्र ही अविद्या-निवृत्तिके पथ स्वरूप मेरे प्रति प्रथमतः श्रद्धा, फिर रति तथा अन्तमें प्रेमभक्ति तक क्रमशः उदित होगी।" इसका अर्थ है—साधुओंके समागममें हृदय और कर्णकी रसायनस्वरूप अर्थात् उनके लिए सुखदायक मेरी

वीर्यवती अर्थात् मेरे माहात्म्यको भलीभाँति बोध करानेवाली कथाएँ प्रकाशित होती हैं। उसके सेवनसे शीघ्र ही अविद्या-निवृत्ति या मोक्षके पथको प्राप्त करवानेवाले उन श्रीहरिमें सर्वप्रथम श्रद्धा, उसके उपरान्त रति (प्रेम) तथा अन्तमें भक्ति अर्थात् सेवा-निष्ठता क्रमपूर्वक सञ्चारित होती है। अथवा 'अनु' कहनेसे एकके बाद दूसरे क्रमका होना स्वतःसिद्ध रूपसे होता है। यहाँपर जो क्रम बताया गया है, वह अभिप्रेत नहीं है। किन्तु सर्वप्रथम श्रद्धा, उसके बाद कीर्त्तन आदि रूप भक्ति, उसके बाद रति (प्रेम)—इस क्रमके अनुसार समझना होगा। इसका कारण है कि "भक्त्या सञ्जातया भक्त्या" अर्थात् भक्तिसे ही भक्ति उत्पन्न होती है—इस न्यायके अनुसार प्रेमको भक्तिके फलरूपमें ही सर्वत्र जाना जाता है।

अतएव श्रीधुव्रजीने भी चतुर्थ-स्कन्ध (श्रीमद्भा. ४/९/११) में प्रार्थनाकी है—"हे अनन्त! मुझे तो आप उन विशुद्ध हृदयवाले साधु-भक्तोंका सङ्ग प्रदान कीजिये, जिनका आपके प्रति निरन्तर भक्तिभाव है। ऐसे महात्माओंके सङ्गके प्रभावसे मैं आपके गुणों और लीलाओंकी कथारूप अमृतको पानकर उन्मत्त हो जाऊँगा तथा अनायास ही अत्यन्त दुःखपूर्ण इस भयङ्कर भव-सागरसे पार हो जाऊँगा।" इसका अर्थ है—हे अनन्त! जो निरन्तर आपकी भक्ति करते हैं, ऐसे विशुद्ध-चित्त महापुरुषोंके साथ आपकी कथाको श्रवण करनेके उद्देश्यसे मेरा वास्तविक सङ्ग हो। यदि आप कहें कि मैंने तुरीय-पुरुषार्थ मोक्षकी प्रार्थना क्यों नहीं की? इसके लिए कह रहें कि भक्तिके आनुषङ्गिक फलस्वरूप मोक्ष स्वयं ही उपस्थित हो जाता है। इसलिए श्रीध्रुव महाराजने कहा है कि मैं महत्पुरुषोंके सङ्गमें आपके गुणरूपी कथामृतका पान करके मत्त होकर अनायास ही इस दुःखमय भयङ्कर संसार-सागरसे पार हो जाऊँगा। जिस प्रकार मधुपानमें आसक्त व्यक्तिके लिए मधुका आस्वादन करना ही मुख्य फल है तथा शीत निवारण आदि आनुसङ्गिक फल है, उसी प्रकार श्रीभगवान्‌की भक्ति-सुधा पानके रसिकोंके लिए निरन्तर उस भक्ति-सुधाका पान ही मुख्य फल है, अतएव मुक्तिको उसका आनुसङ्गिक फल समझना, क्योंकि वह स्वतः ही सिद्ध होती है।

श्रीशिवजी भी चतुर्थ-स्कन्ध (श्रीमद्भा. ४/२४/५७-५८) में कहते हैं—"यदि आधे क्षणके लिए भी भगवान्‌के सहचर प्रेमी भक्तोंका सङ्ग प्राप्त हो जाये, तो उसके सामने मैं स्वर्ग और मोक्षको भी कुछ नहीं मानता हूँ, फिर मर्त्यलोकके तुच्छ सुखोंकी तो बात ही क्या है? हे प्रभो! आपके युगल श्रीचरणकमल सम्पूर्ण पापराशिका नाश करनेवाले हैं। आन्तरिक रूपमें आपकी कीर्त्तिरूप तीर्थमें और बाहरसे गङ्गा तीर्थमें स्नान करके जिन लोगोंने अपने पापोंको धो डाला है, अर्थात् जो अन्दर और बाहरसे शुद्ध हो गये हैं तथा जीवोंके प्रति दया, राग-द्वेषसे रहित चित्त और सरलता आदि गुणोंसे युक्त है, आपके उन भक्तोंका सङ्ग हमें सदा प्राप्त होता रहे, तभी हमारे प्रति आपकी यथार्थ कृपा दृष्टिगोचर होगी।" इसका अर्थ है कि यदि आधे क्षणके लिए भी श्रीभगवान्‌के भक्तोंका सङ्ग हो जाये तो मैं स्वर्ग सुख, यहाँ तक कि मोक्ष-सुखको भी उसके समान नहीं मानता हूँ, फिर राज्य आदि मर्त्यलोकके तुच्छ सुखोंकी तो बात ही क्या है? अतएव भगवान्‌के भक्तोंका सङ्ग ही सभी पुरुषार्थोंके सिरपर बार-बार नृत्य करता है। इसका कारण है कि 'अनघौ' अर्थात् जिनके श्रीचरणकमल सब प्रकारके पापोंका हरण अथवा अघासुरका नाश करनेवाले हैं, उन श्रीभगवान्‌के गुण-गानमें अवगाहनरूप आन्तरिक स्नान तथा 'तीर्थ' अर्थात् गङ्गाजलमें अथवा श्रीगोपियोंके जल भरण-सम्बन्धी यमुनाके घाटपर स्नानरूपी बाह्य स्नान। अथवा अन्तर स्नानका अर्थ है—अन्दरकी वासनाओंका नाश तथा बाह्य स्नानका अर्थ है—नरक आदिका निवारण करनेवाले स्नानसे जिनकी समस्त पाप राशि नष्ट हो गयी है। इसलिए सभी प्राणियोंके प्रति स्वतः ही कृपाशील, राग-द्वेषसे रहित चित्त और सरलता आदि गुणोंसे युक्त पापरहित महत्-जनोंका सङ्ग मुझे प्राप्त हो—आप मेरे प्रति ऐसी ही कृपा कीजिये।

इस विषयमें पञ्च-मस्कन्ध (श्रीमद्भा. ५/१२/१२-१३) में रहुगणके प्रति श्रीभरतका उपदेश—"हे रहूगण! महापुरुषोंके चरणोंकी धूलिसे अपनेको स्नान कराये बिना केवल तप, यज्ञादि वैदिक कर्म, अन्नादिके दान, अतिथि सेवा आदि गृहस्थोचित धर्मके अनुष्ठान, वेदाध्ययन

अथवा जल, अग्नि या सूर्यकी उपासना आदि किसी भी अन्य साधनसे भगवान्‌के तत्त्वका ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता है। इसका कारण है कि महाभागवतजनोंके समाजमें विषय-वार्त्ता-प्रसङ्गको नाश करनेवाली श्रीभगवान्‌की पवित्र कीर्त्ति और गुणोंका निरन्तर कीर्त्तन होता है। उनके मुखसे निकलनेवाली भगवान्‌की कथाको नित्यप्रति आदरपूर्वक श्रवण करते-करते मुमुक्षुजनोंकी भी मोक्ष-वासना नष्ट हो जाती है तथा भगवान् वासुदेवके प्रति शुद्ध मति उदित होती है।" इसका अर्थ है—हे रहुगण! पूर्व श्लोक (श्रीमद्भा. ५/१२/११) में कथित 'ज्ञानं विशुद्धम्' अर्थात् परम विशुद्ध ज्ञान ही पारमार्थिक सत्य है तथा वही ज्ञान अपनी पूर्ण प्रतीतिमें भगवान् वासुदेव, आंशिक प्रतीतिमें परमात्मा और भगवान्‌की अङ्ग-ज्योति स्वरूपमें ब्रह्म वाच्य हैं। इन भगवान् नामक श्रीवसुदेवनन्दनरूप परब्रह्मको तप आदि द्वारा कोई भी जान नहीं सकता और प्राप्त नहीं कर सकता। 'तप' कहनेसे अपने धर्मका आचरण अथवा मनकी एकाग्रता, 'इज्या' अर्थात् वैदिक कर्म, 'निर्वापण' अर्थात् अन्न आदिका सुष्ठु रूपमें विभागरूप दान, 'गृह' अर्थात् अन्न-दानके उद्देश्यसे मिट्टीकी घड़ा आदि उपकरण संग्रह करना इत्यादि गृहस्थ धर्म, 'छन्द' अर्थात् वेदाभ्यास, 'जल आदि' अर्थात् जलाधिकारी देवता वरुण तथा उसी प्रकार अग्नि, सूर्य और अन्यान्य अधिकारिक देवताओंकी आराधनाके द्वारा भी श्रीवासुदेवको प्राप्त नहीं किया जा सकता। अथवा जल या अग्निमें प्रवेश करनेसे अथवा सूर्यमण्डलका भेद करनेसे भी उन्हें प्राप्त नहीं किया जा सकता। महापुरुषोंके चरणोंकी रज परम तीर्थस्वरूप है, अतएव उसमें स्नान किये बिना उक्त किसी भी साधन द्वारा श्रीवासुदेवको प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसका तात्पर्य यह है कि महापुरुषोंकी कृपा होनेसे तपस्या आदिके द्वारा भी श्रीभगवान्‌को प्राप्त किया जा सकता और तपस्या आदिके बिना भी केवल महापुरुषोंकी कृपासे वे प्राप्त होते हैं। यदि प्रश्न हो कि महापुरुषोंकी कृपाके बिना क्या उन्हें कभी भी प्राप्त नहीं किया जा सकता है? अथवा वे क्या केवल महापुरुषोंकी कृपासे ही प्राप्त होते हैं तथा तपस्या आदि अन्य साधनोंसे नहीं? इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि तपस्या आदि साधन उन्हें प्राप्त करानेमें

असमर्थ हैं। इन महत्पुरुषोंके सङ्गमें 'उत्तमश्लोक' अर्थात् जिनका 'उत्तम' अर्थात् निर्मल अथवा तमःका नाश करनेवाला, 'श्लोक' अर्थात् यश है, उन उत्तमश्लोक भगवान् श्रीकृष्णके गुणानुवाद अर्थात् भक्तवात्सल्य आदि गुणोंकी कथा स्वयं ही कीर्त्तित होती है। अथवा उन महत्पुरुषोंके चरणकमलोंकी रजमें स्नान करनेसे सभीमें उत्तमश्लोक भगवान् श्रीकृष्णके गुण स्वयं ही स्फुरित होते हैं, जिसके फलस्वरूप 'ग्राम्यकथा-विघातः' अर्थात् सांसारिक वार्त्ताका विनाश हो जाता है। विषयोंमें अत्यन्त आसक्त व्यक्तियों द्वारा भी इस सांसारिक वार्त्ताका नाश करनेवाले उत्तम श्लोकोंका गुणानुवाद नित्यप्रति सेवित अर्थात् श्रवण किये जानेपर वह उनमें श्रीवसुदेवनन्दनके प्रति मुमुक्षुओंकी भाँति विषयोंसे विरक्त दृढ़ मति प्रदान करता है। अथवा मुमुक्षुओंके द्वारा भी उन उत्तमश्लोक भगवान् श्रीकृष्णका गुणगान सम्पूर्ण रूपसे सेवित होनेपर वह उनमें मोक्षकी इच्छाका परित्याग करवाकर उत्तम मति प्रदान करता है।

पञ्चम-स्कन्ध (श्रीमद्भा. ५/१३/२१) में ही राजा रहूगणने श्रीभरतसे कहा है—"अहो! यह मनुष्य जन्म समस्त योनियोंमें श्रेष्ठ है। स्वर्ग आदि लोकोंमें प्राप्त होनेवाले देवता आदि उत्कृष्ट जन्मोंसे क्या लाभ है, जहाँ भगवान् श्रीहृषीकेशके यश-कीर्त्तनके प्रभावसे शुद्ध अन्तःकरणवाले आप जैसे महात्माओंका समागम प्रचुर रूपसे नहीं होता है।" इसका अर्थ है—मनुष्य जन्म समस्त योनियोंमें श्रेष्ठ है, क्योंकि भगवद्भक्तिका विस्तार केवल इस मनुष्य जन्ममें ही सम्भव है। यह मनुष्य जन्म समस्त जन्मोंकी शोभा स्वरूप है, अतएव श्रेष्ठ देवता आदिके जन्मका या स्वर्गमें जन्मका भी क्या प्रयोजन है? कुछ भी नहीं, क्योंकि वहाँपर आप जैसे महात्माओंका प्रचुर समागम नहीं होता है। उस स्वर्गमें जन्म प्राप्तकर विषय-भोगोंमें आसक्त देवताओंके लिए महापुरुषोंका सङ्ग दुर्लभ है, क्योंकि महत्पुरुष तो प्राय तीर्थोंको पावन करनेके लिए इस पृथ्वीपर ही विचरण करते हैं। वे महत्पुरुष कैसे होते हैं? उन महत्पुरुषोंका चित्त भगवान् श्रीहृषीकेशके यशसे शोधित हो चुका है अथवा उन्होंने कीर्त्तन आदि द्वारा आत्मसमर्पण कर दिया है। ऐसे महत्पुरुषका यदि प्रचुर समागम न हों, तब उक्त देवता आदि जन्म भी वृथा ही हैं।

श्रीप्रह्लाद महाराजजीने भी सप्तम-स्कन्ध (श्रीमद्भा. ७/५/३२) में कहा है—"जब तक ऐसे इन्द्रिय-तर्पणमें अनुरक्त व्यक्ति निष्किञ्चन अर्थात् विषय अभिमानसे रहित परमहंस महावैष्णवोंकी चरणधूलिमें स्नान नहीं करते, तब तक उनकी मति भगवान् श्रीउरुक्रमके चरणकमलोंका स्पर्श नहीं करती (अर्थात् भगवान्के प्रति उनकी बुद्धि नहीं लगती)। इसलिए उनके अनर्थ या संसार-वासनाका भी नाश नहीं होता है।" इसका तात्पर्य यह है कि इसके पूर्वश्लोक (श्रीमद्भा. ७/५/३१) में कहा गया है—"जिनका अन्तःकरण विषय भोगों द्वारा दूषित हो गया है तथा जो बाहरी अर्थको धारण करनेवाले होते हैं, अर्थात् इन्द्रियों द्वारा भोग्य विषयोंमें आसक्त कामुक लोगोंको ही श्रेष्ठ मानते हैं, वैसे लोग परमपुरुषार्थके लोभीजनोंकी एकमात्र गति भगवान् श्रीविष्णुकी महिमाको नहीं जान पाते हैं।" इसलिए ऐसे मलिन हृदयवाले व्यक्तियोंकी मति अनर्थों अर्थात् संसार-वासनाका नाश करनेवाले उरुक्रम भगवान्के श्रीचरणोंका तब तक स्पर्श नहीं कर पाती (अर्थात् वे उन चरणकमलोंका भजन नहीं कर पाते), जब तक वे निष्किञ्चन अर्थात् विषय अभिमानसे रहित अथवा भगवद्भक्तिकी आशासे सर्वत्र निरपेक्ष महात्माओंकी चरणधूलिमें स्नान नहीं करते। इसका कारण है कि महत्पुरुषोंकी कृपाके अभावमें उनके लिए तत्त्व-निर्धारण या किसी प्रकारका शुभफल उत्पन्न नहीं होता।

दशम-स्कन्ध (श्रीमद्भा. १०/५१/५३) में श्रीमुचुकुन्दने वर्णन किया है—"हे अच्युत! जीव अनादिकालसे जन्म-मृत्युरूप संसारमें भ्रमणशील है। जिस समय उसका इस बन्धनसे छूटनेका समय आता है, उस समय उसे सत्सङ्ग प्राप्त होता है। यह निश्चय है कि जिस क्षण उसे सत्सङ्ग प्राप्त होता है, उसी क्षण साधुजनोंकी परमगति तथा समस्त कार्य-कारणके नियन्ता आपमें जीवकी रति उदित होती है।" इसका अर्थ है—हे अच्युत! आपकी कृपाके फलस्वरूप जब संसारी मनुष्यके संसार-नाशका समय उपस्थित होता है, तब उसे साधुसङ्गकी प्राप्ति होती है। सत्सङ्गके प्रभावसे संसाररूपी बन्धनके नष्ट होनेकी तो बात ही क्या है, आपके प्रति प्रेम ही उदित हो जाता है, इसीके लिए—'यदा च सत्सङ्गमो भवेत्' इत्यादि कह रहे हैं। अर्थात् जब

सत्सङ्ग होता है, तभी 'परावरेशे' अर्थात् कार्य-कारणके नियन्ता परब्रह्ममें अथवा 'परे' अर्थात् ब्रह्मा आदि देवता तथा 'अपरे' अर्थात् साधन मार्गमें रत समस्त आधुनिक जीवोंके भी ईश्वर—आपके प्रति प्रीतिपूर्ण भावसे रहित, केवल गौरव भाव (बुद्धि) द्वारा ही सेवा करनेसे भक्तों द्वारा ही प्राप्तकी जानेवाली आपके श्रीचरणकमलोंके प्रति रति सुलभ रूपमें उत्पन्न होती है।

एकादश-स्कन्ध (श्रीमद्भा. ११/२६/३१-३४) में श्रीभगवान्ने स्वयं भी वर्णन किया है—"भगवान् अग्निदेवका सेवन करनेसे (आश्रय लेनेसे) जिस प्रकार व्यक्तिके लिए शीत, भय और अन्धकारका दुःख दूर हो जाता है, उसी प्रकार साधुजनोंकी सेवा करनेसे (आश्रय लेनेसे) कर्म-जड़ता, संसारका भय और उसका मूल अज्ञान नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार सुदृढ़ नौका जलमें डूब रहे व्यक्तिके लिए परम आश्रय है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञ शान्तचित्त साधुजन भी घोर संसार-सागरमें उच्च-नीच योनियोंमें विचरण कर रहे जीवके लिए परम आश्रय स्वरूप होते हैं। अन्न जिस प्रकार प्राणियोंका जीवन है, मैं जिस प्रकार दुःखितजनोंका आश्रय हूँ, धर्म ही जिस प्रकार मृत्युके बाद मानवकी पूँजी है, उसी प्रकार साधुजन ही संसार-सागरमें डूबे हुए भयभीत व्यक्तियोंके आश्रय हैं। सूर्यदेव पूर्ण रूपसे उदित होनेपर केवलमात्र मानवके बाह्य नेत्रोंको ही प्रकाशित करते हैं, किन्तु साधुजन मानवके अन्तर स्थित ज्ञान नेत्रोंको प्रकाशित करते हैं। साधुजन ही अनुग्रहशील देवता हैं, हितैषी बान्धव हैं, अपनी आत्मा ही है, अधिक क्या कहूँ, स्वयं मैं ही साधुजनोंके रूपमें विद्यमान हूँ।" इसका अर्थ है—भगवान् 'विभावसुम्' अर्थात् अग्निदेवके निकट रहकर उनका आश्रय लेनेसे अर्थात् उनका सेवन करनेसे जैसे लोगोंको शीत, अन्धकार और सर्प आदिका भय नहीं रहता, उसी प्रकार साधुओंकी सेवा करनेसे अकर्मण्यतारूप तमः, आनेवाला संसार भय तथा संसारका मूल कारण अज्ञान अथवा भगवद्भक्तिकी महिमाके विषयमें जो अज्ञान है, वह सब नष्ट हो जाते हैं। मूल श्लोकमें 'उप' शब्दका ध्वनित अर्थ है कि दूरसे सेवा करनेपर भी उक्त फलकी प्राप्ति होती है। इसका कारण है कि जिस प्रकार जलमें डूबते व्यक्तिके लिए सुदृढ़

नौका श्रेष्ठ आश्रय है, उसी प्रकार जो संसारमें उच्च-नीच योनियोंमें भ्रमण कर रहे हैं, अथवा जो घोर संसार-सागरमें निमग्न है, किन्तु उठनेकी इच्छा करते हैं, उन जीवोंके लिए शान्त ब्रह्म अर्थात् परब्रह्म तत्त्वको जाननेवाले साधु ही परम आश्रय है। यहाँपर 'ब्रह्मविद्' पदका अर्थ है—जो सभी वेदोंके तात्पर्यके विषयमें अर्थात् परम रहस्यमय भगवद्भक्तिके माहात्म्यका तत्त्व जाननेवाले हैं, अतएव वे शान्त होते हैं अर्थात् मोक्षकी भी आकांक्षासे रहित होते हैं। तदुपरान्त कह रहे हैं कि जिस प्रकार मैं ही समस्त दुःखी व्यक्तियोंकी शरण हूँ, जिस प्रकार अन्न ही प्राणियोंके लिए जीवन है, जिस प्रकार धर्म ही मृत्युके बाद मनुष्योंका धन है, उसी प्रकार साधु ही संसारमें पतित और भयभीत व्यक्तियोंके लिए शरण हैं। कुछ और भी कह रहे हैं—जिस प्रकार सूर्य उदित होकर बाह्य नेत्रोंको प्रकाशित करते हैं, उसी प्रकार साधु भी सगुण-निर्गुण ज्ञान अथवा भगवद्भक्तिके माहात्म्यसे सम्बन्धित समस्त प्रकारका ज्ञान प्रदान करके ज्ञानरूपी चक्षुओंको प्रकाशित करते हैं। यहाँ गौरवके कारण अथवा विचित्रताके कारण ज्ञानको बहुवचनमें कहा गया है। यद्यपि सूर्य सम्पूर्ण रूपसे उदित होकर बाह्य वस्तुओंके विषयमें तो ज्ञान प्रदान करते हैं, किन्तु वह ज्ञान सीमित होनेके कारण अति अल्प होता है, अर्थात् उस ज्ञानके द्वारा केवल नेत्रों द्वारा ही वस्तुओंका दर्शन होता है। अधिक क्या कहूँ? सभी साधु ही देवता हैं, साधु ही सभीके बान्धव हैं तथा सभी जीवोंकी आत्मा अर्थात् प्रिय हैं। 'सन्त' शब्दका पुनः प्रयोग निर्धारणके उद्देश्यसे किया गया है। अतएव श्रीभगवान् कह रहे हैं कि मैं ही साधु हूँ, क्योंकि वे मुझसे भिन्न नहीं हैं।

एकादश-स्कन्ध (श्रीमद्भा. ११/११/४९) में भी श्रीभगवान्ने श्रीउद्धवसे कहा है—"हे यदुनन्दन उद्धव! तुम मेरे सेवक, सुहृत् और सखा हो, इसलिए अत्यन्त गोपनीय होनेपर भी अब मैं तुम्हारे समक्ष परम रहस्यपूर्ण तत्त्वका वर्णन करूँगा, उसे श्रवण करो।" इस प्रकारकी प्रतिज्ञा करके श्रीभगवान् कहने लगे (श्रीमद्भा. ११/१२/१-२)—"हे उद्धव! सत्सङ्ग जगत्में समस्त प्रकारकी आसक्तियोंको नष्ट कर देता है। यही कारण है कि सत्सङ्ग मुझे जिस प्रकारसे वशीभूत कर लेता

है, योग, सांख्य, धर्म-अनुष्ठान, स्वाध्याय, तप, त्याग, इष्ट पूर्त्तकर्म, दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, छन्द, तीर्थ यात्रा, नियम तथा यम—ये समस्त मुझे उस प्रकारसे वशीभूत नहीं कर पाते हैं।" इसका अर्थ है—सत्सङ्ग मुझे जिस प्रकार वशीभूत करता है, 'योग' अर्थात् आसन-प्राणायाम तथा शम आदिसे लेकर समाधि तक, 'सांख्य' अर्थात् सभी तत्त्वोंका विवेक, 'धर्म' अर्थात् सामान्य अर्थसे अहिंसा आदि अथवा वर्णाश्रमका आचरण, 'स्वाध्याय' अर्थात् वेदोंका अध्ययन, 'तप' अर्थात् कृच्छ्रादि व्रत-तपस्या, 'त्याग' अर्थात् संन्यास, 'इष्ठा' अर्थात् अग्निहोत्र आदि कर्म और 'पूर्त्त' अर्थात् कुएँ-बगीचे आदिका निर्माण, 'दक्षिणा' अर्थात् सामान्य अर्थमें दान, 'व्रत' अर्थात् एकादशीमें उपवास आदि, 'यज्ञ' अर्थात् देवताओंकी पूजा, 'छन्द' अर्थात् सरहस्य गोपनीय मन्त्र, 'तीर्थ' अर्थात् गङ्गा आदिमें स्नान और उसका आश्रय, 'नियम' अर्थात् शौच आदि द्वादश नियम, 'यम' अर्थात् अहिंसा आदि द्वादश यम। यम और नियमके सम्बन्धमें श्रीभगवान् द्वारा ही एकादश-स्कन्धमें वर्णन हुआ है। यह सब मुझे उस प्रकारसे अर्थात् सत्सङ्गकी भाँति वशीभूत नहीं कर पाते हैं।

श्रीभगवान्ने (श्रीमद्भा. ११/१९/३३-३४) में कहा है—"अहिंसा, सत्य, अचौर्य (चोरी न करना), असङ्गता, लज्जा, असञ्चय, आस्तिकता, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थिरता, क्षमा और अभय—ये बारह यम हैं। शौच (बाहरी और आन्तरिक पवित्रता), जप, तपस्या, होम, श्रद्धा, अतिथि सेवा, मेरी पूजा, तीर्थ यात्रा, परोपकारकी चेष्टा करना, सन्तोष और आचार्योंकी सेवा करना—ये बारह नियम हैं।" यहाँपर 'अस्तेय' शब्दका अर्थ है—मन द्वारा भी दूसरोंकी वस्तुओंको ग्रहण न करना। 'आस्तिक्य' का अर्थ है—धर्ममें विश्वास। 'शौच' कहनेसे बाहरी और आन्तरिक दोनों प्रकारकी पवित्रता। (श्रीमद्भा. ११/१२/२) में 'अवरुन्ध' शब्दका अर्थ है—वशीभूत करना। 'सर्वसङ्गापहा'—समस्त प्रकारका गुणमय और गुणातीत सङ्ग अर्थात् मनके अभिनिवेशको अपहरण करके जो सबको भक्तिमें अनुरक्त करता है, वह सत्सङ्ग मुझे वशीभूत कर लेता है। अथवा श्रीभगवान् कह रहे हैं कि यह सत्सङ्ग मेरे लिए भी 'सर्वसङ्गापहा' है, अर्थात् वैकुण्ठ आदि विषयक

लीलाओंकी आसक्तिसे भी मुझे अधिक आकर्षक है। (अर्थात् वैकुण्ठ आदि लीलाओंकी आसक्तिका अपहरण करके मुझे सत्सङ्गीकी भक्तिमें प्रवर्तित करता है।)

अतएव महत्पुरुषोंके सङ्गके प्रभावसे सभी कृतार्थ होंगे, इस विषयमें और अधिक क्या कहा जा सकता है? उन महत्पुरुषोंके माहात्म्यका श्रवण करना ही परमफल स्वरूप है। इस विषयमें श्रीविदुरजी भी तृतीय-स्कन्ध (श्रीमद्भा. ३/१३/४) में कहते हैं—"जिनके हृदयमें भगवान् श्रीमुकुन्दके चरणकमल विराजमान हैं, उन भक्तजनोंके गुणोंको पुनः-पुनः श्रवण करना ही मनुष्योंके बहुत दिनों तक किये हुए शास्त्र-अध्ययनके श्रमका मुख्य फल है—ऐसा पण्डितोंका श्रेष्ठ मत है।" इसका अर्थ है—यदि कहो कि चिरकालके श्रमसे शास्त्र अध्ययन, श्रवण या उससे उत्पन्न ज्ञानका फल पण्डितजनोंने किस रूपमें निश्चित किया है? इसके लिए कह रहे हैं कि जिनके हृदयमें भगवान् श्रीमुकुन्दके चरणकमल विराजमान हैं, अथवा जिनका श्रीमुकुन्दके चरणकमलोंके समान हृदय है या उन चरणकमलोंके समान अनिर्वचनीय गुण-माहात्म्य या स्वभाव है, उन महाभागवतोंके गुण, महिमा और चरित्रका बार-बार श्रवण करना ही समस्त साधनोंका पूर्ण फल है—पण्डितोंने ऐसा निश्चित किया है।

चतुर्थ-स्कन्ध (श्रीमद्भा. ४/९/१०) में श्रीध्रुवजी भी कहते हैं—"हे नाथ! आपके श्रीचरणकमलोंके ध्यान और आपके भक्तोंके पावन चरित्रको सुननेसे प्राणियोंको जो आनन्द प्राप्त होता है, वैसा आनन्द निजानन्दरूप आत्म साक्षात्कार या ब्रह्मानन्दमें भी प्राप्त नहीं होता है। अतएव देवतापद तो अत्यन्त तुच्छ है, क्योंकि कालरूप तलवार द्वारा स्वर्गीय विमानके खण्डित होनेपर देवता भी मर्त्यलोकमें आ गिरते हैं, इसलिए उन्हें वैसा सुख कैसे मिल सकता है?" इसका तात्पर्य यह है कि महत्पुरुषोंके गुण-महिमा और चरित्रको श्रवण करनेसे ही जब मानव कृतार्थ हो जाते हैं, तो फिर उन महत्पुरुषोंके सङ्गसे उनका जीवन परम कृतार्थ हो जायेगा, इस विषयमें अधिक क्या कहा जा सकता है?

अतएव उन महत्पुरुषोंके भक्तोंके अनुगत भक्तोंके सङ्गसे भी परमफलकी प्राप्ति होती है। इस विषयमें श्रीध्रुवने ही (श्रीमद्भा. ४/९/१२) में कहा है—"हे कमलनाभ प्रभो! जिनका चित्त आपके श्रीचरणकमलोंकी सेवारूप सुगन्धमें अत्यधिक लुब्ध है, उन महानुभावोंका जो कोई भी व्यक्ति प्रकृष्ट सङ्ग करते हैं अर्थात् उनके द्वारा कथित प्रसङ्गको आदर सहित श्रवण करते हैं—वे अपनी अत्यन्त प्रिय देह तथा देहसे सम्बन्धित घर, पुत्र, स्त्री, मित्र, धन आदिकी सुध भी नहीं रखते हैं, अर्थात् अन्य कुछ भी ग्रहण करनेमें असमर्थ हो जाते हैं।" इस उद्धृत श्लोकमें 'तु' शब्दका अर्थ है कि केवल योग आदिमें निष्ठा रखनेवाले योगियोंकी देह आदिके प्रति अभिमानकी भी निवृत्ति नहीं होती है, किन्तु आपके समस्त भक्तोंका आपके श्रीचरणकमलोंके प्रति प्रेम लाभ होनेसे अतिशीघ्र ही अपने अत्यधिक प्रिय देह आदिके प्रति अभिमान दूर हो जाता है या उसके विषयमें स्मरण तक नहीं होता है। इस विषयमें एकादश-स्कन्ध (श्रीमद्भा. ११/१३/३६) में भगवान् श्रीहंस भी कहते हैं—"जिस प्रकार मदिराके मदमें अन्धा व्यक्ति यह नहीं देख पाता है कि उसके द्वारा पहना हुआ वस्त्र गिर गया है या पुनः देववशतः शरीरपर संलग्न है, उसी प्रकार सिद्ध पुरुष भी अपने स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करनेपर यह नहीं दर्शन करता है कि उसका नश्वर शरीर आसनमें बैठा है, वहाँसे खड़ा हो गया है या कहींसे आया है या कहीं गया है।" इसलिए पहले कहा गया है कि मर्त्य अर्थात् देहसे सम्बन्धित पुत्र आदिके प्रति उनकी दृष्टि ही नहीं रहती।

तथा महत्पुरुषोंके लक्षण पञ्चम-स्कन्ध (श्रीमद्भा. ५/५/२-३) में वर्णित हुए हैं—"जो समचित्त, प्रशान्त, क्रोध रहित, सुहृत्, सदाचारी हैं, जो मुझसे प्रीति करनेको ही परमपुरुषार्थ समझते हैं, जो विषयोंमें आसक्त व्यक्तियों और पुत्र-पत्नी, धन-मित्र आदिसे प्रीति नहीं करते तथा जो जगत्में शरीर-निर्वाह करनेके उपयोगी अर्थसे अधिक अर्थके लिए कामना नहीं करते, वे ही महत्पुरुष हैं।" यहाँपर 'समचित्त' कहनेका अर्थ है—वे शत्रु-मित्र आदिके प्रति एक ही भाव रखनेवाले हैं, क्योंकि वे 'प्रशान्त' अर्थात् राग-द्वेष आदिसे रहित हैं, क्योंकि वे

'विमन्यवः' अर्थात् क्रोधशून्य हैं, क्योंकि वे 'सुहृत्' अर्थात् निःस्वार्थ भावसे सभीका उपकार करनेवाले हैं, क्योंकि वे 'साधवः' अर्थात् सदाचारमें रत हैं। इस प्रकार सभी विशेषणोंमें कार्य-कारणका सम्बन्ध देखा जाता है। अथवा शब्दके बलवशतः यह सभी लक्षण विकल्पसे स्वतन्त्ररूपमें अथवा सामूहिक (अर्थात् कार्य-कारणके) रूपमें व्यवहार हो सकते हैं—ऐसा जानना होगा। अब मूल कारण व्यक्त कर रहे हैं—'मयि ईशे' अर्थात् मुझे परमेश्वरके रूपमें अथवा अपने प्रभुके रूपमें प्रेम करके तथा उस प्रेमको ही एकमात्र पुरुषार्थ समझकर जो पूर्व कथित सदाचाररूप लक्षणोंसे युक्त होकर तथा मेरे अलावा अन्य सबसे निरपेक्ष होकर 'देहम्भरा' अर्थात् देह निर्वाहके लिए देह-विषयक वार्त्तामें, अन्यान्य धर्म आदि विषयोंमें तथा पुत्र-स्त्री-धन-मित्र आदि गृहसे प्रीतियुक्त नहीं होते हैं, वही महत्पुरुष हैं। यदि कहो कि तो फिर उनका देहयात्रा निर्वाह कैसे होगा? इसके लिए ही 'यावदर्था' पद द्वारा कह रहे हैं कि वे देहयात्रा-निर्वाहके उपयोगी अर्थसे अधिक अर्थकी कामनासे रहित होते हैं। इन दो विशेषणोंके द्वारा ऐसे भक्तोंकी अपने इष्टके प्रति प्रगाढ़ प्रीतिके बाह्य लक्षण प्रकाशित हुए हैं—जानना होगा।

एकादश-स्कन्ध (श्रीमद्भा. ११/१४/१७) में स्वयं श्रीभगवान्‌ने भी कहा है—"निष्किञ्चन, मुझमें अनुरक्त, शान्त, निरभिमान, सभी जीवोंके प्रति वात्सल्यसे युक्त, संसार-वासनाओंसे रहित चित्तवाले मेरे भक्तको निरपेक्ष व्यक्तियों द्वारा प्राप्त होनेवाले जिस सेवा सुखका अनुभव होता है, उसे तो केवल वे ही जानते हैं, अन्य कोई भी उसे जाननेमें असमर्थ हैं।" तात्पर्य यह है कि भगवान्‌के प्रति अनुरक्त चित्तवाले भक्त ही महान्त हैं। उनके बाह्य लक्षण इस प्रकार हैं—'निष्किञ्चन' अर्थात् समस्त प्रकारकी धन-सम्पत्ति आदि प्राप्तियोंका त्याग करनेवाले, 'शान्त' अर्थात् आसक्ति आदिसे शून्य, सभी जीवोंके प्रति वात्सल्य भावसे युक्त, संसारकी वासनाएँ उनके चित्तको स्पर्श नहीं करती अर्थात् विषय भोगोंके प्रति अनासक्त बुद्धिवाले—इन यथेष्ट विशेषणोंकी कार्य-कारणता द्रष्टव्य है। अब उनके आन्तरिक लक्षण बतलानेके लिए कह रहे हैं—मेरे ऐसे भक्त जिस सुखको

अनुभव अर्थात् सेवन करते हैं, उस सुखको वे ही जानते हैं, दूसरे उसको जाननेमें अक्षम हैं। किसलिए? वह सुख निरपेक्ष व्यक्तियों द्वारा ही जाना जा सकता है, अर्थात् जिनको दूसरे किसी भी विषयमें, यहाँ तक कि मोक्षकी भी अपेक्षा नहीं है, वे ही उस सुखको प्राप्त कर सकते हैं। अथवा ऐसे साधु जो मुझसे प्रीति करते हैं, वे ही सदैव उस परमानन्दका अनुभव करते हैं अथवा वे उस सुखका सेवन करते हैं या उससे सन्तोष प्राप्त करते हैं। इसलिए वे मेरे सर्वत्र निरपेक्ष धर्म अर्थात् आत्मारामता आदिको जाननेकी इच्छा नहीं करते, अर्थात् मेरी भक्तिमें अत्यधिक आनन्द होनेके कारण सर्वत्र निरपेक्ष रूपसे मेरी आत्मारामता आदिको नहीं जानते। किन्तु वे मुझे भक्ति-रसका आकांक्षी होनेके कारण भक्तोंके अधीन रहनेवालेके रूपमें ही जानते हैं। इस विषयमें श्रीहरिभक्ति सुधोदयमें श्रीप्रह्लादके प्रति भगवान्का वचन—"यद्यपि मैं पूर्णकाम हूँ, तथापि भक्तोंके सङ्ग द्वारा प्राप्त नव-नवायमान आनन्द मुझे बहुत प्रिय है।" तथा श्रीमद्भागवत (९/४/६३) में श्रीभगवान्के वचन ही प्रमाण हैं—"मैं सर्वथा भक्तोंके अधीन हूँ, इसलिए मुझमें तनिक भी स्वतन्त्रता नहीं है। मुक्ति तक की वासनाओंसे रहित भक्तोंने मेरे हृदयपर अपना अधिकार कर रखा है। भक्तों कि तो बात ही क्या, भक्तोंके (पाल्य) भक्त भी मेरे प्रिय हैं।" अतएव अत्यधिक श्रद्धा आदि सहित भजन करनेसे अनुरागकी सिद्धि होनेपर ही किसीको महत्ता (श्रेष्ठता) प्राप्त होती है। अतएव यही आन्तरिक अर्थात् मुख्य लक्षण हैं।

एकादश-स्कन्धके द्वितीय अध्यायके अन्तमें (श्रीमद्भा. ११/२/५५) में योगेश्वर श्रीहरि और समस्त भगवद्भक्तोंके लक्षण साररूपमें बतलाये गये हैं—"विवश होकर भी जिनका नाम उच्चारण करनेसे जो नाम-उच्चारणकारीके समस्त पापोंका नाश कर देते हैं, वैसे श्रीहरि अपने चरणकमलोंके परमप्रेमरूपी पाशसे बन्धकर जिन भक्तोंके हृदयको परित्याग करनेमें समर्थ नहीं होते हैं, वे भक्त ही उत्तम भागवतके रूपमें कथित होते हैं।" तात्पर्य यह है कि साक्षात् श्रीहरि ही स्वयं उन भक्तोंका हृदय परित्याग नहीं करते अथवा यहाँपर 'साक्षात् श्रीहरि' कहनेसे श्रीकृष्णको ही समझना होगा, क्योंकि

(श्रीमद्भा. १/३/२८) में उक्त है—"कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।" वे हरि कैसे हैं? अपने वशमें नहीं होनेपर भी अर्थात् विशेष विपत्ति आदिकी विवशतासे भी जिनका नाम उच्चारण करनेमात्रसे ही समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं—वैसे श्रीहरि। यदि कहो कि वे श्रीहरि भक्तोंका हृदय किसलिए परित्याग नहीं करते हैं? इसके लिए कह रहे हैं कि प्रेमसे वशीभूत होकर अर्थात् भक्त अपने प्रेमरूपी रस्सीसे श्रीहरिके चरणकमलोंको अपने हृदयमें बाँध लेते हैं—ऐसे भक्त ही प्रधान भागवत हैं। अथवा अघासुरको मुक्ति देनेके लिए जिन्होंने उसके वेगका (बलका) नाश किया था, ऐसे दुर्वितर्क्य-माहात्म्यसे युक्त श्रीवृन्दावनविहारी श्रीहरि परम मनोहर होनेके कारण जिनके हृदयमें वास करते हैं, वे ही प्रधान भागवत हैं। उद्धृत श्लोकमें "स भवति भागवत प्रधान" एक वचनमें निर्दिष्ट हुआ है। इसका तात्पर्य है कि वैसे प्रधान भागवतोंका बहुत संख्यामें होना असम्भव है। इस विषयमें कहा गया है—"जिस प्रकार सिंह जहाँ-तहाँ दिखायी नहीं देते, उसी प्रकार ऐसे सद्-लक्षणोंसे युक्त मानव कलिकालमें दुर्लभ हैं।" श्रीहरिभक्ति सुधोदयमें धरणी देवीके वचन हैं—"इस जगत्में महाभागवत अत्यन्त दुर्लभ हैं।" एकादश-स्कन्ध (श्रीमद्भा. ११/२/२९) में भी कहा गया है—"जीवोंके लिए परमपुरुषार्थको प्राप्त करवानेवाला यह क्षणभङ्गुर मनुष्य देह दुर्लभ है और उसमें भी वैकुण्ठप्रिय भगवद्भक्तोंका दर्शन सुदुर्लभ है।" ऐसे भक्तोंके दर्शनके फलस्वरूप ही मूल सहित समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं तथा सम्पूर्ण सत् कर्मोंके सम्पत्तिरूप बलसे ही भगवान् श्रीकृष्णमें भक्ति उत्पन्न होती है।

श्रीमद्भगवद्गीता (७/२८) में भी कहा गया है—"जिन पुण्य कर्म करनेवालोंके पापसमूह नष्ट हो गये हैं, वे सुख-दुःख आदि रूप द्वन्द्वके मोहसे मुक्त होकर दृढ़व्रती होकर मेरा भजन करते हैं।" दशम-स्कन्ध (श्रीमद्भा. १०/४७/२४) में भी कहा गया है—"इस लोकमें जीव दान, व्रत, तपस्या, होम, जप, वेदाध्ययन, संयम तथा अन्यान्य विविध माङ्गलिक अनुष्ठानों द्वारा श्रीकृष्णभक्तिका साधन करते हैं।" योगवाशिष्ठमें भी कहा गया है—"हजारों-हजारों जन्मों तक जिन्होंने तप, ज्ञान और समाधि द्वारा पापोंको नष्ट किया है, उनमें

ही श्रीकृष्णकी भक्ति उत्पन्न होती है।" अतएव इन सभी प्रमाणों द्वारा जाना जाता है कि जिनमें भगवद्भक्ति नहीं है, वे पापी हैं। किन्तु आत्मतत्त्वके ज्ञानमें अनुरक्त व्यक्तियोंका ज्ञान ही भक्ति है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। योगवाशिष्ठ आदिके वचनोंमें व्यक्त हुआ है कि तप, ज्ञान और समाधि ही भक्तिके साधन हैं। श्रीमद्भगवद्गीताके तात्पर्यको निर्धारित करते हुए श्रीधरस्वामीने अपनी टीकाके अन्तमें लिखा है—"ज्ञान भक्तिकी मध्यवर्ती क्रिया मात्र है।" इस विषयमें (श्रीगी. १०/१०) प्रमाण है —"मेरे नित्य-संयोगकी अभिलाषासे जो प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, मैं उन सभी व्यक्तियोंको बुद्धियोग प्रदान करता हूँ, जिसके द्वारा वे मुझे प्राप्त करते हैं।", (श्रीगी. १३/१८)—"मेरे भक्त इन सब तत्त्वोंको जानकर मेरे भावको प्राप्त करते हैं।" इत्यादि। "ज्ञान ही भक्ति है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता तथा यह युक्तिसङ्गत भी नहीं है।" तथा (श्रीगी. १८/५४-५५) में कथित है—"वे सभी प्राणियोंके प्रति समदर्शी होकर प्रेमलक्षणयुक्त मेरी भक्ति प्राप्त करते हैं।" और "वे भक्तिके प्रभावसे मेरे स्वरूप और सर्वव्यापी (मेरी विभूतियों) ब्रह्मभावसे तत्त्वतः अवगत होकर अन्तमें मुझे ही प्राप्त करते हैं।" इत्यादि प्रमाणोंसे ज्ञान और भक्तिमें भेद दिखलायी देता है। अतएव यह निर्धारित हुआ कि आत्मतत्त्वके उपासक संन्यासी समस्त भक्तोंसे भिन्न हैं।

चतुर्थ-स्कन्ध (श्रीमद्भा. ४/२२/३९) में श्रीपृथुके प्रति सनत् कुमारने कहा—"श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंके पत्रों (पत्तों) के समान अङ्गुली-दलकी कान्तिका भक्ति सहित स्मरण करते-करते भक्तगण जिस प्रकार अनायास ही कर्म-वासनामय हृदयकी ग्रन्थियोंका छेदन करते हैं, विषयोंसे निर्लिप्त योगी इन्द्रियोंको संयमित करके भी उस प्रकार सहज रूपमें हृदय-ग्रन्थिका छेदन नहीं कर पाते हैं। अतएव इन्द्रिय-निग्रहकी चेष्टा त्यागकर तुम श्रीवासुदेवका भजन करो।" तात्पर्य यह है कि श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंकी अङ्गुलियोंका विलास अर्थात् कान्तिका स्मरण अथवा 'विलास' कहनेसे श्रीवृन्दावन आदिसे सम्बन्धित उनकी लीलाओंके श्रवण, कीर्त्तन, स्मरणरूप भक्तिको प्रकाश करके भक्तगण अपनी हृदय-ग्रन्थिका छेदन करते हैं, किन्तु

संन्यासी ऐसा नहीं कर पाते हैं। श्रीकपिलदेवने भी अपनी माताके प्रति ऐसा ही कहा है, अर्थात् सभी साधनोंको बतलानेके उपरान्त समस्त साधनोंका सार बतलाया है (श्रीमद्भा. ३/२८/६)—'वैकुण्ठलीलाभि-ध्यानम्' (इस लीलाका ध्यान करनेसे श्रीभगवान्में चित्त लग जाता है, किन्तु यह भी लीला-ध्यानका गौण फल है, मुख्यफल तो श्रीभगवान्में प्रीति होना है।) अथवा 'विलास' कहनेसे श्रीभगवान्के महाप्रसादरूपी अन्न आदिका भक्षण तथा नृत्य-गीत आदि रूप जो भक्ति है, उसके द्वारा ही साधु भक्त कर्मके संस्कार अर्थात् अहङ्काररूप हृदय-ग्रन्थि अथवा संसार-बन्धनको छेदन करते हैं, किन्तु संन्यासी अपनी इन्द्रियोंके स्रोतको रोककर भी भक्तोंके समान कर्म-वासनाओंका छेदन नहीं कर पाते हैं, केवल लेशमात्र ही अपने बन्धनको शिथिल कर पाते हैं। अथवा केवल साधु ही सम्पूर्ण रूपसे हृदय-ग्रन्थिका छेदन कर पाते हैं, किन्तु संन्यासी नहीं—यही 'तद्वत्' शब्दका अर्थ है। अथवा श्रीमद्भागवत (१०/२/३३) में कथित है—"हे माधव! हे प्रभो! आपके साथ प्रीतियुक्त सम्बन्ध रखनेवाले परम भागवत कभी भी भक्ति पथसे भ्रष्ट नहीं होते हैं, अपितु वे आपके द्वारा सब प्रकारसे सुरक्षित होकर निर्भयतासे विघ्न उत्पन्न करनेवालोंके सरदारोंके सिरपर पद रखकर विचरण करते हैं।" यहाँपर—"वे भ्रष्ट नहीं होते, किन्तु किञ्चित् भ्रष्ट हो सकते हैं"—ऐसा अर्थ करना सङ्गत नहीं है, क्योंकि वे माधवके स्नेहरूपी पाशमें बद्ध होनेके कारण कभी भी भ्रष्ट नहीं होते हैं—यही सज्जन पुरुषोंका सिद्धान्त है। जिस प्रकार 'स्रोत' अर्थात् गङ्गा आदि नदियोंके स्रोतको कभी भी रोका नहीं जा सकता, उसी प्रकार इन्द्रियोंको भी नहीं रोका जा सकता। यद्यपि किसी प्रकारसे गङ्गा आदिका स्रोत रोका तो जा सकता है, तथापि स्रोतको नष्ट नहीं किया जा सकता। अर्थात् जैसे स्रोतको रोकनेसे जल प्रवाह स्तब्ध होकर उसी स्थानपर ही भर जाता है, उसी प्रकार इन्द्रियोंकी वृत्तिका वेग रोकनेसे कभी न कभी उस वेगकी वृद्धि होनेसे संन्यासियोंका भी पतन हो जाता है। इसका कारण है कि संन्यासियोंने शून्य-स्वरूप आत्मतत्त्वमें अपनी मति अर्पण की है। जैसा कि दशम-स्कन्ध (श्रीमद्भा. १०/८७/२९) में श्रुतियोंने भगवत्-स्तुतिमें

ब्रह्मत्व-स्वरूपका वर्णन किया है—"परमकारुणिक आकाशकी भाँति सर्वत्र समभावसे अवस्थित होनेके कारण आपकी उपमा आकाशसे की गयी है तथा उसीकी भाँति निर्लेप होनेके कारण न तो कोई आपका अपना है और न ही पराया। वास्तवमें आपका स्वरूप मन और वाणीके लिए अगम्य है।" अथवा 'रिक्त' कहनेका अर्थ है कि जिनकी मति शून्यमें है, वे बुद्धिहीन हैं, क्योंकि भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंकी भक्तिको त्यागकर वे शून्य या आत्म-उपासना करते हैं।

अतएव पूर्व उद्धृत श्लोक (श्रीमद्भा. ४/२२/३९) में 'सन्त' (सत्) शब्दके प्रयोग द्वारा भक्तोंके अलावा अन्योंका असत्व ध्वनित हो रहा है। ऐसे वसुदेवनन्दन स्वरूपकी 'अरण' अर्थात् शरण 'भज' अर्थात् ग्रहण करो। 'अरण' पद द्वारा संन्यासियोंका शरणरहित होना ध्वनित हो रहा है, क्योंकि भगवान्‌के आश्रयसे रहित होकर वे अनाथ हो जाते हैं। किन्तु भक्त सनाथ हैं, इसलिए वे अत्यधिक निर्भय होकर सभी इन्द्रियोंकी वृत्तिका विस्तार करके सब प्रकारसे अपने प्रभुका भजन करते हुए संसाररूपी बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं—इस विषयमें और अधिक क्या कहा जा सकता है? ऐसे भक्त प्रतिक्षण मुक्त पुरुषोंके लिए भी दुर्लभ नित्य नवीन मधुरसे भी मधुर प्रचुर आनन्दको प्राप्त करते हैं। इस विषयमें पहले ही निरूपण किया जा चुका है। संन्यासी अत्यधिक प्रयत्न करके भी जिस संसाररूपी सागरको पार नहीं कर पाते, श्रीभगवान्‌के भक्तगण अनायास ही सुखपूर्वक उसको पार कर लेते हैं। इसका कारण है कि श्रीमद्भागवत (३/५/३९) में देवताओंने भी कहा है—"हे देव! हम आपके चरणकमलोंकी वन्दना करते हैं। ये अपनी शरणमें आये हुए जीवोंका ताप दूर करनेके लिए छत्रके समान हैं तथा इनका आश्रय लेनेसे संन्यासी अनन्त संसार-दुःखको अनायासमें ही दूरसे परित्याग कर देते हैं।" तात्पर्य यह है कि संन्यासी भी श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंके तलका आश्रय करके भक्तोंकी ही भाँति महान संसार दुःखको अनायासमें ही दूर फेंक देते हैं। किन्तु जिन्होंने भगवान्‌के श्रीचरणकमलोंका आश्रय लिया है, उन्हें कभी भी संन्यासी नहीं कहा जा सकता, बल्कि वे तो परम भक्तके रूपमें ही जाने जाते हैं। तथापि उन्हें संन्यासी

शब्द द्वारा सम्बोधित करनेका कारण है कि उन्होंने सबकुछ त्यागकर श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंका आश्रय ग्रहण किया है। अर्थात् वे केवल घर आदिको परित्याग करनेकी निष्ठाको सुदृढ़ करनेके लिए ही संन्यास ग्रहण करते हैं। अर्थात् केवल उनका वेश ही संन्यासियों जैसा है। तथा जो आत्माको ही भगवान् श्रीनारायणका स्वरूप मानकर आत्माके अलावा देखे और सुने हुए सभी पदार्थोंको मेरी माया द्वारा कल्पित तथा मुझमें ही आरोपितकर मायावादके अनुसार अद्वैत-बोधमात्रमें रत होते हैं, वे ही अद्वैतपर वेदान्तके सिद्धान्तानुसार संन्यासी कहलाते हैं। वे ही उक्त उद्धृत श्लोक (श्रीमद्भा. ४/२२/३९) के 'सत्'—शब्द वाच्य भक्तोंसे भिन्न हैं। उनके पाप क्षीण नहीं हुए हैं तथा वे विषयोंमें अनुरक्त होनेके कारण मूर्ख होनेपर भी अपने आपको पण्डित समझकर अभिमान करते हैं। अतएव ऐसे दैत्य स्वभाववाले व्यक्तियोंके लिए ही इन वचनोंका प्रयोग सुना जाता है।

दशम-स्कन्धकी देवस्तुति (श्रीमद्भा. १०/२/३२) में भी कहा गया है (यदि कोई कहे कि श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंका आश्रय लेनेकी आवश्यकता ही क्या है, क्योंकि शुष्क ज्ञानके द्वारा ही तो भवसागरसे पार हुआ जा सकता है। इसके उत्तरमें कह रहे हैं)—"हे कमललोचन! जो समस्त व्यक्ति अपनेको 'मुक्त' मानकर अभिमान करते हैं, आपके प्रति उनकी प्रीति न होनेके कारण उनका चित्त मलिन है। वे समस्त व्यक्ति अत्यन्त कष्ट द्वारा मोक्षके निकट पहुँचकर भी आपके श्रीचरणकमलोंका अनादर करनेके कारण वहाँसे पतित होते हैं।" इस प्रकार (श्रीमद्भा. १०/८७/३९) में श्रुतियों द्वारा की गयी स्तुतिमें भी कहा गया है—"हे भगवन्! कोई व्यक्ति यदि अपने गलेमें पहने हुए मणिके हारके विषयमें भूल जाये, तब वह जिस प्रकार उस हारको अप्राप्त ही मानता है, उसी प्रकार आपके द्वारा संन्यासियोंके हृदयमें अन्तर्यामी रूपमें विराजित रहनेपर भी उनके हृदयकी विषय-वासनाओंके जड़से न उखड़ जाने तक उनके लिए आपको प्राप्त करना अत्यन्त कठिन ही होता है। इन्द्रिय तर्पणमें रत वैसे कपट योगी मृत्युके धर्मसे अवगत न होनेके कारण पूजा-प्रतिष्ठा-धन-प्राप्तिके क्लेशवशतः इस लोकमें (वर्त्तमानमें) भोग-वैभवके प्राप्त

न होनेका भयरूप दुःख तथा आपके स्वरूपको प्राप्त न करनेके कारण स्वधर्मके उल्लंघनसे नरक प्राप्तिवशतः परलोक (भविष्य) में भी दुःख ही प्राप्त करते हैं।" इस प्रकार वाशिष्ठमें भी कहा गया है—"जो अज्ञ (मूर्ख) हैं अथवा आधे प्रबुद्ध (जानकार) हैं (अर्थात् जिनका ज्ञान पूर्णता दग्ध हो चुका है), वे यदि 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' कहे भी तो उस अपराधके फलस्वरूप उन्हें घोर नरकमें जाना पड़ता है।" ब्रह्मवैवर्त्त पुराणमें भी कहा गया है—"विषयोंके प्रति ममतायुक्त होकर जो 'मैं ब्रह्म हूँ'—ऐसा अभिमान करते हैं, करोड़ों-करोड़ों कल्पों तक उन्हें सैकड़ों नरकोंमें सड़ना पड़ता है।" पुराणोंमें भी ऐसी उक्तियाँ देखी जाती हैं—"सांसारिक सुखोंमें लिप्त व्यक्ति यदि अपनेको 'मैं ब्रह्म हूँ' कहता है तो कर्म और ब्रह्मसे पूर्णता भ्रष्ट उस व्यक्तिको चण्डालके समान दूरसे परित्याग करना चाहिये।" इस विषयमें और अधिक कहना अनावश्यक है।

अब प्रस्तावित (मूल) श्लोकका अनुसरण कर रहे हैं। उस महत्सङ्गके माहात्म्यके प्रभावसे भगवद्भक्तिके माहात्म्यको न जाननेवाला ब्राह्मण भी उसी क्षण अर्थात् शीघ्र ही कृतार्थ हो गया। जिस अभीष्टको श्रीसरूपने बहुत प्रयत्न तथा अनेक समयके बाद प्राप्त किया था, उस सम्पूर्ण फलको अर्थात् श्रीसरूपकी भाँति ही वह वस्तु उस ब्राह्मणको साधुसङ्ग मात्रसे ही प्राप्त हो गयी। अतएव समस्त प्रकारके साधनोंका निरूपण करनेवाले प्रसङ्गमें पहले इस महत्सङ्गका माहात्म्य नहीं कहा गया, क्योंकि वास्तवमें महत्सङ्ग ही समस्त साधनोंमें श्रेष्ठ होनेके कारण परम साध्य वस्तुके अन्तर्गत है॥१४॥

तद्वन्महाप्रेमरसार्णवाप्लुत-
स्तत्तद्विकारोर्मिभिराचितो भृशम्।
हा कृष्ण कृष्णेति किशोरशेखरं,
तं दर्शयस्वेति रुराव स द्विजः॥१५॥

श्लोकानुवाद—वह ब्राह्मण भी श्रीसरूपकी भाँति महा-प्रेमरूपी रसके सागरमें डूब गया और प्रेमके विकारोंकी तरङ्गोंसे रञ्जित होकर "हा कृष्ण! हा कृष्ण!" कहते हुए रोता हुआ श्रीसरूपसे प्रार्थना करने लगा—मुझे उस किशोर-शेखरका एकबार दर्शन करा दीजिये॥१५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेव दर्शयति—तद्वदित्यादिना सरूपवदित्यन्तेन। श्रीसरूपवत् महाप्रेमरसस्य अर्णवे आप्लुतः सम्यङ्निमग्नः सन्; तेषां तेषामत्यनिर्वचनीयानां स्वेदकम्पपुलकाश्रुपातादीनां प्रेमविकाराणाम् ऊर्मिभिः परम्पराभिराचितो व्याप्तः स माथुरो विप्रो भृशं रुराव उच्चैःशब्दमरुदत्; कथम्? 'हा कृष्ण कृष्ण' इत्येवम्। किञ्च, तं किशोरं दर्शयस्वेत्येवञ्च॥१५॥

भावानुवाद—श्रीसरूपकी कृपासे श्रीसरूपकी ही भाँति वह ब्राह्मण भी कृतार्थ हो गया—इसे प्रदर्शित करनेके लिए श्रीपरीक्षित् 'तद्वद्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। श्रीसरूपकी तरह वह माथुर ब्राह्मण भी महा-प्रेमरसके सागरमें सम्पूर्ण रूपसे निमग्न हो गया तथा उनके समान ही अत्यन्त अनिर्वचनीय स्वेद, कम्प, पुलक और अश्रुपात आदि प्रेमके विकारोंकी धारासे व्याप्त होकर "हा कृष्ण! हा कृष्ण!" तथा "उन किशोर शेखरका दर्शन कराओ"—ऐसा कहते-कहते उच्च स्वरसे क्रन्दन करने लगा॥१५॥

तृणं गृहीत्वा दशनैः सकाकु,
नमन्नपृच्छत् स सरूपमेव।
चरस्थिरप्राणिगणांश्च कृष्णः,
कुतोऽस्ति दृष्टोऽत्र किमु त्वयेति॥१६॥

श्लोकानुवाद—तदुपरान्त वे ब्राह्मण दाँतोंमें तिनका धारण करके श्रीसरूपके दोनों चरणोंको पकड़कर तथा चराचर सभी प्राणियोंको भी प्रणाम करते हुए व्याकुल भावसे दीनतापूर्वक उनसे पूछने लगा—"कृष्ण कहाँ हैं? क्या आपने उन्हें देखा है?"॥१६॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, स द्विजः सरूपमेव तं चरस्थिरप्राणिगणांश्च प्रणमन् काक्वा भयशोकार्त्तिध्वनिविकारेण सहितं यथा अपृच्छत्; किम्? तदाह—कृष्णः कुत्रास्ति? अत्र त्वया किमु कृष्णो दृष्टोऽस्तीति॥१६॥

भावानुवाद—तदुपरान्त कह रहे हैं कि वह ब्राह्मण श्रीसरूपको तथा चराचर सभी प्राणियोंको प्रणाम करते-करते व्याकुल होकर दीनतापूर्वक अर्थात् भय, शोक और दुःखपूर्ण ध्वनिके विकारों सहित उनसे पूछने लगा—"कृष्ण कहाँ हैं? क्या आपने यहाँ कृष्णको देखा है?"॥१६॥

नामानि कृष्णस्य मनोरमाणि,
संकीर्त्तयंस्तस्य पदौ गृहीत्वा।
प्रेमाब्धिमग्नस्य गुरो रुरोद,
तत्प्रेमदृष्ट्या विवशस्य विप्रः॥१७॥

श्लोकानुवाद—फिर वह श्रीकृष्णके मनोरम नामोंका संकीर्त्तन करते-करते अपने गुरुदेव श्रीसरूपके चरणकमलोंको पकड़कर रोने लगा। तब श्रीसरूप भी ब्राह्मणके प्रेमको देखकर प्रेम-समुद्रमें निमग्न हो गये। इस प्रकार दोनों ही महाप्रेमके वेगमें विवश हो गये॥१७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तन्महाप्रेमरसार्णवमग्नतया एवान्तरङ्गलक्षणं दर्शयन् गुरुशिष्ययो-र्द्वयोरपि तयोः प्रेमभरविवशत्वमाह—नामानीति। मनोरमाणि स्वप्रियाणीत्यर्थः; अथवा कृष्णस्येव मनःसुखकराणीत्यर्थः। तस्य सरूपस्य पदौ गृहीत्वा विप्रो रूरोद, यतः गुरोरुपदेष्टुः; कीदृशस्य? तस्य विप्रस्य प्रेम्णो दर्शनेन, प्रेमाब्धौ मग्नस्य च; अतएव विवशस्य; यद्वा, स्वत एव सदा प्रेमाब्धिमग्नस्य विशेषतश्चाधुना तत्प्रेमदृष्ट्या विवशस्य॥१७॥

भावानुवाद—उस ब्राह्मणके महाप्रेमरसके सागरमें निमग्न होनेके अन्तरङ्ग लक्षणोंका प्रदर्शनकर अब गुरु और शिष्य दोनोंकी ही उस प्रेम-प्रचुरताकी विवशताके विषयमें बतलानेके लिए 'नामानि' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। यहाँ 'मनोरम' कहनेका अर्थ है—अपनेको प्रिय लगनेवाले श्रीकृष्णके समस्त नाम। अथवा श्रीकृष्णके मनको सुख प्रदान करनेवाले उनके मनोरम नामोंका संकीर्त्तन करते-करते श्रीसरूपके दोनों चरणको धारण करके वह विप्र रोने लगे, क्योंकि श्रीसरूप गुरु (उपदेष्टा) हैं। श्रीसरूप (गुरु) की अवस्था कैसी है? विप्र (शिष्य) के प्रेमका दर्शन करके वे भी प्रेमरूपी महासागरमें निमग्न हो गये, अतएव विवश हो गये। अथवा स्वभावसे ही श्रीसरूप (गुरु) सदैव प्रेमरूपी समुद्रमें निमग्न रहते हैं, किन्तु विशेषतः अब विप्रके प्रेमका दर्शन करके अधिक विवश हो गये॥१७॥

क्षणान्महाप्रेमजवेन यन्त्रितो,
वने महोन्मत्तवदुत्थितो भ्रमन्।
विमूर्छितस्तत्र स कण्टकाचिते,
करीरकुञ्जे निपपात माथुरः॥१८॥

श्लोकानुवाद—क्षणकालके बाद वह माथुर-ब्राह्मण प्रेमके महान वेगसे विवश होकर उन्मत्तकी भाँति उसी वनमें भ्रमण करने लगा और फिर काँटोंसे भरे एक करील-कुञ्जमें मूर्च्छित होकर गिर पड़ा॥१८॥

दिग्दर्शिनी टीका—क्षणादुत्थितः स माथुरः; तत्र तस्मिन्नेव वने॥१८॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥१८॥

मातः सपद्येव विमिश्रिता गवां,
हम्बारवैर्वेणु-विषाणनिक्कणाः ।
तौम्बेयवीणादलवाद्यचर्चिता,
जाता गभीरा मधुरा विदूरतः॥१९॥

श्लोकानुवाद—हे मातः! उसी समय दूरसे गौओंके रम्भानेके शब्दोंसे मिश्रित तथा तम्बूरा, वीणा और पत्तोंसे बने वाद्य यन्त्रोंकी ध्वनिसे मिलित गम्भीर तथा मधुर वेणु और शृङ्ग आदिकी ध्वनि सुनाई पड़ने लगी॥१९॥

दिग्दर्शिनी टीका—हे मातरिति परमाश्चर्येण सम्बोधनम्। सपदि तत्क्षण एव गभीरा मधुराश्च वेणुनां विषाणानाञ्च शृङ्गाणां निक्काणा नादा विदूरे जाताः प्रादुर्भूताः; कथम्भूताः? गवां हम्बेति रावैर्विमिश्रिताः; किञ्च, तौम्बेयीनां तुम्बी-सम्बन्धिनीनां वीणानां दलानाञ्च पत्राणां वाद्यैश्चर्चिता मिलिताः॥१९॥

भावानुवाद—'हे मातः!'—यह सम्बोधन परम आश्चर्य सहित किया गया है। उसी क्षण ही अत्यन्त गहन और मधुर वेणु और शृङ्गकी ध्वनि दूरसे आने लगी। वह ध्वनि कैसी थी? वह ध्वनि गौओंके रम्भानेके स्वरसे मिश्रित और तम्बुरा, वीणा दल और पत्तों द्वारा बने हुए वाद्य यन्त्रोंकी ध्वनिसे मिलित थी॥१९॥

तौ प्रापितौ बोधममीभिरुत्थितौ,
तद्दीर्घनादाभिमुखेऽभ्यधावताम् ।
गोपालदेवं तमपश्यतामथो,
सुश्यामगात्रद्युतिमण्डलोज्जवलम् ॥२०॥

श्लोकानुवाद—उस मधुर गम्भीर ध्वनिको सुनते ही वे दोनों चेतनता प्राप्त करके उठे तथा उस ध्वनिकी दिशाकी ओर ही भागने लगे। वहाँपर उन्होंने अत्यन्त सुन्दर श्याम अङ्गोंकी कान्तिके मण्डल (पुञ्ज) द्वारा प्रकाशमान श्रीगोपालदेवका दर्शन किया॥२०॥

दिग्दर्शिनी टीका—अमीभिर्निक्कणैर्बोधसंज्ञां प्रापितौ सन्तौ गुरुशिष्यौ। तस्य दीर्घस्य अत्युच्चस्य नादस्य अभिमुखे अभितोऽधावताम्। अथोऽनन्तरं तं परममनोहरं निजेष्टतमं वा गोपालदेवं श्रीकृष्णमपश्यताम्; कीदृशम्? सुश्यामगात्रद्युतीनां मण्डलेनोज्ज्वलं प्रकाशमानम्॥२०॥

भावानुवाद—उस वेणु-वीणा आदिकी ध्वनिके प्रभावसे गुरु और शिष्य सचेत हुए तथा उस अति उच्च ध्वनिकी दिशाकी ओर भागने लगे। तत्पश्चात् उन्होंने परम मनोहर अपने इष्टदेव गोपालदेव श्रीकृष्णका दर्शन किया। वे श्रीकृष्ण कैसे थे? अत्यन्त सुन्दर श्याम अङ्गोंकी कान्तिके पुञ्ज द्वारा समुज्ज्वल अर्थात् प्रकाशमान थे॥२०॥

पशून् पयः पाययितुं वयस्यैः,
समं विहर्त्तुं तरणेः सुतायाम्।
गजेन्द्रलीलार्चितनृत्यगत्या-,
न्तिके समायान्तमनन्तलीलम्॥२१॥

श्लोकानुवाद—गौओंको श्रीयमुनाजीका जलपान करवानेके लिए तथा ग्वालबालोंके साथ विहार करनेके लिए गजेन्द्रकी गतिको निन्दित करनेवाली नृत्ययुक्त गतिका विस्तार करते हुए अनन्त लीलाएँ करनेवाले वे श्रीकृष्ण निकट आने लगे॥२१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तमेव पुनर्विशिनष्टि—पशूनिति द्वादशभिः। अन्तिके तयोर्निकट एव समायान्तम्; कथम्? गजेन्द्रलीलार्चितया नृत्ययुक्तया गत्या; किमर्थम्? तरणेः सुतायां श्रीयमुनायां पशून् गवादीन् पयः पाययितुम्; किञ्च, वयस्यैर्गोपकुमारैः समं विहर्तुञ्च। न च केवलं तत्तदर्थमेव, किन्तु श्रीगोपिकानां नौकया पारोत्तारणाद्यर्थ-मपीत्याशयेनाह—अनन्ता लाला क्रीड़ा यस्य तम्। यद्वा, अनेनागमनसमय एव क्रियमाणा जन्तुरुतानुकरण-कन्दुकक्रीड़ादि-विचित्रविहारश्रेणी लक्ष्यते॥२१॥

भावानुवाद—अब श्रीकृष्णके वनमें आगमनकी लीलाके प्रसङ्गमें उनकी रूप-माधुरी आदिका विस्तृत रूपमें वर्णन करनेके लिए 'पशुन्'

इत्यादि द्वादश श्लोकोंकी अवतारणा हुई है। वे भगवान् गुरु-शिष्यके समीप आगमन करने लगे। किस प्रकारसे? गजेन्द्रकी गतिको भी तिरस्कार करनेवाली नृत्ययुक्त गति सहित। किसलिए? श्रीयमुनामें गौओं आदि पशुओंको जलपान कराने तथा यमुनाके जलमें गोपबालकोंके साथ विहार करनेके लिए। केवल इसीके लिए ही नहीं, अपितु श्रीगोपियोंको नौकाके माध्यमसे तटपर उतारने (अर्थात् मानसीगङ्गा आदिमें हुई नौका-विहार लीला) के उद्देश्यसे भी कह रहे हैं कि जिनकी अनन्त लीलाएँ हैं, वे भगवान् आगमन करने लगे। अथवा आगमनके समय गेंद खेलते-खेलते, सिंह-बाघ-हिरण आदि जन्तुओंके स्वरका अनुकरणरूप विचित्र लीलाओंको प्रकट कर रहे थे॥२१॥

स्वकीयकैशोर-महाविभूषणं,
विचित्रलावण्यतरङ्गसागरम् ।
जगन्मनोनेत्रमुदां विवर्धनं,
मुहुर्मुहुर्नूतनमाधुरीभृतम् ॥२२॥

श्लोकानुवाद—(उन्होंने देखा कि) श्रीगोपालदेव अपनी किशोर अवस्थारूप महा-विभूषणसे विभूषित हैं तथा विचित्र लावण्यकी तरङ्गोंके सागरस्वरूप हैं। वे समस्त जगत्के मन और नेत्रोंके आनन्दको वर्द्धित करनेवाली और क्षण-क्षणमें नव-नवायमान रूपमें प्रकटित हो रही श्रीअङ्गोंकी माधुरीसे परिपूर्ण हैं॥२२॥

दिग्दर्शिनी टीका—स्वकीयकैशोरमेव महद्विभूषणं यस्य तम्; विचित्रस्य लावण्यस्य तरङ्गः परम्परा तस्य सागरम्; जगतो मनोनेत्राणां मुद आनन्दाः, गौरवे वैचित्र्यां वा बहुत्वं, तासां विवर्धनम्; मुहुर्मुहुः प्रतिक्षणं नूतनाभिर्माधुरीभिः भृतं पूर्णम्॥२२॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२२॥

निःशेषसल्लक्षण-सुन्दराङ्गं,
नीपावतंसं शिखिपिच्छचूड़म्।
मुक्तावलीमण्डितकम्बुकण्ठं,
कौशेय-पीताम्बरयुग्मदीप्तम् ॥२३॥

श्लोकानुवाद—उनके सुन्दर अङ्ग समस्त प्रकारके सत्-लक्षणों द्वारा परिसेवित हैं, कदम्बके पुष्प उनके कानोंके भूषण हैं तथा मस्तकपर मयूरके पंखोंसे निर्मित मुकुट है। उनका शंखके समान कण्ठ मोतियोंकी मालाओंसे विभूषित हैं तथा वे दीप्तिशाली रेशमी पीतवस्त्र धारण किये हुए हैं॥२३॥

दिग्दर्शिनी टीका—निःशेषैः सल्लक्षणैः सामुद्रकाद्युक्त-पञ्चसूक्ष्मत्वादिद्वात्रिंशन्महापुरुषलक्षणैः सुन्दराणि अङ्गानि यस्य तम्; तथा चोक्तम्—*"पञ्चसूक्ष्मः पञ्चदीर्घः सप्तरक्तः षडुन्नतः। त्रिह्रस्वपृथुगम्भीरो द्वात्रिंशल्लक्षणो महान्॥"* इति। नीपे कदम्बपुष्पे अवतंसौ कर्णभूषणे यस्य; शिखिपिच्छावृतं शिखण्डनिर्मितमौलिकमित्यर्थः। मुक्तावल्या मौक्तिकहारेण मण्डितः कम्बुवत् त्रिरेखाङ्कितः कण्ठो यस्य; कौशेयपीताम्बरस्य युग्मेन परिधानोत्तरीयरूपेण दीप्तं शोभितम्॥२३॥

भावानुवाद—उन श्रीगोपालदेवके अङ्ग सब प्रकारके सुलक्षणों अर्थात् सामुद्रिक शास्त्रोंमें कहे गये—पाँच सूक्ष्म (त्वचा, केश, रोम, दन्त, अङ्गुली), पाँच दीर्घ (नासा, नेत्र, भुजाएँ, हनु (ठोड़ी), जानु (घुटना)), सात रक्त (नेत्रान्त, पद-करतल, तालु, अधर, ओष्ठ, जिह्वा, नख), छह उन्नत (वक्ष, स्कन्ध, नख, नासा, कटि, मुख), तीन स्थान ह्रस्व अर्थात् लघु (गीव्रा, जंघा, मेहन), तीन पृथु अर्थात् विशाल (कटि, ललाट, वक्ष), तीन गम्भीर (नाभि, स्वर, बुद्धि) इन बत्तीस महापुरुषोंके लक्षणोंसे युक्त सुन्दर अङ्ग हैं। कदम्बके पुष्प उन श्रीभगवान्‌के कानोंके भूषण हैं तथा उनका मस्तक मयूरके पंखोंसे निर्मित मनोहर चूड़ेसे सुशोभित है। शंखके समान तीन रेखाओं द्वारा अङ्कित उनका कण्ठ मुक्ताहारसे मण्डित है तथा वे दीप्तिमान रेशमी पीताम्बर अर्थात् परिधान तथा उत्तरीयसे सुशोभित हो रहे हैं॥२३॥

गुञ्जामहाहारविलम्बभूषितश्रीवत्सलक्ष्म्यालयपीनवक्षसम्।
सिंहेन्द्रमध्यं शतसिंहविक्रमं, सौभाग्यसारार्चितपादपङ्कजम्॥२४॥

श्लोकानुवाद—उनके श्रीवत्स और लक्ष्मी-चिह्नसे सुशोभित विशाल वक्षःस्थलपर गुञ्जाका हार शोभा पा रहा है। उनका कटिप्रदेश (कमर) सिंह जैसा क्षीण तथा पराक्रम सैकड़ों सिंहोंके समान है। विश्वके समस्त सौभाग्यका सार उनके श्रीचरणकमलोंकी पूजा कर रहा है॥२४॥

दिग्दर्शिनी टीका—गुञ्जानां महाहाराणाञ्च; यद्वा, गुञ्जानां ये महाहारास्तेषां विलम्बेन विभूषितं श्रीवत्सलक्ष्म्योरालयञ्च पीनञ्च वक्षो यस्य। सिंहश्रेष्ठस्येव कृशं मध्यं यस्य; अतएव शतानामपरिमितानां सिंहानामिव विक्रमः पराक्रमो यस्य; सौभाग्यस्य परमसौन्दर्यस्य परमलावण्यताया वा सारेण अर्चिते सदाश्रिते पादपङ्कजे यस्य॥२४॥

भावानुवाद—श्रीवत्स और लक्ष्मीके वास-स्थानरूप (अर्थात् दायीं ओरमें दक्षिणावर्त्त श्वेत रोमावलीरूप श्रीवत्स और बायीं ओरमें स्वर्ण रेखाके रूपमें लक्ष्मीका निवास) उनके परिपुष्ट वक्षःस्थलपर गुञ्जाका बना महाहार शोभा पा रहा है। उनका कटिदेश (कमर) श्रेष्ठ सिंहके समान क्षीण है, अतएव उनका पराक्रम भी सैकड़ों सिंहोंके समान है। उनके श्रीचरणकमल परम सौदर्न्य अथवा परम लावण्यके सार द्वारा सर्वदा अर्चित हो रहे हैं॥२४॥

कदम्बगुञ्जा-तुलसीशिखण्ड-प्रवालमालावलिचारुवेशम् ।
कटीतटीराजितचित्रपुष्प-काञ्चीविलम्बाढ्यनितम्बदेशम् ॥२५॥

श्लोकानुवाद—कदम्ब, गुञ्जा, तुलसी, मयूर-पंख तथा मूँगोंकी सुन्दर मालाएँ उनका सुन्दर भूषणस्वरूप हो रही हैं। उनके कटितटपर विराजित विचित्र रङ्गोंके पुष्पोंसे बनी काञ्चीदामके हिलने-डुलनेसे उनके नितम्बस्थल सुशोभित हो रहे हैं॥२५॥

दिग्दर्शिनी टीका—कदम्बादीनां मालाया आवलिरेव चारुर्वेशो भूषणं यस्य; यद्वा, मालावल्या चारुर्वेशश्छन्दो यस्य; कटितट्या राजिताया शोभिताया विचित्राणां विविधानां पुष्पानां काञ्च्या विलम्बेन आढ्यो युक्तो नितम्बदेशो यस्य॥२५॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२५॥

सौवर्णदिव्याङ्गद-कङ्कणोल्लसद्वृत्तायत-स्थूलभुजाभिरामम् ।
बिम्बाधरन्यस्त-मनोज्ञवेणु-वाद्योल्लसत्पद्मकराङ्गुलीकम् ॥२६॥

श्लोकानुवाद—उनकी आजानुलम्बित (घुटने तक लम्बी) घुमावदार-सुडोल भुजाएँ स्वर्णसे निर्मित दिव्य अङ्गद (बाजुबन्द) तथा कङ्कणकी दीप्तिसे अति मनोहर हो रही हैं। उनके हस्तकमलकी अङ्गुलियाँ बिम्बके समान अधरोंपर स्थित मनोहर वेणुका वादन करते हुए उल्लसित होकर नृत्य कर रही हैं॥२६॥

दिग्दर्शिनी टीका—सौवर्णैः सुवर्णरचितैर्दिव्यैः परमोत्तमैरङ्गदकेङ्कणैरुल्लसद्भ्यां च वृत्ताभ्यां भोगि-भोगाकाराभ्याम् आयताभ्याञ्च भुजाभ्यामभिरामम्। बिम्बसदृशाधरे न्यस्तस्य मनोज्ञस्य वेणोर्वाद्येन वादनेन उल्लसन्त्यः पद्मसदृशयोः करयोरङ्गुल्यो यस्य॥२६॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२६॥

स्वोत्प्रेक्षितापौर्विकवेणुगीत–भङ्गीसुधामोहित–विश्वलोकम् ।
तिर्यग्मनाग्लोलविलोकलीला–लङ्कारसंलालितलोचनाब्जम् ॥२७॥

श्लोकानुवाद—वे अपने द्वारा प्रदर्शित अपूर्व वेणुगीत-भङ्गिकी सुधासे समस्त विश्वको विमोहित कर रहे हैं। उनके नेत्र-कमल तिरछी तथा ईषत् चञ्चल चितवनरूप अलङ्कारसे लालित हो रहे हैं॥२७॥

दिग्दर्शिनी टीका—स्वेन आत्मना श्रीगोपालदेवेनैव उत्प्रेक्षिता वितर्किता प्रदर्शिता वा, अतएव अपौर्विकी पूर्वमवृत्ता वेणुगीतभङ्ग्येव सुधा परममादकत्वादिना, तया मोहिता विश्वस्य जगतो लोकाः जनाः विश्वे वा सर्वे लोका भूवनानि येन; तिर्यग्वक्रश्च मनाक् च स्वल्पः अपाङ्गेनावलोकनात् लोलश्च योऽवलोकोऽवलोकनं तस्य लीला भङ्गीविशेष एवालङ्कारस्तेन संलालिते विभूषिते लोचनाब्जे यस्य॥२७॥

भावानुवाद—'स्वेन उत्प्रेक्षिता' अर्थात् श्रीगोपालदेवने अपनी वंशीकी तर्कसे अतीत ध्वनिका प्रदर्शन किया, अतएव उस अपूर्व वेणुगीत-भङ्गिकी सुधा अर्थात् परम मादकतासे विश्वके सभी प्राणियोंको मोहित कर रहे हैं। उनके दोनों नेत्र-कमल तिरछी तथा ईषत् चञ्चल अपाङ्ग-अवलोकन (चितवन) की विशेष लीलाभङ्गीरूप अलङ्कार-रससे लालित हो रहे हैं॥२७॥

चापोपम–भ्रूयुगनर्त्तनश्री–सम्वर्धितप्रेष्यजनानुरागम् ।
श्रीमत्सदास्मेरमुखारविन्द–शोभासमाकृष्टमुनीन्द्रचित्तम् ॥२८॥

श्लोकानुवाद—वे अपनी धनुष जैसी दोनों भ्रूओंके नर्त्तनकी शोभासे सभी भक्तोंके अनुरागको वर्द्धित कर रहे हैं। उनकी निरन्तर मन्द-हास्ययुक्त श्रीमुखकमलकी शोभा आत्माराम मुनियोंके चित्तको भी आकर्षित करनेवाली है॥२८॥

दिग्दर्शिनी टीका—चापोपमस्य नतधनुराकारस्य भ्रूयुगस्य नर्त्तनं, तस्य श्रीः शोभा, तया संवर्धितः प्रेष्यजनानां भक्तानामनुरागो येन; श्रीमतः सदा स्मेरस्य च मुखारविन्दस्य शोभया समाकृष्टानि मूनीन्द्रानामात्मारामाणामपि चित्तानि येन॥२८॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥२८॥

तिलप्रसूनोत्तमनासिकाग्रतो, विराजमानैकगजेन्द्रमौक्तिकम्।
कदापि गोधूलिविभूषितालक-द्विरेफसम्भालनतो लसत्करम्॥२९॥

श्लोकानुवाद—तिलके पुष्पसे भी सुन्दर उनकी उत्तम नासिकाके अग्रभागमें एक गजमुक्ता विराजमान है। गोधूलिसे विभूषित भ्रमरके समान चञ्चल अपनी अलकावलीको सम्भालनेके लिए कभी-कभी उनके करकमल उल्लसित (शोभायमान) हो रहे हैं॥२९॥

दिग्दर्शिनी टीका—तिलप्रसूनादपि उत्तमा शोभमाना नासिका, तस्या अग्रतः अग्रभागे विराजमानमेकं गजेन्द्रसम्बन्धि मौक्तिकं यस्य; तथा चागमे—*"नासाग्रे गजमौक्तिकम्"* इति। कदाचित् यत् गोधूलीविभूषिता अलका एव द्विरेफा भ्रमरास्तेषां सम्भालनं वैदग्धीविशेषेण सम्वरणं तस्माद्धेतोर्लसन् शोभमानः करो यस्य॥२९॥

भावानुवाद—तिलके पुष्पसे भी उत्तम अर्थात् शोभायमान उनकी नासिकाके अग्रभागमें एक गजमुक्ता विराजमान है। आगममें भी कहा गया है—"श्रीभगवान्की नासिकाके अग्रभागमें एक गजमुक्ता विराजमान है।" कभी-कभी गोधूलिसे विभूषित भ्रमरके समान चञ्चल अपनी अलकावलीको सम्भालनेके लिए उनके दोनों हस्तकमल उल्लसित (शोभायमान) हो रहे हैं। इसके द्वारा श्रीकृष्णकी विशेष वैदग्धी ही सूचित हो रही है॥२९॥

सूर्यात्मजामृद्रचितोर्ध्वपुण्ड्र-स्फीतार्धचन्द्राकृतिभालपट्टम्।
नानाद्रिधातु-प्रतिचित्रिताङ्गं, नानामहारङ्गतरङ्गसिन्धुम्॥३०॥

श्लोकानुवाद—नाना प्रकारकी महा-रङ्गमयी लीला (रसिकता) की तरङ्गोंके सिन्धुस्वरूप उन श्रीगोपालदेवने सूर्यपुत्री श्रीयमुनाकी सफेद मिट्टीसे ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक धारण कर रखा है, जिससे उनके अर्धचन्द्रकी आकृतिवाले ललाटकी उज्ज्वल शोभा हो रही है। उन्होंने अपने प्रत्येक अङ्गको पर्वतोंसे प्राप्त नाना प्रकारकी धातुओं (हरिताल, गैरिकादि) से चित्रित कर रखा है॥३०॥

दिग्दर्शिनी टीका—सूर्यात्मजाया श्रीयमुनाया मृदा शुभ्रमृत्तिकया रचितेन ऊर्ध्वपुण्ड्रेण तिलकेन स्फीतः उज्ज्वलः अर्धचन्द्राकृतिर्भालपट्टो यस्य। नानाविधैरद्रि-धातुभिर्गैरिक-हरितालादिभिः कृत्वा प्रतिचित्रितानि प्रतिबिम्बतया प्रतिस्थानं वा चित्रितानि अङ्गानि येन। नानाविधस्य महतो रङ्गस्य क्रीड़ाया रसिकताया वा तरङ्गाणां सिन्धुं सागरम्॥३०॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३०॥

स्थित्वा त्रिभङ्गीललितं कदाचिन्नर्माणि वंश्या बहु वादयन्तम्।
तैर्हासयन्तं निजमित्रवर्गान्, भूमिं पदैः स्वैः परिभूषयन्तम्॥३१॥

श्लोकानुवाद—किसी समय वे त्रिभङ्ग-ललित होकर अवस्थान करते हुए बहुत प्रकारसे लीलापूर्वक वंशीवादन करते हैं और कभी वंशीवादनके माध्यमसे हास-परिहासका विस्तार करके अपने गोप सखाओंको हँसाते हैं। इसी प्रकारसे लीला करते हुए वे अपने असाधारण श्रीचरणचिह्नोंके द्वारा धरातलको विभूषित कर रहे हैं॥३१॥

दिग्दर्शिनी टीका—त्रिभङ्गीभिर्ललितं यथा स्यात्तथा, कदाचित् स्थित्वा बहु यथा स्यात्तथा नर्माणि वंश्या वादयन्तम्; तैश्च नर्मभिर्निजमित्रवर्गान् सङ्गिगोपकुलानि हासयन्तम्; स्वैरसाधारणैः पदैः श्रीचरणचिह्नैरित्यर्थः; भूमिं परितो भूषयन्तम्॥३१॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३१॥

तादृग्वयोवेशवताग्रजन्मना,
नीलांशुकालङ्कृत-गौरकान्तिना ।
रामेण युक्तं रमणीयमूर्त्तिना,
तैश्चात्मतुल्यैः सखिभिः प्रियैर्वृतम्॥३२॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपालदेवके साथ विराजित उनके ज्येष्ठ भ्राता श्रीबलराम उनके ही अनुरूप आयु और वेशसे युक्त तथा नीलाम्बर द्वारा अलंकृत गौरकान्तिवाले होनेके कारण रमणीय मूर्त्ति हैं। श्रीगोपालदेव अपने ही तुल्य प्रिय सखाओं सहित घिरे हुए हैं॥३२॥

दिग्दर्शिनी टीका—अग्रजन्मना ज्येष्ठेन रामेण युक्तम्; कीदृशेन? तादृक् श्रीगोपालदेवसदृशं यद् वयो वेशश्च भूषणं तद्वता, अतएव रमणीया मनोहरा मूर्त्तिः श्रीविग्रहो यस्य तेन। किञ्चिद्वैलक्षण्यमाह—नीलवर्णाभ्यामंशुकाभ्यां वस्त्राभ्यामधिक-

मलङ्कृता शोभिता गौरकान्तिर्यस्य तेन। तैः पूर्वोद्दिष्टैः प्रियैः सखिभिर्गोपकुमारैर्वृतञ्च; कीदृशैः? आत्मतुल्यैर्निरुपमैरित्यर्थः; यद्वा, आत्मना श्रीगोपालदेवेनैव तुल्यैः सदृशैः। एवं तेषामपि परमसौन्दर्यं तथा समानवयोवेशादिकञ्चोक्तम्॥३२॥

भावानुवाद—श्रीगोपालदेवके साथ विराजित ज्येष्ठ भ्राता श्रीबलराम किस प्रकारके हैं? इसके लिए कह रहे हैं कि उनकी भी श्रीगोपालदेवके समान आयु और वेष-भूषण होनेके कारण वे रमणीय अर्थात् अत्यन्त मनोहर मूर्त्ति हैं। परन्तु उनका श्रीगोपालदेवसे किञ्चित् भेद है, इसे निर्देष करते हुए कह रहे हैं—उनकी गौरकान्ति नीलवर्णके वस्त्रों द्वारा सुशोभित है तथा पूर्व उद्दिष्ट प्रिय सखाओं सहित वे श्रीकृष्णको घेरे हुए हैं। वे प्रिय सखागण किस प्रकारके हैं? वे गोपबालक श्रीगोपालदेवके समान निरुपम परम सौन्दर्य और उनके समान आयु-वेशादि द्वारा युक्त हैं॥३२॥

तद्दर्शनोद्भूतमहामुदावलीभारेण गाढ़ेन निपातितौ हि तौ।
दण्डप्रणामार्थमिवाशु पेततुः, सम्भ्रान्तिविध्वंसित-सर्वनैपुणौ॥३३॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णके दर्शनसे परम आनन्दित होकर श्रीसरूप तथा माथुर ब्राह्मण दृढ़तासे उनके सामने भूमिपर इस प्रकार शीघ्र ही गिर पड़े मानो उन्हें दण्डवत प्रणाम कर रहे हों। उस समय श्रीकृष्णके दर्शनसे उत्पन्न सम्भ्रमसे वे समस्त प्रकारकी चातुरीको भूल गये॥३३॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य श्रीगोपालदेवस्य सन्दर्शनेनोद्भूतानां महतीनां मुदाम् आवल्याः श्रेण्या भारेणैव निपातितौ तौ गुरुशिष्यौ आशु पेततुः। इवोत्प्रेक्षायाम्, तच्च दण्डप्रणामार्थमिव। स्तुत्यादिकञ्च किमपि कर्त्तुं न शक्तावित्याह—सम्भ्रान्त्या सम्भ्रमेण विध्वंसितं लोपितं सर्वं नैपुण्यं चातुर्यं ययोस्तौ॥३३॥

भावानुवाद—उन श्रीगोपालदेवके दर्शनसे उदित परम आनन्दकी धाराकी प्रचुरतावशतः वे गुरु और शिष्य शीघ्र ही भूमि तलपर इस प्रकार गिर पड़े मानो उन्हें दण्डवत् प्रणाम कर रहे हों। उस समय उनमें स्तुति इत्यादि कुछ भी करनेका समर्थ नहीं रहा—इसके लिए कह रहे हैं कि श्रीकृष्णके दर्शनसे उत्पन्न सम्भ्रमवशतः उनकी समस्त निपुणता (चातुरी) लुप्त हो गयी॥३३॥

स च प्रियप्रेमवशः प्रधावन्, समागतो हर्षभरेण मुग्धः।
तयोरुपर्येव पपात दीर्घ-महाभुजाभ्यां परिरभ्य तौ द्वौ॥३४॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपालदेव भी अपने प्रियजनोंके प्रेमसे वशीभूत होकर भागते हुए उनके निकट आये तथा प्रचुर हर्षसे मुग्ध होकर अपनी विशाल भुजाओंको पसारकर उन दोनोंको आलिङ्गन करते ही मूर्च्छित होकर गिर पड़े॥३४॥

दिग्दर्शिनी टीका—श्रीभगवानपि तादृश एवाभूदित्याह—स च इति। मुग्धः कर्त्तव्यमजानन्, प्राप्तमोह इति वा॥३४॥

भावानुवाद—श्रीभगवान्‌की भी वैसी ही दशा हुई—इसे बतलानेके लिए 'स च' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। उस समय श्रीभगवान् मुग्ध हो गये अर्थात् अपने कर्त्तव्यको जान नहीं पाये अथवा मोहित (मूर्च्छित) हो गये॥३४॥

प्रेमाश्रुधाराभिरहो महाप्रभुः,
स स्नापयामास कृपार्द्रमानसः।
क्षणात् समुत्थाय करद्वयेन ता-,
वुत्थापयामास चकार च स्थिरौ॥३५॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपालदेवने कृपासे द्रवीभूत चित्तवशतः उन दोनोंको अपने प्रेम-अश्रुकी धाराओंसे नहला दिया। क्षणकालके बाद वे स्वयं उठे और अपने दोनों हाथों द्वारा उन दोनोंको उठाया और स्थिर किया॥३५॥

दिग्दर्शिनी टीका—स महाप्रभुः तौ प्रेमाश्रुभिः स्नापयामास॥३५॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३५॥

सम्मार्जयन्नश्रु रजश्च गात्रे, लग्नं दयालुर्मुहुरालिलिङ्ग।
तत्रैव ताभ्यामुपविश्य भूमौ, वाक्यामृतैर्विप्रमतोषयच्च॥३६॥

श्लोकानुवाद—फिरसे उन दयालु प्रभुने अपने हस्त-कमलोंसे उन दोनोंके अश्रुओंको पोंछा तथा उनके अङ्गोंमें लगी धूलिको मार्जन करते-करते बार-बार उनका आलिङ्गन किया। फिर उन दोनोंके

साथ वहीं भूमिपर बैठकर अपने वचनामृत द्वारा विप्रको सन्तुष्ट किया॥३६॥

दिग्दर्शिनी टीका—अश्रु नेत्रजलं, विप्रस्य द्वयोरेव वा गात्रे शरीरे लग्नं रजश्च सम्मार्जयन्। यत्र समागमोऽभूत् तत्रैव स्थाने ताभ्यां सहोपविश्य॥३६॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३६॥

श्रीभगवानुवाच—

माथुरानुगृहीतार्य विप्रवंशाब्धिचन्द्रमः।
क्षेमं श्रीजनशर्मंस्ते कच्चिद्राजति सर्वतः॥३७॥

श्लोकानुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—हे मथुराके कृपापात्र! हे आर्य (परम साधु)! हे ब्राह्मणवंशरूपी सागरके चन्द्रमा स्वरूप अर्थात् वंशकी महिमाका वर्धन करनेवाले! हे श्रीजनशर्मा! आप सब प्रकारसे कुशल तो हैं?॥३७॥

दिग्दर्शिनी टीका—हे मथुरयानुगृहीत! हे आर्य परमसाधो! हे विप्रवंशाब्धेश्चन्द्रमः! तद्विवर्धन, हे श्रीजनशर्मन्! तत्सङ्ग! कच्चिदिति प्रश्ने। ते तव क्षेमं कुशलं सर्वतो राजते प्रकाशते॥३७॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३७॥

क्षेमं सपरिवारस्य मम त्वदनुभावतः।
त्वत्कृपाकृष्टचित्तोऽस्मि नित्यं त्वद्वर्त्मवीक्षकः॥३८॥

श्लोकानुवाद—हे ब्राह्मण! आपके प्रभावसे मैं सपरिवार कुशल हूँ। आपकी कृपासे आकर्षित होकर मैं नित्यप्रति आपके आगमनके पथकी ओर देखता रहा हूँ॥३८॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं तत्क्षेमम् पृष्ट्वा तत्परितोषणायात्मनः क्षेमं कथयति—क्षेममिति। तच्च तव अनुभावतः प्रभावादेव। तत्कारणमेवाह, किंवा त्वत्समागमादद्य विशेषतो मङ्गलं वृत्तमित्याशयेनाह—त्वयि या मत्कृपा तया, किंवा तव कृपया मद्विषयकानुग्रहेण आकृष्टं चित्तं यस्य तथाभूतोऽस्मि; अतएव त्वद्वर्त्मवीक्षकः, 'कदा समागमिष्यसि?' इत्युन्मुखोऽस्मीत्यर्थः॥३८॥

भावानुवाद—इस प्रकार ब्राह्मणकी कुशलताके विषयमें पूछकर अब श्रीभगवान् उसकी प्रसन्नताके लिए अपनी कुशलताके विषयमें

बतलानेके लिए 'क्षेमं' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। आपके प्रभावसे मैं सपरिवार कुशल हूँ अथवा आपके आगमनके कारण अब यहाँ विशेष मङ्गल है। इसका कारण मेरे प्रति आपकी कृपा है अथवा मेरे प्रति आपकी जो कृपा है, उससे आकृष्ट चित्तवाला होकर मैं आपके आगमनके पथको सदैव सतृष्ण होकर देखता रहा हूँ—"आप कब आयेंगे अर्थात् कब मेरे प्रति उन्मुख होंगे?"॥३८॥

दिष्ट्या स्मृतोऽस्मि भवता दिष्ट्या दृष्टश्चिरादसि।
स्वाधीनोऽस्मि तव ब्रह्मन् रमस्वात्र यदृच्छया॥३९॥

श्लोकानुवाद—अत्यधिक मङ्गलका विषय यह है कि आपने मुझे स्मरण किया है, इसलिए बहुत समयके बाद मुझे आपका दर्शन प्राप्त हुआ है। हे ब्रह्मन्! मैं आपके अधीन हूँ, आप यहाँपर स्वच्छन्द रूपसे विहार कीजिये॥३९॥

दिग्दर्शिनी टीका—यदृच्छया स्वैरितया निजेच्छयेत्यर्थः॥३९॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥३९॥

श्रीपरीक्षिदुवाच—

समग्र–सम्भ्रम–प्रेमानन्दभारेण यन्त्रितः।
नाशकत् प्रतिवक्तुं तं जनशर्मापि वीक्षितुम्॥४०॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षित्‌ने कहा—हे माता! यह सुनकर जनशर्मा नामक माथुर-ब्राह्मण सम्पूर्ण सम्भ्रम और प्रचुर प्रेमानन्दसे वशीभूत होकर उस समय न तो उनसे कुछ कह सका और न ही उनके दर्शन कर सका॥४०॥

दिग्दर्शिनी टीका—समग्रस्य सम्पूर्णस्य सम्भ्रमस्य प्रेम्णश्च आनन्दस्य च, प्रेमरुपानन्दस्य वा भारेण गौरवेण यन्त्रितो वशीकृतः सन् प्रतिवक्तुं प्रत्युत्तरं दातुं तं भगवन्तं वीक्षितुमपि नाशकत्॥४०॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥४०॥

बाष्पसंरुद्धकण्ठः सन्नस्त्रोपहतलोचनः।
परं तच्चरणाम्भोजे मूर्ध्नि धृत्वारुदत्तराम्॥४१॥

श्लोकानुवाद—तब उस ब्राह्मणका कण्ठ वाष्पसे रुद्ध हो गया तथा अश्रुओंसे परिपूर्ण नेत्रोंके कारण उसे कुछ दिखायी नहीं दिया। तत्पश्चात् वे श्रीकृष्णके चरणकमलोंको अपने सिरपर धारण करके जोर-जोरसे रोने लगे॥४१॥

दिग्दर्शिनी टीका—केवलमरुदत्तराम् अत्यन्तं रुरोद, तद्वाक्यश्रवणादिना प्रेमभरोदयात्; किं कृत्वा? तस्य भगवतश्चरणाम्भोजे पादपद्मद्वयं शिरसि धृत्वा निधाय॥४१॥

भावानुवाद—श्रीभगवान्के वचनोंको सुनकर माथुर-ब्राह्मण प्रेमसे परिपूर्ण होकर उनके दोनों चरणकमलोंको अपने सिरपर रखकर जोर-जोरसे अत्यधिक रोदन करने लगा॥४१॥

वदान्यचूड़ामणिरात्मनोऽधिकं,
किमप्यपश्यन् प्रतिदेयमाकुलः।
स्वभूषणानि व्यपकृष्य गात्रतो,
विभूष्य तैस्तं विदधे सरूपवत्॥४२॥

श्लोकानुवाद—वदान्य-चूड़ामणि श्रीकृष्ण अपनेसे अधिक अन्य कोई भी वस्तु देने योग्य न देखकर आकुल होकर अपने श्रीअङ्गोंसे समस्त भूषणोंको उतारकर उस माथुर-ब्राह्मणको सरूपके समान विभूषित करने लगे॥४२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततस्तं विप्रं प्रति श्रीभगवान् परमानुग्रहं कृतवानित्याह—वदान्येति। प्रतिदेयमिति विप्रेणात्मा मय्यर्पितोऽस्ति, मयापि यदि तद्वश्यत्वेन तस्मिन् आत्मैव समर्पणीयस्तदा सामान्यापत्तेर्ममौदार्यं किं नाम सिद्धम्, मत्तोऽधिकञ्च किमप्यन्यद्देयं न दृश्यत इति किं ददामीत्याकुलः सम्भ्रान्तः सन्नित्यर्थः। स्वस्य गात्रेभ्यः स्वस्य भूषणानि व्यपकृष्य बलादुत्तार्य तैर्भूषणैस्तं विप्रं विभूष्य अलङ्कृत्य सरूपमिवाकरोत्, सम्भ्रमेण अन्याप्राप्तेरिव; वस्तुतस्तु स्वस्मादपि स्वभक्तस्य माहात्म्यातिरेकाभिप्रायेणेदमित्यूह्यम्। एवं सरूपस्यापि सारूप्याप्राप्त्येव भगवत्सदृशालङ्कारादि-कमित्यादावुक्तमेवास्ति॥४२॥

भावानुवाद—तदुपरान्त उस विप्रके प्रति श्रीभगवान्की परमकृपाका वर्णन 'वदान्य' इत्यादि श्लोक द्वारा किया जा रहा है। (श्रीभगवान्ने चिन्ता की कि) इस विप्रने मुझे अपनी आत्मा तक समर्पित कर दी

है, अतएव मैं भी यदि इसके वशीभूत होकर इसे आत्म-समर्पण करूँ, तब भी एक समान होनेके कारण मेरी उदारता सिद्ध नहीं होगी। तथा मैं अपने आपसे अधिक प्रतिदेय किसी अन्य वस्तुको देख भी नहीं रहा हूँ, तो फिर कौनसी वस्तु प्रदान करूँ? इस प्रकार उन वदान्य-चूड़ामणि श्रीभगवान्‌ने अपनेसे अधिक प्रतिदेय कोई भी वस्तु नहीं देखनेके कारण आकुल होकर अपने श्रीअङ्गोंसे अपने भूषणोंको बलपूर्वक उतारकर उस विप्रको सरूपके समान विभूषित किया। वास्तवमें "मुझसे भी मेरे भक्तोंका माहात्म्य अधिक है"—इसी अभिप्रायसे ही श्रीभगवान्‌का उक्त व्यवहार समझना चाहिये। इस प्रकार वह विप्र श्रीभगवान्‌के समान अलङ्कार आदिसे विभूषित होकर श्रीकृष्णके सारूप्यको प्राप्त हुए तथा श्रीसरूपके सम्बन्धमें भी भगवान् श्रीकृष्णका सारूप्य प्राप्तकर उनके जैसे ही अलङ्कार आदिसे विभूषित होनेकी बात पहले ही कही जा चुकी है॥४२॥

इत्थमात्मानुरूपां स व्यतनोत् परमां कृपाम्।
जनशर्मापि तेनैव परिपूर्णार्थतां गतः॥४३॥

श्लोकानुवाद—इस प्रकार श्रीकृष्णने उस जनशर्मा-ब्राह्मणपर अपने स्वरूपके अनुरूप परम कृपा की, जिससे उसके समस्त अर्थ परिपूर्ण हो गये अर्थात् वे कृत-कृतार्थ हो गया॥४३॥

दिग्दर्शिनी टीका—इत्थमनेन प्रकारेण, स वदान्यचूड़ामणिर्भगवान् आत्मानुरूपाम् असाधारणां, निजप्रियसहचर-गोपकुमारताप्रतिपादनात्; अतएव परमां कृपां व्यतनोत्। तेन स्वरूपवद्विधानेनैव परिपूर्णा अर्थाः सर्वफलानि यस्य तथाभूततां प्राप्तः, ऐकान्तिनां तद्व्यतिरिक्ते नैरपेक्ष्यात्। तदुक्तमेकादशस्कन्धे (श्रीमद्भा. ११/१४/१४) श्रीभगवतैव—*"न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं, न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्। न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा, मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनाऽन्यत्॥"* इति। अस्यार्थः—रसाधिपत्यं पातालादि-स्वाम्यं, अपुनर्भवं मोक्षमपि मद्विना मां हित्वा अन्यन्नेच्छति। अहमेव तस्य प्रेष्ठ इत्यर्थ इति। अपि च—*"न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम। वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥"* (श्रीमद्भा. ११/२०/३४) इति। अपुनर्भवम् आत्यन्तिकमपि कैवल्यमिति। तृतीयस्कन्धे च श्रीकपिलदेवेन (श्रीमद्भा. ३/२९/१३)—*"सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्यैकत्वमप्युत। दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥"* इति। अस्यार्थः—सालोक्यं मया सह एकलोके

वासं, सार्ष्टिः समानैश्वर्यम्, सामीप्यं निकटवर्तित्वम्, एकत्वं सायुज्यम्, उत अपि, दीयमानमपि न गृह्णन्ति जना मद्भक्ताः, कुतस्तत्कामनेति। अपि च—*"नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहाः। येऽन्योऽन्यतो भागवताः प्रसज्य, सभाजयन्ते मम पौरुषाणि॥"* (श्रीमद्भा. ३/२५/३४) इति। अस्यार्थः—एकात्मतां सायुज्यमोक्षम्, मदर्थमीहा क्रिया येषां ते; प्रसज्य प्रेम्णा आसक्तिं कृत्वा, सभाजयन्ते श्रवणादिना सम्मानयन्ति; पौरुषाणि वीर्याणीति। नवमस्कन्धे (श्रीमद्भा. ९/४/६७) च दुर्वाससं प्रति श्रीभगवता—*"मत्सेवया प्रतीतं ते सालोक्यादिचतुष्टयम्। नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविप्लुतम्॥"* इति। प्रतीतं स्वतःप्राप्तमपि ते मद्भक्ताः, अन्यत् पारमेष्ठ्यादिकम्। दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा. १०/१६/३७) च श्रीनागपत्नीभिः—*"न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं, न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम्। न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा, वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः॥"* इति। तत्रैव श्रीद्रौपदीं प्रति श्रीमहिषीवर्गेण—*"न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भोज्यमप्युत। वैराज्यं पारमेष्ठ्यं वा आनन्त्यं वा हरेः पदम्॥ कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजःश्रियः। कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यं मूर्ध्ना वोढुं गदाभृतः॥"* (श्रीमद्भा. १०/८३/४१-४२) इति। एतयोरर्थः—हे साध्वि! साम्राज्यादि न कामयामहे, किन्तु एतस्य श्रीद्वारकानाथस्य भगवतः श्रीमत्पादरजो मूर्ध्ना वोढुमेव कामयामहे; तत्र साम्राज्यं सार्वभौमं पदम्, स्वाराज्यम् ऐन्द्रपदम्, भोज्यं तदुभयभोगभाक्त्वं, विविधं राजत इति विराट्, तस्य भावः वैराज्यम्, अनिमादिसिद्धिभाक्त्वम्; यद्वा, बह्वृच् ब्राह्मणोक्तक्रमेण प्रागादिदिक्चतुष्टयाधिपत्यानि, साम्राज्य-भोज्य-स्वाराज्य-वैराज्यानि व्याख्येयानि; पारमेष्ठ्यं ब्रह्मपदम्, आनन्त्यं मोक्षम्, हरे पदं वैकुण्ठमपि; तत्पादरज एव किं कामयन्ते? तत्राहुः—*"श्रियः कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यम्"* इति; ब्रह्मादिसेव्यया महालक्ष्म्यापि सेवितत्वादिति भावः। यद्वा, श्रियः कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यमपि तदीयपरमप्रियतम-जनेन सह सापत्न्यविशेषाङ्गीकारेणापि तदेव कामयामह इत्यर्थः। तत्र हेतुः—एतस्येति अनिर्वचनीय-विविध-माधुर्यमहोदधेरित्यर्थः। किंवा एतस्य श्रीदेवकीनन्दनस्येति तस्यान्यरूप-प्रसङ्गो निराकृतः। ततश्च श्रिय इति रुक्मिण्या इत्यर्थः। कामनाहेतुत्वेन च व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्तीति निरन्तरोत्तरश्लोकाद्यपादो द्रष्टव्यः। एवञ्च तासामपि वाञ्छनीयत्वेन परममधुरमहिमभरो ज्ञेयः। ततः परञ्च—*"पुलिन्द्यस्तृण-वीरुधः। गावश्चारयतो गोपाः पादस्पर्शं महात्मनः॥"* (श्रीमद्भा. १०/८३/४३) इति। पादत्रयेण परमदुर्लभमपि तत्पराणां सुलभं स्यादिति तत्र कामना-सम्भावना दर्शिता; तत्र गाव इति गाः; यद्वा, वो महात्मन इति सम्बन्धः। युष्माकं सम्बन्धी पूज्यो वा यो महात्मा महाशयो भगवान् तस्येत्यर्थः। तथाभूतस्यापि गावश्चारयतः सतः पादस्पर्शं यथा पुलिन्द्यादयो गोपाश्च वाञ्छन्ति, तद्वदिति। अथवा श्रियः कुचकुङ्कुमाढ्यमेव, न तु तद्व्यतिरिक्तं केवलं, तथा सति कदाचिदात्मारामत्वादि-प्रसक्त्योदासीनताया अपि सम्भवात्। एवं तस्य परमरसिकतादिकमभिप्रेतम्; अन्यत् पूर्ववदेव; अलमतिविस्तरेण।

अतएव सरूपेणामुना तत्र तत्र तमेव श्रीभगवन्तं प्राप्यापि तत्तल्लीलादिसमेतं श्रीमाथुरव्रजभूमावेव तं द्रष्टुं तादृशप्रयत्नः कृतः। तथा सन्दर्शनस्यैव तदीयसम्यक्प्राप्ति-प्रकारलक्षणत्वात्, भक्तिविशेष-विलास-वैभवरूपत्वाच्च; परममहत्तान्त्यकाष्ठाप्राप्त-सुखविशेषोदयात्मकत्वाच्चेति दिक्॥४३॥

भावानुवाद—इस प्रकार वदान्य-चूड़ामणि श्रीभगवान्ने उस माथुर-ब्राह्मणपर अपने अनुरूप अर्थात् असाधारण कृपा की थी, जिसके फलस्वरूप उसे अपने प्रिय सहचररूपी गोपकुमारता प्राप्त करवायी थी। अतएव इसको परमकृपा ही कहना होगा। विशेषतः श्रीभगवान् द्वारा अपने अनुरूप स्वरूप प्रदान करनेके कारण जनशर्माके समस्त अर्थ परिपूर्ण हो गये थे, अर्थात् उसे समस्त प्रकारके फल प्राप्त हो गये थे। इसका कारण है कि ऐकान्तिक भक्त श्रीभगवान्की सेवाके अलावा अन्य सभी विषयोंके प्रति उदासीन रहते हैं। एकादश-स्कन्ध (श्रीमद्भा. ११/१४/१४) में श्रीभगवान्ने कहा है—"जिन्होंने मुझमें आत्म-समर्पण किया है, वे मुझे छोड़कर अन्य अर्थात् ब्रह्माका पद, इन्द्रपद, सार्वभौम पद (राज-चक्रवर्त्ती), पाताल आदिका स्वामी पद, अणिमा आदि योग-सिद्धियोंकी प्राप्ति, यहाँ तक कि मोक्षकी भी अभिलाषा नहीं करते हैं, क्योंकि केवल मैं ही उनका प्रिय हूँ।" श्रीमद्भागवत (११/२०/३४) में भी कहा गया है—"धीर साधु भक्त एकान्तिक रूपसे मेरे प्रति ही प्रीति रखते हैं, इसलिए मेरे द्वारा दिये जानेवाले आत्यन्तिक (कैवल्य) मोक्षको भी किसी प्रकारसे ग्रहण नहीं करते हैं।" तृतीय-स्कन्ध (श्रीमद्भा. ३/२९/१३) में भी श्रीकपिलदेवने वर्णन किया है—"मेरे भक्तगण सालोक्य (मेरे साथ एक लोकमें वास), सार्ष्टि (मेरे समान ऐश्वर्य), सारूप्य (मेरे समान रूप), सामीप्य (मेरे निकटमें रहना) और एकत्वं (सायुज्य) प्रदान किये जानेपर भी ग्रहण नहीं करते, क्योंकि मेरी अप्राकृत नित्यसेवाके अलावा उनके लिए अन्य कुछ भी प्रार्थनीय नहीं है।" तथा श्रीमद्भागवत (३/२५/३४) में भी कहा गया है—"जो समस्त इन्द्रियों द्वारा मेरे चरणोंकी सेवामें रत हैं, जो मेरे लिए समस्त प्रकारकी चेष्टाएँ करनेवाले हैं तथा जो परस्पर एकत्रित होकर आसक्ति सहित एकमात्र मेरी वीर्यवती कथाओंके श्रवण-कीर्त्तन आदिका सम्मान करते हैं, वैसे भागवतगण

कभी भी मेरे साथ एकात्मरूप सायुज्य मुक्तिकी कामना नहीं करते हैं।" नवम-स्कन्ध (श्रीमद्भा. ९/४/६७) में श्रीदुर्वासाके प्रति भी श्रीभगवान्‌की उक्ति इसी प्रकार है—"मेरे भक्तोंके लिए मेरी सेवाके आनुषङ्गिक फलस्वरूप सालोक्य आदि चार प्रकारकी मुक्तियोंके स्वयं उपस्थित होनेपर भी वे उन्हें ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं करते, क्योंकि वे मेरी सेवामें ही परितृप्त रहते हैं। अतएव उनके द्वारा कालके अधीन अन्य किसी वस्तुकी अभिलाषा करनेके विषयमें फिर क्या कहा जा सकता है?" अर्थात् मेरे भक्त जब स्वतः प्राप्त मोक्ष आदिको ही ग्रहण नहीं करते, तो फिर नश्वर ब्रह्मा आदिके पदके विषयमें क्या कहूँ? दशम-स्कन्ध (श्रीमद्भा. १०/१६/३७) में श्रीनाग-पत्नियाँ कहती हैं—"जो आपकी चरणरजमें शरणागत हैं, वे स्वर्गलोक, सार्वभौम (राज-चक्रवर्त्ती) पद, ब्रह्मपद, पाताल आदिका स्वामी पद, योगसिद्धि, यहाँ तक कि मुक्तिकी भी कामना नहीं करते।"

दशम-स्कन्ध (श्रीमद्भा. १०/८३/४१-४२) में श्रीद्रौपदीके प्रति महिषियोंकी उक्ति—"हे साध्वि! हम साम्राज्य अर्थात् सार्वभौम पद (राज-चक्रवर्त्ती पद), स्वराज्य अर्थात् इन्द्र पद, भोज्य (इस लोक और परलोकमें सुखभोग), वैराज्य (अर्थात् विराट राज्य), ब्रह्मपद, मोक्ष पद यहाँ तक कि श्रीहरिके वैकुण्ठपदकी भी प्रार्थना नहीं करती। किन्तु केवलमात्र 'श्री' अर्थात् महालक्ष्मीके कुचकुङ्कुमकी गन्धसे युक्त इन भगवान् श्रीद्वारकानाथके चरणकमलोंकी रजको मस्तकपर धारण करनेकी ही वासना करती हैं।" इसका अर्थ है—हे साध्वि! हम श्रीद्वारकानाथके चरणकमलोंकी रजको मस्तकपर धारण करनेकी ही कामनाके अलावा साम्राज्य आदि की कामना नहीं करती हैं। 'वैराज्य'—विविध प्रकारके ऐश्वर्योंका उपभोग करना अर्थात् अणिमादि सिद्धिका भोक्तापन, अथवा बह्वृच ब्राह्मण (नामक वेद) में उक्त पूर्वसे आरम्भकर उत्तर तक चार दिशाओंके साम्राज्य, भोज्य, स्वराज्य और वैराज्य आदिका आधिपत्य, 'पारमेष्ठ्य' अर्थात् ब्रह्मपद, 'आनन्त्य' अर्थात् मोक्षपद तथा 'हरिपद' अर्थात् वैकुण्ठकी भी बिलकुल इच्छा नहीं करती, केवल उनके श्रीचरणरजकी ही कामना करती हैं। यदि कहो कि उस श्रीचरणरजकी ही कामना क्यों करती हो? इसके लिए

ही 'श्रियः कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यम्' इत्यादि पद कह रहे हैं। कान्ताके कुचकुङ्कुम गन्धसे युक्त वह श्रीचरणकमल ब्रह्मा आदिके सेव्य तथा श्रीमहालक्ष्मीके द्वारा सेवित होनेके कारण, अथवा कान्ताके कुचकुङ्कुमकी गन्धसे युक्त होनेपर भी अर्थात् उनके परम प्रियतमजनोंके सहित सौतके रूपमें स्वीकार होनेपर भी उन श्रीचरणोंकी रज ही हमारी कामनाका विषय है। 'एतस्य' इत्यादि पद द्वारा इसका कारण कह रहें हैं—उनके श्रीचरण अनिर्वचनीय विविध माधुर्यके महासागर हैं। अथवा 'एतस्य' कहनेसे इन श्रीदेवकीनन्दनको समझना होगा—इसके द्वारा उनके अन्य रूपोंके प्रसङ्गका निराकरण हुआ है, अतएव 'श्रियः' का अर्थ है—श्रीरुक्मिणीदेवी। उस श्रीचरणरजकी कामना करनेका कारण यह भी है कि व्रजगोपियों भी उसकी वाञ्छा करती हैं, इस विषयमें अगले श्लोक (श्रीमद्भा. १०/८३/४३) में कहा गया है। इस प्रकार उन व्रजाङ्गनाओंके द्वारा भी वाञ्छनीय होनेके कारण उस श्रीचरणरजकी परममधुर प्रचुर महिमाको जानना होगा। तत्पश्चात् उसी श्लोक (श्रीमद्भा. १०/८३/४३) में ही आगे कथित हुआ है—"गोचारणके समय महात्मा श्रीकृष्णके जिन चरणकमलोंका स्पर्श गोप, पुलिन्दस्त्रियाँ, यहाँ तक कि घास और लताएँ भी करना चाहती थीं, उन्हीं श्रीचरणकमलोंकी हम कामना करतीं हैं।" ऐसी अभिलाषा परम दुर्लभ होनेपर भी उन श्रीचरणकमलोंमें अनुरक्त सभीके लिए सुलभ हो जाती है, इसीलिए ऐसी कामनाकी सम्भावना प्रदर्शित हुई है। यहाँ 'महात्मनः' अर्थात् आप (द्रौपदी) से सम्बन्धित अथवा आपके पूज्य होनेके कारण जो महात्मा अर्थात् महान हृदयवाले भगवान् श्रीकृष्ण जब वृन्दावनमें गोचारण करते हैं, उस समय उनके चरणस्पर्शसे तृण आदिमें लगी हुई पदरजकी वाञ्छा जिस प्रकार पुलिन्दस्त्रियाँ आदि तथा गोप भी (पादसम्वाहनके छलसे) करते हैं, उसी प्रकार हम भी उसी पद रजकी वाञ्छा करती हैं। इसका कारण है कि गोपियोंके प्रेमके माहात्म्यके प्रभावसे पुलिन्द कन्याओंकी भी उस श्रीचरणरजको प्राप्त करनेकी अभिलाषा हुई थी। अतएव गोपियोंकी करुणा ही उनके पदस्पर्श करनेकी अभिलाषाका हेतु है। अर्थात् प्रेम-माहात्म्यसे ही उन श्रीचरणोंकी प्राप्ति सुलभ होती है, जाति आदिकी श्रेष्ठतासे नहीं।

अथवा 'श्री' के कुचकुंकुमसे युक्त चरणकमल ही प्रार्थनीय है, उसके अलावा अन्य कुछ भी प्रार्थनीय नहीं है, क्योंकि चरणकमलोंके उस कुचकुङ्कुमसे रहित होनेसे कदाचित् आत्मारामता आदिके संसर्गवशतः उदासीनताकी भी सम्भावना है। इस प्रकार महिषियोंका परमरसिक भाव आदि ही अभिप्रेत है। इस विषयमें और कुछ कहना अनावश्यक है। तात्पर्य यह है कि महिषियोंने श्रीराधिकाजीके कुचकुङ्कुमसे रञ्जित व्रजबिहारी श्रीकृष्णके चरणकमलोंको सिरपर धारण करनेकी लालसा की है। किन्तु यहाँपर आपत्ति हो सकती है कि "श्रीमद् पादरजः श्रियः"—पदसे लक्षित श्रीपतिके चरणकमल लक्ष्मीके कुचकुङ्कुमसे ही रञ्जित हैं, किन्तु लक्ष्मी द्वारा श्रीपतिका सामीप्य त्यागकर श्रीवृन्दावन विहारीकी चरणरजकी कामना करनेके कारण श्रीपतिके चरणकमल आप महिषियोंके द्वारा निश्चय ही प्रार्थनीय नहीं हैं। यदि यहाँपर 'श्री' शब्दसे श्रीरुक्मिणीजी अभिप्रेत हो, तब तो श्रीद्वारकानाथकी महिषि होनेके कारण आपको वह चरणरज स्वतः ही प्राप्त है, अतः प्रार्थना करना अनावश्यक हो जाता। इससे यह स्थापित हो रहा है कि 'श्री' शब्द द्वारा केवल जयश्री अर्थात् 'श्री' मुकुटमणि श्रीराधिकाजी ही अभिप्रेत हैं। तथा महिषियाँ तब भी अर्थात् श्रीकृष्णके द्वारकामें वास करते समय भी श्रीराधिकाजीके कुचकुङ्कुमकी गन्धसे सुशोभित श्रीकृष्णके चरणकमलोंके प्रभावको निरन्तर अपने हृदयमें अनुभव कर रही हैं। श्रीराधिकाजीके कुचकुङ्कुमकी गन्धसे युक्त चरणकमलोंकी प्राप्ति रूप प्रगाढ़ प्रेममय कामना बहुत पहलेसे ही मानो उन महिषियोंके निकट प्रकाशित हुई थी।

अतएव श्रीसरूपने व्रजके अलावा अन्यत्र श्रीभगवान्‌को प्राप्त करनेपर भी अतृप्तिवशतः उनकी व्रजलीला आदि सहित श्रीमाथुर-व्रजभूमिमें ही श्रीभगवान्‌को प्राप्त करनेके लिए वैसा प्रयत्न किया है। तथा वहाँपर भी व्रजगोपियोंके कुचकुङ्कुमसे संलग्न श्रीचरणकमलोंसे युक्त श्रीभगवान्‌का दर्शन प्राप्त करना ही उसके द्वारा सम्पूर्ण रूपसे पुरुषार्थ प्राप्तिका लक्षण है। श्रीभगवान्‌का ऐसा रूप विशेष प्रकारकी भक्तिका विलास-वैभव है, जिसकी प्राप्ति द्वारा परम महत्त्वकी चरमसीमासे युक्त विशेष सुखको उदित करानेवाला पुरुषार्थ सम्पादित होता है। उक्त विचारका यही दिग्दर्शन है॥४३॥

अथापोऽपाययद्वेणुसङ्केत-ध्वनिना पशून्।
समाहूय विचित्रेण मुख-शब्देन केनचित्॥४४॥

श्लोकानुवाद—इसके पश्चात् श्रीकृष्णने विचित्र वेणुध्वनिके सङ्केत द्वारा सभी गौओंका बुलाया तथा अपने मुखसे परम मनोहर ध्वनि करते हुए उन्हें जलपान करवाया॥४४॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथ विप्रानुग्रहानन्तरं वेणोः सङ्केतध्वनिना पशून् गो-महिषादीन् समाहूय; विचित्रेण गो-महिषादिजलपानविषयक-गोपशङ्केतित-बहुविधप्रकारेण। केनचित् परममनोहरेण, निज-श्रीमुखस्य शब्देन अपो जलानि पाययामास॥४४॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीकृष्णने उस विप्रपर अनुग्रह करके वेणुध्वनिसे विचित्र प्रकारके सङ्केत द्वारा गाय-भैंस आदि सभी पशुओंको बुलाया। यहाँ 'विचित्रेण' का अर्थ है—गाय, भैंस आदिको जलपान करवानेके लिए गोपों द्वारा प्रयोग किये जानेवाले विविध प्रकारके सङ्केत। तथा अपने श्रीमुखसे 'केनचित्' अर्थात् परम मनोहर स्वर निकालकर सभी पशुओंको जलपान कराया॥४४॥

तेनैव सुखदेशेषु तान्निरुध्योपवेश्य च।
ताभ्यामन्यैश्च सखिभिर्विजहाराप्सु साग्रजः॥४५॥

श्लोकानुवाद—पुनः अपने श्रीमुखके स्वर अथवा वेणुकी सङ्केत ध्वनिके द्वारा उन सभी पशुओंको एक सुखमय स्थानपर बिठला दिया तथा स्वयं श्रीसरूप, जनशर्मा और सखाओंके साथ श्रीबलरामको लेकर जलविहार करने लगे॥४५॥

दिग्दर्शिनी टीका—तेनैव मुख-शब्देन वेणुसङ्केतध्वनिना वा तान् पशून्; ताभ्यां श्रीसरूप-जनशर्मभ्यां सह॥४५॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥४५॥

परस्परं वार्यभिषिञ्चतः सखीन्,
कदाचिदुत्क्षिप्य जलानि भञ्जयेत्।
कदापि तैरेव विनोदकोविदो,
विलम्भितो भङ्गभरं जहर्ष सः॥४६॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपालदेव सखाओंके साथ परस्पर एक दूसरेपर जल फैंकते हुए इस प्रकारसे क्रीड़ा करने लगे, जिसमें कभी वे जल फैंककर उन्हें पराजित कर देते और कभी वे विनोदकोविद (विहार करनेमें निपुण) अपनी पराजय स्वीकार करते हुए पीछे हटकर भी विशेष रूपसे प्रसन्न होते॥४६॥

दिग्दर्शिनी टीका—सखीन् भङ्गं प्रापयेत्, तैः सखिभिरेव भङ्गभरं पृष्ठतोऽपसरणातिशयं विशेषेण लम्भितः प्रापितोऽपि सः श्रीगोपालदेवो जहर्ष, यतो विनोदेषु कोविदो विदग्धः॥४६॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥४६॥

कीलालवाद्यानि शुभानि साकं, तैर्वादयन् श्रीयमुनाप्रवाहे।
स्रोतोऽनुलोम-प्रतिलोमतोऽसौ, सन्तारलीलामकरोद्विचित्राम्॥४७॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपालदेव सखाओं सहित श्रीयमुनाजीके प्रवाहमें कभी तो मधुर जल-वाद्य करते तथा कभी उनके साथ श्रीयमुनाजीके प्रवाहके अनुकूल और कभी प्रतिकूल चरण ऊँचे करके तैरनेकी विचित्र-विचित्र लीलाओंका विस्तार करने लगते॥४७॥

दिग्दर्शिनी टीका—तैः सखिभिः साकं शुभान्युत्तमानि निजवाद्यानि वादयन् असौ श्रीगोपालदेवः स्रोतसोऽनुलोमेन प्रतिलोमेन च श्रीयमुनाप्रवाहे विचित्रां विविधां सन्तारलीलामकरोत्॥४७॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥४७॥

कदापि कृष्णा-जलमध्यतो निजं,
वपुः स निह्नुत्य सरोजकानने।
मुखञ्च विन्यस्य कुतूहली स्थितो,
यथा न केनापि भवेत् स लक्षितः॥४८॥

श्लोकानुवाद—एक बार उन कौतुकी श्रीकृष्णने श्रीयमुनाके नीले जलमें अपने श्रीविग्रहको छिपाकर तथा वहाँ खिले हुए नील-कमलोंके बीचमें अपने मुखकमलको इस प्रकारसे न्यस्त किया जिससे कोई भी उन्हें देख न सका॥४८॥

दिग्दर्शिनी टीका—यथा केनापि स कृष्णो लक्षितो न भवेत्, तथा स विनोदकोविदः स्थितो भवेत्। तत्र प्रकारमाह—कृष्णाया यमुनाया जलमध्ये निजवपुर्निह्नुत्य लीनं कृत्वा सरोजानां कानने मुखं विन्यस्य चेति। कृष्णायाः कृष्णवर्णजलस्य तच्छ्यामकान्त्या सह, तथा सरोजस्य च श्रीमुखेन सह सादृश्यात् केनाप्यलक्षिततत्वं सम्भाव्यम्॥४८॥

भावानुवाद—एक बार उन विनोद-कोविद (क्रीड़ा करनेमें निपुण) श्रीकृष्णने ऐसी लीला की जिससे उन्हें कोई भी देख न सका। अर्थात् श्रीकृष्णने यमुनाके जलमें अपनी वपुको छिपाकर तथा नील-कमलोंके झुण्डमें अपने मुखकमलको न्यस्त कर दिया। श्रीयमुनाके कृष्ण वर्णके जलकी उनकी श्याम कान्तिके साथ तथा नील-कमलोंकी उनके श्रीमुखके साथ सादृश्यताके कारण कोई भी उन्हें देख नहीं सका॥४८॥

ततस्तदेकेक्षणजीवनास्ते, न तं समन्विष्य यदालभन्त।
तदा महार्त्ताः सुहृदो रुदन्तो, विचुक्रुशुर्व्यग्रधियः सुघोरम्॥४९॥

श्लोकानुवाद—श्रीगोपालदेवके दर्शन ही जिनका जीवन है, वे सुहृद् गोपसखा जब बहुत ढूँढ़नेपर भी उन्हें कहीं देख नहीं पाये तब वे व्याकुलतावशतः अत्यन्त दुःखी होकर घोर शब्द करते हुए उच्च स्वरसे रोने लगे॥४९॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततस्तस्मात् कारणात्; तं श्रीगोपालदेवं, ते सुहृदो गोपकुमाराः सम्यगन्विष्य यदा नालभन्त, तदा महार्त्ताः सन्तो रुरुदुः सुघोरं यथा स्यात्तथा विचुक्रुशुः। यतस्तस्य श्रीगोपालदेवस्य एव तस्य ईक्षणं दर्शनमेव जीवनं येषां ते, अतएव व्यग्रा धीर्येषां ते॥४९॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥४९॥

ततो हसन् पद्मवनाद्विनिःसृतः,
प्रहर्षपूरेण विकासितेक्षणैः।
सकूर्दनस्तैः पुरतोऽभिसारिभिः,
सङ्गम्यमानो विजहार कौतुकी॥५०॥

श्लोकानुवाद—तब वे कौतुकी श्रीकृष्ण उस कमलके वनसे हँसते हुए निकल आये। उन्हें देखकर उन सुहृद् सखाओंके नेत्र आनन्दसे खिल उठे और वे कूदते हुए श्रीकृष्णके निकट जा पहुँचे। तत्पश्चात् वे उनके साथ अनेक प्रकारसे जल-विहार करने लगे॥५०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तैः सुहृद्भिः सङ्गम्यमानः; कथम्भूतैः? प्रहर्षपूरेण परमानन्दसमुहेन विकसितानि ईक्षणानि येषां तैः। किञ्च, कूर्दनैः सहितं यथा स्यात्तथा पुरतोऽग्रेऽभिसरद्भिः॥५०॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥५०॥

मृणालजालेन मनोरमेण, विरच्य हारान् जलपुष्पजातैः।
सखीनलङ्कृत्य समुत्ततार, जलात् समं तैः स च भूषितस्तैः॥५१॥

श्लोकानुवाद—इसके उपरान्त श्रीगोपालदेवने समस्त सखाओंको कमलकी मृणालों और जलमें उत्पन्न होनेवाले पुष्पोंकी मनोहर मालाओंसे विभूषित किया तथा सखाओंने भी श्रीकृष्णको उसी प्रकारसे ही विभूषित किया। अन्तमें वे सब जलसे बाहर निकल आये॥५१॥

दिग्दर्शिनी टीका—विहारमेवाह—मृणालेति। तैर्हारैर्जलपुष्पसमूहैश्च निजसहचरान् भूषयित्वा तैश्च सखिभिः सः श्रीगोपालदेवस्तैरेव भूषितः सन् तैरेव सखिभिः समं जलात् समुत्ततार, बहिर्निःससारेत्यर्थः॥५१॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥५१॥

माध्याह्निकं भोजनमत्र कर्त्तुं,
विस्तीर्णकृष्णापुलिने मनोज्ञे।
गोपैः समं मण्डलशो निविष्टै-,
र्न्यवेशयत् सोऽग्रजमेव मध्ये॥५२॥

श्लोकानुवाद—तत्पश्चात् मध्याह्न-कालीन भोजन करनेके लिए श्रीगोपालदेवके साथ वे सब मण्डली बनाकर श्रीयमुनाजीके विशाल और मनोहर पुलिनमें बैठ गये तथा श्रीबलदेवजीको उन्होंने बीचमें बिठाया॥५२॥

दिग्दर्शिनी टीका—अत्र वन एव; यद्वा, यत्र विजहार अस्मिन्नेव विस्तीर्णे कृष्णायाः पुलिने गोपैः समं माध्याह्निकं भोजनं कर्त्तुं सः श्रीगोपालदेवः मध्ये सर्वमण्डलान्तः अग्रजं श्रीबलराममेव न्यवेशयत् उपवेशयामास। कथम्भूतः? मण्डलशः बहुमण्डलतया निविष्टैरुपविष्टैः, माध्याह्निकमित्यनेन प्रातरपि भुक्तमस्तीति गम्यते। तच्च *"स प्रातराशौ गोवत्सांश्चारयन्तौ"* (श्रीमद्भा. १०/११/४५) इति; *"क्वचिद्वनाशाय मनो दधद्व्रजात् प्रातः"* (श्रीमद्भा. १०/१२/१) इत्यादिदशम-स्कन्धोक्त्यनुसारेण कदाचिद्वने कदाचिद्गृह एव बोद्धव्यम्॥५२॥

भावानुवाद—उस वनमें ही अथवा कृष्णा अर्थात् श्रीयमुनाजीके विशाल पुलिनपर माध्याह्निक भोजन करनेके लिए श्रीगोपालदेवने उन गोपबालकोंको मण्डलाकारमें बैठाकर सबसे अन्तिम मण्डलके बीचमें अग्रज श्रीबलरामजीको बिठला दिया। उस मण्डलीका बन्धन किस प्रकारका था? प्रथम मण्डलीके बीच द्वितीय मण्डली, द्वितीय मण्डलीके बीचमें तृतीय मण्डली, इस प्रकार बहुत मण्डलियोंको बनाकर सबको बैठाया। यहाँपर माध्याह्निक भोजन कहनेसे घरमें ही प्रातःकालीन भोजन हो चुका है—ऐसा समझना चाहिये। श्रीमद्भागवत (१०/११/४५) में कथित—"श्रीकृष्ण प्रातःकालमें ही भोजन करके गोचारणके लिए वन-वनमें घूमने लगे।" अथवा श्रीमद्भागवत (१०/१२/१) में कथित है—"किसी एक दिन श्रीकृष्णने वनमें ही प्रातःकालीन भोजन करनेकी इच्छा करके प्रभातमें ही अपने सखाओंके साथ बछड़ोंको आगे लेकर व्रजसे बाहर वनमें प्रवेश किया।" इत्यादि दशम-स्कन्धमें कहे गये वचनोंके अनुसार प्रातःकालीन भोजन कभी घरमें और कभी वनमें होता है—ऐसा समझना चाहिये॥५२॥

स्वयञ्च लीलाञ्चित-नृत्यगत्या,
भ्रमन् विचित्रं परितः पुरैव।
नीतानि तत्रालयतोऽद्भुतानि,
भोज्यानि रेमे परिवेशयन् सः॥५३॥

श्लोकानुवाद—सब गोपबालक प्रातःकालमें अपने-अपने घरोंसे जो अद्भुत भोजन सामग्रियाँ लाये थे, श्रीकृष्ण स्वयं उन्हें लीलापूर्वक नृत्यगतिसे चारों तरफ घूम-घूमकर परोसने लगे॥५३॥

दिग्दर्शिनी टीका—सः श्रीगोपालदेवस्तु स्वयमद्भुतानि बहुविधानि भोज्यानि भोगोचितद्रव्याणि परिवेषयन्; अतएव लीलाञ्चितया नृत्यगत्या परितो विचित्रं भ्रमन् रेमे। तानि वने कुतः प्राप्तानीत्यपेक्षायामाह—पुरा पूर्वमेव प्रातःसमये आलयतः स्वस्वगृहेभ्यस्तत्र नीतानि तानि॥५३॥

भावानुवाद—वे श्रीगोपालदेव स्वयं ही बहुत प्रकारके अद्भुत भोगके उचित द्रव्योंको लीलापूर्वक नृत्यगतिसे चारों ओर विचित्र प्रकारसे भ्रमण करते-करते परोसकर शोभायमान हो रहे थे। यदि आपत्ति हो कि वनमें उन्हें वह सब भोज्य द्रव्य कैसे प्राप्त हुए? इसकी अपेक्षामें कह रहे हैं कि प्रातःकाल गोचारणके लिए आते समय ही वे सब गोपबालक अपने-अपने घरोंसे उन सभी भोज्य पदार्थोंको लाये थे॥५३॥

सर्वर्तुशश्वत्फलपुष्पशालिनां,
वृन्दाटवीदिव्य-विचित्रशाखिनाम् ।
तैराहृतान्येव फलानि लीलया
स्वादूनि तेभ्यो विभजन् यथारुचि॥५४॥

श्लोकानुवाद—फिर श्रीकृष्णने सभी ऋतुओंमें सभी ऋतुओंके उपयोगी फल-पुष्प देनेवाले श्रीवृन्दावनके दिव्य विचित्र-विचित्र वृक्षोंसे संगृहीत स्वादिष्ट फलोंको सब सखाओंमें उनकी रुचिके अनुसार बाँटा॥५४॥

दिग्दर्शिनी टीका—न केवलं गृहतो नीतान्येव, श्रीवृन्दावनात् सञ्चित्य आनीतानि चेत्याह—सर्वेति। तैर्गोपैः, हे अम्ब! मातः! तेभ्यो गोपेभ्यः यथारुचि तत्तद्रुच्यनुसारेण लीलया विभजन् रेमे इति पूर्वेणैवान्वयः॥५४॥

भावानुवाद—केवल घरसे लाये हुए भोज्य द्रव्योंको ही नहीं, अपितु श्रीवृन्दावनके सभी वृक्षोंसे संग्रहीत सुस्वादिष्ट फलको भी परोसने लगे। हे मातः! श्रीगोपालदेव उन सभी गोपोंको उनकी रुचिके अनुसार लीलापूर्वक फल बाँटकर अपूर्व शोभा पा रहे थे॥५४॥

रसाल-ताल-बिल्वानि बदरामलकानि च।
नारिकेलानि पनस-द्राक्षा-कदलकानि च॥५५॥

नागरङ्गानि पीलूनि करीराण्यपराण्यपि।
खर्जूरदाड़िमादीनि पक्वानि रसवन्ति च॥५६॥

हर्षाय तेषामादाय प्रत्येकं किञ्चिदच्युतः।
तिष्ठंस्तत्तत्समीपेऽसौ भुङ्क्तेतानपि भोजयेत्॥५७॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णने उन सब गोपसखाओंको आम, ताल, बेल, बेर, आँवला, नारियल, कटहल, अँगूर, केला, सन्तरा, पीलू, टैंटी, खजूर, जामुन और अनार इत्यादि पके हुए रसपूर्ण फलोंको दिया। वे सखाओंके समीप रहकर हर्षपूर्वक कुछ-कुछ आप खाते और फिर उन्हें भी खिलाते॥५५-५७॥

दिग्दर्शिनी टीका—फलान्येवाह—रसालेति द्वाभ्याम्। यद्यपि रसाल-ताल-बिल्व-बदरादीनामेकस्मिन्नेव काले पक्वता न सम्भवेत्, तथापि श्रीवृन्दावनवृक्षाणां सर्वेषामेव तदानीं सर्वस्मिन्नप्यृतौ फलादिसम्पत्ता घटत एव। अतएवोक्तम्—*"सर्वस्मिन्नेव ऋतौ शश्वत् पुनः पुनः फलशालिनाम्"* इति दिव्येति वा। एवमग्रेऽपि पुष्पप्रसङ्गे बोद्धव्यम्॥५५-५६॥

न केवलमसौ पर्यवेषयदेव, स्वयमभूङ्क्ते चेत्याह—हर्षायेति। प्रत्येकं तेषां फलादीनां गोपानां वा किञ्चिदादाय असौ अच्युतो भगवान् श्रीकृष्णो भूङ्क्ते; वर्त्तमानसामीप्ये; तत्कारणञ्च प्रागुक्तमस्त्येव। यस्य यस्य किञ्चिदादत्ते तस्य तस्य समीप एवातिष्ठत्। अच्युत इति च सर्वैरेव तैः प्रत्येकं ज्ञायते—ममैव पार्श्वे अस्ति, नान्यत्रेत्यभिप्रायेणोक्तम्॥५७॥

भावानुवाद—तदुपरान्त 'रसाल' इत्यादि दो श्लोकोंमें श्रीवृन्दावनसे संगृहीत सभी फलोंका परिचय प्रदान कर रहे हैं। यद्यपि आम, ताल, बेल, बेर इत्यादि सभी फलोंके एक ही समयमें पकनेकी सम्भावना नहीं है, तथापि श्रीवृन्दावनके प्रत्येक दिव्य वृक्ष सभी ऋतुओंमें सभी ऋतुओंके उपयोगी विचित्र-विचित्र फल आदि रूप सम्पत्तिसे युक्त होते हैं। अतएव कहा गया है—"वृन्दावनके समस्त दिव्य वृक्ष सभी ऋतुओंमें नित्य ही पुनः-पुनः फल प्रदान करते हैं।" आगे कहे जानेवाले पुष्प-प्रसङ्गमें भी इसी प्रकार समझना होगा।

श्रीकृष्ण न केवल उन्हें परोस रहे थे, बल्कि स्वयं भी भोजन कर रहे थे—इसे बतलानेके लिए 'हर्षाय' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। प्रसन्नतापूर्वक प्रत्येक सखाको फल आदि परोसते हुए उनके समीप

रहकर अच्युत भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं भी भोजन करने लगे। श्रीकृष्णको भोजन करता न देखनेपर कोई भी भोजन नहीं कर रहा था, ऐसा देखकर श्रीकृष्ण एकसाथ सभीके साथ भोजन करने लगे तथा उन्हें भोजन कराने लगे। इसलिए प्रत्येक गोपबालक सोचने लगा कि श्रीअच्युत मेरे साथ ही बैठे हुए हैं और भगवान्‌के ऐसे अभिप्रायको जानकर लीला शक्तिने भी ऐसी ही व्यवस्था की॥५५–५७॥

परीक्ष्य मिष्टमिष्टानि श्रीमुखान्तः स्वपाणिभिः।
उत्थायोत्थाय सखिभिरर्प्यमाणानि सादरम्॥५८॥
सश्लाघं नर्महासार्द्रं विचित्रमुखभङ्गिभिः।
मधुरं परिचर्वंस्तान् हासयित्वा व्यमोहयत्॥५९॥

श्लोकानुवाद—वे गोपसखा उन फलोंको पहले स्वयं थोड़ा चखकर उनमेंसे मीठे-मीठे फलोंको अपने-अपने हाथोंसे उठा-उठाकर आदरपूर्वक श्रीकृष्णके मुखमें देते। श्रीकृष्ण भी हास-परिहास सहित उन फलोंकी प्रशंसा करते तथा विचित्र मुखभङ्गि द्वारा उन द्रव्योंको मधुर रूपसे चबाते हुए सखाओंको हँसाकर विमोहित करते॥५८–५९॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, सखिभिर्गोपैर्मिष्टानि मिष्टानि परीक्ष्य तत्किञ्चिद्-भक्षणेनावधार्य पश्चादुत्थायोत्थाय तस्यैव श्रीमुखस्यान्तः स्वस्वपाणिभिरेव कृत्वा सादरमर्प्यमाणानि फलानि सर्वभोज्यान्येव वा श्लाघया तत्तद्द्रव्यादिप्रशंसया सहितं यथा स्यान्नर्महासाभ्यामार्द्रञ्च यथा स्यात्, मधुरञ्च यथा स्यात्तथा विचित्राभिर्मुखभङ्गीभिः परिचर्वन् तान् सखीन् हासयित्वा व्यमोहयदसावेवेति द्वाभ्यामन्वयः॥५८–५९॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥५८–५९॥

आम्लिकं पानकं मिष्टं परञ्च विविधं बहु।
तक्रञ्च तुम्बीपात्रादिभृतं वार्यपि यामुनम्॥६०॥
पिबन्निपाययन् सर्वान् रमयामास बल्लवान्।
नानाविध-सुखक्रीड़ाकुतूहल-विशारदः ॥६१॥

श्लोकानुवाद—फिर श्रीकृष्णने अनेक प्रकारके खट्टे, मीठे, पीनेके द्रव्य, छाछ तथा श्रीयमुनाजीके निर्मल जलको तुम्बी आदि पात्रोंमें

भरकर स्वयं पिया तथा समस्त गोप सखाओंको भी पिलाकर आनन्दित किया। इस प्रकार सुखक्रीड़ा–कौतुकमें कुशल उन श्रीकृष्णने पुलिन भोजनकी लीला की॥६०–६१॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं भोजनमुक्तम्, पानञ्चाह—आम्लिकेति। आम्लिकं तिन्तिड़्या साधितम्, आदिशब्देन वैणवपात्र–पत्र–पुटकादि; नानाविध–सुखक्रीड़ैव कुतूहलं, तस्मिन् विशारदः॥६०–६१॥

भावानुवाद—इस प्रकार भोजनलीला करनेके उपरान्त सुखक्रीड़ा–कौतुकमें निपुण श्रीगोपालदेवने सखाओं सहित इमली आदिके खट्टे रस और मीठे आमसे बने पानक (पना) आदिका पान किया। 'पात्रादि' शब्दसे बाँसके पात्र, पत्र, पुटक आदिका बोध होता है॥६०–६१॥

आचम्य ताम्बूलमथो सुगन्धं, कर्पूरपूर्णं स्वगृहोपनीतम्।
वन्यञ्च भुङ्क्ते स्म विभज्य नूत्नं, सनागवल्लीदलपूगमार्द्रम्॥६२॥

श्लोकानुवाद—अन्तमें उन सबने आचमन करके अपने घरसे लाये हुए कर्पूरसे मिश्रित सुगन्धित ताम्बूलको तथा वनमें उत्पन्न ताम्बूलको नवीन (कच्ची) और नरम सुपारी सहित बाँटकर खाया॥६२॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथ अनन्तरम् आचम्य श्रीहस्त–मुखादि–प्रक्षालन–पूर्वकमाचमनं कृत्वा स्वस्वगृहादुपनीतं ताम्बूलं विभज्य भुङ्क्ते स्म अभुङ्क्त। स्वत एव सुगन्धि सौरभ्ययुक्तं, विशेषतश्च कर्पूरेण पूर्णम्; किञ्च, नागवल्लीदलं पूर्णविशेषस्तत् सहितं पूगं वन्यमतो नूतनम्; अतएव आर्द्रञ्च संविभज्य भुङ्क्ते स्म॥६२॥

भावानुवाद—तदुपरान्त आचमन करके अर्थात् श्रीहस्त–मुख आदिको धोकर वे सब अपने–अपने घरसे लाये हुए सुगन्धित ताम्बूलको बाँटकर चर्वण करने लगे। वह ताम्बूल स्वतः ही सुगन्धित थे और विशेषतः कर्पूरसे मिश्रित थे। तथा नागवल्ली दल अर्थात् विशेष ताम्बूल सहित वनमें उत्पन्न नयी सुपारीको उसकी कलिके नरम होनेके कारण सहज ही बाँटकर खाने लगे॥६२॥

तुलसीमालतीजाती–मल्लिकाकुन्दकुब्जकैः ।
लवङ्गकेतकीझिण्टी–माधवीयूथिकाद्वयैः ॥६३॥

काञ्चनैः करवीराभ्यां शतपत्रीयुगेन च।
पलाशैर्नवमल्लीभिरोड्रैर्दमनकादिभिः ॥६४॥

कदम्ब–नीपबकुलैर्नागपुन्नागचम्पकैः ।
कूटजाशोकमन्दारैः कर्णिकारासनार्जुनैः ॥६५॥

पाटलैः प्रियकैरन्यैरपि पुष्पैः सपल्लवैः।
विचित्रा निर्मिता मित्रैर्मालाश्चाधाद्विभज्य सः ॥६६॥

श्लोकानुवाद—फिर तुलसी, मालती, चमेली, मोतिया, कुन्द, कुञ्जक, लवङ्ग, केतकी, झिण्री, माधवी, दो प्रकारकी जूही, काञ्चन, सफेद और लाल कनेर, ढाक, रायबेल, जपा, दमनक, कदम्ब, नीप, बकुल, नागकेशर, पुन्नाग, चम्पक, कूटज, अशोक, मन्दार कर्णिकार, आसन, अर्जुन, पाटल, प्रियक तथा अन्यान्य पल्लव (पत्तों) से युक्त पुष्पोंसे मित्रों द्वारा बनायी गयी विचित्र मालाओंको श्रीगोपालदेवने बाँटकर सभी सखाओंको पहनाया तथा स्वयं भी पहनीं॥६३–६६॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, तुलस्यादिभिः कृत्वा मित्रैर्गोपवर्गैर्निर्मिता विरचिता विचित्राः वैजयन्ती–वनमालादि–भेदेन बहुविधा मालाश्च विभज्य सर्वेभ्यो विभागं कृत्वा प्रदाय; सः श्रीगोपालदेवोऽधात् दधारेति चतुर्भिरन्वयः। तत्र मालतीजात्योर्नीप–कदम्बयोश्चावान्तरभेदः; यूथिकाद्वयञ्च स्वर्णयूथिकाशुभ्रयूथिका चेति करवीरयोः शतपत्रिकाद्वयस्य च पुष्पाणां शौभ्र–रक्तिमभ्यां भेदः। पलाशैः किंशुकैः; आदि–शब्देन दमनसदृशपत्र–प्रधानानि मरुवकादीनि ग्राह्यानि। अन्यैः शृङ्गारहार–स्थलकमलभूमि–चम्पकादिभिश्च पुष्पैः, जलोद्भवानि च प्रायो जलक्रीड़ायामुपयुक्तान्येवेति तान्यत्र पृथङ्नोक्तनि, अन्यशब्दान्तर्गतान्येवोह्यानि; पल्लवानि कदम्बादीनां नवमञ्जर्यस्तैः सहितैः गुञ्जाबर्हानि च मुकुटादौ सदा वर्त्तमानान्येव पूर्वं वर्णितानि॥६३–६६॥

भावानुवाद—कुछ और भी कह रहे हैं—तुलसी (आदि) से युक्त गोपों द्वारा बनायी गयी विचित्र–विचित्र अर्थात् वैजयन्ती–वनमाला आदिके भेदसे बहुत प्रकारकी मालाओंको श्रीगोपालदेवने सभीमें बाँटकर स्वयं भी धारण की। इसका वर्णन 'तुलसी' इत्यादि चार श्लोकोंमें किया गया है। यहाँ मालती और जाती पुष्प नीप और कदम्बके अन्तर्गत भेद हैं। 'यूथिकाद्वय' अर्थात् स्वर्ण और सफेद भेदसे दो प्रकारकी यूथिका, 'करवीरका शतपत्रिका' सफेद और

लालके भेदसे दो प्रकारका कनेर, पलाश अर्थात् टेसुका फूल तथा 'दमनकादि' में 'आदि' शब्दसे दमनकके समान पत्र–प्रधान मरुवक इत्यादि पुष्पोंको समझना चाहिये। और अन्यान्य शृङ्गार आदिके उपयोगी स्थलकमल, भूमि चम्पक आदि पुष्प तथा जलमें उत्पन्न विविध प्रकारके पुष्प जल–क्रीड़ाके उपयोगी होनेके कारण यहाँ पृथक् रूपसे वर्णित नहीं हुए हैं। अथवा श्लोकमें उक्तमें 'अन्य' शब्दके द्वारा अन्य सभी प्रकारके फूलोंको भी समझना होगा। 'पल्लवानि' अर्थात् कदम्ब आदि वृक्षोंके पत्ते तथा उनकी नवीन मञ्जरियों सहित गुञ्जा माला और मोरपंखका मुकुट आदि श्रीकृष्णकी वपुपर सदा वर्त्तमान रहते हैं—इसे पहले वर्णन किया जा चुका है॥६३–६६॥

चन्दनागुरु–कस्तुरीकुङ्कुमैराहृतैर्वनात्　　।
द्रव्यैः सुगन्धिभिश्चान्यैः पिष्टैरङ्गान्यलेपयत्॥६७॥

श्लोकानुवाद—फिर उन्होंने चन्दन, अगुरु, कस्तूरी, कुङ्कुम आदि सुगन्धित द्रव्योंको वनसे लाकर शिलापर घिसा तथा उस लेपको अपने–अपने अङ्गोंपर लगाया॥६७॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, चन्दनेति वनात् श्रीवृन्दावनादेव आहृतैः सखिवर्गेणानीतैः, अन्यैश्च कर्पूरादिभिः सुगन्धिभिर्द्रव्यैः; कथम्भूतैः? पिष्टैः शिलासु सखिवर्गेण सजलं घृष्टैः; अङ्गानि निजश्रीगात्राणि, अलेपयत् अनुलेपयामास; विभज्येति पूर्ववदत्रापि बोद्धव्यम्; यद्वा, आत्मनोऽन्येषाञ्च सर्वाण्येव शरीराणि व्यलेपयत्। एवं श्रीवृन्दावने तस्य सकलोपभोगसामग्री दर्शिता॥६७॥

भावानुवाद—तदुपरान्त कह रहे हैं कि श्रीवृन्दावनसे सखाओं द्वारा लाये गये चन्दन तथा अन्यान्य कर्पूर आदि सुगन्धित द्रव्योंको जल सहित शिलापर घिसकर उन्होंने लेप बनाया। तत्पश्चात् श्रीगोपालदेवने उस लेपको अपने श्रीअङ्गोंमें लगाया और सभी सखाओंमें पहलेकी भाँति बराबर–बराबर बाँटा। अथवा अपने समान अन्य सभीके अङ्गोंपर भी लगाया। इस प्रकार श्रीवृन्दावनमें उनके उपभोगके लिए समस्त प्रकारकी साम्रगी प्रचुर मात्रामें विद्यमान है—ऐसा प्रदर्शित हुआ है॥६७॥

निकुञ्जवर्ये सुरभिप्रसून–
सुवासिते गुञ्जदलिप्रघुष्टे।
विनिर्मिते तल्पवरे नवीन–
मृदुप्रवालच्छदपुष्पजातैः ॥६८॥

श्रीदामनामदयिताङ्गसुखोपधानः,
सुस्वाप मित्रनिकरैः परिचर्यमाणः।
केशप्रसाधन–सुगीतकराङ्घ्रिपद्म–,
सम्वाहनस्तवनवीजन–चातुरीभिः ॥६९॥

श्लोकानुवाद—इसके बाद श्रीगोपालदेवने सखाओं सहित विविध प्रकारके सुगन्धित पुष्पोंसे सुवासित तथा भ्रमरोंकी गुञ्जारसे गूँज रहे निकुञ्जमें प्रवेश किया, जहाँ नवीन तथा कोमल पत्तों तथा पुष्पों द्वारा रचित श्रेष्ठ शय्याकी रचना की गयी थी। उस शय्यापर वे श्रीदाम सखाकी गोदमें अपने सिरको रखकर लेट गये। उस समय सभी सखा उन्हें घेरकर चतुरता सहित कोई उनकी अलकावलीको सम्वारने लगा, कोई मनोरम गीत गाने लगा, कोई उनके पाद–सम्वाहन करने लगा, कोई उनकी स्तुति करने लगा तथा कोई उन्हें पंखा झलने लगा॥६८–६९॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च निकुञ्जवर्ये नवीनानां मृदूनाञ्च प्रवालादीनां जातैः समूहैर्विनिर्मितं यत्तल्पवरं तस्मिन् सुस्वापेति द्वाभ्यामन्वयः। कीदृशे निकुञ्जवर्ये? सुरभिभिः सुगन्धिभिः प्रसूनैः पुष्पैः सुवासिते; अत एवं गुञ्जद्भिरलिभिर्भ्रमरैः प्रकर्षेण घुष्टे नादिते इति शयनसुखकारणमुक्तम्। कथम्भूतः? श्रीदामनाम्नोः दयितस्य प्रियसखगोपवरस्य अङ्कः क्रोड़ एव सुखकरमुपधानमुच्छीर्षकं यस्य; किञ्च, मित्रनिकरैर्गोपकुमारकुलैः केशप्रसाधनादि–चातुरीभिः कृत्वा परिचर्यमाणः सेव्यमानः सन्, तत्र कैश्चित् केशप्रसाधनचातुरीभिः कैश्चित् सुगीतचातुरीभिः, कैश्चित् करपद्मसम्वाहनचातुरीभिः, कैश्चिदङ्घ्रिपद्मसम्वाहनचातुरीभिरित्याद्यूह्यम्। तथा चोक्तं श्रीबादरायणिना दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा. १०/१५/१६, १८) *"क्वचित् पल्लवतल्पेषु नियुद्ध–श्रमकर्षितः। वृक्षमूलाश्रयः शेते गोपोत्सङ्गोपबर्हणः॥" "गायन्ति स्म महाराज स्नेहक्लिन्नधियः शनैः॥"* इति॥६८–६९॥

भावानुवाद—तदुपरान्त श्रेष्ठ निकुञ्जमें नवीन और कोमल प्रवाल आदिके पत्तों और पुष्पों द्वारा रचित श्रेष्ठ शय्यापर सुखसे सोनेका

विषय दो श्लोकोंमें वर्णन किया जा रहा है। वह शय्या किस प्रकारके उत्कृष्ट कुञ्जमें विराजित थी? वह शय्या सुगन्धित पुष्पोंसे सुवासित तथा भ्रमरोंकी गुञ्जारसे युक्त निकुञ्जमें अवस्थित थी। इसके द्वारा शयन सुखका कारण बतलाया गया है। श्रीगोपालदेवने किस प्रकारसे शयन किया? उस उत्कृष्ट शय्यापर लेटकर श्रीदाम नामक प्रिय गोपसखाके गोदरूप सुखकर तकिएपर सिर रखकर शयन किया। उस समय सभी गोपसखाओंने श्रीकृष्णको घेर लिया और विभिन्न प्रकारसे उनकी परिचर्या करने लगे जिससे उन्होंने सुखपूर्वक शयन किया। अर्थात् किसीने उनके केशोंको सम्वारनेकी चतुरता, किसीने निद्रा लानेके लिए मनोहर गीत गानकी चतुरता, किसीने हस्तकमलोंको सम्वाहन करनेकी चतुरता, किसीने चरणकमलोंको सम्वाहन करनेकी चतुरता, किसीने स्तव करने और किसीने पंखा झलनेकी चतुरताको प्रकट किया—ऐसा जानना होगा। श्रीशुकदेव गोस्वामीने भी इसे दशम-स्कन्ध (श्रीमद्भा. १०/१५/१६,१८) में वर्णन किया है—"श्रीकृष्ण कभी किसी स्थानपर मल्लक्रीड़ा (कुश्ती) द्वारा थककर वृक्षके नीचे पत्तोंकी बनी शय्यापर गोपबालकोंकी गोदरूप तकिएपर सिर रखकर शयन करते हैं। उस समय स्नेहसे द्रवीभूत चित्तवाले वे सखागण श्रीकृष्णको प्रीतिदायक तथा उस कालके उपयोगी गीतोंको मृदुस्वरसे गान करते हैं॥"६८-६९॥

नानानुकार–मुखपद्मविकारनर्म–,
भङ्गीशतैर्हसितरोधनकेलिदक्षान् ।
निर्जित्य तानसुखयत् सुहृदो मुदैवं,
विश्रामकेलिमतनोद्विविधं सरामः ॥७०॥

श्लोकानुवाद—श्रीकृष्णने विविध प्रकारसे अपने श्रीमुखके अभिनय तथा हास-परिहासकी सैकड़ों भङ्गियों द्वारा हँसीको रोकनेमें दक्ष सखाओंको हँसाकर पराजित कर दिया। इस प्रकार श्रीकृष्णने श्रीबलराम सहित सुहृद् सखाओंको आनन्दित करते हुए विविध प्रकारकी विश्राम-केलि (क्रीड़ा) का विस्तार किया॥७०॥

दिग्दर्शिनी टीका—यथा च ते श्रीकृष्णस्य तत्तत्सेवया सुखं विदधुस्तथा सोऽपि मधुरतरलीलया तेषां सुखमकरोदित्याह—नानेति। हसितस्य हासस्य रोधनमेव केलिस्तत्र दक्षानपि तान् सुहृदो गोपकुमारान् नानानुकाराणां विविधाभिनयानां निज-श्रीमुखपद्मस्य विकाराणाञ्च विक्रियाणां नर्मणाञ्च भङ्गीशतैर्निर्जित्य हासयित्वा तान् पराजित्य सुखयामास। एवमित्यादिप्रकारेण श्रीबलरामेण सहितः विविधविश्रामकेलिं मुदा अतनोत् विस्तारयामास॥७०॥

भावानुवाद—जिस प्रकारसे गोपबालक अनेक प्रकारकी सेवाओं द्वारा श्रीकृष्णका सुख-विधान करते हैं, श्रीकृष्ण भी उसी प्रकार उनके सुख-विधानके लिए मधुरतर लीलाओंका विस्तार करते हैं। इसे 'नाना' इत्यादि श्लोक द्वारा निर्देश कर रहे हैं। हँसीको रोकनेकी कलामें दक्ष सुहृद् गोपकुमारोंको नाना प्रकारसे अनुकरण करके अर्थात् विविध अभिनय सहित अपने श्रीमुखकमलमें विकार लाकर तथा हास-परिहासकी सैकड़ों भङ्गियों द्वारा हँसाकर पराजित करके सुखी किया। इस प्रकार श्रीकृष्णने श्रीबलरामजीके साथ विविध प्रकारसे विश्राम क्रीड़ासुखका विस्तार किया॥७०॥

अथ सङ्केतितैर्वेणुशृङ्गनादैः पशून् पुनः।
उत्थाप्य चारयन् रेमे गोवर्धनसमीपतः॥७१॥

श्लोकानुवाद—विश्रामकेलि (क्रीड़ा) के उपरान्त उन्होंने वेणु और शृङ्गनादके सङ्केत द्वारा सभी पशुओंको उठाया तथा गोवर्द्धनके निकट लाकर चराते हुए लीला करने लगे॥७१॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथ विश्रामकेल्यनन्तरं सङ्केतितैरुत्थापनसङ्केतीकृतैः; गोवर्धनाद्रि-समीपे पुनश्चारयन्॥७१॥

भावानुवाद—श्लोकानुवाद द्रष्टव्य है॥७१॥

भूषणेन विचित्रेण वन्येन सखिभिः पुनः।
अहंपूर्विकया सर्वैर्भूषितोऽसौ यथारुचि॥७२॥

श्लोकानुवाद—फिर सखाओंने यह कहते हुए कि "मैं पहले शृङ्गार कराऊँगा" श्रीकृष्णको अपनी-अपनी रुचिके अनुसार वन्य-भूषणोंसे विभूषित किया॥७२॥

दिग्दर्शिनी टीका—वन्येन हरितालतिलक–शिखण्डिमौलि–गुञ्जावतंसादिना यथारुचि यस्मै यथा रोचते तेन तथैवासौ भूषितः॥७२॥

भावानुवाद—वे सखा अपनी–अपनी रुचिके अनुसार श्रीकृष्णको विभूषित करने लगे, अर्थात् वनमें उत्पन्न हरिताल द्वारा तिलक, मयूरपंख द्वारा मुकुट, गुञ्जाहार और पुष्पोंके कुण्डल आदि द्वारा उन्हें अलंकृत किया॥७२॥

सरूपपाणौ जनशर्मसंज्ञं, समर्प्य तं विप्रमपूर्वयातम्।
सायं यथापूर्वमयं प्रविश्य, घोषेऽभिरेमे व्रजहर्षकारी॥७३॥

श्लोकानुवाद—तदुपरान्त व्रजको हर्ष प्रदान करनेवाले श्रीकृष्णने नवागन्तुक जनशर्मा ब्राह्मणको सरूपके हाथोंमें सौंप दिया तथा स्वयं सन्ध्याके समय पहलेकी भाँति गोपोंकी पल्लीमें प्रवेशकर आनन्दपूर्वक विहार करने लगे॥७३॥

दिग्दर्शिनी टीका—सरूपपाणौ समर्पणे हेतुः—अपूर्वयातं नूतनागतमित्यर्थः। यथापूर्वमिति अन्यस्मिन् दिने सायं गृहे समागत्य यथा क्रीड़ति तथैव। तच्च पूर्वं प्रायो वर्णितमस्त्येव। तदनुसारेणाधुनापि तद्बोध्यव्यमेवेति किं पुनर्वर्णयितव्यमिति भावः॥७३॥

भावानुवाद—अब श्रीसरूपके हाथोंमें श्रीजनशर्माको समर्पित करनेका कारण प्रदर्शित कर रहे हैं। श्रीगोपालदेवने व्रजकी रीति–नीतिकी शिक्षाके लिए नवागन्तुक जनशर्माको सरूपके हाथोंमें समर्पित कर दिया। फिर पहले जैसे अर्थात् अन्यान्य दिनोंकी भाँति जिस प्रकार सन्ध्याके समय घर आकर लीला करते थे, उसी प्रकार आज भी गोपोंकी पल्लीमें प्रवेश किया। इसका वर्णन पहले किया जा चुका है, उस वर्णनके अनुसार यहाँ भी समझना होगा। अतएव पुनः वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं है॥७३॥

गोपीनाथप्रसादाप्त–महासाधुमतिस्थिते।
विचार्य स्वयमादत्स्व स्वप्रश्नस्याधुनोत्तरम्॥७४॥

श्लोकानुवाद—श्रीपरीक्षित् महाराजने कहा—हे मातः! श्रीगोपीनाथकी कृपासे आपकी मति श्रेष्ठ साधुओं जैसी हो गयी है। अतः अब

आप अपने प्रश्नका उत्तर स्वयं ही विचार करके निश्चय कीजिये॥७४॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमितिहासं समाप्य निजमातृकृत-प्रश्नोत्तरं निष्पादयति—गोपीनाथेति। अधुना एतदितिहासश्रवणानन्तरं स्वकीय-प्रश्नस्योत्तरं स्वयमेव त्वं विचार्य आदत्स्व, करतल-कलितमिव कृत्वावकलयेत्यर्थः। ननु तत्र मम का शक्तिरिति चेत्तत्राह—गोपीनाथस्य प्रसादेन प्राप्ता महासाधूनामिव महासाध्या वा मतेः स्थितिर्निष्ठा यया; तस्याः सम्बोधनम्॥७४॥

भावानुवाद—इस प्रकार इतिहासका वर्णन समाप्तकर श्रीपरीक्षित् अपनी माता श्रीउत्तरा द्वारा किये गये प्रश्नका उत्तर देनेके लिए 'गोपीनाथ' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। हे मातः! अब इस इतिहासको श्रवण करनेके उपरान्त आप अपने प्रश्नके उत्तरको स्वयं ही विचार करके निश्चित कीजिये। अर्थात् अपने प्रश्नके उत्तरको अपने हाथमें प्राप्त वस्तुकी भाँति ही जानिये। यदि आप कहें कि इसका विचार करनेकी शक्ति मुझमें कहाँ है? इसके लिए श्रीपरीक्षित् कह रहे हैं कि श्रीगोपीनाथकी कृपासे आपकी महासाधु (श्रेष्ठ साधु) जैसी अथवा श्रेष्ठ साध्यके अनुरूप मतिमें स्थिति अर्थात् निष्ठा हो गयी हैं॥७४॥

श्रीगोलोके निखिलपरमानन्दपूरान्त्यसीम-,
गम्भीराब्धौ जननि गमनं साधय स्वप्रयासैः।
यस्मिंस्तास्ता विविधरतयस्तेन नाथेन साकं,
यात्रामात्रान्मधुरमधुराः सन्ततं संघटन्ते॥७५॥

श्लोकानुवाद—हे जननि! सम्पूर्ण परमानन्द राशिकी अन्तिम सीमाके गम्भीर सागरस्वरूप श्रीगोलोकमें गमन करनेका प्रयास कीजिये। वहाँ जानेमात्रसे ही अपने नाथ श्रीकृष्णके साथ विविध प्रकारका मधुर-मधुर लीला-विहार निरन्तर संघटित होता है॥७५॥

दिग्दर्शिनी टीका—स्वयमेव स्नेहेन तदुत्तरमभिव्यञ्जयन् फलितमुपदिशन् प्रकरणार्थमुपसंहरति—श्रीगोलोकेति चतुर्भिः। भोः जननि! निखिलस्य सम्पूर्ण-परमानन्दपूरस्यान्तःसीमा चरमकाष्ठा, तस्या गम्भीराब्धौ श्रीगोलोके गमनमेव स्वप्रयासैः साधय, गमनमात्रेणैव तत्र समग्रनिजाभीष्टसिद्धेः। यद्यपि श्रीभगवत्प्रसादभरेणैव तत्र गतिः स्यात्तथापि साधकानां तत् साधनश्रद्धासक्त्यादि-निमित्तमेवमुक्तमित्यूह्यम्। अन्यथा

सर्वत्रौदासीन्येन श्रीभगवत्प्रसाद एव न सम्भवेदिति दिक्। यस्मिन् श्रीगोलोके यात्रामात्रात् केवलगमनादेव तेन नाथेन श्रीमदनगोपालदेव-महाप्रभुणा सह तास्ताः परमानिर्वचनीयाः पूर्वोक्ता वा विविधा रतयः क्रीड़ाः सन्ततमविच्छेदेन सम्यक् पूनर्घटन्ते सम्पद्यन्ते॥७५॥

भावानुवाद—महाराज श्रीपरीक्षित् पुनः मातृस्नेहके कारण स्वयं ही प्रश्नका उत्तर स्पष्ट करते हुए उसके फलित (सार) अर्थका उपदेशकर प्रकरणके तात्पर्यका उपसंहार 'श्रीगोलोक' इत्यादि चार श्लोकों द्वारा कर रहे हैं। हे मातः! आप सम्पूर्ण परमानन्द राशिकी चरमसीमाके गम्भीर सागरस्वरूप श्रीगोलोकमें गमन करनेका प्रयास कीजिये, क्योंकि वहाँ जानेमात्रसे ही समस्त प्रकारके अभीष्ट सिद्ध होते हैं। यद्यपि श्रीभगवान्‌की प्रचुर कृपासे ही श्रीगोलोकमें जाना सम्भव होता है, तथापि सभी साधकोंके लिए गोलोक जानेके साधनमें श्रद्धा-आसक्ति इत्यादिके लिए ही ऐसा उक्त हुआ है। अन्यथा सर्वत्र उदासीन अर्थात् साधनमें उदासीन होनेसे श्रीभगवान्‌की कृपा प्राप्त होना सम्भव नहीं होता। उक्त विचारका यही दिग्दर्शन है। श्रीगोलोकमें गमन करनेमात्रसे ही गोलोकनाथ श्रीमदनगोपालके साथ (पूर्वोक्त) परम अनिर्वचनीय विविध प्रकारकी मधुर-मधुर लीलाएँ बिना किसी विच्छेदके सम्पूर्ण रूपसे संघटित होती हैं॥७५॥

भौमे चास्मिन् सपदि मथुरामण्डले यानमात्रात्
सिद्ध्येयुस्ताः सकलसमये यस्य कस्यापि नैव।
किन्त्वेतस्य प्रियजनकृपापूरतः कस्यचित् स्यु-
स्तद्वो मातश्चिनु पदरजस्तत्पदैकप्रियाणाम्॥७६॥

श्लोकानुवाद—परन्तु इस भौम मथुरामण्डलमें जानेमात्रसे सभीको सब समय श्रीमदनगोपालकी वे लीलाएँ दृष्टिगोचर नहीं होती हैं, तथापि श्रीमदनगोपालदेवके किसी प्रिय भक्तकी विशेष कृपाके फलस्वरूप किसी-किसीको वैसी सिद्धि भी प्राप्त होती है। अतएव हे मातः! आप वैसे भक्तोंकी श्रीचरणरेणुको यत्नपूर्वक संग्रहकर सिरपर धारण करें॥७६॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु त्वदुक्तानुसारेण मर्त्यलोकीय-श्रीमथुरामण्डलस्य तेन सहाभेदादत्रैव गमनं कथं न साध्यते? तत्राह—भौमे चेति। यानमात्रात् (यातमात्रात्) गमनमात्रेणैव सपदि तत्काल एव यस्य कस्यापि सर्वस्यैव सकलसमये सर्वदैव ताः तेन साकं विविधरतयो नैव सिध्येयुः, किन्तु यदा कदाचित् द्वापरयुगान्ते श्रीगोलोकनाथोऽसौ तथा प्रकटः सन्नवतरति, तदा गमनमात्रेणैव सर्वस्यापि कथञ्चित् सम्भवेयुः। तदानीन्तनानां सर्वेषामेव जीवानां परमभाग्यविशेषोदयेन सहसा तेषु जात-तत्कृपाविशेषेण वा तथा तदवतरणात्। अन्यदा तु कदाचित् कथञ्चित् कस्यचिदेव सिध्येयुरित्यर्थः। तदेवाह—किन्त्विति। एतस्य श्रीगोपीनाथस्य यः प्रियतमः परमप्रियो जनस्तस्य कृपापूरत एव कस्यचित् स्युस्ता एव। यथा च श्रीसरूपकृपया श्रीजनशर्मण इत्यत्र दृष्टान्तो वितर्क्यः। तत्तस्मात् कृष्णस्य भक्तिरेव, न तु मोक्षादिः प्रिया येषां जनानां तेषां पदरजश्चरणानां धूलिञ्चिनु, इतस्ततः अन्विष्य सञ्चयं कृत्वा रक्ष, प्रयत्नान्मूर्ध्नि धारयेत्यर्थः। तत एव तत्र गमनमत्रापि निजाभीष्टं सिध्येदिति भावः ॥७६॥

भावानुवाद—यदि आप कहें कि मेरी उक्तिके अनुसार मर्त्यलोक स्थित श्रीमथुरामण्डलका श्रीगोलोकके साथ अभेद होनेके कारण श्रीमथुरामण्डलमें जानेसे क्या सिद्ध नहीं होता? (अर्थात् समस्त प्रकारसे सिद्धि होगी)। इसकी अपेक्षासे श्रीपरीक्षित् 'भौमे' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। हे मातः! भौम मथुरामण्डलमें गमन करनेमात्रसे ही सभी व्यक्तियोंकी सब समयमें अर्थात् सर्वदा विविध प्रकारकी रति सिद्ध नहीं होती, अर्थात् श्रीकृष्णके साथ विविध प्रकारकी लीलाएँ नहीं होतीं। किन्तु जब किसी द्वापर युगके अन्तमें श्रीगोलोकनाथ स्वयं अवतीर्ण होते हैं, तब उस भौम मथुरामण्डलमें जानेमात्रसे ही सभीके लिए वैसी विविध रतिकी प्राप्ति हो सकती है। इसका कारण है कि वहाँ उपस्थित सभी जीवोंका परम सौभाग्य उदय होनेसे सहसा उनके प्रति श्रीभगवान्की विशेष कृपा उदित होती है, अथवा वहाँपर श्रीभगवान्के अवतरित होनेसे वैसी रति प्राप्त होती है। किन्तु अन्य समय (अवतार कालसे पृथक समयमें) कदाचित् बड़ी कठिनतासे किसी व्यक्तिको वैसी सिद्धि प्राप्त होती है। अर्थात् श्रीगोपीनाथके प्रियतम अर्थात् परम प्रियजनोंकी परिपूर्ण कृपासे ही किसीको वैसी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। इस विषयमें दृष्टान्त है—जिस प्रकार श्रीसरूपकी कृपासे श्रीजनशर्माकी अभीष्ट सिद्धि हुई। इसलिए कह

रहा हूँ—हे मातः! जिनको श्रीकृष्णभक्ति ही प्रिय है, मोक्ष आदि प्रिय नहीं है, वैसे महाजनोंके श्रीचरणोंकी धूलिको इधर-उधर ढूँढ़कर सञ्चय कीजिये और यत्नपूर्वक मस्तकपर धारण कीजिये। तभी वहाँ जानेमात्रसे ही अपने अभीष्टकी सिद्धि होगी॥७६॥

स्थानं गोपीगणकुचतटीकुङ्कुमश्रीभरार्द्र-
श्रीमत्पादाम्बुजयुग-सदाप्रीतिसङ्गप्रदायि ।
जिज्ञासोस्ते जननि कथितोऽशेषसन्देहघाती
गोलोकोऽयं मधुरगहन-प्रश्नभावानुसारात्॥७७॥

श्लोकानुवाद—हे मातः! जो स्थान गोपियोंके कुचकुङ्कुमसे रञ्जित श्रीमदनगोपालदेवके युगल श्रीचरणकमलोंके प्रति सदैव प्रीतिपूर्ण सङ्ग प्रदान करनेवाला है, आपने उस स्थानके विषयमें मधुर तथा गहन प्रश्न किया था। मैंने उस प्रश्नके उत्तरमें समस्त संशयोंको नाश करनेवाले श्रीगोलोकका माहात्म्य वर्णन किया है॥७७॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं कृत्यमुपदिश्य तदर्थमुचितं स्थानमेकं वैकुण्ठतः परम् अपेक्षितमवश्यं स्यात्तत् प्रकाश्योद्धरस्व मामिति प्रश्नो मात्रादौ यः कृतोऽस्ति, तदुत्तरस्य निष्ठामाह—स्थानमिति। भो जननि! ते त्वदीयस्य मधुरस्य गहनस्य च प्रश्नभावस्य अनुसारेण, न त्वपवादेन गोलोकोऽयं त्वां प्रति कथितः। कीदृशः? तत्रैव अशेषसन्देहस्य घाती नाशकः। सपरिकर-तन्माहात्म्योपाख्यान-श्रवणेनैव सर्वसंशयलोपापत्तेः। कथम्भूतायास्ते? गोपीगणस्य कुचतटीनां कुङ्कुमस्य श्रीभरेण शोभातिशयेन आर्द्रं युक्तं यत् श्रीमत्पादाम्बुजयुगं तस्मिन् सदा प्रीत्या प्रेम्णा सङ्गमः प्रीतियुक्तो वा सङ्गस्तस्य प्रदायि स्थानम्; जिज्ञासोर्ज्ञातुमिच्छन्त्याः॥७७॥

भावानुवाद—इस प्रकार उचित कृत्यके विषयमें उपदेश करके श्रीपरीक्षित् अपनी माता द्वारा उठाये गये प्रश्न "जो लोग समस्त साध्य-साधनकी आशासे रहित होकर केवल श्रीराधिकाजीके दास्यकी प्राप्तिकी इच्छासे उनका नामसंकीर्त्तन करते हैं, उनके लिए वैकुण्ठसे भी श्रेष्ठ कोई एक विशेष स्थान होना चाहिये, तथा वह अवश्य ही है। अतएव उसे प्रकाश करके मुझे संशयरूपी सागरसे उद्धार करो।" के उत्तरमें उस गोलोककी निष्ठाके विषयमें प्रकाश कर रहे हैं। हे मातः! मैंने आपके मधुर और गहन प्रश्नके भावानुसार अर्थात् उसका

विरोध न करके इस गोलोकके माहात्म्यका वर्णन किया है। श्रीगोलोकका उपाख्यान कैसा है? समस्त प्रकारके संशयोंका नाश करनेवाला है, अर्थात् सपरिकर श्रीगोलोक-माहात्म्यरूप इस उपाख्यानके श्रवणसे ही सब प्रकारके संशय लुप्त हो जाते हैं। अतएव आपने जिस स्थानके विषयमें जिज्ञासा की थी, अर्थात् जो स्थान श्रीगोपियोंके कुचकुङ्कुमकी अत्यधिक शोभासे युक्त श्रीचरणकमलोंका सदैव प्रीतियुक्त सङ्ग प्रदान कराता है, मैंने उसी श्रीगोलोकका माहात्म्य वर्णन किया है॥७७॥

वैकुण्ठस्याप्युपरि नितरां राजते यो नितान्त–
श्रीमद्गोपीरमणचरण–प्रेमपूरैकलभ्यः ।
वाञ्छावाञ्छोपरिगुरुफलप्राप्तिर्भूमिर्यदीया
लोका ध्याता दधति परमां प्रेमसम्पत्तिनिष्ठाम्॥७८॥

श्लोकानुवाद—यह श्रीगोलोक वैकुण्ठसे भी ऊपर विराजमान है तथा एकमात्र श्रीगोपीरमणके चरणकमलोंके प्रति परिपूर्ण प्रेम द्वारा ही प्राप्त होता है। यह गोलोक भक्तोंकी वाञ्छा तथा वाञ्छाके अतीत किसी अनिर्वचनीय श्रेष्ठ फलकी प्राप्तिका स्थान है। अतएव वहाँके परिकरोंका ध्यान करनेसे ही वे साधकोंको अपने अनुरूप परम प्रेमकी निष्ठारूप सम्पत्ति प्रदान करते हैं॥७८॥

दिग्दर्शिनी टीका—तल्लोकप्राप्तिसाधनन्तु केवलं श्रीगोपीनाथपादपद्मविषयक-प्रेमविशेष एव तस्य च तत्रत्येषु भक्तिरेवेति द्रढ़यन्नुपसंहरति—वैकुण्ठस्येति। यः श्रीगोलोको वैकुण्ठस्याप्युपरि नितरां राजते, अतो नितान्तेन सुदृढ़ेन श्रीमद्गोपीरमणचरणयोः प्रेमपूरेणैवैकेन लभ्यः लब्धुं शक्यः; अतएव वाञ्छाया यत्, वाञ्छाया उपरि च यत् गुरु महत्तरं फलं तस्य प्राप्तेर्भूमिर्विषयः। यदीया यद्गोलोकसम्बन्धिनो लोका ध्याताः स्मृताः सन्तः। यच्छब्दयोरयमिति पूर्वेणैवान्वयः॥७८॥

भावानुवाद—उस श्रीगोलोककी प्राप्तिका साधन केवल श्रीगोपीनाथके चरणकमलोंके प्रति विशेष प्रेम ही है तथा वैसे प्रेमकी प्राप्तिका उपाय व्रजवासियोंके प्रति भक्ति ही है—इसकी दृढता स्थापन करनेके लिए श्रीपरीक्षित् उक्त प्रसङ्गका उपसंहार 'वैकुण्ठ' इत्यादि श्लोक द्वारा कर रहे हैं। श्रीवैकुण्ठलोकसे भी ऊपर विराजमान श्रीगोलोक एकमात्र

श्रीगोपीरमणके चरणकमलोंके प्रति सुदृढ़ प्रचुर प्रेम द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। अतएव वह श्रीगोलोक वाञ्छा और वाञ्छासे भी अतीत किसी श्रेष्ठ फलकी प्राप्तिका स्थान है। उन श्रीगोलोकवासियोंका ध्यान करनेसे ही परम प्रेम-सम्पत्तिकी निष्ठा उत्पन्न होती है॥७८॥

अधुनात्राभियुक्तानि मुनीनां महतां शृणू।
इमानि वचनान्यात्म-चित्तसन्तोषणानि हि॥७९॥

श्लोकानुवाद—हे मातः! अब इस विषयमें चित्तको सन्तुष्ट करनेवाले महा-मुनियोंके श्रेष्ठ वचनोंका श्रवण कीजिये॥७९॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमितिहासद्वारा प्रश्नस्योत्तरं निष्पाद्य, *"श्रुति स्मृतीनां वाक्यानि साक्षात्तात्पर्यतोऽप्यहम्। व्याख्याय बोधयित्वैतत्त्वां सन्तोषयितुं क्षमे॥"* इत्यनेन पूर्वं मातृप्रश्नस्योत्तरापादनार्थं स्वयं यानि वचनानि उद्दिष्टानि सन्ति, तान्येवाधुना प्रस्तावयन् तद्द्वारा अन्येषां मुनीनामुक्तिभिः सहास्योपाख्यानद्वयस्य सम्वादमापादयति—अधुनेति द्वाभ्याम्। अत्र श्रीगोलोकमाहात्म्योपाख्याने कथितोपाख्यानद्वये वा इमानि वक्ष्यमानानि मुनीनां वचनानि, हि यतः आत्मनस्तव चित्तस्य सन्तोषणानि॥७९॥

भावानुवाद—इस प्रकार इतिहास द्वारा माताके प्रश्नका समाधान करके अब श्रीपरीक्षित् पहले कथित अपनी उक्ति (बृ. भा. २/१/३३-३४)—"यद्यपि मैं श्रुति और स्मृतिके सभी वचनोंकी मुख्य-वृत्ति और तात्पर्य-वृत्ति द्वारा व्याख्या करके आपको सन्तुष्ट कर सकता हूँ, तथापि सर्वप्रथम अपने गुरु श्रीशुकदेवजीकी कृपासे प्राप्त समस्त प्रकारके संशयोंको छेदन करनेवाला और स्पष्ट अर्थयुक्त व्याख्यानरूप इस प्रसिद्ध इतिहासका वर्णनकर अन्तमें श्रुति-स्मृतिके वचनोंको उद्धृत करूँगा।" इत्यादिके अनुसार अब अन्यान्य मुनियोंकी उक्तियों द्वारा, पूर्वकथित दो उपाख्यानों (श्रीनारद मुनिका तथा श्रीगोपकुमारका) के संवादको पुष्ट करनेके लिए 'अधुना' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। इस श्रीगोलोक-माहात्म्यके उपाख्यानको अथवा पहले कथित दो उपाख्यानोंको अब कहे जानेवाले महा-मुनियोंके वचनों सहित श्रवण कीजिये, क्योंकि यह वचन चित्तको सन्तोष प्रदान करनेवाले हैं॥७९॥

स्वर्गादूर्ध्वं ब्रह्मलोको ब्रह्मर्षिगणसेवितः।
तत्र सोमगतिश्चैव ज्योतिषाञ्च महात्मनाम्॥८०॥

श्लोकानुवाद—"(श्रीकृष्णका स्तव करते हुए इन्द्रके वचन)—स्वर्गलोकके ऊपर ब्रह्मर्षियों द्वारा सेवित ब्रह्मलोक है, जहाँपर उमा सहित श्रीशिव और ज्योतिस्वरूप मुक्त महात्मा जा सकते हैं॥"८०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्रादौ गोलोकमाहात्म्यमेव श्रीहरिवंशोक्तश्रीवैशम्पायनवचनेन सह संवादयन् श्रीगोवर्धनोद्धरणानन्तरं शक्रकृतभगवत्स्तुतौ पद्यान्ते वानुस्मारयति—स्वर्गादिति सार्धपञ्चभिः। तत्र च स्वर्ग-शब्देन *"भूर्लोकः कल्पितः पद्भ्यां भुवर्लोकोऽस्य नाभितः। स्वर्लोकः कल्पितो मूर्ध्ना"* (श्रीमद्भा. २/५/४२) इति वा लोककल्पनेति द्वितीयस्कन्धोक्तत्रिलोकपक्षानुसारेण स्वर्गमारभ्य सत्यलोकपर्यन्तं लोकपञ्चकमुच्यते। तच्च ब्रह्माण्डसीमाप्राप्तमेव, तस्मादूर्ध्वमुपरि ब्रह्मलोकः ब्रह्ममयलोको वैकुण्ठलोकः, सच्चिदानन्दघनत्वात्। यद्वा, ब्रह्मणः भगवतः श्रीकृष्णस्य लोकः वैकुण्ठाख्यः। यद्यपि ब्रह्माण्डाद्बहिरावरणानि, तेभ्यो बहिर्मुक्तिपदं, तदुपरि श्रीशिवलोकः, तदुपर्येव श्रीवैकुण्ठलोकः पूर्वमुक्तोऽस्ति, तथाप्यावरणादेर्लोकत्वप्रसिद्ध्यभावेन ऊर्ध्वतामात्रापेक्षया वा; किंवा स्वर्गस्यैव लोके सुप्रसिद्ध्या तस्मादप्यूर्ध्वत्वेनैव परममाहात्म्यसिद्ध्या स्वर्गादूर्ध्वमित्युक्तम्। किञ्च, यद्यपि *"परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्"* (श्रीगी. १०/१२) इति। *"परं ब्रह्म नराकृति"* इत्यादि वचनतः परब्रह्मशब्देनैव भगवान् श्रीकृष्णोऽभिधीयते, न च केवलब्रह्मशब्देन; तथापि *"अहमात्मा गुड़ाकेशः सर्वभूताशये स्थितः"* इति श्रीभगवद्-गीतासु (श्रीगी. १०/२०) विभूत्यध्याये विभूतिकथनारम्भे तथा बृहत्सहस्रनामस्तोत्रे—*"आत्मा तत्त्वाधिपः"* इति विभूतिनामकथने च आत्मशब्देन आत्मतत्त्वब्रह्मोक्तेः। तथा *"परात् परं ब्रह्म च ते विभूतयः"* इत्यादि-महाजनवचनतश्च ब्रह्मणो भगवद्विभूतित्वप्रतिपादनात्। तत्र च बृहत्सहस्रनामस्तोत्र एव भगवद्विभूतिनाम्नां भगवन्नाम-सहस्रमध्य एव गणनाद् विभूतिरूपस्यात्मतत्त्वस्य नाम्नो भगवन्नामस्वेव पर्यवसानात् ब्रह्मशब्देनापि क्वचिद् भगवान् श्रीकृष्णोऽभिधीयते। अतएव द्वितीयस्कन्धे (श्रीमद्भा. २/५/३९) श्रीशुकदेवेनोक्तम्—*"मूर्धभिः सत्यलोकस्तु ब्रह्मलोकः सनातनः"* इति। व्याख्यातञ्च श्रीधरस्वामिपादैः—"ब्रह्मलोको वैकुण्ठाख्यः सनातनो नित्यः, न तु प्रपञ्चान्तवर्तीत्यर्थः" इति। एवमेव ब्रह्मर्षयः, ब्रह्ममया ऋषयः; यद्वा, ब्रह्मणो भगवत ऋषयः परमभागवताः श्रीनारदादयस्तेषां समूहैः सेवितः नित्यमाश्रितः। तत्र गमने अधिकारिण आह—तत्र ब्रह्मलोके उमया सह वर्त्तत इति सोमः श्रीशिवः तस्य सपत्नीकस्यापि गतिर्ज्योतिर्ब्रह्म, तत्स्वरूपाणां मुक्तानामित्यर्थः। अत्र समासान्तः-प्रविष्टस्यापि गतिरित्यस्याकर्षः कार्यः, न तु तादृशानामपि सर्वेषामित्याह—महात्मनां महाशयानां मोक्षतुच्छतानुभवेन

तन्निरादरतया श्रीभगवच्चरणारविन्दभक्तिपराणां श्रीसनकादि-तुल्यानामित्यर्थः। यद्यपि श्रीनारदादयोऽपीदृशास्तथापि ते नित्यपार्षदा नित्यमेव निवसन्तीति पूर्वं पृथगुक्ताः। यथा-श्रुतार्थे च ध्रुव लोकादधस्तादेव चन्द्रसूर्यादीनां ज्योतिषां गतिर्महर्लोकेऽपि न वर्त्तते, अतः सत्यलोकेऽपि च न सङ्गच्छते, कुतस्तदुपरि वैकुण्ठलोके स्यात्॥८०॥

भावानुवाद—उनमें सर्वप्रथम श्रीपरीक्षित् श्रीगोलोक-माहात्म्यको ही श्रीहरिवंशमें उक्त श्रीवैशम्पायन-संवादके अन्तर्गत श्रीगोवर्द्धन-धारण करनेके उपरान्त इन्द्र द्वारा की गयी श्रीभगवान्‌की स्तुतिके अनुसार 'स्वर्ग' इत्यादि साढ़े पाँच श्लोकोंमें प्रतिपादित कर रहे हैं। 'स्वर्ग' शब्दके विषयमें श्रीमद्भागवत (२/५/४२) में कथित है—"उन विराट पुरुषके दोनों चरणकमलोंमें भूर्लोक, नाभिमें भुवलोक तथा मस्तकमें स्वर्गलोक कल्पित हुआ है।" द्वितीय-स्कन्धके इस प्रमाणके अनुसार त्रिलोकके अन्तर्गत स्वर्गसे आरम्भ करके सत्यलोक तक जो पाँच लोक हैं—अर्थात् स्वर्ग, महः, जन, तप और सत्य, ये 'स्वर्ग'-शब्द वाच्य है अर्थात् स्वर्ग कहे गये हैं और यहाँ तक ही ब्रह्माण्डकी सीमा है। इसके ऊपर ब्रह्मलोक अथवा ब्रह्ममय वैकुण्ठलोक है, क्योंकि वह सच्चिदानन्दघन स्वरूप है। अथवा ब्रह्मलोकका अर्थ है—भगवान् श्रीकृष्णका वैकुण्ठ नामक लोक।

यद्यपि ब्रह्माण्डके आठ प्रकारके बाहरी आवरणोंके भी बाहर मुक्तिपद है, उसके ऊपर श्रीशिवलोक है तथा उससे ऊपर श्रीवैकुण्ठलोक है—इस विषयमें पहले उल्लेख किया जा चुका है, तथापि ये सभी आवरण लोकके रूपमें प्रसिद्ध नहीं होनेके कारण अथवा उनकी उच्चतर स्थिति मात्रका विवेचन करके ही ऐसा कहा गया है। अथवा स्वर्गलोक सुप्रसिद्ध होनेके कारण उसके ऊपरमें स्थितिवशतः परम माहात्म्यकी सिद्धिके लिए स्वर्गलोकसे ऊपर कहा गया है।

यद्यपि श्रीगीता (१०/१२) में कहा गया है (श्रीअर्जुनने कहा)—"हे श्रीकृष्ण! आप परब्रह्म हैं, आपका धाम भी परम है तथा आपके कार्य भी परम पवित्र और नित्य शाश्वत हैं।" "परमब्रह्म नराकृति हैं", इत्यादि शास्त्र-वचनोंके अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण ही 'परमब्रह्म' शब्दसे कथित हुए हैं—केवल 'ब्रह्म' शब्दसे नहीं। तथापि श्रीभगवद्गीता (१०/१२) के विभूति-अध्यायमें विभूति कथनके आरम्भमें श्रीभगवान्‌की

उक्ति है—"हे गुडाकेश! मैं सभी प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित आत्मा (अन्तर्यामी) हूँ।" तथा बृहत्-सहस्रनाम-स्तोत्रमें उक्त "आत्मा तत्त्वाधिपः"—इस विभूति कथनमें भी 'आत्म' शब्दसे आत्मतत्त्व-ब्रह्मको ही कहा गया है। तथा "परात्पर ब्रह्म आपकी विभूति हैं।" इत्यादि महाजनोंके वचनोंमें भी 'ब्रह्म' शब्द भगवान्‌की विभूतिके रूपमें प्रतिपादित हुआ है। उस बृहत्-सहस्रनाम-स्तोत्रमें ही श्रीभगवान्‌की विभूतिको भी श्रीभगवान्‌के सहस्रनामोंमें गणना करनेके कारण विभूतिरूप 'आत्मतत्त्व' नाम भी श्रीभगवान्‌के नाममें ही पर्यवसित हो गया है। अतएव 'ब्रह्म' शब्दसे भी किसी-किसी स्थानपर भगवान् श्रीकृष्ण अभिहित हुए हैं।

द्वितीय-स्कन्ध (श्रीमद्भा. २/५/३९) में श्रीशुकदेव गोस्वामीने भी कहा है—"उस पुरुषके सिरपर सत्यलोक कल्पित हुआ है तथा उसके ऊपर सनातन ब्रह्मलोक है।" इस श्लोकपर श्रीधरस्वामीपादकी टीकामें कथित है—ब्रह्मलोक—'वैकुण्ठ' नामसे प्रसिद्ध है, वह सनातन अर्थात् नित्य तथा प्रपञ्च अर्थात् सृष्ट वस्तुओंके अन्तर्गत नहीं है। वह ब्रह्मलोक 'ब्रह्मर्षिगण' अर्थात् ब्रह्ममय ऋषियों द्वारा परिसेवित है। अथवा 'ब्रह्मर्षिगण' अर्थात् ब्रह्मणो—भगवान्‌से सम्बन्धित, ऋषयः—परमभागवत श्रीनारद आदि तथा गण—उनके समूह द्वारा सेवित अर्थात् नित्य आश्रित।

अब उस ब्रह्मलोकमें जानेके अधिकारियोंके विषयमें कह रहे हैं। उस ब्रह्मलोकमें 'सोम' अर्थात् उमा सहित रहनेवाले उमापति श्रीशिव जा सकते हैं और 'ज्योति' अर्थात् ब्रह्मस्वरूप मुक्त महात्मागण जा सकते हैं। परन्तु इनके जैसे सभी मुक्तगण वहाँ जा सकते हैं, ऐसा नहीं है। इसीलिए कह रहे हैं—महात्मा (महाशय) जो मोक्षको तुच्छ मानकर अर्थात् उसका अनादर करके भक्तिका अनुष्ठान करते हैं, अर्थात् श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंकी भक्तिमें अनुरक्त हैं, ऐसे श्रीसनकादिके समान मुक्त पुरुष ही वहाँ जानेके अधिकारी हैं। यद्यपि श्रीनारद आदि भी वहाँ जानेके अधिकारी हैं, तथापि वे श्रीभगवान्‌के नित्य पार्षद होनेके कारण वहाँपर नित्य निवास करते हैं। यह पहले पृथक् रूपसे वर्णन हो चुका है। (इस श्लोककी उक्त रूपमें अर्थात् ब्रह्मसंहिता और

वामनपुराण आदिके साथ समन्वय करके व्याख्या करनी होगी, अन्यथा यथाश्रुत अर्थ करनेसे सिद्धान्त ठीक नहीं होगा) इसलिए कह रहे हैं कि श्रवण किये हुए (यथाश्रुत) अर्थके अनुसार ध्रुवलोकके नीचे ही चन्द्र-सूर्य आदि ग्रहोंकी गति है, वे महर्लोक तक भी गमन नहीं कर सकते। अतएव जब वे सत्यलोकमें भी नहीं जा सकते हैं, तब उनका सबसे ऊपर स्थित श्रीवैकुण्ठलोकमें जाना किस प्रकार सम्भव होगा? ॥८०॥

तस्योपरि गवां लोकः साध्यास्तं पालयन्ति हि।
स हि सर्वगतः कृष्ण महाकाशगतो महान्॥८१॥
उपर्युपरि तत्रापि गतिस्तव तपोमयी।
यां न विद्मो वयं सर्वे पृच्छन्तोऽपि पितामहम्॥८२॥

श्लोकानुवाद—"उसके ऊपर गोलोक है। साध्यगण (सिद्ध परिकर) उसका पालन करते हैं। हे कृष्ण! वह लोक सर्वत्र व्याप्त महा-आकाशकी भाँति महान है। सबसे ऊपर वर्त्तमान वैकुण्ठलोकसे भी ऊपर स्थित गोलोकको केवल मनकी एकाग्रतारूप तपसे (समाधिसे) ही जाना जा सकता है तथा वहीं आप विहार करते हैं। हम देवता पितामह ब्रह्माजीसे पूछनेपर भी उसके विषयमें कुछ नहीं जान पाये॥"८१-८२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तस्य ब्रह्मलोकस्योपरि गवां लोकः श्रीगोलोक इत्यर्थः। यद्यपि ब्रह्मघनत्वेन श्रीवैकुण्ठलोकोऽसावपरिच्छिन्न एव, तस्योपरीत्युक्तिर्न घटत एव, तथापि यथा मुक्तिपदादपरिच्छिन्नादप्यूर्ध्वं श्रीशिवलोकः केनापि विशेषेण निर्दिष्टः; यथा चापरिच्छिन्नस्य श्रीशिवलोकस्याप्युपरि ततोऽधिकेन केनाप्युत्कर्षेन श्रीवैकुण्ठलोकोऽसौ परिकल्पितः, तथात्रापि श्रीभगवद्विलासरूप-शक्तिविशेष-विलसितेन केनचिदुत्कर्षभरेण श्रीवैकुण्ठलोकोपरि श्रीगोलोक इति व्यवस्था तु सुसिध्येत्। तेषामेव महात्मनां साध्या भजनीया, किंवा सामान्यतः सर्वेषामेव मादृशां ब्रह्मादीनां सनकादीनां शिवादीनाञ्च नारदादीनाञ्च परमाभीष्टसिद्धये बहुतरसाधनवरैः साधयितुं योग्या नित्यप्रियाः श्रीनन्दादयस्तं गोलोकं पालयन्ति, अधिकृत्य भुञ्जयन्ति। अथवा हे कृष्ण! तवैव साध्या नानाविधभावविशेषेण साधनीया वशीकर्त्तुं योग्याः सामान्यतः सर्व एव तत्रत्या गोप-गोपीप्रभृतयः। किंवा श्रीराधादयो गोप्य एव तत्रत्येष्वपि मध्ये प्रियतमत्वेन प्रधानतया ता एव विचित्रविहारादिना तं परिपालयन्ति, तन्माहात्म्यं

नितरां पोषयन्ति। प्रसिद्ध-साध्यगणानाञ्च देवगणानामन्तःपातित्वात् ज्योतिषामिव सत्यलोकेऽपि गमनाभावात् कुतः कुतो वैकुण्ठोपरि गमनाशङ्कापि अस्तुतरां, दूरे पालनवार्त्ता। एवं श्रीगोलोकस्य परमप्रपञ्चातीतत्वेनात्यन्त-सच्चिदानन्दघनरूपतया परमापरिच्छिन्नतामाह—स हीति। प्राकृत आकाशः स्वल्पाकाशः तस्माद्बाह्यो यः स तु महान्, तद्गतः तत्र वर्त्तमान एव; यद्वा, नित्यत्वापरिच्छिन्नत्वारूपत्व-व्यापकत्वादि साम्यादाकाश-शब्देन ब्रह्मोच्यते। महाकाशः परंब्रह्म; यद्वा, परमनिविड़स्तु श्यामकान्त्या महाकाश इवाकाशो भगवान् श्रीकृष्णः, तद्गतः सच्चिदानन्दघनत्वादिना तस्मादभिन्न-स्तत्स्वरूपो वैकुण्ठलोक इत्यर्थः। तत्रापि माहात्म्यविशेषेण स गोलोकस्तु महान् महाकाशगतः। तदेवाह—सर्वेषां लोकानामुपरि श्रीवैकुण्ठस्य लोकस्तस्याप्युपरि वर्त्तमान इत्यर्थः। तत्र तादृशेऽपि गोलोके तव गतिः। यथोक्तं श्रीभगवतैव शान्तिपर्वणि—*"एवं बहुविधै रूपैश्चरामीह वसुन्धराम्। ब्रह्मलोकञ्च कौन्तेय! गोलोकञ्च सनातनम्॥"* इति। सा च वैकुण्ठे यादृशी, तादृशी न भवति किन्तु ततोऽपि परमदुर्ज्ञेयेत्याह—तपोमयी, मनस ऐकाग्र्यं तपः समाधिरित्यर्थः, तन्मयी; समाधिनैव ज्ञातुं शक्याऽतोऽतीव दुर्वितर्क्येत्यर्थः। तदेवाह—यामिति। पितामहं श्रीब्रह्माणं पृच्छन्तोऽपीत्यनेन तस्यापि दुर्ज्ञेयत्वं ध्वनितम्॥८१-८२॥

भावानुवाद—उस ब्रह्मलोकके ऊपर गौओंका श्रीगोलोक विद्यमान है। यद्यपि ब्रह्मघनत्वके कारण श्रीवैकुण्ठलोक असीम है, अतएव उससे ऊपर कहना सङ्गत नहीं लगता, तथापि जिस प्रकार मुक्ति पदके असीम होनेपर भी किसी विशेष कारणवशतः उसके ऊपर श्रीशिवलोक निर्दिष्ट हुआ है तथा जिस प्रकार उस असीम शिवलोकके भी ऊपर उससे भी अधिक किसी उत्कर्षके कारण श्रीवैकुण्ठलोक परिकल्पित हुआ है, उसी प्रकार श्रीभगवान्‌के विलास रूप विशेष शक्तिकी शोभावशतः किसी अत्यधिक उत्कर्ष सहित श्रीवैकुण्ठलोकसे भी ऊपर श्रीगोलोककी व्यवस्था सुसंगत ही है। वह श्रीगोलोक (पूर्व श्लोकमें कथित) उन मुक्त महात्माओंके लिए भी साध्य अर्थात् भजनीय है। अथवा सामान्यतः सभीके लिए ही अर्थात् मेरे (इन्द्र) जैसे, ब्रह्मादि, सनकादि, शिवादि तथा नारदादिके लिए भी परम अभीष्ट होनेके कारण बहुत प्रकारके श्रेष्ठ साधनों द्वारा साधित होने योग्य है। नित्यप्रिय श्रीनन्द आदि परिकर ही उस श्रीगोलोकका पालन अर्थात् उसपर अधिकारकर उसकी रक्षा करते हैं। अथवा हे कृष्ण! आप ही साध्य हैं तथा नाना प्रकारके विशेष भावों द्वारा ही

साधनीय अर्थात् वशीकरण योग्य हैं। सामान्यतः वहाँके गोप-गोपियों अथवा उनमेंसे सर्वाधिक प्रियतम होनेके कारण श्रीराधा जैसी गोपियोंके साथ ही अनेक प्रकारके विचित्र विहार आदि द्वारा उस गोलोकका पालन करते हैं, अर्थात् गोलोकके माहात्म्यको अत्यधिक पुष्ट करते हैं।

लोक प्रसिद्ध साध्यगण देवताओंके रूपमें गणित होते हैं। चन्द्र, सूर्य आदि ग्रह ध्रुवलोकके नीचे अवस्थित हैं, वे महर्लोक तक भी नहीं जा सकते हैं। श्रीवैकुण्ठलोक महर्लोकसे बहुत ऊपर अवस्थित है, अतः जब वे वैकुण्ठलोक ही नहीं जा सकते, तब उनके द्वारा उसके ऊपर स्थित श्रीगोलोकमें जानेकी सम्भावना ही कहाँ है? इस प्रकार श्रीगोलोकके परम प्रपञ्चातीत और अत्यन्त सच्चिदानन्दघनरूप होनेके कारण उसकी परम असीमताको 'स हि सर्वगत' इत्यादि पदों द्वारा कह रहे हैं। ऐसा सर्वत्र प्रसिद्ध है कि वह श्रीगोलोक सर्वगत श्रीकृष्णके समान समस्त प्रपञ्च और प्रपञ्चसे अतीत वस्तुओंमें व्याप्त होकर अवस्थित है। अतएव सर्वव्यापक होनेके कारण श्रीगोलोक महान भगवत्-स्वरूपसे अभिन्न है। यहाँपर प्राकृत आकाश कहनेका अर्थ स्वल्पाकाश अथवा भूताकाश है। उस भूताकाशको क्रोड़ीभूत करके जो भीतर-बाहर सर्वत्र व्यापक है, वही महान आकाश है। अथवा नित्यता, असीमता और व्यापकतावशतः समानताके कारण उस आकाशको ही ब्रह्म कहा गया है, अतः महाकाश ही परमब्रह्म है। अथवा परम घन श्यामकान्ति महा-आकाशके सदृश कहनेसे भगवान् श्रीकृष्णको समझना चाहिए। 'तद्गत' अर्थात् उस महाकाशके अन्तर्गत कहनेसे उस श्रीकृष्णसे ही प्राप्त सच्चिदानन्दघनत्व आदिके कारण उनसे अभिन्न स्वरूप वैकुण्ठलोकको ही समझना होगा तथा उससे भी अधिक विशेष माहात्म्य होनेके कारण वह गोलोक ही 'महान्' अर्थात् महाकाशगत है। इसीलिए कह रहे हैं कि समस्त लोकोंके ऊपर श्रीवैकुण्ठलोक वर्त्तमान है तथा उससे भी ऊपर श्रीगोलोक विद्यमान है। उसी श्रीगोलोकमें आपकी गति अर्थात् विहार स्थल है। महाभारतके शान्तिपर्वमें श्रीअर्जुनके प्रति श्रीभगवान्के वचन हैं—"हे कौन्तेय! मैं जिस प्रकार पृथ्वीपर विविध प्रकारकी लीलाएँ

करता हूँ, उसी प्रकार ब्रह्मलोक तथा सनातन गोलोकमें भी लीलाएँ करता हूँ।" किन्तु गोलोकमें मेरी वह लीलाएँ वैकुण्ठसे भी विलक्षण होती हैं। अतएव गोलोककी लीलाएँ साधारण नहीं हैं, बल्कि परम दुर्ज्ञेय हैं, इसलिए उन्हें 'तपोमयी' कहा गया है। अर्थात् मनकी एकाग्रताको तप अथवा समाधि कहते हैं तथा उसी समाधिके द्वारा उन लीलाओंको जाना जा सकता है, इसलिए उन्हें अत्यधिक दुर्वितर्क्य समझना चाहिये। इसे बतलानेके लिए 'यां न विद्मे' इत्यादि पद कह रहे हैं। पितामह श्रीब्रह्माजीसे पूछनेपर भी हम उन्हें नहीं समझ पाये। इसके द्वारा उस श्रीगोलोकका दुर्ज्ञेयत्व ध्वनित हो रहा है॥८१–८२॥

गतिः शमदमाद्यानां स्वर्गः सुकृतकर्मणाम्।
ब्राह्मये तपसि युक्तानां ब्रह्मलोकः परा गतिः॥८३॥
गवामेव तु गोलोको दुरारोहा हि सा गतिः।
स तु लोकस्त्वया कृष्ण सीदमानः कृतात्मना॥८४॥
धृता धृतिमता धीर निघ्नतोपद्रवान् गवाम्॥८५॥ इति।

श्लोकानुवाद—"शम-दम आदिसे अपनी इन्द्रियोंका निग्रह करनेवाले सुकृतिशाली कर्मी स्वर्ग लोकमें जाते हैं और जो तप (श्रीभगवान्की सेवा) करते हैं, वे ब्रह्मलोक अर्थात् वैकुण्ठलोकमें उत्तम गतिको प्राप्त होते हैं। किन्तु जहाँ गायें-गोप-गोपियाँ निवास करते हैं, उस श्रीगोलोककी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। हे श्रीकृष्ण! हे धीर! जब वह श्रीगोलोक मेरे द्वारा किये गये उपद्रवोंसे अशान्त हुआ था, तब आपने उपद्रवको नष्टकर उसकी रक्षा की थी॥"८३–८५॥

दिग्दर्शिनी टीका—अधुना तस्य गोलोकेत्याख्याबीजमभिव्यञ्जयन् निजपालकवर्ग-सहितानां गवामेव प्राधान्येन तत्र निवास इति सदृष्टान्तमाह—गतिरिति। सुकृतकर्मणां जनानां मध्ये शम-दमाद्यानामेव स्वर्गः, देवलोकमारभ्य सत्यलोकपर्यन्तं गतिः प्राप्या इत्यर्थः; अन्यथा तु बिलस्वर्गः भौमस्वर्गादि। ब्राह्मये वैष्णवे, तपसि विष्णुविषयकमनः-समाधाने, युक्तानां सततमुद्युक्तानां रतचित्तानां वा प्रेमभक्तानामित्यर्थः। ब्रह्मलोको वैकुण्ठलोकः, एतद्द्वयं दृष्टान्ततयोक्तं, परेति परमोत्कृष्टत्वादपुनरावृत्तिलक्षणत्वाच्च।

गवामित्युपलक्षणं, तदनुवर्त्तिनां गोप-गोपीप्रभृतीनां, न तु गवामेव तत्र वास इति युक्तं, पूर्वमत्रैव 'साध्यास्तं पालयन्ति' इत्युक्तेः। अतो यथा भौममथुरामण्डलेऽस्मिन् व्रजे गोकुलादिशब्देन गवां गोपीनाञ्च निवासस्थानमुच्यते, तथात्राप्यूह्यम्। हि यस्मात्, सा गतिः तत्पदं दूरारोहा अन्यैः दुःखेनाप्यारोढुमशक्या, कथञ्चिदलभ्येत्यर्थः। हे कृष्ण! स गोलोकाख्यलोकस्तु सीदमानः मत्कृतगोकुलोपद्रवेण व्यथमानः सन् त्वया धृतो रक्षितः। यद्यपि नित्यत्वादानन्दघनत्वाच्च कदाप्यसौ लोको न खलु सीदत्येव, तत्र गमनाधिकारिणामपि न कोऽप्युपद्रवः सम्भवति, तथाप्यज्ञानेनेन्द्रकृतैस्तल्लोक-सम्बन्धिनीनां गवामुपद्रवैः सीदमान इव ज्ञात इति स्वदृष्ट्यनुसारेण निजापराधविशेष-ज्ञापनायेन्द्रेण तथोक्तमिति दिक्॥८३-८५॥

भावानुवाद—अब उस स्थानके 'गोलोक' नामसे प्रसिद्ध होनेके कारणको प्रकाशित करनेके लिए वहाँपर गौओं सहित उनके पालक अर्थात् गोप-गोपियोंकी प्रधानतावशतः उनके निवास इत्यादिका दृष्टान्त सहित वर्णन 'गतिः' इत्यादि श्लोक द्वारा कर रहे हैं। शम-दम आदि सुकृतिशाली कर्मी व्यक्ति स्वर्गलोक जाते हैं। अर्थात् स्वर्ग (देवलोक) से आरम्भ करके सत्यलोक तक उनकी गति होती है। अन्यथा (शम-दम आदिसे युक्त नहीं होनेपर) बिलस्वर्ग अथवा भौम-स्वर्गमें गति होती है। 'ब्राह्मये' अर्थात् वैष्णवकी 'तपस्यासे' अर्थात् विष्णुमें चित्तके सर्वदा अनुरक्त रहनेसे अथवा प्रेमभक्तिसे सम्पन्न भक्तगण ब्रह्मलोक—वैकुण्ठलोकमें परम गतिको प्राप्त करते हैं। इस प्रकार ब्रह्मलोक—वैकुण्ठलोक दोनोंका दृष्टान्त दिया गया है। 'परागति' अर्थात् परमोत्कृष्ट होनेके कारण उस स्थानपर पहुँचकर कभी भी लौटना नहीं पड़ता। 'गवां' इसके उपलक्षणमें वहाँके सभी गोप-गोपियोंको भी ग्रहण करना होगा, अन्यथा वहाँ केवल गौएँ ही वास करती हैं—ऐसा कहना युक्तिपूर्ण नहीं होगा, क्योंकि पहले कहा गया है—"साध्यगण (नित्य परिकर) उस लोकका पालन करते हैं।" अतएव जिस प्रकार भौम मथुरामण्डलके इस व्रजमें गोकुल आदि शब्द द्वारा गो, गोप-गोपी इत्यादि सभीके निवासस्थानके विषयमें बोध होता है, उसी प्रकार सभी गौओंका निवास स्थान होनेके कारण वह स्थान गोलोक नामसे विख्यात होनेपर भी वहाँ गोप-गोपी इत्यादि भी निवास करते हैं।

उस गोलोकको प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है और बहुत प्रकारके प्रयत्न और कष्ट करके भी कोई वहाँ नहीं जा सकता है। अर्थात् किसी भी प्रकारसे उस स्थानको प्राप्त नहीं कर सकता। हे श्रीकृष्ण! आपने उस गोलोक नामक लोकमें सभी गोकुलवासियोंके प्रति मेरे द्वारा किये गये उपद्रवसे दुःखित होकर मेरे उपद्रवका नाशकर उनकी रक्षा की थी। यद्यपि वह गोलोक नित्य है तथा वहाँ घनीभूत आनन्द होनेके कारण वहाँ कभी भी इन्द्रके द्वारा उपद्रवका दुःख नहीं हो सकता तथा वहाँ जानेके योग्य अधिकारियोंके प्रति भी किसी प्रकारका उपद्रव सम्भव नहीं है, तथापि अज्ञानतावश इन्द्रने सोचा कि मेरे द्वारा किये गये उपद्रवसे ही वे गोलोकवासी दुःखी जैसे लग रहे हैं। इस प्रकार अपनी दृष्टिसे अपने अपराधके विषयमें बतलानेके लिए ही इन्द्रकी ऐसी उक्ति है—जानना होगा॥८३–८५॥

किञ्च—

एवं बहुविधै रूपैश्चरामीह वसुन्धराम्।
ब्रह्मलोकञ्च कौन्तेय गोलोकञ्च सनातनम्॥८६॥ इति।

श्लोकानुवाद—"श्रीकृष्णने कहा—हे कौन्तेय! इस प्रकार मैं अनेक स्वरूपोंसे पृथ्वी और ब्रह्मलोक (वैकुण्ठलोक) आदिमें विहार करनेपर भी सनातन गोलोकमें नित्य निवास करता हूँ॥"८६॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं स्कन्दपुराणीयं श्रीकृष्णार्जुन-संवादवर्त्तिपद्यं चानुस्मारयति—एवमिति। पूर्वोक्तैः श्रीपुरुषोत्तमादिरूपैः सनातनं नित्यमिति प्रपञ्चातीतत्वमुक्तम्; अन्यत् पूर्ववदेव ज्ञेयम्। यच्चान्यो गोलोकः प्रपञ्चान्तः सत्यलोकादौ श्रूयते, यत्रत्या सुरभिः श्रीब्रह्मण आदेशाद्गोवर्धनोद्धरणानन्तरं निजकूलनिदान-माथुरगोकुलरक्षण-हर्षेण श्रीगोविन्दाभिषेकार्थमत्रागता, स तु ब्रह्मादीनां तत्तल्लोकाधिकारिणामुपभोगविषयो गवामावासो मथुरामण्डलवर्त्तीतरगवां प्राप्यो ज्ञेयः। श्रीमथुरायाञ्च नित्यं सन्निहितस्य, तत्र च सदा व्रजभूमौ विक्रीड़तो भगवतः श्रीगोपालदेवस्य सम्बन्धविशेषेणात्रत्यानां गवां वैकुण्ठोपरितनो गोलोक एव समुचित इति॥८६॥

भावानुवाद—अब स्कन्दपुराणके श्रीकृष्ण और अर्जुनके बीच हुए संवादका अनुसरण करके 'एवं' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। हे कौन्तेय! मैं इस प्रकार पूर्वोक्त श्रीपुरुषोत्तम आदि रूपसे इस पृथ्वी,

ब्रह्मलोक (वैकुण्ठलोक) और सनातन गोलोकमें लीला करता हूँ। यहाँपर 'सनातन' शब्दसे नित्य-प्रपञ्चातीत सूचित हुआ है। प्रपञ्चके अन्तर्गत सत्यलोक आदिमें अन्य गोलोकके विषयमें सुना जाता है, जहाँसे सुरभी गाय श्रीब्रह्माके आदेशसे गोवर्द्धन-पर्वत धारण करनेके उपरान्त अपने कुलके मूल कारण माथुर-गोकुलकी रक्षा करनेमें प्रसन्नचित्त होकर श्रीगोविन्दजीके अभिषेकके लिए आयीं थीं। वह प्रपञ्चके अन्तर्गत गोलोक ब्रह्मा आदि लोक-अधिकारियोंके उपभोग करने योग्य लोक है। अर्थात् इन सुरभी जैसी सभी गौओंका जो निवास स्थान है, वह मथुरामण्डलवर्ती गौओंके निवास स्थानसे भिन्न है—जानना होगा। इसका कारण है—"श्रीहरि श्रीमथुरामें नित्य सन्निहित हैं।" अतएव सर्वदा उस व्रजभूमिमें क्रीड़ारत भगवान् श्रीगोपालदेवके साथ नित्य सम्बन्धके कारण इस मथुरामण्डलवर्ती गौओंकी वैकुण्ठसे भी ऊपरके स्थानकी प्राप्ति समुचित ही है। इसके द्वारा श्रीगोलोकका सर्वोपरि विराजमान होना सिद्ध हुआ॥८६॥

श्रीजनमेजय उवाच—

वैष्णवाग्र्य मया सन्ति वैशम्पायनतः श्रुताः।
एते श्लोकास्तदानीञ्च कश्चिदर्थोऽवधारितः॥८७॥

त्वत्तोऽद्य श्रवणादेषां कोऽप्यर्थो भाति मे हृदि।
अहो! भागवतानां हि महिमा परमाद्भुतः॥८८॥

श्लोकानुवाद—श्रीजनमेजयने कहा—हे वैष्णव श्रेष्ठ श्रीजैमिनी ऋषि! मैंने पहले श्रीवैशम्पायन ऋषिके मुखसे इन सभी श्लोकोंको सुना था। उस समय मैंने जिस प्रकार इन श्लोकोंका अर्थ स्थिर किया था, अब आपके मुखसे इन सब श्लोकोंको सुनकर मेरे समस्त संशय नष्ट हो गये हैं तथा एक अपूर्व अर्थ हृदयंगम हुआ है। अहो! निश्चय ही श्रीभगवान्‌के भक्तोंकी महिमा परम अद्भुत है॥८७–८८॥

दिग्दर्शिनी टीका—श्रीहरिवंशीयानामेतेषां श्लोकानामीदृशोऽर्थस्तु परमभागवत-प्रसादादेवावगम्यत इति प्रतिपादयन् महाराजो भागवतोत्तमः श्रीजनमेजयो निजगुरुदेवस्य श्रीजैमिनिमहामुनेः प्रसादेन स्वकीयबोधविशेषोत्पत्तिं द्योतयन् परमपि किञ्चित् तन्मुखेन श्रोतुमिच्छन्नादौ तं स्तौति—वैष्णवेति, हे वैष्णवेषु अग्र्य श्रेष्ठ, एते

स्वर्गादूर्ध्वमित्यादयः श्लोकाः श्रुताः सन्ति, कश्चित् प्रपञ्चान्तः सत्याख्यब्रह्मलोकोपर्येव गोलोक इत्येवमादिरूपोऽर्थः। त्वत्तः त्वत्सकाशाच्च एषां श्लोकानां श्रवणाद्धेतोः कोऽपि प्रपञ्चातीततरस्य श्रीवैकुण्ठलोकस्याप्युपरि श्रीगोलोक इत्यादिरूपोऽर्थः अद्य मम हृदि प्रतिभाति। अहो आश्चर्ये, परमाद्भुतः अत्यन्तदुर्वितर्क्य इत्यर्थः॥८७–८८॥

भावानुवाद—श्रीहरिवंशके इन श्लोकोंका ऐसा निगूढ़ अर्थ केवल परमभागवत भक्तोंकी कृपासे ही बोधगम्य होता है—इस सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेके लिए भागवतोत्तम महाराज श्रीजनमेजय अपने गुरुदेव महामुनि श्रीजैमिनी ऋषिकी कृपाको ही अपनेमें विशेष ज्ञान उत्पन्न होनेका कारण बतला रहे हैं। पुनः उनके श्रीमुखसे कुछ और भी परम (श्रेष्ठ) श्रीकृष्णकी कथारूप अमृतको श्रवण करनेकी इच्छासे सर्वप्रथम 'वैष्णव' इत्यादि श्लोक द्वारा उनका स्तव कर रहे हैं। हे वैष्णव श्रेष्ठ! मैंने पहले श्रीवैशम्पायनके मुखसे 'स्वर्गादूर्द्ध्वं ब्रह्मलोको' इत्यादि श्लोक श्रवण करके—प्रपञ्चके अन्तर्गत सत्यलोक नामक ब्रह्मलोकके ऊपर गोलोक है—कुछ ऐसा अर्थ स्थिर किया था। किन्तु अब आपके मुखसे इन सभी श्लोकोंकी व्याख्या श्रवण करके मेरे हृदयमें ऐसा सिद्धान्त सुस्थिर हो गया है कि किसी एक अनिर्वचनीय महिमासे यह श्रीगोलोक प्रपञ्चसे अतीत श्रीवैकुण्ठसे भी ऊपर वर्त्तमान है। अहो! श्रीभगवान्‌के भक्तोंकी महिमा परम अद्भुत है, अर्थात् तर्कसे अतीत है॥८७–८८॥

कथासमाप्तिमाशङ्क्य मनो मे परितप्यति।
किञ्चिद्रसायनं देहि तिष्ठेद्येन सुनिर्वृतम्॥८९॥

श्लोकानुवाद—हे मुनिवर! इस अमृतमयी कथाकी समाप्ति होनेकी आशङ्कासे मेरा मन दुःखित हो रहा है। अतएव आप कुछ ऐसी रसायन (महा–औषधि) प्रदान करें जिसके प्रभावसे मेरा मन सदा प्रसन्न रहे॥८९॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं स्तुत्वा सदैन्यं किमपि हृद्यं प्रार्थयते—कथेति। श्लेषेण मरणशङ्कया ज्वराभिभूतमिव स्यात्; अतः किञ्चिद्रसायनं महौषधिविशेषं देहीत्यर्थः। वस्तुतस्तु प्रस्तुतश्रीभगवत्कथाया अन्ताशङ्कया मनो दूयते। अतः सर्वरसानां महारसविशेषस्य अयनम् आस्पदं श्रीभगवतस्तदीयानाञ्च माहात्म्यविशेषाख्यानं देहि,

साक्षादिव समर्पय; तद्रससञ्चारणपूर्वकं प्रस्फुटयन् सम्यक् श्रावयेत्यर्थः; येन रसायनेन सुनिर्वृतं परमसुखि सत्तिष्ठेत् मन एव॥८९॥

भावानुवाद—इस प्रकार स्तव करके श्रीजनमेजय दैन्य सहित हृदयकी रुचिके अनुसार किसी एक वस्तुकी प्रार्थना करनेके लिए 'कथा' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। श्लेष अर्थ द्वारा कह रहे हैं कि मरनेकी आशङ्कासे ज्वर आदिसे पीड़ित-सा हो गया हूँ, अतएव आप कोई विशेष रसायनरूप महा-औषधि प्रदान कीजिये। वस्तुतः प्रस्तावित उपाख्यानके समाप्त होनेकी आशङ्कासे अत्यधिक दुःखित होकर कह रहे हैं कि मेरा मन तृप्त नहीं हो रहा है। अतएव समस्त रसोंके महारस विशेषके आधारस्वरूप श्रीभगवान् तथा उनके प्रियजनोंके माहात्म्यरूप विशेष आख्यानको साक्षात् प्रदान कीजिये। उस रसको हृदयमें संचार कराकर कहे गये तत्त्वको प्रस्फुटित कीजिये अर्थात् भलीभाँति श्रवण करायें, जिसके प्रभावसे मेरा मन स्थिर होकर परम सुखको प्राप्त करे॥८९॥

श्रीजैमिनिरुवाच—

युक्तान्युपाख्यानवरद्वयस्य,
पद्यानि यान्यस्य जगौ पिता ते।
गोलोकमाहात्म्यकथाप्रहृष्टौ,
भो वत्स भावैर्मधुरैर्विचित्रैः॥९०॥

श्रुतिस्मृतीनामखिलार्थसार-,
मयानि गायन् रुचिराणि यानि।
क्षिपन् भवत्तातवियोगदुःखं,
सुखी चरामीह वदामि तानि॥९१॥

श्लोकानुवाद—श्रीजैमिनीने कहा—हे पुत्र जनमेजय! तुम्हारे पिता श्रीपरीक्षित्ने गोलोककी महिमाके वर्णनसे परमानन्दित होकर दोनों उपाख्यानोंके अनुरूप विचित्र मधुर-भावोंमें आविष्ट होकर जिन पद्योंका गान किया था, मैं श्रुति-स्मृतियोंके अर्थोंके सारस्वरूप उन्हीं समस्त मनोहर पद्योंका गान करके तुम्हारे पिताके वियोगसे उत्पन्न अपने दुःखको दूर कर संसारमें सुखपूर्वक विचरण करता हूँ। अब

मैं उसे तुम्हारे समक्ष कीर्त्तन करूँगा जिसके श्रवणसे तुम्हारा मन भी स्थिर (प्रसन्न) हो जायेगा॥९०–९१॥

दिग्दर्शिनी टीका—तथैव श्रीजैमिनेरपि परमरसायनरूपाणि श्रीगोलोकमाहात्म्यपराणि श्रीब्रह्मसंहितोक्तानि तथा श्रीमाथुर-व्रजभूमि-तत्रत्यलोकमाहात्म्यविशेषप्रतिपादनपराणि च श्रीदशमस्कन्धोक्तानि पद्यान्येवानुस्मरन् तैरेवोक्ततत्तन्माहात्म्यं प्रमाणयन्नाह—युक्तानीति द्वाभ्याम्। भो वत्स जन्मेजय! गोलोकमाहात्म्यस्य कथया कथनेन प्रहृष्टः सन् ते तव पिता श्रीपरीक्षित् विचित्रैर्विविधैर्मधुरैर्भावैरावेशैर्यानि पद्यानि जगौ, तानि पद्यानि वदामीति द्वयोरन्वयः। आदौ स्वयमुक्त-श्रीगोलोकमाहात्म्य-संवादकानि श्रीहरिवंशीय-पद्यान्युक्तानि, इदानीं तु सामान्यतो विशेषतश्च माथुरव्रजभूमेस्तत्रत्यानाञ्च स्वयमुक्तमाहात्म्य-भरसंवादार्थ-श्रीभागवतपद्यानि हर्षभरेण जगाविति ज्ञेयम्। ते ते भावाश्चाग्रे यथास्थानमुल्लेख्याः। कीदृशानि पद्यानि? अस्य सम्प्रत्युक्तस्य उपाख्यानवरद्वयस्य परमोत्तमकथाद्वयस्य युक्तान्यनुरूपाणि, अतएव श्रुतीनां स्मृतीनाञ्च अखिलस्यार्थस्य अभिधेयस्य फलस्य वा सारः परमोपादेयांशस्तन्मयानि, अतो रुचिराणि मनोहराणि; किञ्च, यानि गायन् अहं भवत्तातस्य श्रीपरीक्षितः वियोगेन यद्दुःखं तत् क्षिपन् निरस्यन् सुखी सन् इह जगति अस्मिन् देशेऽपि वा चरामि। अत एतच्छ्रवणादिना तवापि सर्वदुःखं विनङ्क्ष्यति, मनश्च सुनिर्वृतं स्थास्यतीति भावः॥९०–९१॥

भावानुवाद—श्रीजैमिनीने भी उसी प्रकार परम रसायनस्वरूप श्रीब्रह्मसंहितामें कहे गये श्रीगोलोक-माहात्म्य तथा दशम-स्कन्धमें कहे गये श्रीमाथुर-व्रजभूमिके माहात्म्य और वहाँके निवासियोंका माहात्म्य प्रतिपादित करनेवाले पद्योंका अनुस्मरणकर उन दोनों माहात्म्योंको प्रमाणित करनेके लिए जो कुछ कहा उसे 'युक्ता' इत्यादि दो श्लोकों द्वारा कह रहे हैं। हे वत्स! हे जनमेजय! आपके पिता श्रीपरीक्षित्ने गोलोक-माहात्म्यका वर्णन करते समय प्रसन्नचित्त होकर विचित्र अर्थात् विविध मधुरभावोंमें आविष्ट होकर जिन पद्योंका गान किया था, अब मैं भी उन्हीं पद्योंका गान कर रहा हूँ। सर्वप्रथम श्रीगोलोक-माहात्म्यसे सम्बन्धित श्रीहरिवंशीय पद्योंका वर्णन करके अब श्रीजैमिनी सामान्य और विशेष रूपसे माथुर-व्रजभूमि तथा वहाँके निवासियोंसे सम्बन्धित अपने द्वारा कहे गये माधुर्यसे परिपूर्ण सम्वादके अर्थस्वरूप श्रीभागवतीय पद्योंको हर्ष सहित गान कर रहे हैं। ये सब श्रीमद्भागवतके पद्य (भाव) आगे यथास्थानपर उल्लिखित हुए हैं। वे पद्य कैसे हैं? अभी तक कहे गये दोनों श्रेष्ठ उपाख्यानोंकी अर्थात्

दोनों परम उत्तम कथाओंके अनुरूप है। अतएव श्रुति और स्मृतियोंके समस्त अर्थों अथवा अभिधेयके फलोंका सारस्वरूप, परम उपादेय मनोहर अंश जिसका सब समय गान करते हुए मैं तुम्हारे पिता श्रीपरीक्षित् महाराजके वियोगसे उत्पन्न अपने दुःखको दूर करके प्रसन्नतापूर्वक इस जगत्में विचरण करता हूँ। अतः उन सब पद्योंको श्रवण करके तुम्हारा भी समस्त दुःख नष्ट हो जायेगा तथा मन भी स्थिर और प्रसन्न हो जायेगा॥९०-९१॥

"आनन्दचिन्मयरसप्रतिभाविताभि-
स्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः।
गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो,
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥९२॥

श्लोकानुवाद—"आनन्द-चिन्मयरसके द्वारा प्रतिभाविता, अपने चित्-रूपके अनुरूपा, चिन्मय रस स्वरूपा, चौंसठ कलाओंसे युक्ता, ह्लादिनीशक्तिस्वरूपा श्रीराधा और उनकी कायव्यूहस्वरूपा सखियोंके साथ जो अखिलात्मभूत गोविन्द अपने गोलोकधाममें निवास करते हैं, ऐसे आदिपुरुष श्रीगोविन्दका मैं भजन करता हूँ॥"९२॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्रादावुक्तं श्रीगोलोकमाहात्म्यमेव मधुरमधुरविशेषवचनैः पुनःपुनश्च सप्रमाणमिव प्रमाणयन् तल्लोकाधिपतेः श्रीगोविन्दस्य भगवतस्तत्रत्य-परिवार-परिच्छदादीनाञ्च माहात्म्यविशेषपराणि ब्रह्मसंहितायामनन्ताख्याने आदिपुरुषस्तोत्रस्य चतुष्पद्यान्याह—आनन्देत्यादीनि। यो गोविन्दस्ताभिः सुप्रसिद्धाभिरनिर्वचनीयाभिर्वा कलाभिर्वैदग्धीभिः गुणरूपादिसम्बन्धिविचित्रशोभाभिर्वा क्रीड़ाभिर्वा। यद्वा, निजांशभूतैर्गोपगोपी-प्रभृतिभिः सह गोलोक एव, न त्वन्यत्र नितरां वसति। कथम्भूताभिः? निजरूपतया स्वाभाविकतया, यद्वा, गोविन्दस्य स्वरूपत्वेन समानरूपत्वेन वा आनन्दचिन्मयेन परमसुखात्मकेन रसेन अनुभवविशेषेण; यद्वा, आनन्दज्ञानघनेन भावविशेषेण गोविन्दस्य प्रतिबिम्बतया तद्रसतद्रसप्रतिमारूपतया वा प्रतिभाविताभिर्निर्मिताभिः; यद्वा, तद्रसेन प्रतिक्षण-नूतनतया संस्कृताभिः। अखिलानां जीवानामात्मभूतः अन्तर्यामितया परमात्मत्वेन सदा हृदि वसन्नपीत्यर्थः। यद्वा, अखिलानामात्मनि चित्ते भूतः नित्यं प्रकटतया स्थितोऽपि; एवमपि स एवार्थः। आदिपुरुषं, सर्वावतारबीजत्वात् श्रीवैकुण्ठनाथादिभ्योऽपि श्रेष्ठत्वाच्च। तमिति परमोर्ध्वतरश्रीगोलोकेऽत्यन्तदूरे निवासित्वेन परोक्षवदुक्तिः॥९२॥

भावानुवाद—उनमेंसे सर्वप्रथम उक्त श्रीगोलोक-माहात्म्यको ही मधुर-मधुर विशेष वचनों द्वारा पुनः-पुनः प्रमाणित करते हुए उस लोकके अधिपति भगवान् श्रीगोविन्द तथा वहाँ स्थित उनके परिवार और परिकर आदिके माहात्म्यकी प्रधानतासे युक्त श्रीब्रह्मसंहिताके अनन्त उपाख्यानोंमेंसे आदिपुरुष-स्तोत्रके 'आनन्द' इत्यादि चार स्तोत्र गान कर रहे हैं। वे श्रीगोविन्द तथा उनकी सुप्रसिद्ध अथवा अनिर्वचनीय कला (शक्ति) अर्थात् वैदग्धी अथवा गुण-रूप आदिसे सम्बन्धित विचित्र शोभा अथवा क्रीड़ा—इन सबके साथ अथवा अपने अंशभूत गोप-गोपी आदिके साथ जो गोलोकमें ही वास करते हैं, अन्यत्र नहीं। वे सब कलाएँ कैसी हैं? श्रीगोविन्दका ही रूप अर्थात् उनसे अभिन्न होनेके कारण उनकी स्वाभाविक शक्ति हैं। अथवा श्रीगोविन्दके स्वरूप अथवा समान रूपवाली होनेके कारण आनन्द-चिन्मयस्वरूप अर्थात् परम सुखात्मक अनुभवसे निर्मित हैं। अथवा घनीभूत आनन्दज्ञानके भाव विशेष श्रीगोविन्दका प्रतिबिम्ब होनेके कारण उन-उन रसोंकी प्रतिमास्वरूप अथवा उनसे निर्मित हैं। अथवा उन-उन रसोंमें प्रतिक्षण नये-नये भावसे संस्कृत (अलंकृत) मूर्तियोंसे सम्पन्न हैं। 'अखिलात्मभूत' अर्थात् समस्त जीवोंके आत्मस्वरूप अर्थात् अन्तर्यामी-परमात्मा स्वरूपसे जो जीवोंके हृदयमें सदैव वास करते हैं। अथवा समस्त भक्तोंके हृदयमें 'भूतः' अर्थात् नित्य प्रकट रूपसे वास करनेपर भी वे गोलोकमें ही वास करते हैं। 'आदि पुरुष' अर्थात् समस्त अवतारोंके बीज होनेके कारण जो श्रीवैकुण्ठनाथ इत्यादिसे भी श्रेष्ठ हैं तथा जो परम उच्च अर्थात अत्यन्त दूर श्रीगोलोकमें वास करते हैं, मैं उन्हीं आदि पुरुष श्रीगोविन्दका भजन करता हूँ॥९२॥

गोलोकनाम्नि निजधाम्नि तले च तस्य,
देवीमहेशहरिधामसु तेषु तेषु।
ते ते प्रभावनिचया विहिताश्च येन,
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥९३॥

श्लोकानुवाद—"जिनका श्रीगोलोक नामक अपना धाम है तथा उसके नीचे यथाक्रमसे चौदह भुवनरूपी देवीधाम, महेशधाम, हरिधाम

विराजित हैं। उन सभी धामों और अपने धामके प्रभावसमूह जिनके द्वारा प्रकटित हुए हैं, मैं उन आदिपुरुष श्रीगोविन्दका भजन करता हूँ॥"९३॥

दिग्दर्शिनी टीका—आदिपुरुषत्वादि-माहात्म्यविशेषमेवाभिव्यञ्जयति—गोलोकेति, गोलोक इति नाम यस्य तस्मिन् निजे धाम्नि स्थाने; तथा तस्य गोलोकस्य तले अधस्ताद्वर्त्तमानेषु देवी-महेशयोः हरेश्च श्रीवैकुण्ठनाथस्य धामसु लोकेषु श्रीवैकुण्ठादिषु तेषु तेषु परमानिर्वचनीयषु; यद्वा, तेषु तेषु च महाकालपुरप्रभृतिषु अनन्तलोकास्तेषु पूर्वपूर्वोद्दिष्टेषु स्थानेष्वपि। देवीसद्म महेशलोकाधस्तात् तल्लोकान्तर्गतमेव; यद्वा, देवी अष्टमावरणाधिष्ठात्री प्रकृतिः; अदौ तन्निर्देशः अधोलोकतोऽनुक्रमापेक्षया। एतत्स्तोत्रकर्त्तुस्तदधःस्थितेः प्रभावो वैभवविशेषः शक्तिविशेषो वा, सच्चिदानन्दरुपत्वादिनैक्येऽपि विविधविशेषवत्त्वादिः तस्य निचयाः समूहा येन गोविन्देन विहिताः प्रकटिता इत्यर्थः। एवं श्रीगोविन्दस्य तस्य परिवारादीनाञ्च माहात्म्यविशेषोक्त्या श्रीगोलोकस्यैव माहात्म्यविशेष उक्तः॥९३॥

भावानुवाद—आदिपुरुष होनेके माहात्म्य विशेषको प्रकाशित करनेके लिए 'गोलोक' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। जिनका श्रीगोलोक नामक अपना धाम है तथा उसके नीचे देवीधाम, महेशधाम और हरिधाम अर्थात् श्रीवैकुण्ठनाथका धाम—श्रीवैकुण्ठलोक आदि वे सब परम अनिर्वचनीय धाम अथवा वे सब महाकालपुर इत्यादि पूर्व-पूर्वोद्दिष्ट अनन्तलोक भी यथाक्रमसे विराजमान हैं। देवीधाम शिवलोकके नीचे वर्त्तमान होनेके कारण उसके अन्तर्गत ही है अथवा देवी कहनेसे अष्ट आवरणकी अधिष्ठात्री प्रकृतिको समझना होगा। इस प्रकार उलटे क्रमसे अर्थात् निम्नलोकसे आरोह क्रमकी अपेक्षासे सर्वप्रथम देवीधामका निर्देश किया गया है, क्योंकि स्तुतिकर्त्ता श्रीब्रह्माकी स्थिति देवीधामसे नीचे है। अतएव हरि-महेश-देवीधाम और उनके अपने श्रीगोलोकधामका प्रभाव अर्थात् विशेष वैभव या शक्ति जिनके द्वारा प्रकटित हुई है, सच्चिदानन्दमय रूप होनेके कारण उन-उन धामोंके अलग-अलग विशेष-विशेष प्रभावोंको जो प्रकटित करते हैं, मैं उन आदिपुरुष श्रीगोविन्दका भजन करता हूँ। इस प्रकार श्रीगोविन्द तथा उनके परिवार आदिके माहात्म्य विशेषका वर्णन करनेसे श्रीगोलोकका ही विशेष माहात्म्य प्रतिपादित हुआ है॥९३॥

श्रियः कान्ताः कान्तः परमपुरुषः कल्पतरवो,
द्रुमा भूमिश्चिन्तामणिगणमयी तोयममृतम्।
कथा गानं नाट्यं गमनमपि वंशी प्रियसखी,
चिदानन्दं ज्योतिः परमपि तदास्वाद्यमपि च॥९४॥

श्लोकानुवाद—"वहाँ अप्राकृत लक्ष्मियाँ ही कान्ताएँ हैं तथा परमपुरुष श्रीकृष्ण ही एकमात्र कान्त हैं। सभी वृक्ष ही चिन्मय-कल्पतरु हैं, भूमि ही चिन्तामणि है, जल ही अमृत है, कथा (बोलना) मात्र ही गान है, चलना ही नृत्य है, वंशी प्रिय सखी है, ज्योति चिदानन्दमयी है तथा रस-गन्ध आदि चित्पदार्थ ही आस्वादनीय या भोग्य हैं॥"९४॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं विशेषतः साक्षात्तया श्रीगोलोकस्यैव माहात्म्यमाह—'श्रियः' (श्रीब्र. सं. ५/५६) इति द्वाभ्याम्। उत्तरश्लोकस्य यत्रेति पदं तत्रत्य-चकारबलादत्रापि सर्वत्र सम्बध्यत एव। यस्मिन् श्वेतद्वीपे कान्ताः स्त्रियः समस्ता एव श्रियः लक्ष्मीसदृश्यः लक्ष्म्यंशत्वात्। यद्वा तत्रत्या एव श्रियो महालक्ष्म्यो, न त्वन्यत्रेत्यर्थः। यत्र परमपुरुषः श्रीगोविन्द एव कान्तः रमणः, बहुत्वपाठे महापुरुषाः श्वेताः श्रीभगवदेकनिष्ठाः कान्ताः पतयः। यद्वा, स्त्रीणां बहुत्वेन प्रत्येकं ता रमयतः श्रीगोविन्दस्यापि बहुत्वापेक्षया बहुत्वं ज्ञेयम्। यत्र द्रुमाः सर्वे कल्पतरवः, सर्वमनोरथपूरणादिना; यत्र कथैव गानं, गीतवच्छ्रवणसुखावहत्वादिना; यत्र गमनमेव नाट्यं, सुन्दरगतिविशेषवत्त्वात्; यत्र वंश्येव प्रियसखी, सदा सहचरत्वात्, प्रीत्या पाणौ गृहीतत्वाच्च; यत्र तदनिर्वचनीयं चिदानन्दं परं ज्योतिरपि श्रीगोविन्दाख्यं तदीयप्रेमविशेषात्मकं वा आस्वाद्यम् अनुभवनीयम्, अपि निश्चये। यद्वा, ज्योतिः प्रदीपादितेजोपि परं चिदानन्दपरब्रह्मात्मकतया परमप्रकाशकत्वात् परमानन्दकत्वाच्च। किञ्च, यत्र तत् अनिर्वचनीयद्रव्यं श्रीगोविन्दाधरामृतमपि चास्वाद्यमुपभोग्यम्। ततश्च प्रायस्तत्र भगवतीनां श्रीगोपीनामेव प्राधान्यादेवमुक्तम्॥९४॥

भावानुवाद—अब विशेषतः साक्षात् रूपमें श्रीगोलोकका माहात्म्य वर्णन करनेके लिए 'श्रियः' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। जिस श्वेतद्वीप (श्रीगोलोक) में सभी कान्ताएँ अर्थात् स्त्रियाँ ही 'श्री' अर्थात् लक्ष्मीकी अंशी होनेके कारण लक्ष्मीरूपा हैं। अथवा लक्ष्मी उनकी अंश होनेके कारण केवल श्रीगोलोककी स्त्रियाँ ही महालक्ष्मी है, किन्तु अन्य किसी स्थान की स्त्रियाँ नहीं। जहाँपर परमपुरुष श्रीगोविन्द ही एकमात्र रमण अथवा कान्त हैं। यहाँपर 'कान्तः' का बहुत्व पाठ

होनेसे अर्थ होगा—एकनिष्ठ विशुद्ध श्रीभागवान्‌के पार्षद अर्थात् महापुरुष सभी कान्त अर्थात् पति हैं। अथवा कान्ताओंके अधिक होनेसे अपने अनेक प्रकाशों द्वारा प्रत्येक कान्ताके साथ रमण करते हैं, इसलिए एक श्रीगोविन्दके ही बहुत्वकी अपेक्षासे बहुवचन कहा गया है—ऐसा समझना होगा। जहाँके सभी वृक्ष कल्पतरु हैं, इसलिए सभीके समस्त मनोरथोंको पूर्ण करते हैं। जहाँपर स्वाभाविक कथा (बोलना) ही गान है, अर्थात् गीतके समान श्रवण-सुख देनेवाली है। जहाँपर सुन्दर गतिकी विशेषताके कारण सामान्य चलना-फिरना ही नृत्य है। जहाँ वंशी ही प्रिय सखी है, सदा सहचर होनेके कारण श्रीगोविन्द सदैव अपने हस्तकमलमें उसे धारण करते हैं। जहाँपर ज्योति ही चिदानन्द है अर्थात् अनिर्वचनीय चन्द्र आदि परम ज्योति-पुञ्ज ही चिदानन्दमय है, क्योंकि वह श्रीगोविन्द नामक परमेश्वरके ही अंशभूत हैं अथवा उनका प्रेम-विशेष होनेके कारण निश्चय ही अनुभव अर्थात् आस्वादन करने योग्य हैं। अथवा ज्योतिः कहनेसे प्रदीप आदि तेज भी परम चिदानन्दमय अर्थात् परम ब्रह्मात्मक तथा परम प्रकाशत्वके कारण परमानन्दमय है। तथा जहाँपर रस-गन्ध आदि अनिर्वचनीय द्रव्यसमूह अर्थात् श्रीगोविन्दके अधरामृत आस्वादनीय अर्थात् उपभोग्य है। वहाँ प्रायः भगवती श्रीगोपियोंकी प्राधानताके कारण ही उन्हें लक्ष्य करके अधरामृतका उल्लेख हुआ है॥९४॥

स यत्र क्षीराब्धिः सरति सुरभीभ्यश्च सुमहान्,
निमेषार्धाख्यो वा व्रजति नहि यत्रापि समयः।
भजे श्वेतद्वीपं तमहमिह गोलोकमिति यं,
विदन्तस्ते सन्तः क्षितिविरलचाराः कतिपये॥"९५॥ इति।

श्लोकानुवाद—"वहाँपर करोड़ों-करोड़ों सुरभी-गायोंसे चिन्मय महाक्षीर-सागर निरन्तर प्रवाहित होता रहता है। वहाँ भूत और भविष्यत् रूपमें कालका विभाजन नहीं है—अखण्ड नित्यकाल ही वर्त्तमान है, अतएव वहाँ आधा निमिष (पलक झपकानेका समय) भी अतीत (भूतकाल) नहीं होता। मैं उसी श्वेतद्वीपका भजन करता हूँ। इस पृथ्वीपर विरले साधु-महात्मा ही उसको श्रीगोलोकके रूपमें जानते हैं॥"९५॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, 'सः' अनिर्वचनीयः क्षीरब्धिर्यत्र सुरभीभ्यः कामधेनुभ्यः सरति प्रवर्त्तते निःसरति वा। यत्र सुमहान् द्विपरार्धाख्यः निमेषार्धाख्यो वा समयः कालोऽपि न हि व्रजति, न तं व्याप्नोतीत्यर्थः। कालहेतुकभयपरिणामोत्पत्त्याद्यभावात्। तं श्वेतद्वीपं विशुद्धं द्वीपवत् स्थानविशेषमहं भजे आश्रयामि। ननु तर्हि प्रपञ्चान्तर्गतक्षीरसमूद्रवर्त्ती प्रसिद्धश्वेतद्वीपोऽस्तु, नेत्याह—इह अस्मिन् लोके यं श्वेतद्वीपं गोलोकमिति विदन्तः जानन्तः सन्तः ते अनिर्वचनीयाः सन्तः साधवः क्षितौ विरलचारा भवन्ति, तदेव प्रीत्या निःसङ्गतया निभृतं चरन्तीत्यर्थः। कतिपय इति तादृशानां बाहुल्यासम्भवात्। एवं परमगूढ़त्वं सूचितम्; अतएव सर्वे तं न जानन्तीति भावः। यद्यपि प्रसिद्धः श्वेतद्वीपे अपि तद्वृत्तिर्घटते, तथापि तत्र सर्वासामेवस्त्रीणां श्रीत्वाभावात् परमपुरुषस्यैकस्य कान्तत्वाभावात् तथा वंशीप्रियसखीत्याद्य-भावाच्च। तथा तत्र नित्यक्षीराब्धिवृत्तेः सुरभीभ्योऽनिर्वचनीयक्षीराब्धिप्रसरणोक्त्ययोगाच्च। सर्वथा प्रपञ्चातीतो वैकुण्ठोपरि वर्तमानः श्रीगोलोक एव सङ्गच्छते; ततश्च तस्य श्वेतता, परमशुद्धत्वात्, सदा गव्यक्षीरमयत्वेन धावल्याच्च, तथा द्वीपशब्दस्याश्रयवाचित्वेन परमविशुद्धानां श्रीनन्दादीनां निवासस्थानत्वाच्च। द्वीपत्वञ्च श्रीमथुरामण्ड़लसादृश्येन श्रीयमुनातीरवर्त्तित्वात् मण्डलाकारत्वात् परितः क्षीरप्लुततया क्षीराब्धेरिव मध्य-वर्त्तित्वाच्चोह्यम्। एवञ्च श्रीमथुरैव क्षीराब्धिः गोप्रधानदेशतया क्षीरमयत्वाच्च। तथा श्रीवृन्दावनमेव श्वेतद्वीपः व्रजभूमिप्रधानत्वेन निरन्तरक्षीरधाराप्लुतत्वादिनेति वक्तव्यं स्यादिति दिक्॥९५॥

भावानुवाद—अब कुछ और भी कह रहे हैं कि उस स्थानपर सुरभी अर्थात् कामधेनु गायोंसे अनिर्वचनीय असीम क्षीरसागर प्रवाहित होता है। जहाँपर अत्यधिक महान द्विपरार्द्ध काल या निमेषार्द्ध (पलक झपकनेका समय) कालका परिमाण भी अतीत नहीं होता अर्थात् व्याप्त नहीं होता। अर्थात् वहाँ पल, विपल, अनुपल तथा दण्ड, प्रहर, दिन, मास, वर्ष इत्यादि कालका विभाग नहीं है, इसलिए कालके कारण भय और परिणाम उत्पन्न नहीं होते। मैं उसी श्वेतद्वीप अर्थात् विशुद्ध द्वीप जैसे विशेष स्थानका भजन करता हूँ अर्थात् आश्रय लेता हूँ।

यदि कहो कि क्या वे प्रपञ्चके अन्तर्गत क्षीरसमुद्रमें विद्यमान प्रसिद्ध श्वेतद्वीप है? इस बातका खण्डन करते हुए कह रहे हैं कि उस श्वेतद्वीपरूप गोलोकको जाननेवाले असाधारण साधु इस पृथ्वीपर बहुत विरले ही होते हैं, क्योंकि वे गोलोकके प्रति प्रीतियुक्त होकर निर्जनमें अवस्थान करते हैं। यहाँपर 'कुछ एक' कहनेका तात्पर्य यह

है कि वैसे साधुओंका बहुत संख्यामें होना असम्भव है। इसके द्वारा उक्त श्वेतद्वीपका परम गूढ़ भाव ही सूचित हुआ, इसलिए साधारण साधु उस गोलोकको नहीं जानते—यही भावार्थ है। यद्यपि ऐसा (मूल श्लोकमें उक्त) धर्म क्षीरसमुद्रके अन्तर्गत प्रसिद्ध श्वेतद्वीपमें भी वर्त्तमान रहता है, तथापि वहाँ सभी स्त्रियाँ महालक्ष्मी नहीं है, एक पुरुषका भी परमपुरुषत्व या कान्तत्व नहीं है तथा वंशीका प्रियसखित्व भी नहीं है। तथा वहाँ सुरभी गायोंसे अनिर्वचनीय नित्य क्षीरसागरका प्रादुर्भाव भी असम्भव है। इसके विपरीत प्रपञ्चातीत वैकुण्ठके ऊपर वर्त्तमान श्रीगोलोकमें ही यह सब धर्म सङ्गत हो सकते हैं। परम शुद्ध होनेके कारण और सदैव गायके दूधकी अधिकताके कारण उसकी श्वेतता (सफेद वर्ण) है तथा द्वीप शब्द आश्रयवाचक होनेके कारण वह स्थान परम विशुद्ध श्रीनन्द आदि परिकरोंका निवास स्थान होनेके कारण भी श्वेत है। 'द्वीप' कहनेका कारण यह भी है कि श्रीमथुरामण्डलके समान श्रीयमुनाके तटपर होनेके कारण यह श्रीगोलोक मण्डलाकारमें अवस्थित है तथा इसके चारों ओर मानो क्षीरसमुद्र प्रवाहित हो रहा हो—ऐसा जानना होगा। गो-प्रधान देश होनेसे मथुराको ही क्षीरसागर माना गया है तथा श्रीवृन्दावन ही श्वेतद्वीप है, क्योंकि श्रीवृन्दावन व्रजभूमिकी प्रधानताके कारण निरन्तर दूधकी धाराओंसे घिरा हुआ है। उक्त विचारका यही दिग्दर्शन है॥९५॥

किञ्च—

पुण्या वत व्रजभुवो यदयं नृलिङ्ग-
गूढः पुराणपुरुषो वनचित्रमाल्यः।
गाः पालयन् सहबलः क्वणयंश्च वेणुं,
विक्रीडयाञ्चति गिरित्ररमार्चिताङ्घ्रिः॥९६॥

श्लोकानुवाद—(श्रीमथुराकी स्त्रियोंने कहा)—"व्रजभूमि तथा वहाँके चराचर ही परमधन्य हैं, क्योंकि श्रीशिव और श्रीलक्ष्मी जिनके चरणोंकी वन्दना करते हैं, वे परम पुरुषोत्तम मनुष्यके वेषमें छिपकर वनके पुष्पोंसे बनी हुई मनोहर मालाको धारण करके वेणुवादन करते

हुए श्रीबलरामजीके साथ गोचारणलीलामें परम आनन्दित होकर वहाँ विहार भ्रमण करते हैं॥"९६॥

दिग्दर्शिनी टीका—अधुनादौ सामान्यतः व्रजभूमेस्तत्रत्यानाञ्च माहात्म्यप्रतिपादकानि पद्यान्याह—'पुण्या' (श्रीमद्भा. १०/४४/१३) इत्याद्येकादश। तत्रैव श्रीनन्दगोकुलतः श्रीमधुपुर्यामागत्य कुवलयापीड़ं प्रातर्हत्वा रङ्गभूमौ प्रविश्य चाणुरेण सह मल्लयुद्धेन क्रीड़न्तं श्रीभगवन्तं पश्यन्तीनां पुरयोषितां मध्ये काश्चिदाहुः—बाल-बलवद्‌युद्धदर्शनेन *"महानयं वताधर्मः"* (श्रीमद्भा. १०/४४/७) इत्यादिना सख्यादीनां निन्दायां क्रियमाणायां काश्चिदाहुः—पुण्या इति। वत खेदे (तिरस्कारे वा) निर्धारे वा। व्रज-भुव एव पुण्याः परमधन्याः, न त्वियं महापुर्यपि। बहुत्वं गौरवेण विस्तारापेक्षया वा। भू-शब्देन च सर्वं तत्रत्यं चराचर-प्राणिजातं शिलाकाष्ठादिकञ्च लक्ष्यते। यद्‌यासु अयं परममनोहरतया साक्षादनुभूयमानः श्रीकृष्णो विक्रीड़या विविधविहारेण हेतुना कृत्वा वा अञ्चति पर्यटति। अयं भावः—धिगिमां सभां, यस्यामयं पराभूयते, तास्तु व्रजभुवः पुण्याः, यासु विक्रीड़याञ्चतीति। यद्वा, व्रजे भवन्तीति व्रजभुवस्तत्रत्याः सचेतन-प्रपञ्चाः, त एव पुण्याः। न त्वत्रत्या नागराः क्षत्रियप्रवराः श्रीयादवा अपि। यत् यान् अञ्चति सम्मानयति। अयमित्यङ्गुल्या सन्दर्श्य वदन्ति। तन्नाम च भर्तृभावादिना प्रेममोह-भयेन वा स्पष्टं न किल कीर्त्तयन्तीत्यूह्यम्। ननु वृद्धगर्गवचनादि-प्रामाण्यादयमेव श्रीकृष्णोऽत्र प्रभुर्भवितेति निर्धार्यते। ततश्चेमे सभ्याः, सभा मधुपुरी चेयं, सर्वेऽत्रत्या अपि धन्या भविष्यन्तीति चेत् सत्यं, तथा सत्यपि ता व्रजभुव एव पुण्या इत्याहुः—पुराणो बहुशोऽनुभूतश्चासौ पुरुषश्चान्तर्यामितया हृन्निवासी तादृशोऽपि तथा गिरित्रेण श्रीशिवेन रमया च महालक्ष्म्या अर्चिताङ्‌घ्रिरपि मनुष्यस्य लिङ्गेन लक्षणेन गूढ़श्च। यद्वा, मनुष्यस्येव लिङ्गमाकारो यस्य स चासौ गूढ़श्च कंसवञ्चनाद्यर्थमप्रकटितवैभवः सन्, किंवा क्रीड़ाविशेषेण निकुञ्जादौ अलक्षितः सन्, किञ्च वनसम्बन्धीनि चित्राणि विविधानि माल्यानि यस्य सः। बलः श्रीबलरामस्तेन सहितः, किंवा 'सबलं हनिष्ये' इत्यत्र श्रीधरस्वामिपाद-व्याख्यानुसारेण बलं सैन्यं निजसहचरगोपकुमारकुलं तेन सहितः, गाः पालयन् वेणुञ्च क्वणयन् रासादिरूपया विक्रीड़याञ्चति। अयं भावः—श्रुतिस्मृत्यर्थ-पराणां क्षत्रियवराणामेषां पुराणपुरुषत्वेन सदानुभूयमानतया न तादृगादरविशेषः। अन्तर्यामि-वासुदेवबुद्ध्या न च साक्षाद्दर्शनेऽतीवौत्सुक्यम्। तथा दिव्यचतुर्भुजादिरूपदर्शनेन शिवादिसेव्यत्वज्ञानेन च तथा परमवैभवप्रकटनालोचनेनापि भयगौरवाद्युत्पत्तेर्न तादृशी प्रेम-सम्पत्तिः सम्भवेत्। तत्रत्यास्तु नित्यनूतनत्वेन कदाचिद्दूरस्थे चास्मिन् सति दर्शनोत्कण्ठातिशयेन तत्र च प्रकृष्टमनुष्याकारविलोकनेन च सदाविर्भवत्परमप्रेमपरम्परया, तत्रापि श्रीनन्दयशोदानन्दनज्ञानेन मधुरभावविशेषेण, तत्रापि च निगूढ़तया परमोपजीव्य-महानिधिवन्निरन्तरपरमापेक्षणादिना रहस्यविहारविशेषेण वाऽविरतमिमं भजन्तो

महासुख-विशेषपरमकाष्ठामनुभवन्तोऽतीव धन्याः। एवं निजानां परमधन्यतया व्रजभुवोऽपि परमधन्या एवेति सिद्धम्। किञ्च, यदि वा वक्तव्यमिदं प्रेमभक्तानां यादवानामेषां तादृक्त्वं न सम्भवतीति, तथाप्यत्रास्य वनचित्रमाल्यता कुतः स्यात्? भवतु वा राज्यैश्वर्यादिना साऽपि, तथाप्यत्र गोपालनं कुतः घटतां, राजगोष्ठ्याधिपत्येन लीलया तदपि, तथापि बलरामेण सह नित्यसाहित्यं कुतः? निज-निज-कर्तव्यार्थं कुत्रापि कस्यचित् गमनात् किंवा तद्गोपकुमारकुलसाहित्यं कुतः? भवतु वा कृततादृशवेशैर्यदुकुमारैस्तदनुकरणम्, तथाप्यत्र वेणुवादनं न सम्भवत्येव। किञ्च, रासादिक्रीड़ाश्रेणी चेति। सा च विक्रीड़येत्युद्देशेनैवोक्ता, तन्नाम च स्त्रीत्वाल्लज्जया न साक्षाद्गृहीतमिति ज्ञेयम्। एवमधुना पश्चादपि ता व्रजभुव एव तत्रत्याश्चैव पुण्या इति। यथाक्रमर्थनिर्वाहार्थं गिरित्ररमार्चिताङ्घ्रिरित्यस्यार्थान्तरञ्चेदं कल्पनीयम्। श्रीगोवर्धनगिरिधारणसमये प्रेमकटाक्षेण श्रमविध्वंसनद्वारा तस्माद्गिरेः सकाशात् त्रायते कृष्णमिवेति तथा चासौ रमा च लक्ष्मीस्तदवतारत्वेन तदभेदात्। यद्वा, गिरिणा तेनैव त्रायते व्रजभूमिमिति गिरित्रो गोवर्धनधारी; श्रीकृष्णस्तञ्च रमयतीति गिरित्ररमा श्रीराधा, तया अर्चिताङ्घ्रिरिति तच्च केवलं तत्रैव सम्भवतीति ता एव पुण्या इत्युपसंहारः। श्रीगोलोकमाहात्म्य-निरूपण-सञ्जातप्रेम-विशेषेण श्रीमथुरापुर-स्त्रीभावमाप्तः श्रीपरीक्षिन्महाराजः श्रीदशमस्कन्धस्य (श्रीमद्भा. १०/४४/१३)—*"पुण्या वत"* इति श्लोकमेतमगायदिति ज्ञेयम्॥९६॥

भावानुवाद—अब सर्वप्रथम श्रीजैमिनिजी सामान्य रूपसे व्रजभूमि तथा वहाँके निवासियों (चराचर) का माहात्म्य प्रतिपादन करनेके लिए (श्रीमद्भागवतीय) 'पुण्या' (श्रीमद्भा. १०/४४/१३) इत्यादि ग्यारह श्लोकोंका वर्णन कर रहे हैं। श्रीकृष्णने श्रीनन्दगोकुलसे श्रीमधुपुरीमें जाकर कुवलयपीड़ नामक महाबलवान हाथीकी प्रातःकालमें हत्या करके रङ्गभूमिमें प्रवेश किया था। तत्पश्चात् चाणूर नामक महा-बलवान् असुरके साथ मल्लयुद्धरूप क्रीड़ा करते हुए उन श्रीभगवान्को देखकर मधुपुरीकी स्त्रियोंमेंसे किसीने कहा (श्रीमद्भा. १०/४४/७)—"यह राज-सभासदोंका महान अन्याय ही है कि एक छोटेसे बालकके साथ अत्यन्त बलवान् मल्लको युद्ध करते देखकर भी राजा इसका निषेध न कर अनुमोदन ही कर रहे हैं।" ऐसा कहकर निन्दा करनेपर किसी-किसी स्त्रीने 'पुण्या' इत्यादि कहा था। 'वत' शब्द खेद अथवा तिरस्कारके रूपमें व्यवहृत हुआ है। निश्चय ही व्रजभूमि और वहाँके चराचर परमधन्य हैं, किन्तु यह मधुपुरी वैसी धन्य नहीं है। 'व्रजभुवो'

पदमें बहुवचनका प्रयोग गौरव अथवा विस्तारकी अपेक्षासे समझना चाहिये। अतएव 'भू' शब्दसे वहाँके चराचर प्राणी तथा शिला-काष्ठ आदि भी लक्षित हुए हैं। तात्पर्य यह है कि उस व्रजभूमिमें ये श्रीकृष्ण विविध प्रकारके परम मनोहर विहार सहित भ्रमण करते हुए साक्षात् अनुभूत होते हैं। इस सभाको धिक्कार है जिसके सभासद उन्हें पराजित करनेकी चेष्टा कर रहे हैं। अतएव वह व्रजभूमि ही परमधन्य है जहाँपर वे स्वेच्छासे लीला करते हुए विचरण करते हैं। अथवा यहाँके नागर श्रेष्ठ क्षत्रिय श्रीयादवसे भी व्रजका सचेतन प्रपञ्च ही (सृष्ट वस्तुएँ) परमधन्य है, क्योंकि वे श्रीकृष्णको सम्मान करते हैं। 'अयं' (इस प्रकार अङ्गुली दिखलाकर कह रही हैं) अर्थात् 'ये' कहनेका तात्पर्य यह है कि भर्तृभाव (पतिभाव) आदिके कारण अथवा प्रेममोहके कारण या भयवशतः श्रीकृष्णका नाम स्पष्ट रूपसे उच्चारण नहीं किया।

यदि कहो कि वृद्ध गर्गाचार्य आदिके वचन और प्रमाण आदिके अनुसार यही श्रीकृष्ण इस स्थानके प्रभु निर्धारित किये गये हैं। अतएव ये सभ्यगण और सभा तथा इस मधुपुरीके सभी वासी ही धन्य हैं। यदि ऐसा सत्य भी हो, तथापि उस व्रजभूमि और व्रजमें उत्पन्न चराचर ही परमधन्य हैं, क्योंकि ये श्रीकृष्ण पुराण पुरुष हैं, अर्थात् बार-बार अनेक रूपोंसे अनुभूत होकर भी अन्तर्यामी रूपसे सभीके हृदयमें वास करते हैं। तथा वैसे होकर भी श्रीशिव, रमा अर्थात् श्रीमहालक्ष्मी द्वारा उनके श्रीचरणकमल पूजित होनेपर भी वे व्रजभूमिमें मनुष्यके वेशमें छिपकर रहते हैं। अथवा मनुष्य रूपमें गुप्त रूपसे अर्थात् कंसकी वञ्चना करनेके लिए अपने वैभवको अप्रकटित करके या फिर विशेष लीला द्वारा निकुञ्ज आदिमें अलक्षित भावसे वनमें उत्पन्न विविध प्रकारकी विचित्र माला आदि धारण करके लीला करते हैं। 'बल' अर्थात् श्रीबलरामजीके साथ या फिर 'सबलंहनिष्ये' इत्यादि श्रीधरस्वामीपादकी व्याख्याके अनुसार बल-सैन्य अर्थात् अपने सहचर गोप-बालकोंके साथ गोचारण करते हैं तथा विश्वको मोहित करनेवाली वेणुनाद करते हुए रास आदि क्रीड़ा द्वारा पूजित होते हैं। इसका भावार्थ है कि श्रुति-स्मृतिके अर्थोंमें अनुरक्त ये सब श्रेष्ठ

क्षत्रिय इन श्रीकृष्णको पुराण पुरुषके रूपमें सदा अनुभव करनेके कारण उनके प्रति विशेष आदर प्रकाश नहीं करते हैं। अर्थात् अन्तर्यामी वासुदेव बुद्धिके कारण श्रीकृष्णके साक्षात् दर्शनके लिए अत्यन्त उत्सुकता प्रकाश नहीं करते। इनके दिव्य चतुर्भुज आदि रूपका दर्शनकर और श्रीशिव आदिके द्वारा सेवित होनेके ज्ञानसे तथा इनके परम वैभवके प्रकटनकी आलोचना करके भी भय-गौरव आदिका सञ्चार होता है, इसलिए उनमें वैसी प्रेम-सम्पत्ति उदित नहीं होती है। परन्तु वे व्रजवासी श्रीकृष्णको नित्य नवीन रूपसे दर्शन करते हैं, क्योंकि किसी समय जब वे दूर चले जाते हैं, तब दर्शन उत्कण्ठा अत्यधिक वर्द्धित होती है तथा श्रीकृष्णको प्रकृष्ट (सम्पूर्ण) मनुष्याकारमें देखनेके कारण व्रजवासियोंमें क्षण-क्षणमें परमप्रेमकी धाराका आविर्भाव होता है। विशेषतः श्रीनन्द-यशोदाके पुत्र रूपमें जानकर मधुर भावसे निगूढ़ रूपमें परम उपजीविकारूप महानिधिके समान निरन्तर परमाभीष्ट रहस्यमय विहारके कारण अविच्छेद भजनशील ये व्रजवासी सदैव महा-सुखकी चरमसीमाका अनुभव करके अत्यन्त धन्य हो जाते हैं। इस प्रकार व्रजवासियोंके परम धन्य होनेसे व्रजभूमि भी परम धन्य ही है—यह स्वतः ही सिद्ध हो रहा है।

कुछ और भी कह रहे हैं—श्रीकृष्णने जिस प्रकार अपने प्रेमी भक्तोंके साथ लीलाएँ की हैं, इन यादवोंके साथ वैसी लीलाएँ करना सम्भव नहीं है। यदि सम्भव हों भी, तथापि उनकी वन्यवेश आदि विचित्रता किस प्रकार सम्भव होगी? यद्यपि वैसा भी हो जाये, तथापि राजऐश्वर्य आदि प्राप्त होनेपर यहाँ गोचारण किस प्रकार सम्भव हो सकता है? यदि गोष्ठ-राज्यके अधिपति होनेसे वह लीला भी सम्भव हो, तो भी श्रीबलरामजीके साथ निरन्तर सङ्ग नहीं हो सकता, क्योंकि अपने-अपने कर्त्तव्योंको पूरा करनेके लिए अलग-अलग जाना होगा या फिर उन गोपकुमारोंके साथ मिलन किस प्रकार होगा? यदि यादव कुमार उनके (गोपबालकों) जैसा वेश और अनुकरण आदि भी करें, तो भी यहाँ उनके द्वारा मनोहर वेणुवादन सम्भव नहीं हो सकता। फिर रासलीला आदि की बात तो बहुत दूर है। उस रासलीलाका

नाम भी मधुपुरीकी स्त्रियोंने लज्जावशतः साक्षात् उल्लेख नहीं किया है—जानना होगा। इसके द्वारा पूर्ववत् व्रजभूमिका परम धन्य होना ही सूचित हुआ है।

यहाँपर यथाक्रम अर्थ अर्थात् 'गिरित्र रमार्चिताङ्घ्रि' इस पदके अर्थ निर्वाहके लिए निष्कर्ष निकाल रहे हैं कि गिरिराज गोवर्द्धनको धारण करनेके समय जिस गोपीने प्रेमकटाक्ष द्वारा श्रीकृष्णकी थकानको दूर करके उस गिरिसे श्रीकृष्णका त्राण किया था अर्थात् उन्हें उत्साहित किया था तथा जो श्रीलक्ष्मीकी भी अवतारी होनेके कारण उससे अभिन्न हैं—उस रमाका नाम 'गिरित्र रमा' है, अतएव उसके द्वारा अर्चित चरण। अथवा गिरिराज धारण करके श्रीकृष्णने व्रजका त्राण किया था, इसलिए उनका नाम गिरित्र अर्थात् गोवर्द्धनधारी श्रीकृष्ण हैं। उन गिरित्र श्रीकृष्णको जो रमण कराती हैं, वे रमा ही श्रीराधा हैं—उनके द्वारा अर्चित जो चरणकमल हैं। वस्तुतः इन सब विशेषणोंसे युक्त श्रीकृष्णलीला केवल व्रजमें ही हो सकती है तथा यहाँपर ये उन श्रीराधिका द्वारा सेवित नहीं होंगे। इसलिए व्रजभूमि ही धन्य है—यही उपसंहार है। श्रीगोलोक-माहात्म्यके निरूपणसे उत्पन्न विशेष प्रेमवशतः श्रीमथुरापुरकी स्त्रियोंके भावमें आविष्ट होकर ही श्रीपरीक्षित् महाराजने दशम-स्कन्ध (श्रीमद्भा. १०/४४/१३) के 'पुण्या वत' श्लोकका इसी भावसे गान किया था—समझना होगा॥९६॥

अहोऽतिधन्या व्रजगोरमण्यः,
स्तन्यामृतं पीतमतीव ते मुदा।
यासां विभो वत्सतरात्मजात्मना,
यत्तृप्तयेऽद्याप्यथ नालमध्वराः॥९७॥

श्लोकानुवाद—"अहो! इस व्रजकी समस्त गायें और गोपियाँ अत्यधिक धन्य हैं, क्योंकि हे विभो! आपने अनन्त गो-वत्स और गोपबालक बनकर उनके स्तनामृतका आनन्दसे प्रचुर रूपमें पान किया है। किन्तु सभी यज्ञ आदि आज तक भी आपको तृप्त करनेमें समर्थ नहीं हुए हैं॥"९७॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथ श्रीब्रह्मापि श्रीमद्वृन्दावनमागतः श्रीभगवतोऽनुग्रहविशेषेणाभि-व्यक्त-तत्परममहिमतत्त्व-रसावगाढ़-तद्रसकण्टकोद्धारपूर्वकं स्तुवन् तस्य भक्तिभक्तजन-माहात्म्यभरवर्णनमेव परमा स्तुतिरित्यभिप्रेत्य तथैव तामुपसंहरन् स्वयमपि योऽनाद्यविचारेण परममहाभाग्यतया भक्तिं प्रार्थयमानस्तदानीमेव सञ्जात-भगवन्महाप्रसादभरेण तदेव कान्तप्रियतमव्रजजनानां माहात्म्यविशेषं सम्यगभिज्ञाय तत्सदृशभक्ति-महाप्रसादलाभाशया तानभिनन्दति—*"अहोऽतिधन्या व्रज"* (श्रीमद्भा. १०/१४/३१) इति दशभिः। तत्रादौ श्रीभगवता पीतस्तन्यानां तन्मातृरूपाणां गोपीनां गवाञ्च माहात्म्यमाह। अहो आश्चर्ये, अतिशब्दोऽतिशये। परमाद्भुतधन्यतायुक्ता इत्यर्थः। व्रजस्यास्य गावो धेनवः रमण्यश्च स्तन्यदानेन त्वां रमयन्ति तर्पयन्तीति निजमाहात्म्यभरेण जगदेव रमयन्ति सुखयन्तीति ताः गोप्यः। गोभ्यः सकाशात्तासां धन्यताधिक्याभिप्रायेण पश्चान्निर्देशः। कुतो धन्याः? ते इति त्वया। यस्य तव तृप्तये जगत्तर्पका अपि सदा मादृशैर्वितायमाना अश्वमेधादयः सर्वे यज्ञाः पूर्वमधुनापि न समर्थाः बभूवुः, तेन त्वया यासां स्तन्यमेव अमृतं परममधुरत्व-परमानन्दस्वरूपत्वादिना अतएव मुदा हर्षेण प्रतिक्षणं तृप्यता तत्रापि वत्सतराणामात्मजानाञ्च रूपेण पीतम्। अतीतनिर्देशस्तु ब्रह्महृतवत्स-वत्सापानां भूतप्रायागमनेन तत्तन्मातृणां प्रायः पयःपाननिवृत्तिप्रत्यासत्तेः। अतीव अत्यन्तमित्यस्य पूर्वोत्तरेण च पदेन सम्बन्धः। ततश्चातीव मुदेत्यनेन भगवतः परमभक्तवात्सल्यं, अतीव पीतमित्यनेन च तत्र तृप्तिराहित्यं सूचितम्। हे विभो! सर्वव्यापक! अनेन वत्स वत्सप-स्वरूपत्वादावप्यपरिच्छिन्नत्वमुक्तम्। किंवा हे परमशक्तियुक्तेति परब्रह्मतयाऽपरिच्छिन्नत्वेऽपि भक्तमोदार्थं परिच्छिन्नवत् वत्सपरूप-वैचित्रीधारणेनासम्भाव्य-कृतिसामर्थ्यं दर्शितं, यद्यपि भगवत्प्रियतम-प्रधानानां श्रीराधादीनामेव माहात्म्यमादौ वर्णयितुमुपयुक्तं स्यात्तथापि प्रेमरसविशेषाभावेन तासां माहात्म्यविशेषज्ञानानुत्पत्तेस्तादृक्त्वाप्रार्थनात् न तदुक्तमित्यूह्यम्। अतएव श्रीबालगोपालस्यैव सन्दर्शनं जातं स्वयमपि स्तुत्यारम्भे 'मृदुपदे' इति बाल्यमेवाभिप्रेतम्। अथवा वृद्धतरसेवकोऽयं पुत्राभिमानी धाष्ट्र्यपरिहाराय न तत् किमप्यवर्णयदिति ज्ञेयम्। अतएव प्रथमं स्तन्यदायिनीनामेव परमधन्यतोक्तेरिति दिक्। भक्तिभराविर्भावेणाखिलभक्त-वर्गगुरु-श्रीब्रह्मभावं प्राप्तोऽसौ ततः परं दशश्लोकीमगायत् तथा हि॥९७॥

भावानुवाद—श्रीब्रह्माने भी श्रीवृन्दावनमें आकर श्रीभगवान्‌की विशेष कृपा प्राप्त की थी तथा उसी कृपाके बलसे उनके हृदयमें व्रजवासियोंकी परम महिमाका तत्त्व अभिव्यक्त हुआ था। तत्पश्चात् उन व्रजवासियोंके रसमें निमग्न होनेके लिए उन्होंने उस रसके कण्टक (विघ्न-बाधाओं) को दूर करते हुए स्तव किया, अर्थात् श्रीकृष्णकी भक्ति और भक्तोंके प्रचुर माहात्म्यका वर्णन करना ही

उनकी परम महिमा प्रकाशक स्तुति है—इसी अभिप्रायसे स्तव किया। उक्त स्तवका उपसंहार करते हुए उन्होंने स्वयं सर्वप्रथम बहुत विचार करके परम सौभाग्यवशतः श्रीभगवान्से भक्तिकी प्रार्थना की थी और उसी प्रार्थनाके फलस्वरूप श्रीभगवान्की प्रचुर कृपासे उनके एकान्त प्रियतम व्रजवासियोंकी माहात्म्य राशिको सम्पूर्ण रूपसे समझ पाये थे। इसलिए उन व्रजवासियोंके समान भक्तिको प्राप्त करनेकी आशासे उनका अभिनन्दन करते हुए (श्रीमद्भा. १०/१४/३१) 'अहो अतिधन्या' इत्यादि दस श्लोक कह रहे हैं।

उनमेंसे सर्वप्रथम श्रीभगवान्ने जिनका स्तनपान किया था, उन मातारूपी गोपियों तथा गायोंका माहात्म्य वर्णन कर रहे हैं। 'अहो!' (आश्चर्य) इस व्रजकी समस्त गायें और रमणियाँ अत्यधिक अर्थात् परम धन्य हैं, क्योंकि उन्होंने अपना स्तनपान कराकर आपको तृप्त किया है तथा अपने प्रचुर माहात्म्यसे जगत्को भी आनन्दित कर रही हैं। गोपियोंके नामका बादमें उल्लेख करनेके कारण उनका गायोंसे अधिक धन्य होना सूचित हुआ है। वे क्यों धन्य हैं? इसके लिए कह रहे हैं—आपके तृप्त होनेपर जगत् परितृप्त हो जाता है, किन्तु मेरे जैसे व्यक्तियों द्वारा सदैव अनुष्ठित अश्वमेध आदि समस्त यज्ञ पहले या आज तक भी आपको वैसी तृप्ति प्रदान नहीं कर सके हैं। व्रजकी गायों और गोपियोंका स्तनामृत परममधुर और परमानन्द स्वरूप है, इसलिए आपने बछड़े और पुत्ररूपमें उनका स्तनामृत प्रसन्नतापूर्वक प्रतिक्षण पान किया है। मूल-श्लोकके 'पीतम्' इस क्रियाके अतीत अर्थात् भूतकालमें निर्देश द्वारा यह सूचित हो रहा है कि यद्यपि श्रीब्रह्मा द्वारा चुराये गये सभी बछड़ों और गोपबालकोंके आगमनमें विलम्ब नहीं हुआ, तथापि तब तक उनकी अपनी-अपनी माताओंका स्तनपान करनेकी प्रवृत्ति प्रायः निवृत्त हो गयी थी। "अत्यन्त आनन्दित होकर अत्यधिक दुग्धका पान किया है।" यहाँपर 'अत्यन्त आनन्द' कहनेसे श्रीभगवान्के परम भक्त-वात्सल्यका तथा 'अत्यधिक पान' कहनेसे उनका तृप्त नहीं होना सूचित हो रहा है। हे विभो! आप सर्वव्यापक हैं, अर्थात् बछड़ों और गोपबालकोंके स्वरूपसे भी आपका अपरिच्छिन्न और असंख्य रूपमें होना प्रदर्शित

हुआ है। अथवा हे परम शक्तियुक्त! परब्रह्म होनेके कारण अपरिछिन्न होनेपर भी आपने भक्तोंको आनन्दित करनेके लिए परिछिन्नवत् (सीमित वस्तुकी भाँति) गोपबालकोंके विविध रूप धारण करनेके असम्भव कार्यको भी करनेमें सामर्थ्य प्रदर्शित किया है।

यद्यपि श्रीभगवान्‌की प्रियतमाओंमें प्रधान श्रीराधा आदिका माहात्म्य सर्वप्रथम वर्णन करना उचित था, तथापि विशेष प्रेमरसके अभावके कारण उनके माहात्म्यके ज्ञानकी उत्पत्तिके अभावसे वैसी प्रार्थना और उनकी महिमा वर्णन नहीं की है। अतएव श्रीबालगोपाल स्वरूपके दर्शनसे उत्पन्न भावसे स्वयं ही स्तवके आरम्भमें 'मृदु पदे' इत्यादि पदसे बाल्यरूपका वर्णन कर रहे हैं। अथवा श्रीभगवान्‌के वृद्ध सेवक श्रीब्रह्माने पुत्राभिमानी होनेके कारण अर्थात् अपनेको श्रीभगवान्‌का पुत्र माननेके अभिमानवशतः अपनी धृष्टताको त्यागकर उस मधुर रसकी महिमाका वर्णन नहीं किया—ऐसा समझना चाहिये। इसलिए सर्वप्रथम स्तनपान करानेवालोंकी सौभाग्य-राशिके विषयमें बता रहे हैं। वस्तुतः भक्तिके आविर्भावसे समस्त भक्तोंके गुरु ब्रह्मभावको प्राप्त श्रीब्रह्माने भी इसके उपरान्त दस श्लोकोंमें व्रजवासियोंका स्तव करके उनकी महिमा गायी है॥९७॥

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥९८॥

श्लोकानुवाद—"अहो! परमानन्दस्वरूप पूर्णब्रह्म सनातन श्रीभगवान् जिनके मित्र हैं, उन गोपराज श्रीनन्द आदि व्रजवासियोंके भाग्यकी तो सीमा ही नहीं है! उनका कैसा महाभाग्य है!"॥९८॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं सर्वेषामेव परममहाधन्यतामाह—"अहो! भाग्यम्" (श्रीमद्भा. १०/१४/३२) इति। वीप्सा अत्यन्तहर्षेण परमातिशयापेक्षया वा। नन्दश्च गोपश्च व्रजौकसश्चान्ये सर्वे व्रजवासिनस्तेषाम्, येषां पूर्णत्वं ब्रह्मत्वं सनातनं मित्रं नित्यं हितकारि न तु कदाप्युपेक्षकमित्यर्थः। तच्च न केवलं भयत्राणकरं, किन्तु सदा परमसुखदायि चेत्याह—परम आनन्दो यस्मात्तत्। यद्वा, आनन्दयतीत्यानन्दं परं केवलं मित्रमेव न तु ईश्वरादिरूपं येन प्रेमभरह्रासः स्यादित्यर्थः, यद्वा, सनातनं परमानन्दपूर्णं ब्रह्मापि त्वं ये नन्दगोपव्रजौकस एव

मित्राणि प्रिया यस्य तथाभूतमसि। ब्रह्मविशेषणत्वान्नपुंसकत्वम्। सनातनमित्यस्यात्रैव वा सम्बन्धः। यन्मित्रं नित्यमेवेत्यर्थः॥९८॥

भावानुवाद—अब सभी व्रजवासियोंके परम सौभाग्यका वर्णन 'अहो! भाग्यम्' इत्यादि (श्रीमद्भा. १०/१४/३२) श्लोक द्वारा कर रहे हैं। गोपराज श्रीनन्द तथा सभी व्रजवासियोंका कैसा परम सौभाग्य है! अत्यधिक प्रसन्नतापूर्वक अथवा अत्यधिक भाग्यवशतः दो बार 'अहो भाग्यम्' कह रहे हैं। श्रीनन्द महाराज महाभाग्यवान हैं! गोपगण महाभाग्यवान हैं!! व्रजवासीगण महाभाग्यवान हैं!!! क्योंकि परमानन्द पूर्णब्रह्म उनके सनातन मित्र हैं। 'सनातन मित्र' कहनेका तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण व्रजवासियोंका नित्य हित करनेवाले हैं तथा किसी भी समय उनकी उपेक्षा नहीं करते हैं—वे केवल भयसे त्राण करनेवाले मित्र ही नहीं हैं, बल्कि परमसुख अर्थात् परमानन्द प्रदान करनेवाले भी हैं। अथवा जिनसे परमानन्दकी प्राप्ति होती है, वे श्रीकृष्ण व्रजवासियोंके लिए केवल मित्र ही हैं, ईश्वर आदि नहीं, क्योंकि ईश्वर भावके द्वारा प्रेमका ह्रास होता है। अथवा हे प्रभो! आप सनातन परमानन्द पूर्णब्रह्म होनेपर भी गोपराज श्रीनन्द महाराज और सभी व्रजवासियोंके मित्र हैं। यहाँपर ब्रह्म विशेषणसे उनके नपुंसक होनेकी नहीं, अपितु उनके सनातन मित्र होनेकी ही उपलब्धि होती है, अतएव पूर्णब्रह्म सनातन व्रजवासियोंके नित्य मित्र हैं॥९८॥

एषान्तु भाग्यमहिताच्युत तावदास्ता–
मेकादशैव हि वयं वत भूरिभागाः।
एतद्धृषीकचषकैरसकृत् पिबामः,
शर्वादयोऽङ्घ्र्युदज–मध्वमृतासवं ते॥९९॥

श्लोकानुवाद—"हे अच्युत! इन व्रजवासियोंके अत्यधिक सौभाग्यकी महिमाका हम क्या वर्णन करें? इन व्रजवासियोंके मन आदि ग्यारह इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ रूपमें रहनेवाले रुद्रादि हम देवता भी बड़े भाग्यवान हैं, क्योंकि इनकी इन्द्रियोंको पात्र बनाकर हम भी आपके चरणकमलोंका मधुर–अमृत–आसव (रस) निरन्तर पान करते रहते हैं॥"९९॥

दिग्दर्शिनी टीका—किञ्च, एषां माहात्म्यं को नाम वर्णयितुं शक्नुयात्? वयमप्येषां सम्बन्धेनैव परमभाग्यवन्तो जाता इत्याह—एषामिति, एषां नन्दगोपव्रजौकसां भाग्यस्य महिता महिमा तावदास्ताम्, न कोऽपि तां वक्तुं शक्नोतीत्यर्थः। तत्र हेतुः—शर्वः श्रीरुद्रोऽहङ्काराधिष्ठाता आदिर्येषां चन्द्रादीनामेकादशानां ते तथा वयम्; बहुत्वं चात्मनस्तथा बहुमानात्। एवं त्रयोदश देवा एव वयं, वत अहो भूरिभागा, यतो वयमेतेषां व्रजौकसाम् अहङ्कार-बुद्धि-मनश्चक्षुःश्रोत्र-त्वग्-रसन-नासा-वाक्-पाणि-पादानां करणानामधिष्ठातारः सन्तः अनुक्षणमेतेषां हृषीकाणि इन्द्रियाण्येव चषकाणि पानपात्राणि तैः कृत्वा चतुर्दशस्य ते तव अङ्घ्र्यदजमधु चरणारविन्द-विषयकमकरन्दं क्रमेण दास्याध्यवसाय-सङ्कल्परूप-दर्शन-कीर्त्तन-श्रवणादिरूपं पिबामः। कीदृशम्? परममाधुर्यादिना अमृतञ्च तदासवञ्च, असवः प्राणास्तन्मयं परमजीवन-स्वरूपमित्यर्थः। यद्वा, अमृता मृत्युहीना मुक्तास्तेषामपि आसवं परममादकमित्यर्थः। मोक्षसुखादप्यस्य परमाधिक्यादिति दिक्। एवमस्माकं यदा प्रत्येकमेकेन्द्रियवृत्त्या स्वसमर्पणादिरूप-बहुभक्तिप्रकाराणामेकरूपया भक्त्यैव कृतार्थत्वं, तदा सर्वेन्द्रियवृत्त्या सर्वप्रकारभक्तिभाजामेषां किं वर्ण्यतां भाग्यमित्यर्थः। एवमीदृशस्य मधुनोऽसकृत् पानमन्येषां भक्तानामपीन्द्रियद्वाराऽस्माकं कथमपि न सम्भवतीति सर्वेभ्यो भक्तगणेभ्योऽपि व्रजौकसामुत्कर्षः सुसिद्धः। यद्वा, एकादश इति यथाश्रुतमेव व्याख्येयम्। ततश्च यद्यपि श्रीवासुदेवाधिष्ठितचित्तं विना करणानि त्रयोदश, ततश्च तदधिष्ठातारोऽपि देवास्त्रयोदश स्युः; तथापि पायूपस्थयोस्तत्तद्धृत्या साक्षाद्व्रजनासम्भवादेकादशेत्युक्तम्। ननु न भवतु पुंसाम् उपस्थेन्द्रियद्वारा तत्, गोपीनां किल साक्षादेव सम्पद्यत इति चेत्तर्हि धाष्टर्यपरिहाराय पूर्ववन्नोक्तमिति ज्ञेयम्। यद्वा, पादाधिष्ठाता विष्णुः, श्रीवासुदेवस्य भगवतोऽवतारस्तदभिन्न एव। अतस्तस्य पाय्वाधिष्ठातृमित्रस्य च परिहारेणैवैकादशेत्युक्तम्। तत्र च यद्यपि सच्चिदानन्दविग्रहाणां व्रजवासिनामेते प्राकृता देवा न नूनमिन्द्रियाधिष्ठातृत्व-मर्हन्ति, तथापि पुरा श्रीशिवोद्दिष्टमतान्तरे पाञ्चभौतिकदेहिमनुष्यतानुकरणाभिप्रायेण किंवा श्रीवैकुण्ठे वर्त्तमानानां सच्चिदानन्दरूपाणां चन्द्रसूर्यादीनामवतारत्वेनाभेदापेक्षया तथोक्तिः सङ्गच्छते। अथवा सच्चिदानन्दविग्रहयोः श्रीशिव-ब्रह्मणोः साहचर्यादन्येऽपि सच्चिदानन्दविग्रहा एव ते ग्राह्याः। ततश्च श्रीवैकुण्ठवासिनामपि तेषां चन्द्र-सूर्यादीनामेतद्-व्रजवासिसम्बन्धेनैव भूरिभागतेति व्रजौकसामेषां महिमविशेषः सिद्ध एवेति दिक्॥९९॥

भावानुवाद—तदुपरान्त कह रहे हैं कि इन सभी व्रजवासियोंका माहात्म्य वर्णन करनेमें कौन समर्थ हो सकता है? इसका कारण है कि हम भी इन व्रजवासियोंके सम्बन्धसे परम भाग्यशाली हो गये हैं—इसे बतलानेके लिए अब श्रीब्रह्मा (श्रीमद्भा. १०/१४/३३) 'एषां' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। इन श्रीनन्दगोप तथा सभी व्रजवासियोंके

सौभाग्यकी महा-महिमाके विषयमें मैं इससे अधिक और क्या वर्णन करूँ? अर्थात् इनकी महिमाको कोई भी वर्णन करनेमें समर्थ नहीं है। इसका कारण है कि अहङ्कारके अधिष्ठातृ देवता श्रीरुद्र तथा चन्द्र आदि ग्यारह देवताओं सहित मैं (श्रीब्रह्मा)—हम तेरह देवता अपने आपको बहुत सौभाग्यशाली मानते हैं, क्योंकि हम इन व्रजवासियोंके अहङ्कार, बुद्धि, मन, चक्षु, कर्ण, त्वचा, रसना, नासिका, वाणी, हस्त और चरण आदि इन्द्रियोंके अधिष्ठाता होनेके कारण प्रतिक्षण उन-उन इन्द्रियोंको पानपात्र बनाकर चतुर्दश देवता (अर्थात् चित्त-अधिष्ठाता श्रीवासुदेव) आपके श्रीचरणकमलोंके मकरन्दको क्रमसे अर्थात् आपके चरणोंके दास्यका संकल्पकर उसके मकरन्दको दर्शन-कीर्त्तन-श्रवण आदि रूपमें पान करते हैं। वह मकरन्द कैसा है? वह मकरन्द परममाधुर्यके 'अमृत' और 'असवः' अर्थात् प्राणमय-परमजीवन स्वरूप है, अथवा 'अमृत' कहनेसे मृत्युहीन मुक्त पुरुषोंके लिए भी 'आसवं' अर्थात् परम मादकता प्रदान करनेवाला है, जिसके फलस्वरूप मोक्षसुख भी अत्यधिक तुच्छ लगता है। परन्तु इस मधुका बार-बार पान प्रत्येक व्रजवासीकी समस्त इन्द्रियोंमें अधिष्ठान करनेसे ही सम्भवपर है। इसलिए हममेंसे सभी एक-एक इन्द्रियवृत्ति द्वारा आत्मसमर्पण आदिरूप बहुत प्रकारकी भक्तिमेंसे एक-एक प्रकारकी भक्तिका याजन करके कृतार्थ होते हैं तथा जो सभी इन्द्रियोंकी वृत्ति द्वारा निरन्तर समस्त प्रकारकी भक्तिके आधार हैं, उनके भाग्यकी महिमाका मैं क्या वर्णन करूँ? अतएव इन व्रजवासियोंके अलावा अन्य भक्तोंकी इन्द्रियोंमें अधिष्ठान करनेपर हमें इस प्रकार निरन्तर मधुपान करनेका सौभाग्य कभी भी प्राप्त नहीं होता। इसके द्वारा सभी भक्तोंसे व्रजवासियोंका परमोत्कर्ष प्रदर्शित हुआ है।

अथवा यथाश्रुत व्याख्याके द्वारा मूल श्लोकमें कथित 'एकादश' इन्द्रियोंको ही समझना होगा। यद्यपि चित्ताधिष्ठाता श्रीवासुदेवके बिना भी तेरह कर्म इन्द्रियाँ होती हैं और उनके अधिष्ठाता देवता भी तेरह ही हैं, तथापि पायु (गुदा) और उपस्थ द्वारा श्रीभगवान्का साक्षात् भजन नहीं होता, इसलिए इन दोनोंका उल्लेख न करके ही ग्यारह इन्द्रियाँ कहा गया है। यदि कहो कि पुरुषोंका न हो, किन्तु उपस्थ

द्वारा निश्चितरूपमें गोपियोंका तो साक्षात् रूपमें भजन सम्पन्न होता है? तथापि पूर्ववत् धृष्टतासे दूर रहनेके लिए श्रीब्रह्माने इसका उल्लेख नहीं किया। अथवा चरणोंके अधिष्ठाता विष्णु, भगवान् श्रीवासुदेवके अवतार होनेके कारण उनसे अभिन्न हैं, अतएव एकादश इन्द्रिय ही कहा गया है। अतएव पायु–अधिष्ठाता तथा उसके मित्र (उपस्थ–अधिष्ठाता) को छोड़कर एकादश इन्द्रिय कही गयी हैं। यद्यपि सच्चिदानन्द विग्रह व्रजवासियोंकी इन्द्रियोंके देवता प्राकृत नहीं हो सकते, तथापि पहले श्रीशिव द्वारा कहे गये अन्य मतके अनुसार पाञ्चभौतिक देहके अनुकरणके अभिप्रायसे ही इस प्रकार कहा गया है। अथवा श्रीवैकुण्ठमें वर्त्तमान सच्चिदानन्द रूप चन्द्र–सूर्य आदि देवताओंका ही व्रजवासियोंकी इन्द्रियोंमें अवतार होनेके कारण उनसे अभेदवशतः वैसी उक्ति सङ्गत ही है। अथवा सच्चिदानन्द विग्रह श्रीशिव और श्रीब्रह्माके सहचारितावशतः अन्यान्य देवताओंको भी सच्चिदानन्द विग्रह ग्रहण करना जानना होगा। अतएव श्रीवैकुण्ठवासी चन्द्र–सूर्य आदिका भी इन व्रजवासियोंके सम्बन्धसे परम सौभाग्य प्राप्त होनेपर व्रजवासियोंकी ही महिमा सिद्ध होती है—उक्त विचारका यही दिग्दर्शन है॥९९॥

तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां,
यद्गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितन्तु निखिलं भगवान्मुकुन्द–,
स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥१००॥

श्लोकानुवाद—"श्रुतियाँ भी जिनके चरणकमलोंकी धूलिको आज तक ढूँढ़ रहीं हैं, वे भगवान् श्रीमुकुन्द जिनके जीवन और प्राण–धन सब कुछ है, उन गोकुलवासियोंमेंसे किसीकी भी पदधूलि द्वारा अभिषिक्त (स्नान) होनेके लिए इस भौम व्रजभूमिमें तृण आदि कोई भी जन्म प्राप्त होना महा–सौभाग्य ही है॥"१००॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतो मया यत् प्रार्थितम्—*"तदस्तु मे नाथ! स भूरिभागः"* (श्रीमद्भा. १०/१४/३०) इति, तदेतदेवेत्याह—तद्भूरिभाग्यमिति। तदेव मम प्राक् प्रार्थितं परमभाग्यसर्वस्वमित्यर्थः। किं तत्? इह मनुष्यलोके यत् किमपि तृणादिरूपेण

परमनिकृष्टमपि जन्म, तत्र च अटव्यां यत्, तत्रापि गोकुले यत्, अत्र च "तदस्तु मे नाथ! स भूरिभागः" इत्यनेन भगवज्जनसम्बन्धीयः कोऽपि भूत्वा त्वत्पादपल्लवं नितरां सेव इति यदुक्तं, तत्र मुक्तो ब्रह्मपदाद्यधिकृतो वा भूत्वा निषेव इत्याशङ्कापि स्यात्; तन्निराकरणार्थं पदचतुष्टयं प्रयुक्तमिति ज्ञेयम्। तत्र जन्मेति मुक्तेः, इहेति निजलोकादेः, अटव्यामिति पुरग्रामादिसम्पदां, गोकुल इति तपस्याद्यर्थं तपोवनादीनाम्। यतः अहो सत्यलोकं विहायात्र जन्मनि सति को नाम लाभविशेषस्तत्राह—गोकुलवासिनां मध्येऽपि कतमस्य यस्य कस्यापि अङ्घ्रिरजसा अभिषेको यस्मिन् तत्। यद्वा, अपीति सम्भावनायाम्; अर्थात् प्राप्नुयामिति शेषः। गोकुले वर्त्तमानस्य कतमस्य कस्यचिदपि रजोभिषेकमपि प्राप्नुयामहमित्यर्थः। यद्वा, अभिषेचयति परमतीर्थरूपत्वात् सर्वेष्वेव तीर्थेषु स्नानां कारयतीति। यद्वा, निखिलपदेषु यथेच्छमधिकारित्वेनाभिषेकं करोतीति तथा तत् कतमाङ्घ्रिरजो भवति। ननु गोकुलवासिनां पादरजःस्पर्शितृणादिजन्म प्रार्थ्यते, न कथं तेषामिव जन्मेत्यत्राह—यज्जीवितन्त्विति। मादृशां सर्वज्ञानप्रदाभिः प्रथममाविर्भूताभिः श्रुतिभिर्यस्य पादरजोमात्रमेकम् अद्यापि स्वजन्मकालमारभ्याद्यपर्यन्तमपि; यद्वा, इदानीं त्वदीदृशपरमप्राकट्ये वर्तमानेऽपि मृग्यत एव, न तु प्राप्यते दृश्यते वा, विचित्राभिमानित्वात्। तथा प्रायः प्रवृत्तिमार्गे मोक्षसाधनादौ च लोकप्रवर्त्तनाच्च। स एव त्वं विशेषतोऽधुना भगवान् निजाशेषपरमैश्वर्यसौन्दर्यमाधुर्य-कारुण्याद्द्विगुण-महिमभरप्रकटनपरः, अतएव मुकुन्दः परमप्रेमसुखदायको येषां, निखिलं जीवितम्। अयं भावः—एषां जीवितस्य कालः कोऽपि व्यापारो वा बाह्यः आन्तरोऽपि न स विद्यते। यत्र यथोक्तस्वरूपः समत्वमन्तर्बहिश्च निरन्तरं परमवश्य इव न वर्तसे। अतः श्रुतिभ्योऽर्वाचीनस्य तच्छिष्यतां गतस्य मे तन्मनोरथागम्यपरमदुर्लभपदार्थप्रार्थना नोपयुक्तैव। प्रत्युत महारोगग्रस्तपरमकृपणदरिद्रतरस्य साम्राज्याभीप्सेव लोके परमोपहासास्पदत्वाल्लज्जाकरी भयप्रदा चेति, न तत् प्रार्थितमिति दिक्॥१००॥

भावानुवाद—इसलिए मैंने पहले (श्रीमद्भा. १०/१४/३०) में प्रार्थना की है—"हे नाथ! मुझे इस जन्ममें, दूसरे जन्ममें अथवा किसी पशु-पक्षी आदिके जन्ममें भी ऐसा सौभाग्य प्राप्त हो कि मैं आपके दासोंमेंसे कोई एक दास हो जाऊँ और फिर आपके चरणकमलोंकी सेवा करूँ।" हे नाथ! यदि वैसा हो, वही मेरे द्वारा पहले प्रार्थित परम सौभाग्य है। वह प्रार्थनीय परम सौभाग्य क्या है? इस मनुष्य लोकके गोकुलवनमें कोई भी जन्म, यहाँ तक कि तृण आदि रूप परम निकृष्ट जन्म प्राप्त करनेको भी मैं अपना परम सौभाग्य समझूँगा। अतएव "गोकुलमें जो कोई भी जन्म हो, वही मेरा परम सौभाग्य है।" इसके द्वारा श्रीभगवान्‌के भक्तोंसे सम्बन्धित जिस किसी भी जन्मको

प्राप्तकर प्रचुर रूपमें श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंकी सेवा प्राप्ति ही उक्त हुई है। यदि कहो कि मुक्त होकर अथवा ब्रह्मा आदिके पदका अधिकार प्राप्त करके भी क्या उक्त प्रकारसे श्रीभगवान्‌की सेवा हो सकती है? इस संशयको दूर करनेके लिए ही श्लोकमें चार पदोंका प्रयोग हुआ है—जानना होगा। उनमेंसे 'जन्म' पदसे मुक्तिका, 'इह' (इस) पदसे ब्रह्मलोक आदिका 'अटवी' (वन) पदसे पुर-ग्राम आदि सम्पद तथा 'गोकुल' पदसे तपस्या आदिके लिए तपोवन आदिकी आकांक्षा भी दूर हुई है।

यदि कहो कि सत्यलोक परित्याग करके गोकुलमें जन्म प्राप्त करनेपर किस विशेष सम्पत्तिकी प्राप्ति होगी? इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि वहाँ जन्म होनेसे गोकुलवासियोंमेंसे किसी एक की भी पदरज द्वारा अभिषिक्त हुआ जा सकता है। अथवा 'अपि' शब्द सम्भावनाके अर्थमें प्रयोग हुआ है, इसलिए गोकुलमें वर्त्तमान किसीकी भी पदरजमें मैं निश्चय ही अभिषिक्त हो पाऊँगा। 'अभिषेक' कहनेका उद्देश्य यह है कि परम तीर्थस्वरूप उस पदरजको प्राप्त करनेसे समस्त तीर्थोंमें स्नान करना हो जायेगा। अथवा उस पदरजको प्राप्त करके समस्त-पदोंके यथेच्छ-अधिकारीके रूपमें अभिषिक्त हो पाऊँगा, अर्थात् आपके श्रीचरणोंकी सेवामें मुझे सब प्रकारका अधिकार प्राप्त होगा।

यदि आपत्ति हो गोकुलवासियोंकी पदरज द्वारा अभिषिक्त होनेके लिए तृण आदिके जन्मकी प्रार्थना क्यों कर रहे हो, गोकुलवासियों जैसे जन्म प्राप्तिकी प्रार्थना क्यों नहीं कर रहे हो? इसके लिए ही 'यज्जीवितस्तु' इत्यादि पद कह रहे हैं। मेरे जैसे ब्रह्मा आदिको समस्त प्रकारका ज्ञान प्रदान करनेवाली श्रुतियाँ, मुझसे पहले आविर्भूत होकर भी आपके चरणकमलोंकी मात्र एक धूलिकणको आज तक भी अर्थात् अपने जन्मकालसे लेकर अभी तक भी ढूँढ़ रही हैं। अथवा आपके ऐसे परमकरुण प्रकट अवतारमें भी आपकी पदरेणुको ही ढूँढ़ रही हैं, किन्तु विचित्र अभिमानवशतः अभी तक वे उसका दर्शन करनेका सौभाग्य भी प्राप्त नहीं कर पायी हैं, तब फिर उसे प्राप्त करनेकी बात तो बहुत दूर की है। अर्थात् उक्त श्रुतियाँ विचित्र

अभिमानवशतः प्राय सभीको प्रवृत्तिमार्ग या मोक्ष साधन आदिमें ही प्रवर्तित करती है।

परन्तु आप श्रीभगवान् विशेषतः अभी अपने समस्त परम ऐश्वर्य, सौन्दर्य, माधुर्य और कारुण्य आदि सम्पूर्ण गुणोंकी प्रचुर महिमाको प्रकाशित करके साक्षात् विराजमान हैं। अतएव आप अर्थात् भगवान् श्रीमुकुन्द ही समस्त गोकुलवासियोंको परम प्रेमसुख देनेके कारण उनके जीवनस्वरूप हैं। भावार्थ यह है कि इन व्रजवासियोंका जीवन ही कृष्णमय है—उनका समस्त काल अथवा उनकी समस्त क्रियाएँ बाहर और अन्तरसे निरन्तर कृष्णमय है। अतएव उन श्रुतियोंके अर्वाचीन (नवीन) शिष्य स्वरूप मेरे लिए श्रुतियोंके लिए भी अगम्य मनोरथ वह दुर्लभ वस्तु किस प्रकार प्रार्थनीय होगी, अर्थात् उसके लिए प्रार्थना करना उचित नहीं है। अपितु महा-रोगग्रस्त अत्यन्त कृपण और दरिद्र व्यक्ति यदि साम्राज्यकी अभिलाषा करे, तब जिस प्रकार लोक समाजमें उसका व्यवहार परम उपहासका कारण होनेसे लज्जाकर और महाभयप्रद होता है, उसी प्रकार मेरे लिए भी गोकुलवासियों जैसे जन्म प्राप्तिकी प्रार्थना उपहासका विषय होगा॥१००॥

एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देवरातेति न-
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन्मुह्यति।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनय-प्राणाशयास्त्वत्कृते ॥१०१॥

श्लोकानुवाद—"हे भगवन्! पूतनाने साधुचरित्र (भक्तोंके वेश) का अनुकरणमात्र करके अघासुर आदि अपने वंश सहित आपको प्राप्त किया है, किन्तु जिनके घर, धन, बन्धु, प्रियद्रव्य—देह-प्राण-मन-पुत्र भी एकमात्र आपकी प्रीतिके लिए हैं, उन व्रजवासियोंको आप क्या प्रदान करेंगे? समस्त फलोंके सारस्वरूप स्वयं आपसे श्रेष्ठ फल कौन-सा है? यही विचारकर हमारा चित्त मोहग्रस्त हो रहा है॥"१०१॥

दिग्दर्शिनी टीका—अपि च किं वर्ण्यते कृतार्थत्वमेषां येषां भक्तिविशेषेण भवानपि महाऋणीवास्ते? ननु किं दातुमसमर्थोऽहं येन तादृशः स्याम्? अत

आह—एषामिति। उत अपि। भवानपि एषां कुत्रापि किं विश्वफलात् सर्वफलार्थकात् त्वत्तः अपरमन्यत् फलं राता दास्यतीति नोऽस्माकं चेतः अयत् सर्वत्र गच्छत् विचारयन्मुह्यति। यद्वा, कुत्र किमपरं दातेति अप्ययत् लयं प्राप्नुवत् मुह्यति, विचारेण तदानृण्यकृद्द्रव्याप्राप्तेः। ननु मामेव दत्त्वानृणः स्यामिति चेन्नहि नहीत्याह—सद्वेशादिव, सतां भक्तानां यो वेशः तदनुकरणमात्रेण बालघातादिरता पूतना अपि त्वामेवापिता प्रापिता। तर्ह्येतत्सम्बन्धिनामपि दास्यामीति चेत्तत्राह—सकुलेति, बकाद्यसुरसहिता यद्यपि बकाद्यासुरयोः श्रीभगवत्स्पर्शलाभादिकमेव तत्प्राप्तौ व्यक्तं महत् कारणं, तथापि पूतनासम्बन्धेनैव तदपि सिद्धमित्यूह्यम्। एषामपि तावदेव चेत्तर्हि अत्यन्तमपर्याप्तमित्याह—यदिति। येषां धामादयस्त्वत्कृते त्वदर्थमेवेत्यर्थः। यद्वा, त्वत्कृते त्वत्कर्मणि भक्तिलक्षणे विषये यद्धामादयोऽपि वर्त्तन्त इत्यर्थः। तत्र यथायोग्यं धामादीनां भगवद्भक्तिपरतोक्ता। अयमर्थः—द्वेष्टृभ्योऽपि त्वयात्मैव दत्तः। भक्तेभ्योऽपि तथैव चेत्तर्हि सर्वतोऽधिकतया सर्वत्र प्रशस्यमानया भक्त्या किं कृतम्? विशेषतश्य व्रजवासिनामेषां भक्तिविशेषस्यापर्याप्तिरेव स्यात्॥१०१॥

भावानुवाद—अतएव जिनकी विशेष भक्तिसे भगवान् होनेपर भी आप महाऋणी बन गये हैं, उन व्रजवासियोंके कृतार्थ होनेके विषयमें मैं अधिक क्या वर्णन करूँ? यदि कहो कि क्या मैं दान करनेमें असमर्थ हूँ, जिससे मुझे उनका ऋणी बनना होगा? इसीके लिए 'एषां' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं—हे देव! सर्वफलस्वरूप अपने आपसे अधिक आप और क्या फल प्रदान करके उनके ऋणसे मुक्त होंगे? ऐसा विचार करके भी मैं उस फलके विषयमें निश्चित नहीं कर पा रहा हूँ। अथवा कहाँपर किस श्रेष्ठ वस्तुको प्रतिदान करके ऋणको चुकायेंगे, ऐसा सोचकर मुग्ध हो रहा हूँ। यदि आप कहते हैं कि मैं अपने आपको प्रदान करके ऋण चुकाऊँगा। इसके लिए कह रहे हैं कि ऐसा तो नहीं हो सकता, क्योंकि बालघातिनी पूतनाने सद्वेश धारण करके ही अर्थात् भक्तोंके वेशका अनुकरण करनेमात्रसे ही आपको प्राप्त कर लिया है। केवल पूतना ही नहीं, अपितु उसके सम्बन्धसे बकासुर आदि उसके कुलके सभी असुरोंने भी आपको प्राप्त कर लिया। यद्यपि श्रीभगवान्का स्पर्श आदि ही बकासुर आदि असुरोंको वैसी गतिकी प्राप्तिका श्रेष्ठ कारण कहा जाता है, तथापि पूतनाके सम्बन्धवशतः ही उन्हें वैसी गतिकी प्राप्ति हुई है—जानना होगा। अतएव यदि आप इन व्रजवासियोंको भी अपने आपको प्रदान

करते हैं, तो यह निश्चित रूपमें अत्यन्त अपर्याप्त होगा, क्योंकि इन्होंने अपने घर, धन, सुहृद, बन्धु, आत्मा, पुत्र, प्राण इत्यादिका आपके लिए ही त्याग किया है। अथवा आपके सुखके लिए ही अर्थात् आपके भक्तिलक्षण कर्मके लिए इस धाम आदिमें सदा विद्यमान हैं। (इस धामकी भक्तिपरता पहले ही प्रदर्शित हो चुकी है) तात्पर्य यह है कि आपसे द्वेष करनेवालोंको भी आपने जिस वस्तु (अपनी आत्मा) को प्रदान किया है, यदि वही वस्तु (आत्मा) आपके भक्तोंको भी प्राप्त हो, तब फिर सब प्रकारसे सर्वोत्कृष्ट तथा सर्वत्र प्रशंसनीय भक्तिकी महिमा ही क्या हुई? विशेषतः इन व्रजवासियोंकी स्वाभाविक भक्तिके लिए यह अत्यन्त अपर्याप्त ही है॥१०१॥

तावद्रागादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम्।
तावन्मोहोऽङ्घ्रिनिगड़ो यावत् कृष्ण न ते जनाः॥१०२॥

श्लोकानुवाद—"हे कृष्ण! जब तक कोई व्यक्ति आपके चरण-कमलोंकी सेवाके प्रति अनुरागी नहीं होता, तब तक कामना-वासना-आसक्ति आदि चोरोंकी भाँति उसकी बुद्धिका हरण करती हैं, घर उनके लिए कारागारके समान बन्धनका कारण होता है तथा मोह पैरोंकी बेड़ियोंके समान होता है॥"१०२॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु विगतरागादिदोषाणां सर्वत्यागिनां यतीनामपि न मत्तः परं फलं किञ्चिदस्ति, कथमेषामपर्याप्तमित्यत्राह—'तावदिति' (श्रीमद्भा. १०/१४/३६)। हे कृष्ण! रागादयस्तावदेव स्तेनाः विवेकधैर्यादिसर्वगुणरत्नमोषका भवन्ति, तथा तावद्गृहमपि कारागृहं बन्धनागारम्, मोहोऽपि तावदेवाङ्घ्रिनिगड़ः पादशृङ्खलं यावज्जनास्ते त्वदीया न भवन्ति; त्वदीयानान्तु रागादयोऽपि त्वन्निष्ठा-विमोचिका एवेति। न यतीनामेभ्यो विशेषः, भजनं त्वधिकतरमिति भावः। यद्यपि प्रागुक्त-श्रीभागवतादि-सिद्धान्तानुसारेण संन्यासिनामिव वस्तुतः पूतनादीनामसुराणां भगवत्स्मरणाद्यनुभावेन मुक्त्या ब्रह्मतावाप्तिरेव, तथापि ब्रह्मणो भगवद्विभूतित्वेन तदवाप्त्यापि भगवत्प्राप्तिरेव स्यादिति। ततश्च भक्तानां वैकुण्ठलोकलाभेन साक्षाद्भगवच्चरणारविन्दप्राप्तिरेवेति महान् विशेषः प्रागुक्तानुसारेण बोद्धव्यः। यद्वा, ननु बहिरन्तःसङ्गपरित्यागिन एव परमोत्तमभक्तास्तत्कथमेते रागादिमन्तः स्तूयन्ते? तत्राह—तावदिति। अर्थस्तु पूर्ववदेव। भावस्त्वयं—यावत्त्वत्सम्बन्धमात्रवन्तो जना न स्युस्तावदेव रागादयो दोषावहा भवन्ति। तावकानान्तु भक्तिसम्पत्तिवृद्धिहेतुत्वात् गुणविशेषापादका एव। यतः

सन्न्यासिनामपि त्वद्भक्तिहीनानां वैराग्यादिकं सर्वं व्यर्थं, प्रत्युत महाभिमानदोषविशेषकरमेव स्यात्। एवं हि सामान्येन सर्वेषामेव भक्तिमतां केवलं तदीप्सापर्याप्तिर्न घटत एव, तत्र च भक्तिविशेषवतामेषां कथं नाम पर्याप्तिः स्यादिति। यद्वा, नन्वतएव प्रेमविशेषेण विहारविशेषमेतैः समं करोमीत्यत्राह—तावदिति। कृष्णस्य सर्वचित्ताकर्षकस्य तव नते नमने भक्तावित्यर्थः। यद्वा, हे कृष्ण! अर्थात्तवैव न ते यावज्जना भवन्ति, तावत् स्तेना अपि रागादयः, तथा कारागृहमपि गृहम् अङ्घ्रिनिगड़ोऽपि मोहश्च तत्रैव भवन्ति। एवं भवान् स्वयमेव निजभक्तौ लोकान् प्रवर्त्तयितुं विचित्ररागादिकमाविष्कुर्वन् बहुधा स्वार्थमेव विक्रीड़ति, न तु तेषां निमित्तमित्यानृण्यं कुतो घटताम्? यद्वा, हे कृष्ण! यावज्जनास्ते तद्भक्ता न भवन्ति। तावत्तवैव स्तेना धैर्यात्मारामताद्यपहारका रागादयो भवन्ति, वैकुण्ठादिवर्तिगृहं कारागृहतुल्यं दुःखदं भवति, तत्र नियतवासेन निजाश्रितजनैः सदा सङ्गतावस्वातन्त्र्यस्येवोपादानात्। तत्रत्येषु महालक्ष्म्यादिषु मोहः स्नेहविशेषः अङ्घ्रिनिगड़तुल्यः परसङ्कोचापादकत्वेन यन्त्रणाकरः, तेन निजभक्तैः सह निरन्तरक्रीड़ाहान्यापत्तेः। एवञ्च सति जनेषु भक्तेषु वृत्तेषु तेषु पूर्ववत्तव भावविशेषो नोदेति, येन तैः सह तथा क्रीड़सि, प्रत्युत विच्छेददुःखं विस्तारयसीत्यर्थः। एतच्च मथुरागमनादिना भाविविरहमुद्दिश्योक्तम्। ततश्च परममृणित्वादिकमेवायातम्। यद्वा, तावस्तो रागादयस्तावत् गृहं, तावत् मोहश्च तव भवन्ति, यावद्भिः सर्वे जनास्तव न ते स्युः, अत्र समासश्चार्षत्वात् सोढ़व्यः। एवं सर्वथा ऋणित्वमेव सिद्धमिति भावः॥१०२॥

भावानुवाद—यदि आप कहें कि आसक्ति आदि दोषोंसे शून्य तथा सब कुछ त्यागनेवाले संन्यासियोंके लिए भी मुझसे अधिक और कोई श्रेष्ठ फल नहीं है, अतः ऐसा फल इन व्रजवासियोंके लिए अपर्याप्त किस प्रकार हुआ? इसी प्रश्नकी अपेक्षासे श्रीब्रह्मा (श्रीमद्भा. १०/१४/३६) 'तावद्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। हे कृष्ण! आसक्ति आदि तब तक ही विवेक-धैर्य आदि समस्त गुणोंका हरण करनेवाली होती हैं, घर भी तब तक ही बन्धन स्वरूप कारागार होता है तथा मोह भी तब तक ही पैरोंकी बेड़ियाँ बनकर रहता है, जब तक व्यक्ति आपका नहीं हो जाता। किन्तु आपके भक्तोंकी आसक्ति आदि भी आपमें निष्ठाके कारण विमोचन (संसार-बन्धनसे मुक्ति) का कार्य करती है, अतएव संन्यासियोंमें इनसे अधिक कुछ विशेषता नहीं रहती, अपितु उस आसक्ति आदिके कारण भक्तोंका भजन अधिक रूपमें होता है।

यद्यपि पूर्वोक्त श्रीमद्भागवत आदिके सिद्धान्त अनुसार संन्यासियोंकी भी पूतना आदि असुरोंके समान मुक्ति होती है, किन्तु वस्तुतः पूतना आदि असुरोंको भगवान्के स्मरण आदिके प्रभावसे ही मुक्ति तथा ब्रह्मभावकी प्राप्ति हुई थी। यह ब्रह्मभाव भी श्रीभगवान्की विभूति होनेके कारण भगवान्की प्राप्तिमें ही पर्यवसित हो रहा है। परन्तु वैकुण्ठलोकमें साक्षात् भगवान्के श्रीचरणकमलोंकी प्राप्तिरूप भक्तोंकी जो महान विशेषता है, उसे भी पूर्वोक्त सिद्धान्तके अनुसार समझना चाहिये। अथवा यदि आप कहें कि बाहर और अन्तरसे विषयोंके सङ्गका परित्याग करनेवाले संन्यासी ही परम उत्तम भक्त हैं, अतएव आप आसक्ति आदिसे युक्त व्रजवासियोंका स्तव क्यों कर रहे हैं? इसीके लिए 'तावत्' इत्यादि पद कह रहे हैं। तात्पर्य यह है कि जब तक व्यक्ति आपसे सम्बन्धित अर्थात् आपका नहीं हो जाता, तब तक उसकी आसक्ति आदि दोषपूर्ण होती है, किन्तु आपका होनेपर वही आसक्ति आदि भक्ति सम्पत्तिकी वृद्धिके कारण विशेष गुण बन जाती है। परन्तु संन्यासियोंका वैराग्य आपके प्रति भक्तिहीन होनेके कारण सम्पूर्णता व्यर्थ ही नहीं, बल्कि महा-अभिमान स्वरूप विशेष दोष ही बन जाता है। इस प्रकार जब सामान्य रूपसे समस्त भक्तिमान व्यक्तियोंके लिए केवल आपकी प्राप्तिमात्र ही पर्याप्त नहीं है, तब विशेष भक्तिमान व्रजवासियोंके लिए वह किस प्रकार पर्याप्त होगी?

यदि आप कहें कि मैं भी विशेष प्रेमके द्वारा अर्थात् विशेष विहारके द्वारा इन व्रजवासियोंका ऋण सम्पूर्ण रूपसे चुका दूँगा? इसीके लिए कह रहे हैं—हे सबके चित्तको आकर्षण करनेवाले श्रीकृष्ण! जब तक व्यक्ति आपके प्रति 'नत' अर्थात् प्रणाम आदि रूप भक्तिके अनुष्ठानमें प्रवृत्त नहीं होता, तब तक उसके लिए आसक्ति-द्वेष आदि बुद्धिका हरण करते रहते हैं, घर—कारागारके समान तथा मोह—पैरोंकी बेड़ियोंके समान बने रहते हैं। इस प्रकार आप स्वयं ही अपनी भक्तिमें सभी जीवोंको प्रवृत्त करानेके लिए विचित्र राग (आसक्ति) आदिका आविष्कार करते हुए स्वार्थोंकी सिद्धिके लिए बहुत प्रकारसे लीला करते हैं, तथा वह लीला व्रजवासियोंके लिए नहीं है। अतएव आप किस प्रकार उनके ऋणसे

मुक्त होंगे? अथवा हे श्रीकृष्ण! जब तक व्यक्ति आपका भक्त न बन जाय, तब तक आपका अनुराग आदि चोरकी भाँति उसका धैर्य और उसकी आत्मारामताकी कामना आदिका हरण करता रहता है। वैकुण्ठस्थित गृह भी (आपको) कारागारके समान दुःख देनेवाला होता है, क्योंकि उस वैकुण्ठमें सदैव निवास करनेसे आपको अपने आश्रित भक्तोंके सदा सङ्गके कारण अस्वतन्त्रताका बोध होता है तथा वहाँपर महालक्ष्मी आदिका जो मोह (अत्यधिक स्नेह) है, वह भी आपके श्रीचरणोंके लिए बेड़ी स्वरूप बनकर आपके लिए परम संकोच उत्पन्न करनेवाला होकर आपकी पीड़ा प्रदान करता है, क्योंकि आप अपने भक्तोंके साथ निरन्तर लीला नहीं कर पाते हैं। अर्थात् इस प्रकार सभी भक्तोंके प्रति आपका चित्त आसक्त होनेके कारण पूर्ववत् भाव विशेषके उदित नहीं होनेसे आपके द्वारा उन व्रजवासियोंके साथ वैसी लीला करनेपर भी उन्हें सुख देना नहीं होता, बल्कि उन्हें महान विच्छेद-दुःख प्रदान करना ही होता है। ऐसा लगता है कि श्रीकृष्ण द्वारा मथुरा गमन आदि भावी विरहको लक्ष्य करके ही ऐसा कह रहे हैं। इस प्रकार आपका व्रजवासियोंके प्रति सदैव परम ऋणी होना ही सिद्ध हुआ है॥१०२॥

प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोऽपि विड़म्बयसि भूतले।
प्रपन्नजनतानन्दसन्दोहं प्रथितुं प्रभो॥१०३॥

श्लोकानुवाद—"हे प्रभो! आप प्रपञ्चातीत सच्चिदानन्द विग्रह होनेपर भी अपने शरणागत भक्तोंके आनन्दको बढ़ानेके लिए प्रपञ्चमें अवतीर्ण होकर सब प्रकारसे प्रापञ्चिक-व्यवहारका अभिनय कर रहे हैं॥"१०३॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वतएवाहमेषां पुत्रादिरूपेण वर्त्ते, तत्राह—प्रपञ्चमिति (श्रीमद्भा. १०/१४/३७)। प्रपञ्चातीतोऽपि त्वं प्रपञ्चं पुत्रत्वादिकं भूतले विड़म्बयसि अनुकरोषि। किमर्थम्? प्रपन्नाया निजभक्ताया जनताया लोकवृन्दस्य आनन्दानां सन्दोहं प्रथयितुं विस्तारयितुम्; न हि कपट पुत्रत्वादिना तादृग्भक्तेरानृण्यं स्यादित्यर्थः। यद्वा, निजभक्तवर्गानन्द-परम्पराविस्तारणाय भूतले यः प्रपञ्चः पुत्रादिभावः, तमपि किं विड़म्बयसि? अपि तु नैव, कदाचिद्यशोदादीन् प्रति विश्वरूपादिपारमैश्वर्यदर्शनात्।

यतो निर्गच्छति प्रपञ्चोऽन्येषामपि यस्मात्तथाभूतः सदा निजस्वभावाद्यावरणाशक्तेरित्यर्थः। भूतल इत्यनेन स्वर्गादावित्यादीन् प्रति पुत्रत्वादिकं परमेश्वरत्वञ्च दर्श्यत इति ध्वनितम्। अतएव प्रेमविशेषह्रासाद्यशोदादिभ्यो न्यूनतैव। तथैवैतेष्वपि व्यवहारात् कथमानृण्यं सम्पद्यतामिति वाक्यार्थः। अथवा सर्वथा यद्येते मदेकनिष्ठा मत्प्रेमभर-परवशास्तदा तेष्वपि द्रव्यादिषु राग-लोभादयः, कश्चिद्गार्हस्थ्यव्यापारश्च तथा बान्धवेषु स्नेहादिमोहश्च न किलैषां सम्भवेषुः। सत्यम्, तत्सर्वमचिन्त्याद्भुतशक्तिना त्वयैव सम्पाद्यत इत्याह—प्रपञ्चमिति। निर्गच्छति प्रपञ्चः प्रपञ्चिमात्रेण यस्मात्तादृशोऽपि त्वं स्वभक्तवराणामेषां रागादिप्रपञ्चं विड़म्बयसि। डलयोरेकत्वात् विलम्बस्य च शीघ्रविपरीतार्थकत्वात् स्थिरीकरोषीत्यर्थः। किमर्थम्? प्रभो हे परमसमर्थ भूतले या प्रपन्नजनता तस्या आनन्दसन्दोहं विस्तारयितुम्; भूतल इति वैकुण्ठवासिनामप्येवं न करोषीति भावः। एतदुक्तं भवति—त्वद्भक्तिनिष्ठानां तत्तद्द्रव्यादिषु त्वन्महाप्रसादबुद्ध्या तत्सम्बन्धविशेषापेक्षयैव रागादयो भवन्ति; ते च तेषां विचित्रभजनानन्दमाधुरी-परम्परा-विस्तारका एव। अतः तादृशभक्तिमतामेषां भवान् प्रत्युपकाराशक्तः सत्यमृणीति॥१०३॥

भावानुवाद—(हे प्रभो) यदि आप कहें कि मैं इसीलिए व्रजवासियोंके पुत्र आदि रूपमें व्रजभूमिमें वर्त्तमान हूँ। इसकी अपेक्षासे श्रीब्रह्मा 'प्रपञ्च' (श्रीमद्भा. १०/१४/३७) इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। हे भगवन्! आप प्रपञ्चातीत होनेपर भी प्रपञ्चके पुत्र आदि भावोंका अनुकरण कर रहे हैं। किसलिए? अपने शरणागत भक्तोंकी आनन्द-राशिको बढ़ानेके लिए। इस प्रकार कपट पुत्र आदि बनकर आप वैसे भक्तोंके ऋणसे उऋण नहीं हो सकते, अतएव आप सदाके लिए उनके ऋणी रहेंगे। अथवा अपने भक्तोंके आनन्दकी धाराका विस्तार करनेके लिए भूतलपर आपका प्रपञ्चगत पुत्र आदिका जो भाव है, क्या वह आपका अनुकरणमात्र है? अपितु अनुकरण नहीं है, क्योंकि आप माँ श्रीयशोदाके प्रति कभी-कभी विश्वरूप आदिके प्रदर्शनके छलसे अपना परम ऐश्वर्य भी प्रकट करते हैं। इसके विपरीत जिससे प्रपञ्चमें रहनेवाले व्यक्तियोंका प्रपञ्चमें आवेश दूर हो, आप उसी कारणसे पुत्र आदि भावका अनुकरण करते हैं। इसलिए सदैव अपने स्वभाव आदिको छिपानेमें शक्तिरहित होनेके कारण आपका मधुर-ऐश्वर्य प्रकाशित हो जाता है। यहाँपर 'भूतल' शब्द प्रयोग करनेसे ध्वनित हो रहा है कि स्वर्ग आदिके वासियोंके प्रति पुत्र आदि भावके साथ-साथ आप अपने परमेश्वर भावको भी

प्रदर्शित करते हैं, इसलिए परम ऐश्वर्यके प्रकटनके कारण स्वभावतः ही उनके विशेष प्रेमका ह्रास हो जाता है। अतएव उनका प्रेम श्रीयशोदा आदिके प्रेमसे कम है। तथापि व्रजवासियोंके प्रति आपके इस प्रकारके व्यवहारसे भी आपका किस प्रकारसे उऋण होना सम्भव होगा?

अथवा (यहाँ आपत्ति हो सकती है कि) वे व्रजवासी यदि सदैव मुझमें निष्ठावान हैं तथा मेरे प्रचुर प्रेमसे वशीभूत हैं, तो फिर उनमें द्रव्य आदिमें आसक्ति-लोभ, गृहस्थ और व्यापारमें तथा बन्धु-बान्धवोंमें स्नेह-मोह आदि किस प्रकार सम्भव हुआ? इसके समाधानमें 'प्रपञ्च' इत्यादि पदों द्वारा कह रहे हैं कि सचमुच उनमें वैसा व्यवहार देखा जाता है, किन्तु उन सबके मूलमें भी आप ही हैं। अर्थात् वे सब व्यवहार अचिन्त्य-अद्भुत शक्ति द्वारा आपके द्वारा ही होते हैं। जिनकी भक्तिके आभासमात्रसे ही प्रपञ्चकी आसक्ति आदि नष्ट हो जाती हैं, आपने उन भक्तोंमें सर्वश्रेष्ठ व्रजवासियोंके वैसे व्यवहारको प्रपञ्चका अनुकरण करनेवाला स्थिर किया है। ('डलयोरेकत्वात्'—इस सूत्रके अनुसार 'विड़म्ब' शब्दके स्थानपर 'विलम्ब' पद सिद्ध हो रहा है और उस विलम्बका विपरीत अर्थ 'शीघ्र' कहकर स्थिर हुआ है।) किसलिए? हे परमसमर्थ प्रभो! (अर्थात् सबकुछ करनेमें परमसमर्थ हैं अतः) भूतलपर अपने शरणागत भक्तोंकी आनन्द-राशिका विस्तार करनेके लिए आपने उस अनुकरणको स्थिर किया है। यहाँपर 'भूतल' शब्दके प्रयोग द्वारा सूचित हो रहा है कि आप वैकुण्ठवासियोंके प्रति भी ऐसे आनन्दका विस्तार नहीं करते हैं। तात्पर्य यह है कि आपके प्रति भक्तिनिष्ठ व्यक्तियोंका उन सभी द्रव्योंके प्रति आपके महाप्रसाद (कृपा) की बुद्धिवशतः तथा आपके विशेष सम्बन्धकी अपेक्षासे ही आसक्ति आदिका उदय देखा जाता है। इसलिए उन सब द्रव्योंके प्रति आसक्ति आदिसे उन व्रजवासियोंमें विचित्र भजनानन्द-माधुरीकी धाराका विस्तार होता है। अतएव वैसे भक्तिमान व्रजवासियोंका ऋण चुकानेमें असमर्थ होनेके कारण आप सचमुच ऋणी ही रह गये हैं॥१०३॥

जानन्त एव जानन्तु किं बहूक्त्या न मे प्रभो।
मनसो वपुषो वाचो वैभवं तव गोचरः॥१०४॥

श्लोकानुवाद—"हे विभो! मुझे अधिक कहनेकी क्या आवश्यकता है? जो समस्त पण्डित-अभिमानी व्यक्ति ऐसा सोचते हैं कि वे आपकी महिमाको जानता है, तो वे जानते रहें, किन्तु आपके वैभव-सिन्धुकी एक बूँद भी मेरे तन-मन-वचनके गोचर नहीं है॥"१०४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवं *"ज्ञाने प्रयासमुदपास्य"* (श्रीमद्भा. १०/१४/३) इत्यारभ्य प्रतिपादितं ज्ञानस्य तुच्छत्वं भक्तेश्च महिमानं स्तुवन्। यद्वा, प्रथमं परमस्तुतितयारब्ध-श्रीभगवद्वपुषो वर्णनं तत्रापतितविविधशङ्कानिरासेन सुदृढ़ीकृत्य पुनरन्तेऽपि तदेव प्रस्तावयन्। अथवा अखिलस्तुतिनदीविततिपर्यवसानपदं श्रीभगवन्-महास्तुतिरूपं व्रजवासि-माहात्म्यवर्णनामृतसागरं पिबन् तत्तन्महिमज्ञानाभिमानिनो मूढ़ानुपहसन्नुपसंहरति—'जानन्त' (श्रीमद्भा. १०/१४/३८) इति। तत्राद्ये पक्षे, ज्ञाने यतमाना ज्ञानं साधयन्तु नाम इत्यर्थः। इति ज्ञानपरान् प्रति सोल्लुण्ठवचनम्। परपक्षद्वयेऽपि यथायथमेवमूह्यम्; बहूक्त्या महत्या उक्त्या ज्ञान-तत्साध्यतुच्छतायास्त्वद्-भक्तिमहिम्नश्च बहुना वर्णनेनापरेण किम्? एतावदेव वक्तव्यमित्यर्थः। किन्तदित्याह—हे प्रभो! हे विचित्रानन्तप्रभाव! तव वैभवं त्वद्भक्तिमहिमा मम काय-वाङ्मनस-व्यापाराणां न विषयः, अपरिच्छिन्नत्वादवितर्क्यत्वाच्च। एतेन ज्ञानं तत्फलादिकं चान्यदशेषं परिच्छिन्नत्वादिना विषय एवेति ध्वनितम्; द्वितीये प्रकर्षेण सुन्दरतराकारादिना भवति प्राकट्यं प्राप्नोतीति। प्रभोस्तत्सम्बोधनम्; हे सर्वविलक्षण! प्रकृष्टतररूपेत्यर्थः। तव वपुषो वैभवं न मदीयमनोवचसोर्विषय इत्यन्वयः। यद्वा, तव मनादीनां वैभवं न मे गोचरः। तत्र यथा तन्मनोवचसोर्वैभवं तत्तदभिप्रायादिकं न गोचरः, तथा त्वद्वपुषोऽपीत्येवमत्र दृष्टान्तत्वेन मनोवचसोरुपादानम्। इत्थञ्च यथामूर्त्यमव्यक्तम-परिच्छिन्नमवितर्क्यं सम्विच्छक्ति-विशेषरूपं तव मनोऽनन्तागाधबोधरूपञ्च वचस्तथैव तव वपुरपीति ध्वनितम्। तृतीये *"भवज्जनानाम्"* (श्रीमद्भा. १०/१४/३०) इति *"एषान्तु भाग्यमहिता"* (श्रीमद्भा. १०/१४/३३) इति, *"एषां घोषनिवासिनाम्"* (श्रीमद्भा. १०/१४/३५) इत्यतोऽनेकशः प्रस्तुता व्रजवासिनोऽनुवर्त्तन्त एव। अत एषां वैभवमिति सम्बन्धः। ततश्चायमर्थः—हे अपरिच्छिन्नविचित्रशक्तिमन्! व्रजवासिनामेतेषां महिमा मम तवापि न कायवाङ्मनसगोचरः। तत्र ब्रह्मणो देहव्यापारेण महिमग्रहणं नाम तल्लिखनं, तदपि न स्यादिति ज्ञेयम्। अथवा तस्यापि वपुः प्रपञ्चातीतं नित्यं सर्वशक्तिमदेव, भगवद्गुणावतारत्वात्। अतः कथञ्चित्तेनापि तन्महिमग्रहणं सम्भवतीत्याशङ्कानिरसनाय वपुष इत्युक्तम्॥१०४॥

भावानुवाद—इस प्रकार "जो ज्ञान प्राप्तिके लिए थोड़े-से प्रयासका भी परित्याग करके साधुओं द्वारा कही जानेवाली आपकी कथाका श्रवण करता है।" (श्रीमद्भा. १०/१४/३) इत्यादिसे आरम्भ करके श्रीब्रह्माने ज्ञानकी तुच्छता तथा भक्तिकी श्रेष्ठता और महिमाको प्रतिपादित करनेवाली स्तुति की है। अथवा सर्वप्रथम परम स्तुतिके रूपमें आरम्भ की गयी श्रीभगवान्‌की वपुकी महिमाके वर्णनमें आनेवाली विविध आशङ्काओंको दूरकर अपने सिद्धान्तको सुदृढ़ करनेपर भी पुनः उपसंहारमें उसी प्रकारकी प्रस्तावना (सूचना) कर रहे हैं। अथवा समस्त प्रकारकी स्तुतिरूप नदियाँ जिनके श्रीचरणोंमें पर्यवसित होती हैं, उन श्रीभगवान्‌की महा-स्तुतिरूपमें व्रजवासियोंकी महिमाके वर्णनरूप अमृतके सागरका पान करके भी जो श्रीभगवान् तथा व्रजवासियोंकी उन सब महिमाओंके ज्ञानके अभिमानमें प्रमत्त हैं, उन मूढ़ व्यक्तियोंका उपहास करते हुए श्रीब्रह्मा (श्रीमद्भा. १०/१४/३८) 'जानन्तु' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। अर्थात् जो आपकी महिमाको जानते हैं, वे जानें, किन्तु आपके वैभव-सिन्धुकी एक बूँद भी मेरे तन-मन और वचनके गोचर नहीं है।

इस श्लोकके प्रथम पक्षमें कहा गया है कि ज्ञानके विषयमें यत्नवान व्यक्ति ज्ञानका साधन करें—यह ज्ञानमें अनुरक्त व्यक्तियोंके प्रति 'सोलुण्ठ वचन' अर्थात् व्यङ्ग उक्ति है। कहे जानेवाले अन्य दोनों पक्षोंके लिए भी ऐसा ही समझना चाहिये। अर्थात् ज्ञान और ज्ञानके साध्यफल (मुक्ति) की तुच्छता तथा उससे भक्तिकी अधिक महिमा है, इस विषयमें अधिक कहनेकी आवश्यकता ही क्या है। किन्तु हे प्रभो! हे विचित्र अनन्त-प्रभावशाली! आपका वैभव अर्थात् आपकी भक्तिकी महिमा मेरे तन, मन और वचनके गोचर नहीं है, क्योंकि वह असीम और तर्कसे अतीत है। इसके द्वारा यही सूचित हुआ कि ज्ञान और ज्ञानका फल तथा अन्यान्य साधनोंके फल सीमित हैं।

अथवा दूसरे पक्षमें—'हे प्रभो!' इस सम्बोधनका अर्थ है कि जो सब प्रकारसे विलक्षण उत्कृष्ट सुन्दर श्रीमूर्त्तिके आकार आदि द्वारा प्रकट होकर रहते हैं, आपके उस शरीरका वैभव मेरे मन और वचनके गोचर नहीं है। अथवा आपके मन आदिका वैभव भी मुझे

गोचर नहीं है। अतएव जिस प्रकार आपके मन और वचनका वैभव अर्थात् उनके अभिप्राय आदि मेरे अगोचर हैं, उसी प्रकार आपके वपुके वैभव भी अगोचर हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अमूर्त्त, अव्यक्त, असीम, तर्कसे अतीत, सम्वित्–शक्तिरूप आपका मन अनन्त अगाध–बोधस्वरूप है, उसी प्रकार ही आपके वचन और आपकी वपु भी हैं, अतएव मेरे मन और वचनके अगोचर हैं।

इसके उपरान्त तृतीय पक्षमें—वैभव कहनेसे "भक्त ही भगवान्‌के प्रधान वैभव हैं।" (श्रीमद्भा. १०/१४/३०), "अहो! व्रजवासियोंका कितना सौभाग्य है!" (श्रीमद्भा. १०/१४/३३) तथा "आपके गोकुलवासी धन्य हैं।" (श्रीमद्भा. १०/१४/३५)—इस प्रकार व्रजवासियोंके सम्बन्धमें बहुत प्रमाण उद्धृत किये जा सकते हैं। अतएव व्रजवासी श्रीभगवान्‌के वैभव ही हैं। तात्पर्य यह है कि—हे असीम–विचित्र शक्तिमान्! इन सब व्रजवासियोंकी महिमा मेरे तथा आपके तन, मन और वचनके अगोचर है। यहाँ श्रीब्रह्माका श्रीभगवान्‌के साथ दैहिक सम्बन्ध अर्थात् भगवान्‌के पुत्ररूपमें रहनेपर भी वे व्रजवासियोंकी महिमाको ग्रहण करके भी उसको लिखकर सम्पूर्ण नहीं कर सकते—जानना होगा। अथवा श्रीब्रह्मा श्रीभगवान्‌के गुणावतार हैं, अतएव उनकी वपु भी प्रपञ्चातीत नित्य सर्वशक्तिमान् हैं। अतः अपने द्वारा भी किसी प्रकारसे श्रीभगवान्‌के विग्रहकी महिमाको ग्रहण करनेमें समर्थ होनेकी आशङ्काको दूर करनेके लिए वे 'वपुषो' इत्यादि पद कह रहे हैं॥१०४॥

अनुजानीहि मां कृष्ण सर्वं त्वं वेत्सि सर्वदृक्।
त्वमेव जगतां नाथो जगच्चैतत्तवार्पितम्॥१०५॥

श्लोकानुवाद—"हे श्रीकृष्ण! आप सर्वदर्शी हैं, इसलिए हमारे हृदयके भाव आदिसे अवगत हैं। आप ही जगत्‌के अधीश्वर हैं, अतएव ममताकी वस्तु यह जगत् और अपनी देह मैं आपको समर्पित करता हूँ। मुझे अपने लोकमें जानेकी अनुमति प्रदान करें॥"१०५॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं स्तुतिप्रभावात् भासितभगवत्प्रसादतस्तदानीमेवाखिलाभि–मानापगमेन जातं परमदैन्यमाश्रितः सन् दीर्घकालं व्रजवासिसमीपेऽवस्थातुमयोग्यमात्मानां

मन्यमानोऽपराधान्तरमप्यापशङ्क्यमानो निजस्थानं गन्तुं प्रार्थयते—अनुजानीहीति (श्रीमद्भा. १०/१४/३९)। निजमहिमानं मादृशाञ्च निकृष्टत्वादिकं सर्वं त्वमेव वेत्सि; यतः सर्वदृक् सर्वमेव साक्षात् सदा पश्यति, अतस्त्वां स्तोतुमपि नार्हामीति मां प्रति गमनायानुज्ञां देहि। यद्वा, ननु मम रूप-नामादीनां भक्तेर्भक्तानामेषाञ्च व्रजवासिनां माहात्म्यं विशेषतो वर्णय, तत्राह—सर्वमिति। वैभवमित्यनुवर्त्तत एव; तत्तदशेषं माहात्म्यं सर्वदृगपि त्वं वेत्सि, किं काकूक्त्या, नैव जानासीत्यर्थः। तत्तन्महिम्नोऽन्ताभावात्, अथवा भो ब्रह्मन् त्वयात्र किञ्चिज्जन्माधुनैव प्रार्थितं, तत् कथमन्यत्र गन्तुमिच्छसि? मत्कर्णसुखावहमीदृशं व्रजमहिमवर्णनमेवात्रावस्थाय विधेहि, तत्राह—सर्वमिति। अयमर्थः—"चतुर्मुखशरीरेणानेन सुखमत्र वस्तुं नार्हामि" इति शरीरान्तरञ्च मम द्विपरार्धाभ्यन्तरे दुर्घटम्; अतोऽधुना व्रजवासिनामेषां पादरजोऽभिषेकोऽपि मम दुर्लभ एव भविता। किञ्च, निजाशक्ये एषां महिमवर्णने प्रवृत्तिः परमलज्जाहेतुर्दोषायैवेत्यादिकं मदीयम्; त्वमप्यृणीव सदा व्रजवासिवश्य-तदीयप्रेम-भक्त्येकरसोऽतः क्षणमपि तैः सहासङ्कोचं सुखविहारं विनान्यत्र किमपि न रोचते, इत्यादिकमात्मनश्च सर्वं वृत्तम्; कृष्ण! हे व्रजजनैकानन्द! त्वं वेत्स्येव, तत् कथमत्र स्थास्यामीति। ननु सर्वज्ञेन भवता पूर्वं कथमेवमपरामृश्य तथा याचितम्? तद्वर्णने वा प्रवृत्तञ्च? तत्राह—सर्वं पश्यति जानातीति सर्वदृक् त्वमेव; मादृशास्तु किञ्चिज्ज्ञा एव। यद्वा, सर्वं दर्शयति ज्ञानादिशक्तिप्रदानेन सर्वत्र सर्वं प्रवर्त्तयतीति सर्वदृक्। यथा त्वयान्तर्यामिणा प्रेरितं, तथैव मया प्रार्थितं प्रवृत्तञ्च; तत्र मम न कोऽपि गुणो दोषो वा; गुणश्चेत् प्रेरकस्येश्वरस्यैव, सदोषश्चेत्, तेन किल प्रेर्येऽर्पयितुं न युज्यत इति भावः। एतदपि सर्वं वेत्सि। ननु दास्ये सत्येवमुक्तं स्यात्, तच्च जगत्स्वामिनस्तव न सम्भवत्येव, तत्राह—त्वमिति, त्वमेव नाथः, न त्वहमन्यो वा कश्चित्; तत्र च जगतामेव नाथः, अतो ममापि, जगन्नाथत्वात्; तव दास एवाहमिति भावः। ननु सृष्टिकर्त्तुः पितामहस्य तव पुत्र-पौत्रादिरुपं जगत्रयाधिक्रियमाणमेतत् प्रत्यक्षं दृश्यते। कथं मे जगन्नाथता? यया त्वं मद्दासः स्याः, तत्राह—जगदिति। सर्वमेवैतत्तव त्वयि अर्पितमाहितम्; अतएव त्वदधीनमित्यर्थः। यद्वा, तवैतदखिलं, त्वयैव मय्यर्पितं स्थापितं त्वत्कर्त्तृकार्पणपाटवेनैव मदीयत्वेन परिस्फुरतीति भावः। अथवा, मम जगदीशत्वे जगतामेवेशितव्यतया दासता सहजा वर्तत एव, तत् कथं परतो घोषणया (परमोद्घोषणया) पूर्वमभक्तास्त्वया निन्दिताः? कथं वा भक्तिमतीव प्रशश्य परमौत्सुक्येन स्वयं दास्यं, तत्राप्यत्र व्रजे किमपि जन्म प्रार्थितम्? सत्यं, त्वदधीनतया स्वाभाविके त्वद्दास्ये वर्तमानेऽपि प्रेम्णा विचित्रभक्त्यैव दासता परमोत्तमा सुदुर्लभा सर्वैरपि साध्या। सा च सर्वार्पणं विना यथार्थं न सिध्यतीति तदर्थं सर्वमेवार्पयामीत्याह—ममतास्पदं जगदहन्तास्पदञ्चैतच्छरीरं स्तोत्रादिकमपि मया त्वय्येवार्पितम्। एतच्च ध्वनितम्—यद्यपि जगत् सर्वं तव जगन्नाथस्यैव, तथापि हे कृष्ण! जगन्नाथत्वाद्बहिरन्तरीश्वरस्यान्तर्यामिनस्तव प्रेरणया त्वदीयमहिमविशेषालोचनेन

परमोत्तमदास्यप्राप्तये त्वय्येव मया पिष्टपेषणन्यायेनाप्यर्पितम्। एवमनधिकारिणो मम तादृशदुर्घटद्रव्यप्रार्थनादोषोऽपि त्वया क्षन्तव्य एवेति॥१०५॥

भावानुवाद—इस प्रकारकी स्तुतिके प्रभावसे उत्पन्न श्रीभगवान्की कृपासे श्रीब्रह्माका समस्त अभिमान दूर हो गया तथा उनके हृदयमें परम दीनता उत्पन्न हुई। इसलिए श्रीब्रह्मा दीर्घकाल तक अपने आपको व्रजवासियोंके समीप रहनेके अयोग्य समझकर तथा अपराधकी आशङ्का करके अपने स्थानपर जानेके लिए 'अनुजानीहि' (श्रीमद्भा. १०/१४/३९) इत्यादि श्लोक द्वारा श्रीभगवान्से अनुमति माँग रहे हैं। हे भगवन्! आप अपनी महिमा तथा मेरे जैसे व्यक्तियोंकी निकृष्टता आदि सब कुछसे अवगत हैं, क्योंकि आप 'सर्वदृक' हैं अर्थात् सदा सभी वस्तुओंका साक्षात् दर्शन कर रहे हैं। इसलिए मैं आपका स्तव करनेके योग्य नहीं हूँ, अतः आप अब मुझे जानेकी अनुमति प्रदान कीजिये।

अथवा यदि आप कहें कि तुम मेरे रूप-नाम आदि तथा भक्ति और भक्तों अर्थात् व्रजवासियोंके विशेष माहात्म्यका वर्णन करो। इसके लिए ही श्रीब्रह्मा 'सर्वं' इत्यादि पद कह रहे हैं। हे भगवन्! आप 'सर्वदृक' होकर भी क्या उनके सम्पूर्ण माहात्म्यको जानते हैं? अतएव आप स्वयं भी जिसे सम्पूर्ण रूपमें नहीं जानते उस विषयमें मैं और अधिक क्या कहूँ? इसका कारण है कि उस महिमाका अन्त नहीं है। अथवा यदि आप मुझे कहते हैं कि हे ब्रह्मन्! अभी तुमने इस व्रजमें किसी भी योनिमें जन्म प्राप्त करनेकी प्रार्थना की है, अतः अब किसलिए अन्य स्थानपर जानेकी इच्छा कर रहे हो? अतएव तुम यहींपर रहकर मेरे कानोंके लिए सुखदायक इस प्रकारकी व्रजमहिमाका वर्णन करो। इसके उत्तरमें श्रीब्रह्मा 'सर्वं' इत्यादि पद कह रहे हैं। इसका अर्थ है—हे भगवन्! चतुर्मुख शरीरसे मैं इस स्थानपर सुखपूर्वक वास करनेके योग्य नहीं हूँ तथा अभी दूसरा शरीर धारण करना भी सम्भव नहीं है, क्योंकि (आपके विधानानुसार) द्विपरार्ध काल समाप्त नहीं होने तक मुझे अन्य शरीर प्राप्त नहीं हो सकता। अतएव इस समय व्रजवासियोंकी पदधूलिमें अभिषिक्त होना (स्नान करना) भी मेरे लिए दुर्लभ है। तदुपरान्त कुछ और भी कह रहे

हैं—अपनी असमर्थता होनेपर भी मेरे द्वारा इन व्रजवासियोंकी महिमाका वर्णन करनेमें प्रवृत्त होना परम लज्जाका विषय होनेके कारण दोषयुक्त होगा। आप भी सदैव व्रजवासियोंके अधीन हैं तथा एकमात्र उनकी प्रेमभक्ति ही आपके लिए आस्वदनीय है, इसलिए आप क्षणकालके लिए भी उन व्रजवासियोंके साथ असंकोचपूर्ण सुख-विहारके बिना अन्य किसी स्थानपर जानेमें अथवा अन्य किसी विषयमें रुचि नहीं रखते हैं—यही आपका स्वभाव है। अतएव हे श्रीकृष्ण! हे व्रजजनानन्द! (व्रजवासियोंके एकमात्र आनन्द!) आप सब जानते हैं, अतएव मैं यहाँपर कैसे रह सकता हूँ?

यदि आप कहें कि सर्वज्ञ होकर भी मैंने किसलिए बिना विचार किये इस प्रकारकी प्रार्थना की अथवा इस प्रकारका वर्णन करनेमें प्रवृत्त हुआ? इसीके लिए श्रीब्रह्मा कह रहे हैं—हे भगवन्! आप सर्वदर्शी हैं अर्थात् सब कुछ देखते तथा जानते हैं तथा मेरे जैसे व्यक्ति अल्पज्ञ होते हैं, यह भी आप भलीभाँति जानते हैं। अथवा आप ही ज्ञान आदि शक्ति प्रदान करके सर्वत्र सभीको प्रवर्त्तित कर रहे हैं, इसीलिए आप सर्वदृक हैं। अथवा आपने अन्तर्यामी रूपमें जिस प्रकारकी प्रेरणा दी है, मैं भी उस प्रकारकी प्रार्थना करनेमें प्रवृत्त हुआ हूँ। अतएव इस विषयमें मेरा कोई दोष अथवा गुण नहीं है। (वस्तुतः गुण-दोष यदि प्रेरक ईश्वरका भी हो, तथापि दोषादिको प्रेरकपर आरोप करना उचित नहीं है—यही भावार्थ है।) आप यह सब भी जानते हैं।

यदि आपत्ति हो कि दासके लिए ऐसा सत्य होनेपर भी तुम तो जगत्के स्वामी हो, अतएव तुम्हारे लिए यह बात युक्तियुक्त नहीं हो सकती। इसके लिए ब्रह्माजी कह रहे हैं—हे प्रभो! आप ही जगत्के नाथ हैं, मैं तथा और कोई भी जगत्का नाथ नहीं है, अतएव मैं भी आपका दास हूँ। यदि आप कहते हैं कि हे ब्रह्मन्! मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ कि तुम सृष्टिकर्त्ता पितामह होकर पुत्र-पौत्र आदि रूपसे तीनों लोकोंपर अधिकार किये हुए हो, अतएव मैं किस प्रकारसे जगत्का नाथ हूँ और तुम किस प्रकारसे मेरे दास हो? इसके लिए ही श्रीब्रह्मा 'जगतां' इत्यादि पद कह रहे हैं। यह समस्त जगत् आपका

होनेके कारण आपको ही अर्पित है, अतएव आपके अधीन है। अथवा आपका यह जगत् आपके द्वारा मुझे अर्पित किया गया है तथा आपको अर्पण करनेके कौशलसे ही मैं इस जगत्‌को अपना समझकर अभिमान कर रहा हूँ। अथवा मेरे जगदीश्वर होनेपर भी समस्त जगत् आपके ही वशीभूत है, इसलिए सहज रूपसे ही मेरा दास होना प्रमाणित होता है।

यहाँ आपत्ति हो सकती है कि यदि समस्त जगत् ही श्रीभगवान्‌के अधीन है, तब फिर किसलिए तुमने (ब्रह्माने) भेद-भावकी घोषणा करके अभक्तोंकी निन्दा की है और किसलिए भक्तिकी अत्यधिक प्रशंसा करके परम उत्सुकतापूर्वक स्वयं दास्यभावकी प्रार्थना की है? तथा किसलिए इस व्रजमें ही जिस किसी भी योनिमें जन्म प्रदान करनेके लिए प्रार्थना की है? इसके उत्तरमें श्रीब्रह्माजी कह रहे हैं—यह सत्य है कि आपकी अधीनतावशतः सभी आपके दास हैं तथा वह स्वतःसिद्ध दास्यभाव वर्त्तमान रहनेपर भी प्रेमभक्ति सहित विविध प्रकारकी सेवासे युक्त दास्यभाव ही परम उत्तम तथा सुदुर्लभ होनेके कारण सभीके लिए साध्य वस्तु है। किन्तु वह दास्य सबकुछ अर्पण किये बिना यथार्थतः सिद्ध नहीं होता है। हे प्रभो! इसलिए ममतास्पद (मेरा) जगत्-वैभव तथा अहंतास्पद (मैं) आत्मादि शरीर भी इस स्तोत्रके वर्णन द्वारा आपको समर्पण करता हूँ। यद्यपि जगन्नाथ होनेके कारण समस्त जगत आपका ही है, तथापि हे कृष्ण! जगन्नाथ होनेके कारण बाह्य तथा अन्तरके ईश्वर आप अन्तर्यामीकी प्रेरणा द्वारा आपकी विशेष महिमाका विवेचन करके सर्वोत्तम दास्यभावकी प्राप्तिके लिए ही मैं आपको 'पिष्टपेषण' (पीसे हुए को पुनः पीसना) न्यायके अनुसार सबकुछ अर्पण करता हूँ। तथा इस प्रकार अनधिकारी होकर भी मैं ऐसी दुर्लभ वस्तुओंकी प्रार्थना कर रहा हूँ, आप मेरे इस दोषको भी क्षमा कीजिये॥१०५॥

श्रीकृष्ण वृष्णिकुलपुष्करजोषदायिन्
क्ष्मा-निर्जर-द्विज-पशूदधिवृद्धिकारिन् ।

उद्धर्मशार्वरहर क्षितिराक्षसध्रु–
गाकल्पमार्कमर्हन्! भगवन्नमस्ते ॥१०६॥

श्लोकानुवाद—"हे कृष्ण! आप वृष्णिकुलरूप कमलको आनन्दित (प्रकाशित) करनेवाले सूर्य हैं तथा पृथ्वी, देवता, ब्राह्मण और गायोंरूपी समुद्रका वर्धन करनेवाले चन्द्र हैं। आप पाषण्ड–धर्मरूप रात्रिके अन्धकारका नाश करनेवाले तथा पृथ्वीके राक्षसोंका मर्द्दन करनेवाले हैं। हे भगवन्! आप जगतमें सूर्यादि समस्त वस्तुओंके पूजनीय हैं। अतएव जब तक यह कल्प रहेगा, (अर्थात् मेरा जीवन रहेगा) तब तक मैं आपके श्रीचरणकमलोंमें नमस्कार करता हूँ॥"१०६॥

दिग्दर्शिनी टीका—तदेवं किङ्करं प्रस्थापयेत्यादरेण नमस्करोति—श्रीकृष्णेति (श्रीमद्भा. १०/१४/४०)। वृष्णिकुलपद्मस्य प्रीतिदातृत्वेन हे सूर्योपम क्ष्मा च निर्जराश्च, देवाः द्विजाश्च पशवश्च ते एवोदधयस्तेषां वृद्धिकारित्वेन हे चन्द्रोपम! उद्धर्मः पाषण्डधर्मः तदेव शार्वरन्तमः उद्धरतीति तथा; अनेन द्वयोपमः। हे क्षितिराक्षसध्रुक्! क्षितौ राक्षसाः कंसादयः, उद्यन्नेव तेभ्यो द्रह्यतीति पुनः सूर्योपम! सूर्याद्युपमापि न्यूनेति मत्वाह—आर्क अर्कमभिव्याप्य सर्वेषामर्ह पूज्य! भगवन्! आकल्पं कल्पपर्यन्तं ते तुभ्यं नमः। अथवा, इत्थं सञ्जातपरमभक्त्या विचित्रनामसंकीर्त्तनरूपां परमां स्तुतिमन्ते कुर्वन् प्रारब्धं समापयितुं प्रणमन् सर्वमवतारप्रयोजनमेकेनैव श्लोकेन संक्षिप्य वर्णयति—श्रीकृष्णेति। तत्र प्रथमं वृष्णिकुलेति। सूर्योदयेन कमलानां तमोनिरसनप्रकाशनादिकमिवाविर्भावमात्रेण श्रीवसुदेवादिक–यादववर्गस्य दुःखनाश–पूर्वकमानन्ददातृत्वं वर्णितम्। तथा च दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा. १०/२/१७)—*"स विभ्रत् पौरुषं धाम राजमानो यथा रविः। दुरासदो (ऽतिदुर्धर्षो) दुर्विसहो भूतानां सम्बभूव ह॥"* इति। स आनकदुन्दुभिर्वसुदेवः। तथा देवस्तुतौ—*"दिष्ट्या हरेऽस्या भवतः पदो भुवो, भारोपनीतस्तव जन्मनेशितुः॥"* (श्रीमद्भा. १०/२/३८) इत्यादि। *"दिष्ट्याम्ब! ते कुक्षिगतः परः पुमानंशेन साक्षाद्भगवान् भवाय नः। मा भूद्भयं भोजपतेर्मुमूर्षोर्गोप्ता यदूनां भविता तवात्मजः॥"* (श्रीमद्भा. १०/२/४१) इति। ततो जन्माध्याये—*"मही मङ्गलभूयिष्ठ–पुरग्रामव्रजाकरा"* (श्रीमद्भा. १०/३/२) इत्याद्युक्तानुसारेण पृथिव्या देवानां ब्राह्मणानाञ्च तथा पशूदधिर्नन्दस्य व्रजस्तस्य चेति गवादीनामपि वर्धनमुक्तम्। यद्यपि पृथिव्या वर्धनेनैव तदन्तर्गतानां यादवद्विजव्रजानां वृद्धिकारित्वमायाति, तथापि भक्तवात्सल्यं गो–ब्राह्मणहितकारित्वञ्च सर्वत्रैव भगवन्माहात्म्यमवश्यं वर्ण्यत इत्यतोऽथवावतारेऽस्मिन्

विशेषतः एषां सम्वर्धनमित्यतः पृथग्ग्रहणम्। अधुना निजप्रेमभक्तिविस्तारकत्वमेवाह—उद्धर्मः उच्चो धर्मः अवश्यप्रतिपाल्यस्वधर्मादिलक्षणः तं शर्वरीसम्बन्धि-तमोभयादिकञ्च गोपीनां रासक्रीड़या हरतीति। तथा अभूतमप्येतदवश्यम्भावित्वेन सर्वज्ञत्वात् सूचितम्। यद्वा, *"धर्मो मद्भक्तिकृत्प्रोक्तः"* (श्रीमद्भा. ११/१९/२७) इत्येकादशस्कन्धे भगवद्वचनाद्धर्मोऽत्र भक्तिलक्षणः; तद्विरुद्धं विमार्गवाचकोत्पथादिवत् ज्ञानकर्मादिकं सर्वमेवोद्धर्मः, तच्च सदा सर्वत्र प्रकाशमानस्यापि भक्तिमार्गस्य गुहादौ द्रव्याणामिवाच्छादकत्वाच्छार्वरन्तमः तद्धरति इति तथा, हे स्वभक्तिप्रकाशकेत्यर्थः। तत्र तमसि ये चरन्ति, त एव रजनीचरसाम्यादखिललोकैकजीवन-भक्तिमार्ग-विघातकत्वाच्च राक्षसाः, ते च प्रायशः पृथिव्यन्तर्गते कर्मक्षेत्रे एवेति क्षितिग्रहणम्; अन्ये च वृष्णि-कुलादिद्वेषिणो ये ये क्षितिराक्षसाः कंसादयो, ये च रासक्रीड़ादि-विघातकाः शङ्खचूड़ारिष्टादयस्तेभ्यः सर्वेभ्य एव तत्तद्विघ्नविनाशाय विचित्रलीलया द्रुह्यतीति तथा। एवं कर्त्तुञ्च त्वमेवार्हसि, नान्यः कोऽपीत्याह—अर्हतीत्यर्हन्, हे सर्वं कर्त्तुं योग्य! समर्थेति वा। यत् पूर्वं नारायणरूपेण नानावतारैश्च त्वया नाचरितं, तदधुनाविष्कृताशेषभगवत्तापराकाष्ठाकत्वात् सम्पादयितुं तवैवोचितं श्क्यञ्चेत्यर्थः। ननु वेदविहितस्वधर्मज्ञानादिपराणां, तथा मातुलत्वादिसम्बन्धवतां कंसादीनां द्रोहोऽनुपयुक्त एवेति चेत्तत्राह—हे भगवन्! परमकृपालो! तेषामेव हितार्थमेवं करोषीत्यर्थः। अयं भावः—ये त्वद्भक्तिविमुखा ज्ञानकर्मपराः अन्तर्निगूढासुरभावाः, तेषां तद्दुःखभावापनयनेन, ये च सर्वलोकोपतापकाः कंसादयस्तेषां विमुक्तिप्रदानेन, घात एव परमकारुणिकताम्-भिव्यञ्जयतीति। अथवा स्वामिव्याख्यैवानुसर्तव्या। इत्थमेव हे अर्हन् सर्वेषां पूज्य! यतो ज्ञान-कर्मपरा अपि भक्तिमार्गेऽधुना प्रविष्टाः, यथा अक्रूर-भीष्मादयः। प्रकटदैत्याश्च कंसादयोऽन्तर्भयादिना त्वद्भावनया भक्तिमेवाश्रिताः। बहिश्च निजसहजकर्म-सामर्थ्यरहितत्वान्मृततुल्या एव जाता विमुक्तिं वा मरणेन प्राप्ताः; अवश्यम्भावित्वात् अभूतमपि भूतवत् सूचितम्। यद्येवं त्वया न कृतं स्यात्तदा सर्वैरेव त्वं न पूजितः स्या इति भावः। एवं स्तुवन् निर्भरप्रेमरसनिमग्नो भगवता सह व्रजवासिनः सर्वानेव यास्यन्नमस्करोति। आर्कम् अर्कनामवृक्षविशेषो निष्प्रयोजनो भगवत्पूजानर्हो वैष्णवानामनादरणीयः; अत्रत्यं तमभिव्याप्य तुभ्यं नमः; त्वां त्वदीयांश्चात्रत्यान् सर्वान् जङ्गमान् स्थावरानपि नमामीत्यर्थः। एतच्च *"तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्याम्"* (श्रीमद्भा. १०/१४/३४) इति निजप्रार्थनानुरूपमेव। यतोऽत्रत्योऽर्कवृक्षोऽपि मन्नमस्यो मत्तोऽधिकतर एव, अतो न तादृशमपि जन्मात्राहमर्हामि। अतस्त-स्मादप्यल्पतरमन्यत् किञ्चिदेव प्रार्थ्यमिति ध्वनितम्। तत्र च प्रणामेषु संख्यातृप्तिरपि कथञ्चिन्नास्तीत्या-कल्पमित्युक्तम्। इत्थं सर्वशोभायुक्तकृष्ण! हे श्रीकृष्णेति॥१०६॥

भावानुवाद—अतएव किङ्करको यहाँसे प्रस्थान करनेकी अनुमति दीजिये, इस अभिप्रायसे श्रीब्रह्मा अत्यन्त आदरपूर्वक नमस्कार करते

हुए 'श्रीकृष्ण' इत्यादि (श्रीमद्भा. १०/१४/४०) श्लोक कह रहे हैं। हे वृष्णि-कुलरूपी कमलको आनन्दित (प्रकाशित) करनेवाले, सूर्य स्वरूप तथा हे पृथ्वी, देवता, द्विज तथा गायोंका वर्द्धन करनेवाले चन्द्रस्वरूप! हे पाषण्ड-धर्मरूप रात्रिके अन्धकारको नष्ट करनेवाले चन्द्र और सूर्यस्वरूप! हे पृथ्वीके राक्षसों अर्थात् कंस आदिका विनाश करनेवाले सूर्यस्वरूप! अर्थात् आपने उदित होतेमात्र ही उन सबको भस्म कर दिया। सूर्यके साथ भी आपकी उपमा देनेमें आपकी न्यूनता हो रही है—इसलिए कह रहे हैं—हे अर्क! (प्रकाश) अर्थात् सूर्यको भी अभिभूत करनेवाले, अतएव सूर्य आदि सभीके परम पूज्य हैं। हे भगवन्! जब तक कल्प रहेगा, तब तक आपको बार-बार प्रणाम करता हूँ।

अथवा भगवान्की कृपासे परम भक्तिभाव उत्पन्न होनेके कारण विचित्र नामसंकीर्त्तनरूप परम स्तुतिकी समाप्तिपर प्रणाम करनेके लिए श्रीब्रह्मा सभी अवतारोंके प्रयोजन (तत्त्व) को 'श्रीकृष्ण' इत्यादि एक ही श्लोक द्वारा संक्षेपमें वर्णन कर रहे हैं। उसमें सर्वप्रथम श्रीकृष्णको वृष्णि-कुलरूपी कमलको प्रकाशित करनेवाला कह रहे हैं। जिस प्रकार सूर्यके उदय होनेसे अन्धकारका नाश हो जाता है तथा प्रकाशके आविर्भावसे कमल आदि पुष्प खिल जाते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्णके आविर्भावमात्रसे श्रीवसुदेव आदि यादवोंके सम्पूर्ण दुःखोंका नाश हो गया तथा वे अपूर्व आनन्दमें निमग्न हो गये हैं। जैसा कि दशम-स्कन्ध (श्रीमद्भा. १०/२/१७) में वर्णन है—"श्रीवसुदेवजी श्रीभगवान्से सम्बन्धित तेजको हृदयमें धारण करके सूर्यके समान दीप्तिमान हो गये। कंस आदि किसी भी जीवके लिए उनके समीप आनेका सामर्थ्य न रहनेके कारण वे दुरासद (कठिनाईसे मिलनेवाले) हो गये तथा वह तेज कंस आदि सभी प्राणियोंके लिए ही दुःसह होनेके कारण वे अति दुर्द्धर्ष (अजेय) बन गये।" इस प्रकार श्रीवसुदेवके समान आनन्दोत्सवका वर्णन देवस्तुति (श्रीमद्भा. १०/२/३८) में भी किया गया है—"हे हरे! आपके आविर्भाववशतः आपके श्रीचरणकमलोंके स्पर्शमात्रसे ही इस पृथ्वीका भार दूर हो गया, यही हमारा परम सौभाग्य है। तथा हमारे लिए और भी मङ्गलका विषय यह है कि

आप कृपा करके अपने श्रीचरणकमलोंके ध्वज, वज्र, अंकुश आदि शुभलक्षणों द्वारा पृथ्वीको अङ्कित तथा देवलोकको धन्य करेंगे।" इसके उपरान्त देवता श्रीदेवकीजीका स्तव करते हुए कह रहे हैं (श्रीमद्भा. १०/२/४१)—"हे मातः! सौभाग्यवश हमारे कल्याणके लिए परमपुरुष साक्षात् भगवान् श्रीबलदेव सहित पूर्ण रूपसे आपके गर्भमें प्रविष्ट हुए हैं। आपका यह पुत्र यादवोंका रक्षक होगा, अतः कंस आदिसे भय नहीं करना।" इसके उपरान्त श्रीभगवान्के जन्म अध्यायमें (श्रीमद्भा. १०/३/२) भी कहा गया है—"पृथ्वीके नगर, ग्राम और व्रज (गोष्ठ) आदिमें अपूर्व कल्याण उदित हुआ।" इत्यादि उक्तियोंके अनुसार पृथ्वी, देवता, ब्राह्मण और पशु विशेषतः व्रजमें गायोंकी वृद्धि कथित हुई है। यद्यपि पृथ्वीका मङ्गल वर्धन कहनेसे उसके अन्तर्गत यादव, ब्राह्मण और व्रजमें सभीका ही मङ्गल सूचित होता है, तथापि भक्तवात्सल्यके कारण "गो-ब्राह्मण-हितकारी" रूपमें सर्वत्र ही श्रीभगवान्का माहात्म्य वर्णित हुआ है। विशेषतः इस अवतारमें इनके सम्पूर्ण रूपसे वर्द्धन होनेके कारण उसे विशेष रूपसे वर्णन करना उचित है, इसलिए पृथक् रूपमें वर्णन किया गया है।

अब श्रीकृष्ण द्वारा अपनी प्रेमभक्तिके विस्तारका वर्णन 'उद्धर्म' इत्यादि पदों द्वारा कर रहे हैं। अथवा उद्धर्म अर्थात् उच्चधर्म—अवश्य पालनीय स्वधर्म आदि लक्षणोंसे युक्त गोपियोंके साथ श्रीकृष्णकी रासलीला जो रात्रिकालसे सम्बन्धित अन्धकार और भय आदिका नाश करनेवाली है। (यद्यपि यह रासलीला श्रीब्रह्माजीके स्तव करनेसे पहले नहीं हुई थी, तथापि श्रीब्रह्माजी सर्वज्ञ होनेके कारण पहलेसे ही भविष्यमें निश्चय ही रासलीला इत्यादिके होनेकी सूचना दे रहे हैं।) अथवा "जो मुझमें भक्ति उत्पन्न करता है, वही धर्म कहलाता है।" एकादश-स्कन्ध (श्रीमद्भा. ११/१९/२७) में वर्णित श्रीभगवान्के वचनोंके अनुसार यहाँ धर्मका अर्थ है—भक्ति-लक्षण। अतएव भक्तिके विरोधी, भक्ति रहित असत्पथ आदिके समान ज्ञान-कर्म आदि सभीसे जो श्रेष्ठ (उच्च) धर्म है, वह सदैव सर्वत्र प्रकाशित रहनेपर भी, अर्थात् जिस प्रकार गुफा आदिके अन्दर विद्यमान मणिका प्रकाश ढका रहता है। उसी प्रकार यह भक्ति मार्ग, पाषण्ड-धर्मरूप रात्रिके

अन्धकार द्वारा ढका रहता है, इसलिए कह रहे हैं—हे स्वभक्ति प्रकाशक! यहाँ ज्ञान-कर्म आदि उसको ढकनेवाली रात्रिके अन्धकार सदृश हैं। अतएव जो उस रात्रिके अन्धकारमें अर्थात् उन ज्ञान-कर्म आदि मार्गोंमें विचरण करते हैं, वे निशाचरकी भाँति होकर सभी व्यक्तियोंके जीवन सर्वस्व भक्तिमार्गके विघातक होनेके कारण राक्षस हैं। वे प्रायः पृथ्वीपर कर्म क्षेत्रमें विचरण करते हैं, इसलिए उन्हें 'क्षिति' विशेषण प्रदान किया गया है।

दूसरी ओर वृष्णीकुल और देव-ब्राह्मण आदिके द्वेषकारी पृथ्वीके राक्षस कंस आदि हैं तथा रासलीला आदिके विघातक शंखचूड़ और अरिष्ट आदि असुर हैं, जो उन सबका विचित्र लीला द्वारा विनाश करते हैं, उनका सम्बोधन 'क्षितिराक्षसध्रुक्' है। ऐसा आपके अलावा और कोई भी नहीं कर सकता, इसीलिए कह रहे हैं—हे अर्हन! पूज्यगणोंके भी पूज्य, आप सब कुछ करनेमें समर्थ हैं। पहले अनेक अवतारों, यहाँ तक कि श्रीनारायण आदि अवतारोंमें भी आपने जैसा आचरण नहीं किया, अब आप वैसा आचरण कर रहे हैं। अर्थात् सम्पूर्ण भगवत्ताकी चरमसीमा होनेके कारण वैसा आचरण करनेमें एकमात्र आप ही समर्थ हैं।

यदि आपत्ति हो कि वेद-विधिके अनुसार स्वधर्म-ज्ञान आदिमें रत परायण तथा मामा आदिके सम्बन्धवशतः कंस आदिके प्रति श्रीभगवान्का द्रोहपूर्ण आचरण करना अनुचित है। इसीके लिए कह रहे हैं—हे भगवन्! हे परम कृपालु! उनके हितके लिए ही आप ऐसा आचरण करते हैं। तात्पर्य यह है कि जो आपकी भक्तिसे विमुख ज्ञान-कर्ममें अनुरक्त हैं, उनके भीतर गुप्त रूपमें जो असुर भाव रहता है, आप उसी असुर-भावरूप दुःखका विमोचन करते हैं। तथा जो कंस आदिके समान सभी लोकोंको दुःख देनेवाले हैं, उन्हें मुक्ति प्रदान करनेके लिए विनाश आदिके छलसे आप अपनी परम करुणाका ही प्रकाश करते हैं। अथवा श्रीधरस्वामी पादकी व्याख्याके अनुसार—हे अर्हन! (सभीके पूज्य) आपके प्रकट विहारमें ज्ञान-कर्ममें अनुरक्त अक्रूर और भीष्म आदि भी अब भक्तिमार्गमें प्रविष्ट हो रहे हैं। तथा प्रकट दैत्य कंस आदिने भी अन्दरसे भय आदिके कारण

आपकी भावनामें भक्तिपथका आश्रय किया है। अतएव बाहरसे भी अपने सहजकर्मके सामर्थ्यसे रहित होनेके कारण वे सब दैत्य मृत व्यक्तिके समान हो गये हैं, अथवा मरनेपर मुक्त हो गये हैं। (ये सभी घटनाएँ अवश्य होंगी, ऐसा जानकर सर्वज्ञ श्रीब्रह्माने भविष्यकी घटनाओंको भी भूतकालमें हुई घटनाओंकी भाँति सूचित किया है।) हे प्रभो! यदि आप ऐसा आचरण न करते तो फिर छोटे-बड़े सभीके पूज्य किस प्रकार होते? इस प्रकार स्तव करते-करते श्रीब्रह्माजी प्रगाढ़ प्रेमरसमें निमग्न होकर श्रीभगवान्‌के साथ समस्त व्रजवासियोंको प्रणाम कर रहे हैं।

'आर्कम्' अर्थात् अर्क (आक) नामक वृक्ष जिसका कोई भी प्रयोजन नहीं है तथा भगवान्‌की पूजाके अयोग्य होनेके कारण वह वैष्णवोंके लिए आदर योग्य नहीं है। किन्तु व्रजके उन अर्क वृक्षोंको भी मैं प्रणाम करता हूँ। इस व्रजमें आपसे सम्बन्धित चराचर इत्यादि सभीको मैं प्रणाम करता हूँ। यह भी (श्रीमद्भा. १०/१४/३४) में उक्त है—"श्रुतियाँ भी जिनके श्रीचरणकमलोंकी धूलिको आज तक ढूँढ़ रहीं हैं, वे भगवान् श्रीमुकुन्द जिनके जीवन और प्राण-धन सब कुछ है, उन गोकुलवासियोंमेंसे किसीकी भी पदधूलि द्वारा अभिषिक्त (स्नान) होनेके लिए इस भौम व्रजभूमिमें तृण आदि कोई भी जन्म प्राप्त होना महा-सौभाग्य ही है।" अर्थात् मेरी प्रार्थनाके अनुरूप ही है। अतएव यहाँके अर्कवृक्ष भी मेरे पूज्य हैं तथा मुझसे भी अधिक आपके कृपापात्र होनेके कारण महिमायुक्त हैं। अतएव इनके जैसा जन्म प्राप्त करनेकी योग्यता भी मुझमें नहीं है, इसलिए मैं इनसे भी निम्न किसी जन्मकी प्रार्थना करता हूँ। इस प्रकार प्रणामकी संख्यासे अतृप्तिवशतः कल्पकाल तक प्रणाम करनेके लिए 'आकल्प' कह रहे हैं॥१०६॥

धन्येयमद्य धरणी तृणवीरुधस्त्वत्-,
पादस्पृशो द्रुमलताः करजाभिमृष्टाः।
नद्योऽद्रयः खगमृगाः सदयावलोकै-,
गोप्योऽन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्रीः॥१०७॥

श्लोकानुवाद—"(श्रीकृष्णने श्रीबलरामसे कहा) यह पृथ्वी पहले बहुत-से अवतारोंके चरणस्पर्शका सौभाग्य प्राप्त करनेपर भी आज आपके श्रीचरणकमलोंका स्पर्श प्राप्तकर पहलेसे भी अधिक सौभाग्यवती हुई है। समस्त तृण-गुल्म आपके दोनों श्रीचरणकमलोंके स्पर्शको, वृक्ष-लता-फल-फूल इत्यादि आपके हस्तकमलोंकी अँगुलियोंके स्पर्शको, नदी-पर्वत और पशु-पक्षी आदि आपके करुणापूर्ण कटाक्षको तथा व्रजगोपियों आपकी भुजाओंके आलिङ्गनको, जिसके लिए श्रीलक्ष्मी भी लालायित रहती हैं, प्राप्तकर धन्य हो रही हैं॥"१०७॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं सामान्येन व्रजभूमेस्तद्वासिनाञ्च माहात्म्यं संकीर्त्त्याधुना श्रीभगवदभीष्टोत्तमतरमेव बलरामं मत्वा श्रीपरीक्षिदेकेनैव श्लोकेन सर्वेषामेव तेषां नामादिविशेषेण संक्षेपतः सौभाग्यातिशयमगायत्। तथा हि—पौगण्डे गोपालनलीलया वृन्दावने सर्वतः सञ्चरन् श्रीभगवान् तत्रत्यसद्गुणातिरेकेण परमहृष्टोऽथ तद्वर्णनोत्सुकस्व-महिमश्लाघादोषदृष्ट्या लज्जया चात्मानं परिहृत्य लोके ज्येष्ठसम्माननधर्मं प्रवर्त्तयन्निव निजाग्रजं श्रीबलरामं लक्षीकृत्याह—धन्येयमिति (श्रीमद्भा. १०/१५/८)। इयमनादि-कालतोऽनुवर्त्तमाना तदीयविचित्र-विभूत्यवतारगणविभूषितापि धरणी पूर्वं त्वया वराह-रूपेणोद्धृता रमिता च, सदा शेषरूपेण शिरसि धार्यमाणापि अद्यैव धन्या परम-सौभाग्यवती जाता। यद्वा, भक्तिलक्षण-धर्मो धनं, भक्तिश्च प्रेमलक्षणा। *"धर्म इष्टं धनं पुंसाम्"* (श्रीमद्भा. ११/१९/३९) इति। *"धर्मो मद्भक्तिकृत् प्रोक्तः"* (श्रीमद्भा. ११/१९/२७) इति श्रीभगवदुक्तेः। ततश्च तुच्छीकृत-चतुर्वर्गक-प्रेमसम्पद्युता बभूवेत्यर्थः। तदेव प्रपञ्च्य दर्शयति—अस्यास्तृणानि वीरुधश्च गुल्मानि धन्याः, न तु स्वर्गादिस्थिताः; यतः श्रीमथुरायामवतीर्णस्य नन्दव्रजे गोपालकस्य सतस्तव पादौ स्पृशन्तीति तथा; एतच्च धरण्यास्तृण-वीरुधामपि धन्यत्वे कारणम्। अद्येत्यस्य सर्वत्रैवानुषङ्गः। ततश्च श्रीरघुनाथादिरूपेण दण्डकारण्यादिविहारे पादस्पर्शं प्राप्ता अपि धरण्यादयोऽद्यैव धन्या इत्यर्थः। यदि च इयमिति पदं लिङ्गविभक्तिव्यत्ययेन धन्येतिवद्यथायोग्यं सर्वत्रानुवर्त्त्येत, तदा इमा इति साक्षाद्वर्त्तमाना अङ्गुलिनिर्देशादिना दर्श्यमाना वृन्दावनगतास्तृणादयो ज्ञेयाः; एता एव धन्या नान्यत्रत्या इत्यर्थः। ततश्चाद्येऽतिपौगण्डवयोऽतिरेकाभिव्यञ्जनेन विचित्रगोपाललीलया सर्वतः सञ्चारेण किञ्चिद्रसविशेषाविष्करणेन च पूर्वकालापेक्षयाधुना धन्यत्वं सम्पन्नमिति। द्रुमा लताश्च फलपुष्पादिग्रहणेन भूषणाद्यर्थपत्रपल्लवादिच्छेदनेन च तव करजैर्नखैरभिमृष्टाः संस्पृष्टाः सन्तो धन्याः। नद्यः श्रीयमुनाद्याः, अद्रयः श्रीगोवर्धनादयः, खगाः मयूरादयः, मृगाश्च कृष्णसाराद्याः, तव सदयैरवलोकैर्धन्याः। यद्यपि धरण्यादिषु सर्वेष्वपि परमदयालोस्तस्य सदयावलोकाः सन्त्येव, तथापि नद्यद्रिषु विशेषतस्तदुक्ति-

र्जलपानावगाहन–शिखरारोहण–गुहाशयनादिविचित्र–विहारसम्पत्त्यभिप्रायेण सम्भवत्येव, यद्वा, नदी–श्रेष्ठायां प्रियतमायां श्रीयमुनायामद्रिराजे च हरिदासवर्ये श्रीगोवर्धने तत्तत्साहचर्येणान्यनदनदीपर्वतादिष्वप्यनुग्रहविशेषतो घटत एव। खगमृगेषु च तत्तज्जाति–स्वभावेन सदा भगवच्चरणारविन्दसन्निकर्षाभावात् केवलं कृपादृष्टीनामेव प्राधान्यात्तथोक्तिः। अथवा, दयासहितैरवलोकैरिति दया–शब्देन शिखण्डादिग्रहण–कोमलकरस्पर्शमधुराह्वानादि कारुण्यचेष्टितमपि खगमृगेषूह्यम्। तथा यद्यपि पादस्पर्शोऽपि द्रुमलतानद्यद्रिषु सम्भवति, तथापि सुन्दरसल्लक्षणयुक्तानि पादचिह्नानि भूप्रदेश एव सम्यगुदयन्त इत्यतो धरण्या एव विशेषतः पादस्पर्शसौभाग्यं सम्पद्यते, न तथा अन्यदिति। प्राधान्यात्तासु तस्यैव विशेषोक्तिः। एवमन्यत्राप्यूह्यम्। अथ विचित्रमधुरलीलया पाल्यमानानां गवादीनां सहचराणाञ्च गोपानां सौभाग्यवर्णनं क्रमप्राप्तमपि स्फुटतरत्वाद्वर्णयित्वा धन्यतावर्णनेन हृदयाक्रान्तपरममहाधन्यगोपीगणप्रेमाकृष्टचेताः सर्वतोऽधिकतया तदीयसौभाग्यसम्पत्तीः सङ्कीर्त्तयति—गोप्य इति। इयमित्यस्यानुवृत्तेः पूर्वोक्तरीत्या इमा गोप्य इति सदा हृद्गतत्वादपरोक्षता। तथोक्तिश्च माथुरव्रजवर्त्तिश्रीगोपीगणव्यतिरिक्त–गोपालीव्यवच्छेदार्था। श्रीरपि यत्स्पृहा यस्मै स्पृहयति केवलमित्यर्थः। तेन भुजयोरन्तरेण श्रीवक्षसा गोप्यो धन्याः, धरण्यादीनां गोप्यन्तानां जात्यादितारतम्येन पादस्पर्शादिसौभाग्यलाभे पूर्वपूर्वत उत्तरोत्तरेषामाधिक्यं बोद्धव्यम्। अतः सर्वेभ्यो गोपीष्वेवाधिकधन्यता पर्यवस्यति। यद्वा, गोप्योऽपीति अन्तरेणापीति वा अपिशब्देनान्वयः। तद्बलाच्च पादस्पर्शन–करजाभिमर्शन–सदयावलोकैरपि, विशेषतो वक्षसालिङ्गनादिना च ता एव परममहाधन्या इति ज्ञेयम्। एवं सर्वथा सर्वश्रैष्ठ्यमेतासां स्वतःसिद्धमिति॥१०७॥

भावानुवाद—इस प्रकार सामान्य रूपसे व्रजभूमि और व्रजवासियोंके माहात्म्यका वर्णन करके अब श्रीभगवान्‌के अभीष्टतमको, जिसे श्रीभगवान्‌ने श्रीबलरामजीको लक्ष्य करके कहा था, श्रीपरीक्षित् महाराजने एक श्लोकमें ही नाम आदि सहित संक्षेपसे उन सबके परम सौभाग्यका गान किया है। पौगण्ड अवस्थामें गोपालनलीला करते हुए श्रीभगवान् वृन्दावनमें सर्वत्र विचरणकर उसके सद्गुणोंको देखकर अत्यधिक प्रसन्न हुए थे। श्रीवृन्दावनकी उस शोभाका उत्सुकतापूर्वक वर्णन करनेसे उनकी अपनी महिमा ही प्रकाशित हो सकती है, इस दोषदृष्टिवशतः लज्जित होकर श्रीकृष्ण अपना प्रसङ्ग छोड़कर जगत्‌में ज्येष्ठ व्यक्तिके सम्मान करनेवाले धर्मका प्रवर्तन करनेकी भाँति अपने अग्रज श्रीबलरामको लक्ष्य करके (श्रीमद्भा. १०/१५/८) 'धन्ये' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। यह धरती अनादिकालसे वर्त्तमान है तथा आपकी विचित्र विभूति और अवतारोंके द्वारा विभूषित होनेपर भी अर्थात्

पहले वराह रूपमें आपके द्वारा (रसातलसे) उद्धार किये जानेपर शोभायमान हुई थी तथा आपके द्वारा शेष रूपमें सर्वदा सिरपर धारण किये जानेपर भी आज ही परम धन्य अर्थात् परम सौभाग्यवती हो रही है। अथवा धन्य कहनेसे भक्तिलक्षणरूपी धर्मसे युक्त है, क्योंकि भक्ति-लक्षणरूप धर्मको ही धन कहा जाता है और यह भक्ति भी प्रेमलक्षणा है। अतएव श्रीमद्भागवत (११/१९/३९) में कहा गया है—"धर्म मनुष्योंका वाञ्छित धन है।" तथा (श्रीमद्भा. ११/१९/२७) में श्रीभगवान्‌की उक्ति है—"जिससे मुझमें भक्ति उत्पन्न होती है, उसे ही धर्म कहा गया है।" अतः जिससे चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) तुच्छ होता है, उस प्रकारकी प्रेम सम्पत्तिसे युक्त होकर यह पृथ्वी अब धन्य हो रही है।

अब विस्तार सहित वर्णन कर रहे हैं—इस पृथ्वीके तृण और गुल्म आदि धन्य हैं, स्वर्ग आदि स्थित तृण आदि धन्य नहीं हैं, क्योंकि इन्होंने श्रीमथुरामें अवतीर्ण और श्रीनन्दव्रजमें गोपालनकी लीलामें रत आपके श्रीचरणकमलोंका स्पर्श प्राप्त किया है। किन्तु श्रीरघुनाथ आदि (अवतार) रूपमें दण्डकारण्य आदिमें विहार करते समय प्रभुके श्रीचरणकमलोंका स्पर्श होनेपर भी धरती इतनी सौभाग्यशाली नहीं हुई, जितनी कि अब हो रही है। 'इमा' अर्थात् इस वृन्दावनमें साक्षात् विद्यमान तृण आदिको अँगुली-निर्देश आदि द्वारा दिखला रहे हैं—समझना होगा। अतएव इस वृन्दावनके तृण आदि ही धन्य हैं, अन्य किसी स्थानके नहीं। और भी विशेषता यह है कि आपने पौगण्ड अवस्थाके प्रथम वर्षका अतिक्रम किया है तथा विचित्र गोपालनलीला द्वारा सर्वत्र भ्रमण करते-करते कुछ विशेष रसका आविष्कार करके पूर्वकालकी तुलनामें अब पृथ्वीको अधिक धन्य कर रहे हैं। अतएव अब आपके श्रीचरणकमलोंके स्पर्शसे पृथ्वी और उसके तृण-गुल्म आदि धन्य हो रहे हैं, फल-फूल आदि चयन करनेके समय तथा भूषण आदिके लिए पत्तोंको तोड़ते समय आपके हस्तकमलके नखोंके स्पर्शसे वृक्ष-लता आदि कृतार्थ हो रहे हैं। तथा श्रीयमुना आदि नदियाँ, श्रीगोवर्धन आदि पर्वत, मयूर आदि पक्षी, कृष्णसार आदि मृग आपके दयापूर्ण अवलोकन द्वारा धन्य हो रहे

हैं। यद्यपि परम दयालुताके कारण पृथ्वी आदि सभीके प्रति स्वतः ही आपका दयायुक्त दृष्टिपात है, तथापि नदी और पर्वत आदिके प्रति विशेष रूपमें दयादृष्टि है, क्योंकि नदीमें जलपान, अवगाहन तथा पर्वतके ऊपर आरोहण और गुफाओंमें शयन आदि आपके विचित्र विहारसम्पन्न होते हैं, इसलिए उनकी अधिक श्रेष्ठता है। अथवा नदियोंमें सर्वश्रेष्ठ और आपकी प्रियतमा श्रीयमुना तथा हरिदासोंमें सर्वश्रेष्ठ पर्वतराज श्रीगोवर्धन आदिकी सहचारितासे ही अन्यान्य नद (जलाशयों), नदियाँ और पर्वतों आदिके प्रति आपकी विशेष कृपा संघटित होती है। यद्यपि पशु-पक्षियोंके लिए उनके जातिगत स्वभावके कारण सदा श्रीभगवान्‌के श्रीचरणकमलोंका सङ्ग (निकटता) प्राप्त नहीं होता है, तथापि केवल कृपादृष्टिके प्रभावसे ही वह सङ्ग संघटित हो जाता है, इसलिए दयायुक्त दृष्टिपातका अधिक प्राधान्य उक्त हुआ है।

अथवा 'दयासहित दृष्टिपात'—यहाँ 'दया' शब्दसे शिखण्ड (मयूर-पंख) आदि ग्रहण करनेके लिए कोमल हाथोंसे स्पर्श तथा मधुर स्वरसे आह्वान आदि कारुण्यरूप चेष्टाओंको भी समझना होगा। यद्यपि श्रीचरणकमलोंका स्पर्श वृक्ष-लता, नद-नदी और पर्वत आदिपर भी सम्भव हो सकता है, तथापि सुन्दर शुभलक्षण युक्त पदचिह्न केवल भूमिपर ही भलीभाँति उदित होते हैं। इसीलिए कह रहे हैं कि धरतीको ही श्रीचरणकमलोंके स्पर्शका विशेष सौभाग्य प्राप्त होता है अन्य किसीको नहीं। तृण-गुल्म आदि स्वभाविक रूपमें ही छोटे आकारके हैं, इसलिए उनके लिए श्रीचरणकमलोंका स्पर्श सुलभ है, किन्तु बहुत बड़े आकारवाले होनेके कारण वृक्ष आदिके लिए उस प्रकार सुलभ नहीं होते। इस प्रकार श्रीचरणकमलोंके स्पर्शके प्राधान्यके कारण ही पृथ्वीको विशेष रूपसे कह रहे हैं। अन्यत्र भी ऐसा ही जानना होगा।

इसके उपरान्त विचित्र मधुरलीला द्वारा पालित गायों तथा सहचर गोपबालकोंके सौभाग्यका वर्णन क्रमके अनुसार होना चाहिये, किन्तु उसे स्पष्ट रूपमें वर्णन न करके श्रीकृष्ण गोपियोंके सौभाग्यका वर्णन करनेमें हृदयके वशीभूत होनेसे अर्थात् परम सौभाग्यशाली गोपियोंके प्रेममें चित्तके आकृष्ट होनेके कारण सबसे अधिक रूपमें उनके

सौभाग्य-सम्पत्तिका संकीर्तन 'गोप्य' इत्यादि पदों द्वारा कर रहे हैं। (पूर्वोक्त 'इयम्'-पदकी अनुवृत्तिसे 'इमा गोप्य' इत्यादि कह रहे हैं)—'ये गोपियाँ' कहनेका उद्देश्य यह है कि इन गोपियोंकी स्मृति मूर्त रूपसे सदैव श्रीकृष्णके हृदयमें विद्यमान रहनेके कारण यह साक्षात्कार जैसा अनुभव है। इस उक्ति द्वारा माथुर-व्रजमें स्थित श्रीगोपियोंसे अन्य गोपालियोंका भेद दिखलाया गया है।

श्रीलक्ष्मी भी जिस सौभाग्यकी कामना करतीं हैं, किन्तु प्राप्त नहीं कर पातीं, अतएव गोपियाँ श्रीलक्ष्मीके लिए भी वाञ्छनीय श्रीकृष्णकी दोनों भुजाओंके भीतर अर्थात् वक्षःस्थलके स्पर्श द्वारा धन्य हो रही हैं। अब तक अर्थात् पृथ्वीसे आरम्भ करके गोपियों तक जिनके विषयमें भी कहा गया है, उन सबके द्वारा श्रीचरणोंका स्पर्श प्राप्त होनेपर भी चरणस्पर्शसे उत्पन्न सौभाग्य पूर्व-पूर्वसे भी उत्तरोत्तर रूपमें श्रेष्ठ समझना चाहिये। अतएव सबकी तुलनामें गोपियोंका ही परम सौभाग्य पर्यवसित हो रहा है। अथवा बलपूर्वक चरणोंसे स्पर्श करना, हाथोंके नखों द्वारा तोड़ना (नखाघात) आदि और दयायुक्त दृष्टि, इन तीनों प्रकारके स्पर्शकी तुलनामें वक्षःस्थलका आलिङ्गनरूप स्पर्श आदि प्राप्त गोपियोंको ही महाधन्य समझना चाहिये। अतएव सब प्रकारसे सर्वश्रेष्ठ गोपियोंका परमधन्य होना स्वतः ही सिद्ध हुआ है॥१०७॥

वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्त्तिं,
यद्देवकीसुत-पदाम्बुजलब्धलक्ष्मि ।
गोविन्दवेणुमनु मत्तमयूरनृत्यं,
प्रेक्ष्याद्रिसान्ववरतान्यसमस्तसत्त्वम् ॥१०८॥

श्लोकानुवाद—"(कोई-कोई गोपी कहने लगी)—हे सखि! यह श्रीवृन्दावन वर्त्तमानमें श्रीकृष्णके चरणकमलोंका स्पर्श प्राप्त करके स्वर्गसे भी अधिक रूपमें पृथ्वीकी कीर्त्तिका विस्तार कर रहा है। यहाँके मयूर श्रीकृष्णकी वंशीनादको सुनकर उसे मेघ-गर्जन मानकर प्रमत्त होकर नृत्य करने लगते हैं। उनके नृत्यको देखकर वनके अन्यान्य प्राणी भी समस्त प्रकारकी चेष्टाओंका परित्यागकर अपने-अपने दल बनाकर गोवर्धनके शिखरपर स्तब्ध होकर खड़े हुए हैं॥"१०८॥

दिग्दर्शिनी टीका—इत्थं श्रीगोपिकामाहात्म्यविशेषवर्णनेन गोपीभावं प्राप्तोऽसौ राजा अधुना सविशेषं सर्वेषामेव माहात्म्यं प्रत्येकं विस्तार्य वर्णयामास। तत्रादौ श्रीवृन्दावनस्य, तथाहि श्रीमद्वृन्दारण्यप्रविष्टस्य श्रीभगवतः सर्वभूतमनोहरं वेणुनादं व्रजगृहमध्ये निशम्य परमप्रेमरसाप्लवेन विचित्रं मिथोऽमुं वर्णयन्तीनां श्रीगोपीनां मध्ये काश्चिदाहुः—वृन्दावनमिति (श्रीमद्भा. १०/२१/१०)। हे सखि श्रीराधे! वृन्दावनमिदं भुवो भूर्लोकस्य कीर्त्तिं माहात्म्यं स्वर्गादपि; यद्वा, सर्वेभ्यो लोकेभ्यो लोकातीतेभ्योऽपि विशेषेण तनोति विस्तारयति। यद्यतः यद्वृन्दावनमिति वा। देवकीसुतस्य श्रीकृष्णस्य पदाम्बुजाभ्यां लब्धा लक्ष्म्यः सर्वाः शोभाः सम्पदो वा येन तत्; सकल-विलक्षण-सुलक्षण-श्रीमत्पादपातैस्तथा तत एव सर्वेषां भूगतानां जनानां चतुर्वर्गचिन्तामणि-दुर्लभतरभक्तियोगसुखसम्पत्त्या च। अत्र च पदाम्बुजाभ्यामेव, न तु तत्पादुकाभ्यामित्यनेन तथाम्बुजरूपकेण च परमसुकुमारतया दुर्घटस्यापि तत्स्पर्शस्य लब्ध्या कूर्पकण्टकादि-सम्बन्धवत्या अपि वृन्दावनभूमेः परमं सौभाग्यमुद्दिश्यते। यद्यपि स्वर्गादिष्वपि श्रीविष्ण्वादयो विराजन्ते, तथापि ते अस्यावतारा एव। एष तु देवकीनन्दनोऽवतारीत्य-स्यातिमहिमा; किञ्च, गोविन्दस्य वेणुमनु वेणुनादं श्रुत्वा अनन्तरं मन्द्रगर्जितं नीलमेघं तं मत्वा ये मयूरास्तेषां नृत्यं प्रेक्ष्य संघशस्तत्र तत्राद्रिसानुषु अवरतानि उपरतक्रियाणि अन्यानि मयूरेतराणि समस्तानि सत्त्वानि यस्मिन् तत्, अथवा अहो! किं वक्तव्यमन्यत् इति, यतः श्रीवैकुण्ठादपि वितनोति इति, वि-शब्दोक्तं वैशिष्ट्यं दर्शयन्ति—गोविन्देति। गवामिन्द्रः गोविन्द इति गो-गोपगणसह-क्रीड़ारसिक-बर्हापीड़गुञ्जावतंस-कदम्बमालादिवन्यवेषविभूषित-श्रीनन्दनन्दनो लक्ष्यते। श्रीहस्तवर्त्ति-वेणुश्चात्यन्तप्रियसङ्गितया साक्षादुक्त एवास्ति। तत्र श्रीगोविन्दत्वानपेक्षयापि स्वर्गादिभ्यो भुवः कीर्त्तिरवतारिणस्तस्य केवलं पदाम्बुज-सम्बन्धेनैव सिध्यतीत्यादौ देवकीसुतेति निर्देशः। तस्य हि देवकीसुतत्वेऽप्यवतारित्वं प्रसिद्धमेव। लब्धलक्ष्मीति च कदाचित् केनापि हेतुना स्वर्गादिषु गतेऽप्यस्मिन् एतादृश-लक्ष्मीलाभस्तेषां नास्तीति द्योतयति। तत्र पारमैश्वर्य-प्राकट्येन साक्षात्पादाम्बुजस्पर्शविशेषलाभासम्भवात्। यद्यपि तासां सर्वज्ञानामपि गोपिकानां परमप्रेमभर-स्वभावेन केवलं श्रीयशोदानन्दनत्वेनैव सदा भगवान् परिस्फुरति, तथाप्युक्ताभिप्रायेण प्रथमं देवकीसुतत्वेनोक्तिः। अतएव तस्याः प्रसूतिमात्रापेक्षया सुतेति निर्देशः। गोविन्दस्य वेणुमनुलक्ष्मीकृत्य तं दृष्ट्वेत्यर्थः। यद्वा, तद्वादनानन्तरं वेणुकारितञ्च सर्वेषु मयुरादिषु यथासम्भवमेवं विवेचनीयम्। दूरात् तद्गीतामृतकणामात्रप्रथमपानेन मत्तानां मयूराणां नृत्यं यस्मिन् तत्; यद्वा, गोविन्दस्य वेणोर्मनुर्मन्त्रः परममोहनशब्दात्मकः, तेनैव मत्तानां मयूराणां नृत्यं यस्मिन्; किंवा गोविन्दवेणुमनुर्यस्मिन्निति पृथक् पदम्। अतएव मत्तानां मयूराणां नृत्यं यस्मिन्निति हेतुहेतुमद्भावन्यायेन वेणुमनुरेव तत्र तत्र हेतुरित्यायाति। तथा तत्प्रतिनादेनैव प्रेक्ष्याः परमरमणीयाः तद्वेण्वाकरत्वेन सर्वेषां परमावलोकनीया वा

अद्रिसानवो यस्मिन् तत्; तथा तत्पानेनैव अवरतानि उपरतव्यापाराणि अन्यानि समस्तानि सत्त्वानि प्राणिनो यस्मिन् तत्; यद्वा, प्रेक्ष्यः परमसुन्दरः प्रेम्णा व्रजजनैः सदा दृश्यो वा अद्रेः श्रीगोवर्धनस्य सानुः शिखरप्रदेशो यस्मिन्, श्रीगोवर्धन-पूजायां शैलोऽस्मीतिवदता श्रीभगवता तद्बलिवर्गभोजनसमये परमलीलयोपविश्याक्रान्तत्वात्। किञ्च, अवरते निवृत्तै अन्ये रजस्तमसी यस्मात् तादृशं विशुद्धं समस्तं सम्पूर्णं सत्त्वं सत्त्वगुणो यस्मिन्, तरुलतादीनामपि सात्त्विकभावापत्तेः; तथा च दशमस्कन्धे (श्रीमद्भा. १०/३५/९)—*"वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः। प्रणतभार-विटपा मधुधाराः, प्रेमहृष्टतनवो ववृषुः स्म॥"* इति। श्रीवैकुण्ठे शुद्धसत्त्ववृत्तिस्तु *"प्रवर्त्तते यत्र रजस्तमस्तयोः, सत्त्वञ्च मिश्रं न च कालविक्रमः"* (श्रीमद्भा. २/९/१०) इति द्वितीय-स्कन्धोक्तेः। अस्यार्थः—'तयोस्ताभ्यां रजस्तमोभ्यां मिश्रञ्च सत्त्वं यत्र वैकुण्ठे नास्ति, केवलं विशुद्धं सत्त्वमेवेति, यद्यपि मायिकत्वात् सत्त्व-गुणस्यापि सम्बन्धो वैकुण्ठे न घटत एव, *"न यत्र माया किमुतापरे"* (श्रीमद्भा. २/९/१०) इति तत्रैवाग्रे उक्तत्वात्, तथापि शुद्धसात्त्विकदेवादिवत् वैकुण्ठवासिनामपि व्यवहारादि-दर्शनादुपचर्यते' इति। एवं श्रीवैकुण्ठेनसाम्यमाधिक्यञ्च गोविन्दवेणु-मन्वित्यादिना स्पष्टं दर्शितमेव। अथवा, प्रेक्ष्याद्रीति छेदः। प्रेक्ष्याद्रयः श्रीगोवर्धनाद्या यस्मिन्, तत्-सानवः पर्वतोपरितनोच्चप्रदेशाः; वेणुनादजमोहेन स्थाने स्थाने सङ्घश उपर्युपरि पतनेन सानव इव सानवः सानुवद्भूतानि; किंवा वेणुनाद-श्रवण-कृष्ण-दर्शनार्थं तत्र तत्र यूथशः स्थितानि विरतान्यसमस्तक्रियाणि सत्त्वानि सर्वप्राणिनो यस्य। यद्यपि तच्छ्रवणानन्दभरेण सर्वेषामपि बहिः सर्वव्यापारोपरम एव घटते, तथापि भगवद्भक्तेरेव वेणुवाद्यस्य विलासवैचित्र्या मयूराणां मत्ततया नृत्यम्; अन्येषाञ्च तच्छ्रवण-भगवद्दर्शनापेक्षादिकं जातम्, तथैव हि परमानन्दचरमकाष्ठासम्पत्तिः, तच्च पूर्वमुक्तमेवास्ति। एवं सत्ययमप्यर्थो वितर्क्यः—स्वस्वसेवां साक्षादर्पयितुमिव सानुषु उच्चतरस्थानेषु स्थितानि अवरतानि अवधानेन रतानि मधुरकूजितादि निजनिजसेवायां प्रीत्या सक्तानि, किंवा सानुभिः अवोऽवनम् अत्युच्चतया श्रीकृष्णसन्दर्शनं कारयद्भिर्विरहतापादि-(विरहमयादि-)दुःखाद्रक्षणं येषां तानि, तथा सान्ववानि च तानि रतानि च निजनिजव्यापारसेवायां कृष्णे वाऽनुरक्तानि अन्यानि समस्तानि सर्वाणि सत्त्वानि कोकिलादीनि यस्मिन्, तेषां यथासम्भवं सर्वेषामेव सेवोह्या। तत्र च चञ्चल-हिंस्रादीनान्तु दुष्टानां तत्तद्दोषत्याग एव सेवा; अथवा किं कल्पनाबाहुल्येन? मत्तमयूरनृत्यं प्रेक्ष्य गोविन्दवेणुमिति योजनीयम्। ततश्चायमर्थः—बर्हिबर्हावतंसस्य मयूरप्रियस्य श्रीभगवतो वनेऽग्रवेशमात्रेण निजपिञ्छावचयन-दर्शनेन च प्रीत्या प्रथमं मत्तानां मयूराणां नृत्यं, तत् प्रेक्ष्य हर्षेण गोविन्दवेणुः गोविन्देन वेणुर्वादित इत्यर्थः। तमनु अद्रिसानुषु अवरतानि विरतानि अन्यानि श्रीभगवद्दर्शन-वेणु-श्रवण-व्यतिरिक्ताशेष-प्रयोजनानि येषां तथाभूतानि समस्तसत्त्वानि यस्मिन्; सर्ववाचक-समस्त-शब्देन

मयूरा अपि गृह्यन्ते। ततश्च तेषामादौ श्रीभगवद्रूपदर्शनानन्देन मत्ततया नृत्यम्, पश्चाद्वेणुनादश्रवणेनान्येषामिव सर्वोपरमलक्षणा प्रेममूर्च्छा जातेति ज्ञेयम्। एतादृशञ्च श्रीवैकुण्ठेऽपि नास्तीति श्रीवृन्दावनतो भूमेः कीर्त्तिविस्तर इति॥१०८॥

भावानुवाद—इस प्रकार गोपियोंके विशेष माहात्म्यका वर्णन करके गोपीभावको प्राप्त महाराज श्रीपरीक्षित् अब विशेष रूपसे सभीके माहात्म्यका विस्तारसे वर्णन कर रहे हैं। उनमेंसे सर्वप्रथम श्रीवृन्दावनमें प्रवेश करके सभी प्राणियोंको मोहितकर देनेवाले श्रीभगवान्के वेणुनादको श्रवण करके व्रजके घरोंमें रहनेवाली गोपियाँ अत्यधिक प्रेमरसमें निमग्न हो गयीं तथा उन गोपियोंमेंसे किसी एक गोपीने जो कहा उसे 'वृन्दावन' इत्यादि (श्रीमद्भा. १०/२१/१०) श्लोक द्वारा वर्णन कर रहे हैं। हे सखि श्रीराधे! इस श्रीवृन्दावनके कारण भूलोकका माहात्म्य स्वर्गसे भी अधिक विस्तारित हो रहा है। अथवा यह सभी लोकों और लोकातीत वैकुण्ठ आदिसे भी इस भूलोककी कीर्त्तिका विशेष रूपसे विस्तार कर रहा है, क्योंकि इसका नाम श्रीवृन्दावन है। (वृन्दस्य—समूहस्य, अवनं—रक्षणं पालनं यस्मात् तत् वृन्दावनम्। अर्थात् यह सबका यहाँ तक कि श्रीभगवान्का भी पालन और रक्षा करता है।) अथवा इस श्रीवृन्दावनने देवकीनन्दन श्रीकृष्णके श्रीचरणकमलोंका स्पर्श प्राप्तकर श्रीलक्ष्मीकी सम्पूर्ण शोभा-सम्पत्तिको प्राप्त किया है। अर्थात् सब प्रकारसे विलक्षण और सुलक्षण श्रीचरणकमलोंके सभी स्थानोंपर पड़नेसे भूलोकके सभी लोगोंने चतुर्वर्गकी चिन्तामणि स्वरूप दुर्लभतर भक्तियोगरूप सुख-सम्पत्तिको प्राप्त कर लिया है।

यहाँपर 'श्रीमद्पदाम्बुज-युगल' कहनेसे श्रीभगवान्की पादुकाको नहीं समझना होगा अर्थात् पादुका द्वारा नहीं बल्कि स्वयं उनके युगल चरणकमलों द्वारा ही स्पर्श प्राप्त हुआ है तथा 'अम्बुज' रूपक द्वारा उनके श्रीचरणकमलोंकी सुकोमलता सूचित हो रही है। इसलिए उनके सुकोमल श्रीचरणकमलों द्वारा श्रीवृन्दावन भूमिके कङ्कड़ और काँटे आदिका स्पर्श होनेकी सम्भावना न होनेपर भी उनके श्रीचरणकमलोंके स्पर्शसे प्राप्त आनन्दसे कङ्कड़ और काँटे आदि नवनीत जैसे कोमल हो जाते हैं, अतएव इन काँटों आदिके सम्बन्धसे भी श्रीवृन्दावनका

परम सौभाग्य सूचित हुआ है। यद्यपि स्वर्ग आदिमें भी श्रीविष्णु विराजित हैं, तथापि वे इन श्रीकृष्णके अवतार हैं, और ये देवकीनन्दन अवतारी हैं, इसलिए श्रीवृन्दावनकी महिमा अधिक है।

कुछ और भी कह रहे हैं कि इस वृन्दावनमें गो-पालनमें रत श्रीगोविन्दकी वेणुध्वनिके श्रवणसे मत्त होकर मयूर भी उस ध्वनिको मन्द-मन्द गर्जनकर रहे नवीन श्याम मेघ समझकर परमानन्दसे उनके निकट आ जाते हैं तथा प्रेमके उल्लाससे पंख फैलाकर नृत्य करते हैं। उन्हें नृत्य करता देखकर वनके अन्यान्य सभी प्राणी अपनी-अपनी चेष्टाओंको त्यागकर दल बनाकर गिरिराजके शिखरपर स्थित होकर विस्मित नेत्रों द्वारा श्रीकृष्णके वंशीवादन और मयूरोंके नृत्यको देखते रहते हैं। अथवा अहो! अधिक क्या कहूँ, ये सुखमय श्रीवृन्दावन इस पृथ्वीकी कीर्त्तिका विस्तार श्रीवैकुण्ठसे भी अधिक कर रहा है। मूल श्लोकके 'वितनोति' शब्दमें उक्त 'वि' पदका वैशिष्ट्य 'गोविन्द' इत्यादि कहकर प्रदर्शित कर रहे हैं।

'गवामिन्द्र'—गायोंके अधिपति अथवा 'गोविन्द'-पदसे गो-गोपगण सहित लीलारसिक अर्थात् मयूरपंख, गुञ्जाके बने कानके भूषण और कदम्ब माला आदि वन्यवेशसे विभूषित श्रीनन्दनन्दन ही लक्षित हो रहे हैं। उनके श्रीहस्तमें स्थित वेणु उनकी अत्यन्त प्रिय सङ्गी होनेके कारण साक्षात् रूपमें उक्त हुई है। यहाँ महामाधुर्य-धर्मी श्रीगोविन्द होनेकी अपेक्षा न करनेसे ही स्वर्ग आदिसे भी पृथ्वीकी कीर्त्ति केवल अवतारी श्रीदेवकीनन्दनके श्रीचरणकमलोंके स्पर्शसे ही सिद्ध हो रही है। इसलिए मूल श्लोकमें सर्वप्रथम 'देवकीसुत' कह रहे हैं, क्योंकि उनका देवकीसुतके रूपमें भी अवतारी होना प्रसिद्ध है।

'लब्धलक्ष्मी' पदका तात्पर्य यह है कि यद्यपि किसी समय श्रीदेवकीनन्दन किसी कारणसे अर्थात् पारिजात लानेके लिए स्वर्ग आदिमें भी जाते हैं, तथापि स्वर्गको श्रीवृन्दावनके समान श्रीचरणकमलों (चिह्नों) की शोभासम्पत्ति प्राप्त नहीं होती, क्योंकि वहाँपर परम ऐश्वर्यके प्रकट रहनेके कारण स्वर्गकी भूमिको साक्षात् श्रीचरणकमलोंका स्पर्श प्राप्त होना असम्भव है। यद्यपि सर्वज्ञता आदि होनेपर भी गोपियोंके परमप्रेमके स्वभावसे उन्हें श्रीभगवान् केवल श्रीयशोदानन्दन

रूपमें ही सदा परिस्फुरित होते हैं, तथापि उक्त अभिप्रायसे ही पहले देवकीसुत कहा गया है। अतएव श्रीदेवकीसे जन्ममात्र होनेकी अपेक्षासे 'देवकीसुत' शब्द निर्देश किया गया है।

विशेषतः श्रीगोविन्दकी मोहन वेणुके मन्त्रसे आकर्षित होकर श्रीलक्ष्मीका वहाँ आगमन तथा उनका दर्शन करना। अथवा वेणु ध्वनि श्रवण करके वेणुवादकके दर्शनसे मयूर आदि सभी प्राणी यथासम्भव अपनी-अपनी चेष्टाओंको भूल जाते हैं। दूरसे ही वेणु-गीतके अमृतका कणमात्र भी अपने कानों द्वारा पान करके मत्त होकर मयूर नृत्य करते हैं, अथवा श्रीगोविन्दकी वेणुध्वनि मन्त्रकी भाँति परम मोहन-शब्दरूपी होनेके कारण उसके प्रभावसे मत्त हुए मयूरोंका नृत्य जिस स्थानपर होता है, अथवा श्रीगोविन्दका वेणुनाद और मन्त्र पृथक् नहीं है, इसलिए मत्तवाले मयूरोंका नृत्य जिस स्थानपर होता है, श्रीगोविन्दका वेणुनादरूपी मन्त्र भी उसी स्थानपर होता है। अतएव कार्य-कारण न्यायके अनुसार मयूरोंके नृत्यका कारण है वेणुमन्त्र और उसकी परम रमणीय प्रतिध्वनिका आकर स्थान होनेसे गिरिराज गोवर्द्धनके शिखर भी सभी प्राणियोंके लिए परम अवलोकनीय (दर्शनीय) है। तथा उस वेणुगीतके अमृतका पान करके अन्यान्य सभी प्राणी अपनी-अपनी क्रियाओंको भूलकर गिरिराजके शिखरमें स्तब्ध होकर खड़े हुए हैं। अथवा परम दर्शनीय और परम सुन्दर कहकर सभी व्रजवासी जिनका प्रेमपूर्वक निरन्तर दर्शन करते हैं, उस श्रीगिरिराज-गोवर्धनका शिखर जिस वृन्दावनमें अवस्थित है तथा जिस श्रीगोवर्धन पूजामें "मैं पर्वत हूँ" कहकर श्रीकृष्णने स्वयं उन सब नैवेद्यको भोजन करते समय परम लीलाओंको प्रकट करके जिन श्रीगोवर्धनको परमान्दित किया था, वे श्रीगोवर्धन जहाँपर स्थित हैं, वे श्रीवृन्दावन ही पृथ्वीका तिलकस्वरूप है।

मूल श्लोकके 'अवरतान्य समस्त-सत्त्वम्' पदमें 'अवरत' शब्दका अर्थ है निवृत्त; 'अन्य' कहनेका अर्थ है कि जिससे रज और तम निवृत्त होता है, वैसा विशुद्ध तथा 'समस्त-सत्त्वम्' का अर्थ है सम्पूर्ण सत्त्वगुण अर्थात् विशुद्धसत्त्व। अतएव जिस स्थानपर वृक्ष-लता

आदिमें भी सात्त्विक भाव देखा जाता है, वही श्रीवृन्दावन। तथा दशम-स्कन्ध (श्रीमद्भा. १०/३५/९) में भी कहा गया है—"श्रीकृष्ण जब श्रीवृन्दावनमें विहार करते हैं और वेणुवादन द्वारा श्रीगोवर्धनकी तलहटीमें चरती हुई गायोंको नाम ले-लेकर पुकारते हैं, उस समय वनके वृक्ष और लताएँ अपने भावोंको प्रकाश करते हुए फल-फूलोंसे लद जाती हैं तथा उनके भारसे वृक्षोंकी शाखाएँ झुक जाती हैं, मानो प्रणाम कर रही हों। वे वृक्ष-लताएँ अपने भीतर भगवान् श्रीविष्णुकी अभिव्यक्ति सूचित करते हुए प्रेमसे पुलकित हो जाते हैं और मधु-धाराओंका वर्षण करने लगते हैं।" इस प्रकार श्रीवैकुण्ठमें भी शुद्धसत्त्वकी वृत्तिके विषयमें सुना जाता है। यथा, द्वितीय-स्कन्ध (श्रीमद्भा. २/९/१०) में कहा गया है—"श्रीवैकुण्ठमें रज और तम गुण नहीं है। रज और तमसे मिश्रित सत्त्व भी नहीं है। वहाँ केवल शुद्धसत्त्व वर्त्तमान है। वहाँपर कालका विक्रम भी नहीं है।" इसका तात्पर्य यह है कि वैकुण्ठमें भी रजः और तमसे मिश्रित सत्त्व नहीं है, वहाँ केवल विशुद्धसत्त्व है। यद्यपि मायिक होनेके कारण सत्त्वगुणकी गन्धमात्र तक भी वहाँ नहीं है, क्योंकि श्रीमद्भागवत (२/९/१०) में कथित है कि "जहाँपर स्वयं मायाका भी प्रवेश नहीं है, वहाँपर मायाकी वृत्ति स्वरूप गुण आदि किस प्रकार रह सकते हैं?" तथापि शुद्ध सात्त्विक देवताओंकी भाँति ही वैकुण्ठवासियोंका व्यवहार दिखनेपर भी यथार्थतः वहाँ गुणसम्बन्धसे शून्य विशुद्धसत्त्व मात्र ही है। इस प्रकार श्रीवैकुण्ठके साथ श्रीवृन्दावनकी समानता होनेपर भी 'गोविन्द वेणुमन्त्र' इत्यादिके कारण श्रीवृन्दावनकी अधिक महिमा स्पष्ट रूपसे प्रदर्शित हो रही है।

अथवा 'प्रेक्ष्याद्रि'—इत्यादि कहकर विराम दे दिया। 'प्रेक्ष्याद्रयः' अर्थात् जिस श्रीवृन्दावनमें दर्शनीय श्रीगोवर्धन आदि पर्वत विराजमान हैं तथा उस श्रीगोवर्धनके शिखर भी सभीके लिए दर्शनीय है, क्योंकि उस शिखरपर वेणुध्वनिके श्रवणसे उत्पन्न परमानन्दसे पूर्ण मोहवशतः स्थान-स्थानपर सभी प्राणी अपने-अपने दल सहित शोभा पा रहे हैं। अथवा श्रीकृष्णके वेणुनादका श्रवण करके श्रीकृष्णके दर्शनके लिए आये हुए समस्त प्राणी उस स्थानपर अपने-अपने दल सहित आकर

समस्त चेष्टाओंको त्यागकर स्तब्ध होकर खड़े हैं। यद्यपि वेणु-ध्वनिको श्रवणकर सभी आनन्दमें विभोर होकर समस्त क्रियाओंको भूल जाते हैं, तथापि प्रत्येक भगवद्भक्तमें ही वेणुध्वनिके विलास-वैचित्र्यके कारण मत्त मयूरोंका नृत्य दर्शन तथा दूसरोंके लिए उसके श्रवणसे उत्पन्न श्रीभगवान्‌के दर्शनकी आशा आदि उत्पन्न होती है। यह श्रीवृन्दावन इस प्रकारके परमानन्दकी चरमसीमारूप सम्पत्तिका आधार है। इस विषयमें पहले वर्णन किया जा चुका है।

उक्त प्रकारका अर्थ प्राप्त होनेपर भी अन्य अर्थ प्रकाश करनेके लिए कहा जा रहा है कि समस्त प्राणी अपनी-अपनी सेवा श्रीकृष्णको साक्षात् रूपमें अर्पण करनेके लिए ही श्रीगोवर्धनके सानुदेश अर्थात् शिखरकी समतल भूमिपर चढ़कर मधुर कलरव आदि करते हुए अपनी-अपनी सेवामें प्रीतिपूर्वक आसक्त हो रहे हैं। अथवा 'सानु' कहनेका अर्थ है—जो अत्यन्त उच्च स्थानसे श्रीकृष्णका दर्शन करनेवालोंकी विरह-ताप आदि दुःखसे रक्षा करते हैं। अतएव उस सानुदेशपर उपस्थित प्राणीमात्र ही धन्य हैं। तथा वे सभी प्राणी ऊँचे शिखरोंपर इकट्ठे होकर श्रीकृष्णके दर्शनमें रत होकर अपनी-अपनी सेवाके प्रति अथवा कृष्णमें अनुरक्तिवशतः कोकिल आदि समस्त प्राणी यथासम्भव अपने-अपने सेवा-रसमें निमग्न हैं। वहाँ चञ्चल हिंसक जन्तुओं द्वारा अपने-अपने दुष्ट स्वभावको परित्याग करना ही उनकी सेवा समझनी चाहिये। अतएव अधिक कल्पनाकी क्या आवश्यकता है? इस प्रकार मयूरोंका नृत्य दर्शन करनेके साथ-साथ श्रीगोविन्दकी वेणुवादन लीला भी संयोजित है। इसका तात्पर्य यह है कि मयूरपंखका मुकुट धारण करनेवाले मयूर-प्रिय श्रीभगवान्‌के वनमें प्रवेश करतेमात्र ही उन्हें अपने पंखोंका चयन करते देखकर परमानन्दित होकर मयूर प्रथमतः जब अपने पंखोंका विस्तारकर अनेक प्रकारकी भङ्गि करते-करते नृत्य करते हैं, श्रीकृष्ण उनके नृत्यको देखकर प्रसन्नतापूर्वक वेणुवादन करते हैं तथा उस वेणुध्वनिरूप मन्त्रको सुनकर अन्यान्य सभी प्राणी अपने-अपने दलमें श्रीगिरिराजके शिखरपर निस्तब्ध खड़े होकर उस वेणुध्वनिके श्रवण तथा श्रीभगवान्‌के दर्शनके अलावा अपनी समस्त क्रियाओंको भूल जाते हैं। यद्यपि

सर्ववाचक 'समस्त प्राणी' कहनेसे नृत्यमें रत मयूर आदि भी ग्रहणीय हैं, तथापि वे सर्वप्रथम श्रीभगवान्के रूपका दर्शनकर आनन्दसे मत्तवाले होकर नृत्य प्रारम्भ करते हैं, तत्पश्चात् वेणुध्वनिका श्रवणकर अन्यान्य प्राणियोंकी भाँति सभी इन्द्रियोंके कार्योंसे शिथिल होकर प्रेममूर्च्छाको प्राप्त होते हैं—ऐसा समझना होगा। ऐसी माधुर्यपूर्ण लीला श्रीवैकुण्ठमें भी नहीं है, अतएव यह श्रीवृन्दावन पृथ्वीपर अवस्थित होकर स्वर्गसे वैकुण्ठ आदि तक समस्त स्थानोंकी तुलनामें श्रेष्ठता प्राप्त करके अपनी कीर्त्तिका विस्तार कर रहा है॥१०८॥

हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यो,
यद्रामकृष्ण-चरणस्पर्शप्रमोदः ।
मानं तनोति सहगोगणयोस्तयोर्यत्,
पानीयसूयवस-कन्दरकन्दमूलैः ॥१०९॥

श्लोकानुवाद—"हे अबलाओ! ये श्रीगिरिराज-गोवर्धन रामकृष्ण (श्रीबलराम तथा श्रीकृष्ण) के चरणकमलोंके स्पर्शसे आनन्दित होकर अपने स्वच्छ जल, सुकोमल तृण तथा अनेक प्रकारके कन्द-मूल आदि द्वारा गायों और गोप सखाओं सहित उनकी पूजा कर रहे हैं, अतएव ये श्रीहरिके दासोंमें श्रेष्ठ हैं॥"१०९॥

दिग्दर्शिनी टीका—अधुना श्रीगोवर्द्धनस्य माहात्म्यं तथैवागायत्। तासामेव काश्चिदाहुः—'हन्तायम्' (श्रीमद्भा. १०/२१/१८) इति। हन्तेति हर्षे विस्मये वा। अबलाः हे सख्यः! अयमद्रिर्गोवर्द्धनो ध्रुवं हरिदासवर्यः, सर्वस्याशेषं पापं दुःखं चित्तञ्च हरतीति हरिस्तत्स्वभावकेषु तस्य दासेषु मध्ये श्रेष्ठः। यद्यस्माद्रामकृष्णयोश्चरण-स्पर्शेन प्रकृष्टो मोदो हर्षो रोमोद्गम-स्वेदानन्दाश्रुसदृश-तृणाद्युद्गम-जलबिन्दुस्रावादिलक्षणो यस्य सः। किञ्च, यद्यतः तयोर्मानं पूजां तनोति। तत्र च न केवलं तयोरेव किन्तु तत्सम्बन्धेन तत्पाल्यमानानां गवां तत्सहचराणामपीत्याहुः—सहगोगणयोरिति। गणो गोपवर्गः सह गोभिर्गणेन च वर्त्तमानयोः तत्रापि यस्य तेन तुष्टिः स्यात्, तस्य तेनैव मानं विस्तारयतीत्याहुः—पानीयेति। तत्र पानीयानि पेयानि जलमध्विक्षुरसादीनि, सूयवसेति दीर्घश्छन्दोऽनुरोधेन। सूयवसानि शोभनतृणानि; यद्वा, सूः सवः प्रसवः पुष्पफलादि, कन्दराः गुहाः तैश्च तत्रत्यपर्यङ्कपीठसदृशशिला-रत्नप्रदीपादर्शादि लक्ष्यते, कन्दो मूलफलयोरवान्तरभेदः। यथा प्रभोर्भक्तिं परमप्रीत्याचरति, तथैव तस्य भ्रातुः सखीनां गवामपीति दास्यवर्यत्वम्। दैवहतानां तत्प्रेमवेगमोहितानां अस्माकमेतादृशी

शक्तिर्नास्तीत्याशयेनाबला इत्युक्तिः। यद्वा, रमयतः सुखयतो जगदिति, सदा रमेते क्रीड़त इति वा रामौ यौ कृष्णस्य चरणौ तौ स्वस्य स्पर्शेन नवनीतादितुल्यता नीयमानशिलाभिः कोमलेन तथा यथाकालं सुशीतलेनेषदुष्णेन चेत्येवं बहुविधेन सुखकरेण प्रमोदयतीति तथा सः। अपि च यद् यस्मात्तयोः सुप्रसिद्धयोरसंख्ययोर्गोगणयोः, गोशब्देन साहचर्यान्महिष्यजादयोऽप्युपलक्ष्यन्ते, जातावेकत्वेन। गौश्च गणश्च बलराम-श्रीदामादिगोपवर्गः तयोः सह एकदैव अभेदेन यथायथं पानीयादिभिर्मानं तनोतीति। अथवा, श्रीचरणयोरावश्यककमलरूपकाभवादयमर्थः कार्यः। रामं जगन्मनोरमं यत् कृष्णस्य चरणम् आचरणं विहारस्तस्य स्पर्शेन स्पर्शनेन दानेन प्रमोदो यस्येति कृष्णोऽस्मान् वा प्रमोदयतीति तथा सः। 'विश्राणनं वितरणं स्पर्शनम्' इत्यमरः। यद् यस्मात् कृष्णेनैव सह, अन्यत् पूर्ववत्। अहो! धिगस्मान् यदेवं कर्त्तुं न शक्नुमः। तासां सर्वथा परिपूर्णत्वेऽपि अपूर्णवद्वाक्यम्। परममहाप्रेम-स्वाभाविकातृप्तिहेतुकमिति पूर्वोक्तमेवास्ति॥१०९॥

भावानुवाद—अब श्रीवृन्दावनके माहात्म्यकी भाँति श्रीगोवर्धनके माहात्म्यका वर्णन कर रहे हैं तथा पूर्वोक्त गोपियोंमेंसे ही कोई दूसरी गोपी 'हन्तायम्' इत्यादि (श्रीमद्भा. १०/२१/१८) श्लोक कह रही हैं। 'हन्त' शब्दका प्रयोग हर्ष अथवा विस्मयमें हुआ है। 'अयम्' (यह) शब्दका अर्थ है कि उस समय उनकी भावदृष्टिमें श्रीगोवर्धन स्फुरित हुआ तथा अङ्गुली द्वारा सङ्केत करके वह सखी कहने लगी, हे सखियो! हम अबला हैं, क्योंकि हममें ऐसी शक्ति नहीं है कि धैर्य-लज्जा आदिकी बेड़ियोंको तोड़कर श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें उपस्थित हो सकें, किन्तु ये श्रीगोवर्धन पर्वत होकर भी अपने प्रेमरूपी बलसे निश्चय ही हरिदासोंमें श्रेष्ठ हैं। श्रीहरि जिस प्रकार सबके सम्पूर्ण पापों, दुःखों तथा चित्तको हर लेते हैं, ये श्रीगोवर्धन भी उसी प्रकार सभीके दुःख और चित्तका हरण करते हैं, क्योंकि 'हरतीति हरिः' अर्थात् जो हरण करता है वे हरि हैं। अतएव श्रीहरिके समान स्वभाव होनेके कारण यह श्रीहरिके दासोंमें श्रेष्ठ हैं। विशेषतः ये श्रीरामकृष्ण (श्रीबलराम तथा श्रीकृष्ण) के चरणोंके स्पर्शके फलस्वरूप अपनी देहपर तृण आदिके उत्पन्न होनेके छलसे पुलक, आर्द्रताके छलसे स्वेद, जलबिन्दु-स्राव आदिके छलसे अश्रु आदि लक्षणों द्वारा अपने हृदयस्थित आनन्दको प्रकाश करते हैं। ये श्रीगोवर्धन जिस प्रकार अपने प्रभु श्रीकृष्णकी परिचर्या करते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्णके

सम्बन्धसे उनके पालनीय गाय आदि पशु तथा उनके सखाओंकी भी सेवा करते हैं। अर्थात् केवल प्रभुकी ही सेवा करते हों, ऐसा ही नहीं है, बल्कि यथाविधि सभीकी पूजा करते हैं। इसीके लिए 'सहगोगणयो' पद कह रहे हैं।

यद्यपि सामान्य रूपसे गोप और गायों सहित सपरिकर श्रीकृष्णकी सेवाके विषयमें कहा गया है, तथापि जिसकी जिस वस्तुमें रुचि और जिस प्रकार सन्तोष होता है, ये उसकी वैसी अभिलाषाके अनुसार ही सेवा करते हैं। श्रीकृष्ण जब श्रीबलराम और गोपबालकोंके साथ गोचारणके छलसे श्रीगिरिराज-गोवर्धनकी तलहटीमें उपस्थित होते हैं, तब श्रीगोवर्धन आनन्दसे आत्मविभोर होकर सर्वप्रथम स्वच्छ शीतल पीने योग्य जल, मधु और गन्नेके रस आदिको प्रदान करते हैं तथा सुगन्धित सुकोमल पुष्टिकारक तृण द्वारा गाय-भैंस आदि सभी पशुओंको तथा कन्द-मूल, फल-फूल आदि द्वारा सपरिकर श्रीकृष्णको तृप्त करते हैं। उसके उपरान्त अनेक प्रकारके पलङ्ग और पीठके समान शिलाओं तथा मणियोंसे बने प्रदीप और मणि-दर्पण आदिसे सुशोभित गुफाओंमें श्रीकृष्ण और श्रीबलराम सहित सभी सखाओंके विश्रामकी व्यवस्था करते हैं। जिस प्रकार ये श्रीगोवर्धन प्रेमपूर्वक अपने प्रभुकी सेवा करते हैं, उसी प्रकारसे उनके गोप सखाओं तथा गायोंकी भी सेवा करते हैं। किन्तु हम दैव (भाग्य) द्वारा वञ्चित हो रही हैं अर्थात् उनके प्रेमके वेगको देखकर मोहित हो रही हैं, हममें वैसी सेवा करनेकी शक्ति नहीं है—इसी अभिप्रायसे गोपियाँ अपने आपको अबला कह रहीं हैं। इस प्रकार गोपियोंने गोवर्धनके सेवा-सौभाग्यका और उसके द्वारा श्रीकृष्णके चरणस्पर्शके सौभाग्यका वर्णन किया है तथा अपने दैन्यको भी इङ्गित किया। गोपियोंका अभिप्राय यह है कि यदि वे श्रीगोवर्धनकी शिला होतीं तो श्रीकृष्णके चरणोंका स्पर्श प्राप्त करके कृतार्थ होतीं। श्रीकृष्णका वेणुगीत श्रवण करके श्रीगोवर्धनकी शिलाएँ पिघल जाती है, किन्तु उस वेणु-ध्वनिको सुनकर उनका कठोर हृदय नहीं पिघलता। विधाताने उन्हें ऐसी दुर्भाग्यशालिनी और प्रेमविहीन बनाकर सृष्टि की है कि वे किसी भी प्रकारसे श्रीकृष्णकी सेवा और उनके चरणोंका स्पर्श नहीं कर पातीं हैं।

अथवा यहाँ 'राम' का अर्थ है कि जो समस्त जगत्को सुख प्रदान करते हैं तथा निरन्तर लीला करना ही जिनका धर्म है। तात्पर्य यह है कि गोपियाँ अपना कृष्णानुराग छिपानेके लिए 'रामकृष्णचरण स्पर्श प्रमोदः' कह रही हैं, किन्तु उनका अभिप्राय यह है कि 'राम' अर्थात् परम रमणीय श्रीकृष्णके चरणस्पर्श करके श्रीगोवर्धन परमानन्दसे आत्मविभोर हो जाते हैं। (इससे गोपियों द्वारा अपने मनोभावको गोपन करनेका इङ्गित पाया जा रहा है) श्रीकृष्णके श्रीचरणकमलोंके स्पर्शके प्रभावसे श्रीगोवर्धनकी शिलाएँ नवनीतके समान कोमल होकर उन श्रीचरणकमलोंकी सेवा करती हैं तथा शीतकालमें उष्ण और ग्रीष्मकालमें शीतल होकर श्रीकृष्णके श्रीचरणोंके लिए सुखकर होती हैं। इसलिए श्रीकृष्ण भी अनेक प्रकारसे विहार करके उन्हें आनन्दित कर रहे हैं। श्रीरामकृष्णके सुप्रसिद्ध असंख्य 'गो' अर्थात् गाय, भैंस और बकरी आदि पशु तथा 'गण' शब्दसे श्रीबलराम, श्रीदाम आदि गोपवर्ग लक्षित हो रहे हैं। श्रीकृष्णके साथ सम्बन्धवशतः अभेदके कारण उनकी भी यथासम्भव पानीय आदिसे पूजा करते हैं।

अथवा 'रामं' अर्थात् जगतको मोहित करनेवाले जो श्रीकृष्णके श्रीचरण हैं, उन श्रीचरणोंके विहारवशतः स्पर्शसे सम्पूर्ण रूपमें आनन्दित होकर पुलक, स्वेद और अश्रु इत्यादिरूप सात्त्विक विकार देखकर स्पष्ट ही जाना जा रहा है कि ये गोवर्धन श्रीकृष्णकी सेवा करके परमान्दित हो रहे हैं तथा श्रीचरणोंके लिए सुखकर इस गोवर्धनकी सेवा ग्रहण करके श्रीकृष्ण भी आनन्दित हो रहे हैं। अतएव श्रीगोवर्धन हरिदासोंमें श्रेष्ठ हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अथवा ये गोवर्धन श्रीकृष्णसे अभिन्न होनेके कारण उनके विलासके अनुसार समस्त अभिलाषाओंको पूर्ण करनेवाली चिन्तामणिमय शिलाके रूपमें सब प्रकारकी ही सेवाएँ कर रहे हैं। अहो! हमें धिक्कार है! हम ऐसा सौभाग्य प्राप्त नहीं कर सकतीं। अर्थात् नेत्र होनेपर भी दुर्भाग्यवशतः हम उनके दर्शन करनेमें समर्थ नहीं है, अथवा हमारे चरण होनेपर भी हममें उन लीला-स्थलियोंमें जानेकी शक्ति नहीं है। व्रजदेवियोंके मनोरथ सदा-सर्वदा परिपूर्ण हैं। अतएव यह उनकी दैन्योक्ति है, जो उनके परम महाप्रेमकी स्वाभाविक अतृप्तिवशतः ही

कथित हुई है—समझना होगा। यह विषय पहले भी कहा जा चुका है॥१०९॥

दृष्ट्वातपे व्रजपशून् सह रामगोपैः,
सञ्चारयन्तमनुवेणुमुदीरयन्तम् ।
प्रेमप्रवृद्ध उदितः कुसुमावलीभिः,
सख्युर्व्यधात् स्ववपुषाम्बुद आतपत्रम्॥११०॥

श्लोकानुवाद—"(एक अन्य गोपी कह रही हैं)—हे सखि! देखो तो यह मेघसमूह श्रीबलदेव और गोप सखाओंके साथ धूपमें व्रजके पशुओंको चरानेमें रत तथा निरन्तर वंशीवादनमें तत्पर श्रीकृष्णका दर्शनकर प्रेमसे परिपूर्ण होकर आकाशमें उन सबके ऊपर उदित हुए हैं तथा कोमल पुष्पोंके समान अपने जलकी बूँदोंको उनपर बरसा रहे हैं तथा अपने शरीर द्वारा उनके ऊपर छत्र बनाकर छा गये हैं॥"११०॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं श्रीवृन्दावन-गोवर्द्धनप्रधानक-श्रीव्रजभूमेर्माहात्म्यं सामान्येन गीत्वा सम्प्रति विशेषतस्तत्रत्यानां जात्यादितारतम्येन तदनुरूप-भगवदनुग्रहतो यथोत्तरश्रेष्ठतया माहात्म्यं राजाऽसावगायदेकचत्वारिम्शत्पद्यैः। तत्र तत्र तस्य भावश्च तत्तद्गानोज्जृम्भितस्तत्तद्वक्त्रनुरूप एव ज्ञेयः। तत्रादौ व्रजभूम्याद्युद्भवानामाकाशचारिणां लोकदृष्ट्याऽचेतनानां व्रजभूम्युपरितन-गगनमार्गसंसर्गेण भगवत्प्रसादतश्चैतन्यविशेष-माप्तानामिव मेघानां माहात्म्यं गोप्यस्तथैव काश्चिदाहुः—दृष्ट्वेति (श्रीमद्भा. १०/२१/१६)। व्रजस्य ये पशवः गो-महिष्यजादयोऽसंख्येयास्तान् सर्वान् बलरामेण गोपैश्च सह, सम्यक् तत्तदिच्छानुसारेणेतस्ततश्चारयन्तम्। अनु प्रतिक्षणं वेणुञ्च उदीरयन्तं वादयन्तं दृष्ट्वा परिश्रममाशङ्क्य तत्र च तेन तेनैव वृक्षमण्ड़लच्छाया-शीतलितभूम्यागतः मध्याह्नादिसम्बन्धिन्यातपे स्थितं दृष्ट्वा तस्योपरि प्रथममुदितः। यद्वा, अनु तमनुलक्षीकृत्योदितः। अथवा, वेणुमनु वेणुवादनानन्तरं वेणुना वा, पशुनेवोदीरयन्त-माह्वयन्तम्; किंवा, अनुवेणु मुदितिच्छेदः। अनुवेणु प्रतिवेणुनादं मुत् आनन्दो यस्य सः, गद्गदस्वर-शब्दतुल्यमन्दगर्जिताश्रुनिपातसदृश-वृष्ट्यादिदर्शनात् ईरयन्तं तानेव प्रेरयन्तम्। मधुरगम्भीरवाचा घासभक्षणादौ नियोजयन्तं दृष्ट्वोदितः। पुनः सम्यग्रूपदर्शन-वेणुनादश्रवणाभ्यां यत्प्रेम तेन प्रवृद्धः सन्; पाठान्तरे मुदस्य जातेति मुदितः हृष्ट इत्यर्थः। प्रेम्णा प्रवृद्धश्चासौ मुदितश्चेति। लोकार्तिहरणशीलत्वादिसाम्यात् सख्युः श्रीकृष्णस्य। यद्वा, अस्माकं सख्युर्दयितस्य; किंवा सख्युरिव सख्युर्यथा कश्चित्

स्वस्य सख्युः करोतीति तद्वदित्यर्थः। कुसुमावलीभिः कुसुमं मेघपुष्पं जलं तद्बिन्दु-समूहैर्दिव्यपुष्पराजिभिर्वा सह स्ववपुषा अम्बुदच्छत्रं व्यदधात्। हिमजलकणानां दिव्यपुष्पाणां वा वृष्टिं तथा छायाञ्च स्वदेहेन मेघः कृतवानित्यर्थः। यद्वा, विशेषणे तृतीयेयम्। कुसुमावलीविशिष्टं तत्स्राविच्छत्रं स्ववपुरेव कृतवानित्यर्थः। अत्रापि सहरामगोपैरिति सम्बन्धनीयम्। तेषामपि तथा चकारेत्यर्थः। तथा पशूनामपि तथैवोह्यं साहचर्यात्; यद्वा, तैः सह पशून् सञ्चारयन्तमन्वित्यनुशब्दबलात्तेषां तेषामपि तथैव व्यदधादित्यर्थादायातमेव। हे सख्यः! अतः परमधन्योऽयं, वयन्त्वधन्याः, यतोऽस्माकमेतत् सर्वं विपरीतम्। तथाहि, पशुसञ्चारणसमये तस्य दर्शनादि दुर्घटम्। कदाचिद्दर्शने वेणुश्रवणे चापि मोहेनास्तं प्राप्तिदशैव (मोहेनाप्यप्राप्तिदशैव) स्यात् प्रेमार्त्ता च सदा क्षीणतैव। आतपवारणादिकन्तु हन्त! न हि कथमपि सम्भवतीति॥११०॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीवृन्दावन और श्रीगोवर्धन प्रधान श्रीव्रजभूमिके माहात्म्यका सामान्य रूपसे गान करके अब श्रीगोपियोंने वहाँकी सभी वस्तुओंकी विशेष रूपसे उनकी जाति और सेवाके तारतम्यानुसार उनपर श्रीभगवान्‌की कृपाकी उत्तरोत्तर श्रेष्ठताके कारण उसके अनुरूप ही उनके माहात्म्यका वर्णन किया है तथा वैसी लीला-स्फूर्तिवशतः महाराज श्रीपरीक्षित्‌ने इकतालीस श्लोकोंमें उस महिमाका गान किया है। अतएव वक्ताका भाव भी उक्त श्लोकोंके अनुरूप ही है—ऐसा समझना होगा। उसमें सर्वप्रथम व्रजभूमिके आकाशमें विचरण करनेवाले मेघसमूह जो लोगोंकी दृष्टिमें अचेतन लगते हैं, किन्तु व्रजभूमिके ऊपर स्थित आकाश मार्गके संसर्ग तथा श्रीभगवान्‌की कृपासे चेतनताको प्राप्त वस्तुकी भाँति ही उन मेघसमूहका माहात्म्य कोई एक सखी (श्रीमद्भा. १०/२१/१६) 'दृष्ट्वा' इत्यादि श्लोक द्वारा वर्णन कर रहीं हैं।

व्रजकी गायें, भैंसे, बकरियाँ इत्यादि वनमें अपनी-अपनी इच्छानुसार इधर-उधर चरते रहते हैं, अर्थात् पशु स्वभावसे ही हरी-हरी घास खानेके लोभसे इधर-उधर घूमते हैं। इसलिए कभी-कभी वृक्षोंकी छायारूप ठण्डे स्थानको छोड़कर धूपसे तपे हुए स्थानपर भी दौड़ पड़ते हैं। उस समय श्रीकृष्ण तथा उनके सखाओं द्वारा उनका अनुसरण करनेपर उस दोपहरकी प्रखर गर्मीमें उनके परिश्रमकी आशङ्का करके मेघसमूह प्रेमके वशीभूत होकर उन सबके ऊपर छत्रके आकारमें उदित हो रहे हैं। अथवा इधर-उधर घूम रही गयों

तथा भैंस आदिको एकत्रित करनेके लिए जब श्रीकृष्ण निरन्तर वेणुवादन द्वारा उनका आवाहन करते हैं, तब गोपबालक भी उनके समीप आकर कोई गर्म शिलापर और कोई गर्म बालूपर खड़ा हो जाता है। ऐसा देखकर श्रीकृष्ण वेणुसे मेघ–मल्लार–रागका आलाप करते हैं, जिससे मेघसमूह आकृष्ट होकर उनके ऊपर छा जाते हैं तथा उनमेंसे कोमल–कोमल जलकी बूँदें निकलने लगती हैं, यह देखकर ऐसा लगता है कि मानो मेघसमूह प्रेमसे परिवर्द्धित होकर पुष्प वर्षा कर रहे हैं। अथवा 'अनुवेणु' अर्थात् वेणुका नाद ही जिनके लिए आनन्दस्वरूप है, वे मेघसमूह जब गद्गद स्वरसे मन्द–मन्द गर्जन करते हैं तथा अश्रुपातके समान वर्षाकी बूँदें बरसाने लगते हैं, उसको देखकर श्रीकृष्ण आनन्दसे सभी पशुओंको मधुर गम्भीर स्वरसे तृण भक्षण आदिमें नियोजित करने लगते हैं। पुनः श्रीकृष्णके सम्पूर्ण रूपका दर्शन तथा वेणुध्वनि श्रवणकर मेघसमूह प्रेमसे प्रफुल्लित होते हुए दिखायी देते हैं।

यहाँ 'मुदस्य' पाठान्तर होनेसे अर्थ होगा कि आनन्द उत्पन्न होनेके कारण मेघसमूह प्रेमसे परिवर्द्धित होने लगते। इस प्रकार दुःख–हरणकारी आदि स्वभावमें श्रीकृष्णके साथ उनकी समानता होनेके कारण मेघसमूह श्रीकृष्णके सखा ही हैं। अथवा हमारे प्रिय श्रीकृष्णके सखा वे मेघसमूह अथवा जिस प्रकार सखा अपने सखाके प्रति अनुकूल व्यवहार करते हैं, उसी प्रकार सख्यप्रेमके वशीभूत होकर मेघसमूह उस प्रिय श्रीकृष्णको प्रियसखाके समान अपने शरीररूपी छत्र द्वारा तथा दिव्य पुष्पोंकी पंखुड़ियोंके समान जलकी बूँदोंकी वर्षा द्वारा सम्मान प्रदर्शित करने लगते हैं। अथवा विशेषणमें तृतीया होनेसे अर्थ होगा—'कुसुमावलिविशिष्ट' अर्थात् कुसुमकी भाँति पानीकी बूदोंको एकत्र करके छत्र बनाकर अपनी देह द्वारा सपरिकर श्रीकृष्णके ऊपर छा जाते हैं। अथवा श्रीबलराम और गोपबालकों सहित अपने सखाको गोचारण करते देखकर मेघसमूह अपने सखाके अनुकूल प्रिय कार्य करने लगते हैं, जिससे उनके सखाके परिकरों—गोपबालकों तथा गायों आदिका भी प्रिय कार्य करना हो जाता है।

अतएव हे सखियो! ये मेघ ही परम धन्य हैं, क्योंकि हमारा तो सबकुछ विपरीत ही है। गोचारण करते समय हमें श्रीकृष्णका दर्शन ही दुर्लभ है, यदि किसी समय दर्शन होता भी है और वेणुनाद सुनायी भी पड़ता है, तथापि तत्क्षणात् मोह उपस्थित होकर उस सुखको भङ्ग कर देता है। उस मोहदशामें प्रेमकी व्याकुलतासे शरीर इतना दुर्बल हो जाता है कि उसके द्वारा धूपसे कृष्णकी रक्षा करना आदि सेवा सम्भवपर ही नहीं होती। परन्तु मेघसमूह कभी भी श्रीकृष्णकी सेवा करनेसे नहीं चूकते हैं, किन्तु हम प्रेमहीन होनेके कारण श्रीकृष्णकी मोहन वेणुध्वनिको श्रवण करके भी घरमें ही रह जाती हैं। हाय! हम सब प्रकारसे ही भाग्यहीन हैं॥११०॥

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीत-,
मावर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः ।
आलिङ्गनस्थगितमूर्मि-भुजैर्मुरारे-,
गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः ॥१११॥

श्लोकानुवाद—"हे सखियो! यह अचेतन श्रीयमुना आदि नदियाँ भी श्रीमुकुन्दकी वंशीध्वनिको सुनकर उसी क्षण अपनी तरङ्गरूप भुजाओं द्वारा समस्त कमलपुष्पोंको उपहारस्वरूप लेकर उनके युगल श्रीचरणोंका आलिङ्गन करती हैं जिससे श्रीकृष्णके चरणकमल छिप जाते हैं। जरा देखो तो भँवरके छलसे इनका कामवेग ही लक्षित हो रहा है तथा ऐसे कामवेगके वशीभूत होकर तरङ्गें भी टूट रहीं हैं॥"१११॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततोऽपि व्रजभूमिसम्बन्धविशेषेण श्रीभगवन्महाप्रसादपात्राणां बहिर्दृष्ट्याऽचेतन-जलप्रवाहवतीनामपि नदीनां माहात्म्यं सर्वासामेव साधारण्येन जगौ। तथैव काश्चिदार्त्ता एवाहुः—'नद्यः' (श्रीमद्भा. १०/२१/१५) इति, श्रीयमुना-मानसगङ्गाद्याः। अथवा सर्वनदीश्रेष्ठा भगवत्प्रियतमा श्रीकालिन्द्येव। बहुवचनं गौरवेण। तत्साहचर्यादन्या अपि स्वत एव प्राप्ताः स्युः। भोः सख्यः! नद्योऽपि तत् अनिर्वचनीयं वेणु-नादामृतमयं मुकुन्दस्य गीतम्; यद्वा, मुरारेर्मुकुन्दस्य परमसुख-प्रदञ्च तद्गीतञ्चेति तथा तदुपधार्य समीपे सावधानं श्रुत्वा कर्णद्वारा हृदये धृत्वा वा तदा तत्क्षणमेव आवर्तैर्जलभ्रमरिकाभिर्लक्षितेन सूचितेन मनोभवेन कामेन भग्नो वेगः स्रोतो जवो यासां तथाभूताः सत्यः; यद्वा, आवर्त्ताः कामविकारभङ्गाः तेषां लक्षं तारकादित्वादित च, तद्युक्तो यो मनोभवस्तेन भग्नवेगाः सत्यः अथवा मुकुन्दगीतस्य

या मा लक्ष्मीः सम्पत् तस्या आवर्त्तः परिवृत्तिः परम्परा वा तेन लक्षितो दर्शितोऽभिव्यञ्जितो यो मनोभवस्तेन भग्नवेगाः; एवं सति तच्छब्देन पूर्वश्लोकस्थ-वेणुगीतमिति परामर्शः। प्रेममोहभयेन च तत् स्फुटं न निर्दिदिशुरिति ज्ञेयम्। ऊर्मय एव भुजास्तैरालिङ्गनेन स्थगितमाच्छादितं यथा भवति तथा तस्य पादयोर्युगलमेव गृह्णन्ति परमदैन्येन धारयन्ति हृद्रोगवेगोपशमनाय। यद्वा, आलिङ्गनेन स्थगितं स्तब्धमादररहितमपि पादयुगलं कामविह्वलतया गृह्णन्ति। किंवा, सदा विचित्र-गत्यादिचञ्चलमपि आलिङ्गनेन स्थगितं स्तब्धं स्पर्शसुखेन सुस्थिरं सत् पादयुगलं सर्वैरेवोर्मिभुजैः प्रेम्णा गृह्णन्ति। कथम्भूताः?कमलोपहाराः कमलान्येवोपहाराः श्रीचरणयुग्म-पूजासामग्र्यो यासां ताः, पूजार्थं तत्प्रियत्वात् कामवेगोपहतत्वात् कमलान्येवोपहरन्त्य इत्यर्थः। यद्वा, कमलया लक्ष्म्यापि उपहारः पूजनं यासां ताः, उक्तरीत्या लक्ष्म्या अपि पूज्याः तस्या अप्यधिकसौभाग्यवत्य इत्यर्थः; उपहारशब्देनेदमपि ध्वन्यते। नद्यो मोहनवेणुगीतं श्रुत्वा सहजां स्वपतिसमुद्राभिगमनत्वरां परिहृत्य मूर्त्तिमत्यो भूत्वा मणि-मौक्तिकादि-दिव्यहारवत्योऽपि कृष्णप्रिय-व्रजजातानां तत्प्रियाणां कमलानामुपहारैर्हाराणामुपरि वर्त्तमानैर्हारैर्भूषिताः सत्यः ऊर्मिसदृशैर्दीर्घैर्बहुतरभुजैर्मुरारेः पादयुगलं गृह्णन्ति, सुस्थिरीकृत्य सम्यगालिङ्गन्तीति। अतस्ता एव परमधन्यास्तदीय-प्रियतमाः, न तु वयम्। यतो दुर्भगाणामस्माकं न तद्वेणुगीत-श्रवणसामर्थ्यं, न च कृष्णकामेन स्वपतिसेवादिगृहकृत्य-प्रवाहोपरमः। नापि प्रकट मूर्त्तितया तदीयभजनोचित-वेशभूषादिधारणनैपुण्यम्, नापि च बहवो दीर्घपृथुभुजा यैस्तत्पादपद्मस्यैकस्यापि त्याजितचापल्यतया वक्षःस्तनादिषु सुदृढ़ालिङ्गन-सम्भावनापीति॥१११॥

भावानुवाद—इस प्रकार व्रजभूमिसे विशेष सम्बन्ध रहनेके कारण श्रीभगवान्के कृपापात्रोंमेंसे बाहरी दृष्टिसे अचेतन समस्त जल-प्रवाहिनी नदियोंके माहात्म्यका ही गान (श्रीमद्भा. १०/२१/१५) 'नद्यः' इत्यादि श्लोक द्वारा कर रहे हैं। पूर्वकी भाँति कोई एक सखी कह रही है—हे सखियो! श्रीयमुना और श्रीमानसीगङ्गा आदि सभी नदियों अथवा नदियोंमें भी सर्वश्रेष्ठ भगवान्की प्रियतमा श्रीकालिन्दीकी सहचारितावशतः अन्यान्य सभी नदियाँ भी श्रीमुकुन्दका अनिर्वचनीय वेणुनादरूप अमृतमय गीत श्रवण करती हैं। अथवा श्रीमुकुन्दके परम सुखप्रद वेणुनादरूप अमृतमय गीतको सावधानीपूर्वक श्रवणकर तथा कर्ण द्वारा हृदयमें धारण करके उसी क्षण ही भँवरके छलसे कामवेग द्वारा टूटी हुई तरङ्गोंवाली हो जाती हैं। अथवा भँवर स्वयं ही कामवेगसे टूट जाता है, इसलिए वह अपनी लाखों-लाखों तरङ्गरूपी भुजाओंसे श्रीकृष्णके चरणकमलोंका आलिङ्गन करती हैं। अथवा श्रीमुकुन्दके

गीतकी जो लक्ष्मी (सम्पत्ति) है, उसके भँवरकी धारा अथवा उसके द्वारा प्रकट किया हुआ मनका जो भाव है, उसीका वेग टूट जाता है। इस प्रकारकी व्याख्यामें 'तत्' शब्दका पूर्व श्लोकमें कथित वेणुगीतके साथ सम्बन्ध सूचित हो रहा है। किन्तु गोपियोंने प्रेम-मोहके भयसे उसे स्पष्ट रूपसे इङ्गित नहीं किया—ऐसा समझना होगा।

अतएव वे सब नदियाँ अपनी तरङ्गरूपी भुजाओं द्वारा श्रीकृष्णके चरणकमलोंका आलिङ्गन अर्थात् आच्छादनकर हृदयरोगको शान्त करनेके लिए अत्यधिक दीनतापूर्वक उन चरणोंको हृदयमें धारण करती हैं। अथवा आलिङ्गन द्वारा उनकी गति थम जाती है, इसलिए आदरसे रहित होनेपर भी केवल काममें विह्वल होकर ही उनके श्रीचरणकमलोंको धारण करती हैं। अथवा सदैव विचित्र गतिवाले चञ्चल श्रीचरणकमलोंको आलिङ्गन द्वारा रोककर अर्थात् स्पर्शसुखसे सुस्थिर करके अपनी असंख्य तरङ्गरूपी भुजाओंके द्वारा प्रेमपूर्वक ग्रहण करती हैं। इसके साथ ही वे कमलपुष्पके उपहार द्वारा श्रीकृष्णके चरणयुगलोंकी पूजा भी करती हैं। नदियोंको कमल अति प्रिय हैं, इसलिए सभी नदियाँ अपने हृदयरूपी कमलको श्रीकृष्णके चरणोंमें अर्पण करके अपने कामवेगको दूर करती हैं।

अथवा जो 'कमला' अर्थात् लक्ष्मीकी भी 'उपहार' अर्थात् पूजनीय हैं, अतएव उक्त रीतिके अनुसार वे सब नदियाँ लक्ष्मीकी भी पूजनीय होनेके कारण लक्ष्मीसे भी अधिक सौभाग्यशाली हैं। यहाँ 'उपहार' शब्दका अर्थ पूजनीय भी ध्वनित हो रहा है। नदियाँ श्रीकृष्णके मोहन वेणुगीतको श्रवण करके सहसा अपने पति समुद्रकी ओर जानेके प्रयासको त्यागकर मूर्त्ति धारणकर मणि-मुक्ता आदिके दिव्यहारोंसे भी श्रेष्ठ श्रीकृष्णकी प्रिय व्रजभूमिमें उत्पन्न कमलके पुष्पों द्वारा बने हारसे सुशोभित होकर तरङ्गरूपी बहुत-सी दीर्घ भुजाओं द्वारा मुरारिके श्रीचरणकमलोंको ग्रहण करतीं हैं, अर्थात् उन श्रीचरणकमलोंको सुस्थिरकर भलीभाँति उन चरणोंका आलिङ्गन करतीं हैं। सभी नदियाँ समुद्रकी पत्नियाँ हैं तथा निरन्तर समुद्रकी ओर तेज गतिसे जाना ही उनका स्वभाव है, इसलिए वे अपने पति समुद्रके साथ मिलनेके लिए सदैव व्याकुल रहती हैं। किन्तु श्रीयमुना और श्रीमानसीगङ्गा

व्रजमण्डलमें प्रवाहित होनेके कारण अपने पति समुद्रकी ओर न जाकर श्रीकृष्णके श्रीचरणोंको स्पर्श करके अपने मनकी वासनाको पूर्ण करती हैं। अतएव वे नदियाँ ही परम धन्य तथा श्रीकृष्णकी प्रियतमाएँ हैं, हम नहीं। दुर्भाग्यवशतः हममें श्रीकृष्णका वेणुगीत श्रवण करनेका भी सामर्थ्य नहीं है, अर्थात् गीत श्रवण करनेमात्रसे ही हममें मोह-दशा उपस्थित होती है। हमको श्रीकृष्णकी सेवा करनेका सुयोग भी प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि पति-पुत्रकी सेवा आदि घरके कार्योंके प्रवाहसे हमें अवकाश ही नहीं है। विशेषकर प्रकट भावसे उनकी सेवाके लिए उचित वेश-भूषा आदि धारण करनेकी निपुणता भी हममें नहीं है। अथवा न ही हमारे पास उनकी जैसी विशाल भुजाएँ हैं, जिससे हम उनके चरणकमलोंको पकड़कर उन्हें चञ्चलतारहित करके अपने स्तनोंसे सुदृढ़ आलिङ्गन करवा सकें॥१११॥

वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं, व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः।
प्रणतभारविटपा मधुधाराः, प्रेमहृष्टतनवो ववृषुः स्म॥११२॥

श्लोकानुवाद—"श्रीकृष्ण जब श्रीवृन्दावनमें विहार करते हैं और वेणुवादन द्वारा श्रीगोवर्धनकी तलहटीमें चरती हुई गायोंको नाम ले-लेकर पुकारते हैं, उस समय वनके वृक्ष और लताएँ अपने भावोंको प्रकाश करते हुए फल-फूलोंसे लद जाती हैं तथा उनके भारसे वृक्षोंकी शाखाएँ झुक जाती हैं, मानो प्रणाम कर रही हों। वे वृक्ष-लताएँ अपने भीतर भगवान् श्रीविष्णुकी अभिव्यक्ति सूचित करती हुए प्रेमसे पुलकित हो जाती हैं और मधु-धाराओंका वर्षण करने लगती हैं॥"११२॥

दिग्दर्शिनी टीका—अधुना मेघादिभ्योऽधिकं सचेतनानां माहात्म्यम्। तत्र दिवाविरह-दुःख-सागरनिमग्नानां तत्तरणार्थं श्रीभगवतो दिवा-वनविहारं गायन्तीनां गोपीनां काश्चिदूचुः—'वनलता' (श्रीमद्भा. १०/३५/९) इति। *"वेणुना आह्वयति गाः स यदा हि"* इति पूर्वश्लोके (श्रीमद्भा. १०/३५/८) गतमस्ति; अतोऽयमर्थः—अन्यार्थमपि श्रीकृष्णवेणुनादे प्रादुर्भूते सत्येव वनेषु श्रीवृन्दावनादिषु या लतास्ताः सर्वा एवानन्दाश्रुधारारूपा मधुधारा ववृषुर्वर्षन्ति, स्मेति विस्मये व्यक्तमिति वा। किं कुर्वत्यः? विष्णुं विविधरूपेण व्यापकतया सर्वत्र वर्त्तमानमपि

आत्मनि स्वस्मिन् बहिरन्तश्च भक्तिवश्यतया श्रीनन्दकिशोररूपेण सदा स्थितं परमनिधिवदत्यन्तरहस्यत्वेन यत्नान्निगृह्यमानमपि प्रेमवैवश्याद्व्यञ्जयन्त्य इव सूचयन्त्य इव। तत्र लक्षणानि निर्दिशन्तः पदत्रयेण लता विशिंषन्ति। अत्र पुष्पफलाढ्या इति बहिरक्षयसम्पत्तिः; प्रणतेति—विनयलक्षणप्रणामेन धर्मज्ञानादिकारण-गुण-भावसम्पत्; प्रेमेति—चान्तरार्द्रतया स्थूल-सूक्ष्मतनुद्वय-सम्बन्धि-हर्षविकाररूपा परमभक्तिसम्पद्युक्ता। अहो! तद्वर्त्तरोऽपि तथैवेत्याहुः—तरव इति। अत्र लिङ्गविपरिणामेन व्यञ्जयन्त इति ज्ञेयम्। अन्यदखिलं समानम्। लतानां प्राधान्येन प्रथमं निर्देशः, स्त्रीत्वाभिप्रायेण स्वसाम्यापेक्षया एतदुक्तं भवति—यथा श्रीकृष्णभक्तजनाः पुष्पतुल्यैः रूप-जाति-धनैश्वर्यादिभिः, फलतुल्यैश्च पुत्रादिभिर्युक्ताः; यद्वा, पुष्पतुल्यार्थवादबहुलैर्वेदैर्वेदाध्ययनतदुक्तकर्माचरणादिभिः; तथा तत्फलैरैहिकामुष्मिक-सुख भोग्यैश्च सम्पन्नास्तथापि प्रणता नम्रतां गता विनय-लज्जादि-सद्गुणैर्विटपाः, परिवारा अपि, किमुत स्वयं येषां तथाभूताः आत्मनि सदा बहिरन्तःस्थितं मातृजारवद्यत्नाद्गोप्यमानमपि श्रीविष्णुं सदान्तर्बहिरशेष-करणव्यापकतया देदीप्यमानं भगवन्तमतएव सङ्गोपन-सामर्थ्यासम्भवात् प्रकाशयन्तस्तद्गीतश्रवणप्रेमभरेण स्वेद कम्प पुलकादि-हर्षविकाराचितशरीराः सन्तः आनन्दाश्रुधारा मुञ्चन्तीति। एवमत्र इवेति परमगुह्यत्वात् स्वयमप्रकाश्यमपि प्रेमपारवश्येन तद्विकारसम्वरणाशक्तेः सूचयन्त इवेत्यर्थः। ईदृशानाञ्च श्लोकानां दिनदुःखनिस्तारोपाय-हेतुत्वाद्धर्ष एव कल्पनीयः, न तु पूर्ववन्निजाभाग्यादिदुःखम्; यथोक्तं तदध्यायशेषे (श्रीमद्भा. १०/३५/२६)—*"एवं व्रजस्त्रियो राजन्! कृष्णलीलानुगायतीः। रेमिरेऽहःसु तच्चित्तास्तन्मनस्का महोदयाः॥"* इति। अस्यार्थः—एवं विरहदुःखेनापि नु अहो! कृष्णलीला एव गायन्त्यः तस्मिन्चित्तं चेतना यासां ताः, तस्मिन्नेव मनःसङ्कल्परूपं यासां ताः, अतएव महानुदय उत्सवो यासां ताः, अहःस्वपि रेमिरे सुखिन्यो बभूवुरिति। ततश्च तदध्यायस्यैवारम्भे (श्रीमद्भा. १०/३५/१)—*"गोप्यः कृष्णे वनं याते तमनुद्रुतचेतसः। कृष्णलीलाः प्रगायन्त्यो निन्युर्दुःखेन वासरान्॥"* इत्यत्र दुःखेन विरह-पीड़या विशिष्टानपि वासरान् निन्युः, सुखेन गमयामासुरित्यर्थः। यदि च तासां प्रेमपरिपाक-स्वभावदृष्ट्या दुःखेन कृच्छ्रेणेव निन्युरित्यर्थः। ततश्च यस्य वेणुनादश्रवणेन लतादीनामीदृशो भावः, तस्य विरहं वयं कथं सहाम इति सर्वत्र वाक्यशेषः स्वामि-टीकानुसारेण कल्पनीयः। ततश्च *"एवं व्रजस्त्रियः"* (श्रीमद्भा. १०/३५/२६) इति श्लोकस्यायमर्थः—कृष्णस्य परमानन्दघनमूर्त्तेर्लीलास्तत्सदृशीरेव प्रगायन्त्योऽपि रेमिरे। किं काकूक्त्या? नैव। तत्र हेतुः—महानुदयः प्रेमाविर्भावो यासाम्; यद्वा, महशब्देन भद्रमङ्गलादिवद्विपरीतलक्षणया प्रेम, तस्य उदयो यासु, तत्प्रेमाग्निदग्धानां सुखलेशस्यापि कथमप्युदयासम्भवात्; अन्यत् समानमिति॥११२॥

भावानुवाद—अब मेघ आदिसे भी अधिक सचेतन वृक्ष-लता आदिके माहात्म्यका वर्णन कर रहे हैं। व्रजमें दिनके समय विरहरूपी

दुःख-सागरमें निमग्न गोपियोंको उस दुःख-सागरसे पार करनेके लिए दिनके समय होनेवाले श्रीभगवान्‌के वन-विहार सूचक गीत गानेवाली गोपियोंमेंसे कोई गोपी (श्रीमद्भा. १०/३५/९) 'वनलता' इत्यादि श्लोक कह रहीं हैं। पूर्व श्लोक (श्रीमद्भा. १०/३५/८) में जो कहा गया है, उसके साथ अब इस श्लोकका अर्थ इस प्रकार होगा—श्रीगोवर्द्धनकी तलहटीमें विचरण कर रही गायोंको जब श्रीकृष्ण वेणुध्वनि द्वारा आह्वान करते हैं, तब श्रीकृष्णकी उस वेणुध्वनिके श्रवणसे उत्पन्न प्रेमवशतः श्रीवृन्दावनकी लताएँ आनन्दके अश्रुकी धाराके रूपमें मधुकी धारा वर्षण करने लगती हैं। यहाँपर 'स्म' शब्दका विस्मयके अर्थमें प्रयोग हुआ है। लताएँ उस आनन्दको कैसे व्यक्त करतीं हैं? विष्णु अर्थात् विविध रूपमें व्यापक अथवा सर्वत्र वर्त्तमान होनेपर भी भक्तिके वशीभूत होकर उन वृक्ष-लताओंके अन्दर और बाहर श्रीनन्दकिशोरके रूपमें सर्वदा स्थित हैं, उन्हें अपनी परम सम्पत्तिकी भाँति अत्यन्त रहस्यवशतः हृदयमें यत्नपूर्वक रक्षा करनेपर भी प्रेमकी विवशतासे उस आनन्दको व्यक्त कर रही हैं। यहाँपर तीन पदों द्वारा उनके लक्षण विशेष रूपमें निर्देश कर रहे हैं। 'पुष्पफलाढ्या'—इन लताओंने पुष्प-फल आदिके रूपमें बाहरसे अक्षय सम्पत्तिको प्राप्त किया है, अतएव 'प्रणत'—प्रणाम करनेके लिए ही मानो अपनी शाखाओंको झुका दिया है। अर्थात् विनय-लक्षणसे युक्त प्रणाम द्वारा धर्म-ज्ञान आदिके कारण उनके गुण और भावरूप सम्पत्ति सूचित हो रही है। 'प्रेम'—हृदयके द्रवीभूत होनेके कारण स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीरोंसे सम्बन्धित हर्ष-विकाररूप परमभक्तिकी सम्पत्तिसे युक्त हैं, इसलिए मधु-धाराके रूपमें अश्रु वर्षण कर रही हैं। अहो! इन लताओं सहित उनके पति वृक्ष भी इसी प्रकार दिखायी दे रहे हैं। लताओंकी प्राधानता (अधिकता) के कारण सर्वप्रथम लताओंका परिचय दिया है, अथवा स्त्रीके अभिप्रायसे अपने जैसा जानकर गोपियोंने पहले लताओंका निर्देश किया है।

तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्णकी भक्त ये लताएँ, पुष्पके समान रूप, जाति, धन और ऐश्वर्य आदिसे सम्पन्न हैं तथा फलके समान पुत्र आदि द्वारा युक्त हैं। अथवा 'पुष्प' के समान बहुत अर्थवादवाले

वेदोंका अध्ययन और उसमें कहे गये कर्मका आचरण आदि और 'फल' अर्थात् ऐहिक और पारलौकिक भोगोंके सुखसे सम्पन्न होनेपर भी नम्रता सहित प्रणामरूप विनय-लज्जा आदि गुणोंसे सुशोभित हैं। शाखारूप परिवारसे युक्त होकर 'माताके उपपतिकी भाँति' सदैव श्रीविष्णुको गोपन करनेपर भी सदा भीतर और बाहर समस्त इन्द्रियोंमें व्याप्त होनेके कारण उन लताओंके द्वारा देदीप्यमान भगवान्‌को संगोपन करना असम्भव हो जाता है। अर्थात् उनके गीतको श्रवण करनेमात्रसे ही प्रेमराशिके उदित होनेसे स्वेद-कम्प-पुलक आदि विकारोंसे युक्त शरीरवाली होकर वे लताएँ आनन्दके अश्रुकी धारा प्रवाहितकर उन्हें प्रकाशित कर देती हैं। मूल श्लोकके 'इव' शब्दसे यह सूचित हो रहा है कि परम गोपनीयताके कारण श्रीविष्णुको स्वयं प्रकाशित न करनेपर भी प्रेमके वशीभूत होकर उन विकारोंको सम्वरण करनेमें असमर्थ हो गयीं हैं।

इस प्रकारके श्लोकोंमें व्रजदेवियोंको दिनके समय हुए दुःखका नाश करनेवाला हर्ष ही सूचित हो रहा है, किन्तु यहाँ उन्हें पूर्वकी भाँति अपना अभाग्य आदि रूप दुःख नहीं है। जैसा कि अध्यायके अन्तमें (श्रीमद्भा. १०/३५/२६) कहा गया है—"(श्रीशुकदेवने कहा) इस प्रकार विरह दुःखमें भी कृष्णलीलाका गान करते-करते गोपियोंका चित्त और मन श्रीकृष्णमें ही समर्पित रहता, तथा महा-भाग्यवती गोपियाँ दिनमें भी श्रीकृष्णके साथ विहार करतीं।" तात्पर्य यह है कि इस प्रकारके विरह-दुःखमें भी व्रजगोपियाँ श्रीकृष्णकी लीलाओंका गान करते-करते ही दिन बिताया करती थीं, क्योंकि उनके मनका संकल्प तथा चित्तकी गति अर्थात् चेतना श्रीकृष्ण ही हैं। अतएव वे गोपियाँ श्रीकृष्णलीलाका गान करती हुईं दिनमें भी श्रीकृष्णके साथ विहारकर परम सुखी होती थीं। इसलिए अध्यायके आरम्भ (श्रीमद्भा. १०/३५/१) में भी कहा गया है—"व्रजाङ्गनाओंका रात्रिका समय श्रीकृष्णके साथ मिलनमें अत्यधिक सुखपूर्वक व्यतीत होता था, किन्तु दिनके समय श्रीकृष्णके वनमें जानेपर व्रजाङ्गनाओंका चित्त भी उनके पीछे-पीछे चल देता था। इसलिए वे श्रीकृष्णकी अनेक प्रकारकी लीलाओंका गान करके

अत्यधिक कष्टपूर्वक दिन बिताया करती थीं।" यहाँपर 'दुःखेन' पदसे वे गोपियाँ विरहकी पीड़ासे दुःखमय दिन भी अति सुखपूर्वक बिताया करती थीं—ऐसा समझना होगा।

यदि अपने परिपक्व प्रेमके स्वभावकी दृष्टिसे गोपियोंने अतिकष्टसे दिन बिताया था—ऐसा अर्थ हो, तब जिनकी वेणुध्वनिको श्रवण करके लता आदिमें भी ऐसा भाव उदित होता है, तो फिर इन व्रजदेवियोंको श्रीकृष्णका विरह किस प्रकार सहन होगा? इत्यादि रूपमें वाक्यका अन्त होनेकी सम्भावना होती है। किन्तु श्रीधरस्वामीपादकी टीकानुसार उनकी वह विरहदशा भी सुखकी अनुभूतिमें ही पर्यवसित हुई थी—इस रूपमें ग्रहण करना होगा। तब पूर्व उद्धृत श्लोक (श्रीमद्भा. १०/३५/२६) की व्याख्या इस प्रकार होगी—श्रीकृष्ण जिस प्रकार परमानन्दकी घनमूर्त्ति हैं, उनकी लीला भी उसी प्रकार परमानन्दघन स्वभावसे युक्त है, अतएव उस लीलाका भलीभाँति गान करनेसे सभी सुखी हो जाते हैं। किन्तु इसी कारणसे ही क्या व्रजाङ्गनाएँ उन लीलाओंका गान करके सुखी होती हैं? कभी नहीं, क्योंकि जिनका प्रेम सदैव महान रूपसे उदित अर्थात् आविर्भूत होता है, अथवा 'मह' शब्दका अर्थ है कि भद्रा और मङ्गला नामकी गोपियोंकी भाँति विपरीत लक्षणयुक्त प्रेम जिन गोपियोंमें उदित होता है, उस प्रेमकी अग्निसे दग्ध गोपियोंमें सुखका लेशमात्र भी उदय होनेकी असम्भावना किस प्रकारसे की जा सकती है?॥११२॥

एतेऽलिनस्तव यशोऽखिललोकतीर्थं,
गायन्त आदिपुरुषानुपथं भजन्ते।
प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्या,
गूढं वनेऽपि न जहत्यनघात्मदैवम्॥११३॥

श्लोकानुवाद—"हे अनघ! हे आदिपुरुष! ये सब भ्रमर समस्त लोकोंको पावन करनेवाले आपके सुयशका गान करते-करते आपके पीछे-पीछे चल रहे हैं, निश्चय ही ये आपके श्रेष्ठभक्त मुनिगण ही होंगे। यद्यपि आप वनमें गूढ़ रूपसे बाल्यलीलामें निमग्न हैं, तथापि

इन्होंने आपको पहचान लिया है, इसलिए अपने आराध्यदेव आपके सङ्गका वनमें भी परित्याग नहीं कर रहे हैं॥"११३॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं स्थावरेभ्यः श्रेष्ठानां जङ्गमानां मध्ये प्रथमं कीटानां माहात्म्यं पूर्ववद्भगवान् बलराम आह—'एते अलिनः' (श्रीमद्भा. १०/१५/६) इति। भ्रमरा इमे अनुपथं पथि पथि भजन्ते अनुसरन्ति त्वाम्। किं कुर्वन्तः? तव यशो गायन्तः। यद्वा, अनुपथं गायन्तो भजन्त इति योज्यम्। सर्वत्रैव यशोगानलक्षणं भजनं कुर्वन्तीत्यर्थः। कीदृशम्? अखिलं सम्पूर्णं लोकानां भुवनानां जनानां वा जीवानां तीर्थं सर्वलोकपावित्र्याप्यायनकराशेषतीर्थस्वरूपमित्यर्थः। यद्वा, अधिकारानपेक्षया सर्वेषामपि लोकानां तीर्थं संसारतारकं भगवद्भक्तिमहिमज्ञानप्रदायक-गुरुरूपं वा। अविवक्षितत्वात् सन्ध्यभावः; अमी मुनिगणा एव। तत्र च नात्मारामाः; किन्तु भवदीया भवद्भक्ताः, तेष्वपि मुख्या, यतो वने वन्यवेशेन गूढ़मपि निजेष्टदेवं त्वां न त्यजन्ति। स्वयमप्यलिवेशेन निगूढ़ाः सन्तो गीतप्रियं त्वां गीतगानेन भजन्तीत्यर्थः। हे आदिपुरुषेति, तवादिपुरुषत्वादेतेऽपि आदिसेवकाः, अतएव त्वल्लीलानुसारेण सर्वदा त्वां भजन्ति। तथा हे अनघ! सर्वदोषरहित! सर्वापराधाग्राहक! सर्वदुःखविमोचकेति वेत्यनेन त्यागानर्हतया अनवसरे भजने चापराधभयाभावेनशेषदुःखविमोचकत्वेन च कदाचिदपि त्वां न त्यजन्तीति युक्तमेवेति भावः। प्राय इति बाहुल्ये। मुनिगणैः समं गूढ़मित्यनेन वा न जहातीत्यनेन वा योज्यम्। तेन च कदाचित् कस्यचित् प्रेम-विशेषोदयेन गानादिविरामाद्भक्तवरमुनिगणेभ्योऽपि श्रेष्ठ्यम्। कदाचित् पारमैश्वर्यप्रकटनं वा, रात्र्यादौ विच्छेदो वा सूच्यते। यद्वा, प्राय इति वितर्के। ततश्चैतदुक्तं भवति—यथा परमवैष्णवा मुनयो वेदवने निगूढ़मपि दुर्बोधलीलत्व-दुर्लभत्वादिनापि हेतुना त्वां न त्यजन्ति, किन्तु कर्म-ज्ञानादि-मार्गेषु वर्त्तमाना अपि तत्र तत्र सारभूतं त्वद्यश एव परमसेव्यत्वेन गायन्तोऽन्तर्यामिरूपेण सर्वजीवपूज्यतम-परमेश्वररूपेण च प्रकाशमानं त्वां भजन्ते, साक्षादिव पश्यन्ति। किंवा सर्वपरित्यागेन केवलं प्रेम्णा सेवन्ते, तथैवैते अलिनोऽपि; अतो नूनं तत्र रेमे॥११३॥

भावानुवाद—अब स्थावर (अचर) से भी श्रेष्ठ जङ्गम (चर) प्राणियों तथा उन जङ्गमों (चर) में सर्वप्रथम सभी कीटोंके माहात्म्यका वर्णन भगवान् श्रीकृष्ण पहलेकी भाँति ही अपने अग्रज श्रीबलरामको लक्ष्य करके (श्रीमद्भा. १०/१५/६) 'एत अलिनः' इत्यादि श्लोक द्वारा कर रहे हैं। ये भ्रमर गुञ्जारके छलसे समस्त जगत्को पावन करनेवाले आपके यशका गान करते-करते सभी स्थानोंपर आपका अनुगमन कर रहे हैं। अथवा निरन्तर आपका सुयश गानरूपी भजन करनेके लिए सर्वत्र ही आपके साथ-साथ चल रहे हैं। वह भ्रमर कैसे

है? समस्त लोकोंके निवासियों या जीवोंको पवित्र करनेवाले, परम सुखदायक और सम्पूर्ण तीर्थस्वरूप हैं। अथवा अधिकारी-अनधिकारी सभी लोगोंके लिए ही तीर्थस्वरूप तथा संसारसे उद्धार करनेवाली भगवद्भक्तिकी महिमाका ज्ञान प्रदान करनेवाले गुरुस्वरूप है। इसलिए ये वनमें रहकर निरन्तर आपके यशका गान कर रहे हैं, अर्थात् श्रीनारद आदिके समान आपके यशके गान द्वारा परम रहस्यमयी लीलाओंको ही ढूँढ़ रहे हैं। अतएव ऐसा लगता है कि ये भ्रमर और कोई नहीं अपितु मुनि ही होंगे। अथवा आत्माराम मुनि नहीं, अपितु भक्त ही होंगे। अर्थात् आपकी अनन्त मूर्त्तियोंमेंसे आपके पूर्णस्वरूप मूल सङ्कर्षणमूर्त्तिके उपासक ही मुख्य भक्त है तथा श्रेष्ठ रूपसे मनन करनेके कारण आपके भजन करनेका निश्चय करके सर्वत्र मौन धारण करनेके कारण मुनि है। आपके द्वारा वन्यवेशमें गुप्त रूपसे रहनेपर भी इन्होंने अपने इष्टदेव आपको पहचान लिया है, इसलिए ये आपका परित्याग नहीं कर रहे हैं। तथा स्वयं भी भ्रमरके वेशमें अपनेको छिपाकर गीतप्रिय आपका गीत-गान द्वारा भजन कर रहे हैं। हे आदिपुरुष! आप जिस प्रकार आदिपुरुष हैं, उसी प्रकार ये भी आपके आदि सेवक हैं। अतएव आपकी लीलाके अनुसार सदैव आपका भजन कर रहे हैं। हे अनघ (निष्पाप)! हे सर्वदोषरहित! हे समस्त प्रकारके अपराधोंको ग्रहण न करनेवाले! हे सर्वदुःख विमोचक! आप सभीके समस्त प्रकारके दुःखोंको दूर करके प्रेमदान करते हैं, इसलिए ये आपका त्याग करनेमें असमर्थ हैं, अर्थात् असमयमें आपका भजन करनेमें भी अपराध-भय आदिके अभावसे सम्पूर्ण दुःखका विमोचन हो जाता है, इसलिए ये कभी भी आपका त्याग नहीं करते हैं—यह युक्तियुक्त ही है।

'प्रायः' शब्द अधिकताके अर्थमें व्यवहृत हुआ है। यहाँ 'मुनिगण' के साथमें 'गूढ़ रूपमें' और 'आपको त्याग नहीं देते हैं' इन शब्दोंको जोड़ना होगा। यद्यपि किसी समय किसी भ्रमरमें विशेष प्रेमके उदय होनेसे उसके द्वारा गान आदिमें विराम भी होता है, तथापि ये भ्रमर भक्तवर मुनियोंसे भी श्रेष्ठ हैं। अथवा किसी समय परम ऐश्वर्य प्रकट होनेके कारण या रात्रिकालवशतः विच्छेद होना सूचित हो रहा है

अर्थात् प्रायः आपका त्याग नहीं करते हैं। अथवा 'प्रायः' शब्द वितर्कसे व्यवहार करनेपर अर्थ होगा कि परम वैष्णव मुनिगण वेदरूपी वनमें आपके निगूढ़ रूपसे होनेपर भी अर्थात् आपकी दुर्बोध लीला और आपकी दुर्लभता होनेपर भी आपको त्याग नहीं करते हैं। अथवा कर्म-ज्ञान आदि मार्गपर वर्त्तमान रहनेपर भी उन-उन मार्गोंके सारस्वरूप आपके यशको ही परम सेव्य-स्वरूपमें गान करते-करते अन्तर्यामी रूपसे तथा सभी जीवोंके पूज्य परमेश्वर रूपमें प्रकाशमान आपका भजन अर्थात् साक्षातकी भाँति ही दर्शन करते हैं। अथवा जिस प्रकार वैष्णवमुनि सबकुछ परित्याग करके केवल प्रेम द्वारा ही आपकी सेवा करते हैं, उसी प्रकार सभी भ्रमर भी आपकी सेवा कर रहे हैं॥११३॥

सरसि सारसहंसविहङ्गाश्चारुगीतहृतचेतस एत्य।
हरिमुपासत ते यतचित्ता हन्त मीलितदृशो धृतमौनाः॥११४॥

श्लोकानुवाद—"कैसा आश्चर्य है! सरोवरमें रहनेवाले सारस, हंस और अन्यान्य सभी पक्षी श्रीकृष्णके मनोहर वेणुगीतके श्रवणसे आकृष्ट होकर उनके निकट आकर संयतचित्तसे दोनों नेत्रोंको बन्दकर मौन धारणकर श्रीहरिकी उपासना कर रहे हैं॥"११४॥

दिग्दर्शिनी टीका—अधुना कीटेभ्यः श्रेष्ठानां पक्षिणां, तत्रापि जलचारिणां सदा समीपवर्तिता-राहित्यादादौ माहात्म्यम्। पूर्ववद् दिवाविरहदुःखशान्तये भगवल्लीलां गायन्तीनां गोपीनां काश्चिदाहुः—सरसीति (श्रीमद्भा. १०/३५/११)। भोः सख्यः दूरतरे मृष्ट-जलकमलवनादिविचित्र-मनोहर-भोगसामग्रीयुते सरसि स्थिताः ते निरन्तर-विहारपराः, संख्यातीताः सारसा हंसाश्च, अन्येऽपि विहङ्गाः जलपक्षिणः श्रीकृष्ण-वेणोश्चारुणा गीतेन हृतचेतसः सन्तः प्रथमं मोहेनेतस्ततो भ्रमन्तः पश्चात्तस्मिन्नेव सरसि एत्य आगत्य हरिमुपासत अभजन्त। उपासनालक्षणान्याहुः—'यतचित्ता' इत्यादिना; पदत्रयेणान्यविषयकमानसिक-कायिक-वाचिकाखिलव्यापारोपरमेण तदेकनिष्ठता बोध्यते। तत्र दृग्भ्यां सर्वाङ्गाणामुपलक्षणम्। धृतमौना इत्यनेन च वागिन्द्रिय-नियमेनान्येषामपीन्द्रियाणां नियमनं ज्ञेयम्, वागिन्द्रियेण सर्वेन्द्रियाणामुपलक्षणात्। यद्वा, तत आगत्य हरिं स्वमनोहरमुप तत्समीपे आसत उपविविशुः। ततश्च ते परमानन्दं प्राप्ता इति वदन्त्यस्तल्लक्षणानि निर्दिदिशुः—यतेति। हन्तेति हर्षे विस्मये वा। यद्वा, विषादे च ततश्चायमर्थः—हृतचेतस्त्वेनागत्य तत्समीपवर्त्तिनः सन्तः

शान्तिसुखेन यतचित्तादयो बभूवुः। किम्? काकूक्त्यापि तु नैव, किन्तु अन्तर्बहिर्विकार-जातैर्विपरीता एवाभवन्निति व्याख्येयम्। यद्वा, मीलितदृश इत्यत्रैव काकुः। अनयोरकार-विश्लेषः; ततश्च ते तदुपासनजनित-विचित्रमनोविकारैरसंयतचित्तास्तद्रूपदर्शना-शक्त्याऽमीलितदृशः सहजनिमेषरहिता दृष्टयः, अधृतमौनाश्च नामसंकीर्त्तनादिपरा धैर्यादिहान्य जाता इत्यर्थः। अथवा किं कल्पनागौरवेन? उपासनानन्तरञ्च ते प्रेममूर्च्छां प्रापुरित्यभिप्रेत्य तल्लक्षणानि निर्दिशति—यतेत्यादिना, यतचित्ता लीनान्तःकरणाः; अत्रेदं तात्पर्यमूह्यम्—भिन्नजातीयानां, तत्र चाकाशचारिणां, तत्रापि पुंसां, तत्रापि च दूरसरोविहारादि-पराणामीदृशमाकर्षणं बलात् तत्-सङ्गमापादकं तद्वेणुगीतम्, अपि च परमप्रेमाविर्भावकं सहजधैर्य-शान्ति-हारकं विचित्रविकारविस्तारकं परममोहनञ्च तदीयोपासनं जातं, सदा गोपीनां तदेकगतीनामस्माकं किं नाम निर्वक्तुं शक्यमिति॥११४॥

भावानुवाद—अब कीटोंसे भी श्रेष्ठ पक्षियोंका, विशेष करके सदैव श्रीकृष्णके निकट नहीं रहनेके कारण सर्वप्रथम जलचर पक्षियोंका माहात्म्य वर्णन कर रहे हैं। तथा पूर्ववत् दिनके समयमें अनुभव हो रहे विरह-दुःखकी शान्तिके लिए भगवान्की लीलाके गानमें रत गोपियोंमेंसे कोई गोपी (श्रीमद्भा. १०/३५/११) 'सरसि' इत्यादि श्लोक कह रही हैं। हे सखियो! स्वच्छ जलकमलके वन आदि विचित्र मनोहर भोग सामग्रीसे युक्त वे सरोवर दूरमें हैं, किन्तु उनमें निरन्तर विहार करनेवाले असंख्य सारस, हंस तथा अन्यान्य जलचर पक्षी श्रीकृष्णकी वेणुके मनोहर गीतको श्रवण करके प्रसन्नचित्त हो जाते हैं। इसके फलस्वरूप वे सर्वप्रथम मोहित होकर इधर-उधर भ्रमण करते हैं और फिर उस सरोवरमें ही आकर हरिकी उपासना करने लगते हैं। उपासनाका लक्षण 'यतचित्ता' इत्यादि पदों द्वारा बतला रहे हैं। 'यतचित्त' 'मीलितदृश', 'धृतमौना', इन तीन पदों द्वारा अन्य विषयोंके प्रति क्रमशः मानसिक, कायिक और वाचिक सभी क्रियाओंको त्यागकर केवल श्रीकृष्णमें एकाग्रचित्त होना समझना होगा। वेणुगीतके श्रवणसे वे 'यतचित्त' हो गये हैं, अर्थात् उनके मनः संयमित हो गये। 'मीलितदृश'—उन्होंने अपने नेत्र आदि अङ्गोंको संयमित कर लिया है। यहाँ नेत्रोंके उपलक्षणसे सभी अङ्गोंके कार्योंको विराम दे दिया है—समझना होगा। 'धृतमौन'—वाक् इन्द्रिय (वाणी) को नियमित करने अर्थात् मौन धारण करनेके उपलक्षणसे अन्य सभी इन्द्रियोंको भी नियमित करना समझना होगा। अथवा श्रीहरि सर्वमनोहर हैं, इसलिए

चारों ओरसे सभी पक्षी उस सरोवरमें श्रीहरिके समीप आकर उनसे मिलकर परमानन्दित होते हैं।

'हन्त' शब्दका प्रयोग प्रसन्नता अथवा अपने अभीष्टकी प्राप्तिके कारण विस्मयके अर्थमें हुआ है। अथवा विषादमें प्रयोग होनेसे अर्थ होगा कि श्रीकृष्णकी वेणुध्वनि श्रवण करके हरण किये गये चित्तवाले होकर उनके निकट आकर सुख और शान्तिसे संयमितचित्त हो गये। ऐसा किस प्रकार कहा जा सकता है? वे 'का-कू' इत्यादि शब्द भी नहीं कर रहे हैं, क्योंकि उनके भीतर और बाहरके विकारोंसे उत्पन्न लक्षणोंकी विपरीत व्याख्यासे ही ऐसा प्रतीत हो रहा है। अथवा दोनों नत्रोंको मूँदनेके कारण शब्दरहित हो गये हैं। अथवा श्रीकृष्णके समीप रहनेके कारण मनमें विचित्र विकारोंके उदित होनेसे असंयमित चित्त होकर अर्थात् प्रमत्तचित्तसे दोनों नेत्रोंको मूँदनेकी असमर्थताके कारण स्वाभाविक रूपमें पलकोंको झपकाये बिना ही अर्थात् नेत्रोंको पूर्णता खोलकर श्रीकृष्णके सौन्दर्य-सिन्धुका पान कर रहे हैं तथा नेत्ररूपी (मदिराके) पात्रको भरकर अश्रुओंके छलसे उस सौन्दर्य-सिन्धुको उगल रहे हैं, किन्तु तथापि पान करना त्याग नहीं रहे हैं। अथवा 'अधृतमौना' अर्थात् मौन न रहकर उच्च स्वरसे अपने स्वजातीय पक्षियोंका आह्वान करके एकत्रित होकर उन सर्वाकर्षक तथा सबके चित्तको आनन्दित करनेवाले 'कृष्ण' 'कृष्ण' नामका कीर्त्तन करते हुए धैर्य आदिसे रहित हो रहे हैं। अथवा इतनी कल्पना करनेकी क्या आवश्यकता है? उपासनाके उपरान्त वे प्रेम-मूर्च्छाको प्राप्त करते हैं—इसके लक्षणको निर्देश करनेके लिए 'यत' इत्यादि कह रहे हैं। 'यतचित्त' अर्थात् अन्तकरणमें लीन होना, प्रफुल्लित नेत्र, मौन-धारण इत्यादि प्रेम-मूर्च्छाके ही चिह्न हैं।

तात्पर्य यह है कि वे सभी पक्षी स्वभावतः ही विजातीय हैं, उसपर भी आकाशमें विचरण करनेवाले हैं, उसपर भी पुरुष जाति हैं तथा उसपर भी दूरस्थित सरोवरमें विहार करते हैं, तथापि श्रीकृष्णकी वेणुका मनोहर गीत उन्हें बलपूर्वक आकर्षण करके श्रीकृष्णसे मिलन कराता हैं। तथा परमप्रेमको आविर्भाव करानेवाला, सहज ही धैर्य-शान्तिको हरनेवाला और विविध प्रकारके विकारोंका

विस्तार करनेवाला श्रीकृष्णका परममनोहररूप उन जलचर पक्षियोंको उनकी उपासनामें नियुक्त कर देता है। हाय! श्रीकृष्ण ही सदा जिनकी एकमात्र गति (जीवन) है, हम जैसी उन गोपियोंकी क्या दशा होगी, उसे कौन कह सकता है?॥११४॥

प्रायो बताम्ब मुनयो विहगा वनेऽस्मिन्,
कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम्।
आरुह्य ये द्रुमभुजान् रुचिरप्रवालान्,
शृण्वन्ति मीलितदृशो विगतान्यवाचः॥११५॥

श्लोकानुवाद—"अरी माँ! श्रीवृन्दावनमें जितने भी पक्षी वास करते हैं, उनमेंसे अधिकांशतः सभी भगवद्भक्त मुनि हैं। देखो! जिस प्रकार श्रीकृष्णके दर्शन हों, ये उसी प्रकार वृक्षोंकी नई और मनोहर पत्तोंसे सुशोभित शाखाओंपर बैठकर अन्य सब विषयोंसे विमुख होकर नेत्र मूँदकर केवलमात्र श्रीकृष्णकी मोहन मुरली-ध्वनिको श्रवण कर रहे हैं॥"११५॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथ तेभ्योऽपि विशिष्टं भगवच्छत्रायमाणवृक्षादिचारिणां पक्षिणां माहात्म्यं पूर्ववद्वेणुनादश्रवणमोहिताः काश्चिद्गोप्योऽवदन्—प्रायो बताम्बेति (श्रीमद्भा. १०/२१/१४) परममोहेन धैर्यहान्या श्रीयशोदामेव काञ्चिदन्यां वा निजसखीमेव सम्बोधयति-हे अम्बेति। वतेति हर्षे। अस्मिन् वने श्रीवृन्दावनाख्ये ये विहगास्ते सर्वेऽपि मुनयो भगवद्धर्मपराः परमर्षय एव ज्ञायन्ताम्, प्रायो बाहुल्ये, तेन च मुनिभ्योऽपि श्रेष्ठाः। केचिदिति पूर्वोक्तवद्बोद्धव्यम्, क्वचित् प्रायेण ते इति पाठः; अर्थः स एव। तन्मुनित्वे हेतुः—तदनिर्वचनीयमुदितमाविर्भूतं कलवेणुगीतं मधुरास्फुट-ध्वनिर्वेणोर्गीतं श्रीवृन्दावन-गो-गोप-गोपीगणगाथादिरूपं ये शृण्वन्ति। कथम्भूतम्? कृष्णेन ईक्षितं दृष्टं स्वयमेवोत्प्रेक्षितं, पूर्वं तादृशाभावात्। यद्वा, कृष्णेक्षितं कृष्ण-कर्त्तृकं स्वविषयकं स्वकर्त्तृककृष्णविषयकं वा दर्शनं यथा स्यात्तथा। द्रुमाणां भुजानारुह्य कृष्णस्यात्मनश्चान्तराले पत्रपल्लवादिकं दर्शनव्यवधायकं यत्र न वर्त्तते च, पत्र-पुष्प-फलभक्षणादि-स्वस्वव्यापार-परिहारादिप्रकारेण तद्दर्शनं सम्पद्यते। तद्यथा (तत्र यथा) वृक्षाणां शाखा अधिरूढ़ाः सन्त इत्यर्थः। तेन श्रीकृष्णेन उदितं प्रकटितम्; किंवा स कृष्ण उदितो भवति यस्मात्, वृक्षलताद्यावृतस्यापि तस्य विज्ञापकमित्यर्थः। रुचिराः प्रवाला नवपल्लवानि येषां तानपीति दर्शनव्यवधानसम्भवे सुखभोगसम्पत्तौ च हेतुः। ततश्च केनाप्यनिर्वचनीयेनानन्देन मीलितदृशस्तथा त्यक्त-

कृष्णकृष्णेतिव्यतिरिक्तान्यवाचश्च ये भवन्ति; श्रीकृष्णपरा हि मुनयः, श्रीकृष्णदर्शनं यथा स्यात्तथा रुचिरप्रवालस्थानीयविचित्रसत्कर्मप्रकाशक-वेदद्रुमशाखारूढ़ाः, यैर्वेदैर्येन च प्रकारेण श्रीकृष्णसाक्षात्कारो भवति, तानेवाधीयमानास्तेनैव सर्वकर्मफलार्पणादिना प्रकारेण वेदोक्तकर्माणि स्वीकुर्वन्तः, किंवा वेदानधीयाना अपि तदर्थानभिमृशन्तोऽपि तदुक्तकर्माण्यारम्भतोऽपि श्रीकृष्णदर्शनाय परममनोरमं तद्गीतमेव शृण्वन्ति, न तु वेदाध्ययनादिष्वासज्जन्ते (ष्वारज्यन्त), ततश्च हृदयमध्य एव तं स्फुटं पश्यन्तः परमानन्देन मीलितदृशः केवलतन्नामसंकीर्त्तनपरा भवन्तीति। अथवा, ये भगवत्परा मुनयस्तेऽस्मिन् वने विहगाः सन्तो वेणुगीतं शृण्वन्ति; किंवा स्वामिव्याख्यानुसर्तव्या। मुनय आत्मारामाः सर्वेऽपि विहगा एव भवितुमर्हन्ति; ततश्च प्राय इति कथञ्चित् कश्चिद्दैवहतो मायामोहितो न भवत्वेवेत्यर्थः। यतस्तेषां यदभिमतं, ततोऽधिकतरमप्यत्र सुखेन संसिध्यतीत्यभिप्रेत्याहुः—कृष्णेत्यादि। अन्यं (अन्यत्) यथापूर्वमुन्नेयम्। अथवा, वृन्दावनान्तर-वर्त्तिनां कीटविशेषाणामलीनामपि भगवद्भक्तिमुख्य-मुनित्वापेक्षया (भगवद्भक्ताख्य-मुनित्वोत्प्रेक्षया) तेभ्यः श्रेष्ठानां पक्षिणां श्रैष्ठ्यमेव युज्यत इत्येवं व्याख्येयम्। अस्मिन् वने ये विहगास्ते मुनय इव मुनयः वृन्दावनान्तर्वासादिसादृश्येन भवन्ति; किं काक्वा? नैव; तत्रहेतुमाह—कृष्ण इत्यादि। अन्यत् समानम्। वत-शब्दस्य खेदार्थमङ्गीकृत्यास्य श्लोकस्य तात्पर्यं कल्पनीयमिदम्; अहो कष्टं, धिगस्मान् श्रीकृष्णैकपरताविहीनाः; यतो वने गतस्य सतः श्रीकृष्णस्य दर्शनं तद्वेणुगीतश्रवणञ्च सर्वपरित्यागेन द्रुमशाखास्वधिरुह्य कर्तुं न शक्नुमः, न च तद्दर्शनाभावेन मीलितदृशो भवामः, नापि विगतान्यवाच इति॥११५॥

भावानुवाद—अब जलचर पक्षियोंसे भी श्रेष्ठ तथा श्रीभगवान्के छत्रस्वरूप वृक्ष आदिपर विचरण करनेवाले पक्षियोंका माहात्म्य पूर्वकी भाँति वेणुध्वनिके श्रवणसे विमोहित गोपियोंमेंसे कोई एक गोपी (श्रीमद्भा. १०/२१/१४) 'प्रायो वताम्ब' इत्यादि श्लोक द्वारा कह रही हैं। अत्यधिक मोहवशतः धैर्यहीन होकर श्रीयशोदाजीको सम्बोधन करके, अथवा अपनी सखीको सम्बोधन करके कह रही हैं—हे मातः! (हर्ष, विस्मय, भय इत्यादिके समय स्त्रियाँ प्रायः 'माँ' 'हाय माँ' इत्यादि सम्बोधन करती हैं। इसलिए उन गोपियोंमें मातृ सम्बोधनके उपयुक्त कोई नहीं होनेपर भी 'वताम्ब' पदका 'वत' शब्द हर्षके अर्थमें होनेसे इस प्रकारका सम्बोधन समझना होगा।) इस श्रीवृन्दावनमें जो पक्षी वास करते हैं, उनमेंसे प्रायः सभी भगवद्धर्ममें अनुरक्त परम ऋषि हैं। 'प्रायः' शब्दका प्रयोग बाहुल्यके अर्थमें हुआ है, अर्थात् वे साधारण मुनियोंसे भी श्रेष्ठ परम ऋषि हैं।

उन्हें मुनि कहनेका कारण यह है कि वे श्रीकृष्णकी वेणुसे आविर्भूत अनिर्वचनीय मधुर अस्फुट ध्वनि तथा श्रीवृन्दावनके गो-गोप और गोपियोंकी कथा आदि श्रवण करते हैं। किस प्रकार श्रवण करते हैं? श्रीकृष्ण द्वारा प्रदानकी गयी दृष्टिसे (जिसको पहले कभी भी प्राप्त नहीं किया)। ये पक्षी जब दूरसे श्रीकृष्णकी वेणुध्वनि श्रवण करते हैं, तब अपने-अपने घोंसलोंको छोड़कर श्रीकृष्णके निकट उपस्थित हो जाते हैं। अथवा श्रीकृष्ण द्वारा की गयी व्यवस्थाके अनुसार अथवा स्वयं अपने द्वारा की गयी व्यवस्थाके अनुसार वे श्रीकृष्णके दर्शनमें बाधाशून्य नये-नये पत्तोंसे युक्त वृक्षोंकी शाखाओंपर इस प्रकारसे बैठते हैं, जिससे वृक्षके पत्र-पुष्प आदिके पीछे छिपनेसे उनके श्रीकृष्ण दर्शनमें कोई बाधा न हो। उस समय पत्र-पुष्प और भक्षण आदि अपनी क्रियाओंको परित्यागकर वे केवल श्रीकृष्णका दर्शन करते। अथवा वृक्षकी पत्र-पुष्प आदिसे विहीन शाखाओंके अग्रभागमें बैठनेसे उन्हें सुखपूर्वक ही श्रीकृष्णका दर्शन हो सकता है या श्रीकृष्णको उनपर दृष्टिपात करनेमें भी कोई बाधा नहीं होती है। उस समय वे किसी एक अनिर्वचनीय आनन्दसे परिपूर्ण होकर अपनी आँखोंको मूँदकर केवल 'कृष्ण' 'कृष्ण' नामोंके अलावा अन्यान्य कथाओंका सर्वथा परित्याग कर देते हैं। श्रीकृष्णमें अनुरक्त मुनिगण जिस प्रकार श्रीकृष्णका दर्शन करते हैं, उसी प्रकार कोमल और मनोहर पत्तों और फलोंके तुलनीय अर्थात् विविध प्रकारके सत्कर्मोंको प्रकाश करनेवाली वेदरूप वृक्षकी जिस शाखापर बैठकर श्रीकृष्णका साक्षात्कार होता है, अर्थात् अनन्त शाखाओंवाले वेदरूपी कल्पवृक्षकी जिस शाखाका आश्रय करनेसे परमानन्द विग्रह श्रीभगवान्‌के प्रति दृष्टि पड़े तथा उनकी कृपा दृष्टि प्राप्त हो, वे उसी शाखाका ही आश्रय लेते हैं। वे उस शाखाके विचित्र पल्लव आदि तुलनीय भक्तीके अङ्गरूप कर्मोंका अनुसन्धान करनेके लिए उन वेदोंका अध्ययन करके समस्त कर्म-फलके अर्पण द्वारा वेदोंमें उक्त कर्मोंको स्वीकार करते हैं। अथवा यद्यपि वेदाध्ययन करके उन सब वेदोंके अर्थको उत्तम रूपमें विचार करके भी उसमें कथित कर्मोंको करना आरम्भ कर देते हैं, तथापि श्रीकृष्ण दर्शनके लिए परम मनोहर उनके

गीतका श्रवण करते हैं, इसलिए उस समय उनकी वेदाध्ययन आदिमें आसक्ति नहीं रहती। तत्पश्चात् परमानन्दित होकर अपने हृदयमें श्रीकृष्णको स्पष्ट रूपसे दर्शन करते हैं तथा अपने नेत्रोंको मूँदकर केवलमात्र उनका नामसंकीर्त्तन करनेमें तत्पर हो जाते हैं।

अथवा जो श्रीभगवान्में अनुरक्त मुनि हैं, वे इस वनमें पक्षी बनकर वेणुगीत श्रवण करते हैं। अथवा श्रीधरस्वामीपादकी टीकाके अनुसार जो आत्माराम मुनि हैं, वे प्रायः (अधिकांशतः) इस श्रीवृन्दावनमें पक्षी होकर वेणुगीत श्रवण कर रहे हैं। यहाँपर 'प्रायः' कहनेका उद्देश्य यह है कि उन आत्माराम मुनियोंमेंसे कोई-कोई दुर्भाग्यवशतः मायासे मोहित होकर पक्षी रूपमें वृन्दावनको प्राप्त नहीं करते हैं। आत्माराम मुनिगण जो-जो इच्छा करते हैं, उससे भी अधिक सुख उन्हें इस श्रीवृन्दावनमें प्राप्त होता है। अथवा श्रीवृन्दावनके भ्रमर आदि कीट भी श्रीभगवान्की भक्ति करनेवाले मुनियोंसे श्रेष्ठ हैं। अतएव उनसे भी श्रेष्ठ जो पक्षी हैं, वे किस प्रकार अन्य किसी वनमें वास करनेवाले मुनियोंके समान होंगे? अर्थात् वनमें वासका सादृश्य होनेसे ही क्या दोनों एक समान हो जायेंगे? ऐसा किसी भी प्रकारसे नहीं हो सकता, क्योंकि श्रीवृन्दावनके सभी पक्षी श्रीकृष्णकी कृपादृष्टि प्राप्त करके उनका दर्शन करते-करते वेणुध्वनि श्रवण करते हैं। 'वत' शब्द खेदके अर्थमें स्वीकार करनेपर श्लोकका अर्थ होगा—अहो! हमें धिक्कार है! हम श्रीकृष्णके प्रति एकान्तिक अनुरक्तिसे रहित हैं, इसलिए सब कुछ त्यागकर वनमें स्वेच्छासे उन पक्षियोंकी भाँति वृक्षपर चढ़कर श्रीकृष्णका दर्शन तथा उनकी वेणुध्वनिका श्रवण करनेमें असमर्थ हैं। इसलिए न तो हम उनके दर्शनके अभावसे पक्षियों जैसे नेत्रोंको मूँद सकती हैं और न ही अन्यान्य कथाओंको परित्यागकर पा रही हैं॥११५॥

धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता,
या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम्।
आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः,
पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः॥११६॥

श्लोकानुवाद—"हे सखि! वनमें विचरण करनेवाली हिरणियाँ नीच योनिमें जन्मवशतः विवेकशून्य होनेपर भी धन्य हैं, क्योंकि वे श्रीकृष्णकी वेणुध्वनिको श्रवण करके अपने-अपने पतियों सहित मनोहर वेशधारी श्रीनन्दनन्दनके पास आकर प्रणय दृष्टिरूपी उपहारसे उनकी पूजा करती हैं॥"११६॥

दिग्दर्शिनी टीका—अतः तेभ्योऽपि विशिष्टं पशुजातिसाहचर्याद्भगवत्पाल्यमान गवादिसङ्गे विचरतां मृगाणां माहात्म्यम् तथैव काश्चिदाहुः—धन्याः स्मेति (श्रीमद्भा. १०/२१/११)। भोः सख्यः! वयं धन्याः स्म। विसर्गाभावश्छन्दोऽनुरोधेनार्षः। परम-भाग्यवत्यः कृतार्था वा भवाम इत्यर्थः। यतो या एतास्ताः सर्वा एव हरिण्यः वेणुनादं श्रुत्वा नन्दनन्दनमस्मत्प्रियतमं प्रति पूजां विदधुः सम्मानं कृतवत्यः। कथम्भुताः? प्रणययुक्तैरवलोकनैरेव विरचितां विशेषेण कल्पिताम्; कृष्णस्य तदनन्यापेक्षया तासाञ्च तदधिकपूजाद्रव्याभावेन तैरेव पूजयामासुरित्यर्थः। यद्वा, वि-शब्दात्तैरेव तस्य पूजा विशिष्टा कृता भवेदिति। किञ्च, कृष्णसारैः स्वपतिभिः सहिता एव दधुः। कथम्भूतम्? उपात्ताः स्वीकृता विचित्रा वनमाला बर्हापीड़गुञ्जावतंसादयो वेशा भूषणानि तत्तद्भूषणवस्त्रादिधारणपरिपाटीविशेषा वा छन्दांसि येन तम्। कथम्भूतास्ताः? मूढ़मतयस्तिर्यग्जातयोऽपि; किंवा वेणुनादाकर्णनेन मूढ़ाः ज्ञानहीनतां प्राप्ता बाह्यान्तःकरणानां गतिः प्रवृत्तिर्यासाम्; किंवा व्रजे सहजमहिमा विविध-वैदग्ध्यवत्योऽपि वेणुनादतो मूढ़ानां जड़ानामिव गतिः स्थितिर्गतिक्रियैव वा यासां तथाभूताः सत्यः। मूढ़गतय इति पाठेऽप्ययमेव अर्थः। एवं सत्यपि शब्दस्य हरिण्य इत्यनेन सम्बन्धः। सदा वनान्तश्चारिण्योऽपि सर्वा एता वेणुनादाकर्णन-मात्रेण श्रीकृष्णान्तिकमागत्य तद्रूपदर्शनेन काममोहिताः सत्यः किञ्चिदपरं विवेक्तुं कर्त्तुञ्चाशक्ताः, केवलं प्रेम्णा पूजयन्त्य इव निरीक्षन्त इत्यर्थः। अपीत्यस्य श्रीकृष्णसारैर्वा अन्वयः। तत्पतयः कृष्णसारा अपि सह युगपदेव तथा चक्रुरित्यर्थः। अथवा परमगभीर-प्रेम-स्वभावतो भगवतीनां तासां कदाचिदप्यात्मानं प्रति धन्यज्ञानं न सम्भवतीत्ययमर्थो द्रष्टव्यः। स्मेति प्रसिद्धौ खेदे वा। एता एव धन्याः, या निजपतिभिः सहिता एव पूजां दधुः। वयन्तु सर्वज्ञानक्रियाशक्तिवन्मनुष्यजन्म-प्राप्ता अपि, तत्र च सकल-सद्गुणविदग्ध-गोपजातयोऽप्यधन्या एव। यतो वने विहरतः श्रीकृष्णस्य वेणुनादं श्रुत्वा तमभिसृत्य तादृशवेशं दृष्ट्वा प्रेमभरेण विशालचक्षुषी समुन्मील्य प्रसन्नदृष्टिभिः सेवितुं नार्हामः। कदाचित् काश्चिद्वा तथा सेवन्तां नाम, तच्चास्मत्पतयोऽल्पमतय इव साक्षान्न सहन्त इति एतदेव कृष्णसारशब्दप्रयोगेणापि ध्वनितम्। कृष्ण एव सारभूतोऽन्यत् सर्वमसारं येषां हरिणानामिति ते धन्या एव, गोपाश्च तद्विपरीता इति। यद्यपि सर्वथा गोपा अपि श्रीकृष्णैकप्रियाः परमधन्या एव, तथापि तेषां

वश्यतया इमा भगवत्यो लज्जया स्वच्छन्देन किमपि तथा व्यवहर्तुं न शक्नुवन्तीति तथोचुः। एवं स्वपति-पराधीनत्वादिना निभृतं जारत्वेन श्रीकृष्णभजनमेव तासां परमप्रेम-सम्पच्चरमकाष्ठासम्पादकमित्युक्तमेवास्ति॥११६॥

भावानुवाद—अब पूर्वोक्त पक्षीजातिसे भी श्रेष्ठ पशुजातिकी सहचारितावशतः श्रीभगवान् द्वारा पालनकी जानेवाली गायोंके साथ विचरणशील हिरण-हिरणियोंके माहात्म्यका वर्णन कोई एक सखी 'धन्याः स्म' (श्रीमद्भा. १०/२१/११) इत्यादि श्लोक द्वारा कर रही हैं। हे सखियो! हम अधन्य हैं, क्योंकि इस श्रीवृन्दावनमें जो हिरणियाँ हैं, उनके जैसा सौभाग्य प्राप्त करना भी हमारे लिए दुर्लभ है। वे समस्त हिरणियाँ वेणुध्वनि श्रवण करके हमारे प्रियतम श्रीनन्दनन्दनकी पूजा करती हैं। किस प्रकार पूजा करती हैं? ये हिरणियाँ पशु जाति तथा स्वभावसे विवेकशून्य हैं, तथापि कभी भी श्रीकृष्णकी पूजासे वञ्चित नहीं होती हैं। अपनी प्रणययुक्त दृष्टि द्वारा विरचित सामग्रियोंसे अर्थात् दूसरोंकी तुलनामें अधिक पूजाके द्रव्योंके अभावमें भी श्रीकृष्णकी पूजा करती हैं और श्रीकृष्ण भी उनपर अधिक कृपादृष्टि करते हैं। अथवा 'वि' शब्दका अर्थ है कि प्रणययुक्त अवलोकन ही उनके लिए विशेष पूजाकी सामग्री है।

कुछ और भी कह रही हैं—'कृष्णसाराः' अर्थात् वे हिरणियाँ अपने पतियोंके साथ जाकर पूजा करती हैं। वंशीध्वनि श्रवण करके जब हिरणियाँ आत्मविभोर होकर वंशीधारीकी ओर अग्रसर होती हैं तथा विचित्र वनमाला, मयूर-पंखका मुकुट, गुञ्जा-माला, कुण्डल आदिसे बने हुए भूषण और वस्त्रधारणकी परिपाटीयुक्त वनवेशधारी हमारे प्रियतमको देखने लगती हैं, तब उनके पति भी उनके साथ-साथ चलते हैं। वे मूढ़मति और पशुजाति हैं, या फिर वेणु-ध्वनि श्रवण करके मूढ़ (ज्ञानहीन) हो गयी हैं तथा उनकी बाह्य और अन्तःकरणकी वृत्तियाँ भी लुप्त हो गयी है। अथवा व्रजकी सहज महिमाके स्वभावसे विविध वैदग्धी होनेपर भी वेणुध्वनि श्रवण करके मूढ़ अर्थात् जड़ वस्तुके समान उनकी गति हो गयी है अथवा वे गति-क्रिया विहीन हो गयी हैं। ऐसा होनेपर भी सदा वनमें विहार करनेवाली हिरणियाँ वेणुध्वनि श्रवण करनेमात्रसे ही श्रीकृष्णके निकट

आकर उनके रूपके दर्शन करके कामसे मोहित होकर अन्य कुछ भी विचार करनेमें असमर्थ होकर केवल निरीक्षणके छलसे प्रेमपूर्वक उनकी पूजा करती हैं। 'अपि' शब्दका सर्वत्र सम्बन्ध होनेके कारण उनके पति 'कृष्णसार' अर्थात् श्रीकृष्णको ही सार जानकर धारणा करनेवाले होनेके कारण 'कृष्णसार' नामसे प्रसिद्ध हैं। इसलिए वे भी श्रीकृष्णके दर्शनमें उनका साथ देकर अपने उस नामको सफल बनाते हैं।

अथवा परम गम्भीर प्रेमके स्वभावसे गोपियोंमें अपने प्रति कभी भी धन्यज्ञान होना सम्भव नहीं होता। तात्पर्य यह है कि महाभाववती व्रजगोपियाँ परम गम्भीर प्रेमकी स्वभाव-सुलभ अतृप्तिवशतः किसी भी प्रकारसे अपने चित्तको स्थिर नहीं कर पातीं हैं, इसलिए जिस किसी भी प्रकारसे जिसका भी श्रीकृष्णसे सम्बन्धमात्र देखतीं हैं, उसीको ही परम सौभाग्यशाली मानतीं हैं तथा प्रेमकी स्वभाव-सुलभ दीनतावशतः अपनेको भाग्यहीन समझतीं हैं। यहाँपर 'स्म' शब्द प्रसिद्धके अर्थमें अथवा खेदके अर्थमें व्यवहृत हुआ है। अतएव हिरणियाँ ही धन्य हैं, क्योंकि वे श्रीकृष्णकी वेणुध्वनिके श्रवणमात्रसे अपने पति कृष्णसारके साथ श्रीकृष्णके निकट आकर उनकी पूजा करती हैं, किन्तु हम समस्त प्रकारके ज्ञान और क्रिया शक्तियुक्त मनुष्य जन्म प्राप्त करके भी तथा सब प्रकारके सद्‌गुणोंसे विभूषित गोपजाति होनेपर भी अधन्या ही हैं। इसका कारण है कि वनमें विहार कर रहे श्रीकृष्णकी वेणुध्वनिके श्रवणमात्रसे ही उनके निकट अभिसार करके उनके मनोहर वेशके दर्शनसे प्रेमपूर्वक विशाल नेत्रोंको विस्तार करके प्रसन्नभावसे उनकी सेवा करनेमें समर्थ नहीं हो पा रही हैं। यदि हममेंसे कभी कोई उस सेवाकी ओर अग्रसर भी होता है, तो हमारे पति अल्प मतिवानकी भाँति हमारा ऐसा व्यवहार देखकर सहन नहीं कर सकते हैं। इसके द्वारा ध्वनित हो रहा है कि गोपियोंके पतियोंकी तुलनामें हिरणियोंके पतियोंके प्रति जो 'कृष्णसार' शब्द प्रयोग हुआ है, वह सार्थक ही है, क्योंकि वे हिरण भी श्रीकृष्णको ही सार समझकर अन्य सभीको असार समझते हैं, इसलिए वे धन्य हैं। किन्तु हमारे पति गोप इसके विपरीत हैं।

यद्यपि गोपगण भी सदैव अपने-अपने भावानुसार श्रीकृष्णके एकान्तिक प्रिय होनेके कारण परमधन्य ही हैं, तथापि उनके वशीभूत होनेके कारण गोपियाँ लज्जावशतः स्वेच्छासे किसी भी प्रकारका व्यवहार नहीं कर पातीं। इसलिए कह रही हैं कि हमें नेत्र भरकर श्रीकृष्णका दर्शन अथवा फिर प्राण भरकर श्रीकृष्णकथाकी चर्चा करनेका भी सुयोग नहीं है। यदि हम व्रजगोपी न होकर हिरणी होतीं तो प्राण भरकर श्रीकृष्णके दर्शनसे कृतार्थ हो जातीं। इस प्रकार अपने-अपने पतिके पराधीन होनेके कारण 'निभृत-जारत्व' (गुप्त-परकीय) भाव सिद्ध हुआ है। अतएव परकीय भाव द्वारा ही श्रीकृष्णका भजन उन गोपियोंकी परम प्रेम-सम्पत्तिकी चरमसीमाका सम्पादक है—इसे पहले भी वर्णन किया जा चुका है॥११६॥

गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीत-,
पीयूषमुत्तम्भितकर्णपुटैः पिबन्त्यः।
शावाः स्नुतस्तनपयःकवलाः स्म तस्थु-
र्गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्यः॥११७॥

श्लोकानुवाद—"समस्त गौएँ तथा उनके स्तनोंसे बहनेवाले दूधके पानमें रत बछड़े अपने कानरूपी पात्रोंको ऊपर उठाकर श्रीकृष्णके मुखकमलसे निकले वेणुगीतरूपी अमृतका पान करते-करते अपनी दृष्टि द्वारा श्रीकृष्णको अपने-अपने हृदयमें ले जाकर उनका आलिङ्गनकर प्रेमके अश्रु बहाने लगते हैं॥"११७॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथ ततोऽप्यधिकतरं साक्षाच्छ्रीगोपालदेवेन पाल्यमानानां गवां माहात्म्यं पूर्ववदन्या गोप्य आहुः—गावश्चेति (श्रीमद्भा. १०/२१/१३)। चकारस्तु शब्दार्थः, पूर्वापेक्षया वैशिष्ट्यं प्रतिपादयति। पीयूष-शब्देन मुखस्य चन्द्रता ध्वन्यते। कृष्णमुखचन्द्रतो निर्गतं निःसृतं वेणुगीतरूपं पीयूषं गावः क्षरणशङ्कयैव उत्तम्भितैरुन्नमितैः कर्णपुटैः श्रोत्राञ्जलिभिः पिबन्त्यः परम-मनोहरं कृष्णवेणुगीतं सावधानं प्रीत्या शृण्वन्त्यः शावाः शवतुल्याः सत्यः; ईप्रत्ययाभाव आर्षः। यद्वा, शावा बाला अपि तस्थुः, केवलं विस्मृताशेषव्यापारतया स्थाणुवन्निश्चल-तयाऽतिष्ठन्नित्यर्थः। ततः कृष्णे स्नेहातिशयोदयेन स्तनेभ्यः स्नुतानि क्षरितानि पयांसि कवलानि च मूखेभ्यो यासां ताः, स्नुतं स्तनेति विपरीतपाठेऽपि स एवार्थः।

शावस्नुतेति समस्तपाठे शावेषु वत्सेषु सङ्गतेषु वत्सतरेषु किंवा अभिनवजातेषु कथञ्चिन्मिलितेषु न स्नुतः स्तनपयोरूपः कवलो वत्सभक्ष्यग्रासो याभ्यस्तथाभूताश्च तस्थुरिति। परमप्रेमाविर्भावे हेत्वन्तरमाहुः—गोविन्दं दृशा लोचनमार्गेण आत्मनि मनसि स्पृशन्त्यः आलिङ्गन्त्यः; अतएव अश्रूणां कला बिन्दवो लोचनेषु यासां ताः, यद्वा, अश्रूणि कलयन्ति—लोचनेभ्यो वर्षन्तीति अश्रुकलाः, 'कलिव(ह)लिकामधेनू' इति प्रसिद्धेः। सृजन्त्य इति पाठे अश्रुकला मुञ्चन्त्यः, तदा च गोविन्दमात्मनि कुर्वाणा इति शेषः। यद्वा, शावाश्च मातृणां स्तनपाने प्रवृत्ता वत्सतरा बालवत्सा वा तदानीमेव वेणुगीतं श्रुत्वा तदेव पीयूषवदुत्तम्भितकर्णपुटैः पिबन्तः मातृस्तनेभ्यः स्नुताः क्षीरग्रासा मुखेषु येषां ते तथाभूताः तस्थुः। अन्यत् पूर्ववदत्राप्यूह्यम्। पिबन्त इतिवत् स्पृशन्त इति लिङ्गव्यत्यये बोद्धव्यम्। भोः सख्यः! गावोऽप्येवम्भूताश्चेत्तदा मानुषीणां गोपीनां तदेकप्राणानामस्माकमस्मदपत्यानाञ्च तत्प्रेम-वैवश्यमुचितमेवेति तात्पर्यम्॥११७॥

भावानुवाद—अब हिरणोंसे भी अधिक महिमासे युक्त साक्षात् श्रीगोपालदेव द्वारा पालनकी जानेवाली गायोंके माहात्म्यको पहलेकी भाँति अन्य कोई गोपी (श्रीमद्भा. १०/२१/१३) 'गावश्च' इत्यादि श्लोक द्वारा वर्णन कर रही हैं। इस श्लोकका 'च' कार 'तु' के अर्थमें व्यवहृत हुआ है, अतएव पहलेकी तुलनामें अधिक वैशिष्ट्य प्रतिपादित हुआ है। 'पीयूष' शब्दके अर्थ द्वारा भी श्रीकृष्णके मुखकमलकी ज्योत्सना ध्वनित हो रही है। अतएव श्रीकृष्णचन्द्रके मुखसे निकले वेणुगीतरूप अमृतको सभी गौओंने अपने कानरूपी पात्रोंमें भरकर पान किया तथा उस परम मनोहर वेणुगीतको सावधानीसे पान करते-करते शवतुल्य स्थिर हो गयीं। अर्थात् जब गौएँ वंशीध्वनि श्रवण करती हैं, तब उन्हें ऐसा लगता है कि मानो उन्हें कानोंमें अमृतरस प्रवेश कर रहा है, इसलिए वे अपने घास खानेके लिए नीचे झुके मुखको ऊपर उठाकर तथा दोनों कानोंको ऊँचा करके इस प्रकार खड़ी हो जाती हैं, मानों उनके कानोंमें प्रविष्ट हो चुकी अमृतधारा कहीं किसी प्रकारसे बाहर न निकल जाये। इस प्रकार अपने कानरूपी पात्रोंमें वंशीध्वनि रूप अमृतधाराको भरकर वे परमान्दित होकर पान करते-करते उसकी माधुरीके आवेशसे आत्मविभोर हो जाती हैं। अथवा बछड़े भी उस वेणुध्वनिको श्रवण करके स्तनोंसे बह रहे दूधको मुखमें ही रख अपनी समस्त क्रियाओंको भूलकर

स्थिर भावसे निश्चल होकर खड़े रहते हैं। अर्थात् श्रीकृष्णके प्रति अत्यधिक स्नेहके उदय होनेसे गायोंके स्तनोंसे बहनेवाली दूधकी धाराको मुखमें लेकर भी पान करना भूल जाते हैं, क्योंकि वंशीध्वनि श्रवण करके वे भी आनन्दसे विवश हो जाते हैं। अथवा 'शावस्नुत' पाठ होनेसे यह अर्थ होगा कि जिन सब बछड़ोंने केवल दो-तीन दिन पहले ही जन्म ग्रहण किया है, ऐसे नये जन्में बछड़ेके मुखसे भी माताके स्तनोंसे बह रही दूधकी धारा निकलकर भूमिपर गिर रही है, क्योंकि वे भी वंशीध्वनि श्रवण करके सबकुछ भूल जाते हैं।

अब गायों और बछड़ोंमें परमप्रेमके आविर्भावका अन्य कारण प्रदर्शित कर रहे हैं। गायें और बछड़े श्रीगोविन्दकी निरुपम रूपराशिको देखकर उन्हें नेत्रोंके मार्गसे हृदयमें ले जाकर उनका आलिङ्गन करके अश्रुपूर्ण नेत्रों सहित स्थिरभावसे खड़ी रहती हैं। अर्थात् पहली बार दृष्टिपात करनेमात्रसे ही उनके हृदयमें श्रीगोविन्दकी रूपराशि अनुभव होती है, इसलिए आनन्दरूपी अश्रुधारासे उनके दोनों नेत्र भर जाते हैं, वे फिर अपने उन नेत्रों द्वारा श्रीगोविन्दके दर्शन नहीं कर पातीं, केवल अपने कानों द्वारा ही उनकी वंशीध्वनिरूप अमृतका आस्वादन तथा हृदयमें उनकी स्फूर्तिसे उत्पन्न परमानन्दसे विवश होकर स्थिरभावसे खड़ी रहती हैं। गौओंमें वंशीध्वनि श्रवण करके शृङ्गार आदि भावकी अभिव्यक्ति सम्भव नहीं होनेपर भी वे वेणुगीतके माधुर्यको ग्रहण करनेमें असमर्थ नहीं हैं, क्योंकि उस समय वात्सल्यभाव आदिसे स्वतः ही उनके स्तनोंसे दूधकी धारा बहते देखा जाता है। अथवा अपनी माताके स्तनोंका दूध पान कर रहे बछड़े (नये जन्मे गोवत्स) भी उस समय वेणुगीतको सुनकर उसके अमृतको अपने ऊपर उठे कानरूपी पात्रोंसे पान करते हैं तथा माताके स्तनोंसे बहनेवाला दूध उनके मुखमें वैसा-का-वैसा ही रह जाता है। इस प्रकार श्रीकृष्णके प्रति उनके निरुपाधिक प्रेमसे उत्पन्न भावावेशको देखकर गोपियाँ सोचती हैं कि वृन्दावनमें गायों और बछड़ोंका जन्म भी सार्थक है। अतएव हे सखियो! यदि गायोंमें श्रीकृष्णके प्रति इस प्रकारका भाव देखा जाता है, तो फिर मानव स्त्रियोंमें विशेषकर हम

गोपियाँमें, जो उनकी एकान्तिक प्रियतमाके रूपमें प्रसिद्ध हैं, वैसी प्रेम-विवशता होना उचित ही है॥११७॥

वृन्दशो व्रजवृषा मृगगावो, वेणुवाद्यहृतचेतस आरात्।
दन्तदष्टकवला धृतकर्णा, निद्रिता लिखितचित्रमिवासन्॥११८॥

श्लोकानुवाद—"श्रीनन्दनन्दके वेणुवादनको दूरसे ही सुनकर व्रजके बैल, हिरण और गायोंके दल चित्त आकृष्ट होनेके कारण दातोंमें धारणकी हुई घासको ज्यों का त्यों लिए रहते हैं, निगल नहीं पाते तथा अपने दोनों कानोंको ऊँचा उठाकर चित्रकी भाँति चुपचाप खड़े रहते हैं॥"११८॥

दिग्दर्शिनी टीका—अधुना गवां तदनुवर्त्तिनाञ्च वृषाणां तत्सहचरितानाञ्च मृगाणां पशुजातित्वादेकत्रैव परमं माहात्म्यम्। पूर्ववद्दिवाविरहतापशान्तये काश्चिद्गोप्य आहुः—वृन्दशः (श्रीमद्भा. १०/३५/५) इति। भोः सख्यः! इदमतिचित्रं शृणुत, व्रजस्य सर्व एव वृषा मृगा गावश्च कृष्णस्य वेणुवाद्येन हृतानि चेतांसि येषां तथाभूताः सन्तः, आरात् ततस्ततः आगत्य कृष्णस्य समीपे तिष्ठन्तस्तत्र तत्र दूर एव वर्त्तमाना वा हृतचेतस्तया दन्तैः केवलं दष्टा, न तु भक्षिता भ्रंशिता वा कवला घासग्रासा यैः; तथा तच्छ्रवणरसेन धृता उत्तम्भिताः कर्णा यैस्तथाभूताः सन्तः निद्रिता इव लिखितचित्रमिव आसन्; प्रेममोहेन क्रियाज्ञानशून्या बभूवुरित्यर्थः। यद्वा, दूरादेव वेणोर्गीतरागादिभङ्गीरहितं प्रथमं नादमात्रं श्रुत्वा हृतचेतसः परमव्याकुलाः सन्तः तद्विशेषश्रवणेन च श्रीकृष्णविच्छेदकमरणभयमाशङ्क्यमानास्तदश्रवणायाग्रपादाभ्यां बलाद्धृता आच्छादितरन्ध्रीकृताः कर्णाः यैः; पुनश्च तद्वादननिवर्त्तनाय यत्नात् कथञ्चित् कृष्णपार्श्वमागत्य दन्तदष्टकवलाः कवलवद्दशनगृहीततृणा इत्यर्थः; पश्चान्निद्रिता लिखितचित्रमिवासन्। तद्रूपदर्शनेन मुहुर्वेणुवाद्यश्रवणेन च प्रादुर्भूतपरमप्रेम्णा मोहिता इव मृता इव च बभूवुरित्यर्थः। चित्रमित्येकत्वाम्, जातावेकत्वात्। किंवा प्रेममोहेन परस्परमवष्टभ्य संकीर्णतयावस्थित्या सर्वेषामेकीभावात्, अत्रापि पूर्वश्लोकवत् तात्पर्यमूह्यम्॥११८॥

भावानुवाद—अब गायों और उनके अनुगामी बैल तथा उनके साथ विचरण करनेवाले हिरणोंके पशुजाति होनेके कारण एक साथ ही उनके परम माहात्म्यको पहलेकी भाँति ही कोई गोपी दिनके समयमें हो रहे विरह-तापसे शान्ति प्राप्त करनेके लिए (श्रीमद्भा. १०/३५/५) 'वृन्दशो' इत्यादि श्लोक कह रही हैं। हे सखियो! एक

बहुत ही विचित्र घटना सुनो। इस व्रजके बैल, हिरण और गायें दूर रहनेपर भी श्रीकृष्णकी वेणुध्वनि श्रवण करके प्रसन्नचित्त होकर झुण्ड–के–झुण्डमें उनके निकट आकर स्थिर भावसे खड़े हो जाते हैं। अथवा दूरमें रहकर भी प्रसन्नचित्त होकर दाँतों द्वारा घासोंका ग्रास धारणमात्र करके ही उसे भक्षण करनेमें समर्थ नहीं होते तथा वेणुध्वनिके रसको धारण करनेके लिए दोनों कानोंको ऊपर उठा लेते हैं। उन्हें देखकर ऐसा लगता है कि मानो वे सभी सो रहे हैं या फिर चित्रकी भाँति हैं, इस प्रकार प्रेमके मोहसे वे सभी क्रिया तथा ज्ञानरहित होकर खड़े रहते हैं।

अथवा दूरसे ही राग आदि भङ्गिरहित वेणुगीतके प्रथम नाद मात्रको श्रवण करके प्रसन्नचित्त होकर अत्यधिक व्याकुल होकर खड़े रहते हैं। तथा उस वेणुगीतके विशेष श्रवणसे श्रीकृष्णसे विच्छेद करानेवाली मृत्युके भयकी आशङ्कासे उस वेणुध्वनिको अपने कानमें जानेसे रोकनेके लिए बलपूर्वक अपने आगेवाले दोनों पैरों द्वारा कानोंको ढक लेते हैं। अथवा उनके वेणुवादनको बँद करवानेके उद्देश्यसे यत्नपूर्वक कुछ आगे बढ़कर श्रीकृष्णके निकट खड़े होकर घासको दाँतोंमें धारण करके शयन किये हुए की भाँति या फिर चित्रकार द्वारा बनाये गये चित्र (पुतली) की भाँति जड़वत् खड़े रहते हैं। इसी प्रकार पशु भी श्रीकृष्णके अनुपम रूपका दर्शनकर तथा पुनः–पुनः वेणुनादके श्रवणसे आविर्भूत प्रेमसे मोहित होकर मृतकी भाँति हो जाते हैं। यहाँपर एक ही जाति होनेके कारण 'चित्रं' एकवचनका प्रयोग हुआ है। अथवा प्रेमसे मोहित होनेमें परस्पर एकत्रित होकर एक–दूसरेके निकट अवस्थित होनेके कारण सभीका एकत्व समझना होगा। यहाँपर भी पूर्व श्लोकके समान तात्पर्य ग्रहण करना होगा अर्थात् गायों, बैलों और हिरणों आदिमें यदि इस प्रकारकी प्रेम–दशा उपस्थित होती है, तो फिर महाभाववती गोपियोंकी क्या दशा होती होगी? ॥११८॥

पूर्णाः पुलिन्द्य उरुगाय–पदाब्जराग,
श्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन।

तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरुषितेन,
लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम् ॥११९ ॥

श्लोकानुवाद—"हे सखि! वनमें विचरण करनेवाली पुलिन्दस्त्रियाँ भी अब पूर्णतः कृतार्थ हो गयी हैं, क्योंकि श्रीकृष्णकी प्रियतमाओंके स्तनोंपर लिप्त कुङ्कुम रतिक्रीड़ाके समय श्रीकृष्णके चरणकमलोंके स्पर्शसे अत्यधिक सौन्दर्ययुक्त हो जाता है तथा फिर श्रीकृष्ण द्वारा भ्रमण करते समय घासपर लग जाता है। उस कुङ्कुमको देखकर कामवेगसे पीड़ित होनेके कारण पुलिन्दीस्त्रियाँ उसे लेकर अपने-अपने मुख और स्तनमण्डलपर लेपनकर अपने कामवेगको शान्त करती हैं॥"११९॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं ततोऽधिकतरं तद्व्रजमनुष्याणां तत्र चादौ वनान्तरवर्त्तिनीना-मन्त्यजजातिस्त्रीणां माहात्म्यं पूर्ववत् काश्चिद्गोप्यः स्वभावमाहुः—'पूर्णाः' (श्रीमद्भा. १०/२१/१७) इति। पुलिन्द्यः शबराङ्गनाः ताभिश्चान्या अपि वनचर्यो भिल्लादिस्त्रियः सर्वा एवोपलक्ष्यन्ते। पूर्णाः कृतार्थाः ज्ञायन्ताम्। कथमित्यपेक्षायामाहुः— उरुधा वेणुना गायति वेत्युरुगायः श्रीकृष्णस्तस्य पादाब्जयो रागेण आरुण्येन श्रीः कान्तिर्यस्य कुङ्कुमस्य तेन, तमनिर्वचनीयमाधिं मनोव्यथां जहुः। तदेति वा तदानीमेव लेपनसमकालमेव जहुरित्यर्थः। ननु कुङ्कुमं प्रायशः स्त्रीस्तनगतमेव, कुतस्तनयोर्धृतमित्यपेक्षायां तदेव विशिंषन्ति—दयितानां श्रीकृष्णप्रियाणां कासाञ्चित् स्तनेषु मण्डितेन अलङ्कारतया अनुलिप्तेन; बहुधा कृष्णसंकीर्त्तनेन वेणुवाद्येन वा मोहितानां तासां स्तनेभ्यो रतिसमये वैदग्धीविशेषेण पादाब्जयोर्लग्नमिति भावः; तच्चैवं विकृत्य (विवृत्य) लज्जया नोचुरिति ज्ञेयम्। अहो! पुलिन्द्यस्तत् कथं प्राप्ता इत्यपेक्षायां पुनस्तदेव विशिंषन्ति। तृणेषु रुषितेन संलग्नेन, तृणेत्युपलक्षणं शिलादिष्वपि, प्राचुर्यात् तथा सम्मर्दविशेषेण पदाब्जयोः सम्पृक्तत्वाच्चाक्षीयमाणं सदा वनस्थलीषु तत इतश्चंक्रमेण ताभ्यां तृणादिषु संलग्नं सत्तत्र तत्र काष्ठ-शाकाद्याहरणाय भ्रमन्त्यः पुलिन्द्यः प्रापुरिति भावः। कुतस्तासामाधिरित्यपेक्षायां ता एव विशिंषन्ति। तस्य कुङ्कुमस्य दर्शनेन प्रथमं श्रीकृष्णस्य, पश्चाच्च विचारेण तदीयरतिविशेषस्यापि स्मरः स्मरणं, तेन रुजो मनःपीड़ा यासाम्; यद्वा, तथाभूतस्य दर्शनमात्रेनैव स्मररुजः कामव्यथा यासां ताः। पश्चात् कथं जहुस्तदाहुः—आननेषु स्तनेषु कामतप्तेषु लिम्पन्त्यः तत्कुङ्कुमलेपं कुर्वन्त्यः, अथवा द्वितीयार्थे सप्तमीयम्; तानि तेनैव लिम्पन्त्य इत्यर्थः। एवं निजाधिशान्त्या ताः कृतार्थाः, वयन्तु तथा निजाधिशमनं न लभाम इत्यपूर्णा इति भावः। किञ्च, श्रीशब्देन मण्डितशब्देन चेदं ध्वन्यते। श्रीकृष्णवल्लभानां स्तनैरनुलेपनद्वारा भूषितेन सौन्दर्यातिशयं नीतेन, पुनश्च श्रीकृष्णपादाब्ज-

सम्पर्केण कान्तिविशेषं प्राप्तेन, कुङ्कुमेन तृणादिभ्यः समुद्धृत्य स्वङ्गेषु लिप्यमानेन सता प्रायो भूषणहीना वर्णकान्त्यादिरहिताश्च पुलिन्द्यस्तत्तद्भावनिमित्ताधिञ्च जहुः, भूषासौन्दर्यातिशयप्राप्तेरिति। अतो धिगस्मानिति वाक्यशेषः। अथवा भगवतीनां तासां प्रेमविशेषोदयेन सदैव विरहतापस्फूर्त्या परेषामपि दुःखानुमानादयमर्थो द्रष्टव्यः। भोः सख्यः! उरुगाय-पदाब्जरागवदरुणा श्रीर्यस्य कुङ्कुमस्य तेन पूर्णा भृतगात्रा इत्यर्थः; यद्वा, पूर्णा तृप्ता अपि प्रेमविशेषाभावात्। उरुगायेति पदस्य परेणैवान्वयः। कीदृशेन? कृष्णस्य दयितानां युष्मादृशीनां स्तनेषु तत्सन्तोषणाय प्रथमं मण्डनतयानुलिप्तेन; यद्वा, तत्पदाब्जराग-सादृश्य-प्रीत्या दयिताभिः स्वस्तनेषु मण्डनत्वेन गृहीतेन पश्चात्तदीय-बहुप्रकारवेणुगीतैर्वनमध्ये समाकृष्टानामितस्ततो भ्रमन्तीनां तत्र तदप्राप्तेर्विरह-वैकल्येन वनेषु विलुठन्तीनां स्तनेभ्यस्तृणेषु रुषितेन। तस्य कुङ्कुमस्य तादृशगोपीचेष्टित-परिचायकतया श्रीगोपीकान्तस्मारकत्वाद्दर्शनमात्रेण स्मरकृतरुजो यासां ताः; स्मररुज इति पञ्चम्यन्तं वा। तद्धेतोस्तद्व्यथाशान्तय इत्यर्थः, मशकार्थो धूम इतिवत्। श्रीकृष्णप्रेमभर-तत्प्रियाङ्गसङ्गित्ववितर्केण तृणेभ्यः प्रथममादरेणाननेषु, पश्चात् प्रेमवेगेन कुचेषु तत् कुङ्कुमं लिम्पन्त्यः समर्पयन्त्यः; यद्वा, कुङ्कुमेनेत्यत्रापि योज्यम्; तेन तानि लिम्पन्त्यः सत्यः तत्कुङ्कुममेव जहुः। तत्र हेतुः—आधिम् आधिहेतुत्वात् तदेव साक्षादाधिरूपमित्यर्थः। कार्य-कारणयोरत्यन्ताभेदविवक्षया; आदिष्टलिङ्गत्वात् पुंस्त्वमुद्दिष्टम्। यस्य दर्शनमात्रेण महाकामपीड़ा जाता, तस्याङ्गस्पर्शनेनाशेषमनोव्यथा स्वतोऽधिकं सम्भवत्येव; लेपनेन च वर्धितया व्याकुलाः पुनर्महानिष्टशङ्कया तज्जहुरिति भावः। अन्यद्यथापूर्वमूह्यम्। अहो! वत कष्टमीदृस्यो वयमधन्याः परमार्त्तिसिन्धुमग्नाः, यासामीदृशेनापि सम्बन्धेनान्येऽपि जना एतादृशीमार्त्तिं लभमाना अस्मद्गात्रगन्धसम्पृक्तद्रव्यमपि प्राणहानिभयात् परित्यजन्तीति॥११९॥

भावानुवाद—अब पूर्वोक्त पशुजातिसे भी अधिक महिमासे युक्त व्रजके मनुष्योंमेंसे सर्वप्रथम वनमें रहनेवाली अन्त्यज जातिकी स्त्रियोंका माहात्म्य पूर्ववत् कोई गोपी (श्रीमद्भा. १०/२१/१७) 'पूर्णा' इत्यादि श्लोक द्वारा वर्णन कर रही हैं। (किन्तु इस वर्णनसे उन गोपियोंका अपना स्वभाव ही प्रकट हुआ है।) इस श्लोकके 'पुलिन्द्य' शब्दसे श्रीवृन्दावनके वन प्रदेशमें रहनेवाली पुलिन्दस्त्रियोंके साथ शबर, भील आदि अन्त्यज जातिकी स्त्रियाँ भी लक्षित होती हैं। अतएव वे किस प्रकार पूर्ण कृतार्थ हुईं हैं? इसकी अपेक्षासे वे कह रही हैं—'उरुगाय' अर्थात् बहुत प्रकारसे वेणुवादन करना जाननेवाले श्रीकृष्णके अरुण कान्तियुक्त श्रीचरणकमलोंसे संलग्न कुङ्कुम श्रीकृष्ण द्वारा वनमें भ्रमण करनेपर उनके चरणोंसे घासपर लग जाता है, जिसके दर्शन करके

पुलिन्दीस्त्रियाँ कामपीड़ासे दग्ध हो जाती हैं और फिर उस कुङ्कुमको घाससे उठाकर अपने-अपने मुखमण्डल और स्तनमण्डलपर लगाकर अपनी अनिर्वचनीस मन (काम) पीड़ाको शान्त करती हैं।

यदि आपत्ति हो कि कुङ्कुम तो प्रायः स्त्रियोंके स्तनोंपर ही लगा हुआ होता है, अतएव वह कुङ्कुम किसके स्तनोंपर लगा हुआ था? इसकी अपेक्षासे स्पष्ट करते हुए कह रही हैं कि यद्यपि श्रीकृष्णकी किन्हीं प्रियतमाओंके स्तनपर अलङ्कारस्वरूप यह कुङ्कुम लिप्त था, किन्तु बादमें विविध प्रकारके श्रीकृष्णसंकीर्त्तन अथवा वेणुध्वनिके श्रवणसे उन प्रियतमओंके मोहित होनेके कारण रतिके समय विशेष प्रकारकी वैदग्धीके द्वारा प्रियतमाओंके स्तनोंमें लगा हुआ कुङ्कुम श्रीकृष्णके श्रीचरणकमलोंमें लग जाता है, किन्तु लज्जावशतः गोपियोंने विस्तृत रूपसे इसका वर्णन नहीं किया। यदि कहो कि पुलिन्दस्त्रियोंको वह कुङ्कुम कैसे प्राप्त हुआ? इसकी अपेक्षासे पुनः विस्तृत रूपमें वर्णन कर रही हैं। 'तृणरुषितेन' अर्थात् तृणके साथ संलग्न—यहाँपर तृणके उपलक्षणमें शिला आदिको भी ग्रहण करना होगा। श्रीकृष्णके श्रीचरणकमलोंका गोपियोंके वक्षःस्थलपर अत्यधिक सम्मर्द्दनके फलस्वरूप तथा कुङ्कुमकी अधिकताके कारण वह श्रीकृष्णके श्रीचरणकमलोंपर विशेष रूपमें संलग्न हो जाता है तथा उनके इधर-उधर विचरण करते समय श्रीचरणोंके स्पर्शसे घास आदिमें लग जाता है। जब पुलिन्दस्त्रियाँ लकड़ी आदि एकत्रित करनेके लिए वनमें आगमन करतीं हैं, तब घासपर लगे उस कुङ्कुमको देखकर काम-पीड़ासे व्याकुल हो जाती हैं। इसलिए उस घासपर लगी हुई कुङ्कुमको अपने सम्पूर्ण मुखमण्डल और स्तनमण्डलपर लगाकर अपनी काम-पीड़ाको शान्त करती हैं। परन्तु साधारण कुङ्कुममें इतनी शक्ति नहीं होती कि उसे लगानेसे काम-पीड़ा शान्त हो सके। इसलिए ऐसा बोध होता है कि यह कुङ्कुम श्रीकृष्णकी किसी प्रियतमाके स्तनपर लगा हुआ कुङ्कुम ही है।

यदि प्रश्न हो कि पुलिन्दस्त्रियोंकी काम-पीड़ाका क्या कारण है? इसकी अपेक्षासे कह रही हैं कि उस कुङ्कुमके दर्शनसे पुलिन्दस्त्रियोंमें सर्वप्रथम श्रीकृष्णका स्मरण होता है, तत्पश्चात् विचार करनेसे

श्रीकृष्ण और गोपियोंकी विशेष रति अर्थात् काम-क्रीड़ाका स्मरण होनेसे उनमें मनकी पीड़ा उपस्थित होती है, अथवा फिर उस कुङ्कुमके दर्शनमात्रसे ही काम-पीड़ा उपस्थित होती है। यदि कहो कि उनकी काम-पीड़ा किस प्रकार दूर होती है? मुखमण्डल और कामसे तप्त स्तनमण्डलपर उस कुङ्कुमको लगानेसे अथवा द्वितीय अर्थमें (सप्तमी विभक्ति होनेसे)—मुखमण्डल आदिपर उस कुङ्कुमको लगानेसे उस कुङ्कुमके द्वारा ही उनकी काम-पीड़ा शान्त हो जाती है। अतएव अपनी मन (काम) की पीड़ाको शान्त करनेके कारण पुलिन्दस्त्रियाँ ही पूर्ण रूपसे कृतार्थ हैं और हम उस प्रकारसे अपनी काम-पीड़ाको शान्त करनेमें असमर्थ होनेके कारण अकृतार्थ अर्थात् अपूर्ण हैं।

मूल श्लोकके 'श्री' और 'मण्डित' शब्दका तात्पर्य यह है कि यह कुङ्कुम श्रीकृष्णकी प्रियतमाओं द्वारा सर्वप्रथम उनके अपने स्तनमण्डलपर लगाया गया था जिससे उस कुङ्कुमने अत्यधिक सौन्दर्यको प्राप्त किया, बादमें श्रीकृष्णके चरणकमलोंके सम्पर्कसे वह कुङ्कुम विशेष कान्तिको प्राप्त हुआ था, इसलिए 'श्री' शब्द व्यवहार किया गया है। भूषणहीन और वर्ण-कान्ति आदिसे रहित पुलिन्दस्त्रियोंने घासपर लगे उस कुङ्कुमको अपने स्तनमण्डलपर लगाकर अपनी काम-पीड़ाको दूर किया, अर्थात् कुङ्कुम द्वारा अलंकृत होकर वे अत्यधिक सौन्दर्यको प्राप्त करती हैं, इसलिए 'मण्डित' शब्दका प्रयोग किया गया है। अतएव वनमें विचरण करनेवाली पुलिन्दस्त्रियोंके सौभाग्यको देखनेसे हम अपनेको धिक्कार देती हैं।

अथवा गोपियाँ निरन्तर श्रीकृष्णकी विविध लीलाओंके स्मरणमें तन्मय होकर श्रीकृष्णसे मिलनेके लिए उत्कण्ठित हो जाती हैं तथा विशेष प्रेमके उदय होनेसे उनमें सदैव विरह-ताप उत्पन्न होता है, इसलिए वे अन्य सभीमें भी उसी प्रकारके विरह-दुःखका अनुमान करती हैं। हे सखियो! वह कुङ्कुम 'उरुगाय' अर्थात् अनेक प्रकारसे गान करनेवाले श्रीकृष्णके चरणकमलोंके अनुरागकी भाँति अरुण वर्णका तथा उसी प्रकारकी श्री (शोभा) से मण्डित होनेके कारण पुलिन्दस्त्रियाँ उसे अपने शरीरपर धारण करती हैं। अथवा उनमें प्रेमका अभाव होनेपर भी वे पूर्ण और तृप्त हैं। अथवा 'उरुगाय'

पदका बाद वाले पद अर्थात् 'दयितास्तन-मण्डितेन' के साथ अन्वय करनेसे अर्थ होगा—श्रीकृष्णकी आप जैसी प्रियतमाओंने ही श्रीकृष्णको सन्तुष्ट करनेके लिए सर्वप्रथम अपने स्तनमण्डलपर कुङ्कुमका लेपन किया था।

अथवा श्रीकृष्णके श्रीचरणकमलोंके वर्णके समान होनेके कारण गोपियोंने प्रीतिपूर्वक उस कुङ्कुमको अपने स्तनमण्डलपर लगाया था तथा बादमें श्रीकृष्णके विविध प्रकारके वेणुगीतके श्रवण द्वारा सम्पूर्ण रूपसे आकृष्ट होकर जब वे उनसे मिलनेके लिए वनमें इधर-उधर भ्रमण करने लगीं और उन्हें ना पाकर विरहसे व्याकुल होकर वन-भूमिमें लोट-पोट करने लगी थी, उस समय उनके स्तनोंपर लगा हुआ कुङ्कुम घासमें लग गया था। अतएव वह कुङ्कुम भी गोपियोंकी चेष्टाका परिचायक होनेके कारण शक्तियुक्त था, अर्थात् श्रीगोपीकान्तका स्मरण करानेवाला था तथा उसके दर्शनमात्रसे ही पुलिन्दस्त्रियोंमें काम-पीड़ा उत्पन्न हो गयी।

अथवा 'स्मररुज' शब्द पञ्चमी होनेपर अर्थ होगा कि वह कुङ्कुम उसी प्रकारसे काम-पीड़ाका कारण तथा उस काम-पीड़ाको शान्त करनेवाला था, जिस प्रकार 'मशकार्थो धूम' अर्थात् मच्छर काटनेसे बचावके लिए सुगन्धित धूने (धुएँ) की आवश्यकता होती है, परन्तु वह धुआँ उपकारी होनेपर भी आँखोंके लिए दुःखदायक होता है। उसी प्रकार श्रीकृष्णके प्रेमसे परिपूर्ण उनकी प्रियतमाओंके अङ्गोंका सङ्ग प्राप्त करनेके कारण घासपर लगे उस कुङ्कुमको पुलिन्दस्त्रियोंने सर्वप्रथम आदरपूर्वक अपने मुखमण्डलपर लगाया, तत्पश्चात् कामवेगके कारण स्तनोंपर लगाया। अथवा उस कुङ्कुमको मुखमण्डल आदिपर लगाया और फिर कामरूपी तापके कारण उसका परित्याग कर दिया, क्योंकि वह कामवेग उत्पन्न करनेका कारण था, अर्थात् साक्षात् कामवेगस्वरूप ही था। इस प्रकार कार्य-कारणके अत्यन्त अभेदके कारण यहाँ पुल्लिङ्गका व्यवहार हुआ है।

जिस कुङ्कुमके दर्शनमात्रसे महाकाम-पीड़ा उत्पन्न होती है, उसे अङ्गोंमें स्पर्श करनेसे तो स्वतः ही अधिक काम-पीड़ा सम्पूर्ण रूपसे उपस्थित होगी, इसमें सन्देहकी क्या बात है? अतएव उस कुङ्कुमको

अङ्गोंपर लगानेसे काम-पीड़ा अधिक बढ़ गयी, इसलिए व्याकुल होकर अनिष्टकी आशङ्कासे पुलिन्दस्त्रियाँ उसका त्याग कर देती हैं। अहो! कितने दुःखकी बात है कि हम इतनी अधन्य हैं कि सर्वदा परमदुःखमय समुद्रमें निमग्न रहती हैं। श्रीकृष्णसे सम्बन्धित पदार्थोंके संस्पर्शसे भी दूसरे व्यक्तियोंको ऐसी महापीड़ासे शान्ति प्राप्त होती है, किन्तु दुःखका विषय यह है कि हमारे शरीरकी गन्धमात्रसे युक्त पदार्थको उन्होंने प्राणोंके लिए हानिकारक मानकर भयसे परित्याग दिया है॥११९॥

यदि दूरं गतः कृष्णो वनशोभेक्षणाय तम्।
अहंपूर्वमहंपूर्वमिति संस्पृश्य रेमिरे॥१२०॥

श्लोकानुवाद—"यदि कभी श्रीकृष्ण वनकी शोभा देखनेके लिए गोपबालकोंको छोड़कर दूर चले जाते, तब गोपबालक 'मैं पहले उन्हें स्पर्श करूँगा, मैं पहले उन्हें स्पर्श करूँगा' कहते-कहते दौड़कर श्रीकृष्णके पास आ जाते हैं तथा उन्हें स्पर्श करके आनन्द रसरूपी सागरमें डूब जाते हैं॥"१२०॥

दिग्दर्शिनी टीका—अधुना ताभ्यो विशिष्टतरं भगवत्सहचराणां श्रीगोपकुमाराणां गोपानाञ्च माहात्म्यं षड्भिः श्लोकैः तत्र वत्सपालनसमये वत्सपानां व्रजबालकानां माहात्म्यं श्रीशुकदेवपादा अवर्णयन्—'यदि दूरं गतः' (श्रीमद्भा. १०/१२/६) इति त्रयेण। अघासुरविमोचन-शाद्बलजेमनादि-विहारकौतुकेन प्रातरेव संख्यातीतान् वत्सान् पुरस्कृत्य गृहान्निर्गच्छता श्रीभगवता शृङ्गरवेण प्रबोधिताः सहस्रशो बालकास्त्वरया तेनैव सह निर्गताः। सहस्रायुतलक्षकोट्यादिसंख्यावतो वत्सांश्चारयन्तोऽपि फल-प्रवालादिभिर्वन्यभूषणैरात्मानं भूषयन्तोऽपि शिक्य चौर्य-प्रक्षेपण-वेणुवादन-भृङ्ग-गीतानुकरणादि-विविधविहारान् भगवत्प्रीत्यैवाचरन्तोऽपि तं संस्पृश्य सम्यगालिङ्गनादिना स्पृष्ट्वा पूर्वपदस्थ-वीप्सानुसारेणात्राप्यर्थतः सा बोद्धव्या, संस्पृश्यैव रेमिरे विजह्रुः, सुखिनो बभूवुर्वा। कथम्? अहं पूर्वं कृष्णं स्प्रक्ष्यामि अस्प्राक्ष्यर्म्, वेत्यहंपूर्वमहं-पूर्वमिति रीत्या; कदा वृन्दावनादि-सद्गुणसमुदायेन हृतमनस्तया निजसङ्गिनोऽपि तान् विहाय वनानां शोभाया वीक्षणाय यदि (यदा) कदाचिद्दूरं गतो भवति, तर्हि एवं श्रीभगवतोऽपि तेष्वासक्तिः सूचिता; 'यदि दूरं गते कृष्णे' इति पाठे—कृष्णे दूरं गते न रेमिरे, यदि कथञ्चिद्रेमिरे, तर्हि तं संस्पृश्येत्यर्थः। अन्यत् समानम्। ततश्च तथा कृष्णस्य स्पर्शनमेव तेषां क्रीड़ेति भावः॥१२०॥

भावानुवाद—अब पूर्वोक्त पुलिन्द स्त्रियोंसे भी श्रेष्ठ भगवान्‌के सखा श्रीगोपकुमारों तथा गोपोंके माहात्म्यका वर्णन छः श्लोकोंमें कर रहे हैं। इस प्रसङ्गमें अर्थात् श्रीवृन्दावनमें बछड़ोंको चराते समय उन व्रजबालकोंके जिस माहात्म्यका श्रीशुकदेव गोस्वामीपादने वर्णन किया है, उसीको (श्रीमद्भा. १०/१२/६) 'यदि दूरं गतः' इत्यादि तीन श्लोकों द्वारा प्रदर्शित कर रहे हैं। अघासुर-मोचन तथा सभी सखाओंके साथ वन-भोजन आदि विहार-कौतुक करनेके लिए प्रातःकाल असंख्य बछड़ोंको आगे लेकर श्रीभगवान् अपने घरसे बाहर निकलकर शृङ्गकी ध्वनिसे प्रबोधित (एकत्रित हुए) हजारों गोपबालकों सहित परमानन्दपूर्वक वेणु बजाते-बजाते वनके पथपर अग्रसर हुए। गोपबालक भी श्रीकृष्णके असंख्य बछड़ों सहित अपने-अपने सैकड़ों, हजारों, लाखों, करोड़ों-करोड़ों बछड़ोंका यूथ बनाकर बछड़ोंको चराते हुए तथा लीला करते-करते श्रीकृष्णके साथ दूर स्थित वनोंमें प्रविष्ट हुए। वहाँपर विभिन्न प्रकारके फल, फूल, प्रवाल और मयूरपुच्छ आदि द्वारा विविध प्रकारके वन्यभूषण बनाकर उनके द्वारा श्रीकृष्णको विभूषित किया तथा श्रीकृष्णकी इच्छासे स्वयं भी विभूषित हुए। इसके उपरान्त कोई-कोई दूसरेकी वेत्र, वेणु, शिका इत्यादिको छिपा देते और पकड़े जानेपर उसे दूर फेंक देते तब वहाँ उपस्थित बालक हँसते-हँसते दूरसे पुनः लाकर देते। इस प्रकार श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिए कोई वेणुवादन, कोई भ्रमर आदिके गुञ्जनका अनुकरण करके विविध प्रकारसे विहार करने लगे।

श्रीकृष्ण जब कभी श्रीवृन्दावन आदिके सद्‌गुणोंको देखकर मुग्ध हो जाते, तब वे वनकी शोभा देखनेके लिए अपने सखाओंको छोड़कर दूर वनमें चले जाते। उस समय अहम्पूर्विकाक्रमसे अर्थात् "मैं पहले जाऊँगा, मैं पहले जाऊँगा" ऐसा कहकर सभी सखा भागकर उन्हें स्पर्श करते हैं तथा श्रीकृष्ण भी उसी प्रकार उनके स्पर्श-आलिङ्गन आदि क्रीड़ासे सुखी होते हैं। इसके द्वारा श्रीभगवान्‌की भी सखाओंके प्रति आसक्ति सूचित हो रही है।

'यदि दूरं गते कृष्णे', अर्थात् यदि कृष्ण वनकी शोभा देखनेके लिए गोपबालकोंको छोड़कर थोड़ी दूर जाते हैं—इस पाठमें 'कृष्णे दूरे

गते' अर्थात् श्रीकृष्णके दूर जानेपर—'न रेमिरे' अर्थात् वे गोपबालक परमानन्द प्राप्त नहीं कर पाते। यदि श्रीकृष्ण कभी दूर चले भी जाते हैं, तब गोपबालक 'पहले मैं, पहले मैं' कहते-कहते श्रीकृष्णके निकट आ जाते हैं तथा उन्हें स्पर्शकर परमानन्दमें डूब जाते हैं। इस प्रकार श्रीकृष्णको स्पर्श और आलिङ्गन आदि करना ही उनकी क्रीड़ा समझनी चाहिये॥१२०॥

इत्थं सतां ब्रह्मसुखानुभूत्या, दास्यं गतानां परदैवतेन।
मायाश्रितानां नरदारकेण, सार्धं विजह्रुः कृतपुण्यपुञ्जाः॥१२१॥

श्लोकानुवाद—"(श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा—)हे राजन्! जो श्रीभगवान् ज्ञानियोंके लिए ब्रह्मस्वरूप सुख हैं, दास्य भावयुक्त भक्तोंके लिए परम प्रभु हैं तथा मायाके अधीन व्यक्तियोंके लिए साधारण नरबालक जैसे हैं, उन श्रीहरिके साथ ही गोपबालक बाल्यलीलाएँ करते हुए विहार करने लगे। अतएव निश्चय ही गोपबालकोंने पुञ्ज-पुञ्ज पुण्य सञ्चित किये होंगे॥"१२१॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततस्तेषां परमसौभाग्यालोचनेनातिविस्मिताः सन्तः श्रीबादरायणि-पादाः पुनस्तानेवाभिनन्दन्ति—'इत्थम्' (श्रीमद्भा. १०/१२/११) इति, अनेन पूर्वोक्त-वत्सचारणादिना प्रकारेण सार्धं कृष्णेन सह विजह्रुः ते बालकाः। तत्रापि कथम्? ब्रह्मसुखानुभूत्या ब्रह्मसुखमेव साक्षादनुभवन्त इत्यर्थः। एवञ्च तेषां तत्तद्विहारजातमपि साक्षाद्ब्रह्मसुखानुभवरूपमित्युक्तं स्यात्। कथम्भूतेन? दास्यं गतानां सतां साधूनां परमदैवतेन। यद्वा, सतामित्यस्य पूर्वेणैव सम्बन्धः। सतां मुक्तानां या ब्रह्मसुखानुभूतिस्तया; मायामोहितानान्तु नरदारकेण गोपबालकतया प्रतीयमानेनेत्यर्थः। यद्वा, सतां ज्ञाननिष्ठानां ब्रह्म च तत्सुखञ्चानुभूतिश्च तया स्वप्रकाशपरमसुखेनेत्यर्थः। दास्यं गतानां भक्तानां परमदैवतेन आत्मप्रदेन तद्वश्येन नाथेन मायाश्रितानां जगन्मोहनमायाश्रय-भगवद्विमोहनेन जितया मायया दास्येवाश्रितानाम्; किंवा, *"कात्यायनि! महामाये!"* (श्रीमद्भा. १०/२२/४) इत्यादि-महामन्त्रोपासनया मायां देवीमाश्रितानामर्चितवतीनां गोपीनां भगवत्प्रियतमानां नरदारकेण केवलं नरदारकतया प्रतीतेन; नरदारकशब्दः किशोरवाचको, विचित्रवेशभूषिते परममनोहरे नववधूवरे प्रसिद्धः। एवमैश्वर्यादिसम्बन्धराहित्येन केवलं लौकिकवत् परमेष्टबुद्ध्या परमात्मीयत्वेन तासु परिस्फुरतेत्यर्थः; यद्वा, नरदाराणां यत् रतिसुखं तेन, मूर्त्तिमन्नारीपरमसुखेनेत्यर्थः; किंवा नरान् दारयति प्रेम-विशेषविस्तारणेन विदारयतीति तथा तेन। अत्र यद्यपि नारीति वक्तुमुचितं, तथापि

स्वसादृश्येनैव सर्वेषामेव लोकानां हृदयं विदारयेदिति गोपीनां प्रतीतेर्मनुष्यमात्रविवक्षया तथोक्तम्; एवं यथोत्तरमेषां श्रैष्ठ्यं द्रष्टव्यम्। अहो! तथाभूतेन कृष्णेन सह विजह्रुः विहरन्ति, यतः किंवा अतो नूनमेत एव कृताः पुण्यानां पुञ्जा यैस्तथाभूताः। पुञ्ज-शब्देनात्र अक्षयत्वं बोध्यते। यद्वा, कृतार्थादिवत् कृतशब्देन शुद्धोक्त्या कृतानां विशुद्धानां भगवदर्पित कर्मलक्षणानां पुण्यानां पूञ्जा येषाम्; यद्वा, पूण्यशब्देनात्र भक्तिः पारिभाष्यते *"धर्मो मद्भक्तिकृत् प्रोक्तः"* (श्रीमद्भा. ११/१९/२७) इति भगवद्वचनात्। अथवा कृते सत्ययुगे यत् पूण्यं विशुद्धभगवद्ध्यानलक्षणं, तस्य पूञ्जा येषां तद्रुपा वा, सर्वथा परमभक्तवरा इत्यर्थः। अयं भावः—भगवान् श्रीनन्दनन्दनोऽयं ब्रह्मविदां बह्मसुखानुभवरूपेण केवलं स्फुरति, अतस्तेषां हृदये स्वरूपानुभवसुखमात्रम्; भक्तानां सच्चिदानन्दघनविग्रह-परब्रह्म-परमात्म-परमेश्वररूपेण केवलं प्रस्फुरति; अतो गौरवभरेण भजनं तदनुरूपानन्दसम्पत्तिश्च भगवत्प्रियाणाञ्च श्रीगोपीनां केवलं श्रीनन्दकिशोरत्वेनैव परिस्फुरति, अतः परमप्रेमसम्पत्विरुद्धज्ञान-गौरवाद्यभावात्तासां तस्मिन् परमप्रेमैव सम्पद्यते। एतच्च पूर्वं बहुधोक्तमेवास्ति। इत्थमत्यन्तप्रेमभरेण ता हि विवशास्तत्र च प्रायो दिवाविरहिण्यो रात्रावप्यस्वतन्त्रा भगवता समं मनस्तृप्त्या रन्तुं न शक्नुवन्ति। एते तु बालकास्तेन सह तादृश-सख्यादिना गृहेषु वनेषु च स्वातन्त्र्येण तत्तद्विचित्रविहारमपि सदा कुर्वन्ति, अहो! सौभाग्यमहिमैषामिति। यद्यपि भगवतीनां तासामेव सर्वेभ्यः सकाशात् परमसौभाग्यमहिमा सर्वत्रैव वर्ण्यते, तथाप्यत्र श्रीशुकदेवपादैः सहजगोपीभावानुसृतहृदयैर्बालकानां तेषां महासुखकेलिभरं वर्णयद्भिः सदा भगवता तेन सह वनमध्ये तादृश-क्रीड़ालोभेन गोपीवत्तथोक्तमिति ज्ञेयम्। यथा श्रीगोपीनामेव *"अक्षण्वतां फलमिदम्"* (श्रीमद्भा. १०/२१/७) इत्यादिवचनेषु वनान्तर्विहरतः श्रीकृष्णस्य वक्त्रदर्शनमेव चक्षुष्मतां फलं, नान्यदित्यादि तात्पर्यम्॥१२१॥

भावानुवाद—अतएव गोपबालकोंके परम सौभाग्यकी आलोचना करते हुए अत्यधिक विस्मित होकर श्रीशुकदेव गोस्वामी (श्रीमद्भा. १०/१२/११) 'इत्थम्' इत्यादि श्लोक द्वारा उनका अभिनन्दन कर रहे हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त गोपबालक बछड़ोंको चराने आदि विविध प्रकारकी बाल्यलीलाएँ करते-करते श्रीकृष्णके साथ विहार करने लगे। वह लीला-विहार कैसा था? साक्षात् ब्रह्मसुखका अनुभव करानेवाला था। अथवा साधु व्यक्ति जिन्हें साक्षात् ब्रह्मसुखानुभवके रूपमें अनुभव करते हैं, उनके साथ विहार करने जैसा था।

यदि कहो कि वे कैसे हैं? दास्य भावयुक्त भक्तोंके लिए परम देवता स्वरूप हैं। अथवा 'साधु' शब्दका पूर्व वाक्यके साथ सम्बन्ध

होनेके कारण मुक्त व्यक्तियोंके लिए ब्रह्मसुखानुभूतिस्वरूप तथा माया द्वारा मोहित व्यक्तियोंके लिए नरबालक (गोपबालक) रूपमें प्रतीत होनेवाले स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं। अथवा 'साधु' कहनेसे ज्ञाननिष्ठ व्यक्ति जिनको ब्रह्म तथा ब्रह्मसुखके रूपमें अनुभव करते हैं, ऐसे स्वप्रकाश परमसुखस्वरूप तथा दास्य भावयुक्त भक्तोंके लिए जो परमदेवता स्वरूपमें आत्मप्रद अर्थात् उनके वशीभूत होते हैं, ऐसे प्रभु श्रीकृष्ण। 'मायाश्रितानां' अर्थात् जगत् विमोहिनी माया जिन्हें आश्रय करके श्रीभगवान्का विस्मरण कराने आदि जैसे अपने कार्य करती हैं, उस मायाके दास रूपमें जो आश्रित हैं, उन विषयोंमें आसक्त व्यक्तियोंके लिए नरबालक रूपमें प्रतीत होते हैं। अथवा माया कहनेसे कात्यायनीदेवीकी आश्रित गोपियोंके वरस्वरूप परममनोहर किशोर रूपसे युक्त हैं। यथा (श्रीमद्भा. १०/२२/४)—"कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरि। नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरुते नमः।" अर्थात् "हे कात्यायनि! हे महामाये! हे महायोगिनी! हे सबके एकमात्र स्वामिनी! आप नन्दनन्दन श्रीकृष्णको हमारा पति बना दीजिये। हे देवि! हम आपके चरणोंमें नमस्कार करती हैं।" श्रीकृष्णको पति रूपमें प्राप्त करनेके लिए व्रजकी कुमारियोंने इस सिद्धमन्त्रसे ही कात्यायनीदेवीकी पूजा की थी। अतएव इस महामन्त्रसे उपासना करके गोपियोंने योगमायाका आश्रय लिया था, इसलिए भगवान्की प्रियतमा गोपियोंके लिए वे केवल नरबालक रूपमें ही प्रतीत होते हैं।

'नरदारक' शब्द किशोरवाचक है तथा विचित्र वेशभूषासे युक्त परममनोहर नववधुके वर रूपमें प्रसिद्ध है। अतएव श्रीकृष्ण इन गोपियोंके लिए ऐश्वर्य आदि सम्बन्धसे रहित केवल लौकिक रीतिकी भाँति परम इष्टकी बुद्धिसे उत्पन्न परम आत्मीय रूपमें ही परिस्फुरित होते हैं। अथवा यहाँपर 'नर' कहनेसे गोप तथा उनकी 'दारा' अर्थात् प्रियतमाओंके रतिसुखको बढ़ानेवाली नरबालक मूर्त्ति, अर्थात् जो सभी गोपियोंको अत्यधिक आनन्द प्रदान करते हैं। अथवा फिर 'नरान् दारयति' अर्थात् विशेष प्रेमका विस्तार करके जो सभीके हृदयको विदीर्ण करते हैं। यद्यपि यहाँपर 'नर' शब्द प्रयोग करनेकी अपेक्षा 'नारी' शब्दका ही प्रयोग करना उचित था, तथापि उन गोपियोंकी

भाँति ही सभीके हृदयको विदारण करनेवाला स्वरूप उद्दिष्ट हुआ है। अर्थात् गोपियोंके बोधसे मनुष्यमात्रके ही हृदयको विदीर्ण करनेवाला जिनका प्रेम है—उन्हीं श्रीकृष्णकी प्रेम-सम्पत्तिका वर्णन करनेके लिए ही ऐसी उक्ति है। इस प्रकार उत्तरोत्तर साधुओंका श्रेष्ठभाव द्रष्टव्य है।

अहो! ऐसे श्रीकृष्णके साथ गोपबालक विहार करने लगे! अतएव 'कृतपुण्यपुञ्ज'—असंख्य पुण्यके निकेतन उन गोपबालकोंके सौभाग्यके विषयमें और क्या कहूँ? यहाँपर 'पुञ्ज' शब्दका अर्थ अक्षय है। अथवा 'कृतार्थादिवत्' अर्थात् 'कृतार्थकी भाँति' में 'कृत' शब्दका अर्थ शुद्ध होनेके कारण विशुद्ध भगवत्-अर्पित कर्मरूप लक्षणोंसे युक्त जिनके पुण्यपुञ्ज हैं। अथवा यहाँपर 'पुण्य' शब्दका अर्थ भक्ति है तथा इसकी परिभाषाका वर्णन श्रीमद्भागवत (११/१९/२७) में इस प्रकार किया गया है—"जिसके द्वारा मुझमें भक्ति उत्पन्न होती है, वही धर्म कहलाता है।" श्रीभगवान्‌के इस वचनके अनुसार भक्ति ही धर्मके रूपमें स्वीकृत हुई है। अथवा 'कृते' कहनेसे सत्ययुगमें विशुद्ध रूपमें श्रीभगवान्‌का ध्यान करनेसे जो पुण्य प्राप्त होता है, वैसे पुण्योंका सञ्चय करनेवाले ही सर्वथा परम भक्त प्रवर हैं। तात्पर्य यह है कि भगवान् श्रीनन्दनन्दन ब्रह्मवादियोंके लिए केवल ब्रह्मसुखानुभवके रूपमें ही स्फुरित होते हैं, अतएव उनके हृदयमें केवल श्रीभगवान्‌के स्वरूपका अनुभवरूप सुखमात्र होता है। किन्तु भक्तोंके लिए केवल सच्चिदानन्दघन विग्रह अर्थात् परब्रह्म-परमात्मा-परमेश्वर रूपमें परिस्फुरित होते हैं तथा इस प्रकारके गौरवपूर्ण भजनके अनुसार ही आनन्दकी प्राप्ति होती है। श्रीभगवान्‌की प्रियतमा गोपियोंके लिए वे केवल श्रीनन्दकिशोर रूपमें ही सर्वदा परिस्फुरित होते हैं, क्योंकि परम प्रेम सम्पत्तिके विरोधी ज्ञान-गौरव आदिके अभाववशतः उनमें केवल परमप्रेम ही उत्पन्न होता है। इसका भी पहले विविध प्रकारसे वर्णन किया जा चुका है।

इस प्रकार दिनमें विरह अनुभव करनेके कारण प्रेममें अत्यन्त विवश होनेसे गोपियाँ रात्रिकालमें भी अपने मनकी तृप्तिके अनुसार श्रीकृष्णके साथ रमण करनेमें समर्थ नहीं हो पाती थीं, किन्तु

गोपबालक उनके साथ वैसे सख्यभावसे क्या घरमें और क्या वनमें, सर्वदा स्वच्छन्द रूपमें विचित्र विहार करते हैं। इसलिए गोपियाँ आक्षेप करके कह रही हैं—अहो! इन गोपबालकोंके सौभाग्यकी महिमाका वर्णन कौन कर सकता है?

यद्यपि भगवती गोपियोंके सर्वाधिक परम सौभाग्यकी महिमा सर्वत्र वर्णन की जाती है, तथापि यहाँपर श्रीशुकदेव गोस्वामी सहज-गोपीभाव द्वारा वशीभूत होनेके कारण उन गोपियों जैसे भावोंसे गोपबालकोंके अत्यधिक सौभाग्यका वर्णन कर रहे हैं। अर्थात् उन गोपबालकोंके महासुखपूर्ण लीला-कौतूहलका वर्णन करके वनमें स्वच्छन्द रूपसे श्रीभगवान्‌के साथ सर्वदा वैसी विचित्र लीलाओंके लोभवशतः गोपियोंके भावोंके समान ही उनकी ऐसी उक्ति है—जानना होगा। यथा श्रीमद्भागवत (१०/२१/७) में गोपियोंकी उक्ति है—"गोपबालकों सहित वनमें गोचारणके लिए विचरणशील श्रीकृष्णके वेणुवादन करते हुए स्निग्ध कटाक्षपूर्ण मधुर श्रीमुखमण्डलका नेत्रों द्वारा जो निरन्तर आस्वादन कर रहे हैं, उनके नेत्र ही सार्थक हैं, इसके अलावा नेत्रोंकी अन्य कोई सार्थकता नहीं है।" इत्यादि वचनोंसे वनमें विहार कर रहे श्रीकृष्णके मुखचन्द्रका दर्शन करनेके अलावा नेत्रोंका अन्य कोई फल ही नहीं है—ऐसा ध्वनित हो रहा है॥१२१॥

यत्पादपांशुर्बहुजन्मकृच्छ्रतो, धृतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः।
स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः, किं वर्ण्यते दिष्टमहो व्रजौकसाम्॥१२२॥

श्लोकानुवाद—"जो बहुत जन्मों तक यम-नियम आदि कष्टपूर्ण साधनोंके फलसे अपने चित्तको स्थिर करनेमें समर्थ हुए हैं, वैसे समस्त योगी भी जिन श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंकी धूलिका एक कण भी प्राप्त नहीं कर पाते हैं, वही भगवान् श्रीव्रजेन्द्रनन्दन स्वयं जिनके नेत्रोंके समक्ष प्रकाशित होकर विराज रहे हैं, अहो! उन सब व्रजवासियोंके सौभाग्यका और क्या वर्णन करूँ?॥"१२२॥

दिग्दर्शिनी टीका—अहो वत दूरे तावदास्तामेषां श्रीभगवता सह निरन्तर-विहारसौभाग्यमहिमा, तत्सन्दर्शनमात्रसौभाग्यमेवैतेषां केन वर्णयितुं शक्यमित्यभिप्रेत्याह—'यत्पादपांशुः' (श्रीमद्भा. १०/१२/१२) इति। यस्य श्रीकृष्णस्य पादपद्मं तस्यैकस्यापि

पांशुरेकोऽपि। यद्वा, पादपांशुः व्रजभूम्युदितरेणुराजिविराजित–पादपद्मचिह्नरूप–पदकदम्बसम्बन्धी यः पांशुः; यद्वा, कुत्रापि कथञ्चित् पतितः पादपद्मपांशुः। एवं त्रिधापि साक्षाद्यत्पादरेणुरेको वा दूराद्गलितपादरेणुवत् कथञ्चित् कश्चित् तत्पादपद्मसम्बन्धी वेत्यर्थः। अथवा यस्य पादपानां वृन्दावनादिवर्त्ति–क्रीड़ाकदम्बादीनामेकस्याप्यंशुर्दीप्तिः। एवं दूराद्रविरश्मिवद्यत्सम्बन्धोऽपि कश्चिदित्यर्थः। बहुभिर्जन्मभिः, कृच्छ्रेण ब्रह्मचर्यादिक्लेशेन धृतो नियमतो विषयेभ्यो वा प्रत्याहृत्यात्मनि स्थिरीकृतात्मा मनो यैस्तैर्योगिभिः समाधियोगयुक्तैरपि अलभ्यः लब्धुमशक्यः, स एव सच्चिदानन्दघनमूर्त्तिः सर्वेन्द्रिय–वृत्त्यतीतस्तत्र च स्वयं साक्षाच्छ्रीकृष्ण एव। न च तस्य कापि विभूतिः कश्चिदंशोऽवतारो वा श्रीनारायणरूपो वा। येषां गोपानां दृग्विषयः दृशोर्ग्राह्यरूपवद् ग्राह्यतां प्राप्तः सन् स्थितः स्थिरतां प्राप्तः। कदाचित् कथञ्चिदप्यक्षिभ्यां नापयातीत्यर्थः। अत एषां व्रजौकसां दिष्टं भाग्यमहो! किं वर्ण्यते, किं वर्णनीयं वर्णयितुमशक्यमित्यर्थः। यद्वा, तेषां किं दिष्टं कतरत् पूर्वजन्मकृतपूण्यमेवैतद्वर्ण्यते यस्येदृशं फलं स्यात्? अपि तु न किमपि दिष्टमिदम्; केवलं भगवत्कृपयैवेत्यर्थः। अथवा दिष्टमहो भागधेयोत्सवः किंवा दिष्टस्य महस्तेजः स्वभाव इत्यर्थः। यद्वा, अकार–विश्लेषेण अदृष्टं महः उत्सवः प्रभावो वेत्यर्थः। एवं सर्वथा तत्तद्रूपो भक्तियोग इति यावत्। अथवा पूर्वं सहविहारमहासौभाग्यं वर्णयित्वा पश्चात्तदन्तर्गतं दर्शनमात्रं भाग्यं वर्ण्यते इति स्तुतिरीतिर्न भवेत्, न च महिमवर्णन–क्रमनिर्वाहसौष्ठवमित्यतोऽयमर्थः कल्पनीयः (कथनीयः)। अहो! अस्तु तावत् सहक्रीड़ापराणां भगवत्–प्रियसखानामेषां सौभाग्योत्कर्ष–महिमा व्रजे वसतां सर्वेषामपि प्राणिनां माहात्म्यं किं वर्ण्यतामित्याह—यत्पादपांशुरिति–श्लोकार्थस्तु पूर्ववदनुसन्धेयः। एवं सति परमयोगनिष्ठेभ्यो व्रजवासिमात्रस्यैव महिमा सङ्गतः (सिद्धः)। ततश्च श्रीभगवत्सङ्गिनां तदेकप्रियाणां गोपकुमाराणां परमोत्कर्षस्तात्पर्येण स्वतः सिध्यत्येव। अथवा प्रस्तुतगोपबालकगणमाहात्म्यमेव साक्षात् अत्रापि प्रतिपाद्यम्। ततश्च दृग्विषय इत्यस्यायमर्थः—चक्षुरिन्द्रियस्य विषयो रूपम्; एवेत्यत्र योज्यं स स्वयं येषां दृग्विषय एव स्थितः स्थैर्येण बभूव। यथा हि चक्षुरिन्द्रियेण रूपमेव गृह्यते, न तु रसगन्धादि। तथा तेषां चक्षुर्भिः श्रीकृष्ण एव गृह्यते, नान्यत्; तत्स्नेहाकृष्टचित्ततया साक्षाद् विद्यमानस्याप्यन्यस्यादर्शनात्। यद्वा, यथान्येषां चक्षुषा घटपटादिप्रत्यक्षनिश्चये न गृह्यते, तथा तेषां चक्षुषा सर्वत्र सर्वमेव साक्षात् श्रीकृष्णतया गृह्यते, नान्यथेति। यथोक्तं श्रीजयदेवेन *"पश्यति दिशि दिशि रहसि भवन्तम्"* इति। एवं सहविहारसौभाग्यादपि गोपीसदृशप्रेम्णा सर्वत्र सदा साक्षाद्भगवत्–परिस्फूर्त्तिसौभाग्यमहिमाधिकः स्यादेवेत्यस्य पश्चान्निर्देशः सङ्गच्छेत॥१२२॥

भावानुवाद—अहो! उन गोपबालकोंके साथ श्रीभगवान्के निरन्तर विहार आदिके सौभाग्यकी बात तो दूर रहे, उनके दर्शनमात्रके सौभाग्यकी महिमाके विषयमें ही किस प्रकार वर्णन किया जा सकता

है? इसी अभिप्रायसे श्रीशुकदेव गोस्वामी (श्रीमद्भा. १०/१२/१२) 'यत्पादपांशु' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी धूलिका एक कणमात्र अथवा व्रजभूमिमें उदित ऐसी धूलिमें विराजित चरणकमलोंके चिह्नरूप चरणराशिसे सम्बन्धित जो धूलिके कण हैं। अथवा किसी भी स्थानपर किसी भी रूपमें पड़ी हुई चरणकमलोंकी धूलिके कण। इस प्रकार तीन उपायों द्वारा प्राप्त साक्षात् चरणकमलकी धूलिका एक कण अथवा दूरमें गिरा हुआ धूलिके समान किसी भी प्रकारसे उनके चरणकमलोंसे सम्बन्धित एक धूलि कण। अथवा जिनकी लीला-स्थलीके वृक्ष अर्थात् श्रीवृन्दावन आदि लीला-भूमिके कदम्ब आदि वृक्षोंकी किरण कण और इसी प्रकार दूरसे आ रही सूर्यकी किरणकी भाँति उनके चरणोंसे सम्बन्धयुक्त कोई एक कण—यह अर्थ है।

कृच्छ्रेण अर्थात् कठिनतासे ब्रह्मचर्य आदि व्रतोंके क्लेशोंको स्वीकारकर विषय-भोगोंको नियमित करनेवाले अथवा अपने मनको आत्मामें स्थिरकर समाधि योगमें स्थित योगी भी जिनके श्रीचरणकमलोंकी धूलिको प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होते हैं, वही सच्चिदानन्दघन मूर्त्ति सभीकी समस्त इन्द्रियोंकी वृत्तिके अतीत हैं तथा अपनी विभूति या किसी अंशावतारकी तो बात ही क्या, साक्षात् श्रीनारायण स्वरूपके भी मूल स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र हैं। जो ऐसे श्रीकृष्णचन्द्रको निरन्तर अयाचित भाव द्वारा नेत्रोंसे दर्शन कर रहे हैं तथा वे श्रीभगवान् भी उन गोपबालकोंके नेत्रों द्वारा ग्रहणीय होकर सदा स्थिर भावसे वहाँ रह रहे हैं—कभी भी किसी प्रकारसे नेत्रोंसे दूर नहीं होते, ऐसे व्रजवासियोंके महान सौभाग्यकी महिमाका कौन वर्णन कर सकता है? अपितु कोई भी करनेमें समर्थ नहीं है। अथवा गोपबालकोंके ऐसे सौभाग्यको क्या कोई उनके पूर्व-जन्मोंमें किये गये पुण्योंका फल कह सकता है? ऐसा सौभाग्य उनके पूर्व-जन्मोंमें किये गये पुण्योंका फल नहीं है, अपितु श्रीभगवान्‌की कृपा द्वारा ही सम्भवपर हुआ है। अथवा यही 'भागधेयोत्सव' अर्थात् उनके भाग्यका परम महोत्सव है, अथवा उनके भाग्यका महान तेज अर्थात् स्वभाव है। अथवा अदृष्ट पदके 'अ' कार-विश्लेषणसे 'अ-दृष्ट मह उत्सवः' अर्थात् ऐसा

भाग्यका उत्सव (प्रभाव) कहींपर भी नहीं देखा जाता, क्योंकि यह सर्वदा गोपबालकोंके द्वारा किये गये भक्तियोग द्वारा ही सम्भव है।

अथवा पहले श्रीभगवान्‌के साथ गोपबालकोंके विहार-सौभाग्यका वर्णन करके अब उसके अन्तर्गत उनके दर्शनमात्रके सौभाग्यका वर्णन कर रहे हैं, किन्तु यह स्तुति करनेकी रीति नहीं है तथा इसके द्वारा महिमा वर्णनका क्रमनिर्वाह और सौष्ठव सम्पादन नहीं होता। परन्तु यहाँपर ऐसा अर्थ कहा जा रहा है—अहो! श्रीभगवान्‌के साथ लीलामें रत उन सखाओंके सौभाग्यका उत्कर्ष वर्णन करनेकी बात तो दूर रहे, उस व्रजके किसी एक प्राणीके माहात्म्यका भी क्या कोई वर्णन कर सकता है? इसका कारण 'यत्पादपांशु' इत्यादि श्लोकका अर्थ अनुसन्धान करनेपर जाना जाता है, अर्थात् श्रीवृन्दावनके कदम्ब आदि वृक्षोंकी दूर स्थित किरण छटाको भी यम-नियम आदि योगानुष्ठानमें रत योगी हृदयमें भी धारण नहीं कर पाते हैं। अतएव व्रजवासियोंके सौभाग्यके साथ तुलना करनेसे ज्ञानी-योगी इत्यादिका सौभाग्य अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होगा। इस प्रकार परम योगमें निष्ठ योगियोंसे भी कहीं अधिक महिमायुक्त व्रजमें वास कर रहे पशु, पक्षी, कीट आदि ही हैं। अतएव व्रजवासियों तथा श्रीभगवान्‌के सङ्गी उनके प्रिय सखा गोपकुमारोंकी परम उत्कर्षता स्वतः ही सिद्ध हो रही है।

अथवा यहाँपर भी प्रस्तुत विषयका अनुसरण करनेपर साक्षात् उन गोपकुमारोंका माहात्म्य ही प्रतिपादित होगा। अतएव 'दृग् विषय' अर्थात् नयन-गोचर होना तथा इसके साथ 'एव' कारके योगसे अर्थ होगा—जिस प्रकार नेत्ररूपी इन्द्रियका विषय रूप है, उसी प्रकार अनुपम रूपके धाम स्वयं भगवान् जिनके नेत्रोंका विषय होकर स्थिर भावसे अवस्थान कर रहे हैं, अर्थात् स्वयं भगवान् श्रीकृष्णको जो निरन्तर अयाचित भावसे अपने नेत्रोंसे देख रहे हैं। जिस प्रकार नेत्रों द्वारा केवल रूप ही ग्रहण किया जाता है, रस, गन्ध आदि नहीं, उसी प्रकार सखाओंके नेत्रों द्वारा श्रीकृष्णके रूपके अलावा अन्य कुछ भी ग्रहण नहीं किया जाता है। उनके प्रति श्रीकृष्णका स्नेह अथवा श्रीकृष्णके प्रति उनका स्नेह तथा इस प्रकार स्नेहसे चित्तके आकृष्ट होनेके कारण अन्य वस्तुओंके साक्षात् विद्यमान रहनेपर भी वे स्नेहसे

अन्धे होकर अन्य विषयोंको देख नहीं पाते। अथवा अन्य लोग जैसे नेत्रों द्वारा घट–पट आदि प्रत्यक्ष अथवा निश्चित होनेपर ही ग्रहण करते हैं, उसी प्रकार गोपबालक अपने नेत्रों द्वारा सर्वत्र सभी विषय साक्षात् श्रीकृष्णके रूपमें ही ग्रहण करते हैं, अन्य रूपमें नहीं। इसलिए श्रीजयदेव गोस्वामीने कहा है—"पश्यति दिशि दिशि रहसि भवन्तम्" (हे नाथ! हे हरे! श्रीराधा अपने आवास गृहमें अत्यन्त दुःखी हो रहीं हैं तथा अपने अधरकी मधुर सुधापानमें सकुशल आपको मन–ही–मन समस्त दिशाओंमें देख रहीं हैं।) इस प्रकार श्रीभगवान्के साथ गोपबालकोंके विहार–सौभाग्यकी तुलनामें भी गोपियोंमें अधिक प्रेमवशतः उन्हें सर्वत्र सदा साक्षात् श्रीभगवान् परिस्फुरित होते हैं। इस कारणसे गोपियोंके सौभाग्यकी महिमाको बादमें निर्देश किया गया हैं॥१२२॥

क्वचित् पल्लवतल्पेषु नियुद्धश्रमकर्शितः।
वृक्षमूलाश्रयः शेते गोपोत्सङ्गोपबर्हणः॥१२३॥

श्लोकानुवाद—"कभी–कभी वे व्रजेन्द्रनन्दन अपने सखाओंके साथ कुश्ती लड़नेके परिश्रमसे थककर वृक्षके नीचे कोमल पत्तों और पुष्पोंसे बनी शय्यापर अपने किसी गोपसखाकी गोदको तकिया बनाकर उसपर सिर रखकर शयन करते हैं॥"१२३॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथ गोपवर्गाणां श्रीगोपालदेवे प्रेमभक्तिमाहात्म्यं पौगण्डलीलायां गोपालनसमये श्रीवृन्दावने वयस्यैर्गोपालैः सह सर्वतः गाश्चारयतः स्थाने स्थाने विचित्रक्रीड़ां कुर्वतो भगवतो विश्रामलीलां श्रीशुकदेवपादा वर्णयामासुः—क्वचित् पल्लवेत्यादि (श्रीमद्भा. १०/१५/१६) श्लोकत्रयेण। क्वचित् कदाचित् कस्मिंश्चित् शीतलवातसेवित–यमुनातीरादि–स्थाने; नियुद्धेन मल्ललीलया यः श्रमस्तेन कर्षितो व्याप्त इव, वृक्षमूलं सहजनिविड़सुस्निग्धच्छायकदम्बपादप–तलमाश्रयो विश्रामस्थलं यस्य तथाभूतः सन् क्वचित् पूर्वमेव श्रीवृन्दादेव्या विरचय स्थापितेषु; किंवा तत्कालमेव प्रियसखगणैर्विरचितेषु, पल्लवेत्युपलक्षणं, पल्लवपत्रपुष्पाणामभिनवकोमलानां तल्पेषु। बहुभिः रचितत्वाद्गौरवेण बहुवचनम्; यद्वा, परस्परप्रीतिस्पर्द्धया सर्वैरेकैकश्येन विरचितेषु बहुलेषु तेषु सर्वेषां तेषां प्रीत्यै विश्वरूपेण तदलक्षितः शेते इत्यर्थः। गोपस्य कस्यचित् प्रधानत्वात् श्रीराधाभ्रातुः श्रीदाम्न उत्सङ्गः क्रोड़ एव उपबर्हणमुपधानं यस्य सः॥१२३॥

भावानुवाद—तदुपरान्त गोपोंकी श्रीगोपालदेवके प्रति प्रेमभक्तिका माहात्म्य तथा पौगण्डलीलामें गोपालनके समय श्रीवृन्दावनमें अपनेसे बड़ी आयुवाले गोपबालकोंके साथ सर्वत्र गोचारण और स्थान-स्थानपर विचित्र लीला करते-करते श्रीभगवान्‌ने जो विश्राम लीला की थी, श्रीशुकदेव गोस्वामीने उसी लीलाका वर्णन (श्रीमद्भा. १०/१५/१६) 'क्वचित् पल्लव' इत्यादि तीन श्लोकोंमें किया है। किसी समय श्रीगोपालदेव मल्लयुद्ध (कुश्ती-क्रीड़ा) के परिश्रमसे थककर मन्द-मन्द बह रही शीतल वायु द्वारा सेवित यमुना तीर आदि स्थानोंपर स्थित वृक्षोंके नीचे अर्थात् सहज ही घने तथा सुस्निग्ध छायायुक्त कदम्ब वृक्षोंके नीचे बैठ जाते हैं। वहाँपर कभी तो पहलेसे ही श्रीवृन्दादेवी द्वारा बनायी गयी अथवा उसी समय प्रिय सखाओं द्वारा बनायी गयी कोमल पत्तों और पुष्पोंकी शय्यापर लेट जाते हैं। बहुत-से सखा मिलकर उस शय्याको बनाते हैं, इसलिए गौरववशतः बहुवचनका प्रयोग हुआ है। अथवा श्रीकृष्णको अपनी-अपनी शय्यापर शयन करानेके लिए उनमें परस्पर प्रीतिपूर्ण स्पर्धाके कारण वे अलग-अलग बहुत-सी शय्याएँ बनाते हैं तथा श्रीकृष्ण भी उनकी प्रीतिके पाशमें बन्धकर अनेक रूपोंसे (उनके परस्पर अलक्षित रूपमें) प्रत्येक शय्यापर शयन करके उन सबके आनन्दको बढ़ाते हैं तथा वे सखा भी श्रीकृष्णकी थकानको दूर करनेके लिए विविध प्रकारसे उनकी सेवा करते हैं। कभी-कभी श्रीकृष्ण किसी प्रधान सखा अर्थात् अपनेसे बड़ी आयुवाले श्रीराधाजीके भैया श्रीदामकी गोदरूपी तकियेपर ही सिर रखकर शयन करते हैं॥१२३॥

पादसम्वाहनं चक्रुः केचित्तस्य महात्मनः।
अपरे हतपाप्मानो व्यजनैः समवीजयन्॥१२४॥

श्लोकानुवाद—"उस समय कोई महात्मा (गोपसखा) उनके श्रीचरणोंको दबाता है और सेवा-विघ्नरूप पापसे नित्यमुक्त कोई सखा उन्हें नये कोमल पत्तों द्वारा बनाये गये पंखेसे वीजन करता है॥"१२४॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं नियुद्धक्रीड़ा-पल्लवशय्याविरचनोत्सङ्गोपबर्हणताभिः सेवासौभाग्यं प्रदर्शितम्; अधुना सहजपरमस्नेहवन्तः तत्परिश्रमदर्शनेन व्याकुलास्तदपनोदनाय

वैयग्र्येण बहुधा परिचरन्तः स्नेहभराविर्भावविवशा बभूवुरिति परमप्रेमसम्पन्महिमा प्रतिपाद्यते—'पादसम्वाहनम्' (श्रीमद्भा. १०/१५/१७) इति द्वाभ्याम्। तस्य श्रीभगवतः पादयोः श्रीचरणपद्मयोः सम्वाहनम्; केचित् कतिचित्, महात्मन इति महात्मानो महाशयाः; यद्वा, तस्यैव विशेषणमपरिच्छिन्नस्यापि चक्रुः, केचिदिति बहुत्वं समयपरिवर्तेन (परिवर्ततया) यथाक्रमं श्रीचरणावयव-विभागशो वा विश्वरूपाभिप्रायेण स्थाने स्थाने त्रिचतुरतया वा; अनेनैव बाल्यलीलायामपि परमैश्वर्य-प्रकटनाभिप्रायेणाग्र्यश्लोकान्ते ईशचेष्टित इति वक्ष्यते। यद्वा, दुस्तर्क्यानन्तशक्तेर्भगवतः प्रियसखवर्गप्रीत्ये श्रीनन्दनन्दन-रूपातिरस्कारेणैव तत्तदलक्ष्यपरमाश्चर्यनिजापरिच्छिन्नता प्रकटनेनैकत्रैव पादसम्वाहन-सेवायां युगपन्महायूथमपि घटते। अतएवात्र महात्मशब्द-प्रयोगः। अथवा प्रेमभराकुलानां संघर्षेण तत्रैव बहवोऽपि घटेरन्; ततश्च तत्तलीलायामीशचेष्टितत्वं सृष्ट्यादिरूपादीश-चेष्टितादपि तस्याः तस्याः जगन्मनोहरतर-माधुर्यादिमाहात्म्यविशेषापेक्षया ज्ञेयम्। हतोऽपगतः पाप्मा येभ्यस्ते; यथाहि—धार्मिकाणां यद्धर्मविपरीतं तदेव पापम्; तथा भक्तानामपि भक्तिविरुद्धं सर्वमेव पापम्। पाप्न-शब्देनात्र तदेव गृहीतम्। अथवा श्रीभगवतेव श्रवण-कीर्त्तनादिना हतो नाशितो जगतामेव पाप्मा यैः; अपरे कतिचित्-पल्लवपत्र-बर्हादि-रचितैर्व्यजनैः सम्यक् शीतलमन्दत्वादिगुणयुक्ततया अवीजयन्॥१२४॥

भावानुवाद—इस प्रकार मल्लयुद्ध अर्थात् कुश्ती-क्रीड़ा, पत्तों और पुष्पोंसे बनी शय्या और उसके साथ उपाधान (तकिया) आदि प्रस्तुत करनेमें गोपबालकोंका सेवा-सौभाग्य प्रदर्शित हुआ है। अब स्वभाविक रूपसे परम स्नेहशील गोपबालक श्रीकृष्णके परिश्रमको देखकर व्याकुल हो जाते हैं तथा उनकी थकानको दूर करनेके लिए प्रचुर स्नेहके उदित होनेसे विवश होकर बहुत प्रकारसे उनकी सेवा करने लगते हैं। उनकी उस परम प्रेम-सम्पत्तिकी महिमाका वर्णन श्रीशुकदेव गोस्वामी (श्रीमद्भा. १०/१५/१७) 'पादसम्वाहन' इत्यादि दो श्लोकोंमें कर रहे हैं। उस समय किसी-किसी महात्मा (महाशय) ने श्रीकृष्णके चरणोंको दबाया। अथवा 'महात्मनः' शब्द श्रीकृष्णका ही विशेषण है, क्योंकि असीम होकर भी अनेक गोपबालकों द्वारा निर्मित पुष्प-शय्यापर शयन करनेसे किसी-किसी गोपबालकने उनके चरणोंको दबाया, किसीने अङ्गोंका सम्वाहन किया, किसीने नये पत्तों द्वारा बनाये गये पंखेसे बीजन किया, इस प्रकार बहुत-से गोपबालक विभिन्न प्रकारसे सेवा करने लगे। अथवा समयके साथ-साथ क्रमपूर्वक श्रीचरण,

श्रीअङ्ग इत्यादिकी सेवामें लग गये। अथवा उनके विश्वरूपके अभिप्रायसे स्थान-स्थानपर तीन-चार गोपबालक परिचर्या करने लगे। इसके द्वारा बाल्यलीलामें भी परम ऐश्वर्यके प्रकटनवशतः अगले श्लोक (श्रीमद्भा. १०/१५/१९) में 'ईशचेष्टितः' कहा गया है। अथवा तर्करहित अनन्त शक्तिमान् श्रीभगवान्ने अपने प्रिय सखाओंकी प्रीतिके वशीभूत होकर अपने श्रीनन्दनन्दन रूपका किसी भी प्रकारसे अनादर न कर उन-उन सखाओंके अलक्ष्यमें ही परम आश्चर्यमय अपनी असीमताको प्रकट किया, अर्थात् श्रीनन्दनन्दन स्वरूपकी ही असंख्य मूर्त्तियाँ प्रकाश करके सबकी सेवाको ग्रहण किया। इसलिए केवल पाद-सम्वाहन सेवामें ही एक साथ असंख्य गोपबालक लगे रहते हैं, किन्तु सेवाके विषयमें किसी प्रकारका कोई संघर्ष नहीं होता है और प्रत्येक गोपबालक यही सोचता है कि श्रीकृष्ण मुझे बहुत प्रीति करते हैं, इसलिए मेरी ही सेवाको ग्रहण कर रहे हैं। इसी उद्देश्यसे ही यहाँ 'महात्मा' शब्दका प्रयोग किया गया है। अथवा प्रचुर प्रेमकी व्याकुलताके कारण स्पर्द्धा सहित एक ही स्थानपर बहुत गोपबालकों द्वारा एकत्र होकर सेवा करना असम्भव नहीं है। किन्तु इस लीलामें जो ईश्वरकी चेष्टा है, वह सृष्टि आदि रूप ईश्वरकी चेष्टासे भी विलक्षण है, क्योंकि यह लीला जगत्को मोहित करनेवाले उनके माधुर्य आदि विशेष माहात्म्यसे युक्त है—ऐसा जानना होगा।

किसी-किसी 'हतपाप्मा' (पाप-रहित गोपसखा) ने नये-नये पुष्पोंसे और मयूरपुच्छ आदिसे बने पंखोंके द्वारा भलीभाँति शीतलता-मन्दता आदि गुणोंसे युक्त वीजन किया। यहाँपर 'पाप्मा' शब्दका अर्थ है—श्रीकृष्णकी सेवामें होनेवाला भक्तिविरुद्ध विघ्न। जिस प्रकार धार्मिक व्यक्तिके लिए धर्म-विपरीत कार्य पाप है, उसी प्रकार भक्तोंके लिए भक्तिके विरोधी जो कुछ भी है, वह सब कुछ ही पाप है। अथवा श्रीभगवान्के समान ही जिनके चरित्रका श्रवण-कीर्त्तन करनेसे समस्त जगत्का पाप नाश होता है—वही 'हतपाप्मा' गोपबालक अनादि कालसे श्रीकृष्णकी सेवाके अधिकारी हैं, उनकी सेवामें कभी किसी प्रकारका विघ्न उपस्थित नहीं होता है॥१२४॥

अन्ये तदनुरूपाणि मनोज्ञानि महात्मनः।
गायन्ति स्म महाराज स्नेहक्लिन्नधियः शनैः॥१२५॥

श्लोकानुवाद—"कुछ गोपबालक स्नेह द्वारा द्रवीभूत हृदयसे महात्मा श्रीकृष्णका आनन्दवर्द्धन करनेवाले तथा उस कालके योग्य उनके मधुर चरित्रका धीरे-धीरे गान करने लगते हैं॥"१२५॥

दिग्दर्शिनी टीका—'अन्ये' (श्रीमद्भा. १०/१५/१८) कतिचिद्गोपाः तत्समयानु-रूपाणि शयनकालोचितानि मधुरकोमलस्वरादिगुणेन निद्रापादकानि गीतानि गायन्ति स्म अगायन्। महात्मनः समुद्रकोटि गम्भीरस्यापि मनोज्ञानि चित्ताकर्षकाणि अन्तःक्षोभकाणीत्यर्थः, गोपीप्रेमगुणादिवर्णनपरत्वात्, भक्ति-भक्तादि-महिम-निबन्धत्वाद्वा। अथवा, महात्मन इति प्रेमभरवैवश्येन श्रीशुकदेवपादानां सोल्लुण्ठोक्तिः। ततश्च लम्पटशेखरस्येति भावः। तद्रुचिकरत्वाच्च गोपकन्यावस्त्राहरण-नग्नीकरणादि-विचित्रषिङ्गतानर्मपराणीति ज्ञेयम्। एवं तत्प्रिय-गीतगानेनाविर्भावितेन स्नेहेन प्रेमविशेषेण क्लिन्ना आर्द्रा धीर्येषां ते, अतएव बाष्परुध्यमान-कण्ठत्वादिना शनैर्लघु लघु गायन्ति स्म। यद्यपि सर्वस्यामेव सेवायां प्रेमाविर्भावो भवेदेव, तथापि भगवत्प्रियगीतादि-संकीर्त्तनेन द्रुतमिव प्रेमभरो नितरां जायते इत्यत्रैव तथोक्तिः। अथवास्य पदस्य शनैरित्यस्य च हतपाप्मान इत्यस्यापि सर्वत्रैवानुषङ्गः। सर्वेऽपि ते जगत्पावनाः परमभक्तिनिष्ठाः स्वस्वसेवयाविर्भवत्प्रेमभरेण क्लिन्नधियः सन्तः शनैस्तत् चक्रुरित्यर्थः। अन्यद्यथापूर्वमूह्यम्। पूर्वोद्दिष्टविवक्षाद्वयापेक्षया 'महात्मन'-पदद्वयस्य चापौनरुक्त्यम्। हे महाराजेति-लीलेयं महाराजसदृशीति भवतानुमीयताम्। यद्वा, भवादृशानामपि महाराजानामीदृशी सुखक्रीड़ापरिपाटी नास्तीति भावः। किंवा गोपवर्गभाग्यभरवर्णनेन प्रेम-विशेषोदयादार्द्रचित्तः सन् राजानं वा तत्तच्छ्रवणेन प्रेममोहितम् अवधापयन् सम्बोधयति; यद्वा, हे राजकुलश्रेष्ठ! तेषामिदं भाग्यमाहात्म्यं त्वयैव बोद्धुं शक्यते, नान्येन केनापीति भावः। अथवा, राजत इति राजः, महांश्चासौ राजश्चेति महाराजः, सदा साहजिकतया वर्तमानोऽपीदानीमन्तरङ्गसेवाप्रवृत्त्या नितरां प्रादुर्भूतत्वात् परमप्रकाशमानोऽशेषमलहीनो निखिलवैभवभरसम्पन्नो यः स्नेहस्तेन क्लिन्नधिय इति दिक्। अलमति-विस्तरेण॥१२५॥

भावानुवाद—अब (श्रीमद्भा. १०/१५/१८) 'अन्ये' इत्यादि श्लोक द्वारा कह रहे हैं कि कोई अन्य गोपबालक शयनकालके अनुरूप मधुर-कोमल स्वरसे निद्राके अनुकूल गीत गान करके उनके आनन्दको बढ़ा रहे हैं। 'महात्मनः' अर्थात् करोड़ों समुद्रोंसे भी गम्भीर, मनोहर, चित्त-आकर्षक अर्थात् अन्तःकरणको क्षोभित करनेवाले

श्रीकृष्णके मधुर चरित्ररूप गोपी प्रेमके गुण आदिका वर्णन तथा भक्ति और भक्तोंकी महिमासूचक गाथाओंका गानकर गोपबालक श्रीकृष्णको परमानन्दपूर्वक विश्राम सुख देने लगे।

अथवा प्रेममें विवश होनेके कारण श्रीशुकदेव गोस्वामीने यह 'महात्मा' पद सोलुण्ठ (व्यङ्ग) उक्तिके रूपमें प्रयोग किया है, इसलिए 'महात्मा' शब्दसे लम्पटशेखर श्रीकृष्ण तथा उनकी रुचिकर गोपकन्याओंके वस्त्र-हरण अर्थात् नग्नीकरण आदि विचित्र रस प्रकाशक नर्म-परिहासपूर्ण लीलाओंका गान समझना होगा। इस प्रकार उनके प्रिय गान गानेमें स्नेहके आविर्भाववशतः उनका चित्त प्रेम विशेष द्वारा 'क्लिन्न' अर्थात् द्रवीभूत हो गया, अतएव उन्होंने गद्गद कण्ठसे धीरे-धीरे उनके मधुर चरित्रका गान करके उन्हें विश्राम सुख प्रदान किया। यद्यपि श्रीकृष्णकी सेवा करते समय सभी गोपबालकोंमें प्रेमका आविर्भाव होता है, तथापि श्रीभगवान्को प्रिय लगनेवाले गीत आदिके संकीर्त्तन द्वारा अति शीघ्र ही प्रचुर प्रेम आविर्भूत होता है। इसलिए यहाँपर 'स्नेह-क्लिन्न' शब्दका प्रयोग हुआ है। अथवा इस 'स्नेह-क्लिन्न' पदके साथ 'शनैः' और पूर्वोद्दिष्ट 'हतपाप्ना' पद एकत्र प्रयोग करनेसे अर्थ होगा—इस प्रकार वे सभी सखा जगत्को पवित्र करनेवाली परमभक्तिनिष्ठा सहित अपनी-अपनी सेवासे आविर्भूत प्रचुर प्रेमसे द्रवीभूत चित्त होकर मन्द-मन्द मधुरस्वरसे गान करने लगे।

हे महाराज! ऐसी लीला भी महाराजाओंके समान होनेके कारण आपके द्वारा अनुमान की जा सकती है। अथवा आपके जैसे महाराजने भी ऐसी लीलाकी परिपाटीके सुखको प्राप्त नहीं किया। अथवा गोपबालकोंके सौभाग्यका प्रचुर वर्णन श्रवण करके श्रीपरीक्षित् महाराजमें प्रेम उदित होनेसे उनका चित्त द्रवीभूत हो गया, अर्थात् वे प्रेमसे मोहित होने लगे, अतएव 'हे महाराज!' इस सम्बोधन द्वारा उन्हें ऐसी लीलाएँ सुननेके लिए मनको एकाग्र करनेके लिए कह रहे हैं। अथवा हे राजकुलश्रेष्ठ! उन गोपबालकोंके ऐसे सौभाग्यकी महिमा केवल आप ही समझनेमें समर्थ हैं, अन्य कोई नहीं। अथवा जो शोभित हो रहे हैं, वही 'राजा' हैं और जो महान रूपसे शोभित हो

रहे हैं, वे 'महाराजा' हैं। इस प्रकार महाराज पद गोपबालकोंका विशेषण होनेसे अर्थ होगा कि निरन्तर उनके हृदयमें स्वाभाविक सख्यभाव रहनेपर भी वे अब श्रीकृष्णकी अन्तरङ्ग सेवा करनेमें प्रवृत्त हुए हैं, इसलिए उनका सख्य प्रेम अत्यधिक उल्लसित होकर प्रकाशित हो रहा है तथा सम्पूर्णता मलरहित वैभवसे युक्त स्नेहकी अधिकतासे उनका हृदय द्रवीभूत हो गया है। इस प्रकार नये-नये विहारके प्रसङ्गमें सखा श्रीकृष्णका आनन्द बढ़ाकर सख्य-प्रेमरसका आस्वादन करने लगे॥१२५॥

नन्दः किमकरोद्ब्रह्मन् श्रेय एवं महोदयम्।
यशोदा वा महाभागा पपौ यस्याः स्तनं हरिः॥१२६॥

श्लोकानुवाद—(श्रीपरीक्षित्‌ने कहा—)"हे ब्रह्मन्! श्रीनन्दराजने ऐसा कौन-सा मङ्गलमय कार्य (साधन) किया था, जिसके फलस्वरूप उन्होंने श्रीकृष्णको पुत्ररूपमें प्राप्त किया? तथा श्रीयशोदाने भी ऐसा कौन-सा महाफल उत्पादक मङ्गलमय अनुष्ठान किया था, जिसके प्रभावसे स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने पुत्ररूपमें उन महाभाग्यशाली श्रीयशोदाका स्तन पान किया?॥"१२६॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथ गोपराजस्य श्रीनन्दस्य तत्पत्न्याश्च श्रीयशोदायाः श्रीभगवत्पित्रोः सर्वोत्कृष्टतरमाहात्म्यं दर्शयति—नन्द इति पञ्चभिः। तत्र विश्वरूप-प्रदर्शनादिना सञ्जातस्य सर्वभक्तजन-साधारणस्येश्वरज्ञानस्यावरके भगवत्परमप्रसादरूप-पुत्रस्नेहमये स्वकीयमहाशक्तिविशेषे श्रीकृष्णेन मातरि श्रीयशोदायां प्रसारिते तस्याः स्नेहभरप्रवृद्धिव्याप्तचित्तादिपरममहासौभाग्योदयं श्रुत्वा परमविस्मितेन राज्ञा श्रीपरीक्षिता पृष्टम्—'नन्दः' (श्रीमद्भा. १०/८/४६) इति। ब्रह्मन् हे साक्षात्परब्रह्ममूर्त्ते! श्रीबादरायणे! एवमेतादृशं श्रेयः पुण्यविशेषं किं कतरत् नन्दोऽकरोत्? जगति तादृशश्रेयोऽसम्भवाद्विस्मयेन प्रश्नः। एवमित्येवाभिव्यञ्जयति—महानुदय उद्भवो यस्य तदिति तच्च। *"पितरौ नान्वविन्देतां कृष्णोदारार्भकेहितम्। गायन्त्यद्यापि कवयो यल्लोकशमलापहम्॥"* (श्रीमद्भा. १०/८/४७) इत्यनेन निरन्तरोक्तश्लोकेन स्वयमेवाभिव्यक्तीकरिष्यते। अस्यार्थः—ययोः प्रसन्नोऽवतीर्णोऽयं स्वयं भगवान् तौ पितरौ श्रीवसुदेव-देवक्यावपि यत् नान्वविन्देतां न प्राप्नुयाताम्। किं तत्? कृष्णस्य उदारं महत् भुक्तिमुक्तिभक्तिप्रेमादि-सर्वप्रदमिति वा अर्भकेहितं बाललीलाम्, अर्भकेहितं बाल्यचरितमिति वा। यच्च कवयो ब्रह्मादयो व्यासादयो वा अद्य कलिकालेऽपि

गायन्ति। कुतः? लोकानां सर्वेषामेव शमलापहं पापोन्मूलकं, तद्विना कलिपातक-नाशासिद्धेः। यद्वा, अद्यापीत्यनेन सदा निरन्तर-गानमात्रमभिप्रेतम्। ततश्चायमर्थः—सर्वजीवानां शमलं संसारदुःखम् अपहरतीति तथा। यद्वा, शमः मनःशान्तिः, लापो वचनं, तौ हन्ति परमप्रेमभराविर्भावेण वैकल्येन मनोधैर्यं वाक्प्रवृत्तिञ्च सम्यक् हरति यत् तदित्यर्थः। यद्वा, शमस्य आत्मारामतादिलक्षणस्य लापं कथां हन्ति, तत्कथामात्रमपि नावशेषयति यत् तदित्यर्थः। तद्यो या चाविन्दत्, स सा च किं श्रेयोऽकरोदिति। वाशब्दश्च शब्दार्थेऽनुक्तसमुच्चये । ततश्च एवमित्यस्यान्त्यपादेनापि सम्बन्धः, अनेन *"कालेन व्रजता तात"* (श्रीमद्भा. १०/८/२१) इत्यादि, *"हरिं साऽमन्यतात्मजम्"* (श्रीमद्भा. १०/८/४५) इत्यन्तग्रन्थोक्तप्रकारेण बाल्यलीलाविशेषेण परमस्नेह-विस्तारण-वात्सल्यविशेषेण च यस्या यशोदायाः स्तनं पपावित्यर्थः, अन्यथा देवक्यादिसाम्यापत्तेः। *"पीत्वामृतं पयस्तस्याः पीतशेषं गदाभृतः"* (श्रीमद्भा. १०/८५/५५) इति दशमस्कन्धस्थ-मृताग्रजानयनाध्यायाद्युक्तेः। श्रीभगवतो जन्मानन्तरं श्रीदेवक्याः स्तुतिपूर्वकप्रार्थनया प्राकृतशिशुत्वे स्नेहस्नुतस्तनायास्तस्या अपि स्तन्यपानकल्पनात्। तथा वत्साहरणादिलीलायां कासाञ्चिद्वृद्धगोपीनामपि स्तन्यपानात्। अतस्तद्-व्यवच्छेदार्थमवश्यमत्राप्येवं-शब्दो योज्य एव। हरिरिति तादृशबाल्यलीलावात्सल्या-दिनाऽनवरतं तस्या मनो हरन्नित्यर्थः। अतएवोक्तम्—महाभागेति। अनेन च श्रीनन्दतोऽपि तस्या भाग्यविशेषः सूचितः; लोकेऽपि पितृतोऽपि मातरि स्नेहविशेषस्य दृष्टेः। स च दशमस्कन्धे रिङ्गणलीलादौ दामबन्धनादौ च व्यक्तम् कथित एव। अत्राप्यग्रे व्यक्तो भावीति दिक्। यद्वा, एवम् एतादृक् चतुर्युगव्यापि-परमभक्तिलक्षण-दुष्करतरतपोविशेषकृज्जनक-जननी-श्रीवसुदेव देवक्यलब्धगन्धः श्रीब्रह्मादि-कविवर्ग-गीयमानपूर्वोक्त-रिङ्गणादिलीलामहामृत-समास्वादनरूपः, अतएव महान् परमचरमकाष्ठाप्राप्त उदयोत्कर्षः फलं वा यस्मात् तत्। एवमिति पूर्ववत् पृथक् पदमेवेति वा, तथापि महोदयमित्यस्य तथैवार्थः कल्प्यते इति दिक्॥१२६॥

भावानुवाद—तदुपरान्त श्रीभगवान्‌के पिता-माता अर्थात् गोपराज श्रीनन्द और उनकी पत्नी श्रीयशोदाजीके सर्वोत्कृष्टतर माहात्म्यका प्रदर्शन (श्रीमद्भा. १०/८/४६) 'नन्द' इत्यादि पाँच श्लोकों द्वारा कर रहे हैं। विश्वरूप प्रदर्शन आदि द्वारा सञ्चारित साधारण भक्तोंके भी ईश्वर ज्ञानको ढकनेवाला भावविशेष अर्थात् भगवान्‌की परमकृपाके रूपमें पुत्र-स्नेहमय अपनी विशेष महाशक्तिको श्रीकृष्णने अपनी माता श्रीयशोदामें प्रसारित किया था, जिसके फलस्वरूप उनका चित्त प्रचुररूपसे वर्द्धित होनेवाले स्नेहसे व्याप्त हो गया था। इस प्रकार उनके परम महासौभाग्यके उदयके विषयमें श्रवणकर परमविस्मित

होकर राजा श्रीपरीक्षित्‌ने पूछा था—"हे साक्षात् परब्रह्ममूर्त्ते! हे श्रीबादरायणे! श्रीनन्दने ऐसा कौन-सा श्रेय या विशेष पुण्य किया है?" इस जगत्‌में वैसा विशेष पुण्य करना असम्भव होनेके कारण विस्मित और चमत्कृत होकर ऐसा प्रश्न कर रहे हैं। तथा 'एवम्' शब्दके द्वारा भी महान भाग्यका उदय अर्थात् श्रीकृष्णको वात्सल्यभावसे प्राप्त करनेवाला विशेष पुण्य ही प्रकाशित हो रहा है।

तथा इसके अगले श्लोकमें श्रीपरीक्षित् महाराज स्वयं ही व्यक्त कर रहे हैं, यथा (श्रीमद्भा. १०/८/४७)—"श्रीकृष्णकी परममधुर बाल्यलीलाकी कथाके श्रवण और कीर्त्तनसे सभी जीवोंके समस्त प्रकारके पाप विनष्ट हो जाते हैं तथा आज भी कविगण उन बाल्यलीलाओंका गान करते हैं। यद्यपि श्रीकृष्णके पिता-माता—श्रीवसुदेव और देवकी उनकी बाल्यलीलारसका आस्वादन नहीं कर सके, किन्तु श्रीनन्द और श्रीयशोदाने उसका आस्वादन किया है और श्रीभगवान्‌ने भी माता श्रीयशोदाका स्तनपान किया है।" तात्पर्य यह है कि जिनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर स्वयं श्रीभगवान् अवतीर्ण हुए थे, वे (पिता-माता) श्रीवसुदेव और श्रीदेवकी भी श्रीकृष्णकी उस उदार बाल्यलीलारसका आस्वादन नहीं कर सके। यहाँ 'उदार' कहनेका तात्पर्य है—महान अर्थात् भुक्ति, मुक्ति, भक्ति और प्रेमादि सब कुछ प्रदान करनेवाली उनकी हितकर बाल्यलीला। कविगण अर्थात् जगत्‌में स्थित साधकभक्तोंके आदि गुरु श्रीब्रह्मा अथवा श्रीव्यासदेव आदि आज भी अर्थात् इस कलिकालमें भी उनकी बाल्यलीलाओंका गान कर रहे हैं। किसलिए? वे लीलाएँ सभी प्राणियोंके समस्त प्रकारके पापोंका नाश करनेवाली हैं। अतएव "आज भी उनका गान कर रहे हैं" कहनेका तात्पर्य है कि उसके बिना कलिकालमें पापोंका विनाश नहीं होगा। अथवा 'अद्यापि' पदसे निरन्तर उस बाल्यलीलाका गानमात्र ही अभिप्रेत है, अर्थात् वह लीलाएँ समस्त जीवोंके 'शमलं'—संसारदुःखको दूर करनेवाली हैं। अथवा 'शमः' शब्दका अर्थ है—मनकी शान्ति और 'लापो' शब्दका अर्थ है—वचन, वह बाल्यलीलाएँ इन दो वृत्तियोंका लोपकर परम प्रेमराशिके आविर्भावसे व्याकुल करनेवाली हैं, अर्थात् मनके धैर्य और बोलनेकी प्रवृत्तिको सम्पूर्णतः

हरण करनेवाली हैं। अथवा 'शम' शब्दका अर्थ है—आत्मारामता आदि लक्षणोंके विचारोंको नाश करनेवाली अर्थात् उसके विचारोंका अवशेष भी नहीं रहता। जिन्होंने ऐसी परम उदार बाल्यलीलाका निरन्तर आस्वादन किया है, उन गोपराज श्रीनन्द और उनकी गृहिणी श्रीयशोदाने न जाने कौन-सा ऐसा श्रेष्ठ पुण्य किया था, जिसके फलस्वरूप वे ऐसे परम सौभाग्यको प्राप्तकर कृतार्थ हुए हैं तथा जगत्को भी कृतार्थ किया है। मूल श्लोकमें 'वा' शब्दका अकथित अर्थ है—समूह (अर्थात् श्रीयशोदाने ऐसे कौनसे पुण्यसमूह किये हैं) तथा 'एवं' शब्दका अगले श्लोकके साथ सम्बन्ध सूचित हुआ है।

अनन्तर श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा, यथा (श्रीमद्भा. १०/८/२१)—"हे वत्स परीक्षित्! कुछ दिन बीत जानेपर राम-कृष्ण दोनों ही गोकुलके गोपराज श्रीनन्दके घरके आङ्गणमें हाथों और घुटनोंके बलपर चलकर खेलने लगे।" तथा (श्रीमद्भा. १०/८/४५)—"समस्त वेद, उपनिषद्, सांख्य, योग और सात्त्वत शास्त्र जिनके माहात्म्यका गान करते हैं, उन्हीं स्वयं भगवान् श्रीहरिको श्रीयशोदाजी अपने गर्भसे उत्पन्न हुआ पुत्र मानती थीं।" इस प्रकारसे ग्रन्थमें उक्त श्रीकृष्णकी बाल्यलीला द्वारा परम स्नेहके विस्तारवशतः विशेष वात्सल्यके अधीन होकर माता श्रीयशोदाने श्रीकृष्णको स्तन-पान कराया था, अन्यथा उनमें और श्रीदेवकीमें समानता उपस्थित हो जाती। दशम-स्कन्धमें श्रीकृष्णसे पूर्व जन्मी और कंस द्वारा हत सन्तानोंको लानेके प्रसङ्गमें भी उक्त है, यथा (श्रीमद्भा. १०/८५/५५)—"श्रीकृष्णने स्तन पानकर जो अवशिष्ट छोड़ा, उस श्रीकृष्णभुक्त दूधका पानकर समस्त अग्रज सन्तानोंने दिव्यधामको गमन किया।" अर्थात् कंसके हाथों मारे गये अपने समस्त अग्रजोंको श्रीकृष्णने सुतलसे लाकर श्रीदेवकीको अर्पित किया था, उन सबने श्रीदेवकीका श्रीकृष्णभुक्त स्तन पानकर दिव्यधामको गमन किया था। इसके द्वारा जाना जाता है कि श्रीकृष्णने जन्मके बाद श्रीदेवकी माताका स्तन पान किया था, किन्तु वह श्रीयशोदा माताके स्तनपानके समान आसक्तिवशतः नहीं, बल्कि श्रीदेवकी माताकी प्रार्थनासे बाध्य होकर पान किया था।

तथा वत्स-हरण लीलामें श्रीकृष्णने व्रजकी वात्सल्यवती वृद्धा गोपियों और गायोंका भी स्तन पान किया था, किन्तु वह भी श्रीकृष्णके द्वारा अपने स्वरूपमें संघटित नहीं हुआ था, अपितु गोपबालक और गो-वत्समूर्त्ति धारणकर ही श्रीकृष्णने उनकी मनोकामना पूर्ण की थी। इसीलिए इस समस्त प्रसङ्गको पृथक्कर केवल आवश्यकताके अनुसार ही शब्दमात्रका व्यवहार हुआ है। अतएव मूल श्लोकमें 'हरि' कहनेका अर्थ है—वैसी बाल्यलीलामें वात्सल्यादि प्रेमके अधीन होकर निरन्तर माँ श्रीयशोदाका मन हरणकारी। अतएव माता श्रीयशोदा ही 'महाभागा' हैं। 'महाभागा' पद द्वारा श्रीयशोदाजीका श्रीनन्दराजसे भी विशेष भाग्य सूचित हुआ है तथा इसी प्रकार साधारण जगत्में भी पिताकी तुलनामें माताका स्नेह विशेष रूपसे दृष्ट होता है। इस विषयको भी दशम-स्कन्धमें श्रीकृष्णकी घुटनेपर चलनेकी लीला और दाम-बन्धन लीलामें वर्णन किया गया है। आगे भी इस विषयमें कुछ व्यक्त होगा।

अथवा इस प्रकार चारयुगों तक परमभक्तिके लक्षणोंसेयुक्त होकर कठोर तपस्या करनेवाले जनक-जननी श्रीवसुदेव और श्रीदेवकी भी जिसकी गन्धमात्रको भी प्राप्त नहीं कर सके, उस बाल्यलीलाका तथा श्रीब्रह्मादि कवियों द्वारा गान की गयी पूर्वोक्त घुटनेके बलपर चलनेवाली लीलारूप महामृतका सम्पूर्ण आस्वादनरूप सौभाग्य श्रीयशोदाजीने प्राप्त किया है। अतएव यही 'महान्' अर्थात् चरमसीमाको प्राप्त होकर 'उदय' अर्थात् उदित हुआ श्रेष्ठ फलविशेष है॥१२६॥

ततो भक्तिर्भगवति पुत्रीभूते जनार्दने।
दम्पत्योर्नितरामासीद्गोपगोपीषु भारत॥१२७॥

श्लोकानुवाद—"हे भारत (भरतकुल श्रेष्ठ)! तदुपरान्त भगवान् श्रीजनार्द्दनको पुत्ररूपमें प्राप्तकर दम्पति—श्रीनन्दराज और श्रीयशोदाकी उनके प्रति अत्यधिक भक्ति उदित हुई। वस्तुके स्वभाववशतः अन्यान्य गोप-गोपियोंकी भी उनके प्रति भक्ति उत्पन्न हुई॥"१२७॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततश्च तादृश-श्रीकृष्ण-परमोदारबाल्य-चरितामृतसागरस्य नन्दयशोदाभ्यां कृते सम्यक्पाने हेतुं वदन्तः श्रीशुकदेवपादाः श्रीब्रह्मवरेण

श्रीकृष्णपरमभक्तिप्राप्त्यादिकमेतयोः पूर्वजन्मवृत्तं कथयित्वा प्रश्नोत्तरमुपसंहरन्त आहुः—"ततो भक्तिः" (श्रीमद्भा. १०/८/५१) इति। तस्मात् परमभक्तवर-श्रीब्रह्मवचनाद्धेतोः दम्पत्योः श्रीनन्दयशोदयोर्भगवति परमेश्वरे दुराराध्ये जनार्दने, असुरादिदुष्टजनानां संहारके तदर्थमेव पुत्रभूते पुत्ररूपे सतीत्यर्थः। यद्वा, जनैरशेषैर्लोकैः स्वस्वाभिमतप्राप्तये केवलमर्द्यमानो याच्यमानो यस्तस्मिन् पुत्रभूते पुत्रत्वं प्राप्ते। पाठान्तरे अपुत्रः पुत्रोऽभूदिति पुत्रीभूतः; परब्रह्म-परमात्म-परमेश्वरत्वादिना पुत्रत्वायोग्योऽपि परमा भक्तिर्मयि पुत्रत्वेनैव सम्पद्यत इति निश्चित्य परमभक्तवात्सल्यादि-निजमहिम्ना पुत्रतया जातो यस्तस्मिन्नित्यर्थः। भक्तिः प्रेमलक्षणा, आसीत् स्थिता नैश्चल्येनाभूदित्यर्थः। गोपेषु गोपीषु च मध्ये नितरामिति वस्तुस्वभावाद्गोपगोपीणां तस्मिन् भक्तिरस्त्येव। तयोस्तु नितरां तेषां भक्तेः सकाशात् प्रकृष्टेत्यर्थः। एतच्च बाल्यापेक्षया उक्तमिति ज्ञेयम्। यतः परमप्रेमरसाविष्कारसमये कैशोरे पौगण्डे च, कदाचिद्बाल्ये चापि गोपीनामेव सर्वतोऽधिकतरा भक्ति-सम्पत् श्रूयते। तच्चोद्धवयानादौ श्रीभगवद्वचनादेवाग्रे व्यक्तं भावि। हे भारत! परमप्रकृष्ट-भरतवंशोद्भवेति प्रश्नोत्तरमधुना स्वयमेव विचार्य जानीहीति भावः। तथाहि—भगवत्सदृशपुत्रार्थं पूर्वजन्मन्याराधनं कृतवतोः श्रीदेवकी-वसुदेवयोस्तथैव वरं दत्वा वरदान-यन्त्रितेष्वपि जन्मषु स्वयमेव पुत्रतां प्राप्तः; श्रीनन्द-यशोदाभ्याञ्च श्रीकृष्णे परमा भक्तिर्वृता, श्रीब्रह्मणापि स एव वरो दत्तः; अतो निजदत्तवरादपि स्वभक्तदत्तवरमधिकं सुसम्पादयता भगवता तयोस्तत्सम्बन्धि-नाञ्च व्रजनिवासेन परममनोहरविचित्र-बाल्यलीलया तुच्छीकृत-चतुर्वर्गक-निजप्रेमभक्ति-विशेषो विस्तारित इति। श्रीनन्दादीनाञ्च नित्यप्रियतम-पार्षदवराणां श्रीब्रह्मवरादिना भक्तिप्राप्तिर्यथा श्रीरुद्रवरेण श्रीकृष्णस्य शाम्बपुत्रवरादिप्राप्तिरित्येवमादिसिद्धान्तस्तु पूर्वमुक्तोऽस्ति। एतदपि भारतेति सम्बोधनेन सूचितम्॥१२७॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीकृष्णके परम उदार बाल्य-चरितरूपी अमृतके सागरको श्रीनन्दराज और श्रीयशोदाने सम्पूर्णतः पान किया था। अब उसका कारण बतलानेके लिए श्रीशुकदेव गोस्वामी श्रीब्रह्माके वर द्वारा श्रीकृष्णके प्रति परमभक्तिकी प्राप्तिरूप उनके पूर्वजन्मका वृत्तान्त वर्णनकर (श्रीमद्भा. १०/८/५१) 'ततो भक्तिः' श्लोक द्वारा महाराज श्रीपरीक्षित्के साथ हो रहे अपने प्रश्न-उत्तरका उपसंहार कर रहे हैं। श्रीभगवान् अपने परमभक्तोंमें श्रेष्ठ श्रीब्रह्माके वाक्यकी सत्यताकी रक्षा करनेके लिए श्रीनन्दराज और श्रीयशोदाजीके पुत्ररूपमें अवतीर्ण हुए, अर्थात् असुरादि दुष्टजनोंके संहारकर्त्ता तथा देवताओंके लिए भी जिनकी आरधना दुःसाध्य है, वे परमेश्वर जनार्द्दन श्रीनन्द-यशोदाको पुत्ररूपमें प्राप्त हुए।

अथवा 'जनार्द्दन' पदमें 'जन' शब्दका अर्थ है—समस्त लोग तथा 'अर्द्दयमान' का अर्थ है—याचना अर्थात् अपने-अपने भावानुरूप श्रीभगवान्‌की सेवाके लिए प्रार्थना करनेपर उसे पूर्ण करनेवाले जनार्द्दन पुत्ररूपमें प्राप्त हुए। पाठान्तरमें 'पुत्रीभूतः' होनेसे अर्थ होगा—अपुत्र होकर भी पुत्ररूपमें अवतीर्ण हुए हैं। यद्यपि परब्रह्म-परमात्मा-परमेश्वर होनेके कारण उनका पुत्ररूपमें होना सम्भव नहीं है, क्योंकि वे सबके पिता हैं, तथापि परमभक्तिके अधीन होकर वे पुत्र होना स्वीकार करते हैं, अर्थात् निश्चित रूपसे परम भक्त-वात्सल्यादि अपनी गुण-महिमासे पुत्ररूपमें अवतीर्ण होते हैं। तथा श्रीनन्द-श्रीयशोदामें भी श्रीकृष्णके प्रति पुत्रभाव होनेके कारण उनकी नित्यसिद्ध स्थिर भक्ति अत्यधिक वर्द्धित हुई। अर्थात् वस्तुके स्वभाववशतः समस्त गोप और गोपियोंमें भी भक्ति उदित हुई, किन्तु उन सबकी तुलनामें श्रीनन्दराज और श्रीयशोदामें भगवान्‌के प्रति प्रेमलक्षणा भक्ति अत्यन्त वर्द्धित हुई। यह विचार भगवान्‌की बाल्यलीलाके अनुसार कथित हुआ है—जानना होगा। इसका कारण है कि परम प्रेमरसकी आविष्कारक कैशोर और पौगण्ड अवस्थाके समय तथा कदाचित् बाल्यलीलाके समय भी समस्त गोपाङ्गनाएँ ही सभीकी तुलनामें अधिक भक्तिरूप सम्पत्तिसे युक्त सुनी जाती हैं। यह आगे श्रीउद्धवके व्रज जानेके पूर्व श्रीभगवान् द्वारा कहे गये वचनोंमें परिस्फुट होगा। अतएव हे भारत! आप परम श्रेष्ठ भरतवंशमें उत्पन्न हुए हैं, अतः इस प्रश्नके उत्तरको स्वयं विचार करके ग्रहण करें।

पूर्वजन्ममें (पृश्नि-सुतपाके रूपमें) श्रीदेवकी और श्रीवसुदेव द्वारा भगवान्‌के समान पुत्र प्राप्तिके लिए भगवान्‌की आराधना करनेपर श्रीभगवान्‌ने स्वयं उन्हें वरदान दिया था तथा उस वरदानके अधीन होकर स्वयं उनके पुत्ररूपमें अवतीर्ण हुए। इसी प्रकार (अपने अंश द्रोण और धरारूपमें) श्रीनन्द और श्रीयशोदा द्वारा परमभक्तिवशतः पुत्रभावसे श्रीभगवान्‌को प्राप्त करनेका साधन करनेपर श्रीभगवान्‌ने अपने श्रेष्ठभक्त श्रीब्रह्मा द्वारा उन्हें वर प्रदान करवाया। श्रीभगवान् भी अपने भक्त श्रीब्रह्माके वचनकी सत्यताकी रक्षा करनेके लिए अपने नित्यसिद्ध पिता-माता श्रीनन्द और श्रीयशोदाके पुत्ररूपमें अवतीर्ण

हुए। अतएव अपने द्वारा दिये गये वरकी तुलनामें अपने भक्त (श्रीब्रह्म) के द्वारा दिये गये वरको अधिकतर रूपमें सफल करनेके लिए श्रीनन्द-श्रीयशोदाके सम्बन्धीके रूपमें स्वयं व्रजमें वासकर उनके (पिता-माता) के समक्ष विचित्र मधुर बाल्यलीला प्रकाशकर चतुर्वर्ग (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) को तुच्छ करनेवाली अपनी विशेष प्रेमभक्तिका विस्तार करते हैं। इस प्रकार श्रीनन्द और श्रीयशोदाके सङ्गके प्रभावसे अन्यान्य गोप-गोपियोंको भी वात्सल्यप्रेमसे श्रीकृष्णकी सेवाका सुयोग प्राप्त होता है। अतएव जिस प्रकार श्रीरुद्रके वरसे भगवान् श्रीकृष्णको शाम्ब नामक पुत्रकी प्राप्ति असम्भव है, उसी प्रकार भगवान्के नित्यसिद्ध प्रियतम पार्षद प्रवर श्रीनन्दादिको श्रीब्रह्माके वरसे भक्ति प्राप्त होना भी असम्भव है—ऐसा समझना होगा। इस विषयमें सिद्धान्त पहले ही कथित हुआ है। इस विषयको एकाग्रता पूर्वक श्रवण करानेके लिए भी श्रीशुकदेवने श्रीपरीक्षित् महाराजको 'भारत' कहकर सम्बोधित किया—सूचित होता है॥१२७॥

नन्दः स्वपुत्रमादाय प्रोष्यागत उदारधीः।
मूर्ध्न्यवघ्राय परमां मुदं लेभे कुरूद्वह॥१२८॥

श्लोकानुवाद—"हे कुरुश्रेष्ठ! उदारबुद्धिवाले श्रीनन्दराय जब मथुरासे लौटे तब उन्होंने अपने पुत्र श्रीकृष्णको गोदमें उठा लिया और बार-बार उसका मस्तक सूंघकर परम आनन्दित हुए॥"१२८॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं सामान्येन द्वयोरपि तयोर्माहात्म्यमुक्तमधुना तत्र विशेषेणादौ श्रीनन्दस्य पूतनामोचनाख्यानान्ते श्रीशुकपादाः श्रीमधुपुरीसकाशात् स्वव्रजमागतस्य श्रीनन्दस्य चरितमाहुः—'नन्दः' (श्रीमद्भा. १०/६/४३) इति। स्वस्य पुत्रमिति वसुदेवस्य तादृशभावोक्त्यापि, तथा महाराक्षसी-पातनेन व्रजौकसां विस्मयोत्पत्तिं सम्भाव्य ऐश्वर्यादि-शङ्कयापि नन्दस्य तस्मिन् पुत्रत्वाभिमानस्यापगमकारणे वर्त्तमानेऽपि न कथञ्चिदपि सोऽपगत इति स्वशब्दप्रयोगेण स्नेहातिरेकं दृढ़यन्ति। अतएव आदाय स्वाङ्के गृहीत्वा समालिङ्ग्येत्यर्थः। किञ्च, मूर्ध्नि पुत्रस्यावघ्राय तद्घ्राणमादाय; एतच्चात्यन्तस्नेहलक्षणम्; मुदम् आनन्दं, परमामुत्कृष्टां परमान्त्यसीमागतामित्यर्थः। यद्वा, भिन्ना पृथग्भूता मा लक्ष्मीरपि यस्यां तां सर्वभक्तगणपूज्यतमया महालक्ष्म्याप्य-लभ्यामित्यर्थः। तत्र हेतुः—उदारधीः, उदारा दानशीला धीर्यस्य सः, एकदैव भगवज्जातकर्मणि तत्तन्महादानकरणात्; किंवा, महाबुद्धिः—सर्वनैरपेक्ष्येण श्रीब्रह्मणि

भगवद्भक्तिवरैकप्रार्थनात्। ननु तर्हि *"जातयोनौ महादेवे भुवि विश्वेश्वरे हरौ। भक्तिः स्यात् परमा"* (श्रीमद्भा. १०/८/४९) इति प्रार्थना-साम्येन श्रीयशोदाया अपि तादृश एवानन्दः स्यात्। किञ्च, लोके पितुः सकाशात् पुत्रे मातुरधिकस्नेहो दृश्यत इति कथं श्रीनन्द एव तत्र विशिष्यते? तत्राहुः—प्रोष्य मथुरागमनेन प्रवासं कृत्वा निजगृहमागतः सन्निति। दूरगमनेन चिराद्दर्शनाज्जातया परमोत्कण्ठया प्रियतमजनदर्शनेन स्वत एवानन्दाधिक्यं स्यादिति भावः। श्रीयशोदायान्तु सदैव तादृशः स्नेह इति ज्ञेयम्। यद्यपि तादृशानां महत्तमानां भगवति स्नेहः परमामेव काष्ठां गतोऽतो न जातु क्षीयते, न वर्धते चेत्येवं प्रोष्यागमनादिना परमन्यत्र सम्भवेत्तथापि लोकव्यवहारापेक्षया तथोक्तम्। यद्वा, इदमेव परमप्रेमसम्पदः प्रतिक्षणनूतनत्वादि-विचित्रमाधुर्यविशेषोदयेन मुक्तेरप्यधिकं माहात्म्यम्; तच्च पूर्वं विस्तारेणोक्तमेवास्ते; अतएव परमाश्चर्येण सम्बोधनम्—हे कुरूद्वहेति॥१२८॥

भावानुवाद—इस प्रकार सामान्य रूपमें श्रीनन्दराज और श्रीयशोदाका माहात्म्य कीर्त्तनकर अब इस सम्बन्धमें श्रीनन्दराजका माहात्म्य विशेष रूपसे कहनेके लिए श्रीशुकदेव गोस्वामी सर्वप्रथम पूतना-मोचन उपाख्यानके अन्तमें श्रीमथुरापुरीसे स्वव्रज (नन्दव्रज) लौटे श्रीनन्द महाराजका चरित्र (श्रीमद्भा. १०/६/४३) 'नन्दः' इत्यादि श्लोक द्वारा वर्णन कर रहे हैं। श्रीनन्दराजने मथुरासे व्रजमें आकर अपने पुत्रको गोदमें उठा लिया और उसे अपने नेत्रोंके जलसे भिगो दिया।

मूल श्लोकके 'स्वपुत्र' पदका तात्पर्य है कि श्रीवसुदेव द्वारा श्रीकृष्णके प्रति वैसे पुत्रभावका अर्थात् "कृष्ण मेरा पुत्र है" का प्रकाश करनेपर भी तथा श्रीकृष्ण द्वारा महाराक्षसी पूतनाके वधके कारण व्रजवासियोंमें विस्मय उत्पन्न होनेकी सम्भावनासे ऐश्वर्यादिकी आशङ्कावशतः अर्थात् श्रीनन्दराजमें श्रीकृष्णके प्रति अपने पुत्रका अभिमान नष्ट होनेका कारण रहनेपर भी उनका वह अभिमान अणुमात्र भी कम नहीं हुआ। अतएव 'स्व' शब्दके प्रयोग द्वारा उनके अत्यधिक स्नेहको ही दृढ़ता सहित प्रदर्शित किया गया है। ऐसे स्नेहयुक्त श्रीनन्द महाराजने अपने पुत्रको गोदमें उठाकर आलिङ्गन किया तथा बार-बार उसका मुख चुम्बन और मस्तकको सूंघकर परम अर्थात् उत्कृष्ट या चरमसीमा तक आनन्दित हुए—यही अत्यन्त स्नेहका लक्षण है। अथवा 'परमां मुदं' पदमें 'पर' कहनेसे पृथग्भूता (भिन्न) 'मा' अर्थात् लक्ष्मी तथा समस्त भक्तों द्वारा पूजित उन महालक्ष्मीको भी प्राप्त न

होनेवाले 'मुद' अर्थात् आनन्दको अनुभव किया। इसका कारण था कि वे 'उदारधीः' अर्थात् दानशील बुद्धिके थे। श्रीभगवान्‌के जातकर्म अनुष्ठानके समय उनकी महादानशीलताका परिचय पाया गया था। अथवा 'उदारधी' कहनेका अर्थ है—महाबुद्धिमान्, क्योंकि समस्त प्रकारसे निरपेक्ष होकर इन्होंने श्रीब्रह्मासे केवल भगवद्भक्तिका वर ही माँगा अर्थात् वात्सल्यप्रेमके अनुसार श्रीभगवान्‌की सेवाके लिए ही प्रार्थना की थी।

यदि कहो कि वसुप्रवर द्रोण और धरणीदेवीने श्रीब्रह्मासे जो प्रार्थना की थी, यथा (श्रीमद्भा. १०/८/४९)—"पृथ्वीपर जन्म ग्रहणकर हम विचित्र मधुर-लीलामय तथा समस्त विश्वके ईश्वर श्रीहरिके प्रति परमभक्ति प्राप्त कर सकें।" अतएव दोनोंकी प्रार्थनाकी समानताके कारण श्रीयशोदाको भी वैसा आनन्द मिलना स्वाभाविक है। विशेषतः साधारण जगत्‌में भी देखा जाता है कि पुत्रके प्रति पिताकी तुलनामें माताका स्नेह अधिक होता है, अतएव श्रीनन्दराजके स्नेह और आनन्दमें विशेषता क्या है? इसके उत्तरमें 'प्रोष्यागत' पद कहा गया है। प्रवाससे आनेपर अर्थात् मथुरासे अपने गृह (गोकुल) में आकर तथा दूर जानेके कारण दीर्घकाल तक दर्शन न होनेसे उदित परम उत्कण्ठाके कारण प्रियतमजनोंके दर्शनमें स्वतः ही अधिक आनन्द होता है। किन्तु श्रीयशोदाजीमें सदा ही वैसा स्नेह वर्त्तमान रहता है—जानना होगा। यद्यपि वैसे महा-उत्तमजनोंमें श्रीभगवान्‌के प्रति स्नेहके सर्वदा परम अन्तिम सीमा प्राप्त होनेके कारण कभी भी ह्रास-वृद्धिकी तथा प्रवास गमनादिवशतः पुनः चरमसीमाको प्राप्त होनेकी सम्भावना नहीं है, तथापि यह उक्ति लौकिक व्यवहारके अनुसार कथित हुई है। अथवा ऐसी परम प्रेम-सम्पत्तिमें प्रतिक्षण नव-नव विचित्र माधुर्य आदिके उदित होनेके कारण मुक्तजनोंके आनन्दसे भी इनके आनन्दकी अधिक महिमा है। इस विषयका पहले विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है। इसलिए अत्यन्त आश्चर्य सहित श्रीशुकदेवने अपने शिष्य श्रीपरीक्षित्‌को—'हे कुरुश्रेष्ठ' कहकर सम्बोधित किया है॥१२८॥

स मातुः स्विन्नगात्राया विस्रस्तकबरस्रजः।
दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयासीत् स्वबन्धने॥१२९॥

श्लोकानुवाद—"श्रीकृष्णको बाँधनेकी चेष्टामें माता श्रीयशोदाका शरीर पसीनेसे लथपथ हो गया तथा उनकी चोटीमें गुँथी हुई पुष्पकी मालासे पुष्प गिरने लगे। इस प्रकार अपनी माताके परिश्रमको देखकर श्रीकृष्ण कृपावशतः स्वयं ही बँध गये॥"१२९॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथ पूर्वं महाभागेति सूचितं श्रीनन्दादपि विशिष्टं भगवत्याः श्रीयशोदाया माहात्म्यम्। तत्रैकदा नवनीतप्रिय-स्वपुत्रार्थं स्नेहभरेण स्वयं दधि मथ्नती श्रीयशोदा तदानीमेव स्तन्यकामेनागतं मथनदण्डग्रहणेन तद्विघ्नमाचरन्तं स्वसुतं स्तन्यं पाययन्ती तदर्थमेव सारग्रहणाय चुल्लीमारोपितं पयोऽतितापेनोद्रिच्यमानं दृष्ट्वाऽतृप्तमपि तमुत्सृज्य तत्र गत्वा तदुत्तार्यागता दधिमथनभाण्डं शनैः शिलापुत्रेण स्वपुत्रेणाधोभग्नं दृष्ट्वा तञ्चादृष्ट्वान्वेषयन्ती गृहमध्ये हैयङ्गवं चोरयन्तं क्षिपन्तञ्च पक्षद्वारतो बहिर्भूय तत्र स्थावरत्वे उदूखलोपर्युपविश्य मर्कट शावकान् नवनीतमाशयन्तं वीक्ष्य यष्टिमादाय शनैस्तत्पृष्ठतो गच्छन्तीयं तमथ पलायमानमनुधावन्ती वेगेन धृत्वा प्ररुदन्तं भर्त्सयन्ती पुत्रवत्सला यष्टिं त्यक्त्वा हितेच्छया बन्धुमिच्छन्ती स्वबालकस्योदरे धृतं दाम लोके संख्याल्पकतया प्रसिद्धेनाङ्गुलीनां द्वयेनोनं वीक्ष्य बहुभिः स्वगेहदामभिः सन्धीयमानमपि तथैवालोक्य परमविस्मिता परिश्रान्ता च यदाभूत्तदानीं तद्विषयकं श्रीकृष्णावात्सल्यविशेषं श्रीशुकदेवपादा अवर्णयन्—'स मातुः' (श्रीमद्भा. १०/९/१८) इति द्वाभ्याम्। स परिच्छेदत्रयातीत-तनुरपि कृष्णो मातुः परिश्रमं परमायासं ज्ञात्वा कृपया स्वस्य बन्धने आसीत्; बन्धनानर्होऽपि स्वकारुण्य-विशेषेण बन्धनं स्वयं स्वीकृतवानित्यर्थः। स्वमातुरिति पाठे नित्यात्ममातृरूपेण वर्त्तमानायाः परमप्रसादयोग्यायाश्चेत्यर्थः। श्रमलक्षणं-स्विन्नगात्रायाः प्रस्वेदार्द्रसर्वाङ्गा इति, तथा विस्रस्तकबरेभ्यः केशबन्धेभ्यः स्रजः कबराः स्रजश्च वा यस्या इति च। एतच्च बन्धनस्वीकारहेतु-स्नेहभरविकारलक्षणत्वेऽपि द्रष्टव्यम्॥१२९॥

भावानुवाद—तदुपरान्त पहले जिस 'महाभागा' पद द्वारा श्रीनन्दराजसे भी भगवती श्रीयशोदाजीका विशेष माहात्म्य सूचित हुआ है, उसीको दृष्टान्त सहित प्रतिपादित कर रहे हैं। किसी एक समय माता श्रीयशोदा नवनीत-प्रिय अपने पुत्रके लिए स्नेहसे परिपूर्ण होकर दधिमन्थन कर रही थीं। उसी समय श्रीकृष्ण माताका स्तन-पान करनेकी अभिलाषासे उनके निकट आये तथा दधिमन्थनके दण्डको पकड़कर उन्हें दधिमन्थन करनेसे रोक दिया। इससे माता श्रीयशोदाको

अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ और वे पुत्रको गोदमें लेकर स्तनपान कराने लगीं। इसी बीच चूल्हेपर रखा दूध अत्यधिक तापवशतः उबलकर बर्तनसे बाहर गिरने लगा। यह देखकर माता श्रीयशोदा श्रीकृष्णको परित्यागकर दूधकी रक्षा करनेके लिए तेजीसे चूल्हेकी ओर गयी। किन्तु उस समय तक भी श्रीकृष्णको माताका स्तनपान करके तृप्ति नहीं हुई थी, इसलिए उन्होंने क्रोधित होकर शिलापुत्र (सिल या पत्थर) द्वारा दधिभाण्डको तोड़ दिया तथा घरमें प्रवेशकर छींकेपर रखा मक्खन खाना आरम्भ कर दिया। तत्पश्चात् चूल्हेसे दूधको उतारकर माता श्रीयशोदा दधिमन्थनके स्थानपर लौट आयी और दधिभाण्डको टूटा हुआ देखा। श्रीकृष्णको वहाँपर न देखकर उन्होंने अनुमान लगाया कि यह उनके पुत्रका ही कार्य है तथा घरमें दृष्टिपात करनेपर देखा कि कृष्ण ऊखलपर चढ़कर छींकेपर रखा हुआ मक्खन चोरीकर स्वयं खा रहा है और खिड़की खोलकर बन्दरों और कौओंको भी इच्छानुसार खिला रहा है। तब श्रीयशोदाजी मन्द गतिसे श्रीकृष्णके पीछे आकर खड़ी हो गयीं। श्रीकृष्णने पीछे मुड़कर देखा कि माता हाथोंमें लठिया लेकर खड़ी हैं। उसी क्षण वे भयभीत होकर ऊखलसे कूदकर भागने लगे, माता भी उनके पीछे-पीछे दौड़ने लगी। कुछ दूर तक श्रीकृष्णके पीछे-पीछे दौड़नेपर माता श्रीयशोदाने उन्हें पकड़ लिया। अपराध करनेके कारण श्रीकृष्ण रोने लगे तथा अपने दोनों हाथोंसे अपने नेत्रोंको मलने लगे। माँ श्रीयशोदाने उनके दोनों हाथोंको पकड़ लिया तथा उन्हें डाँटने लगी। इस प्रकार श्रीकृष्णको भयभीत हुआ देखकर पुत्र-वत्सल जननीने लठियाको फेंक दिया और पुत्रका हित चाहते हुए उसे बाँधने लगीं।

इस प्रकार माँ श्रीयशोदा अपने अपराधी पुत्रको जिस रस्सीसे बाँध रहीं थीं, वह रस्सी दो अगुँली छोटी पड़ गयी, यह देखकर उन्होंने उसके साथ एक और रस्सी जोड़ दी। वह रस्सी भी उसी परिमाणमें अर्थात् दो अगुँली छोटी पड़ गयी तथा श्रीकृष्णका बन्धन सम्भव नहीं हुआ। तब उन्होंने अपने तथा अन्यान्य गोपियोंके घरमें जितनी भी रस्सियाँ थीं, उन सबको भी जोड़ लिया, तब भी वह श्रीकृष्णको बाँध

नहीं सकीं। तब वे बड़ी लज्जित और विस्मित हो गयीं तथा वहाँ उपस्थित गोपियोंको भी अत्यधिक विस्मय हुआ। श्रीकृष्णको बाँधनेका प्रयास करते हुए माता श्रीयशोदाके शरीरसे अत्यधिक पसीना बहने लगा तथा चोटीमें गुँथी हुई पुष्पकी मालासे पुष्प भी गिर पड़े। अपनी माताके ऐसे परिश्रमको देखकर श्रीकृष्ण कृपावशतः स्वयं ही बँध गये। इस प्रकारसे श्रीकृष्णके प्रति श्रीयशोदाके विशेष वात्सल्यको श्रीशुकदेव गोस्वामीने (श्रीमद्भा. १०/९/१८-१९) 'स मातुः' इत्यादि दो श्लोकोंमें वर्णन किया है। 'स' अर्थात् तीनों सीमाओंसे अतीत सच्चिदानन्द शरीर होनेपर भी अर्थात् बन्धनके अतीत होनेपर भी श्रीकृष्णने अपनी माताका परिश्रम देखकर अपनी विशेष कारुणावशतः स्वयं ही अपनेको बँधवा लिया। 'स्वमातुः' पाठ होनेसे अर्थ होगा कि सर्वदा श्रीकृष्णकी माताके रूपमें वर्त्तमान रहनेके कारण श्रीयशोदा परम प्रसाद (कृपा) के योग्य हैं। श्रमके लक्षण हैं—सारे शरीरसे पसीना बहना तथा चोटीमें गूँथे हुए फूलोंका गिरना। यह सब भी बन्धन स्वीकार करनेके कारणस्वरूप प्रचुर स्नेहके विकार या लक्षण हैं॥१२९॥

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात्॥१३०॥

श्लोकानुवाद—"किसीको मुक्ति और किसीको वैकुण्ठलोक आदि रूप विमुक्ति प्रदानकारी श्रीकृष्णसे गोपी श्रीयशोदाने जैसी कृपाको प्राप्त किया था, ब्रह्मा, शिव, यहाँ तक कि सर्वदा श्रीभगवान्‌के वक्षस्थलपर विलास करनेवाली श्रीलक्ष्मी भी वैसी कृपाको प्राप्त नहीं कर सकीं॥"१३०॥

दिग्दर्शिनी टीका—अहो! भगवत्प्रसादमन्येऽपि लभन्ते, इदन्त्वतिचित्रमिति परमविस्मिता भक्तप्रवर-श्रीबादरायणिपादाः सरोमाञ्चित-बाष्पकम्पवैयग्र्यम् आहुः—'नेमम्' (श्रीमद्भा. १०/९/२०) इति। यत्तत् अनिर्वचनीयं प्रसादं, गोपीति प्रेमविशेषोक्तिः, श्रीनन्दगोपपत्नी श्रीयशोदा प्राप प्रकर्षेण लेभे। इमं प्रसादं विरिञ्चः पुत्रोऽपि, भवः सखापि, अङ्गसंश्रया सदा वक्षःस्थिता जगत्पूज्या श्रीः महालक्ष्मीर्वल्लभापि न लेभिरे। कुतोऽन्ये जना इति शेषः। तेषां परमेश्वरत्वादिना गौरवेण भजनम्, अस्यास्तु केवलं स्नेहेन, तत्र च पुत्रत्वेन तत्रापि भगवन्महिमविशेषापादक-क्रियाविशेषेणेति

प्रसादविशेषलाभः स्वत एव सम्पद्यत इति सिद्धान्तः पूर्वमुक्तोऽस्त्येव। नञः पुनःपुनरुक्तिश्च निषेधातिशयार्था। किंवा लेभे इति वक्तव्ये लेभिरे इत्यार्षत्वात्। किंवा लेभिरे नान्ये केचिदपीत्यध्याहार्यम्, ततश्च लेभे इति स्वतो वचनव्यत्ययेन, पूर्ववाक्यत्रयं सुसङ्गतमेव। विमुक्तिदादित्यनेन च येऽन्येभ्योऽपि संसारबन्धनाद्विमुक्तिं ददाति सः अमुया गोपाल्या गोपाशैर्बद्ध इत्येतद्भक्तवात्सल्यमयं परमाश्चर्यं द्योतते। किञ्च (किन्तु) विमुक्तिर्विशिष्टा मुक्तिः सालोक्य-सामीप्यादिरूपा सान्द्रपरमानन्दमयी। तामपि कदाचित् कस्मैचिदेवासौ दत्ते। अहो! लभन्तां वा कतिचित्, ईदृशञ्च प्रसादं न कोऽप्यन्योऽलभतेति सूच्यते॥१३०॥

भावानुवाद—अहो! श्रीभगवान्की कृपा तो अन्य लोग भी प्राप्त करते हैं, किन्तु श्रीयशोदाने जिस कृपाको प्राप्त किया है, वह अत्यन्त विचित्र है। श्रीभगवान्के इस भक्तवश्यता गुणके स्फुरित होनेसे परमविस्मित भक्तप्रवर श्रीशुकदेवपाद रोमाञ्चित कलेवर, गद्गद कण्ठ तथा कम्पसे व्याकुल होकर (श्रीमद्भा. १०/९/२०) 'नेमम्' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। मूल श्लोकमें 'यत्तत्' शब्दका अर्थ है—जिस अनिर्वचनीय कृपाको गोपी श्रीयशोदाने प्राप्त किया वैसी कृपा तथा 'गोपी' शब्द श्रीपाद शुकदेवकी प्रेमपूर्ण उक्ति है जिसका तात्पर्य है—श्रीनन्दगोपकी पत्नी श्रीयशोदाने प्रकर्ष सहित अर्थात् परम उत्कृष्ट रूपमें जिस कृपाको प्राप्त किया था। 'इमं' शब्दका अर्थ है कि श्रीकृष्ण द्वारा ऐसी कृपा अपने पुत्र ब्रह्मा, सखा महादेव यहाँ तक कि सदा वक्षस्थलपर विलास करनेवाली जगत् पूजनीय प्रियतमा महालक्ष्मीको भी प्राप्त नहीं हुई, तब फिर अन्योंके सम्बन्धमें क्या कहा जाये? ये सभी श्रीभगवान्को परमेश्वर मानकर गौरव सहित उनका भजन करते हैं, किन्तु श्रीयशोदाने केवल स्नेहपूर्वक तथा उसमें भी विशेषतः पुत्रभावसे श्रीकृष्णका भजन किया। इसीलिए श्रीभगवान्की विशेष महिमाका सम्पादन करनेवाली विशेष क्रिया द्वारा उस भजनके अनुरूप विशेष कृपा स्वतः ही आविर्भूत होती है। इस विषयमें सिद्धान्त पहले ही कथित हुआ है।

मूल श्लोकमें 'न' की पुनः-पुनः उक्ति अन्योंके सम्बन्धमें ऐसी कृपाके निषेधार्थमें ही हुई है। अर्थात् श्रीयशोदाने जिस कृपाको प्राप्त किया, वह न ब्रह्मा, न शिव और न ही महालक्ष्मी प्राप्त कर सकीं,

इसीलिए 'नञः' क्रियावृत्ति तीन बार उक्त हुई है। अथवा 'लेभे' वक्तव्यके स्थानपर 'लेभिरे' आर्ष प्रयोग है। अथवा 'न लेभिरे' पदका अर्थ है कि कोई भी वैसी कृपाको प्राप्त नहीं कर सके—इस रूपमें वाक्यका निष्कर्ष निकालना होगा, तभी 'लेभे' पदके वचनका उल्लंघन होकर पहलेके तीन वाक्योंके साथ सङ्गति होगी।

मूल श्लोकमें 'विमुक्तिदात्' पदका अर्थ है—जो अन्य अर्थात् कर्म-ज्ञानमिश्रा भक्ति द्वारा भजन करनेवालोंको भी संसारके बन्धनसे मुक्त कर देते हैं। किन्तु मुक्ति तकके पुरुषार्थ प्रदान करनेवाले वे श्रीभगवान् भी श्रीयशोदाके बन्धनमें बँध जाते हैं, अर्थात् वे श्रीभगवान् उस गो-पालिका (श्रीयशोदा) के गो-पाश (गायोंको बाँधनेवाली रस्सी) द्वारा बँध गये थे—इत्यादि रूप परम आश्चर्य पूर्ण लीलाके द्वारा श्रीभगवान्का भक्त-वात्सल्यमय भाव ही प्रकटित होता है। कुछ और भी कह रहे हैं—'विमुक्ति' अर्थात् विशिष्ट मुक्ति पद द्वारा सूचित होता है कि यद्यपि श्रीभगवान् सालोक्य-सारूप्यादि रूप घनीभूत परमानन्दमयी मुक्ति भी कभी किसीको दान करते हैं, तथापि जिस कृपाको इस गोपी श्रीयशोदाने उनसे प्राप्त किया, अहो! ऐसी कृपाको उन्होंने किसीको भी वितरण नहीं किया, अर्थात् किसीने भी ऐसी कृपा उनसे प्राप्त नहीं की है॥१३०॥

पयांसि यासामपिबत् पुत्रस्नेहस्नुतान्यलम्।
भगवान् देवकीपुत्रः कैवल्याद्यखिलार्थदः॥१३१॥
तासामविरतं कृष्णे कुर्वतीनां सतुेक्षणम्।
न पुनः कल्पते राजन् संसारोऽज्ञानसम्भवः॥१३२॥

श्लोकानुवाद—"हे राजन्! कैवल्यादि मुक्ति और समस्त पुरुषार्थोंके फल प्रदाता भगवान् श्रीदेवकीपुत्रने व्रजकी समस्त गायों और वात्सल्यभावसे युक्त गोपियोंके स्तनोंसे पुत्र-स्नेहके कारण स्वतः गिरनेवाला दूध तृप्ति सहित पान किया था। वे गौएँ और गोपियाँ श्रीकृष्णको निरन्तर पुत्रभावसे देखती थीं, अतएव वे पुनः अज्ञानसे उत्पन्न संसारचक्रमें आगमन न कर उत्कृष्ट गतिको प्राप्त होंगी, इसमें सन्देह ही क्या है?॥"१३१-१३२॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं सर्वोत्कृष्टतरं श्रीगोपीवर्गस्य माहात्म्यं वक्ष्यन्नादौ तदन्तर्गतानां श्रीब्रह्महृत-वत्सवत्सपरूपधारण-लीलायां भगवता पीतस्तनानां गोपिकानां माहात्म्यं पूतनाख्यानान्ते तदीयपरमसङ्गत्या परमविस्मिताः श्रीशुकदेवपादाः कैमुतिकन्यायेन तन्मातृणां माहात्म्यमाहुः—पयांसीति (श्रीमद्भा. १०/६/३९-४०) द्वाभ्याम्। राजन् हे परीक्षित्! यासां गोपीनां पयांसि स्तन्यानि भगवान् सर्वथा परिपूर्णोऽपि देवकीपुत्रः श्रीकृष्णः अलमत्यर्थमपिबत्, तासां संसारः जन्ममरणादिदुःखं पुनः पश्चान्न कल्पते न भवति। अस्मिन्नेव जन्मनि तत्समाप्तेः। कुतः? अज्ञानेन सम्भवो यस्य सः। अधुना तासां परमज्ञानोत्पत्तेः। तच्च कुतः? कृष्णे सुतेक्षणं मम सुतोऽयमिति ज्ञानमविरतं कुर्वतीनां सुतशब्देन निजप्रसूत इति बुद्ध्या कदापि स्तन्यपानमात्रं पुत्रेति ज्ञानाभावात् स्नेहसम्पत्तिर्बोध्यते। अतएव पुत्रस्नेहेन स्नुतानि स्तनेभ्यः स्वयं क्षरितानि एवं भगवत्स्नेहे ज्ञानस्य तत्फलानामपि सर्वेषामानुषङ्गिकत्वेनान्तर्भावात् स्वत एव ज्ञानं सम्पद्यते इति भावः। एतच्च पूर्वमुक्तमस्त्येव तदेव स्पष्टयति—कैवल्यं मोक्षः, तदेवादिर्यस्य तञ्च तमखिलञ्च निःशेषमर्थञ्च पुरुषार्थं ददातीति तथा सः। अलमित्यनेन तृप्त्यभावो बोध्यते। देवकीपुत्र इत्यनेन च तस्या एव स्तन्यं पातुमर्होऽपि तत्परित्यागेनालमपिबदित्येवं पदद्वयेन तस्यापि तासु स्नेहातिरेको ज्ञाप्यते। एवं हि योऽन्येभ्यो मोक्षादिकं सर्वं फलं ददाति, सोऽपि यासां स्वजननी-परित्यागेनालमपिबत् तासामन्यां प्रत्यपि मुक्त्यादिदानं घटते, कुतस्तु तासामेव संसार इति तात्पर्यम्। अतस्तत्र तैरेवोक्तम्—*"पूतना लोकबालघ्नी राक्षसी रुधिराशना। जिघांसयाऽपि हरये स्तनं दत्त्वाप सद्गतिम्॥"* (श्रीमद्भा. १०/६/३५) इति। सतां भक्तानां गतिं प्राप्यं फलम्। तथा *"यातुधान्यपि सा स्वर्गमवाप जननी-गतिम्। कृष्णभुक्तस्तनक्षीराः किम् गावोऽनुमातरः॥"* (श्रीमद्भा. १०/६/३८) इति। स्वर्गमूर्ध्वलोकं जनन्या देवक्या इव गतिर्यस्मिन् तं श्रीवैकुण्ठलोकमित्यर्थः। यद्वा, स्वर्गं तत्फलं सुखं तत्र च जननी-गतिं तन्मातृप्राप्यं मुक्त्या जन्ममरणादिराहित्येन तन्मातृसदृशगति-प्राप्तेरिति। अथवा, तादृशी पूतनापि तादृक्कर्मणा मोक्षं प्राप। यत्र तत्पूतनामोक्षमिति तत्रैवोक्तेः। अत एतन्मातृणां स कथं युज्यते, अपि तु श्रीवैकुण्ठलोक एवेत्याशयेनाहुः—पयांसीति। सं सम्यक् सारः चतुर्षु अर्थेषु सारभूतो मोक्षः तासां न कल्पते योग्यो न भवति। पुनर्वाक्यालङ्कारे पूर्वापेक्षया वैशिष्ट्ये वा। तत्र हेतुः, ज्ञानात् सम्भव उदयो यस्य सः, ज्ञानादपि मोक्षो लभ्यते। आसां परमा भक्तिर्यस्यां हि ज्ञानमोक्षादिकमन्तर्भूतम्। अतस्तस्याः फलं मोक्ष इति नैव घटत इति भावः। तत्रैव हेतु वक्तुं भगवानपि तादृशभक्तानां कदापि मोक्षं न दत्ते, अपि तु कामिनामपि स्वभक्तानां तं निरस्यतीत्याहुः—कैवल्यमाद्यं श्रेष्ठं येषु तानखिलान् न्यूनान् श्रीवैकुण्ठापेक्षयातितुच्छान् अर्थान् सर्वफलानि द्यति अवखण्डयति विघातयतीति तथा सः। सकामभक्तान् प्रत्यपि भगवतस्तादृगनुग्रहात् कुतस्तासां मोक्षप्रसङ्गो घटताम्? अतः श्रीवैकुण्ठे श्रीगोलोकादिप्राप्तिरेवेति भावः। अन्यत्

समानम्। तथा च षष्ठस्कन्धे (श्रीमद्भा. ६/११/२३) वृत्रेणोक्तम्—*"त्रैवर्गिकाया-सविघातमस्मत्पतिर्विधत्ते पुरुषस्य शक्र। अतोऽनुमेयो भगवत्प्रसादो, यो दुर्लभोऽकिञ्चनगोचरोऽन्यैः॥"* इति। अस्यार्थः—हे शक्र! पुरुषस्य निजजनस्य त्रैवर्गिकः धर्मकामार्थ-निमित्तको य आयासः साधनश्रमः; किंवा, श्रममात्रफलत्वादायास एव तस्य विघातं नाशम् अस्माकं पतिः परमरक्षको भगवान् विधत्ते, अतोऽस्मात्त्रैवर्गिकायास-विघातनादेव हेतोर्भगवतः परमकारुणिकस्य तस्य प्रसादोऽनुमेयः वितर्क्यः। ननु भगवद्भक्तानामपि केषाञ्चित् त्रिवर्गो दृश्यते, तत्राह—य इति। अकिञ्चना निरभिमाना भगवदर्थं त्यक्तसर्वपरिग्रहा वा; यद्वा, भगवति कृतात्मनिवेदनेन देहदैहिकाद्यशेषसमर्पणात् अनन्यास्तदेकनिष्ठास्तेषां गोचरः प्राप्यो यः प्रसादः, अतएव अन्यैः तदितरैर्दुर्लभः; अतोऽकिञ्चनत्वाभावात् केषाञ्चित् कामिनां कदापि त्रिवर्गोऽपि घटत इति भावः। यद्वा, ईदृशः प्रसादो भक्तेष्वेव स्यान्नान्येष्वित्याह—अकिञ्चना भगवद्भक्तास्तद्गोचरः, अन्यैरभक्तैर्दुर्लभः अलभ्यः; अतस्तवाभक्तत्वादिन्द्रत्वेन स्वर्गराज्यं मम तुच्छं श्रीवैकुण्ठलोक एवेति महेन्द्रं प्रति वचनाभिप्राय इति। तथा च पञ्चमस्कन्धे (श्रीमद्भा. ५/१९/२६)—*"सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां, नैवार्थदो यत् पुनरर्थिता यतः। स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छतामिच्छापिधानं निजपादपल्लवम्॥"* इति। अस्यार्थः—नृणामर्थितं याचितं कैवल्यादि अर्थितोऽपि सन् भगवान् नैव दिशति, निश्चितं न ददातीति सत्यमेव, न तु श्रीमच्चरणारविन्द-कल्पतरोः सकाशात् प्रार्थितासिद्धासम्भावनादिकं कार्यमित्यर्थः। तत्र हेतुः—यतो यस्माद्यस्मिन् वा अर्थितद्रव्ये दत्ते सत्यपि पुनः पश्चादर्थिता भवेत्, धर्मे सिद्धे तत्फलायार्थाय, तत्सिद्धौ च कामाय, पुनरपि तत्सिद्ध्यर्थं धर्मायेत्येवं तथापि त्रिष्वपि सिद्धेषु विचारेण मोक्षाय, मोक्षेऽपि सिद्धे भगवन्महिम्ना तद्भक्तसङ्गतो मोक्षतुच्छता ज्ञानेन भक्त्यर्थम्। यथोक्तं पद्मपुराणे—*"मुक्तैः प्रार्थ्या हरेर्भक्तिः"* इति। एवं प्रार्थनादुःखं स्यादेवेत्यर्थः। ननु प्रार्थितादानेन कामधुक् कोटिकामद इत्यादिकं तदीय-माहात्म्यं किल व्यभिचरति, तत्राह—यद्यस्मात् अर्थदः—अर्थं सद्वस्त्वेव, न त्वनर्थं ददातीति तथा सः; यथा हि—"पिता बालकेन प्रार्थ्यमानमभक्ष्यापेयादिकं न दत्ते, तथा भगवानप्यनर्थावहं द्रव्यं न दत्ते" इति; परम-वात्सल्येन तस्य महामहिमैव सम्पद्यत इति भावः। ननु कोऽसौ परमोऽर्थोऽयं भगवान् ददाति? कुतो वा तेषां कामितानवाप्त्यापि सुखं स्यात्तत्राह—स्वयमिति, निजं भगवदीयं पादपल्लवं तद्भक्तिमनिच्छतां मुक्त्यादिकामनया तदेकफलत्वेन न वाञ्छतामपि भगवान् निजपादपल्लवमेव तेषामिच्छायाः पिधानमाच्छादकं स्वयमेव विधत्ते, निजचरणारविन्दभक्तिं प्रदाय तयैव तेषां सकलकामपरिपूर्त्तिं करोतीत्यर्थः। तस्यां हि सर्वानन्द-कदम्बस्यान्तर्भावात् तत्प्राप्त्यान्यत्र सर्वत्र नैरपेक्ष्योत्पत्तेः। अतो निजार्थिता-प्राप्त्यापि कोऽप्यसन्तोषो न भवेदथ च परमानन्द एव जायत इति भावः। स्वयमपि (मिति) तेषां तत्रेच्छाया अभावेऽपि निजकारुण्यमहिम्नैव तथा विधत्त इत्यर्थः। तत्र हेतुः—भजतां पादपल्लवमेव

सेवमानानाम्; यथाहि—"पिता मृदादिभक्षणरतं बालकं खण्डलड्डुकादिकमनिच्छन्तमपि बलाद्भक्षयन् मृत्रिकादिकं त्याजयित्वा सुखयति तद्वत्" इति। एवञ्च—"*राजन् पतिर्गुरुरलं भवतां यदूनां, दैवं प्रियः कुलपतिः क्व च किङ्करो वः। अस्त्येवमङ्ग! भजतां भगवान् मुकुन्दो, मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगम्॥*" (श्रीमद्भा. ५/६/१८) इत्यस्य श्लोकस्य अर्थोऽयं द्रष्टव्यः—अङ्ग! हे राजन्! भोः श्रीपरीक्षित्! भगवान् मुकुन्दो भक्तानां भवतां पाण्डवानां यदूनाञ्च पत्यादिरूपोऽलमत्यर्थं भवति। वो युष्माकं पाण्डवानां कदाचित् किङ्करः आज्ञानुवर्त्यपि भवति। यद्यपि भक्तियोगे दत्ते सति भक्तजनवश्यतया एवमीदृशोऽपि अस्तु भवतु, तथापि भक्तिं कुर्वतां जनानां भक्तियोगः—भक्तिः प्रेमलक्षणा, सैव योगस्तत्प्राप्त्युपायस्तत्सङ्गमरूपो वा, तमेव ददाति "*भक्त्या सञ्जातया भक्त्या*" (श्रीमद्भा. ११/३/३१) इत्यादौ भक्तेः फलं भक्तिरेवेति न्यायात्। स्मेति विस्मये प्रसिद्धौ वा। कर्हिचित् कदापि मुक्तिं न ददाति, ज्ञाननिष्ठानामपि मुक्तिः सिध्येदतो भक्तानामपि तदाप्त्या भक्तेर्वैफल्यमेव पश्यतीति भावः। एतच्च पूर्वं विस्तार्योक्तमेवेति। एवमपि मातृणामासां माहात्म्यं पूर्वपूर्वत उत्तरोत्तरस्य श्रैष्ठ्योक्तिरीत्या श्रीयशोदायाः सकाशादधिकं न द्रष्टव्यं, यतोऽब्दमेकं यावत् स्तन्यदात्रीणां प्रायो यशोदासदृशस्नेहहीनानामत्र माहात्म्योक्तिः श्रीयशोदामाहात्म्य एव पर्यवस्यति। तासामेवेदृशं माहात्म्यं, किमुत तादृशस्नेहभरवत्याः श्रीयशोदाया इत्येवं कैमुतिकन्यायात्॥१३१-१३२॥

भावानुवाद—अब सर्वोत्कृष्टतर (वात्सल्यभावयुक्त) श्रीगोपियोंका माहात्म्य कीर्त्तन करनेके लिए सर्वप्रथम श्रीब्रह्म-विमोहन-लीलाके अन्तर्गत श्रीब्रह्मा द्वारा अपहरण किये गये बछड़ों और गोपबालकोंकी मूर्त्ति धारणरूप लीलामें श्रीभगवान्‌ने जिन गोपियोंका स्तनपान किया था, उन गोपियोंका माहात्म्य वर्णन कर रहे हैं। अर्थात् पूतना-मोक्ष प्रसङ्गके अन्तमें उस पूतनाकी सद्‌गतिको देख परम विस्मित होकर उसकी गतिकी परम सङ्गतिके कारण श्रीशुकदेवपाद 'कैमुतिक' न्यायके अनुसार श्रीभगवान्‌की माताओंका माहात्म्य अर्थात् साक्षात् वात्सल्यकी मूर्त्ति श्रीयशोदाके नामका उल्लेख न कर केवल उनकी कृपापात्र अन्य वात्सल्यवती गोपियोंका माहात्म्य श्रीमद्भागवत (१०/६/३९-४०) 'पयांसि' इत्यादि दो श्लोकों द्वारा वर्णन कर रहे हैं।

हे महाराज श्रीपरीक्षित्! भगवान् देवकीपुत्र श्रीकृष्णने स्वयं सब प्रकारसे परिपूर्ण होकर भी जिनके स्तनोंका दूध पान किया था, उन गोपियोंके पुनः जन्म-मरणादि रूप दुःखकी कभी कल्पना भी नहीं की

जा सकती है, क्योंकि इसी जन्ममें ही उनका संसारचक्र समाप्त हो गया है—जानना होगा। श्रीकृष्णके प्रति अज्ञान ही इस संसारका मूल कारण है तथा इस अज्ञानसे संसार उत्पन्न होता है, किन्तु अभी उन गोपियोंमें परमज्ञान उत्पन्न होनेके लक्षण दिखायी दे रहे हैं। वे लक्षण क्या हैं? श्रीकृष्णके प्रति उनमें निरन्तर पुत्र-भावना अर्थात् 'कृष्ण मेरा पुत्र है'—ऐसा ज्ञान उनमें सर्वदा विद्यमान था। यहाँ 'पुत्र' शब्दका अर्थ है—अपने गर्भसे उत्पन्न पुत्रबुद्धिका होना। अतएव श्रीकृष्णके प्रति धात्रीके समान केवल स्तनपान करनेवाले पुत्ररूप ज्ञानके अभाववशतः उनमें स्नेहसम्पत्ति ही बोध होती है। इसलिए पुत्र-स्नेहवशतः उनके स्तनोंसे स्वयं गिरनेवाला दूध श्रीकृष्णकी परमप्रिय भोग्यवस्तु होनेके कारण वे उस दूधको अत्यन्त आग्रह सहित पान करते हैं। श्रीभगवान्के प्रति इस प्रकारके स्नेहका आनुषङ्गिक फल है—श्रीभगवान्का तत्त्वज्ञान। तात्पर्य यह है कि ज्ञान श्रीभगवान्के प्रति स्नेहके अन्तर्गत है, अतएव उन गोपियोंके लिए यह ज्ञानफल स्वतः ही प्राप्त होता है। इस विषयमें पहले ही स्पष्ट रूपमें व्यक्त हुआ है।

इस सम्बन्धमें और भी स्पष्ट करनेके लिए कह रहे हैं—कैवल्यादि मोक्ष तथा समस्त पुरुषार्थोंके फलको प्रदान करनेवाले भगवान् देवकीपुत्र श्रीकृष्णने उन गोपियोंके स्तनोंसे प्रचुर स्नेहवशतः गिरनेवाला दूध पान किया था। यहाँ 'अलम्' शब्दके द्वारा जाना जाता है कि श्रीभगवान् समस्त प्रकारसे परिपूर्ण होकर भी अपूर्ण (अतृप्त) की भाँति परम आग्रहके साथ उन वात्सल्यवती गोपियोंका स्तनपान करते हैं। 'देवकीपुत्र' पदसे जाना जाता है कि श्रीदेवकीदेवीका स्तनपान करना ही कर्त्तव्य है, किन्तु वे उसे परित्यागकर परम लालसासे युक्त होकर व्रजकी गायों और गोपियोंका स्तनपान करते हैं। अतएव 'अलम्' और 'अपिबत्' इन दो पदोंसे श्रीदेवकीसे भी व्रजकी गायों और गोपियोंमें अधिक स्नेहका होना सूचित हुआ है। इस प्रकार जो दूसरोंको भुक्ति-मुक्ति-सिद्धि आदि समस्त फल प्रदान करते हैं, उन भगवान् देवकीपुत्र श्रीकृष्णने अपनी जननीको भी परित्यागकर परम आग्रह सहित जिनका स्तनदुग्ध पान किया था और जिससे उनका देह पुष्ट हुआ था, क्या वे उन्हें मुक्ति जैसा तुच्छ फलदानकर उनके

ऋणसे मुक्त हो सकते हैं? अथवा ऐसी व्रज-गोपियोंके लिए अज्ञानसे उदित संसारकी सम्भावना कैसे हो सकती है?

इसीलिए इस प्रसङ्गमें श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा है, यथा श्रीमद्भागवत (१०/६/३५)—"पूतना एक राक्षसी थी तथा बच्चोंको मारकर उनका खून पीना ही उसका काम था। हिंसा परवश होकर श्रीभगवान्को मार डालनेकी इच्छासे उन्हें विषयुक्त स्तनपान करानेपर भी उसको सद्गति प्राप्त हुई।" यहाँ 'सद्गति' कहनेसे साधु भक्तोंको प्राप्त होनेवाली गति या फल समझना होगा। इस विचारको स्पष्ट करनेके लिए श्रीशुकदेव गोस्वामी (श्रीमद्भा. १०/६/३८) में पुनः कह रहे हैं—"जब राक्षसी होकर भी वह पूतना जननी जैसी गतिको प्राप्तकर स्वर्गको गयी, तब श्रीकृष्णकी जननीके समान व्रजकी गायों और गोपियोंको, जिनका श्रीकृष्णने आग्रहके साथ स्तनपान किया था, उत्कृष्ट गति प्राप्त होगी—इसमें सन्देह ही क्या है?" यहाँ 'स्वर्ग' शब्दसे परमसुख अनुभवका स्थान ऊर्ध्वलोक अर्थात् जहाँ जननी श्रीदेवकीकी गति है, उस श्रीवैकुण्ठलोकको समझना होगा। अथवा 'स्वर्ग' कहनेसे उसका फलस्वरूप सुख और 'जननी-गति' कहनेसे माताओंको प्राप्त होनेवाला स्थान अर्थात् जन्म-मरणादिसे रहित माताके समान गतिको प्राप्त होकर तथा उनकी भाँति बाल-गोपालकी सेवाका अधिकार प्राप्तकर चिरकृतार्थ हुई थी—समझना होगा। अथवा राक्षसी पूतनाको हिंसा प्रवृत्तिसे श्रीकृष्णको विषमय स्तनदान करनेपर भी मोक्ष प्राप्त हुआ था—ऐसा भी उस पूतना मोक्षलीला प्रसङ्गमें कथित हुआ है। अतएव व्रजकी वात्सल्यवती माताओंके लिए भी पूतना जैसी मुक्ति किस प्रकार सम्भव होगी? अपितु श्रीवैकुण्ठलोक प्राप्ति ही सम्भव है—इसी उद्देश्यसे श्रीशुकदेव गोस्वामी 'पयांसि' इत्यादि पद कह रहे हैं। जिनका स्तनदुग्ध पानकर श्रीकृष्णका शरीर पुष्ट हुआ था, उनके लिए संसार या संसारसे निवृत्तिरूप मोक्ष प्राप्ति किस प्रकारसे उचित हो सकती है? अर्थात् 'सम्'—सम्यक् तथा 'सार'—धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप चार पुरुषार्थके भी सारस्वरूप मोक्षकी कल्पना वात्सल्यवती गोपियोंके लिए किस प्रकारसे हो सकती है?

मूल श्लोकमें 'पुनः' शब्द वाक्य-अलङ्कार अथवा पहलेसे अधिक वैशिष्ट्यका सूचक है, क्योंकि संसारसे मुक्तिकी कामनासे किये जानेवाले जप, योग, ध्यानादिरूप साधनसे ज्ञान उदित होता है तथा उस ज्ञानसे मोक्ष प्राप्त होता है। किन्तु उन व्रजगोपियोंकी परमाभक्तिमें ही उक्त ज्ञान-मोक्षादि अन्तर्भुक्त (सम्मिलित) हैं। अतएव उस परमाभक्तिके फलस्वरूप पुनः मोक्ष किस प्रकारसे प्राप्त होगा? इसका कारण है कि श्रीभगवान् भी अपने वैसे भक्तोंको कदापि मोक्ष प्रदान नहीं करते हैं, अपितु कामनायुक्त होकर उनका भजन करनेवाले भक्तोंकी मोक्ष वाञ्छाको दूरकर उन्हें भक्ति ही प्रदान करते हैं। इसलिए 'कैवल्यमाद्यं' पद कह रहे हैं। यहाँ 'आद्य' कहनेका अर्थ है—श्रेष्ठ, अर्थात् श्रीभगवान् सबसे श्रेष्ठ अर्थ (मोक्ष) की तथा श्रीवैकुण्ठकी तुलनामें अतितुच्छ समस्त फलोंका खण्डन करनेवाले हैं। इस प्रकारसे श्रीभगवान् जब सकाम भक्तोंके प्रति भी ऐसी कृपा प्रकाश करते हैं, तब व्रजकी वात्सल्यवती माताओंके लिए केवल मोक्षकी प्राप्ति किस प्रकार सम्भव हो सकती है? अतएव उनके लिए श्रीवैकुण्ठ-श्रीगोलोक आदिकी प्राप्ति ही निश्चित होती है, अन्यथा सकाम भक्तों और व्रजकी माताओंमें समानता हो जायेगी।

इस सम्बन्धमें षष्ठ-स्कन्ध (श्रीमद्भा. ६/११/२३) में श्रीवृत्तासुरने कहा है—"हे इन्द्र! हमारे प्रभु अपने भक्तोंको धर्म, अर्थ, कामरूप त्रिवर्गके लिए चेष्टा नहीं करने देते, अपितु जो इनके लिए चेष्टा नहीं करते, वही श्रीभगवान्के कृपापात्र हुए हैं—ऐसा अनुमान किया जाता है। अतएव अकिञ्चन भक्त ही श्रीभगवान्की कृपाको प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु जो अकिञ्चन नहीं हैं, उनके लिए वह कृपा दुर्लभ है।" तात्पर्य यह है कि भक्तोंके रक्षक श्रीभगवान् अपने भक्तोंके त्रिवर्गरूप धर्म-अर्थ-कामादिके लिए साधनका श्रम अथवा जिसका फल श्रममात्र ही है, ऐसे क्लेशोंका विनाश करते हैं। अतएव जिन भक्तोंकी त्रिवर्गकी कामना नष्ट हो गयी है, वे भक्त ही प्रभुकी कृपाके पात्र हैं तथा ऐसी कामनाओंको नष्ट करना प्रभुकी परम करुणा ही जाननी होगी। यदि आपत्ति हो कि किसी-किसी भगवद्भक्तमें भी त्रिवर्गके प्रति चेष्टा देखी जाती है? इसके लिए ही उद्धृत श्लोकमें 'यो

दुर्लभोऽकिञ्चना' पद कह रहे हैं। यहाँ 'अकिञ्चन' कहनेका अर्थ है—अभिमानरहित अथवा भगवान्‌की प्रीतिके लिए समस्त प्रकारके भोगोंका त्याग करनेवाले। अथवा जिन्होंने श्रीभगवान्‌के प्रति आत्मनिवेदन अर्थात् देह और देह-सम्बन्धी समस्त विषयोंको भगवान्‌के प्रति समर्पण किया है तथा अनन्य भावसे उनके एकनिष्ठ हुए हैं, ऐसे अकिञ्चन भक्त ही श्रीभगवान्‌की वैसी कृपाको प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु जो ऐसे अकिञ्चन नहीं हैं, उनके लिए वैसी कृपा प्राप्त करना दुर्लभ है। अतएव वैसी अकिञ्चनताके अभावमें किसी-किसी कामनापरायण भक्तमें कदापि त्रिवर्गरूप विषय उपस्थित होते हैं। अथवा श्रीभगवान्‌की ऐसी कृपा भक्तोंके प्रति ही होती है, अन्योंके प्रति नहीं। इसलिए कहा गया है—"श्रीभगवान् अकिञ्चन भगवद्भक्तोंके द्वारा ही गोचर या प्राप्त होते हैं, अन्यों (अभक्तों) के लिए वे दुर्लभ या अलभ्य हैं। अतएव हे महेन्द्र! अभक्त होनेके कारण यह स्वर्गराज्य तुम्हारे ही योग्य है, किन्तु मैं श्रीवैकुण्ठकी तुलनामें इस स्वर्गराज्यको तुच्छ मानता हूँ।"—यही श्रीवृत्तासुरके वचनोंका अभिप्राय जानना होगा।

तथा पञ्चम-स्कन्ध श्रीमद्भागवत (५/१९/२६) में भी उक्त है—"यद्यपि श्रीभगवान् सकाम व्यक्तियों द्वारा प्रार्थना करनेपर उनके प्रार्थित विषय दान करते हैं, किन्तु उन्हें परमार्थ नहीं देते हैं। इसलिए ऐसे प्रार्थित विषयोंको प्राप्त करनेपर भी उन्हें पुनः अर्थी होना पड़ता है। परन्तु जो व्यक्ति किसी भी प्रकारकी प्रार्थना न कर केवल श्रीभगवान्‌का भजन करते हैं, उन्हें उक्त विषयादि न देकर केवल समस्त अभिलाषाओंको परिपूर्ण करनेवाले अपने श्रीचरणकमलोंको स्वयं ही प्रदान करते हैं।" तात्पर्य यह है कि सकाम मनुष्यों द्वारा कैवल्यादिकी प्रार्थना किये जानेपर भी श्रीभगवान् उसे निश्चित ही दान नहीं करते हैं—यह सत्य है। किन्तु इसके द्वारा तो श्रीभगवान्‌के कल्पतरु-स्वरूप श्रीचरणकमलोंसे प्रार्थना किये गये विषयोंकी अप्राप्तिका लक्षण ही प्रकाशित होता है—बाह्यतः ऐसा प्रतीत होनेपर भी उसका कारण खोजनेसे जाना जाता है कि सकाम व्यक्तियों द्वारा प्रार्थना किये गये विषयको प्राप्त करनेपर भी पुनः उन्हें प्रार्थना करते देखा जाता

है। जिस प्रकार धर्मकी सिद्धि होनेसे उसके फलस्वरूप अर्थकी प्रार्थना की जाती है, अर्थकी सिद्धि होनेसे कामकी प्रार्थना और पुनः उसकी सिद्धिके लिए धर्मकी प्रार्थना की जाती है। यद्यपि इस प्रकारसे त्रिवर्ग सिद्ध होता है, तथापि विचार करनेपर पुनः मुक्तिकी प्रार्थना करनी होती है। मुक्त होनेपर भी भक्तोंके सङ्गमें श्रीभगवान्‌की महिमासे मोक्षको तुच्छ जानकर भक्तिकी प्रार्थना की जाती है। जैसा कि पद्मपुराणमें उक्त है—"समस्त मुक्तजन हरिभक्तिकी प्रार्थना करते हैं।" इस प्रकार प्रार्थनारूप दुःखकी निवृत्तिके लिए, अर्थात् अपने अभीष्टकी प्राप्तिके बाद भी सकाम व्यक्तिको प्रार्थना करनी होगी, इसलिए श्रीभगवान् उन्हें कैवल्यादि नहीं देते हैं।

यदि आपत्ति हो कि श्रीभगवान्‌के चरणकमल कल्पतरुस्वरूप हैं, अतः उनसे की गयी प्रार्थनाका पूर्ण न होना असम्भव है। विशेषतः 'कामधूक् कोटिकामद' अर्थात् करोड़ों कामधेनु गायोंके समान श्रीभगवान् सभीकी समस्त प्रकारकी कामनाओंको पूर्ण करते हैं, अतएव उनकी महिमामें ऐसी अस्थिरता कैसे घटित हो सकती है? इसके लिए ही उद्धृत श्लोक (श्रीमद्भा. ५/१९/२६) में 'यद्यस्मात् अर्थदः' पद कह रहे हैं। वास्तवमें सद्वस्तु ही अर्थ है, अनर्थ कभी भी अर्थ पदवाच्य नहीं हो सकता है, इसीलिए श्रीभगवान् अनर्थ न देकर केवल सत्य वस्तु ही प्रदान करते हैं। जिस प्रकार स्नेहपूर्ण पिता बालक द्वारा प्रार्थना किये जानेपर भी उसे न खाने योग्य भोजन-पेयादि कभी भी नहीं देते हैं, उसी प्रकार श्रीभगवान् भी प्रार्थीको अनर्थ कारक द्रव्य नहीं देते हैं। इसके द्वारा उनकी परम वात्सल्यमय महामहिमा ही प्रतिपादित होती है।

यदि कहो कि वह परमार्थ क्या है और किस प्रकारसे श्रीभगवान् उसे दान करते हैं, तथा उसके द्वारा किस प्रकारसे कामनाकारीको प्रार्थना किये गये द्रव्यके प्राप्त न होनेपर भी सुख होता है? इसके लिए ही उद्धृत श्लोक (५/१९/२६) में 'स्वयं' इत्यादि पद कह रहे हैं। अपने श्रीचरणकमलोंकी भक्तिकी इच्छा न करनेपर भी अर्थात् मुक्ति आदिकी कामनारूप कपटताके रहनेपर भी श्रीभगवान् उन समस्त कामनाओंको ढकनेवाले अपने श्रीचरणकमलोंको स्वयं ही

प्रदान करते हैं। अर्थात् अपने श्रीचरणकमलोंकी भक्ति प्रदान करते हैं, उसके द्वारा ही सकाम भक्तोंकी समस्त कामनाएँ परिपूर्ण होती हैं। इसका कारण है कि भक्तिमें निश्चत रूपमें समस्त प्रकारके आनन्दकी राशि सम्मिलित है, इसलिए भक्ति प्राप्त होनेसे स्वतः ही अन्य विषयोंके प्रति निरपेक्षता उत्पन्न होती है। अतएव प्रार्थी द्वारा प्रार्थना किये गये विषयको प्राप्त न करनेपर भी उसे असन्तोष नहीं होता, अपितु वह भक्तिसे उदित परमानन्दके आस्वादनसे कृतार्थ हो जाता है। यहाँ 'स्वयमपि' पदका अर्थ है कि उस सकाम व्यक्तिकी इच्छा न होनेपर भी श्रीभगवान् स्वयं ही अपनी करुणाकी महिमा द्वारा उसे भक्ति दान करते हैं। इसका कारण है कि उस सकाम व्यक्तिने भगवान्के श्रीचरणकमलोंका भजन किया था। जिस प्रकार स्नेहमय पिता मिट्टी इत्यादि अखाद्य वस्तुको खानेमें रत बालकको उसकी इच्छा न होनेपर भी बलपूर्वक उसे लड्डु आदि मिठाई खिलाकर तथा मिट्टी आदिका खाना त्याग करवाकर उसे सुखी करते हैं, उसी प्रकारसे श्रीभगवान् भी सकाम व्यक्तियोंके द्वारा प्रार्थना किये गये अनर्थयुक्त विषयोंको उन्हें न देकर, समस्त अभिलाषाओंको परिपूर्ण करनेवाले अपने श्रीचरणकमलोंकी भक्ति दानकर सुखी करते हैं।

इसी प्रकारकी और भी उक्तियाँ हैं, यथा श्रीमद्भागवत (५/६/१८)—"हे राजन्! भगवान् श्रीमुकुन्द तुम्हारे (पाण्डवोंके) और यादवोंके पति (पालक), गुरु (उपदेशक), दैव (उपास्य), बन्धु और कुलके नियामक हुए हैं, यहाँ तक कि भक्त-वात्सल्यवशतः कभी-कभी दूत आदि कार्यसे तुम्हारे (पाण्डवोंके) किङ्कर भी हुए हैं। जो उनका भजन करते हैं, उन्हें प्रायः मुक्ति ही दान करते हैं, किन्तु वे कभी भी किसीको शीघ्र ही भक्तियोग प्रदान नहीं करते हैं।" तात्पर्य यह है कि यद्यपि भक्तियोग दान करनेसे भक्तवश्यताके कारण श्रीभगवान्को भक्तोंके प्रति उक्त प्रकारसे अधीन होना पड़ता है, तथापि भक्तिका याजन करनेवालेको वे भक्तियोग प्रदान करते हैं। 'भक्ति' अर्थात् प्रेमलक्षण और 'योग' अर्थात् अपना सङ्ग प्राप्त करनेका उपाय दान करते हैं। श्रीमद्भागवत (११/३/३७) में कथित हैं—"भक्ति द्वारा ही भक्ति उदित होती है" इस शास्त्रवचनसे जाना जाता है कि भक्तिका

फल भी प्रेमरूपा भक्ति ही है। इसीलिए वे अपने भजनकारीको मुक्तिदान न कर भक्तियोग दान करते हैं। उपरोक्त उद्धृत श्लोक श्रीमद्भागवत (५/६/१८) में 'स्म' शब्द विस्मय या प्रसिद्धके अर्थमें व्यवहृत हुआ है। विशेषतः ज्ञाननिष्ठ व्यक्तियोंको ही मुक्ति प्राप्त होती है, किन्तु यदि भक्तोंको भी वैसी मुक्ति ही प्राप्त हो तब भक्तिकी विफलता ही दिखायी देगी। इसलिए करुणामय श्रीभगवान् अपने किसी भी भजनकारीको कभी भी मुक्ति न देकर केवल भक्ति ही दान करते हैं। इस विषयमें पहले ही विस्तारपूर्वक कहा जा चुका है।

इस श्लोकमें अन्य वात्सल्यवती गोपियोंका माहात्म्य भी पहलेसे (अर्थात् इस भक्ति रसायनमें प्रस्तुत) उत्तरोत्तर श्रेष्ठ क्रमकी रीतिके अनुसार श्रीयशोदाजीसे अधिक ग्रहण नहीं करना होगा। अर्थात् श्रीभगवान् अपने भक्तवात्सल्य गुणके द्वारा जहाँ तक भक्तोंके अधीन हो सकते हैं, उस तारतम्यके अनुसार उन वात्सल्यवती माताओं सहित श्रीयशोदाकी तुलना करनेसे उन माताओंमें श्रीयशोदाके वात्सल्यरूप प्रेम-सिन्धुकी मात्र एक बूँदका इङ्गित पाया जाता है। अतएव जब मात्र एकवर्ष तक स्तनदानकर और प्रायः श्रीयशोदाकी भाँति स्नेहसे रहित होनेपर भी यदि इन वात्सल्यवती गोपियोंका ऐसा माहात्म्य है, तब यह माहात्म्य श्रीयशोदाके माहात्म्यमें ही पर्यवसित होगा। अर्थात् श्रीयशोदाके माहात्म्यको व्यक्त करनेकी कोई उपयुक्त भाषा न रहनेसे उनके अनुगृहीत माताओंका माहात्म्य कीर्त्तन करनेसे श्रीयशोदाका माहात्म्य 'कैमुतिक' न्यायानुसार स्वतः ही सिद्ध होता है॥१३१-१३२॥

गोपीनां परमानन्द आसीद्गोविन्ददर्शने।
क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत्॥१३३॥

श्लोकानुवाद—"श्रीगोविन्दके दर्शनसे व्रजगोपियोंको परमानन्द हुआ। उनके दर्शनके बिना उन गोपियोंको क्षणकाल भी सैकड़ों युगोंके समान प्रतीत होता था॥"१३३॥

दिग्दर्शिनी टीका—अथेदानीं सर्वतो विशिष्टतमं परममहत्वे परां काष्ठां प्राप्तं भगवतीनां श्रीगोपिकानां माहात्म्यमेकोनविंशतिभिः तत्र मुञ्जाटवी-दावानलमोचनं

कृत्वा सायं व्रजमागते श्रीभगवति गोपीनां तद्दर्शनानन्दमाहात्म्यं श्रीबादरायणिपादा अवर्णयन्—'गोपीनाम्' (श्रीमद्भा. १०/१९/१६) इति। परमानन्द आनन्दस्य परा काष्ठा; यद्वा, पर उत्कृष्टश्च परसीमाप्राप्तो वा मायाया महालक्ष्म्या य आनन्दः सः एव गोविन्दस्य दर्शनमात्रेऽपि सति, अस्तु तावत्सम्यक्दर्शनानन्तर-सम्भाषणादि-केलिकलासु गोपीनां सर्वासामेवासीत्। दर्शनादिति पाठे स एवार्थः। यासां गोपीनां क्षणमपि अत्यल्पकालोऽपि येन गोविन्देन तद्दर्शनेन वा विना युगशतमिव दिवसेऽभवत्। यथा च तासामेवानुगीयते—*"अटति यद्भवानह्नि काननं, त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्"* (श्रीमद्भा. १०/३१/१५) इति। इवेति वस्तुतो युगशतं न भवत्येव, तथापि विरहदुःखौत्कण्ठ्येन तासां तथा भावनात्तन्निर्धारमेव गमयति। यासां हि यस्याल्पतरकालविरहेणेदृशं दुःखं भवेत्तासां तस्य किञ्चिद्दर्शनमात्रेणपि परममहानन्दो भवितुमर्हत्येवेति भावः। एतच्च मुञ्जाटवीदावानलविमोचनं तथा गोपीगणविरहाग्नि-मोचनमपीति सादृश्यात् तत्प्रसङ्गे कथितम्। अन्यान्य-दिनेष्वप्येवमेव ज्ञेयम्॥१३३॥

भावानुवाद—तदुपरान्त अब समस्त प्रकारकी श्रेष्ठतम विशेषताओंसे युक्त तथा परम महिमाकी चरमसीमाको प्राप्त भगवती श्रीगोपियोंके अत्यधिक प्रेम-माहात्म्यको इक्कीस श्लोकों द्वारा प्रदर्शन किया जा रहा है। उनमें सर्वप्रथम मुञ्जाटवी दावानलको शान्तकर सायंःकाल व्रजमें आगमन करनेपर श्रीकृष्णके दर्शनसे उत्पन्न गोपियोंके आनन्दके माहात्म्यको श्रीशुकदेव गोस्वामी श्रीमद्भागवत (१०/१९/१६) के—'गोपीनाम्' इत्यादि श्लोक द्वारा वर्णन कर रहे हैं। उस समय श्रीगोविन्दके दर्शनमात्रसे समस्त गोपियोंको जो आनन्द हुआ था, वह उस आनन्दकी चरमसीमा थी। अथवा श्रीगोविन्दके दर्शनमात्रसे ही उन्हें महालक्ष्मीको प्राप्त आनन्दके समान आनन्द प्राप्त हुआ था। अतएव साधारण दर्शनमात्रका जब ऐसा प्रभाव था, तब सम्पूर्ण दर्शनके बाद वार्त्तालापादि रूप केलि-कला द्वारा गोपियोंने जो आनन्द प्राप्त किया था, उसे वर्णन करनेमें कौन समर्थ होगा?

श्रीगोविन्दके विरहमें एकक्षण अर्थात् अति अल्पकाल भी समस्त गोपियोंके लिए सैकड़ों युगोंके समान प्रतीत होता था। इस विषयमें उन गोपियोंने स्वयं ही श्रीमद्भागवत (१०/३१/१५) में गान किया है—"हे कान्त! दिनके समय जब आप श्रीवृन्दावनमें भ्रमण करते हैं, तब आपको न देखकर पलक झपकने तकका अल्प समय भी हमें सैकड़ों युगोंके समान दीर्घ प्रतीत होता है।" मूल श्लोकमें 'इव' कारसे

सूचित होता है कि वस्तुतः क्षणकाल कभी भी सौ युगका नहीं हो सकता है, तथापि विरह-दुःखसे उत्पन्न उत्कण्ठावशतः व्रजगोपियोंकी वैसी भावनाके कारण इस प्रकारसे निर्धारण किया गया है। श्रीगोविन्दके अति अल्पकालके विरहमें भी जिन्हें ऐसा महान दुःख होता है, उन्हें श्रीगोविन्दके किञ्चित् दर्शनमात्रमें भी महान आनन्दका होना स्वाभाविक ही है। श्रीगोविन्द द्वारा मुञ्जाटवी-दावानलका विमोचन तथा गोपियोंकी विरह-अग्निका मोचन—इन दोनों लीलाओंकी समानताके कारण यह एक ही प्रसङ्गमें कथित हुआ है। अन्य दिनोंके प्रसङ्गके सम्बन्धमें भी इसी प्रकारसे जानना होगा॥१३३॥

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः॥१३४॥

श्लोकानुवाद—"उन समस्त व्रजगोपियाँका मन श्रीकृष्णमें पूर्णतः आविष्ट था, इसीलिए वे निरन्तर श्रीकृष्णके विषयमें ही चर्चा करती रहती थीं तथा उनकी भाँति चेष्टा करते हुए वे कृष्णमय हो उठीं। श्रीकृष्णका गुणगान करते हुए उन्हें अपनी-अपनी आत्मा और घर-गृहस्थीकी सुध-बुध भी नहीं रहती थी॥"१३४॥

दिग्दर्शिनी टीका—ततो भगवत्प्रेमभरेण तदितराशेषविस्मृतिरूपं तासां माहात्म्यम्—'तन्मनस्काः' (श्रीमद्भा. १०/३०/४३) इति। रासक्रीड़ारम्भे श्रीभगवत्यन्तर्हिते परमार्त्ताः सर्वतोऽन्विष्य तमलब्ध्वा शरत्पूर्णचन्द्र-ज्योत्स्ना प्रवेशहीनान्महान्धकारव्याप्ताद्-घनवनप्रदेशान्निवृत्ताः सत्योऽपि गोप्यो वा, लौकिकव्यवहारयुक्त्याऽस्तु तावत्, स्वस्व-गृहाणि यास्यन्ति; अथ च सस्मरुरपि; तत्र हेतुः—तस्य गुणानेव, न तु परित्यागेऽपि नैष्ठुर्यादिदोषान् गायन्त्यः; किञ्च, तस्मिन्नेव मनो विविधसङ्कल्पविकल्पात्मकं यासाम्, तस्मिन्नेवालापो विचित्राह्वान-सङ्कीर्त्तनादिर्यासाम्; यद्वा, गानं रागादिना गीतादिगानम्, आलापो मिथो वार्त्तेत्येवं भेदः कल्पनीयः। तदर्थमेव विविधा चेष्टा—पुष्पमालाग्रन्थन-शय्यास्तरणादिरूपा यासाम्; एवं मनोवाक्कायवृत्त्या तदात्मिकास्तन्मयः, तदर्पिता आत्मानो वा सत्यः; यद्वा, गृहेष्वपि तदर्थकैस्तदेकनिष्ठैर्वा मनोवाक्कायव्यापारैस्तन्मयतया गृहकृत्यं तदनुसन्धानञ्च तासां नास्त्येवेति, तत्र कुतो यान्तु? अधुना च विरहेण विशेषतस्तद्गुणान् गायन्त्यो न तानि सस्मरुरेवेत्यर्थः। यद्वा, विरहार्त्त्यौत्कण्ठ्याद्भगवद्भावना-विशेषेण; किंवा, विचित्रलीला-महाकौतुकिनस्तस्य परमावेशेन तस्यैव भयदुःखादिरहितं मनो यासाम्, तस्यैव गम्भीरस्वरनर्मभङ्ग्यादियुक्त आलापो यासाम्, तस्यैव विचित्रालिङ्गन-

चुम्बनादिरूपा चेष्टा यासाम्, तस्येवात्मा देहः त्रिभङ्गानुकरणादिना यासाम्; एवं तन्मयत्वे जातेऽपि निर्गुणात्मनां योगिनामिव तासां स्वभाविकी तद्भक्तिर्नैव तिरोधत्तेत्याह—तद्गुणान् गायन्त्य एवेति। इत्थं तदाविष्टतया नात्मानमपि ताः सस्मरुः, कुतस्तरां तत्सम्बन्धीन्यन्यानि, इत्याह—नात्मेति। आत्मानं भोक्तारं, आगाराणि च देहगेहानि भोगसाधन भाग्यानीत्यर्थः॥१३४॥

भावानुवाद—तत्पश्चात् श्रीभगवान्के प्रचुर प्रेमवशतः उन महाभाववती व्रजगोपियोंमें उनके अलावा सबकुछ विस्मृतिरूप तन्मयताके माहात्म्यको श्रीमद्भागवत (१०/३०/४४) के 'तन्मनस्काः' इत्यादि श्लोक द्वारा वर्णन कर रहे हैं। रासलीलाके आरम्भमें श्रीभगवान्के अन्तर्धान होनेपर अत्यधिक दुःखी गोपियों द्वारा श्रीकृष्णको सर्वत्र खोजनेपर, यहाँ तक कि जहाँ शारदीय पूर्णचन्द्रकी ज्योत्सना भी प्रवेश नहीं कर सकी, उस महा-अन्धकारयुक्त घने वनमें श्रीकृष्णकी खोज करने तथा उससे विरत होनेपर भी वे अन्यमनस्का नहीं हुई अर्थात् उन्हें विस्मरण नहीं कर सकीं। इसीलिए लौकिक व्यवहारके अनुसार वे गोपियाँ अपने-अपने घरोंमें नहीं जा सकीं। तथा श्रीकृष्ण गहन वनमें प्रवेशकर न जाने कितना दुःख पा रहे हैं—ऐसी चिन्ता करते-करते वे 'तन्मनस्का' अर्थात् उनमें तन्मय हो गयीं। श्रीकृष्ण उन्हें परित्यागकर चले गये हैं—उनकी ऐसी निष्ठुरतादिका दोष गोपियोंके मनमें उदित नहीं हुआ, अपितु वे श्रीकृष्णकी करुणादि अनन्त गुणोंका ही उच्च स्वरसे गान करने लगीं। इसका कारण था कि उन गोपियोंका विविध संकल्प-विकल्पात्मक मन श्रीकृष्णमें ही लगा हुआ था। अतएव 'तदालापा' अर्थात् वे श्रीकृष्णको ही विचित्र संकीर्त्तनादि द्वारा पुकारने लगीं। अथवा उनके गुणोंका गान करने लगीं अर्थात् नव-नव रागादिसे संयुक्त गीतोंका गान और परस्पर आलाप (चर्चा) करने लगीं। गान और आलापमें ऐसा भेद कल्पनीय है।

'तद्विचेष्टा'—गोपियोंकी समस्त चेष्टाएँ श्रीकृष्णके लिए ही थीं, अर्थात् वे श्रीकृष्णके लिए फूलोंकी माला गूँथना, शय्या रचना करना आदि विविध चेष्टाएँ करती रहती थीं। 'तदात्मिका'—श्रीकृष्णमें ही उनकी आत्मा समर्पित थीं, अर्थात् श्रीकृष्णमें ही अपने मन, वचन और कार्योंकी चेष्टावृत्तिको अर्पणकर वे कृष्णमयी हो गयी थीं।

इसलिए वे श्रीकृष्णका गुणगान करते हुए आत्मा (अपने आपको) तथा अपनी घर-गृहस्थीको भी भूल गयी थीं। अर्थात् ऐसी अवस्थामें जब वे स्वयं ही अपने आपको भूल गयी थीं, तब फिर उनके घर लौटनेके विषयमें क्यों कहें? अथवा अपने घरमें रहकर भी वे श्रीकृष्णमें एकान्तिक निष्ठाके कारण अर्थात् श्रीकृष्णके लिए ही अपने मन, वचन और देहादि क्रियाओंको नियुक्तकर तन्मयी हो गयी थीं, इसलिए उन्हें घरके कार्योंका ध्यान भी नहीं रहा। अतएव घर लौटनेका विचार भी उनके मनमें उदित नहीं हुआ। विशेषतः उस विरहमें श्रीकृष्णका गुणगान करते-करते अन्य विषयोंका स्मरण भी नहीं कर सकीं। अथवा विरहसे उत्पन्न व्याकुलतापूर्ण उत्कण्ठावशतः अर्थात् श्रीभगवान्‌की विशेष भावनासे अथवा विचित्र-लीला-महाकौतुकी श्रीकृष्णमें परम आवेशवशतः अर्थात् उनके भय-दुःखादिसे रहित मनके साथ तादात्म्यके कारण या उनके समान गम्भीर स्वरसे नर्मभङ्गि (हास-परिहास) आदियुक्त आलाप चेष्टा द्वारा या उनके समान विचित्र आलिङ्गन-चुम्बनादिरूप चेष्टा तथा श्रीकृष्णकी भाँति त्रिभङ्गिमें खड़ा होनेका अनुकरणादिरूप चेष्टा द्वारा वे गोपियाँ श्रीकृष्णमें पूर्णताः तन्मय हो गयी थीं। गोपियोंमें ऐसी तन्मयता उत्पन्न होनेपर भी निर्गुणात्मा अर्थात् निर्विशेष ब्रह्मभावना परायण योगियोंके समान उनकी स्वाभाविक भक्तिवृत्तिका लोप नहीं हुआ, अपितु उल्लास सहित वे उच्च स्वरसे श्रीकृष्णका गुणगान करने लगीं। इस प्रकारसे जब श्रीकृष्णमें पूर्णता आविष्ट उन गोपियोंको अपनी आत्मा (अपने आप) की भी स्मृति नहीं थी, तब उन्हें अपनेसे सम्बन्धित देह-गृहरूप भोग-साधनकी स्मृति किस प्रकार होती?॥१३४॥

गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्य रूपं
लावण्य-सारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम् ।
दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-
मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य॥१३५॥

श्लोकानुवाद—"हे सखि! उन व्रजगोपियोंने ऐसी कौन-सी तपस्या की है, जिसके प्रभावसे वे श्रीकृष्णके उस रूपको अपने नेत्रों द्वारा

निरन्तर पान करती हैं, जो समस्त लावण्य (सुन्दरता) का सार, असमोर्ध्व, स्वतःसिद्ध, नित्य नवीन, अत्यन्त दुर्लभ तथा यश, श्री और ऐश्वर्यका एकमात्र आधार है॥"१३५॥

दिग्दर्शिनी टीका—अधुना तासां सर्वत्रैव सदा श्रीभगवत्सन्दर्शनकीर्त्तनादिपरम-सुखानुभवमाहात्म्यं रङ्गभूमौ प्रविष्टं चाणूरेण सह नियुद्धेन क्रीड़न्तं श्रीभगवन्तं दृष्ट्वा तत्रागताः सर्वा योषितो मिथः पूर्ववदाहुः—गोप्य इत्यादिपद्यत्रयम्। तत्र प्रथम-श्लोकेन सदा श्रीभगवद्रूपसन्दर्शन-महासौभाग्यं वर्णयन्ति—'गोप्यस्तपः किम्' (श्रीमद्भा. १०/४४/१४) इति प्रसिद्धं यद्यत्तपः तस्यैतादृशं फलं न श्रूयते। अतः किं कीदृशं कतरत् वा तपःकृच्छ्रादिकं स्वधर्माचरणं वा मानसैकाग्र्यं वा अचरन् कृतवत्यः? यद् या इति येन तपसेति वा अमुष्य श्रीनन्दनन्दनस्य, तन्नामाग्रहणं गौरवादिना, पूर्ववदेव रूपं श्रीमूर्त्ति सौन्दर्यं वा दृग्भिः मांसचक्षुर्भिः पिबन्ति। रसनया अमृतमिव नेत्रैः सादरं प्रेम्णा परमासक्त्या साक्षात् पश्यन्ति। कथम्भूतम्? लावण्येन सारं श्रेष्ठम्; यद्वा, जगति वर्त्तमानस्य लावण्यस्य सारो यस्मिन् तत्; किञ्च, असमोर्ध्वं न विद्यते अवतारदृष्ट्यापि अवतारेषु समम् अवतारित्वेनापि ऊर्ध्वमधिकं यस्य तत्; यद्वा, न विद्यते अवतारावतार्यादिषु समं यस्य, तच्च तदूर्ध्वञ्च अतएव सर्व-श्रेष्ठपरमकाष्ठाप्राप्तम्, तदपि न अन्येन आभरणादिना सिद्धम्, किन्तु स्वत एव सिद्धम्; यद्वा, अतएव न अन्यस्मिन् कस्मिंश्चिदन्यदा वा कदाचित् सिद्धम्; यथोक्तमुद्धवेन तृतीयस्कन्धे (श्रीमद्भा. ३/२/१२)—*"विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः परं पदं भूषणभूषणाङ्गम्"* इति; किंवा, अस्यैव व्रजादन्यत्र न कुत्रापि सिद्धम् सम्पन्नम्, अपि च अनुसवाभिनवं प्रतिक्षणमेव नूतनवत् प्रतीयमानं तृप्त्यनुत्पादकस्वभाव-कत्वात् सदा नूतनविविधमाधुरीभङ्ग्येकास्पदत्वाच्च; यथोक्तं माघे—*"क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति, तदेव रूपं रमणीयतायाः"* इति। अतएव दुरापं गोपीव्यतिरिक्तानामप्राप्यं साक्षादनुभवितुमशक्यमित्यर्थः। तासामपारपारवश्यादिना तदीयमहाकौतुकि-स्वभावेन च दुर्लभमेव वा। न केवलमेवं लावण्यादिना श्रेष्ठतां प्राप्तः; किन्तु परमगुणादिभि-रपीत्याहुः—यशसः सत्कीर्त्तेरेकान्तधाम अव्यभिचारिस्थानं तथा श्रियः महालक्ष्म्याः; यद्वा, सर्वशोभासम्पदः, ऐश्वरस्य ऐश्वर्यस्य भगशब्दादिवाच्यस्य, एवमाकृत्या प्रकृत्या च परमसौन्दर्यमुक्तम्; ईश्वरस्येति पाठे अमुष्य विशेषणम्; एवमपि भक्तिभरेणेश्वर-शब्दप्रयोग इति ज्ञेयम्। पश्यन्तीति वर्त्तमाननिर्देशेन कदाचिदप्ययं ताः परित्यजतीति, ता वा विच्छेदे अपि कदाचिदेनं न पश्यन्तीति, न हीति सूच्यते। अतस्ता एव परमानिर्वचनीयपुण्यवत्यः, वयन्त्विमं पश्यन्त्योऽपि स्वल्पपुण्या एव, यतोऽस्थानेऽनवसरे च दृष्टोऽयमस्माभिः। किञ्चास्माकं तादृशप्रेमादरेणैव तदीयसौन्दर्यामृतपानं न कदाचिदपि तथा सम्भवतीति॥१३५॥

भावानुवाद—अब श्रीमथुराकी रङ्गभूमिमें प्रवेशकर चाणूरके साथ मल्लयुद्ध-क्रीड़ामें रत श्रीभगवान्‌का दर्शनकर वहाँ उपस्थित रमणियोंने व्रजगोपियोंके द्वारा सर्वत्र ही सदा श्रीभगवान्‌के दर्शनसे उत्पन्न परमसुखके अनुभवका माहात्म्य कीर्त्तन करनेके लिए परस्पर जो कुछ वर्णन किया था, उस प्रसङ्गको पहलेकी भाँति 'गोप्य' इत्यादि तीन श्लोकोंमें वर्णन कर रहे हैं। उनमेंसे प्रथम श्लोक (श्रीमद्भा. १०/४४/१४) 'गोप्यस्तपः किम्' इत्यादिमें श्रीव्रजगोपियोंके द्वारा निरन्तर श्रीभगवान्‌के रूपके दर्शनका महा-सौभाग्य वर्णन किया जा रहा है। हे सखि! गोपियोंने ऐसी कौन-सी अनिर्वचनीय तपस्या की थी जिसके फलस्वरूप उन्हें ऐसा महा-सौभाग्य प्राप्त हुआ? इसका कारण है कि जितने प्रकारकी तपस्याएँ प्रसिद्ध हैं, उनके द्वारा तो ऐसा फल प्राप्त होना सुना नहीं जाता है। अतएव वह तपस्या कैसी है और किस परिमाण की है? क्या तपका अर्थ है कठोर तपस्या अथवा स्व-धर्माचरण या मनकी एकाग्रताका साधन? वे उस तपस्याके फलस्वरूप इनके (श्रीनन्दनन्दके प्रति गौरववशतः यहाँ मथुराकी रमणियोंने उनका नाम नहीं लिया) सौन्दर्यके सारस्वरूप, असमोर्ध्व, समस्त प्रकारसे विलक्षण तथा प्रतिक्षण नव-नवायमान और मनोहर रूपको अपने नेत्रोंसे अर्थात् माँस-चक्षुओंसे पान करतीं हैं। अर्थात् रसना (जिह्वा) से अमृत पानकी भाँति उस रूपराशिको अपने नेत्रों द्वारा परम आसक्तिके साथ निरन्तर साक्षात् दर्शन करतीं हैं।

वह रूप कैसा है? वह रूप लावण्य (सौन्दर्य) का सार अर्थात् श्रेष्ठ है अथवा जगत्‌में जितने प्रकारका सौन्दर्य है, वह सौन्दर्यसमूह इनके रूपको ही आश्रयकर वर्त्तमान है। अतएव इनके समान या इनसे अधिक सौन्दर्यवान कोई नहीं है। कुछ और भी कह रही हैं—ऐसी असमोर्ध्व सौन्दर्यराशि श्रीभगवान्‌के अन्य किसी अवतारमें भी नहीं देखी जाती है। अवतार तो दूरकी बात है, किसी अवतारीमें भी नहीं देखी जाती है। अतएव यह रूप सौन्दर्यकी सर्वश्रेष्ठ सीमा है तथा अन्य किसी वस्तु अर्थात् आभरणादिसे इस रूपकी उत्पत्ति नहीं हुई है, अपितु यह स्वतःसिद्ध है और भूषणोंका भी भूषणस्वरूप है। यथा श्रीमद्भागवत (३/२/१२) में श्रीउद्धवने कहा है—"वह रूप

अत्यधिक सौभाग्यकी चरमसीमा है तथा मर्त्यलोक स्थित व्रजलीलाके उपयोगी है। स्वयं श्रीभगवान् भी अपने उस रूप-माधुर्यका दर्शनकर मोहित हो जाते हैं। अधिक क्या, उस रूपका सौन्दर्य समस्त भूषणोंका भी भूषणस्वरूप है।" इसलिए कहा गया है कि व्रजके अलावा वह रूप-माधुर्य अन्य किसी भी स्थानपर सिद्ध या सम्पन्न नहीं होता है तथा गोपियोंके अतृप्त प्रेम-स्वभावके कारण वह रूप प्रतिक्षण नव-नवायमान प्रतीत होता है और सर्वदा नव-नवायमान विविध माधुरी-भङ्गिका आधारस्वरूप है। माघ काव्यमें भी वर्णित है—"जो रूपश्री क्षण-क्षणमें नव-नवायमान होता है, वही रूप रमणीयताका आधार स्वरूप है।" अतएव इनका दुष्प्राप्य रूप गोपियोंके अलावा अन्योंके लिए दुर्लभ है, अर्थात् अन्य लोग उसे साक्षात् अनुभव करनेमें असमर्थ हैं। अथवा श्रीकृष्णकी प्रियतमा व्रजगोपियोंके अपार प्रेमकी परवशताके कारण तथा श्रीकृष्णके महा-कौतुकी स्वभावके कारण वह रूप हमारे लिए भी दुर्लभ है। इसके द्वारा मथुराकी स्त्रियाँ व्रजगोपियोंके द्वारा श्रीकृष्णप्रेम-प्राप्तिके अत्यधिक सौभाग्यको प्रकाशकर अपने दुर्भाग्य और दैन्यको सूचित कर रही हैं।

तथा ये (श्रीकृष्ण) केवल लावण्य (सौन्दर्य) आदि द्वारा ही श्रेष्ठ हैं—ऐसा नहीं, अपितु परम गुणादिके कारण भी श्रेष्ठ रूपमें कथित हुए हैं। इसे बतलानेके लिए ही मूल श्लोकमें 'यशसः' इत्यादि पद कह रहे हैं। ये सत्कीर्त्तिसमूहके एकान्त धाम अर्थात् स्थिर स्थान हैं और 'श्रियः' अर्थात् महालक्ष्मीके भी आधार हैं। अथवा समस्त प्रकारकी शोभासम्पत्ति अर्थात् प्रतिक्षण नव-नवायमान यश, श्री, ऐश्वर्यके भी ऐश्वर्य होनेके कारण श्रीकृष्ण 'भग' शब्द वाच्य हैं, अर्थात् 'भगवान्' कहे जाते हैं। इस प्रकारसे आकृति और प्रकृति (स्वभाव) द्वारा भी श्रीकृष्णके परम सौन्दर्यका विषय उक्त हुआ है। तथा 'ईश्वरस्य' पाठान्तर होनेपर वह श्रीकृष्णका विशेषण होगा, क्योंकि यहाँ भक्तिकी प्रचुरतावशतः ईश्वर शब्दका प्रयोग हुआ है—जानना होगा। यहाँ 'पश्यन्ति' शब्दमें वर्त्तमान क्रियाके निर्देश हेतु जाना जाता है कि वे कभी भी व्रजगोपियोंका परित्याग नहीं करते हैं, अर्थात् विच्छेदकालमें भी उनके दृष्टिगोचर होते हैं। इसलिए वे

व्रजगोपियाँ ही परम अनिर्वचनीय पुण्यवती हैं। किन्तु हम इनके (श्रीकृष्णके) साक्षात् दर्शन करनेपर भी स्वल्प पुण्यवान ही हैं, क्योंकि अस्थान और असमयमें हम इनका दर्शन कर रही हैं। माथुररमणियाँ कुछ और भी कह रही हैं—हममें व्रजगोपियोंके समान प्रेम-उदय होनेका सौभाग्य ही कहाँ है, जिससे कि हम उनके समान श्रीकृष्णका सौन्दर्य-अमृत पानकर धन्य हो सकें? तथा कभी ऐसा सौभाग्य सम्भव होगा—यह भी कह नहीं सकती हैं॥१३५॥

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षण-मार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥१३६॥

श्लोकानुवाद—"सखि! व्रजकी समस्त गोपियाँ धन्य हैं, क्योंकि उनका चित्त उरुक्रम श्रीकृष्णमें निरन्तर निमग्न रहता है। अतएव वे दूध दुहते, दूध उबालते, दही मन्थन करते, अनुलेपन करते, बालकको झूला-झुलाते, रोते बालकको चुप कराते, घरको लीपते-पोतते इत्यादि समस्त कार्योंको करते समय श्रीकृष्णमें अनुरक्त होकर उनकी पवित्र कीर्त्तिका गुणगान करती रहती हैं॥"१३६॥

दिग्दर्शिनी टीका—भोः माथुरनागर्यः! कदाचिद्वा विदग्धशिरोमणेरस्य कौतुकलीला-वैचित्र्या नैवं पश्यन्तु नाम, तथाप्यस्य सङ्कीर्त्तनेनैव परमप्रेमानन्दसागरे निमग्ना भवन्तीत्याहुः—'या दोहने' (श्रीमद्भा. १०/४४/१५) इति। चकारोऽप्यर्थे। अस्तु तावत् सावकाशसमुच्चये, कृष्णार्थमालाग्रन्थनादिकर्मसु वा; दोहनादिष्वपि या एनं श्रीकृष्णं गायन्ति, तन्नामगाथया सङ्कीर्त्तयन्ति। यथाह श्रीपराशरः—*"कृष्णः शरच्चन्द्रमसं कौमुदीकुमुदाकरम्। जगौ गोपीगणास्त्वेकं कृष्णनाम पुनः पुनः॥ रासगेयं जगौ कृष्णो यावत्तारायतध्वनिः। साधु कृष्णेति कृष्णेति तावत्ता द्विगुणं जगुः॥"* इति। ता व्रजस्त्रियो व्रजवासिन्यो वन्या अपि वाः स्त्रियः;—एतच्च व्रजान्तरसाधारण्यदृष्ट्या पुरस्त्रीणां वचनयुक्तिरिति ज्ञेयम्। यद्वा, भगवत्सङ्गत्या वनमगच्छन्त्यो व्रजमध्य एव वर्त्तमाना अपि ताः सर्वा एव तरुण्यो बाला वृद्धाश्च धन्याः परमभागधेय-धनवत्यः। अथवा व्रजस्यैव स्त्रियस्ता धन्याः, नान्यत्रत्या इत्यर्थः। तत्र हेतुः—या इत्यादि। तत्र दोहनावहनन-मथनानि स्वाम्यादिपरिवारभोगार्थकानि कर्माणि; उपलेपः कुङ्कुम-चन्दनाद्यनुलेपनं, प्रेङ्खेङ्खनं दोलान्दोलनम्, एते च द्वे स्वार्थके। अर्भरुदितं

चापत्यार्थकम्, उक्षणं सेचनं, मार्जनं सम्मार्जनीजलगोमयादिना रजआदिशोधनम्, एते च द्वे सामान्यतो गृहविषयके; आदि-शब्देन गृहाङ्गनलेपन-भित्तिचित्री-करणपेषणरन्धनादिकर्माणि; एवं सर्वेष्वेव व्यापारेष्वित्यर्थः। इत्थमावश्यकानि देहदैहिकसम्बन्धि-कर्माणि क्रियमाणान्यपि तासां भगवद्व्रजनानन्दस्य विघ्नाय न जातु प्रभवेयुः, अथ च सङ्कीर्त्तनजनकस्वभावकतया अनुकूलान्येवेति भावः। अथवा चकारस्य समुच्चयार्थकत्वेनायमर्थो द्रष्टव्यः—या दोहनादौ गायन्ति, दृग्भिः पिबन्ति च; आवश्यकत्वेनाभ्यासवशेन वा तत्तत् कर्म कुर्वाणा अपि तत्तदासक्त्यभावात्तत्र तत्रापि तं गायन्ति पश्यन्त्यपीत्यर्थः। दर्शनञ्च (दर्शने च) व्रजान्तःक्रीड़ायां साक्षादेव भावनाबलाद्वा; अथवा व्रजे वर्त्तमानं पश्यन्ति, अन्यदा दोहनादिच्छलेन तत्र तत्रैव गायन्ति चेति समुच्चयः। अथवा यदि कदाचिद्गुरुजन-लज्जादिना स्वातन्त्र्यहान्या तं गातुं न शक्नुवन्ति, तदानीं तु केवलमुरुक्रमे महाचित्ताक्रान्तिकरे कृष्णे चित्तस्य यानं गमनं यासां ताः। ततश्च अनुरक्ता अर्थात्तस्मिन्नेवानुरागेण प्रविष्टा धीर्विचारात्मिका यासां ताः सर्वविचाराचारशून्याः सत्यस्ततः केवलमश्रुकण्ठ्यो रोदनपरा भवन्तीत्यर्थः। इत्थमुरुक्रमेण महावेगेन चित्तस्य यानं कृष्णप्राप्तिर्यासां ताः, अतोऽनुरक्तधियो निरन्तरा आर्द्रचित्ताः सत्यः अश्रुकण्ठ्यो भवन्ति। पाठान्तरे उरुक्रमं चिन्तयन्त्य इत्यर्थः। एवं भगवद्दर्शन-कीर्त्तन-चिन्तानानुरागैस्ता एव धन्या इति श्लोकार्थः। यद्वा, गानप्रकारमेवाहुः—अनुरक्तेत्यादिना। ततश्चायमर्थः—ननु रागेणैव सर्वत्र प्रवृत्तिः स्यात्, कर्मसु च प्रवृत्त्या कदाचित्तत्र रागोऽप्यनुमीयत एव। तत् कथं तदेकप्रेमनिमग्नता तासाम्? तत्राह—अनुरक्ता भगवति एनं वा भगवन्तमनुरक्ता धियो बुद्धिवृत्तयो यासाम्; तल्लक्षणमश्रुकण्ठ्यः सत्य इति। भगवत्प्रीत्यपेक्षयैव तत्र तत्र तासां प्रवृत्तिरिति भावः। ननु तर्हि बुद्धेरन्यत्रासक्त्या कथं तासां शरीराद्यावश्यक-कर्मनिर्वाहस्तत्राह—उरुक्रमे परमाद्भुतशक्तौ कृष्णे यत्तासां चित्तं, तेनैव यानं यत्तदशेषकर्मसिद्धिः सर्वविषयप्राप्तिर्वा यासाम्; तच्चित्ततयान्यत्र नैरपेक्ष्येण तत्तत्कृत्यनिर्वाहेऽपि किमपि मनोवैकल्यं न घटत इति भावः। अथवा तासां तत्तद्दोहनादिकर्मण्यपि भगवत्परितोषणार्थकान्येव तच्चिन्तनप्रभावेणैव सर्वाणि स्वयमेव साङ्गं सिद्धिं प्राप्नुवन्तीति भावः। एवमत्र गानस्यैव प्राधान्यं, स्मरणन्तु गाने दर्शनेऽपि सर्वत्र स्वत एवानुस्युतमिति पार्थक्येन नोक्तमिति ज्ञेयम्। एवं सर्वथा ता एव धन्या इति अस्माकं त्वेतत् किमपि न सम्भवतीति हा कष्टमिति तात्पर्यम्॥१३६॥

भावानुवाद—हे माथुरनागरियों! जब कभी इन विदग्ध-शिरोमणिकी लीला-कौतुककी विचित्रताको व्रजगोपियाँ दर्शन नहीं कर पातीं हैं, तब इनके नाम और गुण-गाथाके संकीर्त्तन द्वारा ही वे प्रेमानन्दके सागरमें निमग्न हो जाती हैं। (अर्थात् श्रीकृष्णके अदर्शनमें भी गोपियोंको

साक्षात्कारकी भाँति उनकी स्फूर्ति होती है।) इसे बतलानेके लिए (श्रीमद्भा. १०/४४/१५) 'या दोहने' इत्यादि श्लोक वर्णन किया जा रहा है। श्रीकृष्णके लिए पुष्पकी माला गूँथने इत्यादि कार्योंको करते समय अथवा गायको दुहने आदिके समय वे व्रजगोपियाँ श्रीकृष्णके नाम और गुणोंका संकीर्त्तन करती हैं। अर्थात् व्रजगोपियाँ कभी तो साक्षात् श्रीकृष्णका दर्शन करती हैं और कभी संकीर्त्तनरूपी यज्ञके समय श्रीकृष्ण आहूत (अतिथि) की भाँति आविर्भूत होकर प्रत्यक्षके समान उनके अनुभवके विषय होते हैं। इसलिए किसी समय भी व्रजगोपियोंको उनके दर्शनका अभाव नहीं होता है। जैसा कि महर्षि श्रीपराशरने भी कहा है—"रासक्रीड़ामें गोपीमण्डलके बीचमें यदि श्रीकृष्ण शरद-चन्द्रके सम्बन्धमें 'कौमुदि-कुमुदाकरम्' इत्यादि गान करते हैं, गोपियाँ तब पुनः-पुनः श्रीकृष्णचन्द्रका नाम गान करती हैं। तथा श्रीकृष्ण यदि रासके अनुकूल गीतके अनुरूप रागका आलाप करते हैं, गोपियाँ तब नेत्रोंमें अश्रु और गद्गद-कण्ठसे 'साधु कृष्ण' 'साधु कृष्ण' कहकर दुगने उच्च स्वरसे राग अलापती हैं।"

मथुरापुरकी स्त्रियोंने जिस दृष्टिकोण (भावना) से 'व्रजस्त्रियः' कहा है, यह उनके लिए युक्तियुक्त ही है—जानना होगा, क्योंकि साधारणतः 'व्रजस्त्री' कहनेसे व्रजदेवियाँ तथा वनकी पुलिन्द स्त्रियाँ भी लक्षित होतीं हैं। अथवा दिनके समय श्रीभगवान्के साथ वनमें न जा सकनेके कारण जो व्रजमें ही रहती हैं—वे समस्त बालिका, तरुणी और वृद्धा गोपियाँ ही धन्य अर्थात् परम भाग्यशालिनी हैं। अथवा व्रजमें रहनेवाली स्त्रियाँ ही धन्य हैं, अन्य किसी स्थानकी नहीं। इसका कारण है कि वे श्रीकृष्णके प्रति अनुरक्त होकर अश्रुपूर्ण नेत्रों और गद्गद कण्ठसे गायको दुहते, जौ आदिको कूटते, दही-मन्थन करते, पति और परिवारके अन्य लोगोंके लिए रन्धन करते, कुङ्कुम-चन्दनादिका उपलेपन करते, बालकको झूला-झुलाते या रोते बालकको चुप कराते, गोबर और जलसे घरको लीपते-पोतते, धूल आदिकी सफाई करते इत्यादि घरके सामान्य कार्योंको करते समय भी श्रीकृष्णकी कथाका कीर्त्तन करती रहतीं हैं। 'आदि' शब्दका अर्थ है—घरके आङ्गनको लीपते समय, घरके प्रवेश द्वारके सामने चित्रकारी करते

समय, जौ आदिको पीसते समय, रन्धन आदि कार्य करते समय अर्थात् देह-दैहिक सम्बन्धी आवश्यक कार्य करते समय भी उनके भगवद्भजनके आनन्दमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं रहती है, अपितु उनकी समस्त क्रियाएँ संकीर्त्तनको उदित करानेके स्वभावके कारण परम अनुकूल हो जाती हैं। अथवा 'च' कार समुच्चय अर्थात् सामूहिक अर्थमें उक्त हुआ है। तात्पर्य यह है कि व्रजगोपियाँ दोहनादि समस्त क्रियाओंमें इन (श्रीकृष्ण) का ही गुणगान करती रहती हैं। अर्थात् आवश्यकताके रूपमें या अभ्यासवशतः उन-उन क्रियाओंको करते समय भी उन क्रियाओंमें आसक्त न रहनेके कारण श्रीकृष्णके नाम-गुण-गाथाका गान करते-करते उनका दर्शन करती हैं।

यदि कहो कि वह दर्शन किस प्रकारका होता है? कभी व्रजमें ही क्रीड़ा करते हुए श्रीकृष्णके साक्षात् दर्शन होते हैं, अथवा भावनाके बलसे श्रीकृष्ण साक्षात्कारकी भाँति स्फुरित होते हैं। अथवा व्रजदेवियाँ व्रजमें वर्त्तमान श्रीकृष्णके साक्षात् दर्शन करतीं हैं तथा अन्य समयमें अर्थात् दोहनादिके छलसे उनका नाम-गुण गाथाका गान करते ही उनकी स्फूर्तिमें श्रीकृष्ण साक्षात्कारकी भाँति अनुभूत होते हैं। अथवा यदि गोपियाँ कभी गुरुजनों आदिकी लज्जावशतः स्वच्छन्द रूपसे गान करनेमें असमर्थ होती हैं, तब उनका चित्त केवल उरुक्रमसे अर्थात् अत्यन्त वशीभूत होकर श्रीकृष्णके निकट ही गमन करता है। इस प्रकारसे महा-चित्तचोर श्रीकृष्णके प्रति अनुरक्त होकर अर्थात् श्रीकृष्णमें अनुराग सहित बुद्धि (विचारशक्ति) के प्रविष्ट होनेके कारण गोपियाँ समस्त आचार-विचारसे शून्य होकर केवल अश्रुपूर्ण नेत्रों और गद्गद कण्ठसे रोदन करती हैं। इस प्रकार उरुक्रमसे अर्थात् महा-वेग सहित चित्तकी गति श्रीकृष्णमें होनेके कारण 'अनुरक्तधिया' अर्थात् कृष्णमें अनुरक्त गोपियाँ निरन्तर द्रवीभूत चित्तवशतः अश्रुपूर्ण नेत्रों सहित रोदन करती हैं। पाठान्तरसे 'उरुक्रम' अर्थात् जो उरुक्रम (श्रीकृष्ण) की चिन्ता करती हैं, वे व्रजगोपियाँ इस प्रकारसे श्रीभगवान्के दर्शन-कीर्त्तन-चिन्तनमें अनुरागके कारण द्रवीभूत चित्तवाली हो जाती हैं, अतएव वे ही धन्य हैं।

अथवा गोपियोंके गानके प्रकारको 'अनुरक्त' इत्यादि पद द्वारा कह रहे हैं। इसका तात्पर्य है—यदि आपत्ति हो कि आसक्तिके द्वारा ही समस्त कर्मोंमें प्रवृत्ति होती है, अतः उन गोपियोंके नाना प्रकारके कार्योंमें प्रवृत्त होनेका कारण भी यह आसक्ति ही है। अतएव यदि ऐसा ही है, तब श्रीकृष्णप्रेममें उनकी ऐकान्तिक निमग्नता किस प्रकार सिद्ध होती है? इसके समाधानके लिए 'अनुरक्ता' इत्यादि पद द्वारा कह रहे हैं कि गोपियोंकी बुद्धि श्रीभगवान्‌में इस प्रकारसे आसक्त है कि वे सर्वदा इन (श्रीकृष्ण) के ही नामोंका उच्चारणकर गान करती रहती हैं। इसका लक्षण है—'अश्रुकण्ठ'। वस्तुतः श्रीकृष्णकी प्रीति प्राप्त करनेकी आशासे ही उनकी उन-उन कर्मोंमें प्रवृत्ति होती है।

यदि आपत्ति हो कि श्रीकृष्णमें अनुरक्त होनेके कारण उनकी बुद्धिकी गति अन्य क्रियाओंमें किस प्रकार होती है, अर्थात् उनकी शरीर-यात्रादि आवश्यक कर्म किस प्रकार सम्पन्न होते हैं? इसके लिए ही 'उरुक्रम' इत्यादि पद कह रहे हैं। 'उरुक्रमे' अर्थात् परम अद्भुत शक्तिविशिष्ट श्रीकृष्णमें उनके चित्तकी गति प्रविष्ट होनेके कारण ही उन गोपियोंके समस्त कर्म स्वतः ही सम्पन्न होते हैं अथवा उन्हें समस्त विषयोंकी प्राप्ति होती है। भावार्थ यह है कि श्रीकृष्णमें अनुरक्त-चित्त व्रजगोपियोंके स्वभावतः सर्वत्र निरपेक्ष होनेपर भी उनके समस्त कर्म अभ्यासवशतः स्वतः ही सम्पन्न होते हैं तथा उन कर्मोंके द्वारा उनके मनमें किसी भी प्रकारकी क्षुब्धता उदित नहीं होती है। अथवा उनके द्वारा किये जानेवाले दोहनादि समस्त कर्म भी भगवान्‌की तृप्तिके लिए ही होनेके कारण भगवान्‌के चिन्तनके प्रभावसे स्वयं ही पूर्ण हो जाते हैं। यहाँपर इस प्रकारके गानकी ही प्रधानता जाननी होगी, क्योंकि गानमें ही स्मरण ग्रथित है और स्मरणके प्रभावसे दर्शन क्रिया भी स्वतः ही सम्पन्न होती है। अर्थात् इन सब क्रियाओंमें कोई पार्थक्य न होनेके कारण एकके द्वारा दूसरेका पोषण होता है। अतः व्रजाङ्गनाएँ ही समस्त प्रकारसे धन्य हैं, किन्तु हमारे लिए वैसा गान किसी प्रकारसे भी सम्भवपर नहीं है। हा! कैसा कष्ट है! अर्थात् हमें धिक्कार है॥१३६॥

प्रातर्व्रजाद्व्रजत आविशतश्च सायं,
गोभिः समं क्वणयतोऽस्य निशम्य वेणुम्।
निर्गत्य तूर्णमबलाः पथि भूरिपुण्याः,
पश्यन्ति सस्मितमुखं सदयावलोकम्॥१३७॥

श्लोकानुवाद—"श्रीकृष्ण जब सखाओं सहित प्रातःकालमें गायोंको चरानेके लिए वेणुवादन करते-करते व्रजसे वनमें जाते हैं और सायंकालको वनसे व्रजमें लौटते हैं, उस समय उनकी वेणुध्वनिको सुनकर शीघ्रतापूर्वक अपने-अपने घरोंसे निकलकर जो व्रजगोपियाँ पथमें खड़ी हो जाती हैं तथा मन्द-मुस्कान और दयाभरी चितवनसे युक्त श्रीकृष्णके श्रीमुखका दर्शन करती हैं, वे अत्यन्त पुण्यवती हैं॥"१३७॥

दिग्दर्शिनी टीका—अहो भवतु वा दुष्टकंस-वधानन्तरमत्राप्यस्यैश्वर्येणास्माकमपि सदा सन्दर्शनलाभोऽखिल-व्यापारेषु च संकीर्त्तनमपि, तथापि तासामिव कुतः स्यादित्यभिप्रेत्याहुः—'प्रातः' (श्रीमद्भा. १०/४४/१६) इति। गोभिरित्युपलक्षणं, गोभिर्गोप-वर्गादिभिश्च समं प्रातर्वनं व्रजतोऽस्य श्रीकृष्णस्य वेणुं तन्नादं निशम्य तूर्णं स्वस्वगृहेभ्यो निर्गम्य पथि तदीयगमनवर्त्मनि स्थिताः। अस्य सस्मितं मुखं पश्यन्ति ता एवाबलाः स्त्रियो भूरिपुण्या महाभाग्याः परमकृतार्थाः परममङ्गलरूपा वा; यद्वा, अबलाः स्वातन्त्र्यादि-शक्तिहीना अपि यास्तथा पश्यन्ति, ता एव भूरिपुण्याः। कथम्भूतस्य? क्वणयतो वादयतो वेणुमेव; यद्वा, नटवरगतिलीलया नूपुरादिशब्दं कुर्वतः; एतच्च तूर्णनिर्गमे हेत्वन्तरम्। कीदृशं मुखम्? दयासहितोऽवलोको यस्मिन् तत्, सततकृपादृष्ट्या परमशोभमानमित्यर्थः। इदं सस्मितेति च विशेषणद्वयं श्रीमुखस्य स्वरूपनिरूपणमात्रार्थकं, न तु व्यवच्छेदकं, कदाचिदपि तत्तद्व्यवच्छेदाभावात्; यद्वा, तदानीं क्रोधावेशलीलया तत्र तयोरदृश्यमानत्वात्; किंवा, पश्चादप्यात्मानः परमदौर्लभ्येण तादृक्सन्दर्शनासम्भावनादिति दिक्। नन्वहो वत वनान्तर्व्रजने विच्छेदसमये दर्शनेन किं नाम बहुपुण्यम्? तत्राह—सायं व्रजमाविशतश्चेति तत्रापि (अत्रापि) गोभिः सममित्यादि योज्यम्। यद्यपि दिवाविरहदुःख-विकलानां कुमुदिनीनामिव मृतवन्निज-गुह एवावस्थितानां वेणुनादामृतपानेनैव निर्गमः, प्रातस्तु विविधच्छलेन श्रीयशोदा-गृहे पूर्वमेव तद्दर्शनार्थमागता वने यान्तमनुव्रजन्ति। समयद्वय एव वा तद्दर्शनावसर-ध्यानपराः प्रथममेव यथाकालं गृहेभ्यो यत्नेन किल निर्गच्छन्त्येव, तथापि वेणुनाद-श्रवणेन तूर्णं द्रुतपदैर्निगच्छन्तीति तथोक्तं, अथवा वेणुं निशम्य अबला इत्यन्वयः। वेणुनादश्रवणात् कामवेगेन बलहीनतां प्राप्ता अपीत्यर्थः। यद्यपि

विच्छेदेऽपि तासु भगवन्महाप्रसादोदय एवेति तासामसाधारणं तन्माहात्मयं विराजमानमस्त्येव, पूर्वं बहुधा तन्निरूपणात्, तथापि परमरहस्यत्वेन महादुर्वितर्क्यत्वेन वा तद्वर्णयन्तीभि-र्दर्शनमेव बहुमन्यमानाभिः पुरस्त्रीभिस्तथोच्यत इति ज्ञेयम्। यच्च रासक्रीड़ादि-परमसौभाग्यं न वर्ण्यते ताभिः, तच्च धाष्ट्र्य-परिहाराय। किंवा दर्शनसौभाग्यमपि वर्णयितुमप्यशक्यम्, कुतो रासक्रीड़ादिपरममहाभाग्यमित्यभिप्रायेणेति। ईदृशं तस्य सन्दर्शनं न कदाचिदप्यस्माकं सम्भवतीत्यल्पतरपुण्या एव वयमिति तात्पर्यम्॥१३७॥

भावानुवाद—इस प्रकार श्रीकृष्ण जब मथुरामें कंसकी रङ्गशालामें मल्लयुद्धके लिए उपस्थित थे, उस समय मथुरापुरकी स्त्रियोंमें परस्पर स्वच्छन्द भावसे आवेगमय आलाप हुआ था। उनमेंसे किसी पुरमहिलाने कहा—अहो! यद्यपि दुष्टकंसके वधके बाद ऐश्वर्य सहित इनका यहाँपर वास करना सम्भव हो सकता है तथा हमारे द्वारा भी सर्वदा इनका दर्शन और समस्त क्रियाओंको करते हुए इनका संकीर्त्तन भी सम्भव हो सकता है, तथापि व्रजगोपियोंके समान सर्वदा प्रेमपूर्ण दर्शनादिका सौभाग्य हमें कहाँ मिलेगा? इसी अभिप्रायसे (श्रीमद्भा. १०/४४/१६) 'प्रातः' इत्यादि श्लोक कह रही हैं।

श्रीकृष्ण प्रातःकालमें जब वेणुवादन करते-करते गोपबालकों और गायोंके साथ व्रजसे वनमें गमन करते हैं, उस समय इनकी वेणुध्वनि सुनकर जो व्रजगोपियाँ शीघ्रतापूर्वक अपने-अपने घरोंसे निकलकर इनके गमनके पथमें खड़ी होकर सदय दृष्टि और मन्द-मुस्कानयुक्त इनके श्रीमुखमण्डलका दर्शन करती हैं, वे समस्त अबलाएँ ही परम कृतार्थ अर्थात् महाभाग्यवती या परममङ्गलरूपा हैं। अथवा 'अबला' अर्थात् स्वतन्त्रतादि शक्तिसे रहित होकर भी जो इस प्रकारसे श्रीकृष्णका दर्शन करती हैं, यही उनका सर्वोत्तम पुण्य है। यदि कहो कि श्रीकृष्णकी गमन-भङ्गि कैसी होती है? इसके लिए कह रहे हैं कि वे वेणुवादन करते-करते नटवरगतिसे लीलापूर्वक नूपुरादिकी शब्द-ध्वनिको समस्त दिशाओंमें व्याप्त करते हुए गमन करते हैं। वेणुवादन और नूपुर-ध्वनिके अत्यन्त आकर्षक होनेके कारण ही अबलाएँ अतिशीघ्र घरसे बाहर निकल आतीं हैं।

श्रीकृष्णका श्रीमुखमण्डल कैसा है? उनके वेणुवादन करते हुए श्रीमुखकी मधुरिमाका वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह

वर्णनसे अतीत है। तथापि उनका सदय अवलोकन अर्थात् निरन्तर कृपादृष्टियुक्त परम शोभायमान नयनयुगल और मन्द-मुस्कानयुक्त श्रीमुखमण्डलका एक कण भी इस समस्त ब्रह्माण्डको माधुर्य-अमृतसे आप्लावित करनेमें समर्थ है। यहाँ 'स्मित' और 'सदय' यह दो विशेषण श्रीमुखमण्डलकी अत्यधिक शोभाके द्योतक होनेके कारण श्रीकृष्णके स्वरूप निरूपणके अर्थमें प्रयोग किये गये हैं, अतएव ये विशेषताएँ कभी भी श्रीकृष्णसे पृथक् नहीं होती हैं। अथवा मथुरामें कंसका वध करते समय क्रोधके आवेशमें लीला-विलास करनेवाले श्रीकृष्णमें उस मधुर मन्द-मुस्कान और दयाभरी दृष्टिको न देखनेके कारण (यहाँ तदानीन्तन कहनेका उद्देश्य यह है कि जिस समय मथुरापुरकी स्त्रियाँ इस प्रकारसे प्रेमालाप कर रही थीं, उस समय भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा शत्रुको संहार करनेका निश्चय करनेके कारण उनके भावान्तरको लक्ष्य करके ही उन्होंने तदानीन्तन शब्दका प्रयोग किया है। किन्तु उस समय भी श्रीकृष्णकी मधुर मन्द-मुस्कान तथा सदय दृष्टिपात तिरोहित नहीं हुई थी।) अथवा व्रजगोपियोंके द्वारा दर्शन किये जानेवाले पूर्वोक्त श्रीकृष्णके व्रजविलासकी प्रशंसाकर अपने दुर्भाग्यको बतला रही हैं। अथवा अपने लिए वैसे लीला-विलासका सन्दर्शन दुर्लभ जानकर अर्थात् वैसे माधुर्यसे मण्डित श्रीमुखमण्डलका दर्शन असम्भव जानकर ऐसी उक्ति हुई है।

यदि आपत्ति हो कि जब श्रीकृष्ण व्रजसे वनमें चले जाते हैं, उस विच्छेदके समय भी श्रीकृष्णकी स्फूर्ति द्वारा उनके दर्शनसे क्या वे व्रजगोपियाँ बहुत पुण्यवान मानी जायेंगी? इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि सायंकालमें जब श्रीभगवान् उसी प्रकारसे वेणुवादन करते हुए गायों और गोपबालकों सहित व्रजमें प्रवेश करते हैं, उस समय पुनः उनकी मन्द-मुस्कानके माधुर्यसे व्रजगोपियोंका समस्त विरह-ताप दूर हो जाता है। किन्तु हमारे लिए उन श्रीकृष्णका वैसा दर्शन कभी भी सम्भव नहीं है, इसलिए व्रजगोपियाँ सचमुच पुण्यवती हैं। यद्यपि दिनमें विरह-दुःखसे व्याकुल होकर कुमुदिनीकी भाँति मृतवत् होकर अपने-अपने घरमें रहती हैं, किन्तु सायंकालमें वेणुनादरूप अमृत-पानसे चेतना प्राप्तकर अपने-अपने घरोंसे बाहर निकलकर स्वच्छन्द रूपमें

श्रीकृष्णके मुखचन्द्रका दर्शनकर कुमुदिनीकी भाँति खिल उठती हैं। प्रातःकालमें भी विविध छलसे श्रीकृष्णके दर्शनके लिए पहलेसे ही श्रीयशोदाके घरमें आ जाती हैं तथा उनके वनमें जाते समय भी व्रजकी अन्तिम सीमा तक उनके पीछे–पीछे जाती हैं। इस प्रकार यद्यपि प्रातःकाल और सायंकाल दोनों समय श्रीकृष्णके दर्शन प्राप्तिके अवसरमें ध्यानपरायण होकर पहलेसे ही यत्नपूर्वक घरसे निकलने लगती हैं, किन्तु वेणुनादको सुनकर तो वे अबलाएँ अतिशीघ्र ही घरसे निकल आतीं हैं। अथवा वेणुनादको सुनकर गोपियाँ कामवेगसे बलहीनताको प्राप्त होतीं हैं, इस कारण 'अबला' शब्दका प्रयोग हुआ है।

यद्यपि विच्छेदमें भी गोपियोंके प्रति श्रीभगवान्‌की कृपाका उदय होता है, किन्तु वह कृपा केवल व्रजगोपियों द्वारा ही अनुभूत होती है। विशेषतः उस विच्छेद दशाके उदय होनेपर ही व्रजगोपियोंमें असाधारण माहात्म्यको ज्ञापन करनेवाला भाव विद्यमान रहता है—इसे पहले बहुत प्रकारसे निर्धारित किया गया है। तथापि उस भावके परम रहस्यपूर्ण या महा–दुर्वितर्क्य होनेके कारण इनके माहात्म्यका वर्णन करनेवाली पुरस्त्रियोंने व्रजगोपियों द्वारा श्रीकृष्णके दर्शनमात्रकी ही प्रशंसाकी है—जानना होगा। तथा उनकी रास–क्रीड़ादिके परम सौभाग्यका वर्णन भी अपनी धृष्टताको त्यागते हुए नहीं किया, अर्थात् जब वे व्रजगोपियों द्वारा किए जानेवाले श्रीकृष्णके दर्शन–सौभाग्यका वर्णन करनेमें भी असमर्थ हैं, तब रास–क्रीड़ादि द्वारा प्राप्त उनके परम सौभाग्यका किस प्रकार वर्णन कर सकती हैं? पुरस्त्रियोंका मनोगत अभिप्राय है कि उनके लिए इस प्रकारसे (गोपियोंकी भाँति) श्रीकृष्णका सन्दर्शन कभी भी सम्भव नहीं है, अतएव वे अल्पपुण्यवान हैं॥१३७॥

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां,
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः,
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥१३८॥

श्लोकानुवाद—"हे गोपियो! मेरे साथ तुम्हारा मिलन विशुद्ध प्रेममय (सर्वथा-निर्दोष) है। तुमने घर-गृहस्थीकी दुष्कर बेड़ियोंको तोड़कर तथा लोक-मर्यादाका उल्लंघनकर मेरा भजन किया है। मैं देवताओं जैसी लम्बी आयु प्राप्त करके भी तुम्हारे इस प्रेम और सेवाका बिन्दुमात्र भी बदला चुकानेमें असमर्थ हूँ। अतएव तुम्हारे साधुकृत्य ही इसका प्रत्युपकार हों। अर्थात् मैं तुम्हारे प्रेमका सदा ऋणी हूँ॥"१३८॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमासां श्रीभगवद्विषय-भावविशेषेण महामाहात्म्यमुक्तम्। अधुना श्रीभगवत एव तद्विषयकभावविशेषेण परमाश्चर्यतरं माहात्म्यं स्वयं तेनैव साक्षाच्छ्रीमुखेनोक्तं नवभिः। तत्र रासक्रीड़ायामन्तर्धानानन्तरं तासां महार्त्तिरोदनादाविर्भूते सुखमुपविष्टे तस्मिन् प्रहृष्टानां (प्रकृष्टानां) तासां प्रश्नत्रयस्य प्रत्युत्तरान्ते साक्षात् स एव ताः प्रत्याह—'न पारयेऽहम्' (श्रीमद्भा. १०/३२/२२) इति। निरवद्या सर्वनैरपेक्ष्येण कापट्यादिदोषस्पर्शराहित्येन च, अतएव निर्मलप्रेमविशेषेण च निर्दोषा संयुक् संयोगः सम्यङ्मद्विषयकचित्तैकाग्रतालक्षणः सङ्गमलक्षणो वा यासाम्, इति स्मृतिशास्त्रपरमन्यमानकामादि दोषो निरस्तः। प्रत्युत स्वविषयक-कामस्य महानेव गुणोऽभिप्रेतः, निरवद्यसंयोगहेतुत्वात्। अतएव तस्य प्रेमपरिपाकविलास-विशेषोपकरणता पूर्वं प्रतिपादितैव। तासां वो युष्माकं, विबुधानां देवानां ज्ञानिनां वा आयुषा सुचिरकालेनापि स्वीयं साधुकृत्यं प्रत्युपकारकृत्यम्; यद्वा, वो यत् स्वीयमसाधारणसाधुकृत्यं, तदहं न पारये, कर्त्तुं न शक्नोमि। कथम्भूतानाम्? या भवत्यो, दुर्जरा अच्छेद्या या गृहशृङ्खला गेहतत्सम्बन्धि-पतिपुत्रादि-तदर्थकृत्यादिलक्षणास्ताः संवृश्च्य निःशेषं छित्वा मा मामभजन्, तासां मच्चित्तं तु बहुषु प्रेमयुक्ततया नैवमेकनिष्ठं, तस्माद्वो युष्माकमेव साधुना साधुकृत्येन तत् युष्मत्साधुकृत्यं प्रतियातु प्रतिकृतं भवतु; युष्मत्—सौशील्येन मम आनृण्यं, न तु मत्कृतप्रत्युपकारेणेत्यर्थः। अथवा सु सुष्ठु असाधुकृत्यं मद्विषयकनैष्ठुर्यादिकमपि, किमुत साधुकृत्यमित्यर्थः। इदं ताभिः सह स्वच्छन्देन सदा क्रीड़ालोभादुक्तम्। अपारणे हेतुः—निरवद्यं निजाङ्गम् आत्मानं संयुञ्जन्ति समर्पयन्तीति तथा तासाम्। किञ्च, दुर्जरा गेहशृङ्खला नित्यकृत्यगोपालनादि-दृढ़निबन्धान् संवृश्च्य या युष्मान् अहं मा भजन्, न सेवितवानस्मि। तत्र दुर्जरेति विशेषणेन शृङ्खलारूपकेण च स्वशक्त्या छेद्यत्वं, संशब्देन च आसक्तित्यागेऽपि बहिस्त्यागासामर्थ्यम्; किंवा संछेदने छायायामपि सत्यामसामर्थ्यं ध्वनितमिति दिक्। युष्मद्वदात्मार्पणेन सर्वनिरपेक्षभजनने च विना प्रत्युपकाराशक्तेः। अतएव *"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्"* (श्रीगी. ४/११) इत्यादिनिजवचन-व्यभिचारापत्तेश्चाहं युष्माकमृण्येवेत्यर्थः। अन्यत् समानम्। यद्वा, साधुनेति भावप्रधाननिर्देशोऽयम्। तद्-

युष्माकम् भजनं साधुना युष्माकमेव साधुत्वेन प्रतियातु प्रत्युपकृतं भवतु; भावः स एव। यद्वा, साधुकार्येणापि पुरुषः मद्भक्तवरः कश्चिद्वो युष्मान् प्रतियातु प्रत्युपकारेणानुगच्छतु। यद्वा, वो युष्माकं तत्स्वसाधुकृत्यं प्रतियातु अनुवर्त्ततामनुकरोत्वपि, आशिषि पञ्चमी, अहन्तु न पारयाम्येवेति परमविनयोक्तिमाधुर्यम्॥१३८॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे श्रीभगवान्के प्रति व्रजगोपियोंके भावविशेषका महा-माहात्म्य वर्णन हुआ है। अब व्रजदेवियोंके प्रति श्रीभगवान्के भावविशेष और उस भावविशेषका परम आश्चर्यपूर्ण माहात्म्य, जिसको स्वयं श्रीभगवान्ने साक्षात् अपने श्रीमुखसे कहा है, इस श्लोकसे आरम्भकर नौ श्लोकोंमें वर्णन किया जा रहा है। रासलीलामें श्रीकृष्णके अन्तर्धान होनेपर व्रजगोपियोंके महा-दुःखसे परिपूर्ण रोदनको श्रवणकर पुनः वे उनके सम्मुख आविर्भूत हुए तथा उनके कुचकुङ्कुम द्वारा रञ्जित वस्त्रोंपर प्रसन्नतापूर्वक बैठ गये। उस समय व्रजदेवियोंके तीन प्रश्नोंका उत्तर प्रदान करनेके छलसे श्रीभगवान्ने अपने मुखसे (श्रीमद्भा. १०/३२/२२) 'न पारेयऽहम्' इत्यादि श्लोक कहा था।

हे प्रियतमाओ! मेरे साथ तुम्हारा संयोग निरवद्य अर्थात् सम्पूर्णता निरपेक्ष तथा कपटतादि दोषोंसे रहित है, अतः निर्मल प्रेमवशतः यह संयोग निर्दोष है। तथा इस संयोगमें सम्पूर्ण रूपसे मेरे प्रति चित्तकी एकाग्रताके लक्षण अथवा संगमके लक्षण होनेके कारण हमारे इस मिलनकी किसी प्रकारसे निन्दा नहीं की जा सकती है। इसके द्वारा श्रीकृष्ण और व्रजदेवियोंके मिलनमें न केवल स्मृतिशास्त्र द्वारा स्वीकृत कामादि दोषका ही खण्डन हुआ है, अपितु उनके निष्कपट संयोगवशतः अर्थात् श्रीभगवान्से सम्बन्धित काम होनेके कारण वह मिलन महागुणमें ही पर्यवसित हुआ है। अर्थात् वह संयोग काममय रूपमें प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः निर्मल प्रेममय होनेके कारण पवित्र और निर्दोष ही है। अतएव वह संयोग श्रीकृष्णके प्रेमका परिपक्व-विलास अर्थात् विशेष उपकरणस्वरूप है, यह पहले ही प्रतिपादित हुआ है।

हे गोपियो! तुम्हारे जो असाधारण साधुकृत्य हैं, मैं वैसा करनेमें समर्थ नहीं हूँ। अर्थात् मैं तुम्हारे साधुकृत्योंका प्रत्युपकार करनेमें असमर्थ हूँ। यहाँ तक कि देवताओंके समान लम्बी आयु प्राप्त

करनेपर भी बिन्दुमात्र रूपमें भी तुम्हारे साधुकृत्योंका बदला नहीं चुका सकता हूँ, क्योंकि तुम्हारे कृत्य असाधारण अर्थात् स्वयं ही साधु हैं। अतएव अन्य किसी साधु उपाय द्वारा भी तुम्हारा प्रत्युपकार करनेमें असमर्थ हूँ। वे साधुकृत्य किस प्रकारके हैं? मेरे साथ प्रेममय संयोगके लिए तुमने दुष्कर, अर्थात् कुलवधु होनेके कारण जिसे तोड़ा नहीं जा सकता उन घर-गृहस्थीकी बेड़ियोंको अर्थात् गृह तथा गृह-सम्बन्धी पति-पुत्रादि और उनके लिए ऐहिक सुखकर घर-गृहस्थीके कार्यों तथा परलोक-सम्बन्धी सुखकर लोकधर्मकी मर्यादारूप बेड़ियोंको तोड़कर मेरा भजन किया है। मेरे भजनमें तुम्हारा चित्त जिस प्रकार मुझमें ही एकनिष्ठ है, किन्तु मेरा चित्त उस प्रकारसे तुममें एकनिष्ठ नहीं है। अर्थात् मेरा चित्त बहुत-बहुत भक्तोंके प्रति प्रेमयुक्त होनेके कारण बहुनिष्ठ है, किन्तु तुम्हारा भजन एकनिष्ठ है। अतः मैं तुम्हारे प्रति वैसे साधुकृत्योंको कदापि नहीं कर पाऊँगा। अतएव तुम्हारे साधुकृत्यों द्वारा ही तुम्हारा साधुकृत्य (प्रत्युपकार) हो। अर्थात् मैं तुम्हारे साधुकृत्योंका प्रतिदानकर ऋणसे मुक्त नहीं हो सकता, इसलिए मैं तुम्हारा चिरऋणी रहूँगा। भावार्थ यह है कि तुम अपनी सुशीलतारूप गुणसे ही मुझे क्षमाकर ऋणमुक्त करो, मेरे किसी प्रत्युपकार द्वारा नहीं।

अथवा मूल श्लोकके 'स्वसाधुकृत्यं' पदका अर्थ है—मेरे प्रति तुम्हारा सु अर्थात् सुष्ठु असाधुकृत्यरूप निष्ठुरताका भाव विद्यमान रहनेपर तुम्हारे वह कार्य साधुकृत्य किस प्रकार होंगे? अर्थात् मेरे प्रति तुम्हारे वचन यथा—"तुम महाधूर्त्त हो! तुम्हारे मुखमें एक बात है और मनमें दूसरी, तुम्हारे वचन मन्द-मुस्कानयुक्त होनेपर भी उनमें नारी-वधकी वासनासे युक्त गूढ़ विष है। व्याध जिस प्रकार मधुर वंशीध्वनि द्वारा हिरणीका चित्त आकर्षणकर फिर उसका वध करता है, तुम्हारी वंशीध्वनि भी उसी प्रकारसे ही मधुर है। क्या कहूँ! तुमने जन्म लेते ही पूतनाका वध किया था, अतएव जन्मसे ही नारीवध करना तुम्हारे जीवनका व्रत है। तुम महाचोर-चूड़ामणि हो। बाल अवस्थामें तुमने गोपियोंके घर-घरसे मक्खन चुराया, किशोर अवस्थामें तुमने कात्यायनी व्रत करनेवाली कुमारी गोपियोंके वस्त्रहरणके छलसे

उनकी लज्जाका हरण किया तथा मर्यादा प्राप्त कुलस्त्रियोंके पातिव्रत्य धर्मका हरण किया। हे दुल्लीलशेखर! (दुष्कर्म लीला परायण!) हे कितवेन्द्र धूर्त्तराज!" इत्यादि तुम्हारे यह कठोर वचन रूप महारससिन्धुकी तरङ्गमाला मेरे हृदयको उद्वेलित करती है। अतएव इन वचनों द्वारा तुम्हारे साधुकृत्य किस प्रकार निष्पन्न होंगे? वास्तवमें व्रजगोपियोंके साथ निरन्तर क्रीड़ाके लोभसे ही श्रीकृष्णकी इस प्रकारकी वचनभङ्गिका विस्तार हुआ है—जानना होगा।

"मैं तुम्हारे साधुकृत्यका प्रतिदान नहीं कर सकता"—इसके और भी कारण निर्देश करते हुए कह रहे हैं कि तुम गोपियोंने परमानुराग सहित मेरे प्रति अपने समस्त अङ्गोंको आत्मसमर्पण किया है तथा घर-गृहस्थी-सम्बन्धी गोपालनादि नित्य कृत्योंकी दृढ़-बन्धनरूप दुष्कर बेड़ियोंको पूर्णतः तोड़कर सर्वत्र निरपेक्ष होकर मेरा भजन किया है। यहाँ 'दुर्ज्जर' विशेषण और 'शृङ्खला' रूपक द्वारा प्रतिपादित होता है कि कोई अपनी शक्ति द्वारा वैसी गृह-शृङ्खलाको तोड़ नहीं सकता है। तथा 'सं' शब्द द्वारा भी ध्वनित होता है कि आन्तिरक रूपसे आसक्तिका त्याग करनेपर भी बाहरसे अर्थात् कार्यतः उसे त्याग करना अत्यन्त कठिन है। अथवा उस गृह-शृङ्खलाकी छायाको भी सम्पूर्ण रूपसे तोड़नेमें कोई भी समर्थ नहीं है, अतएव मैं तुम्हारे समान सम्पूर्णतः निरपेक्ष भावसे आत्मनिवेदनकर भजन द्वारा प्रत्युपकार करनेमें समर्थ नहीं हूँ। गीता (४/११) में श्रीकृष्णकी प्रतिज्ञा है—"जो जिस भावसे मेरा भजन करता है, मैं भी उसी भावसे उसका भजन करता हूँ।" किन्तु आज गोपियोंके प्रति यह प्रतिज्ञा भङ्ग हो गयी—श्रीभगवान् गोपियोंके प्रेमसे पराजित हो गये। अतः अपने वचनके प्रति व्यभिचार होने अर्थात् कटिबद्ध न रहनेके कारण श्रीभगवान् गोपियोंके प्रेमके ऋणी हो गये—यही स्थिर होता है। अथवा 'साधुना' पदमें भावप्रधान निर्देश हुआ है, अर्थात् मेरे प्रति तुम्हारा यह भजन 'साधुना' अर्थात् तुम्हारे साधुकृत्यों द्वारा ही प्रत्युपकृत हो। अथवा मेरा कोई श्रेष्ठभक्त अपने साधुकृत्यों द्वारा तुम्हारे प्रत्युपकारका अनुगमन करे, किन्तु मैं प्रत्युपकार करनेमें असमर्थ हूँ। इसे श्रीभगवान्‌की परमविनय-उक्तिकी माधुरी जानना होगा॥१३८॥

गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रोर्नः प्रीतिमावह।
गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचय॥१३९॥

श्लोकानुवाद—"हे सौम्य उद्धव! शीघ्र व्रजमें जाओ और मेरे माता-पिताका आनन्दवर्द्धन करो तथा मेरे विरहमें गोपियोंके मनमें जो ताप उदित हुआ है, उसको मेरे संदेश द्वारा ही दूर करो॥"१३९॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं साक्षादेकेन साक्षादुक्तेरपि परोक्षोक्तेर्दार्ढ्यविशेषापेक्षया महाभागवतं निजप्रियतमं श्रीमदुद्धवं परोक्षे चाष्टभिः, तत्र श्रीगोपिकाविषयकासाधारणप्रसाद-सम्पत्तये तदनुरूपं व्यवहरन् भगवान् स्वयं व्रजे न गत्वा तत्रत्यानपारविरहानलदग्धानात्म-सन्दर्शनार्थं तद्रक्षणसन्देशामृतसेकेन (सन्दर्शनाशातन्तुरक्षकसन्देशामृतसेकेन) सन्तर्पयितुं निजप्रियसेवकवरं महामन्त्रिणमुद्धवं दूतत्वेन प्रेषयन्निदमादिशत्—'गच्छोद्धव' (श्रीमद्भा. १०/४६/३) इति चतुर्भिः। तत्रार्धेन (आद्येन) लोकव्यवहारापेक्षया प्रथमं मातापित्रोः सन्तोषणमादिश्य पश्चाद्गोपीसान्त्वनमुद्दिशति (मादिशति) तथाहि—हे उद्धवसंज्ञ! व्रजं गच्छ। श्लेषेण जगतामुत्सवरूप! त्वयि गते तत्र महानुत्सवो भवितेत्यर्थः। नः अस्माकमिति नन्दयशोदापुत्रत्वेनात्मानं बहुमन्वानो बहुत्वेन निर्दिशति; यद्वा, मम बलरामस्यास्मत्सम्बन्धेन तव च तादृशामन्येषामपीत्येवमभिप्रायेण बहुत्वम्। अतः पुत्रवत् परमभक्तिविनयादिना मच्छोकसन्तप्तयोः प्रीतिं हर्षं निजचातुर्या आवह सातत्येन सम्पादय। हे सौम्येति निजसहजकोमलरीत्यैवेति भावः। यद्वा, हे सोमतुल्य! तव सन्दर्शनादेव तौ परमानन्दं प्राप्स्यत इत्युद्धवप्रोत्साहनम्। गोपीनान्तु मम वियोगेन य आधिस्तञ्च मत्सन्देशैर्मदीयवाचिकैरेव, न तु निजचातुर्यादिना। यद्वा, मदीयैरेवासाधारणैः ससङ्केतैः प्रतीतिजनकैः सन्देशैः; एवं तयोः प्रीतिमपि कथञ्चित् कर्त्तुं शक्ष्यसि, आसाञ्चाधिविमोचनमात्रं, तच्च मत्सन्देशैरेवेति ताभ्यां सकाशादप्यासां विरहदुःखाधिक्योक्त्या प्रेममहिमानं सूचयति। एतच्च पूर्वमप्युक्तमस्ति॥१३९॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे श्रीभगवान्ने अपने श्रीमुखसे ही व्रजगोपियोंके अत्यधिक प्रेमका वर्णन किया है। अब गोपियोंकी उपस्थितिमें कथित उक्तिसे भी उनकी अनुपस्थितिमें कथित उक्तिकी दृढ़ताकी अपेक्षासे अपने प्रियतम महाभागवत श्रीउद्धवको जो कहा उसे इस श्लोकसे आरम्भकर आठ श्लोकोंमें वर्णन किया गया है। इस वर्णनके अन्तर्गत श्रीगोपियोंके प्रति असाधारण कृपारूप सम्पत्ति तथा उसके अनुरूप व्यवहार सम्पादन करनेके लिए श्रीभगवान् द्वारा स्वयं व्रजमें न जाकर श्रीउद्धव द्वारा वहाँ स्थित अपार विरह-अग्निसे दग्ध व्रजवासियोंका सन्दर्शन तथा उनकी रक्षा करनेके लिए सन्देशरूप अमृत द्वारा सिंचन करवाया गया। अथवा

श्रीकृष्णकी उक्ति—'मैं शीघ्र आऊँगा' ही व्रजवासियोंकी आशातन्तु थी। इस आशातन्तुको अपने सन्देशरूप अमृत द्वारा रक्षा करनेके लिए अर्थात् अपने संवाद द्वारा व्रजवासियोंको तृप्त करनेके लिए श्रीभगवान्‌ने अपने ऐकान्तिक अनुरक्त भक्त तथा अपने प्रिय सेवकवर महामन्त्री श्रीउद्धवके हाथोंमें अपना हाथ रखकर उन्हें श्रीमथुरासे दूतरूपमें व्रजमें भेजते समय जो कहा उसे (श्रीमद्भा. १०/४६/३) 'गच्छोद्धव' इत्यादि चार श्लोकोंमें वर्णन किया गया है। उनमें प्रथम आधे श्लोकमें लोक-व्यवहारकी आशासे माता-पिताको सन्तुष्ट करनेके पश्चात् गोपियोंको सान्त्वना देनेका उपदेश प्रदत्त हुआ है।

हे उद्धव! तुम व्रजमें जाओ। श्लेषपूर्वक कह रहे हैं—तुम जगत्‌के उत्सवस्वरूप हो, अतएव तुम्हारे वहाँ जानेसे वहाँ भी महान उत्सव होगा। इसलिए शीघ्र व्रजमें जाकर हमारे पिता-माता श्रीनन्द-यशोदाको आनन्दित करो। मूल श्लोकमें 'नः' अर्थात् 'हमारे' इस बहुवचन शब्दके प्रयोगका उद्देश्य यह है कि भगवान्‌ने अपनेको श्रीनन्द-यशोदाके पुत्ररूपमें भावनाकर गौरव सहित अपनेमें बहुत्वका आरोप किया है। अथवा श्रीनन्द-यशोदा मेरे और श्रीबलरामके अर्थात् हमारे सम्बन्धसे तुम्हारे (श्रीउद्धवके) और उसी प्रकार अन्योंके भी पिता-माता हैं, इसी अभिप्रायसे बहुत्वका आरोप किया गया है। अतएव तुम पुत्रकी भाँति परम भक्ति-विनयादि सहित मेरे विरहमें शोक-सन्तप्त पिता-माताको आनन्दित करो। अर्थात् जनक-जननीको पहले प्रणाम करना और फिर चतुरता सहित उन्हें अत्यन्त सन्तुष्ट करके उन्हें आनन्दित करना। यहाँ चतुरता सहित कहनेका तात्पर्य यह है कि मेरे (श्रीकृष्णके) बिना उनका प्रीति-विधान करना अन्योंके लिए अत्यन्त कठिन है। यदि तुम सोचते हो—"मेरे जैसा तुच्छ व्यक्ति उनका प्रीतिविधान करनेमें कैसे समर्थ होगा?" इसकी अपेक्षासे ही कह रहे हैं—'हे सौम्य!' यहाँ इस सम्बोधनका तात्पर्य है कि अपनी सहज-कोमल रीति द्वारा ही तुम उनका प्रीतिविधान करना। अथवा हे सोमतुल्य उद्धव! अर्थात् चन्द्रतुल्य उद्धव! तुम्हारे दर्शनसे ही वे परम आनन्दित होंगे। इन शब्दों द्वारा श्रीउद्धवको प्रोत्साहित किया गया है।

किन्तु मेरे विरहसे उत्पन्न गोपियोंकी मानसिक-पीड़ाको तुम अपनी चतुरतासे प्रशमित करनेकी चेष्टा मत करना, उसे केवल मेरे वाचिक सन्देश द्वारा ही प्रशमित करनेका प्रयास करना। अर्थात् मेरे विरहमें गोपियोंमें जो मानसिक-ताप उदित हुआ है, उसे तुम अपनी चतुरतासे प्रशमित नहीं कर सकोगे। अथवा मेरे असाधारण सङ्केत अर्थात् प्रतीतिजनक सन्देश द्वारा यद्यपि तुम मेरे पिता-माता आदिका किञ्चित् प्रीतिविधान करनेमें समर्थ हो सकते हो, किन्तु इस सन्देशसे केवल गोपियोंकी मन-पीड़ाको ही दूर करनेमें समर्थ होओगे। इसलिए उन्हें केवल मेरा सन्देश ही अर्पण करना। इसके द्वारा श्रीनन्द-यशोदाकी तुलनामें भी गोपियोंका विरहदुःख अधिक होनेके कारण उनके प्रेमकी महिमा सूचित होती है। यह पहले ही प्रतिपादित हुआ है॥१३९॥

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् विभर्म्यहम्॥१४०॥

श्लोकानुवाद—"हे उद्धव! उन गोपियोंका मन मुझमें ही अर्पित है तथा मैं ही उनका प्राण हूँ। उन्होंने मेरे लिए पति-पुत्र आदि समस्त दैहिक सम्बन्धोंको त्याग दिया है। जो मेरे लिए समस्त लौकिक धर्मोंका त्याग करते हैं, मैं उनका समस्त प्रकारसे पालन-पोषणकर उन्हें सुखी करता हूँ॥"१४०॥

दिग्दर्शिनी टीका—तत्रैव हेतुं तासु च स्वाभिमतं विधेयं, द्वितीयेनाभिव्यञ्जयंस्तासां लक्षणान्याह—'ता मन्मनस्का' (श्रीमद्भा. १०/४६/४) इति। मय्येव मनो यासाम्, अतो बहिरुन्मादगृहीता इव। किञ्च, अहमेव प्राणा यासाम्, अतो मद्दूरस्थित्या मृततुल्या इति। न च तासामवलम्बनमन्यत् किमप्यधुनास्तीत्याह—पूर्वमेव मदर्थे मदेकभक्त्या त्यक्ता दैहिका पतिपुत्रगृहादयो याभिस्ताः, तत्तत्सङ्गविवर्जिताः; एवं तासां प्रेममाहात्म्यं लक्षणानि चोद्दिष्टानि। अथवा त्वयि सर्वं विहाय कथमत्र त्वत्पार्श्वं नायान्ति? तत्राह—मदर्थे आयास्यामीति मदाज्ञाहेतोर्मत्प्रीत्यालोचनतो वा न त्यक्ता दैहिका देहसम्बन्धिनः पतिपुत्रादयोऽलङ्कारादयोऽपि याभिः। एवमनासक्त्या पतिपुत्रादिसङ्गेऽवस्थानं, गात्रेषु मत्प्रहितालङ्कारधारणञ्च न कृतमिति लक्षणमुक्तम्। ततः किमत आह—य इति। त्यक्तौ मन्निमित्तमुपेक्षितौ लोकधर्मौ ऐहिकामुष्मिक-सुखभोगस्तत्साधनजातञ्च यैर्जनैस्तथाभूता ये बभूवुः, तानहं विभर्मि वर्धयामि सुखयामीत्यर्थः। अतएव त्वामेवमादिशामीति भावः; यद्वा, तादृशानामेव तत्त्वतो

भर्त्ता भवामीति भावः। तेषां स्वभर्त्रादिभ्योऽप्यधिकं सुखं पालनादिकञ्च करोमीति यावत्। पुंस्त्वन्तु ये केचिज्जनाः स्त्रियः पुमांसो वा तादृशभावयुक्ता इत्यभिप्रायेण; अथवा दैहिकशब्देन पतिपुत्रादयो लोकास्तथा स्त्रीस्वाभाविकधैर्यलज्जादयो धर्मा अपि ग्राह्याः, किञ्च, दैहिकधर्माः; ततश्चायमर्थः—ननु ता यदि सर्वमेव तत्यजुस्तदा तासां वनमध्य एवानियतालक्षितवासोऽनुमीयते; तत्ता मया कथं प्राप्तव्याः? किञ्च, दैहिकधर्मत्यागेनोन्मादादिगृहीता इव कथं वा प्रबोधयितुं शक्यास्तत्राह—ये मदर्थे तभिस्त्यक्ता लोका धर्माश्च, तानहमेव विभर्मि, धारयामि, रक्षामीत्यर्थः। ताभिः परित्यक्ता अपि ते ते मया लोकव्यवहारसिद्धये तासु सङ्गमय रक्ष्यन्ते। अतस्त्वया पतिपुत्रादिमध्ये गृहेष्वेव वर्त्तमाना धैर्यादियुक्ता अपि ता द्रष्टव्या इति भावः। अथवा ताभिस्त्यक्तानां पति-पुत्रादीनां भोगाद्यसिद्ध्या कथं देहरक्षा? ताभिस्त्यक्तानाञ्च धर्मानामाप्तजनादृतत्वात् कथं वा लोके रक्षा भवतु? तत्राह—तानप्यहमेव रक्षामि, किमुत तास्तदपेक्षितमद्धर्मा वेत्यर्थः। तेषां तत्तत्पत्न्यादिरूपेण साक्षाद्भोगसम्पादनेन स्वशक्तिबलेन वा तेषामपि देहान् पुष्णामि, किमुत तासाम्; तथा लोके स्त्रीधर्मांश्च प्रवर्त्तयामि, किमुत तासामभीष्टमत्सङ्कीर्त्तनादिधर्मानित्यभिप्रायः। अकारप्रश्लेषे सति चायमर्थः—ये तु मदपेक्षया ताभिरत्यक्ता लोकधर्माश्च, तानपि अहमेव तत्सम्बन्धेन विभर्मि, विशेषेण भर्त्तुमिच्छामीत्यर्थः। अतो मत्तुल्यस्त्वं तत्र गत्वा ता इव तासां पतिपुत्रादीनामपि (दीनपि) सुखाय (सुखय), धैर्यं लज्जादिकञ्च परिपोषयेति भावः॥१४०॥

भावानुवाद—पूर्व श्लोकमें उक्त "गोपियोंके विरहको मेरे सन्देश द्वारा ही प्रशमित करनेकी चेष्टा करना"—इस कथनका हेतु वर्त्तमान श्लोकमें प्रदर्शन कर रहे हैं। विरह-अग्निसे जिनके समस्त अङ्ग दग्ध हो गये हैं, उन गोपियोंके सम्बन्धमें क्या कहा जा सकता है? अतः उनके निरुपाधिक प्रेम-माहात्म्यके लक्षणको 'ता मन्मनस्का' (श्रीमद्भा. १०/४६/४) श्लोक द्वारा अभिव्यक्त कर रहे हैं। मैं ही उनका मन हूँ, अतएव बाहरसे वे गोपियाँ उन्मादिनीकी भाँति प्रतीत होती हैं। तथा मैं ही उनका प्राण हूँ, इसलिए मेरे दूरमें होनेके कारण वे मृतके समान हो गयी हैं। अब उनका आश्रय कोई नहीं है, क्योंकि मेरे भजनके लिए पहलेसे ही उन्होंने पति-पुत्र-गृहादि सब कुछ परित्याग कर दिया है, अतएव वे उन सबके सङ्गसे रहित हैं। इस प्रकारसे उन गोपियोंके प्रेम-माहात्म्यका लक्षण तथा उनकी चेष्टा आदिका निर्देश किया गया है।

अथवा तुम सोच सकते हो कि जिन्होंने मेरे लिए मन-प्राण-देह-गृह आदि समस्त क्रियाओंको परित्याग दिया है, वे विरहसे उदित तापकी शान्तिके लिए मेरे पासमें ही क्यों नहीं आ जाती हैं? इसकी अपेक्षासे 'मदर्थे' पद द्वारा कह रहे हैं कि मेरी आज्ञाका पालन करनेके लिए ही वे मेरे पास नहीं आती हैं। गोकुलसे मथुरा आते समय 'मैं शीघ्र आऊँगा'—ऐसा कहकर मैंने उन्हें आश्वासन दिया था। इस आश्वासनसे वे आज भी वहाँ अति कष्टपूर्वक किसी प्रकारसे प्राण धारण कर रही हैं। अर्थात् मेरी आज्ञाके कारण अथवा मेरी प्रीतिकी विवेचनाकर उन्होंने देह-सम्बन्धीय पति-पुत्र और अलङ्कार आदिका परित्याग नहीं किया है। इस प्रकार वे सर्वत्र आसक्तिशून्य होकर पति-पुत्रादिके साथ रहती हैं और मेरे द्वारा प्रदत्त अलङ्कारादिको धारण नहीं करती हैं। इसके द्वारा गोपियोंका श्रीकृष्णके अलावा देह-गृहके धर्मादि समस्त कार्योंमें निरपेक्षताका लक्षण सूचित होता है।

(यदि प्रश्न हो कि) ऐसा करनेसे उनका क्या होगा? इसकी अपेक्षामें 'ये' इत्यादि पदों द्वारा कह रहे हैं कि जो इस प्रकारसे मेरे लिए लौकिक और पारलौकिक समस्त सुखों तथा उन्हें प्राप्त करनेके उपायोंके प्रति आग्रहको त्याग देते हैं, मैं उनका समस्त प्रकारसे भरण-पोषण कर उन्हें सुखी करता हूँ। अतएव हे उद्धव! तुम्हें उपदेश प्रदान करता हूँ कि उनके भाव सुदुर्गम हैं। यद्यपि तत्त्वतः मैं सभीका नित्यकान्त (पति) हूँ, तथापि मुझे किसी एक अनिर्वचनीय महादुर्लभ रसवैचित्रीका आस्वादन करानेके लिए ही वे गोपियाँ मुझमें इस प्रकारसे पतिभावके अभिमानका पोषण करती हैं। तथा मैं भी उनके पतिसे भी अधिक सुखकर रूपमें उनका पालन-पोषणादि करता हूँ। किन्तु वे अपने-अपने पति आदि और समस्त सुखकर पदार्थोंकी तुलनामें मुझे ही अधिक चाहती हैं, इसलिए उनकी प्रीति अन्यत्र कहीं भी स्पर्श नहीं करती है, अतः मैं ही उनकी आत्मा हूँ।

मूल श्लोकमें 'ये' पद पुल्लिङ्ग सूचक है। इसका तात्पर्य है कि स्त्री या पुरुष कोई भी हो अर्थात् यदि स्त्री हो तो उनके पति-पुत्रादिसे भी अधिक रूपमें अथवा यदि वैसे (गोपी) भावसे युक्त पुरुष हो, तो भी जो मेरे लिए अपने समस्त लौकिक और

पारलौकिक सुखोंको त्याग देते हैं, मैं उनका समस्त प्रकारसे पालन-पोषण करता हूँ तथा समस्त प्रकारके भयादिसे भी उनकी रक्षाकर उन्हें निरुपाधिक प्रेम प्रदानकर चिरकालके लिए सुखी करता हूँ। अथवा मूल श्लोकमें 'दैहिक' शब्द द्वारा पति-पुत्रादि तथा स्त्रियोंका स्वाभाविक धैर्य-लज्जादि रूप धर्म भी ग्रहणीय है। अतएव व्रजगोपियोंने मेरे लिए समस्त दैहिक-धर्मादिको त्यागकर मुझे ही प्रियतम रूपमें प्राप्त किया है।

यहाँ आपत्ति हो सकती है कि यदि वे इस प्रकार सबकुछ त्यागकर वनमें आकर अलक्षित भावसे विचरण करती हैं, तो मैं उनके दर्शन किस प्रकार प्राप्त करूँगा? विशेषतः दैहिक-धर्म त्यागकर उन्मादिनी होनेपर मैं उन्हें किस प्रकार सान्त्वना देनेमें समर्थ होऊँगा? इसकी अपेक्षामें कह रहे हैं—जो मेरे लिए इस प्रकार लोकधर्म इत्यादि सबकुछ त्याग देते हैं, मैं उनके लोक-व्यवहारकी सिद्धिके लिए देह-दैहिकादि समस्त धर्मोंकी रक्षा करता हूँ। अर्थात् यथारीति लोक-व्यवहारादि धर्मोंको संयोग कराकर रक्षा करता हूँ। अतएव तुम वहाँ जाकर उन्हें पति-पुत्रादि सहित घरोंमें वर्त्तमान धैर्य, गम्भीरता आदि गुणोंसे युक्त वैसी गोपियोंका दर्शन करोगे।

अथवा यदि तुम सोचते हो कि इस प्रकार पति-पुत्रादि त्यागकर तथा समस्त भोगादि क्रियाओंसे रहित होकर उनकी देह-रक्षा किस प्रकार होगी? विशेषतः धर्मत्याग करनेके कारण स्वजनों द्वारा अनादरवशतः आप ही किस प्रकार उनके लोक-व्यवहारकी रक्षा करेंगे? इसकी अपेक्षामें कह रहे हैं—मैं ही उनकी समस्त प्रकारसे रक्षा करता हूँ। जिन गोपियोंका चित्त मुझमें समर्पित है, उनके विषयमें क्या कहूँ? अपनी शक्तिके बलसे अर्थात् योगमाया द्वारा उन गोपियोंकी छायामूर्त्तियोंका निर्माण कराकर तथा उनके पतियोंमें उन छायामूर्त्तियोंके प्रति पत्नी अभिमान प्रदान कराकर साक्षात् उनका भोग सम्पादन कराता हूँ तथा इस प्रकार जगत्में स्त्री-धर्मका भी प्रवर्त्तन कराता हूँ। अथवा यदि कोई साधारण भक्त भी मेरे लिए समस्त भोगोंका त्याग करता है, तब भी मैं अपनी शक्तिके बलसे उसका पालन-पोषण करता हूँ। अतएव असाधारण महाभावमयी

गोपियोंके पालन-पोषणके सम्बन्धमें और क्या कहा जा सकता है? भक्तमात्रका अभीष्टप्रद जो मेरा नामसंकीर्त्तनादि धर्म है, उस संकीर्त्तनका प्रवर्त्तक भी मैं ही हूँ, अर्थात् उस संकीर्त्तनका सामर्थ्य भी मैं ही प्रदान करता हूँ। अथवा मूल श्लोकके 'त्यक्त' शब्दमें अ-कार प्रश्लेष (अर्थात् 'अत्यक्त') होनेसे अर्थ होगा—जो मेरे लिए लोक-धर्मादिकी रक्षा करते हैं अर्थात् उसका त्याग नहीं करते हैं, उनका भी गोपियोंके सम्बन्धवशतः अर्थात् उनके आनुगत्यमें भजन करनेके कारण मैं ही विशेषभावसे भरण-पोषण करता हूँ। हे उद्धव! तुम मेरे तुल्य हो, अतएव व्रजमें जाकर उन गोपियोंकी भाँति उनके पति-पुत्रादिको भी सुखी कर सकोगे तथा इससे गोपियोंके धैर्य-लज्जादिका भी परिपोषण होगा॥१४०॥

मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहोत्कण्ठ्यविह्वलाः॥१४१॥

श्लोकानुवाद—"हे प्रिय उद्धव! मैं उन गोपियोंका परम प्रियतम हूँ। अभी मेरे दूर रहनेके कारण वे गोकुलरमणियाँ मुझे स्मरण करते-करते विरहसे उदित उत्कण्ठा द्वारा विह्वल होकर बार-बार मूर्च्छित हो जाती हैं॥"१४१॥

दिग्दर्शिनी टीका—अहो वत सखे! तादृशाधिश्च कुत्राप्यन्यत्र न दृष्टः (कुत्राप्यन्यजनदृष्टः) श्रुतो वास्ति, यतोऽनुक्षणं तासां मोहं मृत्युञ्च जनयतीत्याह—'मयि' (श्रीमद्भा. १०/४६/५) इति द्वयेन। प्रेयसां प्रेष्ठ इति प्रथमं लोके प्रियाः पतिपुत्राद-यस्ततोऽपि देहस्ततोऽपि प्राणास्ततोऽपि धर्मस्तस्मान्मोक्षस्ततोऽपि मद्भक्तिर्मदेकप्रेमफलेत्येवं प्रियतमानामपि मध्ये तेभ्योऽपि प्रियतमे मयि दूरस्थे श्रीमथुरायामत्रागत्य स्थिते ताः सर्वा रूपगुणादिना अनिर्वचनीया मदेकप्राणा वा गोकुलस्य स्त्रियः सर्वा एव विरहेण यदधिकमौत्कण्ठ्यं मत्सङ्गमाशा, तेन विह्वला उन्मत्ता सर्वविचाराचाररहिता एव, तत्रापि स्मरन्त्यः तेनैव मत्सङ्गमादिकं विशेषतोऽनुसन्दधाना मां मद्विरहादिकञ्च चिन्तयन्त्यो वा विमुह्यन्ति, विशेषेण मुहुर्मोहं प्राप्नुवन्ति, सदा मृततुल्या भवन्तीत्यर्थः। अङ्ग हे मदङ्गतुल्य प्रियमन्त्रिवर! विरहौत्कण्ठ्येति पाठेऽयमर्थः—मयि कथञ्चिल्लीला-कौतुकेन तत्रैव (तच्चैव) कथञ्चिदन्तर्हिते सति किञ्चिन्मात्रविरहेणापि परमार्त्ता भवन्ति, अधुना च दूरस्थे विरहस्यौत्कण्ठ्यमाधिक्यं, तेन विह्वलास्तत्रापि स्मरन्तः कदाचिदपि विस्मर्त्तुमशक्नुवत्यः सदा विमुह्यन्त्येव। अन्यत् समानम्। इत्थञ्च

सूचितमिदम्—त्वया मत्सन्देशादिना तादृशचातुर्येणाहं ताः स्मारयितव्याः, येन तासां प्राणरक्षा भवेदिति॥१४१॥

भावानुवाद—सखे! कैसा आश्चर्य है! विरहसे उत्पन्न वैसा मानसिक ताप कहीं भी देखा नहीं जाता है। अर्थात् वे गोपियाँ जिस विरह-तापको भोग रही हैं, वैसा ताप कहीं भी और किसीमें भी न तो देखा जाता है और न ही सुना जाता है। इसका कारण है कि वह ताप प्रतिक्षण वर्द्धित होता है, जिससे उन गोपियोंमें मोह अर्थात् मृत्युतुल्य मूर्च्छा दशा उदित होती है। इसे बतलानेके लिए (श्रीमद्भा. १०/४६/५) 'मयि' इत्यादि दो श्लोकोंका वर्णन हुआ है। इस संसारमें जितनी भी प्रिय वस्तुएँ हैं, उनमें प्रथमतः प्रिय हैं पति-पुत्रादि सम्बन्ध, उनसे भी प्रिय हैं अपनी देह, उससे प्रिय हैं प्राण, उससे प्रिय धर्म है, उससे प्रिय मोक्ष है तथा उससे भी प्रिय प्रेमलक्षणसे युक्त श्रीभगवान्‌की भक्ति है। इन समस्त प्रियतम वस्तुओंसे भी मैं उनके लिए परम प्रियतम हूँ। हाय! उनके परम प्रियतम मेरे दूर स्थित होनेके कारण अर्थात् गोकुलसे मथुरामें आकर रहनेके कारण रूप-गुण-यौवन सम्पन्न अनिर्वचनीय 'मदेकप्राणा' अर्थात् जिनके प्राण मुझमें ही हैं, वे गोकुलरमणियाँ विरहके कारण अत्यधिक उत्कण्ठासे अर्थात् मेरे सङ्गकी आशासे विह्वल होकर उन्माद-दशाको प्राप्त होती हैं, अर्थात् समस्त आचार-विचारसे रहित हो जातीं हैं।

यद्यपि गोकुलसे मथुरा आते समय, "मैं शीघ्र आऊँगा"—ऐसा कहकर मैंने उन्हें आश्वासन दिया था, तथापि उस आश्वासन-वाणीको स्मरणकर तथा मेरे सङ्गादिकी विशेष भावना करते ही मुझसे विरह अनुभवकर वे बार-बार मोहित (मूर्च्छित) हो जाती हैं, अर्थात् सदा ही मृततुल्य रहतीं हैं। अतएव हे अङ्ग! अर्थात् मेरे अङ्गतुल्य प्रिय मन्त्रीवर! अत्यधिक विरह आर्त्तिके कारण ही श्रीभगवान्‌ने श्रीउद्धवको 'हे अङ्ग' कहकर सम्बोधन किया है। तथा श्लेष उक्तिके द्वारा कह रहे हैं कि उन व्रजगोपियोंकी सान्त्वनाके लिए इसी क्षण तुम्हारा गोकुलमें जाना कर्त्तव्य है—इस वचनके द्वारा श्रीउद्धवको उत्साहित भी किया है। हे सखे! उनका स्वभाव ऐसा विरह-उत्कण्ठामय है कि मेरे उनके निकट रहनेपर भी यदि लीला-कौतुकवशतः मैं उनकी दृष्टिसे

दूर हो जाता हूँ, तो मात्र इतने विरहसे ही वे परम व्याकुल हो जाती हैं। किन्तु अभी तो मैं उनसे दूरमें ही वास कर रहा हूँ, अतः विरहसे उदित उत्कण्ठाकी अधिकतावशतः न जाने वे कितनी विह्वल हो रही होंगी। तथापि मुझे स्मरणकर अथवा कभी मेरे विस्मरणकी चेष्टा करनेपर अधिक रूपमें मेरी स्मृतिके उदित होनेसे विमोहित हो जाती हैं। इसके द्वारा सूचित हुआ है—हे उद्धव! तुम मेरे सन्देशादि द्वारा तथा चतुरता सहित उन्हें मेरे विषयमें स्मरण कराना जिससे उनके प्राणोंकी रक्षा हो सके। तात्पर्य यह है कि उनका विरह-दुःख सुमेरु-पर्वतके समान है, किन्तु यदि वे मेरे द्वारा अनुभव होनेवाले विरह-दुःखके विषयमें कणमात्र भी सुनेंगी, तो उसी क्षण मूर्च्छित हो जायेंगी। अतएव उनके विरहमें मैं कैसा दुःखभोग रहा हूँ—इसे व्यक्त मत करना, केवल उनके प्रति मेरे प्रगाढ़ प्रेमविशेषको ही व्यक्त करना। तथा यह भी कहना कि आपकी प्रेम-महिमाकी चिन्ता करते-करते श्रीकृष्ण कभी-कभी उसमें तन्मय हो जाते हैं, इसलिए मैं (उद्धव) किसी-किसी समयमें उन्हें विवर्ण अर्थात् गौराङ्गरूपमें देखता हूँ॥१४१॥

धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन।
प्रत्यागमनसन्देशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः॥१४२॥

श्लोकानुवाद—"मैं ही जिनकी आत्मा हूँ तथा मुझमें ही जो तन्मय रहती हैं, मेरी स्वरूपशक्तिभूत उन प्रेयसियोंको गोकुलसे आते समय मैंने शीघ्र ही अपने वापस लौटनेका आश्वासन दिया था। मेरे आश्वासन वाक्यपर ही किसी प्रकारसे अत्यन्त कष्ट सहित वे अभी भी जीवन धारण कर रहीं हैं॥"१४२॥

दिग्दर्शिनी टीका—गोकुलस्त्रिय इत्यनेन बाला वृद्धादयोऽपि गृहीताः; ततश्च सर्वासामेव तासां मद्विरहविह्वलतया मोहः समान एवेत्युक्तः स्यात्, अतोऽधुना श्रीराधादीनां निजप्रियतमानां विशेषमाह—'धारयन्ति' (श्रीमद्भा. १०/४६/६) इति। मे मदीयाः श्रीचन्द्रावल्यादयो बल्लव्यस्तु मद्दीर्घविच्छेदेन मृत्युवशंगता अपि अति कृच्छ्रेण परम-दुःखेन प्राणान् धारयन्ति। तथाहि स्यमेव तत्रासम्भवं मत्वाह—कथञ्चनेति। तच्च निजमिथ्यावादिप्रसङ्गलज्जया प्रथममप्रकाश्य सन्देशाय विवृणोति—प्रत्यागमनेति।

अक्रूरस्याग्रहेण त्वरया गोकुलान्निर्गमसमये शीघ्रमागमिष्यामीति दूतद्वारा ये प्रत्यागमनसन्देशा मदीयास्तैः, मत्सत्यवचनताविश्वासेन केवलं मद्दर्शनसुखातिशया तादृशमहादुःखानि सहमाना मुहुः स्वयमेव निर्गच्छतः प्राणान् बलात् रक्षन्तीत्यर्थः। एवमीदृशा एव मम सन्देशास्तासु त्वया प्रतिपाद्या इत्यपि सूचितम्। तथाप्यसम्भवं मन्यमानः स्वयमेव सविमर्षमाह—मदात्मिका इति, मयि आत्मा यासां ता इति तासामात्मा स्वदेहे यदि वर्त्तेत, तदा नूनं विरहतापेन दह्येतैव; मयि वर्त्तमानत्वाच्च मया सदा प्रयत्नतो रक्ष्यमाणत्वात् कथञ्चिज्जीवन्तीति भावः। प्राय इति बाहुल्येन जीवन्ति; काश्चित् तदाद्याः तदानीमेव पश्चादपि मृता एवेत्यर्थः। अथवा प्रत्यागमनसन्देशैरेव प्राणान् धारयन्ति, तच्चातिकृच्छ्रेण, कालविलम्बतो विरहदुःखातिवृद्ध्या तदपि कथञ्चन मम शक्तिविशेषेणेत्यर्थः। तच्च न स्पष्टयति; मरणेन हि तद्दुःखनिवृत्तिः स्याज्जीवनेन च दुःखार्णवतरङ्गनिमज्जनम्। तथापादानं परमकारुणिकस्य उचितं न भवतीत्युद्धवाक्रोश-शङ्कया; तथा च मदात्मिका मत्स्वरूपाः; यादृशी तासां दशा, तादृशी ममापीत्यर्थः; अतस्तासामाधिमोचनेन ममाप्याधिविमोचनं त्वया कृतं स्यादिति भावः। किञ्च, तासां या गतिर्ममापि सैव; अतो यादृशं ताभिः कर्त्तव्यं, मयापि तादृशमेवेत्यपि भावान्तरमूह्यम्। एवमवश्यमेव प्रयत्नतः प्राणरक्षार्थं तासु सन्देशान्तरमित्यप्यूह्यम्। अथवा अलमन्तर्दावानलविस्तारिकया व्याख्यया, जीवनावेक्षकमर्थान्तरमिदमेव कल्पनीयम्—विभर्मीति प्रतिज्ञात-सुखसम्पादनहेतुत्वेन पुनरपि तासां गाढ़प्रेममहिमानं तृतीयश्लोकेन निरूप्य चतुर्थेन तत्सुखसम्पादनप्रकारमादिशन् मत्सन्देशैरिति यदुक्तं, तान् स्वसन्देशेनाभिव्यञ्जयति—धारयन्तीति। सामीप्ये वर्त्तमानोऽयम्। मदात्मिका मदेकचित्तास्ता बल्लव्यः मे प्रत्यागमनसन्देशैस्तत्र मदागमनसम्बन्धि-वाक्यप्रतिपादनेनैव प्राणान् धारयिष्यन्ति, तच्चातिकृच्छ्रेणैव, तदपि कथञ्चन कण्ठागतप्राणत्वादिना; अन्यत् यथापेक्ष्यं पूर्ववदूह्यम्। एवञ्च "श्रीनन्दनन्दनोऽत्राचिरादेवागमिष्यति, समागच्छन्नेवास्ति, अयमयमागतप्रायः" इत्यादिप्रकारा एव मत्सन्देशास्तासु त्वया कथनीया इत्यत्राभिप्रायो ज्ञेयः॥१४२॥

भावानुवाद—पूर्व श्लोकमें 'गोकुलस्त्रियः' पद द्वारा बालिका, तरुणी, वृद्धा इत्यादि गोकुलकी प्रत्येक स्त्री ही गृहीत हुई है तथा वे सभी श्रीकृष्णके विरहमें विह्वल होकर समान भावसे मोहग्रस्त (मूर्च्छित) होती हैं। अब श्रीकृष्ण अपनी प्रियतमा श्रीराधा आदिकी विशेषताका प्रदर्शन (श्रीमद्भा. १०/४६/६) 'धारयन्ति' इत्यादि श्लोक द्वारा कर रहे हैं। श्रीचन्द्रावली आदि मेरी प्रियतमाएँ मेरे दीर्घ विच्छेदसे मृत्युके वशीभूत होकर परम दुखःपूर्वक अपने प्राणोंको धारण कर रही हैं। किन्तु उस प्रकार अति कष्टपूर्वक प्राण धारण करना असम्भव है,

ऐसा सोचकर कह रहे हैं 'कथञ्चन' अर्थात् वे किसी प्रकारसे अपने प्राण धारण कर रही हैं। विशेषतः श्रीकृष्णने अपने मिथ्यावादी होनेके प्रसङ्गको लज्जासे पहले व्यक्त नहीं किया, किन्तु अब सन्देश भेजनेके लिए उसे प्रकाश करनेके अलावा अन्य किसी उपायको न देखकर ही 'प्रत्यागमन' इत्यादि पद कह रहे हैं। अक्रूरके आग्रहवशतः गोकुलसे मथुरा आते समय मैंने उन्हें, "मैं शीघ्र आ रहा हूँ"—इस प्रकारका सन्देश दूत द्वारा भेजा था। इसलिए वे मेरे सत्यवचनपर विश्वासकर केवल मेरे दर्शनसे प्राप्त होनेवाले अत्यधिक सुखकी आशासे वैसे महादुःखको सहनकर भी बार-बार कण्ठसे बाहर निकलते हुए प्राणोंकी बलपूर्वक रक्षा कर रही हैं।

यद्यपि मैंने उस समयमें ऐसा सन्देश भेजा था, किन्तु मेरे लौटनेमें विलम्ब होनेके कारण अब उनके द्वारा प्राण धारण करना असम्भव प्रतीत हो रहा है। इसलिए स्वयं ही विवेचनाकर कह रहे हैं—वे बल्लवीगण 'मदात्मिका' हैं, अर्थात् मैं उनकी आत्मा हूँ अथवा मेरे प्रति ही उन्होंने आत्मसमर्पण किया है। ऐसा लगता है कि इसीलिए वे अभी तक जीवित हैं, नहीं तो अपनी-अपनी देहमें उनकी आत्माके रहनेसे वे अभी तक तो विरह-अग्निमें दग्ध हो जातीं। विशेषतः उनकी आत्मा मुझमें वर्त्तमान रहनेके कारण मैं सर्वदा उनकी आत्माकी यत्नपूर्वक रक्षा कर रहा हूँ, इसलिए उनमेंसे कोई-कोई जीवित भी रह सकती हैं। मूल श्लोकमें 'प्रायः' शब्द द्वारा सूचित होता है कि उनमेंसे अधिकांश जीवित हैं तथा हो सकता है कि उनमेंसे किसी-किसीने तत्काल अर्थात् मेरे मथुरा आगमनके समय ही अथवा उसके कुछ समय पश्चात् प्राण त्याग दिये हों।

अथवा वे गोपियाँ मेरे लौट आनेके सन्देशके सहारे ही अतिकष्टपूर्वक किसी प्रकारसे प्राणोंको धारण कर रही हैं। किन्तु मेरे लौटनेमें विलम्ब होनेके कारण उनका विरह-दुःख अत्यधिक बढ़ गया है, अतएव उनके लिए प्राण धारण करना असम्भव होनेपर भी मेरी विशेष शक्तिके बलसे ही वे प्राण धारण कर रही हैं। किन्तु वह विशेष शक्ति क्या है—इसे स्पष्टतः व्यक्त नहीं कर रहे हैं। इस

अवस्थामें मृत्यु ही उनके दुःखोंकी निवृत्ति है तथा जीवित रहना उनके लिए दुःखसमुद्रकी तरङ्गोंमें डूबना है। अथवा ऐसा बोध होता है कि इस प्रकारसे उनके प्राणोंकी रक्षा करने तथा उन्हें इस प्रकारकी मानसिक-पीड़ा प्रदान करनेकी बात व्यक्त होनेसे इस सन्देश प्रेरणरूप महाकारुणिक कार्यके सम्बन्धमें श्रीउद्धवके आक्रोशकी आशङ्का हो सकती है। इसलिए कह रहे हैं कि वे बल्लवीगण (प्रियतमाएँ) 'मदात्मिका' अर्थात् मत्स्वरूपा—मेरी स्वरूपभूत शक्ति हैं, अतः उनकी जैसी दशा है, मेरी भी वैसी ही दशा है। अतएव हे उद्धव! इस समय तुम्हारा कर्त्तव्य उनकी मनःपीड़ाके मोचन द्वारा मेरी मनःपीड़ाको दूर करना है। तदुपरान्त कह रहे हैं कि उनकी जो गति है, मेरी भी वही गति है तथा उनके प्रति जैसा कर्त्तव्य होना चाहिये, मेरे प्रति भी वैसा ही कर्त्तव्य होना चाहिये—यह भावान्तर है।

अब आवश्यक कर्त्तव्यका निर्देश करते हुए कह रहे हैं कि उनके प्राणोंकी रक्षाके लिए अन्य सन्देशकी आवश्यकता है। अथवा उन गोपियोंके अन्तर-स्थित दावानलको विस्तार करनेवाली किसी व्याख्याकी कोई आवश्यकता नहीं है। अभी केवल उनके जीवनकी रक्षाके लिए किसी अन्य उपाय की ही कल्पना करनी होगी। पूर्वोक्त (श्लोक १४० के) 'विभर्मी' पद द्वारा उन गोपियोंको जैसा सुख प्रदान करनेकी प्रतिज्ञा की गयी है तथा फिर (श्लोक १४१ में) उनके प्रगाढ़ प्रेमकी महिमाका निरूपण किया गया है और वर्त्तमान श्लोकमें उस सुखको प्रदान करनेके प्रकारको निर्देश करनेके लिए 'मत्संदेश' इत्यादि जो उक्त हुआ है, उस सन्देशको अभिव्यक्त करनेके लिए ही 'धारयन्ति' पद कह रहे हैं। यहाँ सामीप्यवशतः वर्त्तमान कालका प्रयोग हुआ है। तात्पर्य यह है कि वे प्रियतमाएँ 'मदात्मिका' हैं, अर्थात् उनका चित्त केवल मुझमें ही लगा हुआ है। अतएव यद्यपि मेरे लौटनेके सन्देश द्वारा तथा विशेषतः उस सन्देशमें मेरे गोकुलमें आनेसे सम्बन्धित वचनोंके प्रतिपादन द्वारा वे अपने प्रायः (लगभग) निकले हुए प्राणोंकी रक्षा कर सकेंगी, तथापि इस प्रकारसे प्राण धारण करनेकी प्रक्रिया अत्यन्त कष्टप्रद है। अतएव हे उद्धव! उन्हें इस प्रकारसे सन्देश दो—"श्रीनन्दनन्दन गोकुलमें आ रहे हैं" और "वे आनेके लिए

सम्पूर्णतः तैयार हैं—यही समझो कि वे आ ही गये हैं।" इस प्रकारसे सन्देश प्रदान करना ही श्रीभगवान्‌का अभिप्राय जानना होगा॥१४२॥

रामेण सार्धं मथुरां प्रणीते,
श्वाफल्किना मय्यनुरक्तचित्ताः।
विगाढ़भावेन न मे वियोग-,
तीव्राधयोऽन्यं ददृशुः सुखाय॥१४३॥

श्लोकानुवाद—"हे उद्धव! जब अक्रूर श्रीबलरामके साथ मुझे मथुरा ले आये, दृढ़तर प्रेमवशतः मुझमें अनुरक्त-चित्त गोपियाँ उसी समयसे मेरे वियोगके कारण तीव्र मानसिक-पीड़ाको सहन कर रही हैं। मेरे व्रजमें आगमनके अलावा उन्हें अन्य कुछ भी सुखकर बोध नहीं होता है॥"१४३॥

दिग्दर्शिनी टीका—अधुनाशेषसत्तमगणपूजितं साधुत्वचरमकाष्ठाप्राप्तं परम-माहात्म्यं चतुर्भिः श्रीद्वारकायां श्रीमदुद्धवं प्रति सत्सङ्गमहिमप्रसङ्गेन हृदयाक्रान्त-सज्जनगणशिरश्-चूड़ामणि-श्रीगोपिका वर्णयन् तत्प्रेमरसाकृष्टचेताः प्रस्तुतं विहायैव तासामेव परमगाढ़भावमहिमानं श्रीभगवानाह—'रामेण' (श्रीमद्भा. ११/१२/१०) इति। श्वाफल्कि-नाक्रूरेण मथुरां प्रति मयि प्रसह्य नीते सति एवं मथुरागमने मदिच्छा न स्यात् (नासीत्), तत्रापि न त्वरयेति ध्वनितम्। श्वाफल्किनेति केवलं मुनिवरसदृश-यादव-पुत्रत्वेनैव तदपराधो मया तत्रत्यैश्च सोढ़व्य इति भावः। किंवा यदुवंशस्य तस्य कंसात् स्वकुलरक्षार्थं तथाचरणमुचितमेवेति भावः। रामेण सार्धमिति तस्मिन्नपि तत्र स्थिते सति तच्चातुर्येण कालियह्रदक्रीड़ायामिव तासां किञ्चिज्जीवनाश्वासोऽभविष्यत्, तच्च नाभूदिति ध्वनितम्। यद्वा, रामं प्रत्यक्रूरेण पितृ-मातृ-प्रभृतीनां यादव-वंश्यानां बन्धुवर्गाणां परमभयदुःखवेगमस्मद्धेतुकं प्रतिपाद्य तेन सह मिलित्वा मयि प्रणीते सति, अन्यथा मया नागतं स्यादिति भावः। मे मत्तोऽन्यं जनं कमपि न ददृशः, दृग्भ्यां नावलोकयामासुरपि। किमर्थम्? सुखाय; (यतो मयि प्रणीते) मदन्यदर्शनेऽपि (-नमपि) तासां दुःखोत्पत्तिः स्यात्, परमदृश्यवियोगेऽप्यतितुच्छदर्शने चक्षुःप्रवृत्तेः, तत्र भवत्वित्येतदर्थम्। यद्वा, अन्यं कञ्चिदपि पदार्थं सुखहेतुकत्वेन न विदुः, दृशेर्ज्ञानार्थकत्वात्, अपि तु परमदुःखकरमिति विदुः। तत्र हेतुः—वियोगेन मद्विरहेन तीव्राः परमदारुणाः सुदुःसहा आधयो मनःपीड़ा यासां ताः। तत्रैव हेतुः—मयि विगाढ़ेण भावेन अतिदृढ़ेन भावेन मत्प्रेम्णा मय्येवानुरक्तानि अनुनिरन्तरमासक्तानि चित्तानि यासां ताः; यद्वा, पूर्वमेव प्रकृत्या मय्यनुरक्तचित्ताः सम्प्रति च वियोगतीव्राधयः; तत एव जातेन दृढ़भावविशेषेण हेतुनान्यं सुखाय न ददृशुः। अथवा, परमसर्वज्ञगण-

पूजितपादाभिस्ताभि कथमीदृशाधिहेतौ त्वयि चित्तमनुरञ्जितम्? तत्राह—मम विगाढ़भावेन तद्विषयकेन, यथाह श्रीपराशरः—*"स तथा सह गोपीभी रराम मधुसूदनः। यथाब्द-कोटिप्रतिमः क्षणस्तेन विनाऽभवत्॥"* इति। अस्यार्थः—येन प्रकारेण क्षणपरिमितोऽल्पकोऽपि कालः तेन मधुसूदनेन विना अब्दकोटितुल्यो गोपीनामभवत्, भवेत्। मैत्रेयं प्रति-कथनकालादतीतत्वेनातीतप्रयोगः। तेन प्रकारेण गोपिभिः सह रेमे। गोपीभिरिति शब्दश्लेषेण गा इन्द्रियाणि पान्ति विषयेभ्यो रक्षन्तीति तथाभूताभिरपि निजमोहनतरभावेनैव तादृशमक्रीड़दित्यर्थः। एवं विरहदुःखाधिक्य-विस्तारणायैव तादृशी तस्य क्रीड़ेति भावः। अतएव मधुसूदनः पद्मिनीनां लम्पटलीलभ्रमर इव प्रियजनानां मधु सुखकारण-सर्वस्वमेव सूदयति नाशयतीति तथा स इति। एवं ममैव स्वभावोऽयम्, येन विचित्रचातुर्यमाधुर्या लोकानां चित्तमाकृष्य रमयामि। सा च मत्क्रीड़ा पश्चात् परमाधिपर्यवसायिन्येवेति। तासां तत्र को दोष इत्यभिप्रायः। इत्थञ्च मदात्मिका इत्यनेन ताभिः सह विरहदुःखादौ सन्देशार्थं स्वस्य साम्यं यदुद्दिष्टं, तदप्यधुना निरस्तमिति ज्ञेयम्। यतस्ता एवेदृश्यः, न त्वहमिति। एवं परश्लोकद्वयेऽप्यूह्यम्। अतः सकलसल्लोकशिरोमणेर्मत्तोऽप्यधिकतरास्ताः; काठिन्याकृतज्ञत्वादि-राहित्येन तादृशभाववत्त्वादित्युक्तं भवति॥१४३॥

भावानुवाद—अब समस्त महाभागवतजनों द्वारा पूजित तथा साधुताकी चरमसीमाको प्राप्त श्रीगोपियोंका परम माहात्म्य इस श्लोकसे आरम्भकर चार श्लोकोंमें कीर्त्तन किया जा रहा है। श्रीद्वारकामें श्रीउद्धवके प्रति सत्सङ्गकी महिमाके उपदेश-प्रसङ्गमें सज्जनोंकी चूड़ामणि श्रीगोपियोंके भावसे चित्तके वशीभूत होनेपर उस समय चल रहे विषयको त्यागकर श्रीभगवान् उन गोपियोंके प्रेमरससे आकृष्ट चित्तसे उनके परमगाढ़ भावकी महिमाका वर्णन (श्रीमद्भा. ११/१२/१०) 'रामेण' इत्यादि श्लोक द्वारा कर रहे हैं। श्वाफल्कपुत्र अर्थात् अक्रूर द्वारा मुझे बलपूर्वक मथुरा ले जानेसे मुझमें अति दृढ़ भावसे अनुरक्त-चित्त गोपियाँ उसी समय ही मेरे विरहसे उदित तीव्र दुःसहनीय मानसिक तापसे दग्ध हो गयी थीं। यहाँ 'अक्रूर-द्वारा' कहनेसे ध्वनित हो रहा है कि श्रीभगवान्‌की मथुरा जानेकी इच्छा नहीं थी। 'अक्रूर' कहनेका उद्देश्य यह भी है कि केवल श्रेष्ठ मुनिके समान यादवपुत्र होनेके कारण ही मैंने व्रजवासियोंके प्रति उनके भीषण अपराधको सहन किया था। अथवा अक्रूरके यदुवंशमें उत्पन्न होनेके कारण कंससे अपने उस कुलकी रक्षा करनेके लिए उनका वैसा आचरण अर्थात्

कृष्णको मथुरा लाना अनुचित नहीं है। 'रामेण सार्धं' कहनेका तात्पर्य यह है कि श्रीबलराम यदि व्रजमें ही रहते तो कालियह्रद-लीलाके समय उन्होंने जिस प्रकार व्रजवासियोंको आश्वासन प्रदानकर चतुरता सहित उनके जीवनकी रक्षा की थी, वर्त्तमान परिस्थितिमें भी वैसा ही करते, परन्तु अभी श्रीबलराम वहाँ उपस्थित नहीं हैं। अथवा अक्रूरने श्रीबलरामके समक्ष पिता-माता आदि यादववंशमें उत्पन्न बन्धुओंको कंस द्वारा दिये जानेवाले परमदुःख और भयादिके विषयमें वर्णन किया। उन्होंने अपने कथनसे ऐसा स्थापित किया कि वह दुःख-भयादि मेरे (श्रीकृष्णके) कारण ही है, इस प्रकारसे अक्रूर श्रीबलरामके साथ मिलकर मुझे मथुरा ले आये। यदि वे इस प्रकार मुझे उनके दुःखका कारण प्रतिपादितकर श्रीबलरामको अपने पक्षमें नहीं करते, तो मैं किसी भी अवस्थामें मथुरा नहीं आता।

कैसे कष्टकी बात है! मुझमें दृढ़ भावसे अनुरक्त-चित्त गोपियाँ सुखी होनेके लिए मेरे अलावा अपने नेत्रोंके कोनेसे भी अन्य किसी वस्तुको नहीं देखती हैं, क्योंकि अन्य कुछ भी उन्हें सुखकर नहीं लगता है। अर्थात् एकमात्र मेरे अलावा अन्य जो कुछ भी वे दर्शन करती हैं, वह सब उन्हें दुःखकर प्रतीत होता है। इसका कारण है कि परम दृश्य (देखने योग्य) विषयका वियोग होनेसे अतितुच्छ विषयके दर्शनमें नेत्रोंकी स्वभावतः अरुचि हो जाती है। अथवा मुझसे मिलनेके अलावा गोपियाँ अन्य किसी भी वस्तुको सुखकर नहीं समझतीं हैं तथा अन्य वस्तुओंके दृष्टिगोचर होनेपर भी उन्हें वे वस्तुएँ परम दुःखकर रूपमें ही प्रतीत होती हैं। इसका कारण है कि मेरे वियोगमें उनमें अत्यन्त तीव्र दुःसहनीय मानसिक-पीड़ा उदित होती है, क्योंकि विगाढ़ अर्थात् अतिदृढ़ भावसे मेरे प्रेमवशतः उनका चित्त मुझमें निरन्तर आसक्त रहता है। (अथवा मेरे प्रति विगाढ़भाव अर्थात् अनुरागके परवर्ती (अगली) भूमिकागत रूढ़ नामक महाभावके विशेष भेदके कारण वियोग होनेसे उनमें तीव्र मानसिक-पीड़ा उदित होती है।) अथवा पहलेसे ही स्वभावतः उनका चित्त मुझमें आसक्त है, अब वियोग-दशामें उनकी आसक्ति अत्यन्त तीव्र मानसिक-पीड़ाके रूपमें अभिव्यक्त हुई है। अतः इस प्रकारके विशेष दृढ़ भावके कारण वे

मेरे मिलनके अलावा अन्य किसी भी वस्तुको सुखकर रूपमें दर्शन नहीं करती हैं।

अथवा यदि तुम यह सोचते हो कि जिनके श्रीचरणकमल सर्वज्ञ-शिरोमणीजनों द्वारा भी पूजित होते हैं, उन व्रजगोपियोंका चित्त ऐसी मानसिक-पीड़ामें भी किस प्रकार मुझमें (श्रीकृष्णमें) अनुरक्त रहता है? इसके लिए कह रहे हैं—मेरे प्रति विगाढ़ भावके प्रभावसे ही सर्वज्ञ-शिरोमणिजनों द्वारा पूजित उन गोपियोंका चित्त मुझमें अनुरक्त रहता है। विशेषतः व्रजदेवियाँ उस विगाढ़ भावकी ही मूर्त्तिमानस्वरूप हैं। अतएव वे उस प्रकारसे उन्मादिनी होंगी इसमें सन्देह ही क्या है? तथा मैं भी उनके साथ उनके विगाढ़ भावमें ही विहार करता हूँ, जिससे उन्हें वह भाव नव-नव रूपमें अनुभव होता है। जैसा कि श्रीपराशरने कहा है—"श्रीमधुसूदन ऐसे भावसे गोपियोंके साथ विहार करते हैं, जिससे उनके विरहमें गोपियोंको क्षणकालका अल्प समय भी अरब करोड़ वर्षोंके समान सुदीर्घ प्रतीत होता है।" इस उद्धृत श्लोकमें 'अभवत्' इस अतीतकालके निर्देशका कारण यह है कि श्रीपराशरमुनिने इस प्रसङ्गको कभी अतीतमें श्रीमैत्रयमुनिसे श्रवण किया था। इस प्रकारसे भगवान् श्रीमधुसूदन गोपियोंके साथ क्रीड़ा अर्थात् रमण करते हैं। यहाँ 'गोपीभि' शब्दका श्लेष अर्थ है—'गा'—इन्द्रियाँ, 'पान्ति'—विषयकी रक्षा करना। तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्णकी जिस शक्तिके प्रभावसे समस्त ब्रह्माण्डोंमें धारावाहिक उल्लास विकसित होता है और जिसकी सहायतासे उस उज्ज्वल प्रेमविशेषका वितरण, विस्तार और प्रचार होता है, उनकी अपनी ह्लादिनीशक्तिस्वरूप गोपियाँ ही उनकी उस परमानन्द राशिरूप शक्तिमत्ताकी रक्षा करती हैं, उसका स्थापन और वितरण करती हैं। अतएव इस प्रकार उनके मोहनतर-भाव द्वारा ही वैसी क्रीड़ा सम्पन्न होती है तथा ऐसे विरहदुःखका भी अधिकाधिक रूपमें विस्तार होता है। अर्थात् इस प्रकारके विरहदुःखके विस्तारके लिए ही श्रीभगवान् वैसी लीला करते हैं—जानना होगा। अतएव ये मधुसूदन श्रीकृष्ण पद्मिनी स्वरूप गोपियोंके सम्मुख लम्पटलीलामें अनुरक्त भ्रमरकी भाँति उन प्रियतमाओंका 'मधु' अर्थात् सुखस्वरूप सर्वस्व, 'सूदन' अर्थात् नाश कर देते हैं।

हे सखे! मेरा स्वभाव ही ऐसा है, इसलिए सर्वदा विचित्र चातुर्य सहित माधुर्यके अमृतका वर्षणकर मैं सभीके चित्तका आकर्षणकर उसमें रमण करता हूँ। परन्तु मेरी ऐसी माधुर्यमयी-क्रीड़ा बादमें परम तीव्र मानसिक-पीड़ाके रूपमें पर्यवसित होती है। यहाँ श्रीभगवान्‌का अभिप्राय यह है कि उनकी परम रमणीय लीलाएँ बादमें जब परम तीव्र मानसिक-पीड़ाके रूपमें पर्यवसित होती हैं, तो उसमें गोपियोंका क्या दोष है? अपितु वह दोष श्रीभगवान्‌का ही जानना होगा। अतएव इन वचनों द्वारा पूर्व श्लोकमें 'मदात्मिका' पदकी व्याख्यामें श्रीउद्धवके द्वारा सन्देश भेजनेके उद्देश्यसे गोपियोंके साथ श्रीभगवान्‌के जिस विरहदुःखका साम्य कथित हुआ है, (अर्थात् श्रीकृष्णको भी गोपियोंके समान मन-पीड़ा होती है) यहाँ वह विचार निरस्त हुआ है—जानना होगा। अतएव यहाँपर प्रतिपादित हुआ है कि गोपियोंको ही वैसी मन-पीड़ा होती है, श्रीकृष्णको नहीं। अगले दो श्लोकोंके अर्थकी भी इसी प्रकारसे सङ्गति करनी होगी। अतएव वे गोपियाँ समस्त सत्-लोक-शिरोमणिस्वरूप मुझसे भी अधिकतररूपमें श्रेष्ठ हैं, क्योंकि उनका हृदय (मेरे समान) कठोर और अकृतज्ञ नहीं है। गोपियोंके वैसे भावोंके सम्बन्धमें पहले ही वर्णन हुआ है॥१४३॥

तास्ताः क्षपाः प्रेष्ठतमेन नीता,
मयैव वृन्दावन-गोचरेण।
क्षणार्धवत्ताः पुनरङ्ग तासां,
हीना मया कल्पसमा बभूवुः॥१४४॥

श्लोकानुवाद—"हे उद्धव! मैं ही उन व्रजगोपियोंका एकमात्र प्रियतम हूँ। श्रीवृन्दावनमें मेरे गोचारणके कालमें अर्थात् मेरे गोपवेशमें मेरे साथ मिलित होनेपर गोपियोंके लिए रासकी वह समस्त रात्रियाँ भी आधे क्षणके समान सुखपूर्वक व्यतीत हुई थीं। किन्तु मेरे विरहमें वे समस्त रात्रियाँ ही उन्हें कल्पोंके समान सुदीर्घ बोध हुई थीं॥"१४४॥

दिग्दर्शिनी टीका—तीव्राधित्वमेव दर्शयति—'तास्ताः' (श्रीमद्भा. ११/१२/११) इति। हे अङ्ग! मम गात्रवत् प्रिय! मया सह या एव क्षपा बह्व्यो रात्रयः क्षणार्धवत् अत्यल्पकालवन्नीताः, रासक्रीड़ादिपरमानन्दभरेण गमिताः, पुनरिति व्याक्यालङ्कारे

पश्चादर्थे वा, ता एवाधुना मया हीनाः सत्यः कल्पसमाः परमशोकदुःखभरेण बभूवुः। कथम्भूतास्तास्ताः? निर्वक्तुमशक्या इत्यर्थः। प्रेष्ठतमेनेति क्षणार्धत्वे कल्पसमत्वे च हेतुः एवं रात्रि-शब्देन स्मृतिशास्त्राद्यनुसारेण अहोरात्राणीत्यप्युक्तं स्यात्। ततश्च कदापि कदापि भगवच्छक्तिविशेषेणाहोरात्राणि व्याप्य रासक्रीड़ैकैवाखण्डान्यैरलक्षितासीदिति वितर्क्यं स्यात्। अतएव बह्वीनामपि रात्रीणाम् एकक्षणार्धवन्नयनेन (रात्रीणामेकक्षणवन्नयनेन) भगवत्सङ्गसुखमहिमा सम्पद्येत, न त्वेकमात्ररात्रेः क्षणार्धत्वेन, अथवास्याः कल्पनाया अप्रसिद्धत्वेन रात्रीणां तासां प्रत्येकमेव क्षणार्धतुल्यत्वमिति वक्तव्यम्। इत्थञ्च यासु शरज्ज्योस्नावतीषु रात्रिषु मया सह रासक्रीड़ासीत्, ता एव तथा बभूवुः, न त्वन्या इति तादृशमदीयक्रीड़ैव तासां तादृशदुःखहेतुरिति पूर्ववत् सूचितम्। यद्वा, सर्वास्वपि क्षपासु तेन सह तासां क्रीड़ा वृत्तैवेति ता इत्यनेन रात्रयो न व्यवच्धेदनीयाः काश्चित्, किन्तु दिवसा एव, प्रायो रात्रिष्वेव तादृशक्रीड़ा-सम्यक्सिद्धेः; तथा चायमर्थः—पूर्वं मया सह क्षपाः सर्वा एव क्षणार्धवन्नीताः, मया हीनास्ताः पुनः सर्वा एव प्रत्येकं कल्पसमा बभूवुरिति। एवमपि प्रेष्ठतमेनेति विशेषणान्मयि प्रेमभरेणैव तासां तादृशं दुःखमित्युक्तं स्यादेव। नन्वहो वत भगवन् परमदुःखकातर! कथमत्र ताः समानाय पूर्ववन्न रमन्ते? तत्राह—वृन्दावनगोचरणेति, मम वृन्दावननिवासिनैव तादृशी क्रीड़ा, तासामपि तादृशानन्दः सम्पद्यते, न त्वन्यत्रेत्यर्थः गोभिश्चरतीति गोचरेणेत्येवं श्लेषेण च गवां चारणेन तादृशगोपवेशादिनैव परमानन्देन तथा भवेन्नान्यथेत्यपि सूचितम्। एवं कथमपि मम तादृक्त्वं नास्तीति दारुणत्वमकृतज्ञत्वञ्च पर्यवस्यतीति। ता एव साधूत्वे मत्तोऽप्यधिकतरा इति पूर्ववदेव तात्पर्यम्॥१४४॥

भावानुवाद—पूर्व श्लोकमें महाभावका भेदविशेष दिखलाकर अब उस महाभावके अनुभाव अर्थात् तीव्र मानसिक-पीड़ाके लक्षण (कल्पक्षणत्व) को (श्रीमद्भा. ११/१२/११) 'तास्ता' इत्यादि श्लोक द्वारा दिखला रहे हैं। हे अङ्ग! हे मेरे शरीरके समान प्रिय! मेरे द्वारा श्रीवृन्दावनमें रहते समय उन गोपियोंने मेरे साथ बहुत रात्रियों तक क्रीड़ाएँ कीं अर्थात् रासकी रात ब्रह्म-रात्रिके समान सुदीर्घ होनेपर भी रास-क्रीड़ाके परमानन्दवशतः वे रात्रि उन्हें आधे क्षणके समान बोध हुई थी। मूल श्लोकमें 'पुनः' पद वाक्यालङ्कार है, अथवा पश्चात् अर्थात् बादमें के अर्थमें व्यवहृत होनेसे अर्थ होगा—फिर मेरे विरहसे उदित परमशोक और प्रचुर दुःखके कारण वे समस्त रात्रियाँ ही उन्हें कल्पके समान सुदीर्घ प्रतीत हुई थीं।

(यदि प्रश्न हो कि) वे समस्त रात्रियाँ कैसी थीं? इसके लिए कह रहे हैं कि उन रात्रियोंके सम्बन्धमें मैं कुछ भी कहनेमें असमर्थ हूँ।

इसका कारण है कि प्रियतमके मिलनसे व्रजसुन्दरियोंके लिए ब्रह्म-रात्रि (ब्रह्माजीकी एक रात) भी आधे क्षणके समान हो गयी थी तथा प्रियतमके विरहमें आधा क्षण भी ब्रह्म-रात्रिके समान सुदीर्घ बोध हुआ था। अतएव आधा क्षण और कल्प कालकी प्रतीति श्रीकृष्णके प्रियतम होनेके कारण हुई थी।

यहाँ 'रात्रि' कहनेसे स्मृति शास्त्रादिके अनुसार चार प्रहर दिवस और चार प्रहर रात्रि यह दिन-रातका समय ही रात्रि-शब्दवाच्य है। ऐसा होनेपर भी श्रीभगवान्की विशेष शक्तिके प्रभावसे कभी-कभी दूसरे लोगोंके अलक्षित रूपमें भी दिन-रातमें व्याप्त होकर अखण्ड भावसे रासलीला होती है। इसके द्वारा श्रीभगवान्के सङ्गसे प्राप्त सुखकी महिमा सम्पादित होती है। तथापि कोई-कोई कहते हैं, "एक रात्रि ही आधे क्षणके समान हुई थी। अथवा श्रीकृष्णके साथ गोपियोंने जिन-जिन रात्रियोंमें विहार किया था, वही एक-एक रात्रियाँ आधे क्षणके समान प्रतीत हुई थी।"—ऐसी व्याख्या उचित नहीं है। इस प्रकार शरत्कालीन ज्योत्सना रात्रियोंमें ही मेरे साथ व्रजदेवियोंकी जो रासलीला हुई थी, उन समस्त रात्रियोंको ही ग्रहण करना होगा, अन्य रात्रियोंको नहीं। अतएव मेरी वैसी क्रीड़ा ही उनकी मानसिक-पीड़ारूप विरहदुःखके कारणके रूपमें सूचित होती है। अथवा समस्त रात्रियोंमें ही मेरे साथ उन्होंने वैसी रासक्रीड़ाएँ की थीं, अतः किसी भी रात्रिमें विच्छेद नहीं हुआ, किन्तु दिनके समय विच्छेद हुआ। इसका कारण है कि रासलीला जैसी क्रीड़ाएँ प्रायः रात्रिमें ही भलीभाँति हुआ करती है, अन्य समयमें नहीं। अतएव रासलीलाके विषयमें स्थिर होता है कि शरत्कालीन रात्रिके ब्रह्मरात्रिके समान होनेपर भी व्रजसुन्दरियोंको वह रात्रि आधे क्षणके समान बोध हुई थी। इसमें किसी भी प्रकारका आश्चर्य नहीं है, क्योंकि उनके साथ श्रीकृष्णकी रासलीलाके आरम्भ होते ही उनके लिए एक कल्पका समय भी आधे क्षणके तुल्य अल्प हो जाता है तथा श्रीकृष्णके विरहमें उन्हें आधे क्षणका समय भी कल्पकालके समान सुदीर्घ बोध होता है। मैं उनका प्रियतम हूँ, इसलिए मुझसे सम्बन्धित प्रेमराशिके कारण ही उन्हें वैसा विरहदुःख होता है।

यदि आपत्ति हो कि (हे यदुपते) आप परमदुःखमें व्याकुल होनेपर भी किसलिए उन्हें यहाँ लाकर उनके साथ पहलेकी भाँति विहार नहीं कर रहे हैं? इसके लिए श्रीभगवान् 'वृन्दावन गोचरेण' इत्यादि पद कह रहे हैं। मेरे द्वारा श्रीवृन्दावनमें रहे बिना तथा वृन्दावन-विहारके उपयोगी वेशके बिना न तो वैसी रासक्रीड़ा सम्भव है और न ही गोपियोंको वैसे आनन्दकी प्राप्ति होना सम्भव है। यहाँ 'गोचरेण' शब्दके श्लेष अर्थ द्वारा सूचित होता है कि गो-चारणके लिए वैसे गोप-वेशादि द्वारा परिशोभित होनेपर ही वैसी परमानन्दपूर्ण क्रीड़ा सम्भव होती है तथा यह क्रीड़ा व्रजके अलावा अन्यत्र कहीं भी सम्भव नहीं होती है। अतएव मैं किस प्रकार यहाँपर वैसी क्रीड़ा द्वारा उन प्राणप्रियतम गोपियोंको अपार विरह सागरसे उत्तीर्ण करूँ? अतएव मेरी ऐसी असमर्थता पूर्वोक्त मेरी निर्दयता और अकृतज्ञतामें ही पर्यवसित होती है तथा वे व्रजसुन्दरियाँ भी मुझसे अधिकतर साधुताके कारण प्रशंसनीय हैं। इसके द्वारा पूर्व श्लोकके जैसा ही तात्पर्य सिद्ध हुआ है॥१४४॥

ता नाविदन्मय्यनुसङ्गबद्ध-
धियः स्वमात्मानमदस्तथेदम्।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये,
नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे॥१४५॥

श्लोकानुवाद—"जिस प्रकार मुनिगण अपनी समाधि-दशामें समुद्रमें प्रवेश करनेवाली नदियोंकी भाँति आत्मवस्तुमें चित्तके लय होनेके कारण अपने नाम और रूपसे अवगत नहीं रहते हैं, उसी प्रकार व्रजगोपियोंका चित्त भी मुझमें दृढ़ता सहित आसक्त होनेके कारण उन्हें अपनी देह, इहलोक और परलोकके विषयमें कुछ भी सुध-बुध नहीं रहती है॥"१४५॥

दिग्दर्शिनी टीका—नन्वासां पतिपुत्रादिसङ्गो वर्त्तते, तत् कथं सर्वसङ्गपरित्यागिभ्यः सिद्धात्मसमाधिभ्यः तद्भक्तेभ्यः सकाशादासां सत्त्वे महत्त्वं घटताम्? तत्राह—'ता न' (श्रीमद्भा. ११/१२/१२) इति। यथा मुनयो मननशीलाः यमनियमासन-प्राणायाम-प्रत्याहार-ध्यान-धारणाभिर्वैष्णवाष्टाङ्गयोगेन साधिते सति समाधौ नामरूपे नामरूपात्मकं

जगत् परमन्यमात्मानञ्च न विदुः, तथैव ता अपि मयि नित्यवर्त्तमानेनानुषङ्गेण सहजसम्बन्धेन बद्धा धियोऽन्तःकरणवृत्तयो याभिस्ताः, स्वपतिपुत्रादि देहं वा आत्मानमहङ्कारास्पदं क्षेत्रज्ञं वा, अतएव अदः परलोकम् इदञ्च इमं लोकं नाविदन्, किन्तु अब्धितोये नद्य इव मयि ताः प्रविष्टाः। एवं गृहे पतिपुत्रादिसङ्गे स्थितानामपि तादृग्भावेन तासां मुनिभ्यो महान् विशेषः, अग्न्यन्तःस्थित्याप्यग्निदाहाभावात्, प्रत्युत निजेष्टसाधनसम्पत्तेः। किञ्च, तासां स्वतः सदा संसिद्धेन मत्सङ्गेनाकृष्टचित्तत्वात् स्वयमेवान्यत् सर्वं विस्मृतं भवति। मुनीनान्तु परमदुःसाध्याष्टाङ्गयोगसम्पत्त्या मननादिना महादुर्निग्रहस्य मनसः कदाचित् समाधौ सम्पन्न एव नामरूपविस्मृतिः स्यादित्येवं तासां सुखेनायत्नतोऽनारत-सम्यक्समाधिसिद्धेर्मुनिभ्योऽपि महत्वं सङ्गच्छत एवं। अथवा, ननु परमसाधुत्वे प्रसिद्धा आत्मारामा एव सनकादयस्तत्राह—अब्धितोये प्रविष्टनदीवन्मयि प्रविष्टा मुनय आत्मारामाः समाधौ यथा नामरूपे मम नाविदन्, ता अपि तथैव किम्? अपि तु नैव, किन्तु स्वादिकं न विदन्ति, मदीये नामरूपे विदन्त्येवेति काक्वा व्याख्येयम्। अस्मिन् पक्षे आत्मशब्देन देहो वाच्यः। किञ्च, तेषां समुद्रप्रविष्ट-नदीदृष्टान्तेनाभिहितया सायूज्यमुक्त्याल्पकं सुखम्। आसां चार्थसत्तया (चात्मसत्तया) भेदस्य वर्त्तमानत्वेन भक्तिसिद्धेस्तत्र च मय्यासक्त्याबद्धबुद्धितया कदाचिदपि मन्नामरूपाविस्मरणात् प्रेमभरेण परममहासुखं स्वयमेव सत्पद्यत इति मुनिभ्यस्ता एव श्रेष्ठा इति भावः। अथवा ननु *"नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना। श्रेयमात्यन्तिकीं वापि (प्रियमात्यन्तिकं वापि) येषां गतिरहं परा॥"* (श्रीमद्भा. ९/४/६४) इत्यादि—त्वद्वचनप्रामाण्यात् किल सर्वतः श्रेष्ठास्तद्भक्ता एव, गोप्यस्तु श्रीतुल्या एव, कुतस्तासां सर्वतः श्रैष्ठ्यं घटतामित्याशङ्कां परिहरन् पूर्वं गोपीमाहात्म्य-वर्णने (वर्णनेन) तत्प्रातिकूल्येनैव गोपितम्; तद्विषयकनिजभाव-महिमान-मिदानीमुद्धवसन्तोषणार्थं निजहृदयकाठिन्यादि-दोषपरिहाराय प्रकाशयन् तात्पर्यवृत्त्या तासामेव सर्वतो विशिष्टं साधुत्वं वर्णयति; तत्र अविदन्निति शतृङ्प्रत्यये प्रथमा-निर्देशः, ततश्च प्रकरणबलात् पूर्वश्लोकस्थमयेति विभक्तिविपरिणामेनाहमिति प्राप्तं स्यादेव; तथा तद्बलाद्भवामीत्यपि। ततश्चाविदन्नित्यस्य मुनय इत्यनेन सम्बन्धाद् विभक्तिविपरिणामेना-विदन्त इति च। एवञ्चायमर्थः—अब्धितोये प्रविष्टनदीवन्मयि प्रविष्टा अपि समाधौ नामरूपे मदीये अविदन्तो यथा मुनयो न भवन्ति; सर्वेन्द्रियवृत्तिलयेन शून्यतावाप्त्या परमानन्दानुभवान्मननशीलताराहित्यादिना मुनय एव ते यथा न कथ्यन्त इत्यर्थः; तथा ता गोपीरविदन् नानुसन्धानोऽचिन्तयन्नहं न भवामि, भगवान् श्रीकृष्ण एव न स्याम्। किन्तु निजप्रकृति-विपर्ययेणेतर एवाहमभिधेय इत्यर्थः। यद्वा, न भवामि न जीवामि। अश्लीलत्वादिना श्रीमदुद्धवदुःखशङ्कया स्पष्टतया न तथोक्तम्। तत्र हेतुः—मयि अनुषङ्गेण निरन्तर-परमासक्त्या बद्धधियः ग्रथितान्तःकरणाखिलवृत्तीः। अहो भ्रातर्ममेदृशो भावस्तु नान्यत्र कुत्राप्यस्तीत्याह—स्वं पितृमातृ-भ्रातृ-पत्नी-पुत्रादिक-मात्मानं श्रीकृष्णरूपमिदमदः सपरिकर-परिवारं श्रीवैकुण्ठपदम्, इदञ्च श्रीद्वारका-

श्रीमथुरादिस्थानमविदन् विस्मरन् तथा न भवामि किम्? काक्वा अपि भवाम्येव, तत्तद्विस्मरणेनेदृशीं मर्मपीड़ां न प्राप्नोमीत्यर्थः। किंवा नञः पूर्वेणैव सम्बन्धः। अतस्तद्भावेनेयं व्याख्या। तत्तद्विदन् तथा किमपि तु नैव, यथा गोपीविस्मरणेन परमपीड़ा भवति तथा स्वादि-विस्मरणेन न हीत्यर्थः। अतः परमासक्त्या प्रेमभरेणाहं ता ध्यायामीति भावः। यथोक्तं महद्भिर्गोपीविषयकोद्धव-वचनं—*"वयोगिनीनामपि पद्धतिं वो नो योगिनो गन्तुमपि क्षमन्ते। यद्ध्येयरूपस्य परस्य पुंसो यूयं गता ध्येयपदं दुरापम्॥"* इति। योगिनो नित्यभक्तियोगयुक्ता एवं मद्भक्तवर्गाणामहमेव ध्येयः। तास्तु ममापि सदानुध्येयाः अतस्ता एव सर्वतः श्रेष्ठतमा इति तात्पर्यम्॥१४५॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि वे व्रजगोपियाँ तो पति-पुत्रादिके सङ्गमें अपने-अपने घरोंमें वास करती हैं, अतएव समस्त प्रकारके सङ्गको परित्याग करनेवाले आत्म-समाधिमें सिद्ध भगवद्भक्तोंकी तुलनामें उनका अधिक माहात्म्य किस प्रकारसे स्थापित होगा? इसके समाधानके लिए (श्रीमद्भा. ११/१२/१२) 'ता न' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। मननशील मुनि जिस प्रकार यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-ध्यान-धारणारूप वैष्णव-अष्टाङ्गयोगसे साधित समाधिमें अपने नाम और रूपसे अवगत नहीं रहते, उसी प्रकार गोपियोंकी भी मेरे प्रति नित्यबद्ध बुद्धि होनेके कारण उन्हें अपनी देह-दैहिक विषयोंके सम्बन्धमें सुध-बुध नहीं रहती है। अर्थात् जिस प्रकार मुनि समाधि-दशामें नाम-रूपात्मक जगत् और अपनी आत्मा तकको भी नहीं जान पाते हैं, उसी प्रकार गोपियोंका भी नित्य वर्त्तमान मेरे अनुषङ्ग (अनुसङ्ग) वशतः अर्थात् मेरे साथ सहज सम्बन्धवशतः उनकी (बुद्धि)—अन्तकरणकी वृत्तियाँ मुझमें बद्ध रहती हैं। इस बद्धताके कारण वे अपने पति-पुत्रादि या अपनी देह या अपनी आत्मा अर्थात् अहङ्कारके आधार क्षेत्रज्ञको भी नहीं जान पातीं हैं। (यहाँ 'बद्ध' शब्दका अर्थ है कि श्रीकृष्ण त्रिजगत् मोहनकारी विचित्र लीलाके आधारस्वरूप हैं, और 'अनुषङ्ग' बलवत् धाम (वृन्दावन) तथा धीवृत्ति (अन्तकरणकी वृत्तियाँ)—श्रीकृष्णकी वाञ्छाओंको पूर्ण करनेके लिए कामधेनु है—ऐसा आरोप हुआ है।) इसलिए वे इहलोक और परलोकके विषयमें सुध-बुध नहीं रखतीं हैं। किन्तु समुद्रमें

प्रविष्ट नदियोंकी भाँति उनकी बुद्धि मुझमें प्रविष्ट रहती हैं। इस प्रकार अपने-अपने घरोंमें पति-पुत्रादिके साथ रहनेपर भी सहज सम्बन्धवशतः उनकी अन्तकरणकी वृत्तियोंके मुझमें प्रविष्ट रहनेके कारण मुनियोंकी तुलनामें भी उनका महान माहात्म्य सिद्ध होता है। अर्थात् अग्निमें अवस्थान करनेपर भी वे अग्नि-दाहसे रहित हैं, अपितु अपनी इष्ट साधन-सम्पत्ति (प्रेम) को ही प्राप्त हुई हैं।

कुछ और भी कह रहे हैं—उन गोपियोंका माहात्म्य स्वतः सदा ही सम्पूर्ण रूपसे सिद्ध है, क्योंकि मेरे प्रति आकृष्ट होनेके कारण उनके चित्तमें स्वतः ही अन्य सब कुछ विस्मृत रहता है। अर्थात् मुनिगण परम दुःसाध्य अष्टाङ्गयोगरूप सम्पत्तिके मननादि साधन द्वारा महा-दुर्निग्रह मनको कदाचित् ही समाधि-दशामें लाकर नाम-रूप और उपाधि आदि सब कुछ विस्मरण कर पाते हैं, किन्तु गोपियाँ सुखपूर्वक अर्थात् बिना किसी प्रयासके ही सम्पूर्ण समाधि-सम्पत्तिको प्राप्त करती हैं। अतएव मुनियोंकी तुलनामें गोपियोंका माहात्म्य स्वतः ही अधिक सिद्ध होता है।

अथवा यदि कहो कि परम साधुतारूप गुणके लिए प्रसिद्ध श्रीसनकादि आत्माराम मुनि जिस प्रकार समुद्रमें प्रविष्ट नदियोंकी भाँति समाधिमें (ब्रह्ममें) प्रविष्ट होकर अपने नाम-रूपको जान नहीं पाते हैं, गोपियाँ भी क्या उसी प्रकार अपने-अपने नाम-रूपको जान नहीं पाती हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं—गोपियोंका विस्मरण वैसा नहीं है, अपितु मुझमें आसक्त होनेके कारण वे अपने-अपने नाम-रूपादिको भूल जाती हैं, परन्तु उस समय मेरे नाम-रूपादिके अनन्त वैचित्रीपूर्ण माधुर्यको अनुभव करती हैं। अतः गोपियों द्वारा प्राप्त प्रेम तथा मुनियों द्वारा प्राप्त सायुज्यमुक्तिमें महान अन्तर है। यहाँपर 'आत्म' शब्दका अर्थ है—देह। कुछ और भी कह रहे हैं—समुद्रमें प्रविष्ट नदियोंकी भाँति मुनियोंकी समाधि-दशाके दृष्टान्त द्वारा यह सिद्ध होता है कि मुनियों द्वारा प्राप्त सायुज्यमुक्तिमें अल्प सुख है। परन्तु गोपियोंमें आत्मसत्ता विद्यमान रहनेके कारण भक्तिकी सिद्धिके कारण और उसमें भी विशेषतः मुझमें आसक्त (बद्धबुद्धि) होनेके कारण उन्हें कभी भी मेरे नाम-रूपादिका विस्मरण नहीं होता है, इसलिए

उन्हें प्रचुर प्रेमका परम महासुख स्वतः ही प्राप्त होता है। अतएव इस भावसे भी गोपियाँ मुनियोंसे श्रेष्ठ हैं।

अथवा यदि आपत्ति हो कि हे प्रभो! आपने स्वयं ही अपने श्रीमुखसे कहा है, यथा (श्रीमद्भा. ९/४/६४)—"मैं ही जिनकी परागति हूँ, उन समस्त साधु भक्तोंके अलावा मैं अपनी आत्माकी तथा अपनी अत्यन्त प्रिय श्रीलक्ष्मीकी भी कामना नहीं करता हूँ।" इस प्रमाणके अनुसार आपके भक्त ही सर्वश्रेष्ठ हैं। किन्तु गोपियाँ तो श्रीतुल्य हैं, अतएव किस प्रकारसे उनकी सर्वश्रेष्ठ महिमा संघटित होती है? इस आशङ्काको दूर करनेके लिए कह रहे हैं—पहले श्रीउद्धवको गोपियोंका माहात्म्य वर्णन करते समय उस वर्णन द्वारा गोपियोंकी प्रतिकूलताको जानकर मैंने उनकी वैसी सर्वश्रेष्ठ महिमाको गोपन किया था। अर्थात् "मैं उनके विरहमें अत्यधिक कातर हो गया हूँ।"—इस संवादको जाननेसे गोपियाँ अत्यधिक शोकके वेगसे मोहित (मूर्च्छित) हो जायेंगी, ऐसा विचारकर श्रीउद्धवको उपदेश प्रदान करते समय मैंने उनकी ऐसी सर्वश्रेष्ठ महिमाको गोपन रखा था। अब श्रीउद्धवके सन्तोषके लिए तथा अपने हृदयके कठिनतारूप दोषको दूर करनेके लिए श्रीभगवान् गोपियोंके प्रति अपने भावोंको प्रकाशकर अर्थात् साधुसङ्ग-महिमा प्रकरणमें गोपियोंके सर्वोच्च भावोंकी महिमा कहकर उनके सर्वश्रेष्ठ साधुत्वको स्थापित कर रहे हैं।

मूल श्लोकमें 'न अविदन्' (ज्ञान नहीं रहता) पदमें शतृ प्रत्ययमें प्रथमा-निर्देशकर फिर प्रकरण-बलसे पूर्व श्लोकके 'मया' पदकी विभक्तिके परिणामसे 'अहं' शब्द प्राप्त होनेपर तथा 'अहं' शब्दके बलसे 'भवामि' क्रियापदकी सिद्धि हेतु पूर्वोक्त 'अविदन्' पद मुनियोंके सम्बन्धमें विभक्तिके परिणामसे 'अविदन्त' पदमें परिणत हुआ है। इस प्रकारसे विभक्ति परिणाम योगका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार समस्त नदियाँ समुद्रमें प्रविष्ट होकर अपने नाम-रूपको खो देती हैं, उसी प्रकार मुनिगण समाधि-योग द्वारा मुझमें प्रविष्ट होकर अपने तथा मेरे नाम-रूपादिको खोकर समस्त इन्द्रियोंकी वृत्तिके लय हो जानेसे शून्यताको प्राप्त होते हैं। अतएव परमानन्दके अनुभवमें मननशीलता न रहनेके कारण उन्हें अब मुनि नहीं कहा जा सकता

है, अथवा अभिमानशून्य होनेके कारण वे भी अब अपनेको मुनि नहीं कह सकते हैं।

तथा मैं गोपियोंकी भाँति समस्त प्रकारकी सुध-बुधसे रहित होकर उन गोपियोंकी चिन्तामें तन्मय नहीं हो पा रहा हूँ। अर्थात् विपरीत लक्षणोंसे कह रहे हैं—"मैं भगवान् श्रीकृष्ण नहीं हूँ" ऐसी भावनाकर मैं अपने आपको भूल नहीं पा रहा हूँ। अतएव "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तां तथैव भजाम्यहम्"—मेरे इस कथनके अनुसार जिस प्रकार गोपियोंने अपनेको भूलकर मेरा भजन किया है, मैं उस प्रकारसे अपनेको भूलकर उनका भजन करनेमें असमर्थ हूँ। अतः मेरी प्रतिज्ञाके भङ्ग होनेके कारण मैं किसी अन्य नामसे सम्बोधित होने योग्य हूँ। ऐसा प्रतीत होता है कि इसीलिए ही श्रीभगवानने अपने सन्देशमें "मैं उन (गोपियों) के विरहमें जीवित नहीं रहूँगा।"—इस प्रकारके अमङ्गल सूचक वाक्यको स्पष्ट रूपमें नहीं कहा, क्योंकि इससे श्रीउद्धवको भी दुःख हो सकता था।

(इसका कारण है कि) मुझमें अनुषङ्ग अर्थात् निरन्तर परम आसक्ति सहित मेरे विशेष सङ्ग द्वारा जिनकी धी (बुद्धि) मुझमें बद्ध है, अर्थात् जिनके अन्तकरणकी समस्त वृत्तियाँ मुझमें ही ग्रथित हैं, उन गोपियोंके विषयमें अधिक क्या कहूँ? अहो! हे भ्रातः मेरे प्रति ऐसा भाव अन्यत्र कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता है। हाय! कब मैं अपने माता-पिता-भाई-पत्नी-पुत्रादि सहित अपने इस अर्थात् श्रीकृष्ण-रूपको भूलूँगा? अर्थात् 'अदः'—दूर स्थित सपरिकर परिवारादि सहित श्रीवैकुण्ठपदको और 'इदं'—निकट स्थित श्रीद्वारका-श्रीमथुरादि स्थानोंको भूलूँगा? सखे! सचमुच, क्या मैं भी उन गोपियोंकी भाँति सब कुछ भूल सकूँगा? किन्तु उन समस्त सम्पदों अर्थात् सपरिकर वैकुण्ठपद तथा श्रीद्वारका-मथुरादिके विस्मरणसे ऐसी मानसिक-पीड़ा नहीं होती है, जैसी मानसिक-पीड़ा गोपियोंके विस्मरणसे होती है। अतएव परम आसक्तिपूर्वक प्रेममें विभोर होकर मैं निरन्तर उनका ही ध्यान करता हूँ। किसी महात्माने गोपीविषयक उद्धव-संवादके अनुवाद रूपमें प्रशंसापूर्वक कहा है—"श्रीकृष्णके वियोगमें गोपियोंको जैसी विरह-पीड़ा होती है, वैसी विरहिनी गोपियोंकी पद्धतिके अनुरूप इष्ट विषयमें

मनका संयोग करनेकी प्रक्रियाको कोई भक्तियोगी भी मनमें चिन्ता करनेमें समर्थ नहीं है, क्योंकि उस पदवीमें गमन करना अतिकठिन प्रक्रिया है।" इसलिए ज्ञानयोगी, कर्मयोगी आदिके निरस्त होनेके कारण 'योगिनः' बहुवचनान्त पद प्रयोग हुआ है। अथवा श्लोकमें 'वियोगिनी' पदका अर्थ है कि जिनमें विशिष्ट योगरूप प्रेमसेवा विद्यमान है, उनकी पदवीको प्राप्त करना अर्थात् भलीभाँति श्रीभगवान्‌की प्राप्तिरूप पद्धतिका अनुसरण करना तो दूर रहे, उसे मन द्वारा भी कोई चिन्ता नहीं कर सकता है। अधिक क्या, वे गोपियाँ सबके ध्येय परमपुरुष श्रीकृष्णके द्वारा भी ध्येय हैं। अतएव उनका माहात्म्य स्वतः ही सर्वश्रेष्ठ है, अर्थात् वे गोपियाँ नित्य भक्तियोगयुक्त योगियों, मेरे समस्त भक्तों तथा मेरे द्वारा भी सदा ध्येय हैं। अतएव गोपियोंका माहात्म्य समस्त प्रकारसे सर्वश्रेष्ठ रूपमें स्थापित होता है॥१४५॥

मत्कामा रमणं जारमस्वरूपविदोऽबलाः।
ब्रह्म मां परमं प्रापुः सङ्गाच्छतसहस्रशः॥१४६॥

श्लोकानुवाद—"मेरे स्वरूपके विषयमें न जानते हुए भी गोपियोंके सङ्गके प्रभावसे पुलिन्दी जैसी वनमें रहनेवाली नीच-जातिकी हजारों-हजारों नारियोंने भी परब्रह्मस्वरूप मुझे प्राप्त किया है। यद्यपि वे ज्ञानरहित थीं, तथापि सत्सङ्गके गुणसे रतिसुख प्रदानकारी जार (उपपति) भावसे ही उन्होंने मुझे प्राप्त किया है॥"१४६॥

दिग्दर्शिनी टीका—अहो सखे! किं वर्णयानि गोपीनां तासामभीष्टसिद्ध्यादि-माहात्म्यम्? तासां सङ्गप्रभावेण पुलिन्दीप्रभृतयोऽपि वन्यनीचजना लक्षशस्तादृशीमेव परमदुर्लभगतिं प्राप्ता इत्याह—'मत्कामा' (श्रीमद्भा. ११/१२/१३) इति। अबला जातिक्रिया-ज्ञानभक्त्यादिबलहीनाः पुलिन्दाद्या अपि अतएव अस्वरूपविदः आत्मतत्त्व-ज्ञानरहिता अपि, किम्वा दर्शनाद्यभावान्मम सौन्दर्यादिकमजानन्त्योऽपि, कदाचिद्गृहाद्यागमनेन तृणादिलग्न-कुचकुङ्कुमस्पर्शनादिना वा गोपीनां तासां सङ्गात् मत्कामाः सत्यः; यद्वा, तासां सङ्गादेव अस्वरूपविदः व्रजभूवासावान्तरफलतया स्वरूपं ज्ञानं प्राप्ता अपि गोपीसङ्गप्रभावजानितया परमभक्त्या चात्मतत्त्वानुसन्धानशून्याः सत्य इत्यर्थः। यद्वा, विवर्णत्व-मलिनत्वादियुक्तं निजरूपमननुसन्धाना, अतएव मत्कामाः सत्यः। अबलाः

अन्त्यजस्त्रियः परमं ब्रह्म परब्रह्मघनरूपं तत्र च मां श्रीनन्दनन्दनं, तत्रापि रमणं स्वामिभावेनेत्यर्थः। तत्रापि च जारम उपपतित्वेन सङ्गोपनादिना भावविशेषेण प्रतिक्षण-नूतनमधुरमधुर-परममहासखान्त्यकाष्ठाप्रदत्वेन तद्घनरूपत्वेन चेत्यर्थः। गोपीसङ्गादेव हेतोर्गोपीवत्प्राप्ता, देहान्तरे तस्मिन्नेव देहे वेति॥१४६॥

भावानुवाद—अहो सखे! उन गोपियोंकी अभीष्ट सिद्धि आदिके माहात्म्यका क्या वर्णन करूँ? उन गोपियोंके सङ्गके प्रभावसे पुलिन्दी जैसी वनमें रहनेवाली नीच-जातिकी हजारों-हजारों नारियोंने भी वैसी परमदुर्लभ गति प्राप्त की है। इसे बतलानेके लिए ही (श्रीमद्भा. ११/१२/१३) 'मत्कामा' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। वे अबला स्त्रियाँ जाति-क्रिया-ज्ञान-भक्ति आदिके बलसे हीन तथा 'अस्वरूपविदः' अर्थात् आत्मतत्त्व-ज्ञानसे रहित हैं। अथवा मेरे दर्शनादिके अभावमें मेरे सौन्दर्य-ज्ञानसे रहित होकर भी उनके द्वारा कभी लकड़ी-कण्डे आदि लानेके लिए वनमें जानेपर तृणादिपर लगी हुई गोपियोंके कुचकुङ्कुमके स्पर्शसे गोपियोंका सङ्ग होनेके कारण वे 'मत्काम' अर्थात् मेरे प्रति कामनायुक्त हो जाती हैं। अथवा गोपियोंके सङ्गके प्रभावसे अस्वरूपविद् होकर भी अर्थात् मेरे स्वरूपको न जानते हुए भी व्रजभूमिमें वासके गौणफलसे ही उन्हें स्वरूपज्ञान प्राप्त हुआ तथा गोपियोंके सङ्गके प्रभावसे आत्मतत्त्वके अनुसन्धानसे रहित होकर भी उनमें परम प्रेमभक्ति उदित हुई है। मेरे माधुर्यमात्रको अनुभव करनेके कारण वे मेरे स्वरूपके ऐश्वर्य लक्षणोंको नहीं जानती हैं। अथवा नीच-जातिकी होनेके कारण विवर्ण-मलिनतादि युक्त अपने-अपने रूप या सौन्दर्यादिका विचार करके ही उन्होंने मेरे सौन्दर्यादिको अनुभव करनेके कारण 'मत्काम' अर्थात् मेरी कामना की थी। अतएव उन अबलाओंने अर्थात् अन्त्यज जातिकी स्त्रियोंने परब्रह्मको परब्रह्मघनके रूपमें अर्थात् श्रीनन्दनन्दनस्वरूपको पतिके रूपमें प्राप्तकर उनके साथ रमण किया। उस पतिरूपमें भी उन्हें जारभाव अर्थात् उपपति भावसे ही प्राप्त किया था, क्योंकि इस जारभावमें संगोपन अर्थात् प्रच्छन्न कामुकता आदि विशेष भावके द्वारा प्रतिक्षण नव-नवायमान मधुर-मधुर महासुखकी चरमसीमा प्राप्त होती है। अर्थात् गोपियोंके सङ्गके प्रभावसे गोपीभावको प्राप्तकर देहान्तर अर्थात् अगले जन्ममें अथवा उसी देहमें

अर्थात् उसी जन्ममें भावसिद्धिके क्रमसे परब्रह्मस्वरूप मुझे प्राप्त हुई हैं॥१४६॥

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढ़भावाः।
वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयञ्च
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य॥१४७॥

श्लोकानुवाद—"इस पृथ्वीपर केवल उन गोपियोंका ही शरीर धारण करना श्रेष्ठ तथा सार्थक है, क्योंकि वे सबके अन्तर्यामी भगवान् श्रीगोविन्दके प्रति रूढ़ नामक महाभावमें स्थित हो गयी हैं। संसारसे भयभीत बड़े-बड़े मुनिगण तथा हम भी उस भाव (प्रेम) की वाञ्छा करते हैं। अहो! जिनका श्रीकृष्ण और गोपियोंकी ऐसी रसमय लीला-कथाओंके प्रति अनुराग नहीं हुआ है, उन्हें ब्रह्माका जन्म प्राप्त करनेसे भी क्या लाभ है?॥"१४७॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं जगत्पूज्यतम-श्रीभगवद्भक्तगण-परमस्तुत्यत्व-वन्द्यत्वादिना तासां परममाहात्म्यस्य पराकाष्ठा *"त्वं मे भृत्यः सुहृत् सखा"* (श्रीमद्भा. ११/११/४९) इति, *"त्वं तु भागवतेष्वहम्"* (श्रीमद्भा. ११/१६/२९) इति, *"न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः। न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥"* (श्रीमद्भा. ११/१४/१५) इत्यादीनामुद्धवं प्रति साक्षाच्छ्रीभगवद्वचनानां प्रामाण्येन। परमभागवतोत्तमतया विख्यातो वाचस्पतिशिष्यवरो मन्त्रिमूर्धन्योऽसौ श्रीमदुद्धवो निजचातुर्येण भगवत्सन्देशैरपि गोपीनां विरहदुःखं किञ्चिदपि शमयितुमशक्नुवन्नथ च मुहुर्वर्धमान-मेवालक्ष्यातएवादृष्टाश्रुतपूर्वं परमप्रेमगाम्भीर्यमालोच्य परमभक्त्या ताः प्रणमन् स्तुतित्वेनेदं जगौ—'एताः' (श्रीमद्भा. १०/४७/५८) इत्यादि पद्यषट्कम्। तत्राद्येन पद्येन मुमुक्षु-मुक्त-भक्तेभ्योऽप्यासां माहात्म्यं गीयते—एताः परमिति, एताः श्रीनन्दव्रजमहालक्ष्म्यः गोपवध्वः परं केवलं तनुभृतः सफलजन्मानः। भुवीति पृथिव्यामन्यत्र स्वर्गादौ भोगैश्वर्यातिशयादिना स्वत एव श्रीकृष्णविषयक-भावविशेष-सम्पत्यसम्भवात् सफल-जन्मत्वाभावेनोक्तमिति ज्ञेयम्। यद्वा, भुवि ये तनवोऽल्पका नीचयोनयो जनास्तान् विभ्रति समुद्धारयन्ति संसारात्, प्रेमभक्तिप्रदानेन पुष्णन्तीति वा भुवि तनुभृतः सहज-निजकारुण्यादिप्रभावेन पृथ्वीगतदुर्गतजन-परमहितकारिण्य इत्यर्थः। तत्र हेतुः—अखिलात्मनि सर्वान्तर्यामिनि परमेश्वरे तत्रापि गोविन्दे गवामिन्द्रतया विख्याते गोपराज-श्रीनन्दनन्दने रूढ़भावाः परमप्रेमवत्यः, तथापि एवम् इत्थं सर्व नैरपेक्ष्येण

पतिभावेन जारभावेन च तथा अपूर्ववृत्तपरमविचित्ररासक्रीड़ादिनाधुना च मम धैर्यापहारिणा परममनोहरेण जगद्रोदकवैष्णवगणान्त्यदशापादक-चिरविरहसम्वर्धिताशक्य-सम्वरणसुदुःसह-महाशोकार्त्तिमय-प्रेमभरविकारतरङ्गोदयादिना। यद्वा, अखिलात्मनीति सर्वप्रियतम इत्यर्थः। ततश्चाखिलात्मत्वेन कस्यवाऽसौ गोविन्दः प्रियतमो न स्यादी-दृशस्तु भावोऽस्मिन्नान्यस्य कस्यचिदस्तीति भावः। अन्यत् समानम्। यदिति यं भावं भवभियो विरक्ता मुमुक्षवः, मुनय आत्मारामा मुक्ताः। श्रीवैष्णावानां कृपया परम-साधनत्वेन परमफलत्वेन च यथाक्रमं ज्ञात्वा वाञ्छन्त्येव केवलं, न तु प्राप्नुवन्ति। तथा वयं नित्यसहजसेवापरा भक्ता अपि यं वाञ्छामः। ननु मुमुक्षुभ्यो मुक्तेभ्यो भक्तिमार्गादिगुरुत्वेन भक्तेभ्योऽपि श्रेष्ठो ब्रह्मा; तथा परमेष्ठ्याद्यशेषोत्कर्षवांश्च, तत् कथमेताः सर्वाः जगत्पूज्य-तादृशजन्मानि नागृह्णन्नित्यत्राह—अनन्तस्य श्रीकृष्णस्य श्रीबलभद्रस्यपि वा कथायामपि रसो रागमात्रं यस्य तस्यापि ब्रह्मजन्मभिः ब्रह्मतया बहुभिर्जन्मभिः किम्? अपि तु न किञ्चित् प्रयोजनम्, विविधमहाभिमानादिना-तत्कथारस-प्रातिकूल्यात्। अतः सर्वथा श्रीगोविन्दपदारविन्दमकरन्द-लम्पटानां ब्रह्मजन्मप्रतियोगि-तादृशभावोपयोगि गोपकन्याजन्मैव समुचितमिति भावः। अरसस्येत्यकारप्रश्लेषे चायमर्थो द्रष्टव्यः, यद्यनन्तकथायां रसो नास्ति, तदा तादृशब्रह्मजन्तभिरपि किम्? न किमपि फलं, यतो विरक्तिमुक्ति-भक्तीनामिदमेव फलं, तदभावे तु विरक्ता मुक्ता भक्ता अपि तु न भवन्तीति भावः। अथवा, वेदबोधितधर्माचारादयः कथमेताभिः परमाप्तमूर्धन्याभिः परित्यक्तास्तत्राह—ब्रह्मणो वेदस्य जन्मभिः स्वयमेव कण्ठे हृदये च प्रादुर्भावैरपि, किमुताध्ययनाद्यभ्यासैः। यद्वा, ब्रह्मण आत्मतत्त्वस्य जन्मभिः प्रकाशैरपि, किमुत पुनस्तत्तत्साधनैः; बहुत्वं गौरवेण समग्रतापेक्षया वा। अनन्तकथारसस्य जनस्यान्यस्यापि किं स्यादित्येवमन्वयेन अकारप्रश्लेष-व्यतिरेकेण च सर्वथा कथमपि फलं नास्तीत्यर्थः। वेदाध्ययनादीनां तदुक्तकर्माचरणादीनां वा फलं तत्कथारस एव। अतो दीपहस्तो यथा गच्छेद्द्रव्यमालोक्य तत्त्यजेदिति, तथा "उत्तीर्णे च गते पारे नौकायां किं प्रयोजनम्" इत्यादिन्यायेन साधनपरित्यागोऽप्युक्त एव। व्यतिरेके च फलसिद्ध्या केवलं तुषावहननवत्तैर्वत्यर्थ एव श्रम इति भावः। किमुत तासां परमभगवतीनां श्रीगोविन्दे तादृशभाववतीनां तैस्तदुक्ताचरणैस्तत्फलैर्वान्यैः प्रयोजनमिति तात्पर्यम्॥१४७॥

भावानुवाद—अब समस्त जगत्के द्वारा पूज्यतम तथा श्रीभगवान्के भक्तोंमें परमस्तुति और वन्दनादिके योग्य उन गोपियोंके परम माहात्म्यकी चरमसीमाको श्रीभगवान्ने उन श्रीउद्धवके प्रति वर्णन किया, जिन उद्धवकी महिमाको स्वयं श्रीभगवान्ने इन वचनों द्वारा प्रमाणित किया है—यथा (श्रीमद्भा. ११/११/४९)—"हे उद्धव! तुम मेरे सेवक, सुहृत् और सखास्वरूप हो।", (श्रीमद्भा. ११/१६/२९)—"मैं

भागवतगणोंमें तुम (उद्धवस्वरूप) हूँ।", तथा (श्रीमद्भा. ११/१४/१५)—"तुम मेरे भक्त होनेके कारण मेरे जितने प्रिय हो, ब्रह्मा पुत्र होनेपर भी, शङ्कर आत्मस्वरूप होकर भी, सङ्कर्षण भाई होकर भी, लक्ष्मी पत्नी होनेपर भी तथा मेरी आत्मा अर्थात् मेरी अपनी श्रीमूर्त्ति भी मुझे उतनी प्रिय नहीं हैं।" अतएव यहाँ श्रीउद्धवके प्रति साक्षात् श्रीभगवान्‌के वचनरूप प्रमाणों द्वारा गोपियोंकी सर्वोत्कृष्टता प्रतिपादित हुई है। इसलिए परम भागवतोत्तम रूपमें विख्यात बृहस्पतिके श्रेष्ठ शिष्य तथा मन्त्री-शिरोमणि श्रीउद्धव अपनी चतुरताके साथ गोपियोंको दिये गये श्रीभगवान्‌के सन्देश द्वारा भी उनके विरह-दुःखको किञ्चित्‌मात्र भी कम करनेमें समर्थ नहीं हुए, अपितु उस सन्देशके द्वारा गोपियोंका विरह शान्त न होकर और भी अधिकरूपमें वर्द्धित ही हुआ। इस प्रकार उत्तरोत्तर वर्द्धित होनेवाली अश्रुतपूर्व (पहले कभी न सुनी हुई) और अदृष्टपूर्व (पहले कभी न देखी हुई) प्रेम-गम्भीरताको देखकर श्रीउद्धवने विस्मित होकर मन-ही-मन सिद्धान्त किया—"ऐसे गम्भीर प्रेमके सम्बन्धमें कहींपर भी देखा या सुना नहीं गया है।" फिर उन्होंने गोपियोंको परम भक्तिपूर्वक प्रणाम करते-करते स्तुति रूपमें (श्रीमद्भा. १०/४७/५८) 'एताः' इत्यादिसे आरम्भकर छह श्लोकोंका गान किया। उनमेंसे इस प्रथम श्लोकमें मुमुक्षु, मुक्त और भक्तोंसे भी अधिक परिमाणमें उन व्रजगोपियोंकी महिमाका गान किया गया है।

'एताः' अर्थात् श्रीनन्दव्रजमें स्थित महालक्ष्मीस्वरूपा इन गोपियोंका ही पृथ्वीपर जन्म लेना केवल सार्थक है। मूल श्लोकके 'भुवि' शब्द द्वारा पृथ्वीके अलावा अन्य किसी स्थानपर अर्थात् स्वर्गादिमें भोग-ऐश्वर्यकी प्रचुरता होनेके कारण वहाँपर स्वभावतः श्रीकृष्ण-विषयक विशेष भावरूप सम्पत्तिकी प्राप्ति असम्भव है, अतः उन स्वर्गादि लोकोंमें भी जन्म लेना सार्थक नहीं है—ऐसा जानना होगा। अथवा 'भुवि-तनुभृतो' पदका अर्थ यह है कि वे गोपियों पृथ्वीपर जन्म लेकर पृथ्वीपर स्थित क्षुद्र-क्षुद्र देहधारी नीच-योनिमें उत्पन्न जीवोंको भी संसारसे उद्धारकर प्रेमभक्ति दानकर पोषण करती हैं। अथवा अपनी स्वाभाविक करुणाके प्रभावसे पृथ्वीपर स्थित दुर्दशामें पड़े हुए जीवोंका

परमहित करनेवाली हैं। इसका कारण है कि वे अखिलात्मा अर्थात् सबके अन्तर्यामी परमेश्वर श्रीगोविन्द अर्थात् गोकुलेन्द्रके रूपमें विख्यात गोपराज श्रीनन्दनन्दनके प्रति रूढ़ भावसे युक्त अर्थात् उनके प्रति परम प्रेमवती हैं। तथापि 'एव' कार द्वारा सूचित होता है कि उनका रूढ़भाव अर्थात् सर्वत्र निरपेक्ष जारभाव तथा उनकी अपूर्व और परम विचित्र रासक्रीड़ादि अब भी मेरे धैर्यका अपहरण कर रही है। तथा उस रूढ़भावके परम मनोहर होनेके कारण जगत्के प्रणियोंको रोदन करानेवाली, वैष्णवोंकी अन्तिम (मृत्यु) दशाको उत्पन्न करनेवाली, अर्थात् गोपियोंके चिरविरह द्वारा सम्वर्द्धित तथा सम्वरण करनेमें असमर्थ, उनकी दुःसहनीय महाशोक-आर्त्तिमय दशा प्रेमराशिमें विकाररूप तरङ्गमालाका विस्तारकर समस्त ब्रह्माण्डको प्लावित कर रही है। अथवा 'अखिलात्मा' कहनेसे सर्वप्रियतम श्रीगोविन्दमें वे इस प्रकार (रूढ़भाव) प्रेमवती हुई हैं, जिस प्रेमको पहले कभी किसीने भी प्राप्त नहीं किया है, अतएव वह प्रेम सामान्य नहीं है। 'यद्भवभियो'—संसारसे विरक्त मुमुक्षु, मुनिगण अर्थात् आत्माराम मुक्तगण भी उस भावकी वाञ्छा करते हैं। अर्थात् श्रीवैष्णवोंकी कृपासे उस भावको परम साधन और साध्यका फल जानकर केवल उसकी वाञ्छा करते हैं, किन्तु उसे प्राप्त नहीं कर पाये हैं। तथा 'वयं'—हम श्रीकृष्णकी नित्य सेवामें रत परिकर भी उस भावकी वाञ्छा करते हैं, किन्तु उसे प्राप्त नहीं कर सके हैं।

यदि आपत्ति हो कि मुमुक्षुकों, मुक्तजनोंसे आरम्भकर भक्तिमार्गके आदिगुरु होनेके कारण भक्तोंमें सर्वश्रेष्ठ श्रीब्रह्माके पारमेष्ठ्य-पद प्राप्तिवशतः, अर्थात् अनन्त उत्कर्षोंसे युक्त श्रीभगवान्की सेवाके उपयोगी सर्वोत्तम पदपर स्थिति होनेके कारण ब्रह्माका जन्म ही प्रार्थनीय प्रतीत होता है। अतएव किस प्रकार श्रीब्रह्माकी तुलनामें गोपियोंका समस्त जगत्के पूज्य रूपमें जन्म सार्थक हुआ है? इसके उत्तरमें कह रहे हैं कि जिस जन्ममें अनन्तस्वरूप अर्थात् श्रीकृष्ण या श्रीबलदेवकी कथामें रस अर्थात् अनुराग उत्पन्न न हो उस प्रकारके असंख्य ब्रह्म-जन्मोंकी भी क्या आवश्यकता है? अपितु किञ्चिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि विविध प्रकारके महा-अभिमानादि

श्रीभगवान्‌की कथारूप रसके प्रतिकूल हैं। अतएव समस्त प्रकारसे श्रीगोविन्दके चरणकमलोंकी मकरन्दके लोभी-जनोंके लिए ब्रह्माका जन्म उपयोगी नहीं है, अपितु वैसे रूढ़भावके प्रतिकूल ही है। अतएव उस रूढ़भावके उपयोगी गोपकन्या रूपमें जन्म ही प्रार्थनीय तथा समुचित है। 'कथारसस्य' पदमें 'अ' कारका ('अरसस्य') विश्लेषण करनेसे अर्थ होगा—यदि भगवान् अनन्तकी कथामें रस अर्थात् अनुराग उत्पन्न नहीं होता, तो वैसे ब्रह्माके जन्मकी भी क्या आवश्यकता है? अपितु कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि संसारसे विरक्ति, मुक्ति तथा भक्तिका यही साध्य फल है। अर्थात् भगवान् अनन्तकी कथामें रति ही समस्त प्रकारका फलस्वरूप है, विशेषतः इस फलके अभावमें संसारसे विरक्त, मुक्त या भक्त नहीं हुआ जा सकता है।

अथवा यदि आपत्ति हो कि परमवस्तुकी प्राप्ति करनेवालोंमें शिरोमणि होकर भी गोपियोंने किसलिए वेदमें कहे गये धर्म-आचरणादिका परित्याग किया? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—वस्तुतः वैसा रूढ़भाव ही वेदोंका चरम और परम तात्पर्य है तथा गोपियोंमें वह भाव स्वभावतः ही प्रकाशित होता है। अर्थात् वैसे ब्रह्ममय वेद उनके कण्ठ और हृदयमें स्वतः ही उदित होते हैं, अतएव उन्हें वेदोंके अध्यनादि या अभ्यासकी क्या आवश्यकता है? अथवा 'ब्रह्म' कहनेका अर्थ है—आत्मतत्त्व, गोपियोंके निकट वह आत्मतत्त्व स्वयं ही अभिव्यक्त होता है, अतः उन्हें ज्ञानके अभ्यास रूप साधनकी क्या आवश्यकता है? 'ब्रह्मजन्मभिः' शब्दका प्रयोग बहुवचनमें गौरव या पूर्णताके विचारसे हुआ है। अतएव ऐसे असंख्य ब्रह्मजन्मोंमें भी यदि भगवान्‌की कथामें रस (अनुराग) उत्पन्न न हो, तब वे समस्त जन्म विफल हैं। अथवा भगवान् अनन्तकी कथाओंमें जिन्हें अनुराग हो गया है, (अकार विश्लेष न करनेपर भी) उन्हें वेदादि अध्ययनकी क्या आवश्यकता है? इसका कारण है कि वेदादि-अध्ययन या उसमें उक्त कर्मोंके आचरणरूप साधनसमूहका फल भी भगवान्‌की कथाओंमें रति होना ही है। अतएव "दीपक हाथमें लेकर वस्तुको ढूँढ़कर प्राप्त करनेके पश्चात् दीपकको त्याग दिया जाता है", तथा "नदीको पार

करनेके पश्चात् नौकाकी क्या आवश्यकता है" इत्यादि न्यायोंके अनुसार साध्यफलको प्राप्त करनेके पश्चात् साधनको परित्याग करनेकी ही व्यवस्था है। तथा व्यतिरेक रूपमें भी देखा जाता है कि फलकी सिद्धिके बाद साधनका अनुष्ठान करनेमें केवल भूसा कूटनेके समान श्रममात्र ही सार होता है। इस उक्तिके अनुसार साधारण भक्तोंके लिए ऐसी व्यवस्था है, किन्तु असाधारण परम भगवती गोपियोंके लिए समस्त साधन अर्थात् वेदमें कथित आचरण तथा उन साधनोंसे प्राप्त होनेवाले फलकी क्या आवश्यकता है? इसका कारण है कि उनका स्वतः ही श्रीगोविन्दके प्रति वैसा रूढ़भाव है॥१४७॥

क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः,
कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढ़भावः।
नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षा-
च्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः॥१४८॥

श्लोकानुवाद—"अहो! कहाँ तो इन वनचरी गोपियोंका श्रीकृष्णके प्रति रूढ़भावमय परमप्रेम और कहाँ कृष्णभक्तिके विषयमें व्यभिचार दोषसे दुष्ट हम जैसे समस्त लोग? किन्तु जिस प्रकार महा-औषधि अथवा अमृतका गुण और महिमा न जाननेपर भी उसका सेवन करनेसे मङ्गल ही होता है, उसी प्रकार इन व्रजगोपियोंकी महिमाको न जाननेपर भी यदि कोई उनके अनुगत होकर भजन करता है, तो श्रीभगवान् उसका भी साक्षात् कल्याण करते हैं॥"१४८॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवमेतादृशीनामासां सङ्गप्राप्तौ मम कापि योग्यता नास्ति, केवलं महाप्रभोः श्रीकृष्णस्य परमकरुणयैवाघटत इत्याह—'क्वेमाः' (श्रीमद्भा. १०/४७/५९) इति। अस्य विष्णोर्वने वृन्दावने तत्तत्क्रीड़ामये सदा प्रेमभरेण चरन्तीति अवनचर्यः, चरीरिति छान्दसम्। एताः श्रीकृष्णैकप्रियाः स्त्रियः क्व, कृष्णे कृष्णभक्तौ वा व्यभिचारो विशेषेणातिक्रमोऽपराधलङ्घनं वा, किंवा निःशेष-तदादेशा-प्रतिपालनं, तद्भक्तिनिष्ठत्व-राहित्यं वा, तेन दुष्टा जना मादृशाश्च क्व? पूर्वश्लोकस्थस्य वयमिति पदस्यैव अत्राप्यनुवृत्त्यान्वयो वा, व्यभिचारदुष्टा वयञ्च क्वेति। यद्वा, एताः स्त्रियः, तत्र च वनचर्यः विविक्ततर-श्रीवृन्दावने वसन्त्यो विरह-वैकल्येनेतस्ततः परमदुर्गमेष्वपि भ्रमणशीला इत्यर्थः। तत्रापि इमा ईदृश्यः परमप्रेम-सम्पद्विवशाः साक्षाद्दृश्यमानाः श्रीनन्दव्रज-परममहालक्ष्मीरूपाः क्व? व्यभिचारो

व्यतिक्रमः, श्रीगोपिकाभिः सह वैपरीत्यं, तच्च—पुंस्त्वं, परम-संकीर्णनगरमध्ये नियतनिकेतवासित्वं, सुखित्वादिना वृन्दावनभ्रमणाशक्तिः, श्रीकृष्णतत्त्वज्ञानगौरवादिना परमप्रेमसम्पत्त्यभाव इत्यादिभिर्व्यभिचारैर्गोपीसद्गुणप्रतियोगितया दोषरूपैर्दुष्टा वयञ्च क्व—इत्थं कथञ्चनास्माकमेताभिः सङ्गो न घटत एवेति भावः। वयमिति गोपीसङ्गलब्ध्यात्मनो बहुमानात् श्रीनारदाक्रूरापेक्षया वा बहुवचनम्। इमा इत्यनेन सूचितमासां सर्वतः श्रेष्ठं माहात्म्यं परमविस्मयेनाभिव्यञ्जयति। परमात्मनि कृष्णे एष ईदृशः रुढ़भावः स्वयं प्रादुर्भूतः प्रेमविशेषः क्व च; च-शब्दबलात् क्वेत्यस्यात्रापि सम्बन्धान्न कुत्रापीदृशो रूढ़भावो वर्त्तते इत्यर्थः। यद्वा, आर्षत्वात् समासः सोढ़व्यः। एषः भावो रूढ़ः सञ्जातः, किमिति काक्वा व्याख्येयम्। काकुश्चात्रात्यपूर्वत्वे। अथवा कृष्णे एष भावः किं सम्भवतीत्यर्थादध्याहार्यं स्वत एव भवति। परमात्मनीति चाखिलात्मनीतिवद् व्याख्येयम्। यद्वा, परमश्चासौ आत्मनि चित्ते नितरां रूढ़भावश्चासाविति पदमेकम्। आहो! आसां माहत्म्यमजानतो मूढ़स्यापि मम केवलं श्रीभगवद्भक्तिबलेन तत्कारुण्यमहिम्नैव वा सन्दर्शनं जातमित्याह—नन्विति वितर्के निश्चये वा। ईश्वरो निजसेवोचित-फलप्रदानसमर्थः परमस्वतन्त्रो वा महाप्रभुः। स्वस्य स्वीयानाञ्च महिमानमविदुषोऽजानतोऽपि जनस्य केवलमन्यदृष्ट्या दृष्टस्य कस्यचिद्भक्तस्य अनु पश्चाद्भजतः सेवमानस्य; यद्वा, अनु ईषत् आश्रयमात्रं कुर्वतोऽपि साक्षादव्यवधानेन श्रेयः परमहितं करोति, उपयुक्तः सेवितः अगदराजो महौषधं यथा। अथवा 'न' 'नु' इति पदद्वयम्, ततश्चायमर्थः—'नु' निश्चितमीश्वरोऽस्मन्महाप्रभुरसौ कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थः परममहाशक्तिमान् श्रीकृष्णः विद्वन्मानिनोऽपि न अनु निरन्तरं भजतः, कदाचिदेव भजतोऽपि, किंवा नु अहो न भजतः, सेवामकुर्वतोऽपि केनचित् सम्बन्धमात्रेणैव जनस्य श्रेयः महाफलं, तच्च साक्षादेव, न च कालविलम्बेनानुमेयं परोक्षं वा विस्तारयति;—यथा अगदराजोऽमृतम् उपयुक्तः भक्षितः, यद्वा, उप सामीप्येन गन्धादिना योगं प्राप्तस्तद्वत्॥१४८॥

भावानुवाद—ऐसी प्रेममयी अर्थात् रूढ़भावसे युक्त व्रजसुन्दरियोंका सङ्ग प्राप्त करनेके विषयमें मेरी कोई योग्यता नहीं है, किन्तु केवल महाप्रभु श्रीकृष्णकी परम करुणाके बलसे ही मुझे उनके सङ्गका सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इसे बतलानेके लिए ही श्रीउद्धव 'क्वेमाः' इत्यादि (श्रीमद्भा. १०/४७/५९) श्लोक वर्णन कर रहे हैं। इस विष्णुके वनमें अर्थात् श्रीकृष्णकी उन समस्त क्रीड़ाओंसे परिपूर्ण श्रीवृन्दावनमें सर्वदा प्रेमपूर्वक विचरण करनेके कारण ही वे व्रजस्त्रियाँ वनचरी हैं। यहाँपर बहुवचन 'वनचर्या' पाठ होना उचित था, किन्तु वैसा न होकर 'वनचरी' पाठ हुआ है, यह छान्दस पाठ है। कहाँ तो

ये श्रीकृष्णकी एकान्तिक प्रिय स्त्रियाँ और कहाँ श्रीकृष्ण या श्रीकृष्णभक्तिके विषयमें व्यभिचाररूप दोषसे दुष्ट अर्थात् विशेषतः प्रभुकी आज्ञाका उल्लंघनरूप अपराध अथवा उनके अनन्त आदेशोंको पालन न करना अथवा उनकी भक्तिके प्रति निष्ठासे रहित होना—ऐसे व्यभिचारसे दुष्ट मेरे जैसे लोग? यहाँ व्यभिचार कहनेका अर्थ है—सत्कर्मोंसे रहित आचरण अथवा सत्कर्मोंसे विमुखता। पिछले श्लोकके 'वयं' पदकी इस श्लोकमें भी अनुवृत्ति (उपयोग) होनेसे अर्थ होगा—श्रीकृष्णकी भक्तिके विषयमें व्यभिचार दोषसे दुष्ट हम जैसे लोग कहाँ? अथवा ये स्त्रियाँ होकर भी वनचरी हैं, अर्थात् निर्जन श्रीवृन्दावनमें वास करते हुए विरहकी व्याकुलताके कारण परम दुर्गम वनमें इधर-उधर भ्रमणशील हैं। तथापि इस प्रकार परम प्रेम-सम्पत्तिमें विवश साक्षात् दृश्यमान श्रीनन्दव्रजकी महालक्ष्मीस्वरूपा ये व्रजगोपियाँ कहाँ? यहाँ श्रीउद्धव द्वारा अनुभव होनेवाले व्यभिचार अर्थात् उल्लंघन आदि अपराधके कारण समस्त गोपियोंके साथ उनका गुणात्मक वैपरीत्य सूचित हुआ है। अर्थात् श्रीउद्धवमें जो गुण हैं, वे गोपियोंके गुणोंके विपरीत हैं। 'दुष्टाः' पद (श्रीउद्धवका) विशेषण होनेके कारण पुलिङ्गमें प्रयुक्त हुआ है। विशेषतः श्रीउद्धव अत्यधिक जनसंख्यावाली परम सङ्कीर्ण नगरीमें सदैव वासवशतः परम सुखी होनेके कारण श्रीवृन्दावन भ्रमणमें अशक्त अर्थात् असमर्थ हैं तथा श्रीकृष्णके तत्त्वको जाननेके गौरवादि अभिमानवशतः परम प्रेम-सम्पत्तिके अभावादिके कारण भी व्यभिचार दोष-दुष्ट हैं। इसलिए श्रीउद्धवने कहा है—गोपियोंके सद्‌गुणोंके विरोधी स्वभाव होनेके कारण व्यभिचार दोषदुष्ट हम जैसे लोग कहाँ?

वास्तवमें इन समस्त बाधाओंके कारण ही गोपियोंका सङ्ग प्राप्त करनेके विषयमें मुझमें कुछ भी योग्यता नहीं है तथा दूर रहनेसे भी उनकी चरणधूलि प्राप्त करना सुलभ नहीं है। अतएव पूर्वोक्त 'वयं' पदमें गोपियोंके सङ्गके प्रति लुब्ध अपनेको अति आदर करके अथवा श्रीनारद और अक्रूरादिकी अपेक्षासे भी गौरववशतः बहुवचनका प्रयोग हुआ है—जानना होगा। 'इमा' पद द्वारा इन गोपियोंका सर्वदा सर्वश्रेष्ठ

माहात्म्य ही परम विस्मय सहित व्यक्त हो रहा है। इन गोपियोंके विषयमें अधिक क्या कहूँ? परमात्मा श्रीकृष्णमें ऐसा रूढ़भाव इनमें स्वयं ही उदित हुआ है तथा दृश्यमान इस रूढ़भाव अर्थात् विशेष प्रेमके लेशका आभास भी अन्यत्र कहीं नहीं दिखता है। इसीलिए 'य' शब्दके बलसे तथा 'क्व' पद सहित सम्बन्धके कारण कहीं भी ऐसा रूढ़भाव विद्यमान नहीं है—प्रतिपादित हुआ है। अथवा आर्ष-प्रयोग होनेके कारण समास निष्पन्न होनेसे यह अर्थ होगा—इस प्रकारसे स्वयं उदित होनेवाला रूढ़भाव क्या कहीं भी किसीमें सञ्जात हो सकता है? अपितु कहीं भी किसीमें भी सम्भव नहीं है। इसीलिए यहाँ 'काक्वा' शब्दका अत्यन्त अपूर्व रूपमें प्रयोग हुआ है। अथवा श्रीकृष्णमें ऐसा रूढ़भाव होना क्या सम्भव है? अतएव 'परमात्म' पदकी भी 'अखिलात्मा' पदके समान व्याख्या करनी होगी। अथवा 'परम' पदका अर्थ है—अतिश्रेष्ठ तथा 'आत्म' पदका अर्थ है—चित्त, (क्योंकि चित्तपर अधिरूढ़ आविष्टभाव ही श्रीकृष्णके प्रति प्रेम है), अतएव इन गोपियोंके परमाविष्ट चित्तमें स्वयं उदित सर्वश्रेष्ठ रूढ़भाव ही सर्वोच्च रूपमें विराजित है।

अहो! इन गोपियोंके माहात्म्यको न जानते हुए भी यदि कोई मूढ़ व्यक्ति इनके आनुगत्यमें भजन करता है, तो ईश्वर उसका साक्षात् कल्याण करते हैं। अतएव इनका माहात्म्य न जानना ही मूढ़ता है और मैं ऐसा ही मूढ़ व्यक्ति हूँ। केवल श्रीभगवान्की भक्तिके बलसे या श्रीभगवान्की करुणाकी महिमाके बलसे मुझे इन गोपियोंके सन्दर्शनका सौभाग्य मिला है। मूल श्लोकमें 'ननु' शब्द वितर्क या निश्चयके अर्थमें है। अतएव ईश्वर निश्चय ही अपनी सेवाके योग्य फलको दान करनेमें समर्थ हैं, अर्थात् परमस्वतन्त्र महाप्रभु श्रीकृष्ण अल्पमात्र भजनशील अज्ञ व्यक्तिको भी श्रेयः प्रदान करते हैं। श्रीभगवान्की महिमाके विषयमें अज्ञानी व्यक्ति भी यदि केवल अनन्य दृष्टिसे अर्थात् किसी एक भक्तके अनुगामी होकर भजन करता है, अथवा 'अनु' अल्पमात्र आश्रय ग्रहणकर भजन करता है, तब भी उन भक्तोंके सम्बन्धवशतः साक्षात् अर्थात् बिना किसी व्यवधानके श्रीभगवान् उसका परम हित करते हैं। उदाहरणके लिए जिस प्रकार

रोगसे पीड़ित व्यक्ति द्वारा महा-औषधकी महिमा न जानते हुए भी उसका सेवन करनेसे उसका रोग प्रशमित हो जाता है।

'न', 'नु' इन दो पदोंमें 'नु' पदका अर्थ है कि निश्चित रूपमें हमारे महाप्रभु श्रीकृष्ण 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' समर्थ हैं। अर्थात् जो दण्ड देने और कृपा करनेमें समर्थ परम शक्तिमान् हैं, वे ही प्रभु हैं। किन्तु इन प्रभुका महान वैभव भी पाण्डित्य-अभिमानी व्यक्तियोंकी बुद्धिके गोचर नहीं है, अर्थात् परम दुर्गम है। तथा 'न'-अनु अर्थात् निरन्तर भजनकारी या कभी-कभी भजन करनेवाले भक्तोंके लिए प्रभुका वैभव सुगम है, अर्थात् परमाश्रय और परम सम्पद है। अथवा 'नु' अर्थात् जिन्होंने कभी भजन नहीं किया या सेवा नहीं की, परन्तु किसी प्रकारसे भक्तिके सम्बन्धमात्रसे उन्हें महाफल प्राप्त होता है। (जैसे साधुवेश अर्थात् 'माँ' का वेशमात्र धारण करनेमात्रसे राक्षसी पूतनाको उस सत्-वेशके सम्बन्धसे ही माताके समान गति प्राप्त हुई) श्रीभगवान् द्वारा वह महाफल भी साक्षात् अर्थात् क्षणभर विलम्ब किये बिना ही भीतरमें स्फुरित होता है अथवा परोक्षमें श्रीभगवान् महाफलरूपी भक्ति-सम्पत्तिका उसी प्रकार विस्तार करते हैं, जिस प्रकार अनजानमें भी अमृतकी महिमा और गुण जाने बिना उसका पान करनेसे कल्याण ही होता है। अथवा समीपमें जानेसे उसके गन्ध आदिके संयोगसे भी वैसा कल्याण हुआ करता है॥१४८॥

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः,
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीत-कण्ठ-
लब्धाशिषां य उदगाद्व्रजसुन्दरीणाम्॥१४९॥

श्लोकानुवाद—"भगवान् श्रीकृष्णने रासलीलाके समय उन व्रजाङ्गनाओंके गलेमें अपनी भुजाओंको डालकर उनके अभीष्टको पूर्णकर उनके प्रति जैसी कृपा वितरण की थी, वैसी कृपा भगवान्‌की नित्य सङ्गिनी वक्षःस्थलपर सर्वदा विराजमान श्रीलक्ष्मीदेवी तथा कमलकी जैसी सुगन्ध और कान्तिसे युक्त स्वर्गकी देवाङ्गनाओंको भी प्राप्त नहीं हुई, तो फिर अन्य स्त्रियोंके सम्बन्धमें क्या कहा जाये?॥"१४९॥

दिग्दर्शिनी टीका—अहो यद्यपि महालक्ष्मीः हरिप्रियेति प्रसिद्धा, तथापि तस्यामपीदृशो भगवतः प्रसादो न वर्त्तते, कुतोऽन्येषु जनेषु? अतोऽत्यपूर्वमेवायं श्रीगोपिकास्वेतासु प्रसाद इत्याह—'नायम्' (श्रीमद्भा. १०/४७/६०) इति। अस्य श्लोकस्य व्याख्या पूर्वं वृत्तैवास्ति॥१४९॥

भावानुवाद—अहो! यद्यपि महालक्ष्मी श्रीहरिकी प्रियाओंमें प्रसिद्ध हैं, तथापि वे भी व्रजगोपियोंके समान श्रीभगवान्‌की कृपाको प्राप्त नहीं कर सकीं, तो फिर अन्य नारियोंके सम्बन्धमें क्या कहा जाये? इसका कारण है कि इन गोपियोंने श्रीभगवान्‌की जैसी कृपा प्राप्त की है, वह अत्यन्त अपूर्व है। इसीको (श्रीमद्भा. १०/४७/६०) 'नायं' इत्यादि श्लोकमें वर्णित किया गया है। इस श्लोककी व्याख्या पहले (पञ्चम अध्यायमें) हो चुकी है॥१४९॥

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां,
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथञ्च हित्वा,
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥१५०॥

श्लोकानुवाद—"मैं तो ऐसी प्रार्थना करता हूँ कि मैं इस श्रीवृन्दावनमें कोई गुल्म-लता या औषधि-जड़ी-बूटी रूपमें जन्म ग्रहण करूँ, जिससे मुझे उन व्रजाङ्गनाओंकी चरणधूलि निरन्तर सेवन करनेको मिलती रहे। उन व्रजगोपियोंने दुस्त्यज (जिसे छोड़ना अत्यन्त कठिन है) स्वजन-सम्बन्धियों तथा वेदकी आर्य-मर्यादाको परित्यागकर श्रीगोविन्दके उन चरणकमलोंका भजन किया है, जिन्हें श्रुतियाँ अभी तक भी खोज रही हैं॥"१५०॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं तासां सर्वोत्कृष्टतामालोच्य तद्वर्णनेन तासां सङ्गमहिम्ना च स्वयमपि प्रेमविशेषपरिपूर्णः सन् निजं हृद्यं प्रार्थ्यं निश्चित्य श्रीकृष्णसेवाफलत्वेन प्रार्थयते—'आसाम्' (श्रीमद्भा. १०/४७/६१) इति गोपीनां चरणरेणुं जुषन्ति प्राप्नुवन्तीति तथा तेषां गुल्मादीनां मध्ये अहं किमपि तृणादिकमपि स्यां भवेयमित्याशंसा। औत्सुक्येन पुनस्तासां माहत्म्यमेव वर्णयति—सार्धेन। या गोप्यः दुस्त्यजमत्याज्यं स्वजनं पतिपुत्रादिकम् आर्यपथञ्च सदाचाररूपं धर्मं परमं दुस्त्यजं हित्वा परित्यज्य मुकुन्दस्य पदवीं पादपद्ममित्यर्थः, भेजुः असेवन्त। किंवा, तदनुवृत्तिं भेजुर्भक्त्या अकुर्वन्। यद्वा, तद्गमनागमनवर्त्म भेजुः, तद्दर्शनार्थं सन्ध्याद्वयं

सदैव वा परमौत्कण्ठ्येनाश्रयन्तः। यद्वा, पदवीं तस्य भक्तिमार्गम्, एवं तावदास्तां मुकुन्दप्राप्त्या, स्वजनादित्यागस्तद्भजने प्रवृत्त्यर्थमेव, तं तञ्च जहुरिति महान् महिमा। ननु स्त्रीणां पत्यादेरार्यमार्ग(त्व)स्य च त्यागो वेदविरुद्धः सज्जनगणपूज्य-पादाभिस्ताभिः कुतः कृतस्तत्राह—श्रुतिभिर्वेदैः कृत्वा विमृग्यामन्वेषणीयाम्; वेदैरपि साध्यमुख्यं तदेवेति भावः। यद्वा, श्रुतिभिरपि कर्त्तृभिर्विमृग्यामेव केवलं, न तु प्राप्त्यां प्राप्यां वा। अतो धर्मज्ञानाद्युपदेशकानां वेदानामपि दुर्लभतरस्य वस्तुनो लब्धये तदधीनतानर्हत्वेन तत्त्यागो युक्त एवेति भावः। तत्पदवीभजनस्य स्वजनाद्यपेक्षया विरोधात्। अतएवोक्तं श्रीभगवतैव (श्रीगी. २/४५)—*"त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन"*—इति, पूर्वञ्च (श्रीमद्भा. १०/४७/५८) *"किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथा रसस्य"* इत्यत्रैकपक्षे कथारसमात्रेण वेद-तदर्थाचरणादिनैरपेक्ष्यमुक्तम्। इदानीञ्च भगवत्पदव्याशयैवादौ तत्त्याग इति विशेषः। अथवा, ननु ब्रह्मादीनामपि ज्ञानप्रदत्वादिना परमपूज्यतमानां श्रुतीनामपि परमोत्कृष्टता श्रूयते, तत्राह—श्रुतिभिरिति। अर्थः पूर्ववदेव। भावश्चायम्—श्रुतीनां धर्माद्यपेक्षा वर्त्तते, एतास्तु सर्वं परित्यज्य तमेकमेवाश्रिताः, अत श्रुतीनां केवलं मृग्यामेव, एतास्तु सम्यक् प्रापुरपीत्यासामेव सर्वोत्कृष्टत्वमिति। एवञ्च ये केचिद्वदन्ति—"उपनिषदो हि भगवद्भजनविशेषलोभेन गोप्यो बभूवुः" इति तदपि निरस्तम्। लक्ष्मीतोऽपि न्यूनतराणां तासां स्वतस्तादृक्सौभाग्यासम्भवादिति केवलं भगवत्कारुण्यप्रभावेणैव सम्भवेदिति दिक्॥१५०॥

भावानुवाद—इस प्रकार व्रजगोपियोंकी सर्वोत्कृष्टताकी विवेचना करते हुए उनके सर्वोच्च भावोंके वर्णन द्वारा उनके सङ्गकी महिमा भी स्वतः ही प्रेमविशेषसे परिपूर्ण होकर श्रीउद्धवके हृदयमें उदित हुई है। इसके प्रभावसे वे अपने हृदयमें किसी एक दुर्लभतर वस्तुकी प्रार्थनाको विशेष रूपसे निश्चित करके अर्थात् चिरकालसे श्रीकृष्णकी सेवा करनेके फलस्वरूप ही 'आसामहो' इत्यादि (श्रीमद्भा. १०/४७/६१) श्लोकके द्वारा प्रार्थना कर रहे हैं। अहो! क्या मैं श्रीवृन्दावनमें इन गोपियोंकी चरणधूलिका सेवन करनेवाली तृण-गुल्म-लतादिमेंसे किसी एक स्वरूपमें भी जन्म ग्रहण कर सकूँगा? अर्थात् श्रीउद्धव श्रीवृन्दावनमें गोपियोंकी चरणरेणुको प्राप्त करनेवाले तृण-गुल्मादिमेंसे किसी एक स्वरूपमें जन्म ग्रहण करनेकी प्रार्थना कर रहे हैं।

उत्सुकतावशतः श्रीउद्धव पुनः गोपियोंके माहात्म्यको 'या दुस्त्यजं' इत्यादि आधे श्लोकमें वर्णन कर रहे हैं। गोपियोंने दुस्त्जय अर्थात् जिनको त्यागना अति कठिन है, उन पति-पुत्रादि सम्बन्धियों तथा आर्यपथ अर्थात् सदाचाररूप धर्मका परित्याग करके श्रुतियोंके द्वारा

भी खोजे जानेवाले श्रीमुकुन्दके चरणकमलोंको प्राप्त किया है। अथवा उनके चरणकमलोंका अनुसरणकर भजन किया है। अथवा श्रीकृष्णके दर्शनके लिए दोनों सन्ध्याओंमें या सदैव ही परम उत्कण्ठा सहित उनके द्वारा गोचारणके लिए आने-जानेके पथका आश्रय किया है। अथवा पदवी कहनेसे श्रीभगवान्‌की भक्तिका मार्ग तथा उस भक्तिमार्गमें प्रविष्ट या उसके आश्रयवान भक्तोंकी महिमाका वर्णन करनेमें ही मैं असमर्थ हूँ, तब फिर जो श्रीमुकुन्दकी प्राप्तिके लिए स्वजन-सम्बन्धी आर्यपथका परित्यागकर भजनमें प्रवृत्त हुए हैं, उनकी महान महिमाका मैं किस प्रकारसे वर्णन करूँ?

यदि आपत्ति हो कि स्त्री-जाति द्वारा पति-पुत्रादि रूप आर्यपथका त्याग करना वेद-विरुद्ध अर्थात् निषिद्ध है, अतएव सज्जन लोगोंके द्वारा भी जिनके श्रीचरण पूजित होते हैं, उन व्रजगोपियोंका वैसा आचरण किस प्रकारसे शिष्ट व्यक्तियों द्वारा सम्मत हो सकता है? इसके समाधानके लिए कह रहे हैं—'मुकुन्दपदवी श्रुतिभिविमृग्याम्' अर्थात् समस्त श्रुतियाँ अब भी 'मुकुन्द पदवी' अर्थात् श्रीमुकुन्दके चरणकमलोंको ढूँढ़ रही हैं, क्योंकि मुकुन्दपदवी उनकी भी साध्य वस्तु है, किन्तु आज तक भी वे उसे प्राप्त नहीं कर सकी हैं। अतएव धर्म-ज्ञानादिके उपदेशक—वेदोंके लिए भी जो दुर्लभ वस्तु है, उसे प्राप्त करनेके लिए पति-पुत्रादि तथा आर्यपथकी अधीनताको परित्याग करनेसे कोई हानि या दोष नहीं होता, अपितु उस दुर्लभ वस्तुकी प्राप्तिके लिए उन सबका त्याग ही वेदमें कथित व्यवस्था है—जानना होगा। विशेषतः स्वजनादिकी आशाओंको पूर्ण करनेके लिए मुकुन्दका भजन न करनेसे उक्त श्रुतिवाक्यके साथ विरोध उपस्थित होता है। इसलिए श्रीगीता (२/४५) में श्रीभगवान्‌ने स्वयं ही कहा है—"समस्त वेद सकाम व्यक्तियोंके लिए त्रिगुणसे उत्पन्न कर्मफलोंका प्रतिपादन करते हैं। अतएव हे अर्जुन! तुम तीनों गुणोंसे अतीत होओ।" पहले भी श्रीमद्भागवत (१०/४७/५८) में उक्त हुआ है "भगवान् अनन्तकी कथाओंमें जिनका ऐकान्तिक अनुराग है, उन्हें असंख्य ब्रह्मजन्मोंकी क्या आवश्यकता है?" इत्यादि स्थानोंपर एकमात्र भगवान्‌की कथाओंमें अनुराग ही साध्यरूपमें उद्दिष्ट हुआ है। वेद

तथा उसके अर्थ अर्थात् वेदोंमें उक्त धर्माचरणादिके परित्यागके द्वारा परम निरपेक्षता ही सूचित हुई है। अब इस श्लोकमें भी श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंकी प्राप्तिकी आशासे प्रथमतः समस्त उपाधियोंके त्यागरूप निरुपाधिक अनुराग ही उद्दिष्ट हुआ है—इसे विशेष रूपमें जानना होगा।

अथवा यदि कहो ब्रह्मादि सर्वज्ञजनोंको भी ज्ञान प्रदान करनेके कारण परम पूज्यतम श्रुतियोंकी सर्वोत्कृष्टता सुनी जाती है। इसीलिए कह रहे हैं—'श्रुतिभिः' अर्थात् श्रुतियाँ भी श्रीमुकुन्दके चरणकमलोंकी खोज कर रहीं हैं। अन्य अर्थ पहलेकी भाँति हैं। भावार्थ यह है कि श्रुतियोंकी धर्मादिमें अपेक्षा (निर्भरता) देखी जाती है, किन्तु व्रजगोपियोंने सबकुछ परित्यागकर एकमात्र श्रीकृष्णका आश्रय ग्रहण किया है। 'मुकुन्द-पदवी' अर्थात् भगवान् श्रीमुकुन्दके चरणकमल श्रुतियोंके द्वारा केवल ढूँढ़े जा रहे हैं, किन्तु व्रजगोपियोंने उसे सम्पूर्णता प्राप्त किया है, अतएव श्रुतियोंकी तुलनामें गोपियोंकी सर्वोत्कृष्टता सिद्ध होती है। तथा जो लोग कहते हैं—"उपनिषद् ही श्रीभगवान्‌का विशेष प्रकारसे भजन करनेके लोभसे श्रीवृन्दावनमें गोपी हुए हैं।" उनकी यह उक्ति भी निरस्त होती है, क्योंकि जिसे लक्ष्मी भी प्राप्त नहीं कर सकी हैं, उस दुर्लभवस्तुको वे (उपनिषद्) किस प्रकारसे प्राप्त करेंगे? विशेषतः लक्ष्मीसे भी निम्न अवस्थामें स्थित श्रुतियोंके लिए स्वतः ही वैसे सौभाग्यकी प्राप्ति असम्भव है। तथापि केवल श्रीभगवान्‌की करुणाके प्रभावसे ही वैसा सम्भव है। इस विचारका यही दिग्दर्शन है॥१५०॥

या वै श्रियार्चितमजादिभिराप्तकामै-
र्योगेश्वरैरपि सदात्मनि रासगोष्ठ्याम्।
कृष्णस्य तद्भगवतः प्रपदारविन्दं
न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम्॥१५१॥

श्लोकानुवाद—"लक्ष्मीदेवी जिन श्रीचरणकमलोंकी सेवा-पूजा करती हैं, ब्रह्मादि देवता और आप्तकाम मुनि अपने-अपने हृदयमें जिनका ध्यान करते रहते हैं, भगवान् श्रीकृष्णके उन्हीं श्रीचरणकमलोंको

रासलीलाके समय गोपियोंने अपने वक्षःस्थलपर धारण किया और उनका आलिङ्गनकर विरहसे उदित अपने तापको शान्त किया॥"१५१॥

दिग्दर्शिनी टीका—ननु सर्वेषामपि भक्तानां स्वजनादित्यागेनायं महिमा साधारण एव, को नाम गोपीनामनेन विशेषस्तत्राह—'या वै' (श्रीमद्भा. १०/४७/६२) इति। वै प्रसिद्धौ। श्रिया सर्वसम्पदा महालक्ष्म्या वा अर्चितं सम्वाहनादिभिः सेवितम्, अतएव अजो ब्रह्मा आदिशब्देन रुद्रेन्द्रादयः; किंवा अजा ब्रह्मादिसेव्या, आदि-शब्देन महदादिजगत्कारणानि, तैश्चार्चितं यज्ञादिभिराज्ञाकारित्वेन च सम्मानितम्; किञ्च, आप्तकामैर्मुक्तैरप्यर्चितम्—परमफलत्वेन भक्त्या पूजितम्। योगेश्वरैर्भक्तियोग-समर्थैर्भक्तिपरैरपि, सदात्मनि सच्चासावात्मा चेति तस्मिन् विशुद्धचित्ते, किंवा सर्वदा मनसैवार्चितमुपासितं सप्रेमश्रवणकीर्त्तनादिभिः; यद्वा, सदात्मनीत्यस्य पूर्वैः श्रीव्यतिरिक्तैः सर्वैरप्यनुषङ्गः, तैस्तैरपि यथायोग्यं सर्वदा आत्मन्येवार्चितं, कदाचिदेव साक्षाद्दर्शनप्राप्तेः, यद्वा, सदेत्यस्य परतः, आत्मनीत्यस्य च पूर्वतः सम्बन्धः। एवमत्रात्मनीति प्रयोगेणार्थबलात् परतः साक्षादिति प्राप्तं स्यादेव अथवा पदद्वयस्यास्य परेणैव सङ्गः। ततश्च आत्मनि निमित्ते गोप्यर्थं भगवदर्थं वा या रासगोष्ठी तस्यामित्यर्थः। यद्यपि *"यदर्चितं ब्रह्मभवादिभिः सुरैः"* (श्रीमद्भा. १०/३८/८) इति श्लोकवदत्रोक्तिक्रमो न वर्त्तते, तथापि तद्व्याख्यानुसारेण तथैवात्राप्यर्थो वितर्क्यः। तदिति स्वयमनुभूतं तदीय-परमसौन्दर्यादिकं चिरविरहप्रेमभरेण स्मरन्नाह; यद्वा, श्रीप्रभृतिभिर्यदर्चितं तदेव, किंवा परमदुर्लभत्वादिना सुप्रसिद्धं भगवतः परमेश्वरस्य तत्रापि कृष्णस्य श्रीयशोदानन्दनस्य, किंवा स चासौ भगवांश्चेति तस्य, कथमपि निर्वक्तुमशक्यो यो भगवान् श्रीकृष्णस्तस्य; उभयथापि श्रीनन्दकिशोरस्येत्यर्थः। अतएव प्रकृष्टं सर्वप्रकारेणोत्कृष्टं पदारविन्दम् अरविन्द-सुन्दरपादाग्रं वा, या गोप्यो रासगोष्ठ्यां रासक्रीड़ायां सदा अनुक्षणं मुहुर्मुहुर्वा स्तनेषु न्यस्तमर्पितं, प्रेमवैवश्यात् स्वयमेव भगवता वा वैदग्धीविशेषेण धृतं, साक्षादेव परिरभ्य स्तनोपर्येव धृत्वा समालिङ्‌ग्य तापं विरहाग्निदाहं विशेषेण जहुः। एवं तेषामात्मन्येव तस्यार्चनमेतासाञ्च साक्षात्तथा परिरम्भणमपीत्यासां तेभ्यो महान् महिमेत्येकपक्षे, पक्षान्तरे च सदा भगवतः कृष्णस्येत्यजादिभ्यः सकाशात् प्रपदारविन्दं साक्षात् परिरभ्येत्याप्तकामेभ्यः, स्तनेष्विति योगेश्वरेभ्यः, रासगोष्ठ्यामिति महालक्ष्मीतोऽपि गोपीनां माहात्म्यविशेष ऊह्यः। तथैतदप्युक्तं भवति—याः पूर्वं तथा तापं जहुस्तासामधुना सञ्जातस्यास्य महातापस्यापनोदनं किं मम चातुर्यैर्भगवत्सन्देशैर्वा भवेदतस्तथैव तत्सिद्धये मया प्रयासः कार्य इति। या इत्यस्य आसामिति पूर्वेणान्वयः। एवमुद्धवस्य श्रीगोपीचरणरेणुस्पृग्गुल्मादिमध्ये किञ्चिन्मात्रजन्मप्रार्थनं, तथा विशेषतो गानपर्यवसाने अनेन श्लोकेन गोपीनां तथा माहात्म्यगानञ्च तासां सङ्गप्रभावोदित-गोपीभावेनैवेति ज्ञेयम्। यथा श्रीबादरायणि-पादैर्दशमस्कन्धान्ते (श्रीमद्भा. १०/९०/२७) श्रीमहिषीवर्गमाहात्म्य-प्रसङ्गे

गोपीभावेनैवोक्तमिदम्—*"याः सम्पर्यचरन् प्रेम्णा पादसम्वाहनादिभिः। जगद्गुरुं भर्तृबुद्ध्या तासां किं वर्ण्यते तपः॥"* इति। अत्र जारेत्यनुक्तिरेव प्रेमभरातृप्तस्वभावं, सदा तत्कामसन्तप्तगोपीभावं गमयति। अतएव हि दौत्येन तासु भगवताप्युद्धवोऽयं प्रेषित इत्यूह्यम्। एवं पूर्वेषामाधुनिकानाञ्च केषाञ्चिन्महतां तादृशो भावो निशम्यते साक्षाल्लक्ष्यते च। न च मन्तव्यम्—पुंसां तादृशो भावो विरुद्ध इति; यतो दण्डकारण्ये तपस्विवेशेन सञ्चरन्तं श्रीरघुनाथं दृष्ट्वापि तदीयसौन्दर्येणाकृष्टा महामुनयो यथावत्त उपभोक्तुकामास्तत्पत्नीत्वमैच्छन्नित्याख्यायिका सुप्रसिद्धैवेति दिक्। तथा च पाद्मोत्तरखण्डे श्रीशिवपार्वतीसंवादे—*"दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन् सुविग्रहम्। ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूताश्च गोकुले॥ हरिं संप्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवात्।"* इति। महाकौर्मेच—*"अग्निपुत्रा महात्मानस्तपसा स्त्रीत्वमापिरे। भर्त्तारञ्च जगद्योनिं वासुदेवमजं विभुम्॥"* इति॥१५१॥

भावानुवाद—यदि आपत्ति हो कि जब समस्त भक्त ही अपने-अपने बन्धु-बान्धवादिका परित्यागकर श्रीभगवान्‌का भजन करते हैं, तब उन सबकी महिमा ही साधारण अर्थात् एक-समान ही होगी, अतः गोपियोंकी महिमा श्रेष्ठ कैसे हुई, अर्थात् गोपियोंके द्वारा अपने बन्धु-बान्धवादिको त्यागनेमें विशेषता क्या है? इसके समाधानके लिए (श्रीमद्भा. १०/४७/६२) 'या वै' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। 'वै' अव्यय शब्द है, इसका अर्थ है—प्रसिद्ध। 'श्रिया' शब्दका अर्थ है—समस्त प्रकारकी सम्पत्तिकी अधिष्ठात्री—महालक्ष्मी। ये महालक्ष्मी जिन श्रीकृष्णके चरणकमलोंके सम्वाहनादि रूपमें सेवा करती हैं। 'अजो' शब्दसे ब्रह्माको तथा 'आदि' शब्द द्वारा रुद्र और इन्द्रादि देवताओंको जानना होगा। अथवा 'अजा' का अर्थ है—ब्रह्मादि देवताओंकी भी सेव्य माया। तथा 'आदि' अर्थात् महत्-तत्त्वादि जगत्‌के कारणसमूह द्वारा वह माया जिन श्रीकृष्णकी अर्चना करती हैं। अर्थात् यज्ञादिके प्रवर्तन द्वारा आज्ञाकारी सेवकके रूपमें जिन प्रभुका सम्मान करती हैं।

कुछ और भी कह रहे हैं—आप्तकाम मुक्तजन हृदयमें जिनकी अर्चना करते हैं, अर्थात् परम फलरूपमें भक्ति सहित जिनकी पूजा करते हैं। योगेश्वर अर्थात् भक्तियोग समर्थक भक्तिपरायण योगी भी 'सदात्मनि'—सत् अर्थात् विशुद्ध चित्तसे अथवा सर्वदा मनमें सप्रेम-श्रवण-कीर्त्तनादि द्वारा जिनकी उपासना करते हैं। अथवा 'सदात्मनि' पदका

पूर्वोक्त 'श्री' पदके अलावा सर्वत्र सम्बन्धवशतः अर्थ होगा—श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंके विशेष सङ्ग द्वारा जिनकी धी (मति) बद्ध है, वे भी यथायोग्य रूपमें सर्वदा मनमें जिनका अर्चन करते हैं और कभी-कभी साक्षात् दर्शन भी प्राप्त करते हैं। अथवा 'सदात्मनि' पदके सत् शब्दके साथ 'परतः आत्मनि' शब्दका पूर्ववत् सम्बन्ध होनेके कारण 'आत्मनि' शब्द प्रयोगके अर्थ-बलसे 'परतः' अर्थात् साक्षात् प्राप्त होनेकी सम्भावनामात्र ही सूचित हुई है। अथवा दोनों पदोंके आगे-पीछेके सम्बन्ध हेतु 'आत्मनि' शब्दके विशेषण होनेसे 'पर' पदके साथ सम्बन्धवशतः 'आत्मनि' शब्दका अर्थ होगा—गोपियोंके लिए या श्रीभगवान्‌के लिए जो रासगोष्ठी है, उस रासमें गोपियोंने अपने कुचमण्डलपर समर्पित उन्हीं श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंका आलिङ्गनकर अपनी काम-पीड़ाको दूर किया था। यद्यपि "जो श्रीचरणकमल ब्रह्मादि देवताओं तथा देवदेव महेश्वर द्वारा अर्चित होते हैं।"—श्रीमद्भागवत (१०/३८/८) की इस उक्तिके अनुसार अर्चककी परम उत्कर्षताका क्रम प्रदर्शित हुआ है। अर्थात् देवताओंसे ब्रह्माका, ब्रह्मासे महेश्वरका, महेश्वरसे लक्ष्मीदेवीका, उनसे भी समस्त मुनियोंका, उनकी तुलनामें भी समस्त भक्तोंका, उनकी तुलनामें भी समस्त गोपकुमारोंका (सखाओंका) तथा उन सबसे भी गोपियोंका परमोत्कर्ष कथित हुआ है। तथापि यहाँपर वैसा क्रम स्थापित न होनेपर भी इसी व्याख्याके अनुसार सिद्धान्तकी सङ्गति करनी होगी।

मूल श्लोकका 'तत्' शब्द वक्ताके वाक्य और मनके अगोचर होनेपर भी स्वतः अनुभूत होनेके कारण श्रीकृष्णके परम सौन्दर्यादिके सुदीर्घ विरहसे उदित प्रचुर प्रेमकी स्मृतिके अनुसरणपूर्वक कथित हुआ है। अथवा 'तत्' कहनेसे श्री (लक्ष्मी) इत्यादि द्वारा जिन चरणोंकी अर्चना की जाती हैं उन्हें, अथवा परमदुर्लभ होनेके कारण सुप्रसिद्ध परमेश्वर विशेषतः यशोदानन्दन श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी अथवा वे भगवान् अर्थात् जिनके विषयमें किसी प्रकार सुस्पष्ट भावसे भी कहा नहीं जा सकता है, उन भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंकी—किन्तु इन दोनों स्थलोंपर ही श्रीनन्दकिशोरको समझना होगा। अतएव समस्त प्रकारसे उत्कृष्ट और कमलके समान सुन्दर श्रीभगवान्‌के जिन

चरणोंके अग्रभागको गोपियोंने रासक्रीड़ामें अनुक्षण या पुनः-पुनः अपने स्तनोंपर धारण किया था। अथवा प्रेमकी विवशताके कारण श्रीभगवान्ने स्वयं ही वैदग्धीके साथ अपने चरणकमलोंको गोपियोंके स्तनोंपर अर्पण किया था। अतएव उन श्रीचरणकमलोंको साक्षात् भावसे अपने स्तनोंपर धारणकर तथा उनका भलीभाँति आलिङ्गनकर गोपियोंने अपनी विरह-अग्निके तापको प्रशमित किया था। इस प्रकारसे वैकुण्ठ स्थित श्रीलक्ष्मी इत्यादिके द्वारा विशुद्ध मानसिक अर्चन अर्थात् भाव विशेष द्वारा श्रीचरणकमलोंकी आराधना तथा व्रजगोपियोंके द्वारा साक्षात् उन चरणकमलोंके आलिङ्गनवशतः लक्ष्मी आदिकी तुलनामें गोपियोंकी महान महिमा स्वतः ही प्रमाणित होती है। अर्थात् केवल रासलीलामें वैसे उत्कर्षके कारण ही उन व्रजगोपियोंका माहात्म्य नहीं है, अपितु श्रीभगवान्की प्राप्तिके अत्यधिक उत्कर्षसे भी अर्थात् गोपियोंके मण्डलमें श्रीकृष्णका अत्यधिक माधुर्य अन्तिम सीमा तक प्रकाशित होनेके कारण भी उनका महान माहात्म्य सिद्ध होता है—यह एक पक्ष है। पक्षान्तरमें कह रहे हैं कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके चरणकमलोंका सदा आलिङ्गन कहनेसे—ब्रह्मादिसे आप्तकाम मुनिजन, प्रकृष्ट रूपमें चरणकमलोंका साक्षात् आलिङ्गन कहनेसे—आप्तकामजनोंसे भी योगेश्वरजन, स्तनोंपर अर्पण कहनेसे—योगेश्वर-जनोंसे भी महालक्ष्मी तथा रासक्रीड़ा इत्यादि कहनेसे—महालक्ष्मीसे भी गोपियोंका विशेष माहात्म्य वर्णित हुआ है।

इस प्रकारसे और भी कहा जा सकता है कि वहाँ स्थित गोपियोंने स्वाभाविक महाभावसे सञ्जात विरह-अग्निसे उदित जो प्रबल काम-ताप था, उसे श्रीकृष्णके चरणकमलोंके आलिङ्गन द्वारा प्रशमित किया था। किन्तु अभी उसी महाभावका भेद या प्रकाररूप रूढ़भाव मेरे सुदूर प्रवाससे उदित महा-विरहके रूपमें सौ-करोड़ समुद्रोंकी अग्नि-तापसे भी तीव्रतर शिखाको विस्तारकर उन्हें दग्ध कर रहा है। गोपियोंका वह महाताप क्या मेरे चातुर्य द्वारा या भगवान्के सन्देश द्वारा प्रशमित हो सकता है? कभी नहीं। अतएव जिस प्रकार पहले रासलीला द्वारा रस वर्षित हुआ था, वैसा प्रयास करना ही मेरा कर्त्तव्य है। अतः इस श्लोकके 'या' पदका पिछले श्लोकके

'आसामहो' पदके साथ अन्वय होगा। इसलिए श्रीउद्धवने गोपियोंकी चरणधूलिको प्राप्त करनेवाली गुल्म-लतादिमेंसे किसी एक स्वरूपमें जन्म प्राप्त करनेकी प्रार्थना की है। विशेषतः उक्त गानके अन्तमें ही उन्होंने गोपियोंके माहात्म्यका कीर्त्तन किया था तथा उनके द्वारा उक्त माहात्म्यका कीर्त्तन भी उन महाभावमयी गोपियोंके सङ्गके प्रभावसे अर्थात् गोपीभावमें विभावित होकर ही सम्भव हुआ था।

जिस प्रकार श्रीशुकदेव गोस्वामीने दशम-स्कन्धके अन्तमें महिषियोंके माहात्म्यके प्रसङ्गमें गोपीभावमें विभावित होकर गान किया था, यथा (श्रीमद्भा. १०/९०/२७)—"जिन्होंने दास-बुद्धिसे चरणादि सेवा द्वारा प्रेम सहित जगद्गुरु श्रीकृष्णकी अर्चना की थी, उनकी तपस्याके सम्बन्धमें अधिक क्या कहूँ?" किन्तु यहाँपर श्रीशुकदेव गोस्वामीने जार (उपपति) बुद्धिसे न कहकर दास-बुद्धिसे कहा है, क्योंकि प्रेमकी प्रचुरताके अतृप्त स्वभाववशतः वे सदा श्रीकृष्णके प्रेमकी पीड़ासे युक्त गोपीभावमें आविष्ट रहते थे। इसलिए उन्होंने गोपियोंकी सुप्रसिद्ध जार-बुद्धिका उल्लेख नहीं किया। विशेषतः गोपियोंसे सम्बन्धित उस भावके व्यक्त होनेसे उनमें मूर्च्छा-दशा उदित हो सकती थी, इसी आशङ्कासे उसे व्यक्त नहीं किया। अतएव श्रीभगवान्ने दासभावको जाननेवाले श्रीउद्धवको दूत-कार्यमें नियुक्त किया तथा उस निगूढ़ जारभावकी सर्वश्रेष्ठताको प्रकाशित करनेके लिए उन्हें व्रजमें भेजा। इस प्रकारसे श्रीउद्धव द्वारा उस निगूढ़ जारभावकी महिमा जगत्में प्रचारित हुई है।

प्राचीन और आधुनिक भक्तोंमेंसे किसी-किसी महात्मा द्वारा वैसे गोपीभावके आनुगत्यमें भजन करना सुना अथवा साक्षात् देखा भी जाता है। अतएव ऐसा मन्तव्य मत करना कि पुरुषोंके लिए वैसा भाव विरुद्ध है अर्थात् सम्भव नहीं है। दण्डकारण्यमें महामुनियोंने तपस्वीके वेशमें विचरणशील श्रीरघुनाथका दर्शनकर और उनके सौन्दर्यसे आकृष्ट होकर उनके सौन्दर्य-माधुर्यका आस्वादन करनेके लिए उनकी पत्नी बननेकी कामना की थी। वह सुप्रसिद्ध उपाख्यान पद्मपुराणके उत्तरखण्डमें श्रीशिव-पार्वती सम्वादमें स्पष्ट हुआ है। यथा—"प्राचीन कालमें दण्डकारण्यवासी मुनियोंने श्रीगोकुलकी गोपियोंके

अनुगत वासनासे युक्त होकर श्रीरघुनाथका रूप दर्शनकर उनके सौन्दर्य-माधुर्यको उपभोग करनेकी इच्छाकी थी। किन्तु श्रीरघुनाथने साक्षात् रूपमें उनसे कुछ नहीं कहा, तथापि कल्पतरुस्वरूप श्रीरघुनाथसे वर प्राप्तकर वे सब मुनि गोकुल स्थित गोपियोंके गर्भसे जन्म ग्रहणकर गोपी देह प्राप्त किये। इस प्रकार अपने संकल्प अनुसार श्रीहरिको प्राप्तकर वे भवसागरसे मुक्त हुए अर्थात् प्रपञ्चके अगोचर परमानन्दमें निमग्न हुए थे।" इसी प्रकारसे महाकूर्मपुराणमें भी उक्त है, "महात्मा अग्निके पुत्रोंने तपस्या द्वारा स्त्री-देह प्राप्तकर अजन्मा और जगत्के कारण श्रीवासुदेवको पतिरूपमें प्राप्त किया था॥"१५१॥

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥१५२॥

श्लोकानुवाद—"अतएव मैं श्रीनन्दराजके व्रजकी गोपियोंके चरणकमलोंकी धूलिकी बार-बार वन्दना करता हूँ, जिनके द्वारा गानकी जानेवाली श्रीकृष्ण कथा त्रिभुवनको पवित्र करती है॥"१५२॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं तासां माहात्म्यं परमप्रीत्या सुस्वरगानेन संकीर्त्त्य पादपद्म-परिसरप्रदेशे दण्डवन्निपत्य परमदुर्लभत्वमनननेनैव तत्पद-पद्धतिरेणुमेकमेव दूरतो हस्तेनादाय शिरस्याधाय, किंवा तासामग्रे तमेव लक्षीकृत्य साष्टाङ्गप्रणमन्नाह—'वन्दे' (श्रीमद्भा. १०/४७/६३) इति। व्रजस्त्रीणामित्यपरोक्षेऽपि प्रेमभरोदयेन परोक्षवदुक्तिः, किंवा परमगौरवेण सम्माननार्थं तत्संकीर्त्तन-सुखार्थं वा। अभीक्ष्णशः इत्यस्य पूर्वेण परेण चान्वयः। यासां हरिकथा-सम्बन्धि उच्चैर्गीतं भूवनत्रयमूर्धमधोमध्यञ्च लोकं जगदेव पुनाति। यथोक्तमस्मिन्नेव (मस्ति, तदेव) प्रसङ्गे श्रीशुकदेवपादैः—*"उद्गायतीनामरविन्दलोचनं व्रजाङ्गनानां दिवमस्पृशद्ध्वनिः। दध्नश्च निर्मन्थनशब्दमिश्रितो, निरस्यते येन दिशाममङ्गलम्॥"* (श्रीमद्भा. १०/४६/४६) इति। यद्वा, यासां महिमनिबन्धनं गीतमेव ममैतद्गीतमिव उच्चैरतिश्रेष्ठा हरिकथा, यद्वा, हरिकथेति दृष्टान्तत्वेनात्रोपन्यस्तं हरिकथैव यासामुच्चैर्गीतं माहात्म्यगाथा त्रिभुवनमेव व्याप्य पुनाति, एवं निजतद्गानाभिप्रायोऽपि सूचित इति॥१५२॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे श्रीउद्धवने परमप्रीति सहित व्रजगोपियोंके माहात्म्यका सुस्वरमें संकीर्त्तन करते-करते उनके चरणकमलोंके चारों ओर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया। तत्पश्चात् उनके श्रीचरणकमलोंसे संलग्न धूलिको परम दुर्लभ जानकर मात्र एक कणको दूरमें रहकर

ही अपने हाथमें उठाकर अपने सिरपर धारणकर अथवा उन गोपियोंके समक्ष उस रेणुको लक्ष्यकर साष्टाङ्ग प्रणाम करते हुए (श्रीमद्भा. १०/४७/६३) 'वन्दे' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। इस श्लोकमें 'व्रजस्त्रीणां' पद द्वारा व्रजगोपियोंके प्रत्यक्ष वर्त्तमान होनेपर भी श्रीउद्धवमें प्रेमराशिके उदय होनेके कारण उनकी उक्ति परोक्षवत् (अप्रत्यक्षकी भाँति) प्रतीत हो रही हैं। अथवा उक्त पद परम गौरववशतः सम्मानके अर्थमें या संकीर्त्तन सुखके लिए व्यवहृत है। 'अभीक्ष्णशः' (निरन्तर)—इस पदका आगे और पीछे अन्वय है।

जिनकी हरिकथासे सम्बन्धित उच्च गानके द्वारा त्रिभुवनरूप सम्पूर्ण जगत् (अर्ध्व, अधः और मध्यस्थित समस्त लोक) पवित्र होता है। श्रीशुकदेवपादने भी इसी उक्तिके अनुरूप ही कहा है—यथा (श्रीमद्भा. १०/४६/४६) "व्रजगोपियाँ द्वारा कमललोचन श्रीकृष्णको उद्देश्यकर गान करना आरम्भ करनेपर उस गीतकी ध्वनि उनके द्वारा किये जानेवाले दधिमन्थनके शब्दोंके साथ मिश्रित होकर दसों दिशाओंमें व्याप्त होती है तथा इस ध्वनिसे समस्त दिशाओंका अमङ्गल नष्ट हो जाता है।" अथवा इस दृष्टान्तसे सूचित होता है कि उन गोपियोंकी श्रीहरिके साथ होनेवाली लीलाकथा अर्थात् उच्च स्वरमें गीत-माहात्म्य-गाथा त्रिभुवनके समस्त लोकोंमें व्याप्त होकर उन्हें पवित्र करती है। श्रीउद्धवका अभिप्राय यह है कि उनकी इष्ट व्रजगोपियोंकी महिमाके गान द्वारा ही समस्त लोक पवित्र होंगे॥१५२॥

गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणु-
र्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम्।
भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो
हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथार्याः॥१५३॥

श्लोकानुवाद—"हे सखियो! इस नीरस काष्ठके वेणुने कैसा अनिर्वचनीय पुण्य किया है! दामोदरकी अधरसुधा केवल गोपियोंके लिए ही है, किन्तु यह वेणु नाममात्रका रस छोड़कर अकेले ही सम्पूर्ण रसका उपभोग कर रहा है। जिस मानसी गङ्गादिके जलसे यह वेणु पुष्ट हुआ है, इसके अपूर्व सौभाग्यको देखकर वे समस्त नदियाँ

भी वेणुके अवशेष श्रीकृष्णके अधरामृतका पानकर प्रेमके उदित होनेके कारण अपने जलमें विकसित कमल धारणकर रोमाञ्चित हो रही हैं। वस्तुतः अपने वंशमें श्रीभगवान्के सेवक रूपमें पुत्ररत्नके जन्म होनेपर कुलके लोग आनन्दसे अश्रुपात करते हैं। इस वेणुका ऐसा पुण्य देखकर वेणुके कुलके समस्त वृक्ष अपने देहमें पुष्पधारण करनेके छलसे सात्त्विक विकार प्रकट कर रहे हैं तथा मधुकी धारा बहानेके रूपमें अश्रुपात कर रहे हैं॥"१५३॥

दिग्दर्शिनी टीका—इदानीं तासामेव मध्ये श्रेष्ठतमाया भगवत्याः श्रीराधिकायाः सर्वोत्तमोत्तमं माहात्म्यं कैमुतिकन्यायेन, तथाहि, अहो वत! किं वर्णनीया तस्या भावगाम्भीर्यमहिमपरिणतिः, यया सततत‌दधरामृतपानलोभेन मुरलीं प्रत्यप्यधरबिम्ब-संयोगेन तदधरामृतपानमाशङ्क्य सापत्न्यं वहन्ती वृन्दावनं प्रविष्टस्य भगवतो दूरादेव वेणुनादं निशम्य तं मिथो वर्णयन्तीनां सखीनां मध्ये श्रीराधादेवी स्वयमेवाह—'गोप्यः' (श्रीमद्भा. १०/२१/९) इति, भो गोप्यः! हे श्रीललिताद्याः सख्यः! अयं नीरसकाष्ठमयो वेणुः किं कीदृशं कतमत् वा कुशलमाचरत्? तस्मिन् ज्ञाने वयमपि तदेवाचरामेति भावः। यद्यस्मात् येन वा कुशलेन गोपिकानां युष्माकमेव भोग्यां सतीमपि अस्माकमित्यनुक्तिर्लज्जया, किंवा गोपिकानां वो वश्यः स्वामी वा यो दामोदरस्तस्य करे हृदये वदने च वर्त्ततां नाम, अधरसुधामयं मद्यं स्वयं स्वातन्त्र्येण यथेष्टं भुङ्क्ते। स्मेति विस्मये, स्पष्टमित्यर्थे वा; स्मेत्यत्र विसर्गाभाव आर्षः। गोप्यो गोपजातित्वेन दामोदरेण सह सम्बन्धविशेषवत्यो वयं स्मः वर्त्तामहे जीवाम इत्यर्थः। अपि, तथाप्ययं भुङ्क्ते, अतो गोप्यः चोरयित्वा निभृतं रक्षणीयः। तत्रापि कथं भुङ्क्ते? अवशिष्टरसं केवलमवशिष्ट उर्वरितो रसो रस इव मात्रो यथा भवति, तथा सुधान्तु नावशेषयतीति भावः। यतः अतएव वा, यासां पयसा पुष्टोऽसौ, मातृतुल्या ह्रदिन्यो नद्यः हृष्यत्त्वचः विकसितकमलवननिभेन रोमाञ्चिता लक्ष्यन्ते। येषां वंशे जातस्ते तरवोऽपि मधुधारामिषेण आनन्दाश्रुधारा मुमुचुः, यथा आर्याः कुलवृद्धाः स्ववंशे भगवत्सेवकं दृष्टवा हृष्यत्त्वचोऽश्रुमुञ्चन्ति तद्वत्। यद्वा, अव्ययानामनेकार्थत्वादवेति हीनार्थे। अवहीनं शिष्टं शेषो यस्य रसस्य तथाभूतं यथा स्यात्। रसमात्रमपि यथावशिष्टं नाम न भवेत्तथाधरसुधां भुङ्क्ते इत्यर्थः। यद्वा, अवशिष्टो रसो रागो यथा स्यात्; रागस्यावशिष्टत्वात् अतृप्त्या मुहुर्भुङ्क्ते पुनरपि भक्ष्यत एवेत्यर्थः। यद्वा, सुधां किम्भूताम्? गोपिकानामवशिष्टरसम्; आविष्टलिङ्गत्वात् पुंस्त्वमदुष्टम्। अयमर्थः—ऐहिकामुष्मिक-सुखभोगविषयकोऽशेषो रसो गोपिकानामपगत एव; केवलमधरसुधैवावशिष्टोऽयं रसः प्रीतिविशेषस्तद्-विषयत्वादुपचारेण (तदीयत्वादुपचारेण) तदेकात्मत्वेन वा स एव, किंवा मधुरादिरस

इव रसनीयत्वाद्रसः य एको विद्यते, तमप्ययं भुङ्क्ते इति। अथवा, किं वर्णनीयोऽस्य पुण्यमहिमेत्याशयेनाहुः—स्नानपानादिना जगतां पावन्यः पुण्यजनयित्र्यो यमुनाद्या नद्योऽपि यस्य अवशिष्टरसमुच्छिष्टमेव तत्रापि द्रवमात्रं, न तु सुधां भुञ्जते। ह्रदिनीनां बहुलत्वात् स्वत एव विभक्तिविपरिणामः। जलविहारादि-नाऽधररागापगमनाद्य एवाधरामृतं भुञ्जते इत्युत्प्रेक्षा काव्येषु प्रसिद्धैव; किंवा, श्रीकालिन्दीदेवी श्रीकृष्णाधरामृतपानयोग्यैव, तत्साहचर्याद्भगवत्प्रियतमा क्रीड़ा श्रीवृन्दावनसम्बन्धाद्वा अन्या अपि श्रीवृन्दावनवर्त्तिन्यो ह्रदिन्यस्तादृश्य एवोह्याः। कथम्भूताः? परमदुर्लभप्राप्त्यानन्दभरेण हृष्यत्त्वचः सत्यः। यस्योच्छिष्ट इव मात्रपानेनापि महानदीनां भगवतीनामीदृशो हर्षस्तस्य पुण्यमहिमा किं वर्णनीय इति भावः। यथा यथावत्; पूर्वं पश्चाद्वा योज्यम्। आर्या महान्तश्छायादिना परमपुण्यजनका वृन्दावनवर्त्तिनः पिप्पलादयस्तरवस्तु अश्रु मुमुचुः। तस्याप्यलाभेन शोकादरुदन्नित्यर्थः। यद्वा, तरवोऽश्रु मुमुचुरित्यत्राशङ्कते। ननु तरूणां तत्पाने सम्भावनैव कथमपि न विद्यते। कथं तदप्राप्त्या शोकेन रोदनं सम्भवति? न हि रङ्को राज्याप्राप्त्या रोदिति, किं तर्हि क्षुधादिनाऽन्नाद्यर्थमेवेति? तत्राह—यथा आर्याः परमसाधवः श्रीकृष्णभक्तवरास्तदधरामृतपानानर्हा अपि तद्प्राप्त्यां शोकेनाश्रु मुञ्चन्ति, तद्वत्। एतच्च पूर्वमुक्तमेव। यद्वा, आर्या वृद्धाः श्रीराधाश्वश्रूप्रभृतय इति॥१५३॥

भावानुवाद—अब उन व्रजगोपियोंमें श्रेष्ठतम भगवती श्रीराधिकाका सर्वोत्तम माहात्म्य कैमुतिक-न्याय द्वारा प्रमाणित हो रहा है। अर्थात् श्रीराधिका परम प्रेमरूपा हैं, अतएव समस्त व्रजगोपियोंसे उनकी श्रेष्ठता स्वतः प्रमाणित है। इसे बतलानेके लिए कह रहे हैं—अहो! क्या उन श्रीराधाके माहात्म्यको वर्णन किया जा सकता है? अर्थात् क्या कोई उनके गम्भीर भावोंकी महिमाके परिणामका वर्णन कर सकता है? श्रीराधा द्वारा सदैव श्रीकृष्णका अधरामृत पान करनेपर भी वे निरन्तर उसके पानके लोभसे मुरली द्वारा श्रीकृष्णके अधरबिम्बके संयोगवशतः, अर्थात् मुरली द्वारा श्रीकृष्णके अधरामृत पानकी आशङ्कासे सौतभाव द्वारा उसके प्रति ईर्ष्या प्रकाश कर रही हैं। श्रीवृन्दावनमें प्रविष्ट हुए श्रीकृष्णकी वंशीनादको दूरसे ही श्रवणकर परस्पर श्रीकृष्ण गुण-गाथा वर्णनमें रत सखियोंमें श्रीराधादेवी स्वयं ही (श्रीमद्भा. १०/२१/९) 'गोप्यः' इत्यादि श्लोक कह रही हैं। हे गापियो! हे ललितादि सखियो! इस शुष्क नीरस बाँसके वेणुने किस पुण्यका आचरण किया है? (भावार्थ यह है कि) यदि तुमने पौर्णमासी या

गार्गीसे इसके पुण्यके सम्बन्धमें सुना है, तो मुझे भी उस विषयमें बतलाओ, जिससे मैं भी वैसे पुण्यका आचरण करूँगी। इसका कारण है कि यह वेणु उस पुण्यके कारण तुम्हारे द्वारा ही पान करने योग्य श्रीकृष्णके अधरामृतको सम्पूर्ण रूपसे पान कर रहा है। यहाँपर लज्जावशतः ही 'हमारे द्वारा' न कहकर 'तुम्हारे द्वारा' कहा गया है। अथवा वह वेणु गोपियोंके ही वशीभूत उन श्रीदामोदरके हाथोंमें, हृदयमें या मुखमें विलास करता है तो करे, किन्तु उनकी अधरसुधामय मद्यको स्वयं ही क्यों स्वतन्त्र भावसे यथेच्छा पान कर रहा है?

मूल श्लोकमें 'स्म' पदका प्रयोग विस्मय या स्पष्टताके अर्थमें हुआ है, किन्तु विसर्गके अभावके कारण यह आर्ष प्रयोग है। विस्मयका लक्षण है—'गोप्यः' अर्थात् हे गोपियो! गोपजातिमें जन्म होनेके कारण हमारे साथ इन दामोदरका बाल्य अवस्थासे ही विशेष सम्बन्ध वर्त्तमान है, विशेषतः उनकी अधरसुधा हमारी ही जीवातु (प्राण) है, तथापि यह वेणु स्थावर (अचर) और पुरुष जातिका होकर भी उस अधरसुधाको पान कर रहा है। (यह उक्ति ईर्ष्यावशतः है—) अतएव इसे चुपकेसे चुराकर किसी गुप्त स्थानमें छिपा दो। तथापि यदि कहो कि वह किस प्रकारसे पान कर रहा है? इसके लिए कह रहीं हैं कि नाममात्र रसको बाकी छोड़कर समस्त सुधासारका पान कर रहा है। अर्थात् अधर-विगलित रसके नाममात्रको छोड़कर सुधाके समस्त सारको अकेला ही पान कर रहा है। अतएव जिनके जलसे यह पुष्ट हुआ है, वे माता-तुल्य समस्त नदियाँ इसके अपूर्व सौभाग्यका दर्शनकर अपने जलमें विकसित कमलके रूपमें रोम-राशिसे पुलकित हो उठी हैं। अर्थात् इस वेणुकी ध्वनिसे हर्षित होकर श्रीयमुनादि समस्त नदियाँ अपने जलमें कमल खिलनेके बहाने रोमाञ्चित हो रही हैं। तथा जिस प्रकार वंशमें श्रीभगवान्‌के भक्त सन्तानके उत्पन्न होनेपर उसे देख कुलके वृद्ध लोग रोमाञ्चित होते हैं और आनन्दसे अश्रु बहाते हैं, उसी प्रकार इस वेणुको अपने वंशमें उदित हुआ जानकर समस्त वृक्ष भी मधु-धारा वर्षणके रूपमें मानों नेत्रोंसे आनन्दके अश्रु बहा रहे हैं।

अथवा 'अवशिष्ट' अव्यय-शब्द नाना अर्थयुक्त होनेके कारण हीन अर्थमें भी प्रयुक्त हो सकता है। अतएव 'अव' अर्थात् हीन, 'शिष्ट' अर्थात् शेष अर्थात् नाममात्र रसको छोड़कर सम्पूर्ण अधरसुधाका पानकर रहा है। अथवा अवशिष्ट रस कहनेसे राग (प्रेमकी अवस्था) का बोध होता है तथा उस रागके अतृप्त स्वभाववशतः अधरसुधाका पुनः-पुनः पान करनेपर भी पुनः पान करनेके लोभसे उसके परित्यागमें असमर्थ है। अथवा यदि कहो कि वह सुधा कैसी है? इसके उत्तरमें कह रहीं हैं—वह सुधा गोपियोंके लिए अवशिष्ट रस है। अर्थात् गोपियोंने उस रसकी आकांक्षासे अन्य समस्त रसोंका परित्याग कर दिया है तथा उस रसमें आविष्टता होना ही उस सुधाका स्वभाव है। यहाँ 'आविष्ट' शब्द पुलिङ्गमें होनेसे दोषपूर्ण नहीं है। तात्पर्य यह है कि गोपियोंमें इस लोक और पारलोकके सुखभोगसे सम्बन्धित समस्त प्रकारका रस तिरोहित हो चुका है। अब उनमें केवल अधरसुधारसकी ही कामना अवशिष्ट (बाकी) है। वह अधरसुधारस भी प्रीति विशेषके कारण श्रीकृष्णसे तादात्म्यवशतः श्रीकृष्णसे अभिन्न है। अथवा मधुरादि रसोंके समान ही रसनीय (आस्वादनीय) होनेके कारण रस ही है। किन्तु अभी वेणु उस रसको भी सम्पूर्ण रूपमें पान कर रहा है।

अथवा इस वेणुके पुण्यकी महिमाके विषयमें अधिक क्या वर्णन करूँ? इस विचारसे कह रही हैं—जिस जलके स्नान-पानादि द्वारा जगत् पवित्र होता है, वह पुण्यजनक यमुना, मानसी गङ्गादि समस्त नदियाँ भी उस अवशिष्ट (उच्छिष्ट) रसका आस्वादन कर रही हैं। किन्तु वह आस्वादन नादरूपमें द्रवभावमात्रका है, साक्षात् अधरसुधाका नहीं। समस्त जलाशयोंकी बहुलताके कारण स्वतः ही 'एव' (भुञ्जते अर्थात् भोगनेकी क्रिया) विभक्ति परिवर्त्तनीय होती है। अथवा श्रीकृष्णके जल-विहारादिके समय उनके अधरका राग (रङ्ग) धुलकर उस जलमें मिश्रित होनेके कारण वे जलाशय भी अधरामृतका आस्वादन करते हैं। इसी प्रकारका अनुमान काव्योंमें प्रसिद्ध है। अथवा श्रीकृष्णका अधरामृत श्रीकालिन्दीदेवीके पानके योग्य होनेके कारण उनकी सहचारितावशतः या श्रीभगवान्के प्रियतम क्रीड़ाके

आधार श्रीवृन्दावनके सम्बन्धसे अन्य-अन्य जलाशय भी श्रीकृष्णका अधरामृत पान करनेके योग्य हैं—समझना होगा। किस प्रकारसे? ये जलाशय उस परमदुर्लभ वस्तुकी प्राप्ति द्वारा आनन्दसे रोमाञ्चित हो रहे हैं। अहो! इस वेणुका मात्र उच्छिष्ट पान करनेसे ही इन भगवती महा-नदियोंमें ऐसा हर्ष उदित हुआ है, तो फिर साक्षात् अधर-सुधा पान करनेवाले उस वेणुके पुण्यकी महिमाका क्या वर्णन किया जा सकता है?

यहाँ 'यथा' शब्द यथावत् अर्थमें प्रयुक्त हुआ है तथा इसका पहले और बादमें व्यवहार (प्रयोग) है। 'आर्य' अर्थात् महान्त पीपल आदि वृक्षसमूह जो छायादि दानकर परम पुण्यजनक श्रीवृन्दावनमें स्थित होकर अश्रु बहा रहे हैं। अर्थात् उस अधरामृतकी प्राप्तिके लिए शोकग्रस्त होकर रोदन कर रहे हैं। अथवा "समस्त वृक्ष अश्रुपात कर रहे हैं"—इस आशङ्कासे यदि कहो कि उन वृक्षोंके लिए जब उस अधरामृतको पान करनेकी कुछ भी सम्भावना नहीं है, तब वे उसकी प्राप्तिके लिए शोकके वशीभूत होकर रो क्यों रहे हैं? विशेषतः दरिद्र क्या कभी राज्य पदको प्राप्त न करनेके कारण रो सकता है? अथवा क्या वह रस भूख मिटानेके लिए अन्नादिकी भाँति कोई वस्तु है? इसके लिए कह रहे हैं—'यथा आर्या' अर्थात् परमसाधु श्रेष्ठ श्रीकृष्णभक्त जो श्रीकृष्णका अधरामृत पान करनेके अयोग्य हैं, यहाँ तक कि श्रीराधाजीकी सास जटिला जैसी वृद्धाएँ भी उस अधरामृतको न पाकर शोकसे रोदन करती हैं। यही उस रसका स्वभाव है। इस विषयमें पहले वर्णन हुआ है॥१५३॥

जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो,
यदुवरपरिषत् स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम्।
स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन,
व्रजपुरवनितानां वर्धयन् कामदेवम्॥१५४॥

श्लोकानुवाद—"जो सबके हृदयमें अन्तर्यामी रूपमें निवास करते हैं अथवा गोपों-यादवों आदिके बीचमें जिनका निवास है या फिर जो समस्त जीवोंके निवास अर्थात् आश्रय हैं, देवकीके गर्भसे जन्म ग्रहण

करना जिनके लिए वाद (प्रसिद्धि) मात्र है, वस्तुतः जो अजन्मा हैं, श्रेष्ठ यादवगण पार्षदरूपमें जिनकी सेवा करते हैं, इच्छामात्रसे दमन करनेमें समर्थ होनेपर भी जो अपने बाहुबल द्वारा अथवा बाहुबल तुल्य पाण्डवादि भक्तों द्वारा धर्मके विरोधी असुरोंका विनाश करते हैं, जो स्थावर-जङ्गम समस्त प्राणियोंके संसार-दुःखका हरण करते हैं, अथवा जो व्रजपुरमें स्थित अपने सेवकोंके विरह-दुःखका नाश करते हैं तथा जो अपने सुन्दर मृदु-हास्यसे शोभित श्रीमुखमण्डल द्वारा व्रजगोपियों और पुर-महिषियोंके काम अर्थात् प्रेम-भावका वर्द्धन करते हैं, वही श्रीकृष्ण जययुक्त हों॥"१५४॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं श्रीपरीक्षिन्महाराजः सामान्य-विशेषाभ्यां सर्वेषां गोकुलवासिनां माहात्म्यं गीत्वा तत्तत्पर्यवसानाशयः श्रीभगवान्माहात्म्यमन्ते मङ्गलाचरणत्वेन गायन्निजगुरु-श्रीशुकदेववदेव उपसंहरति—भगवान् श्रीशुकदेवो हि श्रीदशमस्कन्धोक्तं श्रीकृष्णचरितामृत-महासागरं लवणार्णवमगस्त्य इव गण्डूषीकृत्य पातुमिच्छन्नेकेनैव श्लोकेन विचित्र-ग्रन्थकोट्युक्ता निखिला एव तदीया लीलाः समासात् प्रस्तुतोपसंहारत्वेन शेषे जगाद—'जयति' (श्रीमद्भा. १०/९०/४८) इति। पूर्वश्लोकस्थकृष्णस्येति पदस्य विभक्तिविपरिणामेन कृष्ण इति सम्बध्यते, प्रकरणबलाद्वा स्वयमेवान्वेति, कृष्णो जयति सर्वोत्कर्षेण वर्त्तते। उत्कर्षमेव पूर्वोद्दिष्ट-स्तुतिक्रमरीत्या यथोत्तरमाधिक्येन वर्णयति—जननिवास इत्यादि-विशेषणैः षड्भिः। जनानां जीवानां निवासः आश्रय आधार इति, तथा जनेष्वन्तर्यामितया निवसतीति, तथा जनेषु स्वभक्तेषु नितरामन्तः साक्षादिव बहिश्च प्रकटतया नानावताररूपेण वासो यस्येति, परब्रह्मत्वं परमात्मत्वं सर्वेश्वरत्वं सर्वावतारबीजत्वं चोक्तम्। तत्तन्निजैश्वर्यातिशयचरमकाष्ठा-साक्षात्प्रकटनाय च देवक्यां जन्मवादश्च तादृश-स्वजन्मकारण-गोकुलनयनादि-सम्बन्धिवचनं यस्य पितृमातृ-प्रतिस्तुति, तथा स्व-जन्मकारणापूर्ववृत्त-कथनेन वरदराट्त्वादि-परमकारुण्य-महिमा गोकुलनयनोपदेशेन च परमप्रेमसम्पद्विस्तारणपरता सूचिता; पारमैश्वर्यचरमकाष्ठा-रूपतामेव प्रपञ्च्य दर्शयति—यदुवराः परिषत् सभा सेवकरूपा यस्येति श्रीयादवेन्द्रत्वेन यदुकुलद्वेष्टृकंस-जरासन्धादि-दुष्टवधेन स्वीयानां दुःखहानि-सुखप्राप्तिकारितया परम-कारुण्यम्। यद्वा, यदुवरस्य यदुराजस्योग्रसेनस्य परिषत् सुधर्माख्या देवसभा, उपलक्षणमेतत्, पारिजातादयोऽपि देवभोग्याः पदार्था यस्मादिति सर्वदेवताजय-प्रस्तावेन पारमैश्वर्य-महिमा, तथा स्व-स्वीयद्वेष्टृकंसपितुरुग्रसेनस्य राज्यसभादानादिना परमकारुण्य-महिमा सूचितः। इच्छामात्रेणाशेषाधर्म-तद्धेतुनिरसनसमर्थोऽपि निजभक्तजनविनोद-क्रीड़ार्थं स्वैरसाधारणैः सुवृत्तत्व-पृथुत्वायतत्वादिशुभलक्षणपरमोत्तमाङ्गदालङ्कारसुदर्शनाद्यायुधवर-सुन्दरतरैश्चतुर्भिर्दोर्भिर्धर्म-प्रतिपक्षासुरादिमारणेनाधर्मं निरस्यन् विनाश्यन्; श्रीहरिवंशोक्त-

बाणयुद्ध इव युद्धादिसमये केषाञ्चिन्निजभक्तानां हर्षाय लीलया श्रीभुजचतुष्टयप्रकटनाभि-प्रायेण दोर्भिरित्युक्तम्। यद्वा, स्वैः स्वीयैः पाण्डवैर्दोर्भिरिव दोर्भिः। साहायकरत्वेन स्वबाहुज-क्षत्रियत्वेन वा पापहेतु-दुष्टजनघातनेनाधर्ममेव निरस्यन्। यद्यपि जरासन्धादीनां दुष्टराजन्यानां वधे स्वयमेवेच्छामात्रेण समर्थः, तथापि भक्तवात्सल्येन स्वयशोऽपि तेष्वर्पयितुं तथा कुर्वन्निति परमभक्तवात्सल्यम्। एवं श्रीमधुपुरी-द्वारवत्योः कृतां क्रीड़ां गोकुलक्रीड़ातः पश्चाद्भाविनीमपि स्तुतिक्रमनिर्वाहेनोत्तरत्र परमोत्कर्षवर्णनार्थं प्रथममेव वर्णयित्वा तमेव परमोत्कर्षं निजभक्तिप्रेमभरविस्तारणमयं गोकुलक्रीड़ारूपं दर्शयति—स्थिरेत्युत्तरार्धेन; तत्रादौ सर्वत्रैव प्रेमभक्तिप्रदानादि-परमौदार्यमाह—स्थिराणां वृन्दावनादिवर्त्तिनां तरु-गुल्म-लतादीनाञ्चराणाञ्च कीटादीनामधिकारानपेक्षयैव वृजिनं संसारदुःखं निजप्रेमभक्तिप्रदानेन हन्तीति तथा सः। यद्वा, मुमुक्षूणां स्वर्गादिसुखवद्भक्तानां मोक्षसुखमपि विघ्नतया दुःख एव पर्यवस्यति। तदादिकमखिलमेव वृजिनं दुःखं सहजभक्तिमतां वृन्दावनादि-व्रजवासिनां चराचराणां प्रेमभक्तिविस्तारणेनायत्नादेव हन्तीति। यद्यपि तदानीं सर्वत्र निजप्रेमभक्तिविस्तारणेन त्रिलोकीस्थितानामेव चराचराणां पाकार्थ-प्रज्वालिताग्नेस्तमःशीतादिनिरसनवद्भक्तेरवान्तरफलत्वेन संसारदुःखं स्वभक्तिपराणाञ्च विचित्रमहासिद्धिवदुपस्थितं मोक्षमपि प्रेमसम्पदन्तरायतया निराकृतवान्। तथापि गोपालनादि-लीलया विशेषतो वृन्दावनादि-व्रजभूवर्त्तिनामिति गोकुलक्रीड़ामध्ये विशेषणमिदं निर्दिष्टम्। इदानीं तत्रैव परमाद्भुतसौन्दर्यमाधुर्यवैदग्ध्यादिप्रकटनेन परमान्त्यसीमाप्राप्तं महिमविशेषं वर्णयति—सुस्मितेति। व्रज एव पुरवत् पुरं, विचित्रविलासवैदग्ध्यातिशयाकरत्वात्; तस्य (निजानां) वनितानां गोपीनां सुस्मितेन वेण्वादि-श्रीयुक्तेन श्री-मुखेनैव कामदेवं कामश्चासौ दीव्यति विजिगीषति संसारमिति मोक्षादेरप्युपरि द्योतत इति वा, देवश्च, तं वर्धयन् अत्यन्तमुत्पादयन्। अयमर्थः—यः कामः सर्वार्थघातकत्वेन प्रसिद्धः, स एव गोपीनां संसारं ध्वंसयति श्रीकृष्णचरणारविन्द-वशीकरणेन च मुक्तेर्भक्तेरपि फलरूपोऽभूत्, तञ्च प्रतिक्षण-नूतनत्वेन परमां काष्ठां प्रापयन्निति। यद्वा, नानाविधकामेषु मध्ये श्रीभगवद्विषयकः कामः परमप्रेमपरिणतिरूपतयात्यन्त-श्रैष्ठ्याद्देवस्तम्। यद्वा, दीव्यतेः क्रीड़ार्थकस्य प्रयोगाद्देवनं देवः क्रीड़ा, तदा च श्रीमुखेनेति विशेषणे तृतीया; तेन विशिष्टनिजसौन्दर्यमाधुर्यादिभरं प्रकटयन् सन् तासां कामक्रीड़ां सम्भोगादिलक्षणां विस्तारयन्नित्यर्थः; सा हि तासां श्रीनन्दकिशोरेण निजश्रीमुखारविन्दादिशोभाशक्त्या निजसुखविशेषार्थं सम्पाद्यमाना तुच्छीकृतचतुर्वर्गिकाया भक्तेः फलरूपायाः परमप्रेमसम्पदश्च परमकाष्ठायाः परिणतिरिति। अतस्तद्धेतुत्वेनात्रैव सुस्मित-श्रीमुखेनेति सौन्दर्य-माधुर्य-वैदग्ध्यादि-परममहिमापि श्रीभगवतोऽखिलपार-मैश्वर्यातिशय-प्रकटनरूपो निर्दिष्टः। वर्धयन्नित्यादिवर्त्तमाननिर्देशेन च विक्रीड़याञ्चतीत्यादि-वत्तत्र तत्र सदैव भगवतः प्राकट्येन तत्तल्लीला बोध्यते। अत्र च *"मथुरा भगवान् यत्र नित्यं सन्निहितो हरिः।"* (श्रीमद्भा. १०/१/२८) इत्यादिवचनजातं तदैकान्त-भक्तानुभवश्च प्रमाणम्। यदि च पुर-शब्देन श्रीमथुरादिकमभिधीयेत, तदा व्रजवनितानां

पुरवनितानाञ्च कामदेवं वर्धयन्निति मथुरापूर्यादिगमनेन गोपीनामेवान्त्यविरहदुःखभरस्य सूचनं, तेन च तासामेव परमप्रेमचरमकाष्ठासम्पादनं, तदभिप्रायेण च गोकुलक्रीड़ायामेव तद्वर्णनमेव पर्यवसायितव्यम्। अन्यत् समानम्। एतच्चोक्तं भवति—यः सर्वजीवेषु परमात्मतया चित्ते वसति, स देवक्यां पुत्रत्वेन जठरे स्थितः, तत्र च केवलं तेष्वन्तर्यामितया निवास एव, अनया च सह सम्भाषणादिकमपि; किञ्च, यस्य यदुवरा यादवकुलश्रेष्ठा महावीरवराः सेवकरूपाः, त एव हि सर्वाधर्म-तद्धेतुजातनिरसने समर्था इत्यर्थः, तथापि स्वैः स्वकीयैर्दोर्भिरेवाधर्मं निरस्यति, तद्धेतुदुष्टराजन्यादिकं हन्ति; किञ्च, यः किल स्थिरचराणां सर्वेषामपि वृजिनं पापं हन्ति, सः परस्त्रीणां गोप्यादीनां जारत्वेन कामविशेषं वर्धयति, परमवृजिनं विस्तारयतीत्यर्थः; न च तास्तत्रापराध्यन्तीत्याह—सुस्मितेन निज-श्रीमुखेनैवेति। एवं विरोधोक्त्या पूर्वोक्तानुसारेण परमभक्तवात्सल्यादियुक्त्या महोत्कर्षभर एव सिध्यतीति दिक्॥१५४॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे महाराज श्रीपरीक्षित् सामान्य रूपसे और विशेष रूपसे समस्त गोकुलवासियोंके माहात्म्यका वर्णनकर, उनकी महिमाके गानको समाप्त करनेकी अभिलाषासे, अन्तमें मङ्गलाचरणके रूपमें श्रीभगवान्की महिमाके गान द्वारा अपने गुरु श्रीशुकदेव गोस्वामीकी भाँति ही प्रस्तुत विषयका उपसंहार कर रहे हैं। दशम-स्कन्धके अन्तमें भगवान् श्रीशुकदेवने एक चुल्लूमें लवण-समुद्रको लेकर पान करनेमें रत अगस्तमुनिकी भाँति समग्र श्रीकृष्ण-चरितामृतरूप महासागरको पान करनेके लिए, अर्थात् विचित्र प्रकारके करोड़ों ग्रन्थोंमे वर्णित श्रीकृष्णकी निखिल लीलाओंको संक्षिप्त साररूपमें (श्रीमद्भा. १०/९०/४८) 'जयति' इत्यादि एक श्लोकमें ही गानकर उपसंहार किया है। यहाँ पूर्व श्लोक (१०/९०/४७) में उक्त 'कृष्णस्य' पद विभक्तिके परिणामसे 'कृष्ण' होगा अथवा प्रकरणबलसे स्वयं ही अन्वित होगा। अतएव वे श्रीकृष्ण जययुक्त हों अर्थात् परमोत्कर्षसे विराजमान हों। इस श्लोकमें पहलेसे उद्दिष्ट स्तुतिके क्रम या रीतिके अनुसार 'जननिवास' इत्यादि छह विशेषणोंमें उत्तरोत्तर उत्कर्षताकी अधिकता वर्णित हुई है।

यहाँ 'जननिवास' पदके 'जन' शब्दसे समस्त जीव और 'निवास' शब्दसे आश्रय या आधार समझना होगा। अतएव जो समस्त जीवोंमें अन्तर्यामी रूपमें निवास करते हैं, अथवा समस्त जीव भी जिनमें वास करते हैं अर्थात् जो सभी जीवोंके आश्रय या आधार हैं। 'जन' शब्द

स्वजन-वाचक भी होता है, स्वजनका अर्थ है—अपने भक्त। अतएव जो अपने समस्त भक्तोंके भीतर साक्षात् स्फुरित होते हैं और बाहरमें नाना अवतारोंको प्रकटकर निरन्तर अवस्थित रहते हैं। इसके द्वारा श्रीकृष्णका परब्रह्म, परमात्मा, सर्वेश्वर और समस्त अवतारोंका बीज होनेका गुण कथित हुआ है। तथा अपने उन-उन अवतारोंमें उनके ऐश्वर्यकी अत्यधिक चरमसीमाके साक्षात् प्रकटन द्वारा और 'देवकी-जन्मवाद' अर्थात् वे श्रीदेवकीके गर्भसे जन्म ग्रहण करनेके रूपमें विख्यात हैं—इससे श्रीकृष्णके वैसे जन्मका कारण, उन्हें गोकुलमें ले जानेसे सम्बन्धित आदेश, माता-पिताके द्वारा उनकी स्तुति तथा श्रीकृष्णके जन्मके कारणके प्रसङ्गमें अपने माता-पिताके पूर्व जन्मके वृत्तान्तके वर्णन द्वारा उन्हें वर-प्रदानादि रूप परम कारुण्यसूचक अपूर्व महिमा और गोकुलमें लानेके लिए उपदेशादि प्रदान द्वारा उनकी परम प्रेम-सम्पत्तिका विस्तार करना ही सूचित हुआ है।

तदुपरान्त 'यदुवर परिषत्' पद द्वारा इस जगत्में उनके ऐश्वर्यकी चरमसीमाको विस्तारसे प्रदर्शन कर रहे हैं। श्रेष्ठ यदुगण सभा-सेवकरूपमें जिनकी सेवा करते हैं तथा श्रीयादवेन्द्र होनेके कारण यदुकुलके प्रति द्वेषकारी कंस-जरासन्धादि दुष्टोंका वध करके जिन्होंने अपने भक्तोंका दुःख-नाश और सुख-प्राप्तिकी व्यवस्था द्वारा अपनी परम करुणाका प्रदर्शन किया है। अथवा 'यदुवर' कहनेसे यदुराज उग्रसेनकी परिषद् सुधर्मा नामक देवसभाके उपलक्षणमें पारिजात आदि देव-भोग्य पदार्थोंको भी समझना होगा जो कि समस्त देवताओंको पराजित करके प्राप्त हुए थे। यहाँपर समस्त देवताओंको विजय करनेके विचारसे उनके परम ऐश्वर्यकी महिमा तथा स्वयं अपने तथा अपने भक्तोंके द्वेषकारी कंसके पिता उग्रसेनको राज्य और सुधर्मा-सभा प्रदान करने द्वारा उनकी परम करुणाकी महिमा सूचित हुई है।

यहाँपर आपत्ति हो सकती है कि यदि श्रीकृष्ण इस प्रकारसे ऐश्वर्य-राशिको प्रकटकर नित्य वर्त्तमान रहते हैं, तब 'देवकी-जन्मवाद' किस प्रकारसे सम्भव होता है? इसके उत्तरमें कह रहे हैं— 'स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम्', अर्थात् इच्छामात्रसे जो समस्त प्रकारके अधर्म और अधर्मकी मूल अविद्या तकको दूर करनेमें समर्थ हैं, तथापि

अपने भक्तोंको आनन्द प्रदान करनेके लिए क्रीड़ा-रत हैं और अपनी असाधारण, लम्बी और सुडौल, शुभलक्षणोंसे युक्त परमोत्तम अङ्गदादि आभूषणों तथा सुदर्शन आदि अस्त्रोंको धारण करनेवाली अतिसुन्दर दोनों भुजाओंके द्वारा या चतुर्भुजओं द्वारा अधर्म अर्थात् धर्म-विरुद्ध असुरोंका वध करनेके लिए जो जगत्में देवकीनन्दनके रूपमें प्रकट हुए हैं। यहाँपर भुजयुगल और चतुर्भुज कहनेका तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण व्रजमें केवल द्विभुज रूपसे और मथुरामें कभी द्विभुज और कभी चतुर्भुज रूपसे असुर-संहार लीलादि करते हैं। श्रीहरिवंशमें कथित बाणासुरके साथ युद्धके समय श्रीकृष्ण द्वारा किसी-किसी भक्तका आनन्द बढ़ानेके लिए लीलापूर्वक चतुर्भुज प्रकटनके अभिप्रायसे यहाँ 'दोर्भि'—शब्दका प्रयोग हुआ है।

(यदि कहो कि श्रीकृष्ण किस कार्यके लिए जययुक्त हुए हैं? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—'स्वैर्दोर्भिः'।) यहाँ 'स्वैः' शब्दका अर्थ है—उनके पाण्डवादि भक्त तथा 'दोर्भिः' शब्दका अर्थ है—बाहुस्वरूप अर्थात् अपनी बाहुस्वरूप पाण्डवादि भक्तोंके द्वारा जगत्के अधर्मका विनाशकर जययुक्त हैं। अर्थात् सहायक रूपमें अथवा क्षत्रिय रूपमें पाण्डव उनकी बाहुतुल्य हैं तथा उन भुजाओं द्वारा पापके मूल दुष्टोंका विनाश अर्थात् अधर्मको दूरकर वे विराजित हैं। यद्यपि वे जरासन्ध आदि दुष्ट राजाओंको स्वयं ही इच्छामात्रसे वध करनेमें समर्थ हैं, तथापि भक्त-वात्सल्यवशतः अपने द्वारा प्राप्त होनेवाले यशको अपने भक्तोंको अर्पण करनेके लिए ही ऐसा आचरण करते हैं। अतएव इसके द्वारा उनके परम भक्त-वात्सल्यकी महिमा सूचित होती है।

यद्यपि श्रीकृष्ण द्वारा श्रीमधुपुरी और द्वारावतीमें की गयी लीलाएँ उनकी गोकुल-लीलाओंके पश्चात् घटित हुई थीं, तथापि पहले कहे गये स्तुतिक्रमका पालन करनेके लिए तथा उत्तरोत्तर परमोत्कर्षके प्रतिपादनके लिए सर्वप्रथम मथुरा और द्वारकाकी लीलाओंका वर्णन करनेके उपरान्त परमोत्कर्ष अर्थात् श्रीकृष्ण द्वारा अपनी भक्तिकी प्रेमराशिका विस्तार करनेवाली गोकुल-क्रीड़ारूप महा-माधुर्यमयी लीलाओंका प्रदर्शन 'स्थिरचरवृजिनघ्न' इत्यादि आधे श्लोक द्वारा कर रहे हैं। जो

अपने प्रकटनके द्वारा स्थावर-जङ्गम (चल-अचल) समस्त प्राणियोंके सांसारिक-दुःखका नाश करते हैं। उसमें सर्वप्रथम प्रेमभक्ति प्रदानादि रूप उनके परम औदार्यकी बात कह रहे हैं। यहाँ 'स्थिर' कहनेसे श्रीवृन्दावन स्थित तरु-गुल्म-लतादिको तथा 'चर' कहनेसे वहाँके कीटादि प्राणियोंको समझना होगा। इन सबके अधिकार आदि किसी हेतुकी आशा न कर जो सबके संसार-दुःखका नाशकर अर्थात् अपनी प्रेमभक्ति प्रदानकर अपने श्रीचरणोंके विच्छेद-दुःखका विनाशकर जययुक्त हो रहे हैं। अथवा जिस प्रकार मुमुक्षुजनोंके लिए स्वर्गादि सुख उनके द्वारा मोक्ष प्राप्त करनेके लिए विघ्नस्वरूप हैं, उसी प्रकार भक्तोंके लिए भी मोक्षसुख भक्तिमार्गमें विघ्नस्वरूप होनेके कारण दुःखमें ही पर्यवसित होता है। अतः जो अपने समस्त भक्तोंके मोक्षादि सुखकी कामनारूप भक्तिविघ्नोंका सम्पूर्ण नाश करते हैं, अर्थात् सहज भक्तिमान श्रीवृन्दावनके समस्त व्रजवासियों तथा चराचर विश्वके प्रति प्रेमभक्तिका विस्तारकर उनका क्लेश नाश करते हैं। यद्यपि अपनी प्रकटलीलाके समय सर्वत्र अपनी प्रेमभक्तिके विस्तारके कारण वे त्रिभुवन स्थित समस्त प्राणियोंका संसार-दुःख नष्ट करते हैं। इस विषयमें दृष्टान्त है कि जिस प्रकार भोजन पकानेके लिए प्रज्वलित अग्निसे अन्धकार और शीतादि दूर होते हैं, उसी प्रकार भक्तिके गौण फलसे साधारण व्यक्तिका भी संसार-दुःख नष्ट हो जाता है। अर्थात् श्रीभगवान्‌की अपनी भक्तिमें अनुरक्त भक्तोंके लिए विचित्र महासिद्धिकी भाँति उपस्थित होनेवाले मोक्ष आदिको भी प्रेम-सम्पत्तिके विघ्नरूपमें दूर कर देते हैं। तथापि गोपालनादि लीलाके समय विशेषतः व्रजभूमिके अन्तर्गत श्रीवृन्दावनादि स्थानोंमें परिभ्रमण द्वारा सर्वत्र प्रेम-दानको लक्ष्य करके ही यहाँ गोकुलक्रीड़ाके बीच 'स्थिरचरवृजिनघ्न' विशेषण निर्दिष्ट हुआ है।

अब उस व्रजभूमिमें श्रीकृष्णकी परमाद्भुत सौन्दर्य-माधुर्य-वैदग्ध्य आदिके प्रकटन द्वारा चरमसीमाको प्राप्त उनकी विशेष महिमाका वर्णन 'सुस्मित श्रीमुखेन' पद द्वारा कर रहे हैं। जो अपने स्मित-हास्ययुक्त श्रीमुखसे व्रजवनिताओं, मथुराकी वनिताओं और द्वारकापुरकी वनिताओंके कामदेव (कामलक्षण देव) होकर विराजमान हैं। यहाँ

व्रज ही पुरवत् (पुरकी भाँति) हुआ है, इसलिए व्रजपुरवनिता कहा गया है तथा 'वनिता' शब्दसे श्रीकृष्णमें अनुरागवती व्रज-मथुरा-द्वारकामें निवास करनेवाली स्त्रियाँ निर्दिष्ट हुई हैं। व्रजगोपियोंकी श्रेष्ठताको सूचित करनेके लिए ही 'व्रजपुरवनिता' पदमें 'व्रज' शब्द पहले कथित हुआ है। किन्तु यहाँ व्रजपुर वनिताओंके हृदयमें स्थित काम तथा उस कामके अधिष्ठाता देवतामें अभेद कथित हुआ है, क्योंकि व्रजपुर वनिताओंमें वर्द्धनशील जो कामभाव है, वह श्रीकृष्णकी भाँति ही (अप्राकृत) परमार्थ-वस्तु है। इसके द्वारा श्रीकृष्णकी स्फूर्तिसे परिपूर्ण कामभावके अप्राकृत होनेका गुण तथा उसके द्वारा परमानन्दकी चरमसीमाको प्राप्त करनेका गुण ही अभिप्रेत है। विशेषतः विचित्र प्रकारकी विलास-वैदग्धीकी अधिकतावशतः अर्थात् समस्त प्रकारके लीला-विलासोंका आधार होनेके कारण भी 'व्रजपुर' कथित हुआ है। अतएव वे श्रीकृष्ण स्मित हास्ययुक्त श्रीमुखसे वेणुवादन करते हुए स्वयं ही उस कामदेव (गोपियोंके कामलक्षण देव) रूपमें विराजमान हैं। अथवा 'कामदेव' का अर्थ है—जो अपना सुख उत्पन्न करनेवाली समस्त अभिलाषाओंको भक्तोंके हृदयमें प्रकाशित करते हैं। अथवा जो अपने आनन्दमें विभोर होकर अपनी इच्छाके अनुसार आनन्दमय लीला करते हैं, वे ही कामदेव हैं। अतएव गोपियोंके काम (प्रेम) को वर्द्धन करके जो संसारके प्राकृत कामको जय करते हैं, वे कामदेव हैं। विशेषतः मोक्षके ऊपर अत्यधिक रूपमें शोभायमान होनेके कारण वे 'देव' शब्दसे जाने जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि जो काम समस्त प्रकारके अर्थोंके घातक रूपमें प्रसिद्ध है, वही काम गोपियोंके सम्बन्धमें प्रेमके रूपमें उनके संसार-नाशका कारण हुआ है। वह काम अर्थात् गोपी-प्रेम श्रीकृष्णके चरणकमलोंको वशीभूत करनेके कारण मुक्ति और भक्तिका भी फलस्वरूप है तथा वह काम प्रतिक्षण नव-नवायमान रूपमें चरमसीमाको प्राप्त होता है। श्रीकृष्ण ही गोपियोंके हृदयमें कामदेवस्वरूप है, अर्थात् अन्य स्थानोंपर कामके रूपमें जो कार्य देखा जाता है, श्रीकृष्ण ही गोपियोंके हृदयमें उस कार्यको करते हैं। इस प्रकारसे कामरूपी श्रीकृष्ण सर्वदा काम उद्दीपन करके जययुक्त हैं। अथवा नाना प्रकारके कामोंमें भगवान्से सम्बन्धित

कामकी परम प्रेमके रूपमें परिणति होनेके कारण उसकी श्रेष्ठतावशतः ही श्रीकृष्ण कामदेव रूपमें जाने जाते हैं। अथवा 'दीव्यति' पद क्रीड़ाके लिए प्रयोग होनेके कारण वह काम ही 'देव' अर्थात् क्रीड़ाशीलके रूपमें प्रसिद्ध है।

यहाँ 'श्रीमुखेन'—इस विशेषण पदमें तृतीया होनेसे अर्थ होगा कि जो स्मित हास्ययुक्त श्रीमुख द्वारा अपने विशेष सौन्दर्य-माधुर्यकी राशिको प्रकटकर व्रजगोपियोंमें सम्भोगादि लक्षणसे युक्त काम-क्रीड़ाका विस्तारकर जययुक्त हो रहे हैं। उस विशेष लीलामें श्रीनन्दकिशोरके श्रीमुखकमल आदिकी शोभा-शक्ति अर्थात् उनके सुखविशेषको सम्पादनकर चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) को तुच्छ करनेवाली भक्ति ही कामरूपा होकर परम प्रेम-सम्पत्तिकी चरमसीमामें परिणित है। इसका कारण है कि उनके सुस्मित श्रीमुखकमलके सौन्दर्य-माधुर्य-वैदग्ध्यादिकी परम महिमाका प्रकटन भी श्रीभगवान्के सम्पूर्ण परम ऐश्वर्यके प्रकटन रूपमें निर्दिष्ट हुआ है। तथा 'वर्द्धयन्' इस वर्त्तमान क्रियापदके निर्देश द्वारा तथा मथुरापुरीकी स्त्रियों द्वारा वर्णित 'विक्रीड़याञ्चति' इत्यादि वर्त्तमान क्रियापदके प्रयोग द्वारा भी साक्षात् रूपमें श्रीकृष्णका नित्य व्रजविहार ही सूचित हुआ है। अतएव व्रजके उन-उन स्थानोंमें भगवान् प्रकट रूपमें सर्वदा लीलाएँ कर रहे हैं—ऐसा बोध होता है। तथा श्रीमद्भागवत (१०/१/२८) इत्यादिके वचनों द्वारा भी प्रमाणित होता है—"भगवान् श्रीहरि सदा मथुरामें अवस्थान करते हैं।" अतः उनके ऐकान्तिक भक्तोंका अनुभव भी इस विषयमें एक विशेष प्रमाण है।

यदि 'पुर' शब्दके द्वारा श्रीमथुरादिको भी ग्रहण किया जाय, तब अर्थ होगा—जो व्रजवनिताओं और पुरवनिताओंके काम अर्थात् प्रेम-विलासको उद्दीप्तकर सर्वोत्कर्षके साथ विराजमान हैं। श्रीकृष्णके मथुरा गमनादिके द्वारा भी गोपियोंके चरम विरह-दुःखकी प्रचुरताके विषयमें सूचित होता है, अतः उस गमनागमन लीलामें भी उनके परम प्रेमकी चरमसीमा सम्पादित होती है, इसी अभिप्रायसे उक्त लीलाका वर्णन गोकुल क्रीड़ामें ही पर्यवसित हुआ है।

यह भी कथित हुआ है कि जो समस्त जीवोंके हृदयमें परमात्मा रूपसे वास करते हैं, वे ही देवकीके पुत्ररूपमें उनके गर्भमें अवस्थित हैं। अर्थात् अन्य स्थानोंपर केवल अन्तर्यामी रूपमें वास करते हैं, किन्तु श्रीदेवकीके हृदयमें अन्तर्यामी रूपमें वास करनेपर भी वे पुत्ररूपमें उनके साथ सम्भाषणादि करते हैं। कुछ और भी कह रहे हैं—यादवकुलके श्रेष्ठ महावीरगण जिनके सेवक हैं तथा वे सेवक ही समस्त प्रकारके अधर्म और अधर्मके मूल कारण दुष्ट राजाओंका विनाश करनेमें समर्थ हैं, तथापि जो अपनी दोनों भुजाओं द्वारा उस अधर्म तथा उसका मूल कारण दुष्ट राजाओंका नाश करते हैं। तदुपरान्त कह रहे हैं—जो चराचर समस्त प्राणियोंके पापसमूहका नाश कर रहे हैं, पुनः वे ही पुरस्त्री अर्थात् गोपियोंके उपपति भावमें उनके कामविशेषका वर्द्धनकर परमदुःखका ही विस्तार कर रहे हैं। किन्तु इसमें उनका कोई अपराध नहीं है, क्योंकि उनके श्रीमुखके मन्द-मन्द मधुर-हास्यका स्वभाव ही अन्योंके चित्तको दाह करनेवाला है। तथापि गोपियाँ जगत्के प्राणियोंके चित्तको मोहन करनेवाले उनके हास्यको अपने जैसे भक्तोंके कामतापको ध्वंस करनेवाला जानकर ही उस हास्यका गुणगान करती हैं। अतएव इसमें श्रीकृष्णकी करुणाके अलावा किसी भी दोषका प्रसङ्ग उपस्थित हो ही नहीं सकता है। इसीलिए 'सुस्मित श्रीमुखेन' अर्थात् 'स्मितहास्य युक्त श्रीमुख' कहा गया है। अतएव बाहरसे विरोधी दीखनेवाली उक्तियोंकी इसी प्रकारसे ही सङ्गति होती है तथा पहलेकी भाँति परमभक्त-वात्सल्यादि युक्ति द्वारा उनका प्रचुर महा-उत्कर्ष भी प्रमाणित होता है। यही इस विचारका दिग्दर्शन है॥१५४॥

श्रीजनमेजय उवाच—

कृतार्थोऽस्मि कृतार्थोऽस्मि निश्चितो भगवन् गुरो।
गुह्यं गोलोकमाहात्म्यं यदहं सेवितस्त्वया॥१५५॥

श्लोकानुवाद—श्रीजनमेजयने कहा—हे भगवन् गुरुदेव! आपके मुखसे अत्यन्त गोपनीय श्रीगोलोक-माहात्म्यरूप उपाख्यानको सुनकर मैं कृतार्थ हो गया हूँ, निश्चय ही आज मैं कृतार्थ हो गया हूँ॥१५५॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं निजप्रार्थितावाप्त्या नितरां हृष्यन्नाह—कृतार्थोऽस्मीति। साधित-सर्वपुरुषार्थोऽहमधुना वृत्तः। अत्यन्तहर्षे दार्ढ्ये वा वीप्सा। भगवन्निति परमेश्वरेण सह गुरोरभेदाभिप्रायेण परमदयालुत्वादि-स्मरणेन वा, यद्यतः॥१५५॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे श्रीजनमेजय अपनी प्रार्थित वस्तुको प्राप्तकर अत्यन्त हर्ष सहित 'कृतार्थोऽस्मि' इत्यादि श्लोक कह रहे हैं। हे गुरुदेव! हे भगवन्! मैं कृतार्थ हो गया, आज मैं निश्चय ही कृतार्थ हो गया। यहाँ अत्यन्त हर्ष या दृढ़ताके कारण पुनरुक्ति हुई है। आज मैंने समस्त प्रकारके पुरुषार्थोंको प्राप्त कर लिया, क्योंकि आपने मुझे अत्यन्त गोपनीय गोलोक-माहात्म्यको श्रवण करवाया है। यहाँ परमेश्वरके साथ गुरुके अभिन्न होनेके अभिप्रायसे अथवा श्रीगुरुदेवकी दयालुता आदि गुणोंको स्मरणकर उन्हें 'भगवान्' कहकर सम्बोधित किया है॥१५५॥

श्रीजैमिनिरुवाच—

तातात्थ सत्यं यद्भक्त्या श्रवणादपि कीर्त्तनात्।
अस्याख्यानस्य वा ध्यानात् तत्पदं लभते नरः॥१५६॥

श्लोकानुवाद—श्रीजैमिनिने कहा—हे तात! तुम सचमुच कृतार्थ हो गये हो, क्योंकि जो कोई भी इस गोलोक-माहात्म्यरूप उपाख्यानका भक्तिपूर्वक श्रवण, कीर्त्तन या ध्यान करता है, वह निश्चय ही गोलोक-धामरूप परमपदको प्राप्त करता है॥१५६॥

दिग्दर्शिनी टीका—एवं शिष्यप्रेमोक्त्या स्वयमुपदिष्टार्थनिष्पत्तिमभिप्रेत्य गुरुरपि हृष्यन्नाह—हे तातेति परमस्नेहेन सलालन-सम्बोधनम्। आत्थ कृतार्थोऽस्मीति यद्ब्रवीषि, तत् सत्यमेव, यद्यतः अस्य गोलोकमाहात्म्यसम्बन्धिनः आख्यानस्य कथायाः भक्त्या श्रद्धादरादिना श्रवणादपि कीर्त्तनादपि ध्यानाच्चिन्तनादपि वा नरः सर्वोऽपि तत् मयोद्दिष्टं परमदुर्लभं पदं श्रीगोलोकं प्राप्नोति, किमुत तत्साधनानुष्ठानादित्यर्थः। अतोऽस्य श्रवणात्तव कृतार्थता सत्यमेव जाता, ममापि त्वत्सङ्गत्या तत्कीर्त्तनादधुनैव कृतार्थता सम्पन्नेति भावः। एवमेतदुपाख्यान-श्रवणादिफलञ्चोक्तम्॥१५६॥

भावानुवाद—इस प्रकारसे शिष्यके प्रेममय वचनोंको सुनकर तथा अपने द्वारा उपदेश किये गये अर्थकी सिद्धिके अभिप्रायसे श्रीगुरु (श्रीजैमिनि) भी अत्यन्त हर्षके साथ 'तात' इत्यादि श्लोक कह रहे

हैं। 'हे तात!' यह परम स्नेह और लालन सहित सम्बोधन है। तुम सचमुचमें ही कृतार्थ हुए हो। इस गोलोक-माहात्म्यसे सम्बन्धी आख्यानको भक्तिके साथ अर्थात् श्रद्धा और आदर सहित श्रवण, कीर्त्तन या ध्यान करनेसे नरमात्र ही उस परमदुर्लभ श्रीगोलोक पदको प्राप्त कर सकता है। अतः पहले जिस प्रकारके साधनके अनुष्ठानका वर्णन हुआ है, उसके अनुसार साधन करनेसे वह पद निश्चय ही प्राप्त होगा, इस विषयमें अधिक क्या कहूँ? अतएव इस माहात्म्यके श्रवणसे तुम कृतार्थ हुए हो—यह सत्य है, तथा तुम्हारे सङ्गके प्रभावसे उक्त माहात्म्यका कीर्त्तन करके मैं भी धन्य हो गया हूँ। इस प्रकारसे इस गोलोक-माहात्म्यरूप उपाख्यानके श्रवणका फल कथित हुआ है॥१५६॥

तस्मै नमोऽस्तु निरुपाधिकृपाकुलाय,
श्रीगोपराजतनयाय गुरुत्तमाय।
यः कारयन्निजजनं स्वयमेव भक्तिं,
तस्यातितुष्यति यथा परमोपकर्त्तुः॥१५७॥

इति श्रीभागवतामृते गोलोकमाहात्म्यखण्डे
जगदानन्दो नाम सप्तमोऽध्यायः।

समाप्तञ्चेदं द्वितीयखण्डम्।

इति श्रीबृहद्भागवतामृतं सम्पूर्णम्।

श्लोकानुवाद—मैं उन श्रीगोपराजनन्दन—श्रीनन्दनन्दनके चरणकमलोंमें प्रणाम करता हूँ, जो अहैतुकी कृपा करनेके लिए सर्वदा व्याकुल रहते हैं, जो सर्वश्रेष्ठ गुरु हैं, जो जीवोंके हृदयमें स्वयं प्रेरणा देकर अपनी भक्ति करवाते हैं तथा भक्ति करनेवाले अपने भक्तोंके प्रति उसी प्रकारसे प्रसन्न होते हैं, जिस प्रकार कोई अपने परम उपकारी बन्धुपर प्रसन्न होता है॥१५७॥

श्रीबृहद्भागवतामृतके द्वितीयखण्डके सप्तम अध्यायका
श्लोकानुवाद समाप्त।

दिग्दर्शिनी टीका—एवमुपसंहरन् श्रीभगवत्कृत-परमोपकारस्मरणेनात्यन्तभक्त्या तस्मिन् सर्वं समर्पयन्नमस्करोति—तस्मै इति। निरुपाधेरहैतुकायाः कृपायाः कुलं समूहो यस्य; यद्वा, निरुपाधिकृपया आकुलाय परमहिताचरणे व्यग्राय; गोपराजेति गौरवेणोक्तिः, गोपीभावेन वा श्रीनन्देत्यनुक्तिः, गुरुषु उपदेष्टृषु उत्तमाय श्रेष्ठाय, अन्तः परमात्मरूपेण बहिश्चाचार्यरूपेणाशेषज्ञानादिप्रदानात्। यथोक्तमुद्धवेनैकादशस्कन्धे (श्रीमद्भा. ११/२९/६)—*"नैवोपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश, ब्रह्मायुषापि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः। योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्वन्नाचार्यचैत्त्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति॥"* इति। एवञ्च यन्मया ते कथितं, तत्तस्य प्रेरणादुपदेशबलाच्चेति भावः। इत्थं चान्तर्यामिदृष्ट्या समर्पणं परमोत्तमं ज्ञेयम। निरुपाधिकृपाकुलं गुरूत्तमत्वञ्च दर्शयति—यः श्रीगोपराजतनयः कृष्णः जनं निजसेवकं जीवं वा स्वयमेव तदीयाधिकारशक्त्याद्यनपेक्षयैव भक्तिं निजश्रवण-कीर्त्तनादिलक्षणां कारयन् सर्वेन्द्रियप्रवर्त्तनेन निष्पादयन्नपि तस्य भक्तिं कर्त्तुर्जनस्य अत्यन्तं तुष्यति, तं प्रति नितरां प्रीतो भवति। अतितोषे दृष्टान्तः—परमोपकारकस्य जनस्य यथा लोकोऽतितुष्यति। यद्वा, तथा भजमानमपि तं प्रति कथं तुष्यति? यथासौ जनो भक्त्याचरणेन तस्यैव कृष्णस्य परमोपकारं कृतवानित्येवमर्थः॥

स्वयं प्रवर्त्तितैः कृत्स्नैर्ममैतल्लिखनश्रमैः।
श्रीमच्चैतन्यरूपोऽसौ भगवान् प्रीयतां सदा॥

श्रीमान् चैतन्यः चैतन्यसंज्ञया प्रसिद्धः श्रीशचीनन्दनस्तत्स्वरूपः तन्मूर्त्तिर्भगवान् श्रीकृष्णदेवः; पक्षे, श्रीमान् चैतन्यस्य तस्यैव प्रियसेवको रूपस्तत्संज्ञको वैष्णववरः। ततश्च भगवानिति 'आयतिं नियतिञ्चैव भूतानामागतागतिम्। वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति॥' इत्यभिप्रायेणेति दिक्॥१५७॥

इति श्रीभागवतामृतटीकायां 'दिग्दर्शिन्यां' द्वितीयखण्डे सप्तमोऽध्यायः।

समाप्तेयं च द्वितीयखण्ड-टीका।

भावानुवाद—इस प्रकार ग्रन्थका उपसंहार करनेके लिए श्रीभगवान् द्वारा किये गये परम उपकारको स्मरणकर प्रगाढ़ भक्तिके साथ उन्हें आत्मसमर्पण करते हुए श्रीजैमिनि 'तस्मै' इत्यादि श्लोक द्वारा उन्हें नमस्कार कर रहे हैं। जिनकी कृपाराशि निरुपाधिक अर्थात् अहैतुकी है, अथवा जो अहैतुकी कृपा करनेके लिए व्याकुल हैं अर्थात् सबका परम हित करनेमें व्यग्र हैं—उन श्रीगोपराजनन्दनको मैं प्रणाम करता हूँ। यहाँ 'गोपराज' कहनेका उद्देश्य है कि जो गोपीभावमें विभावित हैं अथवा श्रीनन्दराजके प्रति गौरव प्रदर्शन करनेके कारण ऐसा कहा

गया है। उपदेशकोंमें श्रेष्ठ होनेके कारण वे 'गुरुत्तम'—श्रेष्ठ गुरु हैं। अर्थात् जो भीतरसे परमात्मा रूपमें प्रेरणा द्वारा तथा बाहरसे आचार्य रूपमें असीम ज्ञानादि प्रदानकर स्वयं ही भक्ति करवाते हैं। यथा श्रीमद्भागवत (११/२९/६) में श्रीउद्धवकी उक्ति है—"हे ईश! आप बाहरसे गुरु रूपमें तथा अन्दरसे अन्तर्यामी रूपमें जीवोंका अशुभ अर्थात् उनकी भक्तिके प्रतिकूल विषय-वासनाको दूरकर अपना स्वरूप प्रकाश करते हैं। अतएव ब्रह्माके समान जिनकी परम आयु है, वे ब्रह्मविद् कवि कल्प-कल्पमें आपकी सेवामें नियुक्त रहकर भी आपके ऋणसे मुक्त नहीं हो सकते, अपितु आपके द्वारा किये गये उपकारका स्मरणकर आपके प्रति भक्तिके वर्द्धनरूप परमानन्दमें निमग्न रहते हैं।" अतएव (हे जनमेजय) मैंने तुम्हें जो कुछ भी कहा है, उस सबको उन प्रभुकी प्रेरणा द्वारा प्रदत्त उपदेश ही जानना तथा इस प्रकार अन्तर्यामी दृष्टिसे उनके प्रति जो आत्मसमर्पण है, उसीको परम उत्तम समझना।

तत्पश्चात् 'यः श्रीगोपराजतनयः' पद द्वारा निरुपाधिक कृपा करनेमें आकुल श्रेष्ठ गुरुके लक्षण प्रदर्शन कर रहे हैं। वे गोपराजनन्दन श्रीकृष्ण स्वयं ही अपनी भक्ति करवाकर उपकारी बन्धुके समान अपने भक्तोंके प्रति सन्तुष्ट होते हैं। अर्थात् वे स्वयं ही अपने नित्यदास जीवों या अपने सेवकोंके अधिकार या शक्ति इत्यादिका विचार न कर श्रवण-कीर्त्तनादि लक्षणयुक्त अपनी भक्तिका आचरण करवाकर अर्थात् भक्तोंकी समस्त इन्द्रियोंमें भक्तिका प्रवर्त्तन करवाकर भक्तोंके प्रति उसी प्रकारसे अत्यन्त सन्तुष्ट होते हैं, जिस प्रकार जगतमें परम उपकारी मित्र अपने मित्रको सन्तुष्ट करता है। अथवा यदि कहो कि उक्त प्रकारसे भजन करनेवालेके प्रति वे किस प्रकारसे सन्तुष्ट होते हैं? इसके लिए कह रहे हैं कि उनके भक्त जिस प्रकार उनके प्रति भक्तिका आचरणकर उनका परम उपकार करते हैं, श्रीकृष्ण भी उसी प्रकारसे उन भक्तोंकी वाञ्छाके अनुरूप फल प्रदानकर उनका परम उपकार करते हैं।

यदि आपत्ति हो कि जो श्रीकृष्णका भजन करते हैं, श्रीकृष्ण उन्हें ही वाञ्छित फल प्रदान करते हैं, किन्तु तब उनकी वैसी कृपा

अहैतुकी कैसे हो सकती है? इसके लिए कह रहे हैं कि उन भक्तोंके द्वारा किया जानेवाला भजन भी श्रीकृष्ण द्वारा ही प्रदत्त होता है। अतएव श्रीकृष्ण अहैतुक परम हितकारी बन्धु हैं, अतः लाखों कल्पों तक उनकी सेवा करनेपर भी उनके ऋणसे मुक्त नहीं हुआ जा सकता। विशेषतः श्रीभगवान् द्वारा किये जानेवाले उपकारको स्मरण करते ही उनके भक्तोंका आनन्द वर्द्धित होता है। श्रीभगवान् द्वारा वह उपकार किस प्रकार किया जाता है? बाहरसे गुरुरूपमें अपनी भक्तिके उपदेश द्वारा तथा अन्दरसे परमात्माके रूपमें अपनेको प्राप्त करवानेवाली बुद्धि प्रदान करके वे कृपा करते हैं। अर्थात् अपना भजन करवाकर पार्षद-गति प्रदानकर अपने सेवारसका आस्वादन करवाते हैं।

पुनः यदि आपत्ति हो कि गुरु या साधुकी कृपा द्वारा भजन होनेपर साक्षात् रूपसे श्रीकृष्णकी कृपा किस प्रकारसे प्राप्त होगी? इसके उत्तरमें कहते हैं—श्रीकृष्ण ही सर्वस्वरूप हैं, अतः साधु और गुरुरूपमें भी वे ही हैं। अतएव भजनकारी व्यक्तिके सम्बन्धमें वे प्रेममय बन्धुके समान हैं तथा उनके प्राण-बुद्धि-इन्द्रियादि द्वारा अपना भजन करवाते हैं। उस भजनका प्रत्युपकार (बदलेमें उपकार) करनेमें असमर्थ होकर ऋणी रूपमें उनके प्रेममें वशीभूत हो जाते हैं—यही श्रीकृष्णकी कृपाका अद्भुत वैभव है। इसीलिए ग्रन्थकार स्तुति कर रहे हैं—

"जिन्होंने स्वयं ही मुझे इस लेखन-श्रममें लगाया है, वे श्रीमत् कृष्णचैतन्यरूप भगवान् सदा प्रसन्न हों।"

यहाँ श्रीमन् चैतन्य कहनेका अर्थ है—चैतन्य नामसे प्रसिद्ध श्रीशचीनन्दन और उनके स्वरूप अर्थात् उनकी ही अभिन्नमूर्त्ति भगवान् श्रीनन्दनन्दन कृष्णदेव। पक्षान्तरमें कह रहे हैं—श्रीमन् चैतन्यके प्रियसेवक रूप नामक वैष्णवश्रेष्ठ अर्थात् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुके प्रियतम निजरूप या उनके निज प्रिय सेवक श्रीरूप। यहाँ 'भगवान्' कहनेका अभिप्राय है कि जो 'आयति' अर्थात् भविष्यत्, 'नियति' अर्थात् दैव या अदृष्ट तथा प्राणियोंकी गति-अगति और विद्या-अविद्याको जाननेवाले हैं, वही 'भगवान्' शब्द वाच्य हैं। अतएव श्रीकृष्णचैतन्य

महाप्रभु तथा उनके स्वरूप श्रीकृष्णदेव अपने प्रिय श्रीरूप सहित सदा प्रसन्न हों॥१५७॥

श्रीबृहद्भागवतामृतके द्वितीयखण्डके सप्तम अध्यायकी
दिग्दर्शिनी टीकाका भावानुवाद समाप्त।

द्वितीयखण्ड समाप्त

श्रीबृहद्भागवतामृतम् सम्पूर्ण

मूल—श्लोकानुक्रमणिका

अ

क

द

श

स

ह

उद्धृत–श्लोकानुक्रमणिका

सांकेतिक चिह्नोंकी सूची

बृ.भा.—बृहद्भागवतामृतम् श्रीगी.—श्रीभगवद्गीता ह.भ.सु.—हरिभक्तिसुधोदय
ब्र.सं.—ब्रह्म संहिता श्रीमद्भा.—श्रीमद्भागवतम्

पूर्वार्द्ध (श्लोकका प्रथम चरण)

उत्तरार्द्ध (श्लोकका द्वितीय चरण)

शब्द–कोश

अ

अकिञ्चन—भगवत्–भक्तिरूप सम्पत्तिके अलावा जिनके पास और कोई दूसरी सम्पत्ति न हो।
अगम्य—दुर्गम, मन और बुद्धिके परे।
अग्रज—जिसका जन्म पहले हुआ हो, श्रेष्ठ।
अधिष्ठातृ—नियामक, ईश्वर।
अनिर्वचनीय—वचनके अतीत, जिसका वर्णन न हो सके।
अनुकम्पा—करुणा, दया।
अनुगृहीत—कृपा–पात्र।
अनुग्रह—कृपा, दया।
अनुज—जिसका जन्म बादमें हुआ हो।
अनुषङ्ग—एक शब्दका अन्य शब्दके साथ या कारण और कार्यका सम्बन्ध।
अनुष्ठान—किसी धार्मिक क्रियाका प्रारम्भ।
अनुसन्धान—खोजना, ढूँढ़ना, सुध–बुध।
अन्तःपुर—राजभवन, स्त्रियोंका कक्ष।
अन्त्यज—नीच जाती।
अन्यत्र—और कहीं।
अन्वय—सम्बन्ध, सङ्गति, अनुगमन।
अपरिच्छिन्न—निरन्तर, असीम।
अपवाद—निन्दा, बदनामी।
अपाङ्ग—आँखकी कोर, कामदेव, तिरछी चितवन।
अपेक्षा—आकांक्षा, उम्मीद, आशा।
अपेक्षित—इच्छा, आकांक्षा।
अभिधेय—अभिप्राय, निष्कर्ष, प्रकरण।
अभिनिवेश—दृढ़ मनोयोग, किसी विषयमें निमग्नता।
अभिप्रेत—उद्दिष्ट, स्वीकृत।
अभिषिक्त—अभिषेक किया हुआ, स्नान किया हुआ।
अभिसार/अभिसरण—प्रियसे मिलनेके लिए जाना।
अभिहित—कथित, वर्णित, सम्बोधित।
अभीष्ट—इच्छा, कामना।
अलकावलि—घुँगुराले बाल।
अलक्ष्य—अदृश्य।
अवगाहन—डूबना, निमग्न होना।
अवलम्बन—सहारा, आश्रय।
अवशिष्ट—बचा हुआ, बाकी।
अवशेष—जो बाकी रहे, समाप्ति।
अव्यय—अविकारी, अक्षय, नित्य।
अशेष—समस्त, परिपूर्ण, समूचा।
असमोर्द्ध्व—जिसके बराबर और श्रेष्ठ कोई न हो, बे–जोड़।
अस्फुट—अस्पष्ट, सन्दिग्ध।

आ

आकुल—उद्विग्न, परेशान।
आक्रान्त—पीड़ित, पराजित, वशीभूत।
आक्रोश—कोसना, शाप, निन्दा।
आगन्तुक—अचानक आनेवाला, आकस्मिक आगमन करनेवाला।
आग्रह—जोर देना, दृढ़तासे पकड़ना।
आजानुलम्बित—घुटने तक लम्बी।
आतुर—अधीर, उत्सुक।
आत्मारामता—अपनी आत्मामें प्रसन्न रहनेवाला।
आनुषङ्गिक—गौण, संयुक्त।
आन्दोलित—कंपित, झुलाया हुआ।
आपत्ति—पूर्वपक्ष या एतराज।
आपाततः—ऊपरसे देखनेमें, तत्क्षण, अकस्मात्।
आमिष—मांस।
आयुध—हथियार, अस्त्र-शस्त्र।
आरूढ़—सवार, दृढ़।
आरोहण—ऊपर चढ़नेकी प्रक्रिया।
आर्त्तनाद—दर्द भरी ऊँची आवाज, करुण स्वरमें दुखका ज्ञापन।
आर्त्ति—क्लेश, मनकी पीड़ा।
आर्यावर्त्त—विंध्याचलसे हिमालय और पश्चिमी समुद्रसे पूर्वी समुद्र तक विस्तृत आर्योंकी निवास भूमि (मध्य और उत्तर भारत)।
आर्ष—ऋषिकृत, वैदिक।
आलोचना—विवेचना, परख, समीक्षा।
आवाहन—पुकारना।

इ

इहलोक—यह लोक, यह जीवन।

ई

ईषत्—थोड़ा सा, मन्द।

उ

उत्कर्ष—श्रेष्ठ।
उपधान—वह वस्तु जिसका सहारा लिया जाये, तकिया।
उपेक्षा—अवहेलना, तिरस्कार।
उरु—विशाल, महान, श्रेष्ठ।

ऊ

ऊर्ध्वरेता—नैष्ठिक ब्रह्मचारी।

ऐ

ऐहिक—सांसारिक।

औ

औदार्य—उदारता, महानता।

क

कटाक्ष—तिरछी निगाह।
कपोल—गाल।
करील—झाड़ीके रूपमें उगनेवाला एक कँटीला और बिना पत्तेका पेड़।
कलरव—पक्षियोंका चहचहना, मधुर ध्वनि।

कवरी—चोटी।
कातर—कष्टसे व्याकुल, उद्विग्न, अधीर।
काष्ठ—काठ, लकड़ी।
किंकर—सेवक, आज्ञापालक।
कृच्छ्रव्रत—कठिन, कष्टसाध्य व्रत।
कैमुतिक न्याय—जब यह बात दृष्टान्त द्वारा समझानेकी जरूरत होती है कि जिसने बड़े-बड़े काम कर दिए उसके लिए छोटा काम करना कुछ भी नहीं है, तब इस उक्तिका प्रयोग किया जाता है।
कौतुक—कुतूहल, उत्सुकता, तमाशा।
क्रोड़ीभूत—अन्तर्गत, सम्मिलित।
क्षत-विक्षत—जिसकी देह घावोंसे भरी हो।

ग

गजमुक्त—हाथीके मस्तकसे निकलने-वाला मोती।
गण्डस्थल—गाल।
गुल्म—झाड़ी।

च

चितवन—कटाक्ष, किसीकी ओर देखनेका ढङ्ग।
चित्त—मन, हृदय, विचारशक्ति।

ज

जङ्गम—चलनेवाला।
जिज्ञासा—जाननेकी इच्छा।
ज्येष्ठ—सबसे बड़ा, श्रेष्ठ।
ज्ञाति—पिता, पितृ वंशमें उत्पन्न व्यक्ति।

त

तटस्थ लक्षण—वह लक्षण जिसमें लक्ष्यके अस्थायी और परिवर्तनशील गुणोंका निरूपण हो।
तदात्मिक (तादात्म्य)—अभिन्नता।
तन्मय—चित्तका किसी विषयमें डूब जाना, निमग्नता, तल्लीन।
तन्मयता—निमग्न चित्त, तल्लीन।
तारतम्य—न्यून और अधिकके अनुसार क्रम।
तुरीय—चतुर्थ अवस्था या आश्रम (संन्यास), वेदान्तके अनुसार एक अवस्था जिसमें आत्माका परमात्मासे मिलन होता है।
तूँबी—कड़वे कद्दूको खोखलाकर बनाया हुआ पात्र, रक्त या वायु खींचनेका एक औजार।

द

दयार्द्र—दयासे द्रवीभूत।
दुर्घट—दुःसाध्य।
दुर्जेय—जिसपर विजय पाना कठिन हो।
दुर्ज्ञेय—दुर्बोध, जो कठिनाईसे जाना जा सके।
दुर्निग्रह—जिसे वशमें लाना कठिन हो।
दुर्बोध/दुर्बोध्य—गूढ़, अत्यन्त कठिन विषय।

दुर्वितर्क्य—तर्कसे अतीत।

द्विपरार्द्धकाल—(एक परार्द्ध कालका समय श्रीब्रह्माकी आयुके अनुसार ५० सालका होता है) श्रीब्रह्माकी १०० सालकी आयु।

न

नटवर—नाट्यके आचार्य श्रीकृष्ण, अति कुशल नट।

नर्म—क्रीड़ा, हँसी-मजाक, परिहास।

निकृष्ट—नीच, घृणित, जातिच्युत, तुच्छ।

निकेतन—घर, वासस्थान।

निग्रह—अवरोध, दमन।

नितम्ब—शरीरका कमरसे नीचेका उभरा हुआ भाग।

निरपेक्ष—किसी औरसे आशा या उम्मीद न रखनेवाला, विरक्त, उदासीन।

निरस्त—दूर हटाना, अस्वीकार करना।

निराकरण—निवारण, खण्डन।

निर्वाह—पालन, गुजारा।

निर्विकार—विकारसे रहित।

निविष्ट—एकाग्र, व्यवस्थित।

नीवी—बाँधनेकी सूतकी डोरी, नारा।

न्यस्त—रखा हुआ।

प

पक्षान्तर—दूसरा पक्ष।

परायण—अति आसक्त, अनुरक्त, प्रधानता।

परार्द्ध—ब्रह्माकी आयुका आधा भाग।

परिचर्या—सेवा।

परिच्छद—वस्त्र, आच्छादन।

परिणति—परिणाम, रूपान्तरको प्राप्त होना, पक्व होना।

परिधान—नाभीसे नीचेका पहनावा, वस्त्र।

परिपक्व—अच्छी तरह पका हुआ।

परिपाटी—रीति, ढङ्ग।

परिवेषण—भोजन परोसना।

परिहास—चिढ़ाना, हँसीमजाक।

पर्यवसित—समाप्त, निश्चित।

पातक—पाप।

पाद-सम्वाहन—पैर दबाना, सेवा।

पारमेष्ठ्य-पद—ब्रह्माका पद, सर्वोच्च पद।

पुटक—कमल।

पुरन्दर—विष्णु, इन्द्र।

पुलिन—नदीका रेतीला किनारा।

पौगण्ड—पाँचसे सोलह वर्ष तककी अवस्था।

प्रकृष्ट—उत्तम, मुख्य।

प्रकोष्ठ—महल या भवनके द्वारके पासका कमरा, आँगन।

प्रतिपादक—भलीभाँति समझानेवाला, निरूपण करनेवाला।

प्रतिपादन—बोधन, निरूपण।

प्रतिपादित—प्रमाणित, निरूपित।

प्रत्यक्ष—जो आँखोंसे दिखायी दे।

प्रत्युपकार—किसी उपकारके बदलेमें किया हुआ उपकार।

प्रपञ्च—विस्तार, संसार।

प्रयोजक—प्रयोगकर्त्ता, जोड़नेवाला।

प्रवर्त्तन—कार्यसञ्चालन, प्रेरणा।

प्रवर्तित—स्थापित, चालित।
प्रवाल—नया कोमल पत्ता।
प्रवास—विदेश वास।
प्रवृत्त—सञ्चालित, आरम्भ किया हुआ।
प्रवृत्ति—लगन, झुकाव।
प्रसारित—फैलाया हुआ, पसारा हुआ।
प्रायः—अधिकांशत, लगभग।
प्रेयसी—प्रियतमा (पत्नी)।

भ

भाजन—पात्र, योग्य अधिकारी।
भङ्गि—कुटिलता, ढङ्ग।

म

महिषी—रानी, पटरानी।
मीमांसा—विचारपूर्वक तत्त्वनिर्णय।
मुमुक्षु—मोक्षका अभिलाषी।
मूर्च्छना—सातों स्वरोंका क्रमसे आरोह-अवरोह।
मोक्षण—मोचन, खोलना।

य

यथेच्छ—इच्छानुसार, मनमाना।
यथेष्ट—आवश्यकताके अनुसार, इच्छाके अनुसार।
यथोचित—उचित रूपमें।
युगपत्—एक समय, साथ-साथ।

र

रति—प्रेम, आसक्ति।
रन्धन—पकानेकी क्रिया।
राशि—समान जातिकी बहुत-सी वस्तुओंका ढेर।
रूपक—एक अर्थालङ्कार जहाँ एक समान गुणके कारण उपमेयमें उपमानका आरोप किया जाय।

ल

लम्पट—व्यभिचारी या कामुक पुरुष, लोभी।
ललित—सुन्दर, क्रीड़ाशील, हिलता-डोलता हुआ।
लव—अल्प मात्रा, ३६ निमेषका समय।
लावण्य—सुन्दरता, सुशीलता।

व

वदान्य—उदार।
वाक्—शब्द, वाणी, जिह्वा।
विघातक—घातक, बाधक।
विच्छेद—रुकावट, बाधा।
विदग्ध—नागर, पण्डित, रसिक, चतुर या धूर्त्त।
विधान—नियन्त्रण, व्यवस्था, प्रणाली।
विनोद—क्रीड़ानन्द, लीलानन्द।
विशिष्ट—प्रसिद्ध, यशस्वी, विलक्षण।
विहित—किया हुआ, आदेश दिया हुआ।
वीजन—पंखा झलना।
वृत्ति—चित्त, मन आदिकी अवस्था।
वैदग्धी/वैदग्ध्य—दक्षता, चतुरता, रसिकता।

वैशिष्ट्य—विशेषता, अन्तर।
व्यतिरेक—अन्तर, भिन्नता, असादृश्य।
व्यभिचार—नियमका अपवाद, सत्पथ परित्याग।

श

शेखर—शिरोभूषण, चोटी।
श्लेष—जोड़, साहित्यमें एक अलङ्कार जिसमें एक शब्दके दो या अधिक अर्थ लिये जाते हैं।

स

संजल्प—वार्त्तालाप, शोरगुल।
समन्वय—नियमित क्रम, सम्बन्ध फल।
सम्पन्न—पूर्ण किया हुआ।
सम्पादन—प्रस्तुत करना।
सम्पादित—सम्पूर्ण किया हुआ।
सम्भ्रम—मान, सम्मान, भय, शोभा।
सम्यक्—उचित, भलीभाँति, सम्पूर्ण।
सम्वरण—रोकना, ढकना।
सम्वाहन—चरण या बदन दबाना।
सर्वोत्कृष्ट—सर्वश्रेष्ठ।
सहचारिता—सामञ्जस्य, एक गुण और स्वभाव होनेके कारण साथ चलनेका धर्म।
सहस्त्र—एक हजार।
सित—सफेद, गौर।
सुचारु—सुन्दर, मनोहर।
सुधा—अमृत, रस।
सुवासित—सुगन्धित।
सुष्ठु—सुन्दर रीतिसे, ठीक-ठीक।
सौरत—केलि-क्रीड़ासे सम्बन्धित।
सौरभ—खूशबूदार, सुगन्धित।
सौष्ठव—उत्तमता, सौन्दर्य, दक्षता।
स्तम्भित—स्थिर किया हुआ, जड़ीभूत।
स्थानीय—तुलनीय।
स्वच्छन्द—स्वतन्त्र।
स्वरूप लक्षण—स्वभाविक गुण, मूल कारण।

ह

हम्बारव—गोध्वनि, गायोंके रभाँनेका शब्द।
होम—हवन, यज्ञ।